श्री भास्करनन्दि विरचित सुखबोधा टीका

तत्त्वार्थवृत्तिः

[हिन्दी अनुवाद]

❖

अनुवादिका :

पू. विदुषी १०५ श्री आर्यिका जिनमती माताजी

[श्री १०८ आचार्य वर्द्धमानसागरजी संघस्था]

❖

[प्रथमावृत्ति १०००]
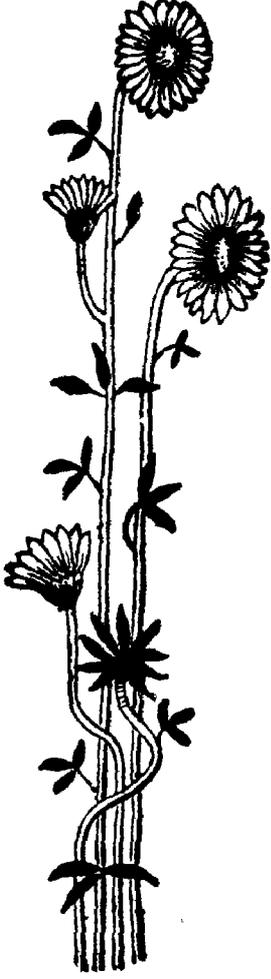
मुद्रक :

पाँचूलाल जैन

कमल प्रिन्टर्स

मदनगंज–किशनगढ़ (राज०)

परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, चारित्र चक्रवर्ती, आचार्यप्रवर
१०८ श्री शान्तिसागरजी महाराज
पंचेन्द्रियसुनिर्दान्त, पंचसंसारभीरुकम् ।
शांतिसागरनामानं, सूरिं वंदेऽघनाशकम् ।।
जन्म : ज्येष्ठ कृष्णा ६ वि. सं० १९२९
क्षुल्लक दीक्षा : ज्येष्ठ शुक्ला १३ वि. सं० १९७० उत्तूर ग्राम (कर्नाटक)
मुनि दीक्षा : फाल्गुन शुक्ला १४ वि. स० १९७४ यरनाल ग्राम (कर्नाटक)
समाधि : द्वितीय भाद्रपद वि. स० २०१२ कुन्थलगिरि सिद्धक्षेत्र

परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, आचार्यप्रवर

१०८ श्री वीरसागरजी महाराज

चतुर्विधगणैः पूज्यं, गभीरं सुप्रभावकम् ।
वीरसिन्धुगुरुं स्तौमि, सूरिगुणविभूषितम् ॥

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
आषाढ़ पूर्णिमा	फाल्गुन शुक्ला ७	आश्विन शुक्ला ११	आश्विन अमावस्या
वि. सं. १९३२	वि. सं. १९८०	वि सं १९८१	वि. स. २०१४
वीर ग्राम (महाराष्ट्र)	कुम्भोज (महाराष्ट्र)	समडोली (महाराष्ट्र)	जयपुर (राज०)

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रंथ का स्रोत :

आ० उमास्वामी कृत मोक्षमार्ग-तत्त्वदर्शन-विषयक तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रंथ सुखबोधा टीका का मूल आधार है। अर्थात् तत्त्वार्थ सूत्र की ही टीका सुखबोधा टीका है। अत: यहां तत्त्वार्थसूत्र का किंचित् परिचय दिया जाता है :—

तत्त्वार्थसूत्र में कुल १० अध्याय तथा सूत्र ३५७ हैं इसी को मोक्ष शास्त्र भी कहते हैं। यह ग्रंथ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों में समानरूप से मान्य है। जैनाम्नाय में यह सर्वप्रथम सिद्धान्त ग्रंथ माना जाता है। यह ग्रंथ जैनों की बाइबिल है। इस (तत्त्वार्थसूत्र) के मंगलाचरणरूप प्रथम श्लोक पर ही आचार्य समन्तभद्र ने आप्त मीमांसा (देवागम स्तोत्र) की रचना की थी, जिसकी पीछे अकलंकदेव (ई० ६२०-६८०) ने ८०० श्लोक प्रमाण अष्टशती नामकी टीका की। आगे आचार्य विद्यानन्दी नं० १ (ई० ७७५-८४०) ने इस अष्टशती पर भी ८००० श्लोक प्रमाण अष्टसहस्री नामकी व्याख्या की। इसके अतिरिक्त पूरे तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध होती हैं:—१. आचार्य समन्तभद्र विरचित ९६००० श्लोक प्रमाण गन्धहस्तिमहाभाष्य। २. पूज्यपाद (ई० श० ५) रचित सर्वार्थसिद्धि ३. योगीन्द्र देव विरचित तत्त्वप्रकाशिका (ई० श० ६) ४. अकलंक भट्ट (ई० ६२०-६८०) रचित तत्त्वार्थराजवार्तिक ५. अभयनन्दि (ई० श० १०-१०) विरचित तत्त्वार्थवृत्ति ६. विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) रचित श्लोकवार्तिक ८. आ. भास्करनन्दि (ई. श. १२) कृत सुखबोध टीका ९. बालचन्द्र (ई. श. १३) कृत तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति (कन्नड़ भाषा) १०. विबुधसेनाचार्य (?) विरचित तत्त्वार्थ टीका ११. योग देव (ई. १५७९) रचित तत्त्वार्थवृत्ति १२. प्रभाचन्द्र नं० ८ (ई. १४३२) कृत तत्त्वार्थरत्नप्रभाकर १३. भट्टारक श्रुतसागर (वि. सं. १६) कृत तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरी) १४. द्वितीय श्रुतसागर लिखित तत्त्वार्थ सुखबोधिनी १५. पं० सदासुख (ई. १७९३-१८६३) की अर्थ प्रकाशिका।[1] इसी तरह इसी तत्त्वार्थसूत्र पर श्वेताम्बरों में भी निम्न तीन टीकाएँ उपलब्ध होती हैं—१. वाचक उमास्वातिकृत तत्त्वार्थाधिगम भाष्य २. सिद्धसेनगणी (वि. सं. ५) कृत तत्त्वार्थ भाष्यवृत्ति ३. हरिभद्रसुनुकृत तत्त्वार्थ भाष्यवृत्ति (वि. सं. ८-९)[2] इस प्रकार जहां तक ज्ञात है इस महान् ग्रंथ पर मुख्यत: १८ टीकाएं पूर्वकाल में लिखी गईं; और भी हो सकती हैं। वर्तमान में भी अनेक विद्वानों ने इसी पर (तत्त्वार्थसूत्र पर) टीकाएँ लिखी हैं।

---

१. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश २।३५६।

२. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश २।६३१।

ऐसा यह तत्त्वार्थसूत्र जैनागम में संस्कृत का आद्यग्रंथ माना जाता है, क्योंकि इसके पहले रचित सभी ग्रंथ मागधी अथवा शौरसेनी प्राकृत में लिखे गये हैं। इस (तत्त्वार्थसूत्र) का प्राचीन नाम तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्र है। परन्तु सूत्रात्मक होने के कारण बाद में यह तत्त्वार्थसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया। मोक्षमार्ग का प्रतिपादक होने के कारण इसे 'मोक्षशास्त्र' भी कहते हैं। इसके उत्पत्ति निमित्त आदि के कथन तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य) भाग २ पृ० १५३ आदि से जानना चाहिए।

प्रस्तुत टीका (सुखबोधा) :

तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण टीका का नाम सुखबोधावृत्ति है। यह संस्कृत में लिखित है। यह टीका ग्रंथगत सभी विषयों को सरल और सुबोध भाषा में प्रस्फुटित करती है। इससे इसका 'सुखबोधावृत्ति' यह सार्थक नाम समझना चाहिए। इस वृत्ति के आधार सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक और श्लोकवार्तिक ग्रन्थ रहे हैं।

डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री ज्योतिषाचार्य के अनुसार इस ग्रंथ की निम्न मुख्य विशेषतायें हैं—

१. विषय स्पष्टीकरण के साथ नवीन सिद्धांतों की स्थापना।

२. पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को आत्मसात् कर उनका अपने रूप में प्रस्तुतिकरण।

३. ग्रंथान्तरों के उद्धरणों का प्रस्तुतीकरण।

४. मूल मान्यताओं का विस्तार।

५. पूज्यपाद की शैली का अनुसरण करने पर भी मौलिकता का समावेश[1] शेष परिचय माताजी द्वारा लिखित विषय परिचय से एवं प्रस्तुत मूल सानुवाद ग्रन्थ से स्पष्ट है ही।

टीकाकार भास्करनन्दि :

तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों में भास्करनन्दि का अपना स्थान है। भास्करनन्दि का जन्म स्थान, माता-पिता, पद आदि जानने की कोई साधन सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस ग्रंथ तथा ध्यानस्तव के अन्त में दो श्लोकों में उनकी संक्षिप्त प्रशस्ति उपलब्ध है। इससे ज्ञात होता है कि ये सर्व साधु के प्रशिष्य तथा जिनचन्द्र के शिष्य थे। सर्वसाधु यह नाम न होकर सम्भवत: उनकी एक प्रशंसापरक उपाधि रही है। प्रशस्ति इस प्रकार है—

नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं एहि याहीति जातु।
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्घाटयेद् द्वार् न दत्ते॥

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा ३।३०१

नावष्टभ्नाति किंचिद् गुणनिधिरिति यो बद्धपर्यंकयोगः ।
कृत्वासंन्यामन्ते शुभगतिरभवत्सर्वसाधुः प्रपूज्यः ॥९९॥

तस्या भवच्छ्रुतनिधिर्जिनचन्द्रनामा शिष्यो नु तस्य कृति भास्करनन्दि नाम्ना ।
शिष्येण स्तवमिमं निजभावनार्थं ध्यानानुगं विरचितं सुविदो विदन्तु ॥१००॥

अर्थः—जो न थूकता है न सोता है, न कभी दूसरे को 'आओ व जाओ' कहता है, न शरीर को खुजलाता है, न रात्रि में गमन करता है, न द्वार को खोलता है, न उसे देता है—बन्द करता है तथा न किसी का आश्रय लेता है; ऐसा वह गुणों का भण्डार स्वरूप सर्वसाधु पर्यंक आसन से योग (समाधि) में स्थित होता हुआ अन्त में संन्यास को करके–कषाय व आहार का परित्याग करके सल्लेखनापूर्वक मृत्यु को प्राप्त होकर–उत्तम गति से युक्त हुआ। इस प्रकार से वह सर्वसाधु–इस नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त मुनि अथवा सर्वश्रेष्ठ साधु–अतिशय पूजनीय हुआ।

उस सर्वसाधु का जिनचन्द्र नामक शिष्य हुआ जो श्रुत का पारगामी था। उस जिनचन्द्र के पुण्यशाली भास्करनन्दि नामक शिष्य ने ध्यान के अनुकरण करने वाले–ध्यान की प्ररूपणा युक्त–इस स्तोत्र को अपनी (आत्मा को) भावना भाने के लिए रचा है, यह विद्वज्जन जानें।[1]

कु० सुजुको ओहिरा ने भास्करनन्दि का समय १२वीं शताब्दी का आरम्भ (ई. १११० या ११२०) माना है।[2] पण्डित शान्तिराजजी शास्त्री ने तत्त्वार्थवृत्ति की प्रस्तावना में भास्करनन्दि के समय पर विचार करते हुए उन्हें १३वीं–१४वीं शताब्दी का विद्वान् माना है।[3]

पं० मिलापचन्द्रजी कटारिया केकड़ी कहते हैं कि प्रशस्ति के जिन श्लोकों में भास्करनंदि ने अपने प्रगुरु का नाम दिया है वह नाम अशुद्ध प्रतीत होता है, जिससे भास्करनन्दि का समय गड़बड़ हो रहा है। ऊपर ९९वें श्लोक की चरम पंक्ति में जो शुभगति शब्द है वह अशुद्ध है, उससे अर्थ की संगति नहीं बैठती। इस श्लोक में भास्करनन्दि ने अपने जिनचन्द्र गुरु के गुरु का नाम लिखा है, पर श्लोक में सर्वसाधु के सिवा अन्य किसी नामकी उपलब्धि नहीं होती, किन्तु सर्वसाधु कोई नाम नहीं होता। अगर 'शुभगति' के स्थान पर 'शुभयति' पाठ मान लिया जाए तो मामला सब साफ हो सकता है। शुभयति का अर्थ होगा शुभचन्द्र भट्टारक तब अन्तिम चरण का अर्थ होगा—'ऐसे शुभचन्द्र मुनि

---

१. ध्यानस्तव पृ० २२-२३ श्लोक ९९-१०० वीर सेवा मन्दिर

२. ध्यानस्तव प्रस्ता० पृ० ३५-३६ (भारतीय ज्ञानपीठ)

३. तत्त्वार्थवृत्ति प्रस्ता० पृ० ४७-४८, ध्यानशतक तथा ध्यानस्तव प्रस्ता० पृ० ७५ (वीर सेवा मंदिर)

(भट्टारक) बद्धपर्यंक होकर आयु के अन्त में संन्यास धारण कर सर्वसाधु (नग्न दिगम्बर) हो गए थे; वे पूज्य हैं ।'

इन्हीं शुभचन्द्र के जिनचन्द्र शिष्य थे । उन जिनचन्द्र के तत्त्वज्ञानी भास्करनन्दि नामके विद्वान् शिष्य हुए जिन्होंने यह सुखबोधिनी टीका बनाई ।

पद्मनन्दि के शिष्य ये वे शुभचन्द्र हैं जिन्होंने दिल्ली जयपुर की भट्टारकीय गद्दी चलाई । इनका समय वि. सं. १४५० से १५०७ तक माना है । फिर इनके पट्ट पर जिनचन्द्र बैठे थे । जिनचन्द्र का समय वि. सं. १५०७ से १५७१ तक माना जाता है । इन जिनचन्द्र ने प्राकृत में सिद्धांतसार ग्रंथ लिखा था जो माणिकचन्द्र ग्रंथमाला द्वारा सिद्धांतसारादि संग्रह में छपा है । वि. सं. १५४८ में सेठ जीवराजजी पापड़ीवाल ने शहर मुड़ासा में इन्हीं जिनचन्द्र से हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई थी । श्रावकाचार के कर्ता पं० मेधावी इन्हीं जिनचन्द्र के शिष्य थे । उक्त भास्करनन्दि को भी संभवतः इन्हीं का शिष्य समझना चाहिए । इस हिसाब से इन पूज्य भास्करनन्दि का समय विक्रम की १६वीं शताब्दी माना जा सकता है ।[1]

पूज्य भास्करनन्दि की मात्र दो रचनाएँ उपलब्ध हैं । जिनमें से एक तो है प्रस्तुत ग्रंथ । दूसरी रचना है 'ध्यान स्तव' जिसमें १०० श्लोकों द्वारा ध्यान का वर्णन है । इसका आधार रामसेन का तत्त्वानुशासन तथा तत्त्वार्थसूत्र की टीकायें रही हैं ।

प्रस्तुत सुखबोधा के हिन्दी अनुवाद का हेतु :

यह टीका मात्र मूल (संस्कृत भाषा) में ही सन् १९४४ में ओरियेन्टल लाइब्रेरी मैसूर से प्रकाशित हुई थी । जो कालान्तर में अनुपलब्ध भी हो गई । इस कारण मैंने पूज्य माताजी से प्रार्थना की कि इस ग्रंथ का पुन: प्रकाशन होना चाहिए जिससे यह हमें पुन: पढ़ने को मिल सके । साथ ही इसका अनुवाद भी हो जाना चाहिए ताकि सभी लाभ ले सकें । हमारी प्रार्थना माताजी ने स्वीकार की । तदनुसार मैंने सहारनपुर से स्व. रतनचन्द नेमिचन्द मुख्तार के शास्त्र भण्डार से प्रति मंगवाली । ग्रन्थ प्राप्त होने पर माताजी को भेजा । दैवयोग से माताजी काफी अस्वस्थ हो गए, अत: टीका का विचार बदलकर माताजी ने ग्रंथ मुझे वापस भेज दिया । मैंने इसे सहारनपुर लौटा दिया । यह बात साधिक दो वर्ष पूर्व की है ।

---

१. तीर्थंकर० ३।३०९, महावीर स्मारिका १९७२, २।२१-२२, ध्यानशतक तथा ध्यानस्तव प्रस्ता० पृ० ७५ नोट—महावीर स्मारिका मुझे आदरणीय पण्डित रतनलालजी कटारिया (सम्पादक-जैन सन्देश) के सौजन्य से प्राप्त हुई, अतः मैं उनका कृतज्ञ हूं ।

—प्रस्तावना लेखक

फिर स्वस्थ होने पर पुनः पूज्य माताजी ने दो तीन मास पूर्व बुलाकर मुझे लिखा कि अब ग्रंथ भेज दीजिए अब स्वास्थ्य आदि की अनुकूलता है, अतः अनुवाद कर लूंगी। मैंने पुनः वहीं से प्रति मंगवाकर संघ में भेज दी और माताजी ने अनुवाद कार्य सम्पन्न किया। यह प्रथम बार हिन्दी अनुवाद पूज्या माताजी द्वारा हुआ है।

अनुवादिकाश्री का परिचय :

पूज्य माताजो जिनमतीजी का जन्म फा० शु० १५ सं० १९९० को म्हसवड़ ग्राम[1] (जिला-सातारा, महाराष्ट्र) में हुआ। आपका जन्म नाम प्रभावती था। आपके पिता श्री फूलचन्द्रजी जैन और माता श्रीमती कस्तुरीदेवी थी।

अति पुण्य संयोग की बात है कि सन् १९५५ में आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमति माताजी ने म्हसवड़ में चातुर्मास किया। चातुर्मास में अनेक बालिकायें माताजी से द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, कातन्त्र व्याकरण आदि ग्रंथों का अध्ययन करती थीं। उस समय २१ वर्ष वयस्क सुश्री प्रभावती भी उन अध्येत्री बालाओं में से एक थी।

प्रभावती ने वैराग्य से ओतप्रोत होकर सन् १९५५ में ही दीपावली के दिन पू० ज्ञानमती माताजी से १०वीं प्रतिमा के व्रत ले लिए। पत्पश्चात् पू. आ. वीरसागरजी के संघ में वि. सं. २०१२ में क्षुल्लिका दीक्षा ली-देह का नामकरण किया था 'जिनमती'। इस क्षुल्लिका अवस्था में आपके चातुर्मास क्रमशः जयपुर, जयपुर, ब्यावर, अजमेर, सुजानगढ़ व सीकर; इस तरह छह स्थानों पर हुए।

सन् १९६१ तदनुसार का. शु. ४ वि. सं. २०१६ में सीकर (राज०) के चातुर्मास-काल में आ० शिवसागरजी महाराज से क्षु. जिनमती ने स्त्रित्व के चरमसोपानरूप आर्यिका व्रत ग्रहण किया। आर्यिका अवस्था में पू. जिनमतिजी ने प्रथम चातुर्मास आ. शिवसागरजी के संघ में रहते हुए लाडनूं में किया। फिर आर्यिका ज्ञानमतिजी, आदिमतिजी, पद्मावतीजी व क्षु. श्रेष्ठमतिजी के साथ कलकत्ता, हैदराबाद, श्रवण बेलगोला, सोलापुर तथा सनावद; इन ५ स्थानों पर यथाक्रम चातुर्मास किए। पुनः आ. शिवसागरजी के संघ में सम्मिलित होकर प्रतापगढ़ चातुर्मास किया। संघ यहां से महावीरजी पहुंचा, जहां आ. शिवसागरजी की समाधि हो गई और धर्मसागरजी महाराज को आचार्य पद से अलंकृत किया।

इसके बाद संघ के साथ जयपुर, टोंक, अजमेर, लाडनूं, सीकर, देहली, सहारनपुर, बड़ौत, किशनगढ़, उदयपुर, सलूम्बर, केशरियाजी, पाडवा, लुहारिया, प्रतापगढ़ व अजमेर यथाक्रम

---

[1]. म्हसवड सोलापुर के पास हैं।

चातुर्मास सम्पन्न हुए। फिर मुजफ्फरनगर और बड़ौत ये दो चातुर्मास स्वतंत्र किए। आ. धर्मसागरजी की समाधि के बाद मुनि वर्धमानसागरजी के संघ के साथ किशनगढ़ चातुर्मास किया। फिर क्रमशः सलूम्बर (१०८ विपुलसागरजी के साथ), लोहारिया (आ. अजितसागरजी के साथ) चातुर्मास हुआ। आचार्य अजितसागरजी महाराज की समाधि साबला (डूंगरपुर) में हुई और आचार्यश्री के द्वारा घोषित आदेशानुसार वर्धमानसागजी महाराज को आचार्यपद से सुशोभित किया गया। अभी आप उक्त आचार्यश्री के सघ में ही बिराज रही हैं।

पूज्य जिनमति माताजी पूज्य ज्ञानमतिजी के प्रबल निमित्त से आज श्रेष्ठ न्यायज्ञा व संस्कृतज्ञा के रूप में जानी जाती हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड [सानुवाद २०३६ पृष्ठ] तथा मरणकण्डिका जैसे महाकाय ग्रंथों का प्रथम बार अनुवाद आपने ही किया है और आज भव्य पाठकों के सामने इस सुखबोधा को भी आपने अतिसुखबोधा बना करके प्रस्तुत कर दिया।

आपके कारण से इस शताब्दी का पूज्य साध्वी वर्ग नूनमेव गौरवान्वित रहेगा।

अन्त में यह आशा करता हुआ कि सुखबोध टीका की यह भाषा टीका भव्य जनों द्वारा आदृत होगी, पूज्य महाविदुषी जिनमति के चरणों में बहुबार त्रिधा "वंदामि" करता हुआ अपनी प्रस्तावना पूर्ण करता हूं।

आपका सेवक :

श्री जवाहरलाल मोतीलाल बकतावत

साटड़िया बाजार, भीण्डर

परम पूज्य तपस्वी आचार्यप्रवर

श्री १०८ श्री शिवसागरजी महाराज

तपस्तपति यो नित्यं, कृशांगो गुणपीनकः ।
शिवसिन्धुगुरुं वन्दे, भव्यजीव हितंकरम् ।।

जन्म :	क्षुल्लकदीक्षा ।	मुनिदीक्षा ।	समाधि :
वि. सं. १९५८	वि. सं. २००१	वि. सं. २००६	फाल्गुन अमावस्या
अड़ग्राम (महाराष्ट्र)	सिद्धवरकूट	नागौर (राज०)	वि. सं. २०२५ श्रीमहावीरजी

परम पूज्य धर्मदिवाकर आचार्य प्रवर

श्री १०८ श्री धर्मसागरजी महाराज

तुभ्य नमोऽस्तु शुभधर्मसमर्थकाय, तुभ्यं नमोऽस्तु जनतापविनाशकाय ।
तुभ्यं नमोऽस्तु भवशोषकपद्मबन्धो, तुभ्यं नमोऽस्तु गणपोषक धर्मसिन्धो ।।

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनिदीक्षा :	समाधि :
वि.सं.१९७० पौष पू.	चैत्र शुक्ला ७, सं. २००१	कार्तिक शु. १४, सं. २००८	बैसाख कृ. ९ सं २०४४
गम्भीरा (बूंदी)	बालूज	फुलेरा	सीकर २२-४-८७
राजस्थान	महाराष्ट्र	राजस्थान	राजस्थान

❀ विषय परिचय ❀

यह सुखबोधावृत्ति श्री भास्करनन्दि विरचित है यह तत्त्वार्थसूत्र की टीका स्वरूप है। तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीवादि सात तत्त्वों का वर्णन है। इसमें कुल दस अध्याय और सूत्र ३५७ हैं। प्रथम अध्याय में ३३ द्वितीय में ५३ तृतीय में ३९ चतुर्थ में ४२ पञ्चम में ४२ षष्ठम में २७ सप्तम में ३९ अष्टम में २६ नवम में ४७ और दशम में ९ सूत्र हैं। प्रथम अध्याय से चतुर्थ अध्याय तक जीव तत्त्व का निरूपण है। पञ्चम में अजीव तत्त्व का, षष्ठं और सप्तम में आस्रव तत्त्व का, अष्टम में बंध तत्त्व का, नवम में संवर और निर्जरा तत्त्वों का और अन्तिम दशम अध्याय में अंतिम मोक्ष तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

प्रथम अध्याय में मंगल श्लोक के अनंतर सुप्रसिद्ध 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र द्वारा ग्रंथारम्भ होता है। जैन द्वारा इस प्रकार मोक्षमार्ग का स्वरूप प्रतिपादित करने पर उस पर तथा मोक्ष के विषय में अन्य अन्य दार्शनिक अपना २ मंतव्य प्रस्तुत करते हैं। जैसे—सैद्धांत वैशेषिक कहता है कि आप्त द्वारा कथित मन्त्र तन्त्र दीक्षा और श्रद्धा का अनुसरण मात्र से मोक्ष होता है और मोक्ष का स्वरूप तो यही है कि आत्मा के सम्पूर्ण विशेष गुणों का विच्छेद हो जाना।

तार्किक वैशेषिक द्रव्य गुण आदि छह या सात पदार्थों के ज्ञान मात्र से मोक्ष होना स्वीकार करते हैं। सांख्य-प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान से मोक्ष होना मानते हैं तथा आत्मा चैतन्यमात्र में अवस्थान ही मोक्ष है ऐसा इनका मन्तव्य है। निरास्रव चित्त की उत्पत्ति ही मोक्ष है और वह विशिष्ट भावना ज्ञान के बल से होता है ऐसी बौद्ध मान्यता है। परम ब्रह्म के दर्शन से मोक्ष होता है और वह आनन्द मात्र स्वरूप है ऐसा वेदान्ती का कहना है। पाशुपत, कौलिक, बार्हस्पत्य, ब्रह्माद्वैत इत्यादि अन्य मतों के मोक्ष के विषय में जो मान्यतायें हैं उन सबका टीकाकार ने सुन्दर रीत्या

खण्डन कर दिया है और जैन सूत्र प्रतिपादित मोक्षमार्ग और मोक्षस्वरूप को सयुक्तिक निर्दोष सिद्ध किया है ।

सम्यग्दर्शन का लक्षण और जीवादि सात तत्त्वों का कथन करके इनके जानने के उपाय निक्षेप, प्रमाण, नय निर्देशादि छह तथा सत् संख्यादि आठ अनुयोग द्वारों का प्रतिपादन हुआ है । निर्देशादि को तथा सत् संख्यादि को प्रमाण नयात्मक स्वीकार करना टीकाकार की अपनी एक विशेषता है ।

सर्वत्र सूत्रोक्त पदों का समास प्राय: किया गया है जैसे कि सर्वार्थ सिद्धि-कार ने किया है । मतिज्ञानादि पांच ज्ञान ही प्रमाण हैं, सन्निकर्षादि प्रमाण नहीं हैं ऐसा सिद्ध किया है । मतिज्ञान के अवग्रह आदि भेद, श्रुतज्ञान के अंग पूर्वादि भेद, अवधिज्ञान तथा मन:पर्ययज्ञान के भेद बतलाकर इन ज्ञानों का विषय बताया है । यह विद्वद्वर्ग प्रसिद्ध है कि अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान के विषय में आगम में दो धारा उपलब्ध होती हैं एक तो यह तत्त्वार्थ सूत्रकार की धारा कि अवधिज्ञान से (सर्वावधि-ज्ञान से) मन:पर्ययज्ञान का विषय अनंतवें भाग सूक्ष्म है 'तदनन्तभागे मन:पर्ययस्य' और दूसरी धारा है सर्वावधि का विषय परमाणु है और मन:पर्यय ज्ञान का विषय स्कंधरूप है । इसमें श्री भास्करनन्दि ने अवधिज्ञान का विषय महास्कंध कहा जो कि कर्मद्रव्य के अनन्त भाग का अन्त्यभाग है । यहां उस स्कन्ध को महास्कन्ध कहने का अभिप्राय इतना ही प्रतीत होता है कि वह भाग परमाणु और द्वयणुक आदि स्कंधरूप नहीं है किन्तु अनंत अणुओं का स्कंधरूप है । एक साथ एक जीव के एक ज्ञान तो केवलज्ञान होता है क्षायोपशमिक मति आदि ज्ञानों के साथ केवलज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि आवरणों के अस्तित्व में होने वाले मति आदि ज्ञान और आवरणों के क्षय से होने वाला केवलज्ञान इनका सहभावीपना विरुद्ध है । अत: आत्मा के एक ज्ञान होवे तो वह केवलज्ञान है । यहां टीकाकार ने अल्पश्रुतज्ञान से युक्त यदि मतिज्ञान है तो उसको भी एक मानकर एक आत्मा में एक मतिज्ञान होना बताया है, ऐसे ही श्लोक-वार्तिककार ने बताया है । नैगम संग्रह आदि नयों का विवेचन मध्यम रीत्या किया गया है । नैगम के प्रभेद श्लोकवार्तिक का अनुकरण करते हैं ।

नैगमादि सात नय एवं उनके भेदों का कथन करके अन्वयनय, व्यतिरेकनय आदि अन्य प्रकार से नयों का वर्णन भी किया है तथा एक उद्धृत श्लोक प्रस्तुत किया गया है ।

दूसरे अध्याय में औपशमिक आदि त्रेपन भावों के वर्णन में नौ क्षायिक भावों का प्रस्तुतीकरण सर्वार्थसिद्धि का अनुकरण करता है। द्रव्येन्द्रिय के कथन में बाह्य निर्वृत्ति इन्द्रिय संस्थानरूप है ही किन्तु इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से युक्त अपने अपने इन्द्रिय के आकार विशिष्ट आत्म प्रदेशों पर संश्लिष्ट जो सूक्ष्म पुद्गल हैं उन्हें अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहा है। इन्द्रियों के विषय तथा उनके स्वामी का प्रतिपादन औदारिकादि शरीर, उनकी आगे आगे सूक्ष्मता आदि का कथन किया है लब्धि निमित्तक तैजस शरीर के निःसरणरूप और अनिःसरणरूप ऐसे दो भेद किये हैं।

तीसरे अध्याय में प्रारम्भ में लोक का वर्णन उसके अधोलोक आदि के राजूओं का प्रमाण, वातवलयत्रय, नारकियों का दुःख आयु आदि का कथन है। मध्य-लोक में, जम्बूद्वीप भरत आदि सात क्षेत्रों को विदेहस्थ सुदर्शनमेरु, देवकुरु, उत्तरकुरु, गजदन्त, बत्तीस देशों के नाम उनकी प्रमुख नगरियां, विभंगा नदियां, वक्षार, कांचर-गिरि आदि का सुविस्तृत वर्णन किया गया है (कुलाचल, पद्मादि सरोवर, श्री आदि देवियां, गंगादि चौदह महानदियों का उद्गम, उत्सर्पिणी आदि काल धातकी खंड तथा पुष्करार्ध में होने वाले क्षेत्र कुलाचल आदि की व्यवस्था मनुष्यों के आर्य और म्लेच्छरूप भेद अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ (कुभोग भूमिज) मनुष्य तथा तिर्यंचों की जघन्य उत्कृष्ट आयु का कथन इस अध्याय में है। इसमें टीकाकार ने विदेहस्थ मनुष्यों की ऊंचाई सवा पांच सौ धनुष प्रमाण बतायी है।

इस अध्याय के अन्त में लौकिक प्रमाण और अलौकिक प्रमाण का विस्तृत विवेचन किया है।

चौथे अध्याय में देवों का वर्णन है, चार निकाय, इन्द्रादि दस भेद, प्रवीचार, भवनवासी आदि के प्रभेद बतलाये हैं। ज्योतिष्क के कथन में कील के समान ध्रुव ज्योतिष्क और उन ध्रुव ज्योतिष्क का उल्लेख टीकाकार ने किया है जो अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। वैमानिक देवों की लेश्या आयु तथा अन्य निकायों की आयु का कथन है।

अन्त में तीन लोक का प्रमाण बतलाने वाले आगम का सयुक्तिक समर्थन किया है।

पांचवां अध्याय—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस प्रकार पांच अजीव–जड़ (अचेतन) द्रव्यों का इस अध्याय में वर्णन है। जो अपनी अपनी पर्यायों को प्राप्त करता है वह द्रव्य कहलाता है। परवादी द्रव्यत्व के समवाय से द्रव्य की सिद्धि करते हैं उस मत का टीकाकार ने निरसन किया है तथा दिशा, मन आदि को द्रव्य मानने का खण्डन किया है। ये द्रव्य नित्य और अवस्थित हैं अर्थात् अनादि निधन हैं और अपनी छह प्रमाण जाति संख्या को कभी नहीं छोड़ते, द्रव्यों की संख्या सदा छह ही रहती है घटती बढ़ती नहीं है इस बात को अच्छी तरह समझाया गया है।

धर्म, अधर्म और आकाश ये एक एक द्रव्य हैं। जीव द्रव्य अनंत हैं पुद्गल उनसे भी अनंतगुणे अनन्त हैं। काल द्रव्य असंख्यात हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। आकाश में लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश हैं और अलोकाकाश में अनंत प्रदेश हैं। पुद्गल में जो अणु है उसमें एक प्रदेश है, स्कन्ध में दो से लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त परमाणु पाये जाते हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी है। एक परमाणु जितनी जगह को रोकता है उसका नाम प्रदेश है। काल द्रव्य को छोड़ कर शेष द्रव्यों में अनेक प्रदेश पाये जाते हैं अतः इन पांच द्रव्यों को अस्तिकाय–बहुप्रदेशी कहते हैं।

इन द्रव्यों का अवस्थान लोकाकाश में है। धर्म तथा अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

संसारी जीव अपने अपने शरीर प्रमाण रहते हैं, छोटे बड़े शरीरों में अवस्थान जीव के प्रदेशों में संकोच तथा विस्तार स्वभाव होने के कारण होता है। धर्म आदि द्रव्यों का गतिरूप स्थितिरूप आदि उपकार है अणु और स्कन्धरूप पुद्गल द्रव्य के प्रमुख भेद हैं। शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य छाया आदि पुद्गल की विभाव व्यञ्जन पर्यायें हैं। अणु की उत्पत्ति स्कन्ध भेद से होती है। स्कन्ध दो आदि अणुओं के विशिष्ट बन्ध होने पर उत्पन्न होता है। उस बन्ध का कारण स्निग्ध और रूक्ष गुण है। द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य युक्त होता है। अथवा द्रव्य गुण और पर्याय वाला होता है। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इस सूत्र की टीका में भास्करनन्दी ने तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ को 'अर्हत् प्रवचन हृदय' नाम से गौरवान्वित किया है।

षष्ठ अध्याय—मन वचन और कायकी क्रिया योग कहलाता है और वही आस्रव है।

विशुद्ध परिणाम हेतुक कायादि योग शुभ है और संक्लेश परिणाम हेतुक कायादि योग अशुभ है।

आस्रव के साम्परायिक और ईर्यापथ ऐसे दो भेद हैं। कषाय युक्त जीवों के साम्परायिक और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव होता है।

ज्ञान दर्शन सम्बन्धी प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादना और उपघात ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों के आस्रव हैं। दुःख, शोक, तापादि असातावेदनीय कर्म के, जीवदया, सरागसंयम धारण इत्यादि साता वेदनीय कर्म के आस्रव हैं। धर्म आदि पर झूठा दोषारोपण अवर्णवाद है और इससे दर्शनमोह–मिथ्यात्व कर्म का आस्रव होता है। तीव्र कषाय भाव चारित्र मोह कर्म का आस्रव है। बहुत आरम्भ बहुत परिग्रह नरकायु के आस्रव हैं। मायाचार तिर्यंचायु का, अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह मनुष्यायु का, सरागसंयम प्रभृति देवायु के आस्रव हैं। योगों की कुटिलता और विसंवाद नहीं करना शुभनाम कर्म का आस्रव है। दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनायें अचिन्त्य माहात्म्य वाले तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव हैं। ये जितने भी कारण कहे हैं वे अपने अपने कर्म प्रकृति में विशेष विशेष अधिक अनुभाग डालने में कारण हैं, उस वक्त अन्य कर्मों में अनुभाग अल्प होता है, क्योंकि एक साथ एक जीव के ज्ञानावरणादि सात या आठ मूल कर्मों का बन्ध होता है ऐसा नियम है अब यदि विवक्षित समय में प्रदोष निह्नवादि है तो ज्ञानावरण कर्म में अधिक अनुभाग पड़ेगा अन्य कर्मों में अल्प होगा। जीव दया, व्रती अनुकम्पा आदि परिणाम हैं तो सातावेदनीय में अधिक अनुभाग होगा और अन्य कर्मों में अल्प अनुभाग होगा ऐसा ही सब कर्मों के कारणों के विषय में समझना चाहिए।

सातवां अध्याय—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरक्त होना व्रत कहलाता है। व्रतों के अणुव्रत और महाव्रत ऐसे दो भेद हैं। व्रतों की पच्चीस भावनायें मैत्री आदि चार भावनायें, हिंसा आदि का लक्षण उन सबका वर्णन कर पुनः

तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का कथन तथा अणुव्रतादि बारह श्रावकों के व्रतों के प्रत्येक के पांच पांच अतिचारों का कथन है । अन्त में ग्यारह प्रतिमायें वर्णित हैं ।

आठवां अध्याय:—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बंध के हेतु हैं । मिथ्यात्व के तीन सौ त्रेसठ भेदों को बतलाकर गुणस्थानों में बन्ध हेतुओं को घटित किया है अर्थात् प्रथम गुणस्थान में मिथ्यादर्शनादि पांचों बन्ध के हेतु मौजूद हैं । दूसरे तीसरे तथा चौथे गुणस्थान में मिथ्यादर्शन को छोड़कर चार बन्ध हेतु हैं । पांचवें में एक त्रस विरति है अन्य सब अविरतियां हैं अतः विरति अविरति मिश्ररूप है प्रमाद कषाय और योग ये कारण है ही । छठे गुणस्थान में अविरति नहीं है प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्ध हेतु हैं । सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें तक कषाय और योग ये दो बन्ध हेतु हैं । ग्यारहवें से तेरहवें तक एक योगरूप बन्ध हेतु है । चौदहवां गुणस्थान बंध हेतु रहित निरास्रव निर्बंध है । प्रकृतिबन्ध, अनुभागबन्ध, स्थितिबन्ध और प्रदेशबन्ध ऐसे बन्ध के चार भेद बतलाकर कर्मों के उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस का वर्णन किया है । सभी कर्मों की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति तथा अनुभाग एवं प्रदेश बन्ध लक्षण किया है अन्त में पुण्य कर्म प्रकृतियां और पाप कर्म प्रकृतियां गिनायी हैं ।

नौवां अध्याय:—आस्रव का रुकना संवर है वह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र द्वारा होता है । संवरों के इन सब कारणों का सुन्दर रीत्या वर्णन है । बाह्य और अभ्यन्तर तपों का वर्णन, ध्यान के सोलह भेद तथा उनके स्वामी का कथन किया गया है । असंख्यात गुण श्रेणीरूप से होने वाली निर्जरा के दश स्थान प्रतिपादित किये हैं । भावलिंगी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियों के पुलाक आदि पांच भेदों का लक्षण और उनके संयम, श्रुत आदि का कथन अंत में पाया जाता है ।

दसवां अध्याय :—मोहनीय कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय से केवलज्ञान प्रगट होता है । सम्पूर्ण बन्ध हेतुओं का अभाव और निर्जरा हो जाने पर कर्मों का आत्मा से सदा के लिए पृथक् हो जाना मोक्ष कहलाता है । आत्मा का अपने चैतन्य स्वरूप का लाभ मोक्ष है न कि परवादी कल्पित अभावादिरूप । औपशमिक आदि कर्मज भाव भी मोक्ष अवस्था में नहीं रहते । सम्यक्त्व,

ज्ञान, दर्शन आदि निजी भाव हमेशा के लिए पूर्ण शुद्धरूप व्यक्त हो जाते हैं। आत्मा कर्मों से पृथक् होते ही ऊर्ध्वगमन कर जाता है और धर्म द्रव्य जहां तक है वहां लोकाकाश के अन्त में तनुवातवलय में सदा सदा के लिए अवस्थित हो जाता है। वहां अपने आत्मीक आनन्द सुख शान्ति में सदा मग्न, संसार के कष्ट—दुःख आपदा से रहित अचिन्त्य आत्म स्वभाव में तल्लीन होते हैं। यही एक हम सबको प्राप्य है, यही गंतव्य है, यही ध्येय है, यही साध्य है, यही निजी अवस्था है यही आनंद सुखमय अवस्था है।

सिद्धों में भूतपूर्व प्रज्ञापननय की अपेक्षा क्षेत्र, काल, गति इत्यादि अनुयोग द्वारा भेद करके कथन किया है।

इस प्रकार यह टीका पूर्ण होती है। इसका प्रमाण पांच हजार श्लोक प्रमाण है। जैसा कि कहा है—

> इति यः सुखबोधाख्यां वृत्तिं तत्त्वार्थ संगिनीम्।
> षट् सहस्रां सहस्रोनां विन्द्यात् स मोक्षमार्ग वित्॥१॥

अपनी प्रशस्ति श्री भास्करनन्दी ने केवल तीन श्लोकों में दी है। इसमें अपने दादा गुरु के विषय में लिखा है कि जो न सोते हैं न थूकते हैं न किसी को आओ जाओ ऐसा कहते हैं। न द्वार बन्द करते हैं न खोलते हैं ऐसे महान् योगी हुए हैं जिन्होंने अन्त समय में संन्यासपूर्वक पर्यंकासन से प्राण त्याग किया था। उन योगीश्वर के शिष्य जिनचन्द्र हुए वे सिद्धांत पारंगत सुविशुद्ध सम्यग्दृष्टि थे उनका शिष्य मैं भास्करनन्दी पंडित ने यह तत्त्वार्थसूत्र की सुखबोध टीका रची है। यह पहले भी उल्लेख कर आये हैं कि इस ग्रन्थ के प्रणेता ने मूल सूत्रों के पदों का समास आदि रूप विश्लेषण करने में सर्वार्थसिद्धिकार का अनुसरण किया है। कहीं कहीं विषय प्रतिपादन में सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक का अनुकरण भी है। फिर भी इस टीका की अपनी विशेषता है ही। एक तो यह सरल सुगम शैली में है, तथा दूसरी विशेषता यह है कि सिद्धांत या तत्त्वों के प्रतिपादन में उन्हें जहां ग्रंथांतरों में कुछ विशेष मिले उनको अपनी टीका में सन्निहित किया है। आगे इस टीका में आगत विशेषतायें प्रस्तुत करते हैं—

सुखबोधा टीका में आगत विशेषतायें :—

१. निर्देश, स्वामित्व आदि छह जो तत्त्वों को जानने के उपाय हैं उन छहों को टीकाकार भास्करनन्दी ने प्रमाण और नयरूप माना है इस रूप मान्यता ग्रन्थांतर में उपलब्ध नहीं होती। टीका में इस प्रकार वाक्य हैं—

'सकल निर्दिश्यमानादि वस्तु विषयाः श्रुतज्ञान विशेषाः प्रमाणात्मकाः। तदेकदेशविषया नय विशेषात्मकाः। तैश्च निर्देशादिभिस्तत्त्वार्थाधिगमो भवति ।।' [अ. १ सू. ७]

२. सत्, संख्या, क्षेत्र आदि आठ अनुयोग द्वार जो कि तत्त्वार्थ अधिगम के उपायभूत हैं इन्हें भी प्रमाण नयात्मक स्वीकार किया है—

'ते च सदादयः सकलादेशित्वाच्छ्रुताख्य प्रमाणात्मकाः विकलादेशित्वान्नयात्मकाश्च भवन्ति' [अ. १ सू. ८]

३. सर्वावधिज्ञान का विषय महास्कन्ध है—

'तच्छब्देन सर्वावधिविषयस्य सम्प्रत्ययः स च कर्मद्रव्यस्यानन्तभागीकृतस्यान्त्यो भागोमहास्कन्ध उक्तो' [अ. १. सू. २८]

४. अल्पश्रुत ज्ञानयुक्त मतिज्ञान को एक ज्ञानरूप माना—

'एकं तावत्······प्रकृष्ट श्रुतरहित मतिज्ञानं वा'

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिककार आचार्य विद्यानंद ने भी इस तरह का कथन किया है [अ. १ सू. ३०]

५. अभ्यन्तर निवृत्ति को सूक्ष्म पुद्गल संस्थानरूप मानना—

'अभ्यन्तरा चक्षुरादीन्द्रिय ज्ञानावरणकर्म क्षयोपशम विशिष्टोत्सेधांगुलाऽसंख्येय भाग प्रमितात्म प्रदेश संश्लिष्ट सूक्ष्म पुद्गल संस्थानरूपा' [अ. २ सू. १७]

६. यथार्थ ग्रहणं ध्रुवावग्रहः तद्विपरीत लक्षणः पुनरध्रुवावग्रहः।

यथार्थ—वास्तविक ग्रहण को ध्रुवावग्रह कहते हैं और अयथार्थ ग्रहण को अध्रुव अवग्रह कहते हैं। इस प्रकार इनका कुछ पृथक्रूप यह लक्षण है जो सर्वार्थसिद्धि आदि से नहीं मिलता किन्तु आगे ध्रुवावग्रह और धारणाज्ञान अन्तर बतलाते समय सर्वार्थसिद्धि का लक्षण ग्रहण किया है। [अ. १ सू. १६]

७. मध्यमपद से अंगप्रविष्ट की रचना और प्रमाण पद से अंग बाह्य की रचना होती है [अ. १ सू. २०]

८. रत्नप्रभा आदि सातों नरक भोगभूमियों के मनुष्यों की आयुष्क को हीनाधिक मानना अर्थात् अढाई द्वीप सम्बन्धी पांच हैमवत और पांच हैरण्यवत जघन्य भोगभूमिजों की जघन्य आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण और उत्कृष्ट आयु एक पल्य प्रमाण मानते हैं। पांच हरिवर्ष और पांच रम्यक मध्यम भोगभूमिजों की आयु जघन्य एक पल्य और उत्कृष्ट दो पल्य। पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु उत्कृष्ट भोगभूमिजों की जघन्य आयु दो पल्य और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य प्रमाण मानी है–'तत्रत्याजना उत्कर्षेणैक पल्योपमायुषो जघन्येन पूर्व कोट्यायुषो .... इत्यादि [अ. ३ सू. २९]

९. विदेह के मनुष्यों की ऊंचाई सवा पांचसौ धनुष प्रमाण मानी है—
'मनुष्याश्च पंचविंशत्यधिक पंच धनुः शतोत्सेधाः' [अ. ३ सू. ३१]

१०. अन्तर्द्वीपजम्लेच्छ–कुभोगभूमिज मनुष्य मरकर चारों गतियों में जाते हैं—
'.......कर्मभूमिवत् मनुष्याणां चातुर्गतिकत्वमिति विशेषोऽत्र दृष्टव्यः'
[अ. ३ सू. ३७]

११. छठे काल के प्रारम्भ में मनुष्य की ऊंचाई दो हाथ छह अंगुल है अन्यत्र २ हाथ मात्र कहा है। [अ. ३ सू. २७]

१२. लब्धि से होने वाले तैजस शरीर को दो प्रकार का माना है—निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक–'तत्र यदनुग्रहोपघातनिमित्तं निःसरणाऽनिःसरणात्मकं तपोतिशयर्द्धि सम्पन्नस्य यते भंवति तद् विशिष्टरूप कथितम्' [अ. २ सू. ४८]

१३. भरत और ऐरावत में कील के समान ध्रुव ज्योतिष्क विमान हैं और उन ध्रुव ज्योतिष्कों की भ्रमणशील ज्योतिष्क प्रदक्षिणा देते हैं—
'भरतैरावतयोः कीलकवत् ध्रुवास्तत् प्रादक्षिण्येन भ्रमणशीलाश्च केचित् ज्योतिष्क विशेषाः सन्तीत्यादि चागमान्तरे निवेदितम्' [अ. ४ सू. १३]

१४. भवनत्रिकों के देवियों की आयु अपने अपने देवों की जितनी आयु है उससे आठवें भाग प्रमाण होती है—'भवनवास्यादिनिकाय त्रय देवायुषोऽष्टमांशस्तद् देवायुषः प्रमाणमिति चात्र बोद्धव्यम्' [अ. ४ सू. २८]

१५. निद्रा परिणाम निद्रादि कर्म तथा साता कर्म के उदय से होता है ।

[अ. ८ सू. ७]

१६. एकेन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीव आयुकर्म को (मनुष्य की तथा तिर्यंच की आयु बांधे तो पूर्व कोटी की बांध सकते हैं ? (अधिक से अधिक)

[अ. ८ सू. १७]

इस प्रकार इस ग्रन्थ के विषय का यह परिचय है इसमें स्थान स्थान पर व्याकरण के सूत्र उल्लिखित हैं उनको ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट में दिया है । मुमुक्षु भव्य जीव इस तत्त्वों के प्रतिपादक ग्रन्थ का स्वाध्याय अवश्य करें एवं रत्नत्रय को धारण कर आत्म कल्याण करें ।

अलं विस्तरेण ।

—आर्यिका शुभमती

※ श्री शांतिवीरशिवधर्मसागराचार्याभ्यां नमः ※

बाल ब्रह्मचारी, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, परमपूज्य

श्री १०८ आचार्य श्री अजितसागरजी महाराज

काव्याण्यलंकृति समन्वित पिंगलानि
सिद्धांत व्याकरण नीति सुभाषितानि ।
शास्त्राण्यधीत्य निपुणः परपाठने तं
भक्त्या नमाम्यजितसागर सूरिवर्यम् ।।१।।

परमपूज्य प्रातः स्मरणीय, पंचम पट्टाधीश, कुशल वक्ता, आदर्श अनुशासक

श्री १०८ आचार्य श्री वर्द्धमानसागरजी महाराज
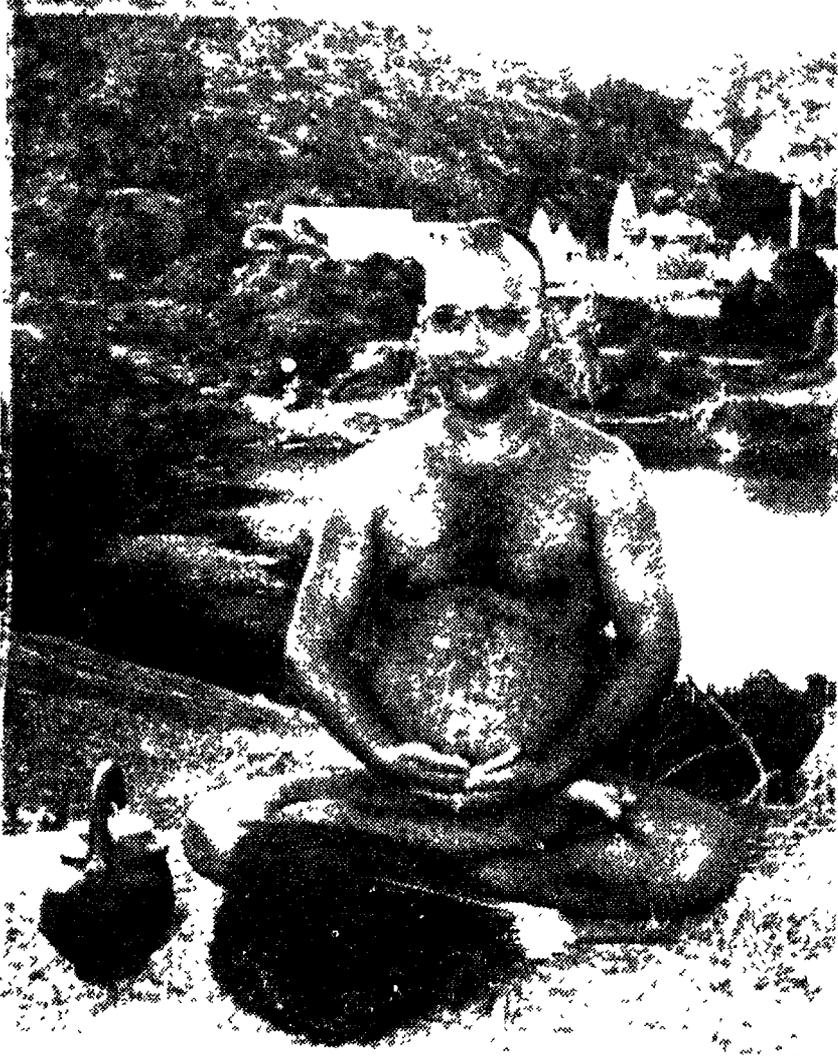
वक्तृत्व कुशलं प्राज्ञं मनोज्ञं मार्ग द्योतकम् ।
सूरिणं वर्द्धमानं तं प्रणमामि त्रिशुद्धित: ॥

जन्म :
१८ सितम्बर १९५० सनावद

पंचम पट्टाधीश आचार्य पद स्थापन ।
२४-६-९० आषाढ़ शुक्ला द्वितीया

卐 समर्पण 卐

पंचपरमेष्ठि वंदना सक्तानां पंचाचारपरायणानां,

पंचपरावर्त्तन संविग्नानां,

पंचम पट्टाधीशानां

आचार्य श्री वर्द्धमानसागर महाराजानां

पावन-पाणि पद्मयोः परमश्रद्धया

त्रिभक्ति पूर्वकेन ग्रंथोयं समर्पितः ।

—आर्यिका जिनमती

विषयानुक्रमणिका

द्वितीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

छठा अध्याय

सातवां अध्याय

आठवां अध्याय

नौवां अध्याय

❀ सूचना ❀

इस ग्रंथ में सूत्र के अर्थ की पंक्तियों के साथ टीका के अर्थ की पंक्तियां शामिल हो गई हैं। विशेषार्थ में टीकार्थ भी मिल गया है अर्थात् सूत्रार्थ के बाद पैरा बदलना चाहिए था वह नहीं बदला है। विशेषार्थ की समाप्ति पर भी पैरा बदलना चाहिये वह नहीं बदला है। पाठकगण सुधार समझ कर पढ़ें।

॥ श्रीमत्पञ्चगुरुभ्यो नमः ॥

श्रीभास्करनन्दिविरचिता

सुखबोधा

तत्त्वार्थवृत्तिः

जयन्ति कुमतध्वान्तपाटने पटुभास्कराः ।
विद्यानन्दाः सतां मान्याः पूज्यपादा जिनेश्वराः ॥

अथातिविस्तरमन्तरेण विमतिप्रतिबोधनार्थमिष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरं तत्त्वार्थसूत्रपद-विवरणं क्रियते । तत्रादौ नमस्कारश्लोकः—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अर्थ—जो खोटे मतरूपी अन्धकार को नष्ट करने में श्रेष्ठ सूर्य हैं विद्या और आनन्द अर्थात् अनन्तज्ञान-केवलज्ञान और अनन्तसुख युक्त हैं, सज्जनों को मान्य हैं, जिनके चरणकमल त्रिलोक द्वारा पूजित हैं ऐसे जिनेश्वर जयशील होते हैं ।

विशेषार्थ—श्री भास्करनन्दि आचार्य महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की वृत्ति [टीका] प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम आशीर्वादात्मक मंगलाचरण करते हैं । इस मंगल श्लोक में जिनेन्द्रदेव का जयघोष किया है, इसमें जिनेश के चार विशेषण हैं "पटुभास्कराः" इस विशेषण से स्व नाम घोषित होता है, "विद्यानन्दाः" इससे अपने से पूर्व आचार्य जो विद्यानन्द हैं [श्लोक वार्तिक के रचयिता] उनका नाम स्मरण कर लिया है और "पूज्यपादाः" इससे सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद आचार्य का पुण्य स्मरण श्रीभास्करनन्दि ने किया है । "सतांमान्याः" यह सर्व सामान्य विशेषण है ।

अथानन्तर अल्प विस्तार से युक्त अल्प बुद्धि वालों को प्रतिबोध के लिये इष्ट देवता को नमस्कार पूर्वक तत्त्वार्थ सूत्रों के पदों का विवरण किया जाता है । उसके प्रारम्भ में नमस्कार श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

अस्य समुदायार्थः कथ्यते—मोक्षोपायस्योपदेष्टारं सकलजीवादितत्त्वानां ज्ञातारं कर्ममहा-पर्वतानां भेत्तारं भगवन्तमर्हन्तमेवानन्तज्ञानाद्येतद्गुणप्राप्त्यर्थं वन्देऽहं तस्यैव सकलप्रमाणाविरुद्धाने-कान्तात्मकार्थभाषित्वादिति । किंस्वरूपोऽसौ मोक्षमार्ग इति केनचिदासन्नभव्येन परिपृष्टे सत्याचार्यः प्राह—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।। १ ।।

सम्यक्शब्दः प्रशस्तवाची । स च दर्शनादिभिस्त्रिभिर्विशेषणत्वेन प्रत्येकमभिसम्बध्यते—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमिति । यज्जीवादीनां याथात्म्यश्रद्धानं ज्ञानस्य सम्यग्व्यपदेश-हेतुस्तत्सम्यग्दर्शनम् । तेषामेव याथात्म्यनिश्चयः सम्यग्ज्ञानम् । संसारकारणविनिवृत्तिं प्रत्युद्यतस्य

अर्थ—जो मोक्षमार्ग के नेता हैं, कर्मरूपी पर्वतों का भेदन करनेवाले हैं, संपूर्ण तत्त्वों के ज्ञाता हैं ऐसे महान आत्मा को उनके गुणों की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूं ।

इस श्लोक का समुदायार्थ कहते हैं—मोक्ष के उपाय के उपदेष्टा सकल जीव-अजीव आदि तत्त्वों के ज्ञायक कर्मरूपी महापर्वतों के भेदक हैं ऐसे अरहन्त भगवान को उन्हीं अनन्त ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति के लिये मैं नमस्कार करता हूं क्योंकि वे अरहन्तदेव ही सकल प्रमाणों से अविरुद्ध अनेकान्त स्वरूप पदार्थों का कथन करनेवाले हैं ।

वह मोक्षमार्ग किस रूप है ऐसा किसी आसन्न भव्य के द्वारा प्रश्न करने पर आचार्य देव कहते हैं—

सूत्रार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष का मार्ग है, सम्यक् शब्द प्रशस्तवाची है । सूत्र में एक बार प्रयुक्त हुआ सम्यक् शब्द प्रत्येक के साथ जोड़ना । जो जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान रूप है और ज्ञान में सम्यग् व्यपदेश का हेतु है वह सम्यग्दर्शन कहलाता है । उन्हीं जीवादि तत्त्वों का वास्तविक निश्चय होना सम्यग्ज्ञान है । संसार के कारणों को दूर करने में उद्यमशील सम्यग्ज्ञानी पुरुष के बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओं का त्याग सम्यक्चारित्र कहलाता है ।

"पश्यति दृश्यते अनेन, दृष्टिर्वा दर्शनम्" देखता है, देखा जाता है और देखना मात्र यह दर्शन शब्द का कर्तृसाधन, करणसाधन और भावसाधन रूप निरुक्तिपरक अर्थ है । इसी प्रकार "जानाति, ज्ञायते अनेन ज्ञातिर्वा ज्ञानं चरति चर्यते चरणमात्रं वा चारित्रं" जानता है, जाना जाता है और जानना मात्र तथा आचरण करता है, आचरण

सम्यग्ज्ञानिनो बाह्याभ्यन्तरक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् । पश्यति दृश्यतेऽनेन दृष्टिर्वा दर्शनम् । जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञातिर्वा ज्ञानम् । चरति चर्यते चरणमात्रं वा चारित्रम् । मोक्षणं मोक्षः । स च द्रव्यभावस्वभावसकलकर्मसंक्षये पुंसोऽनन्तज्ञानादिस्वरूपलाभः । मृष्टोऽसौ मार्गः । मृग्यत इति वा मार्गः । स च संसारकारणविनिवर्तनसमर्थो मोक्षप्राप्त्युपाय उच्यते । स च समुदितसम्यग्दर्शनादित्रितयात्मक एव । व्यस्तस्य सद्दर्शनादेर्मोक्षहेतुत्वानुपपत्तेः । रसायनविषयव्यस्तश्रद्धानादेः सर्वव्याधिविनिवृत्तिहेतुत्वाभाववत् । किंच संसारकारणं देहिनां मिथ्याभिनिवेशाऽज्ञानविपरीतचरणरूपमन्यतमापाये ससरणापकर्षविशेषाऽनिश्चयात् । तच्च त्रिविधं संसारकारणं दर्शनमात्रेण ज्ञानमात्रेण चरणमात्रेणैकेन द्वाभ्यां वा न निवर्तते । तत्प्रतिपक्षभूतेन तत्त्वश्रद्धानादित्रयेणैव तस्य निवर्तयितुं शक्यत्वात् । न चाज्ञानमात्रहेतुकः संसारस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तावज्ञाननिवृत्तावपि संसारेऽवस्थानसंभवात् । अन्यथाप्तस्य तत्त्वोपदेशाघटनात् । अज्ञानासंयमहेतुनियतत्वमपि न संसारस्य घटते । स्वयमाविर्भूततत्त्वज्ञानवैराग्यस्या-

---

किया जाता है और चरण मात्र यह ज्ञान और चारित्र शब्द का निरुक्ति अर्थ है। "मोक्षणं मोक्षः" छूटना यह मोक्ष शब्द की निरुक्ति है। द्रव्यकर्म और भावकर्म रूप सकल कर्मों का क्षय होने पर आत्मा के अनन्तज्ञानादि स्वरूप की प्राप्ति होना मोक्ष है। "मृष्टोऽसौ मार्गः, मृग्यते इति वा मार्गः" खोजना अथवा खोजा जाना यह मार्ग शब्द की निरुक्ति है, वह संसार के कारणो के दूर करने में समर्थ ऐसा मोक्ष के प्राप्ति का उपाय है जो कि मिले हुए सम्यग्दर्शन आदि तीन रूप ही है।

पृथक् पृथक् रूप अकेले सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के कारण नहीं हो सकते, जैसे कि रसायन सम्बन्धी श्रद्धान या मात्र ज्ञान रोग को दूर करने में समर्थ नहीं होता। दूसरी बात यह है कि जीवों के संसार के जो कारण हैं वे मिथ्यात्व, अज्ञान और विपरीत आचरण रूप (हिंसादि रूप) हैं इनमें से एक का अभाव होने पर संसार का अभाव देखा नहीं जाता। वे तीन प्रकार के संसार के कारण अकेले दर्शन मात्र से, ज्ञानमात्र से या चारित्रमात्र से नष्ट नहीं होते तथा ज्ञान चारित्र, दर्शन चारित्र और ज्ञान दर्शन ऐसे दो-दो कारणों द्वारा भी नष्ट नहीं होते हैं। किन्तु उन मिथ्यात्वादि के प्रति पक्षभूत संसार का कारण मात्र अज्ञान ही है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञान होने पर अज्ञान तो दूर होता है किन्तु उस तत्त्वज्ञानी की संसार में स्थिति बनी रहती है। यदि तत्त्वज्ञान होते ही संसार का अभाव अर्थात् मुक्ति होना स्वीकार करते हैं तो उस तत्त्वज्ञानी आप्त पुरुष के अन्य मुमुक्षु जीवों को तत्त्व का उपदेश देना घटित नहीं होता है।

ज्ञानासंयमाभावेऽपि संसारावस्थानाभ्युपगमादन्यथा तत्त्वोपदेशाभावलक्षणस्योक्तदोषानुषङ्गस्य तदवस्थत्वात्। ततो मिथ्यादर्शनादित्रितय हेतुक एव संसार इति भावनीयम्। तस्यात्यन्तनिवृत्तिलक्षणश्च मोक्षः सम्यग्दर्शनादित्रितयसाध्य एवेति च निश्चयः। तर्हि सयोगकेवलिनः प्रकृष्टसम्यग्दर्शनादित्रितयाविर्भावे सति मिथ्यादर्शनादित्रितयनिवृत्तिलक्षण एव मुक्तिप्रसङ्गात्कथं भवतां जैनानामपि मते आप्तस्य तत्त्वोपदेशनासम्भाव्यत इति चेन्न—कायादियोगत्रयसम्भवात्। योगा ह्यचारित्रेऽन्तर्भवन्ति तेषां त्रयोदशगुणस्थानव्यापित्वात्। कायादिक्रियानिवृत्तिकारणस्यायोगकेवलिसमुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिपरमशुक्लध्यानस्य चारित्रेऽन्तर्भाववत्। अत एव अयोगकेवलिचरमसमयवर्तिरत्नत्रयसंपूर्णतैव

यदि कोई कहे कि संसार के कारण अज्ञान और असंयम ये दो हैं तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस पुरुष के तत्त्वज्ञान और वैराग्य प्रगट हुआ है उसके अज्ञान और असंयम का अभाव हो चुकने पर भी संसार में अवस्थान स्वीकार किया है यदि उस पुरुष के संसार में स्थिति नहीं मानी जाती है तो वही पूर्वोक्त दोष आता है कि तत्त्वोपदेश का अभाव होता है, अर्थात् तत्त्वज्ञानी वैराग्यवान् पुरुष के उसी क्षण मुक्ति होना स्वीकार करते हैं तो तत्त्वों को उपदेश कौन देगा ? उसका अभाव होता है और उसी क्षण मुक्ति नहीं होती है तो तत्त्वज्ञान और वैराग्य से मुक्ति हुई ऐसा सिद्ध नहीं होता है। इसलिये यह निश्चित होता है कि मिथ्यात्वादि तीन कारण रूप ही संसार है, और उस संसार का अत्यन्त अभाव रूप जो मोक्ष है वह सम्यग्दर्शन आदि तीन कारणों द्वारा ही साध्य है।

शंका—इस प्रकार संसार और मुक्ति के तीन कारण स्वीकार किये जाते हैं तो जिनके सम्यग्दर्शन आदि तीनों प्रकृष्ट रूप से प्रगट हो चुके हैं ऐसे सयोग केवली जिनेन्द्र के मिथ्यादर्शनादि तीन के नाश स्वरूप मुक्ति के प्राप्त होने का प्रसंग आता है अतः आप जैनों के मत में भी भगवान आप्त के तत्त्वों का उपदेश देना घटित नहीं होता है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, उन सयोगी जिनके अभी काय योग आदि तीन योग मौजूद हैं, मनोयोग, वचनयोग और काय योग ये तीन योग अचारित्र-असंयम में अन्तर्निहित हैं अर्थात् योग के सद्भाव में चारित्र परिपूर्ण नहीं होता, योग तेरहवें गुणस्थान तक होता है। इसी प्रकार कायादि क्रिया के अभाव का कारण रूप अयोग केवली के होने वाला समुच्छिन्न क्रिया—निवृत्ति नाम वाला चौथे परम शुक्लध्यान का चारित्र में अन्तर्भाव करते हैं। और इसीलिये अयोग केवली भगवान के चरम समय

सकलसंसारोच्छेदनिबन्धनमित्यत्र बोद्धव्यम् । अत्र पुनर्विशेषेण मिथ्यात्वोदयजनितदुरागमवासनावासितान्तःकरणाः परवादिनो मुक्त्युपायं मुक्तिस्वरूपं चान्यथा प्रतिपादयन्ति प्रमुग्धलुब्धलोकानाम् । तथा हि—सकलनिष्कलाप्तप्राप्तमन्त्रतन्त्रापेक्षदीक्षालक्षणात् श्रद्धामात्रानुसरणान्मोक्ष इति सैद्धान्तवैशेषिकाः । द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान्त्यविशेषाभावाभिधानानां साधर्म्यवैधर्म्यावबोधतन्त्रात् ज्ञानमात्रान्मोक्ष इति तार्किकवैशेषिकाः । त्रिकालभस्मोद्धूलनेढ्यालड्डुकप्रदानप्रदक्षिणीकरणात्मविडम्बनादिक्रियाकाण्डमात्रानुष्ठानादेव मोक्ष इति पाशुपताः । सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निश्चलचित्तत्वान्मोक्ष इति कालाचार्यकाः । तथा च चित्रिकमतोक्तिः—मदिरामोदमेदुरवदनसरसप्रसन्नहृदयः सव्यपार्श्वसमीपविनिवेशितशक्तिः शक्तिमुद्रासनधरः स्वयमुमामहेश्वरायमाणो नित्यामन्त्रेण पार्वतीश्वरमाराधयेदिति मोक्षः । प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकख्यातेर्मोक्ष इति साङ्ख्याः । नैरात्म्यादिनिवेदितसम्भावनातो मोक्ष इति दशबलशिष्याः । अङ्गाराञ्जनादिवत् स्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य

में होने वाला जो परिपूर्ण रत्नत्रय है वही रत्नत्रय संपूर्ण संसार के नाश का कारण है ऐसा जानना चाहिये ।

अब यहां पर मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न हुई जो खोटे आगम की वासना है उस वासना से युक्त जो परवादी लोग हैं वे भोले मोही जीवों को विशेष रूप से मुक्ति का लक्षण और मुक्ति के उपाय का विपरीत कथन करते हैं—

सकल निष्कल आप्त द्वारा प्राप्त हुए जो मन्त्र-तन्त्र हैं उनकी अपेक्षा युक्त दीक्षा है उस दीक्षा लक्षण वाली श्रद्धा का अनुसरण करने मात्र से अर्थात् श्रद्धा मात्र से मोक्ष हो जाता है ऐसा सैद्धान्त वैशेषिक कहते हैं । द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, अन्त्य विशेष और अभाव इन सात पदार्थों का साधर्म्य वैधर्म्य रूप अवबोध होना ज्ञान है उस ज्ञान मात्र से ही मोक्ष होता है ऐसा तार्किक-वैशेषिक प्रतिपादन करते हैं । तीन कालों में भस्म लगाना, लड्डुओं का दान देना, प्रदक्षिणा देना, अपनी विडम्बना करना इत्यादि क्रिया काण्ड के अनुष्ठान मात्र से मुक्ति होती है ऐसा पाशुपत का अभिमत है । पेय-अपेय, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि में विचार रहित होना [कुछ भी अघोरीपन से खाना पीना, विवेक विचार नहीं करना] निश्चित मन होने से मुक्ति होती है ऐसा कालकाचार्य का मत है । चित्रिक मत में कहा है कि मदिरा की गंध से युक्त मुख वाला और सरस प्रसन्न हृदय युक्त पुरुष जिसके कि सव्य बायें भाग में शक्ति [त्रिशूल] रखी है जो शक्ति मुद्रा आसन को धारण किये होने से स्वयं पार्वती शंकर के समान प्रतीत होता है, नित्य आमन्त्र से पार्वती और शंकर की आराधना करे इसी से मोक्ष होता है ।

चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्धिरिति जैमिनीयाः। सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते ततः परलोकिनोऽभावा-त्परलोकाभावे कस्यासौ मोक्ष इति समवाप्तसमस्तनास्तिकाधिपत्या बार्हस्पत्याः। परमब्रह्मदर्शन-वशादशेषभेदसंवेदनाऽविद्याविनाशान्मोक्ष इति वेदान्तवादिनः ॥

नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह न बहिस्तत्त्वमञ्जसा।
विचारगोचरातीतेः शून्यता श्रेयसी ततः ॥

इति पश्यतोहराः प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिराः शाक्यविशेषाः। तथा—ज्ञानसुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मुक्तिरिति काणादाः। तदुक्तम्—

प्रकृति और पुरुष का विवेक ज्ञान होने से मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा सांख्य कहते हैं।

नैरात्म्य आदि रूप कही गयी भावना से मोक्ष होता है ऐसा दशबल शिष्य कहते हैं। अंगार-कोयला या अञ्जन के समान स्वभाव से ही आगत जो कलुषता है उस कलुषता से युक्त चित्त के—आत्मा के किसी भी कारण से शुद्धि नहीं हो सकती अर्थात् कर्म कलिमा का अभाव नहीं होता अतः मुक्ति नहीं होती ऐसा जैमिनी कहते हैं।

धर्मी—आत्मा होवे तो धर्म का विचार कर सकते हैं किन्तु परलोक में जाने वाले आत्मा का ही अभाव है अतः परलोक भी नहीं है ऐसी स्थिति में मोक्ष किसके होगा? किसी के भी नहीं, इस प्रकार संपूर्ण नास्तिक वादियों के अधिपति बार्हस्पत्य—चार्वाक कहते हैं।

परमब्रह्म का दर्शन होने से सकल भेदों का संवेदन करानेवाली अविद्या का नाश होता है और अविद्या के नाश से मोक्ष होता है ऐसा वेदान्त वादी कहते हैं।

न अन्तस्तत्त्व रूप आत्म तत्त्व है और न बाह्य तत्त्व रूप अजीव तत्त्व क्योंकि विचार करने पर ये प्रतीत नहीं होते इसलिये शून्यता मानना श्रेयस्कर है ॥ १ ॥ इस प्रकार पश्यतोहर—देखते हुए भी नहीं मानने वाले शून्य एकान्त रूप अन्धकार को मानने वाले बौद्ध हैं [इनके यहां मुक्ति की कल्पना ही नहीं है] ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन आत्मिक नौ गुणों का अत्यन्त नाश होना मोक्ष है ऐसा काणाद [वैशेषिक] कहते हैं। इनके कण भोजी ऋषि ने कहा है कि शरीर से बाहर जो आत्मा का स्वरूप प्रतीत होता है वही मुक्ति का स्वरूप है।

बहिः शरीराद्यद्रूपमात्मनः सम्प्रतीयते ।
उक्तं तदेव मुक्तस्य मुनिना कणभोजिना ।। इति ।।

निरास्रवचित्तोत्पत्तिर्मोक्ष इति ताथागताः । तदुक्तम्—

दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चि-
न्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः
स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ।। १ ।।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चि-
न्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतः
क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ।। इति ।। २ ।।

निरास्रव चित्त की उत्पत्ति होना अर्थात् जन्म जन्म में जीव की जो संतान चली थी वह रुक जाना मोक्ष है ऐसा ताथागत का कहना है । इस विषय में कहा है कि—जैसे तेल के समाप्त होने पर अभाव को प्राप्त हुआ दीपक न किसी दिशा में जाता है न विदिशा में जाता है, न भूमि में जाता है और न आकाश में जाता है, केवल शान्त हो जाता है ।।१।। वैसे ही यह जीव क्लेश के नष्ट होने पर निर्वृति [अभाव] को प्राप्त हुआ न दिशा में जाता है न विदिशा में जाता है न भूमि में जाता है और न आकाश में जाता है मात्र शान्त हो जाता है ।।२।।

बुद्धि मन और अहंकार का अभाव होने पर संपूर्ण इन्द्रियां उपशमित होती हैं उस वक्त दृष्टा आत्मा का अपने स्वरूप में स्थित होना मोक्ष है ऐसा कापिल कहते हैं । जैसे घट के नष्ट होने पर घटाकाश आकाश में लीन होता है वैसे ही शरीर का नाश होने पर सर्व प्राणी परमब्रह्म में लीन होते हैं ऐसा ब्रह्माद्वैत वादी कहते हैं ।

इस प्रकार परमार्थ को नहीं जानने वाले मिथ्यादृष्टियों के ये मत हैं इसी तरह अन्य बहुत से कुमत हैं, वे सभी मत युक्ति से विचार करने पर यथार्थ रूप सिद्ध नहीं होते हैं । अब आगे उपर्युक्त मतों का निराकरण किया जाता है—

सर्वप्रथम सैद्धान्त वैशेषिक ने जो कहा था कि श्रद्धा मात्र से मोक्ष होता है वह ठीक नहीं है कल्याण के इच्छुक पुरुषों के श्रद्धामात्र से कल्याण नहीं होता है, जैसे कि

बुद्धिमनोऽहङ्कारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावशात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिरिति कापिलाः। यथा घटविघटने घटाकाशमाकाशीभवेत्तथा देहोच्छेदात्सर्वः प्राणी परे ब्रह्मणि लीयत इति ब्रह्माद्वैत-वादिनः। एवमज्ञातपरमार्थानां मिथ्यादृशामेतेऽन्येऽपि दुर्णया बहवः सन्ति। ते च युक्त्या विचार्यमाणा यथार्थतया न व्यवतिष्ठन्ते। तथा हि—

न तावत्केवलं श्रद्धामात्रं श्रेयोर्थिनां श्रेयः संश्रयाय भवति। यथा न बुभुक्षितवशादुदुम्बराणां पाको जायते। नापि पात्रावेशादिवन्मन्त्रतन्त्राभ्यासादात्मदोषप्रक्षयो भवति, संयमानुष्ठानक्लेश-वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तथा न दीक्षामात्रमेव मुक्तेः कारणं भवितुमर्हति, संसारसमुद्भूतपूर्वदोषाणां पुंसो दीक्षाक्षणान्तरे पश्चादप्युपलम्भसम्भवात्। नाप्यर्थपरिज्ञानमात्रं क्रियाश्रद्धानरहितं विवक्षितकार्यकारि स्याल्लोकेऽपि हि न पयःपरिज्ञानमेव तर्षापकर्षकारि दृष्टमिष्टं वा शिष्टैरिति। तथा चोक्तम्—

खाने की इच्छा मात्र होने से उदम्बर फलों का पकना नहीं होता है। इसी प्रकार पात्र लेना, वेष ग्रहण करना, मन्त्र तन्त्र के अभ्यास मात्र से आत्मा के रागादिदोषों का क्षय नहीं होता, अन्यथा संयम पालन का क्लेश व्यर्थ ठहरेगा, अर्थात् वेष और मन्त्र तन्त्र से मुक्ति होवे तो चारित्र पालन का कष्ट उठाना व्यर्थ है [किन्तु ऐसा है नहीं] तथा दीक्षा मात्र ही मुक्ति का कारण नहीं है, क्योंकि दीक्षा लेने के पश्चात् भी संसार में उत्पन्न हुए पूर्व दोषों का सद्भाव पाया जाता है। तार्किक वैशेषिक का ज्ञान मात्र से मोक्ष मानना भी असिद्ध है, क्योंकि श्रद्धा और क्रिया से रहित कोरा अर्थ ज्ञान विवक्षित कार्य को करता हुआ देखा नहीं जाता, लोक में भी देखा जाता है कि यह जल है इस प्रकार के जल के परिज्ञान मात्र से प्यास का नाश नहीं होता, न ऐसा शिष्ट पुरुषों द्वारा माना ही जाता है। कहा भी है—ज्ञान विहीन पुरुष की क्रिया फलदायक नहीं होती, जैसे नेत्र विहीन पुरुष वृक्ष की छाया के समान क्या उसके फलों को प्राप्त कर सकते हैं? नहीं कर सकते। पंगु पुरुष में ज्ञान, अन्ध पुरुष में क्रिया और श्रद्धा रहित पुरुष में ज्ञान एवं क्रिया कार्यकारी नहीं होती है, इसलिये ज्ञान क्रिया [चारित्र] और श्रद्धा ये तीनों मिलकर ही उस कार्य की सिद्धि में अथवा मोक्ष पद में कारण हैं॥ १॥ २॥ अन्यत्र भी कहा है—क्रियारहित ज्ञान व्यर्थ है, और अज्ञानी की क्रिया भी व्यर्थ है, देखो! जलते हुए वन में दौड़ता हुआ भी अन्धा पुरुष नष्ट हो जाता है और पंगु पुरुष देखते हुए भी नष्ट हो जाता है [क्योंकि अंधे को ज्ञान नहीं है कि किधर दौड़ना है और पंगु जानते हुए भी पैर के अभाव में दौड़ नहीं सकता, इसी तरह ज्ञान या क्रिया मात्र से मोक्ष नहीं होता।]

ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम् ।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ।।
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् ।
ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ।।

अन्यच्चोक्तम्—

हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया ।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ।। इति ।।

और जो कालकाचार्य का कहना था कि भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार नहीं करना इत्यादि से मोक्ष होता है सो इस तरह निःशंक-स्वैर प्रवृत्ति को मोक्ष का हेतु माना जाता है तो आप कौल मतवाले के समान बगुला आदि जीवों के भी मोक्ष हो जाना चाहिये ? क्योंकि वे जीव भी आप सदृश स्वैर प्रवृत्ति करते हैं ?

सांख्य ने प्रकृति और पुरुष में विवेक ज्ञान होने से मोक्ष होना स्वीकार किया है, किन्तु नित्य व्यापक स्वभाव वाले तथा व्यक्त और अव्यक्त रूप प्रकृति और पुरुष में वियोग-विवेक किस प्रकार सम्भव है ? जिससे कि उनका विवेक ज्ञान हो और उससे मोक्ष होना स्वीकार किया जाय ?

विशेषार्थ—यहां पर विविध मतों में जो मुक्ति के कारण माने हैं उनका खण्डन किया जा रहा है । श्रद्धा मात्र से मुक्ति मानने वाले सैद्धान्त वैशेषिक हैं, उनको जैन ने समझाया है कि श्रद्धा मात्र से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, क्या फलों को खाने की इच्छा या श्रद्धा मात्र से फल पक जाते हैं ? नहीं । मन्त्र दीक्षा ग्रहण मात्र से भी मुक्ति संभव नहीं है यदि इतने मात्र से मुक्ति होवे तो दीक्षा के अनन्तर ही मुक्ति होनी चाहिये किन्तु नहीं होती । ज्ञान मात्र से मुक्ति की कल्पना भी व्यर्थ है, क्या जल के ज्ञान मात्र से प्यास नष्ट होती है ? कौल मत तो निरा अघोरी है जिनकी कि मान्यता है, एक पात्र में अन्न और मल रखा हो तो दोनों की घृणा न करके खा जाना चाहिये इत्यादि । ऐसी अघोर प्रवृत्ति मोक्ष की हेतु कथमपि नहीं हो सकती । सांख्य ने प्रकृति और पुरुष ये मुख्य दो तत्त्व माने हैं तथा प्रकृति के महान आदि चौबीस भेद माने हैं । उनमें प्रकृति और पुरुष दोनों को ही नित्य व्यापक माना है । आचार्य ने समझाया कि जब प्रकृति पुरुष

तथा यदि निःशङ्कात्मप्रवृत्तिर्मोक्षहेतुरिष्यते तदा कौलानामिव तत्सम्भवात् बकादीनामपि मोक्षप्रसङ्गः स्यात् । तथा प्रकृतिपुरुषयोर्व्यक्तेतर योर्नित्यव्यापिस्वभावयोः कथं वियोगः समुपलभ्येत ? येन तद्वियोगदर्शनं मोक्षहेतुत्वेन साङ्ख्यानां घटेत । तथा चेतसि नैरात्म्यादिप्रतिभासभावनामात्रादेव मोक्षाभ्युपगमे सौगतेभ्योऽतितरां विप्रयुक्तकामिना मोक्षप्रसङ्गः स्यात् स्फुटतरभावनासम्भवात् । तदुक्तम्—

> पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये ।
> मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम् ।। इति ।।

दोनों नित्य व्यापक हैं तब उनका भेद ज्ञान अर्थात् प्रकृति भिन्न है और पुरुष भिन्न है ऐसा बोध कैसे सम्भव है ? अतः सांख्याभिमत मोक्ष लक्षण भी घटित नहीं होता है ।

बौद्धों ने नैरात्म्य भावना से मोक्ष स्वीकार किया है किन्तु मनमें नैरात्म्य की प्रतिभा रूप भावना मात्र से मोक्ष स्वीकार करने वाले सौगत को तो स्त्री वियोगी पुरुषों के भी मोक्ष स्वीकार करना पड़ेगा ? क्योंकि उनके भी वैसी स्पष्ट रूप से भावना होती है, कहा है कि कारागृह का द्वार बंद था अन्धकार तो इतना था कि सुई से भी नहीं भेदा जाता था फिर मेरे नेत्र भी ढके थे इतने पर भी मुझे अपनी स्त्री का मुख स्पष्ट दिखाई दिया ।। १ ।। इस कारिका का भाव यह है कि कोई पुरुष जेल में था उसको रात्रि के समय अपनी स्त्री की याद आई उस भाव में वह इतना मग्न हुआ कि उसे स्त्री का मुख दिखाई दिया । यहां पर सौगत के मोक्ष स्वरूप का निरसन करते हुए जैन ने कहा कि यदि भावना ज्ञान मात्र से मुक्ति संभव है तो स्त्री आदि की भावना करने वाले पुरुष के मुक्ति होने का प्रसंग आता है जो सबको अनिष्ट है । अतः बौद्धाभिमत मोक्ष स्वरूप खण्डित हो जाता है ।

जैमिनी का कहना था कि आत्मा के कभी मुक्ति हो नहीं सकती, जैसे कोयले की कालिमा स्वाभाविक होने से नष्ट नहीं होती वैसे आत्मा के रागादि कालिमा नष्ट नहीं होती इत्यादि, सो इस पर हम जैन का कहना है कि आत्मा के स्वभाव से स्वभावान्तर रूप परिणमन होता है जैसे मणि मुक्ता सुवर्ण आदि स्वभावान्तर से परि-णमन करते हैं, जैसे खदान से निकले मणि आदि कीट कालिमा युक्त होने पर भी प्रयोग विशेष से उनकी उक्त कालिमा दूर की जाती है, वैसे आत्मा के जो रागादि

तथा स्वभावान्तरपरिणामात्मकत्वान्मणिमुक्ताफलादिवदात्मनो मलक्षयोपि स्वहेतुरभ्युपकर्तुं शक्यत एव। तथा पृथिव्यादितत्सहेतुकत्वात्तदहर्जातबालकस्तनेहातो रक्षाव्यापारदर्शनाद्भवान्तर-स्मृतेश्च पृथिव्यादिभूतेभ्योऽर्थान्तरभूतो जीवः प्रकृतिज्ञः कथंचिन्नित्यः सर्वथास्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्। तथा प्रत्यक्षादिप्रमाणोपपन्नत्वेन स्वयं प्रतीयमानजन्ममृत्युसुखदुःखादिविवर्तैर्जगतो वैचित्र्यदर्शनात्कथ-मशेषभेदसंवेदनमविद्यारूपं स्यात्? येन वेदान्तवादिनां ब्रह्माद्वैतदर्शनं जगतो भेददर्शनलक्षणाविद्या-विनाशहेतुत्वेन मुक्तिहेतुर्भवेत्। तथा सौगतानां सर्वथा सर्वशून्यतावादोऽपि न घटतेशून्यं तत्त्वमहं वादी प्रमाणबलेन साधयामीति वचनविरोधप्रसङ्गात्। ततः सिद्धमेतत्–प्रमाणोपपन्नस्यात्मनः सम्यग्दर्शन–

कालुष्य है वह अपने हेतु रूप जो रत्नत्रयादि हैं उनके द्वारा दूर किया जाता है। इस-प्रकार जैमिनी की मान्यता बाधित हुई।

बृहस्पति को गुरु मानने वाले बार्हस्पत्य चार्वाक का कहना था कि आत्मा ही नहीं है तो मोक्ष किसके होगा इत्यादि यह सर्वथा असत् है। आप पृथिवी आदि भूत चतुष्टय रूप जीव को मानते हैं किन्तु वास्तव में वह भूत चतुष्टय शरीर रूप है उस शरीर में रहने वाला जीव एक पृथक् ही तत्त्व है, देखिये! तत्काल का जन्मा बालक स्तनपान की इच्छा करता है यदि वह जन्मान्तर के संस्कार से युक्त नहीं होता (शरीर रूप जड़ होता) तो स्तनपान के संस्कार कैसे होते? छोटा सा बालक भी अपनी रक्षा में प्रयत्नशील देखा जाता है अर्थात् कहीं गिरने आदि स्थान से डरता है धीरे से पग धरता है इत्यादि संस्कार कहां से आये? ("रक्षा व्यापार दर्शनात्") इस वाक्य का यह अर्थ भी है कि राक्षस—व्यन्तर आदिक सहायता आदि रूप कार्य करते देखे जाते हैं, वे पूर्व जन्म के स्नेहवश ही तो उक्त कार्य करते हैं? यदि शरीर के साथ आत्मा नष्ट होता तो व्यन्तर कैसे बनता और उसे सहायता की स्मृति कैसे होती? जगत् में ऐसे जीव भी देखे जाते हैं कि उन्हें अपने पहले भव की स्मृति आती है कि मैं अमुक नगर में अमुक व्यक्ति का पुत्र था इत्यादि, इन सब हेतुओं से यह सर्वथा सिद्ध होता है कि जीव पृथिवी आदि भूतों से पृथक् पदार्थ है वह प्रकृतिज्ञ है और कथंचित् नित्य है। वेदान्तवादी ने कहा कि भेदों का ज्ञान कराने वाली अविद्या है उसका नाश होने से मोक्ष होता है इत्यादि सो यह कथन अयुक्त है, जन्म, मरण, सुख, दुःख आदि विवर्त प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रतीत हो रहे हैं उनसे जगत् की विचित्रता प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है अतः भेदों का ज्ञान अविद्या—असत्य कैसे हो

ज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गो मोक्षमार्गत्वान्यथानुपपत्तेस्तथाविधपाटलीपुत्रादिमार्गवदिति । तथा स्वहेतुतो मुक्तस्यात्मनः सांसारिकविनश्वरज्ञानसुखाभावेऽपि सकलकर्मक्षयोद्भूतनित्यातिशयज्ञानसुखात्मकत्वमेषितव्यमेव वैशेषिकैः। अन्यथेच्छाद्वेषाद्यभाववत्तदभावे लक्षणशून्यस्य मुक्तात्मनोप्यभाव प्रसङ्गः स्यादुष्णत्वस्यासाधारणलक्षणस्याभावेऽग्नेरभाववत् । किंच सदाशिवेश्वरादयः संसारिणो मुक्ता वा ? यदि संसारिणस्तदा कथं तेषामाप्तता स्यात् ? अथ मुक्तास्तेऽभ्युपगम्यन्ते तर्हि क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजमिति यत्पतञ्जलिजल्पितमन्यच्च—

सकता है ? नहीं हो सकता, इसलिये वेदान्ती का ब्रह्माद्वैत दर्शन जगत के भेदों के देखने वाली अविद्या के नाश को मोक्ष का हेतु मानता है वह खण्डित होता है ।

सौगत का सर्वथा शून्यवाद भी असत्य है, तत्त्व शून्य रूप है में सौगतवादी प्रमाण बल से उस शून्य तत्त्व को सिद्ध करता हूं इत्यादि कहना स्ववचन विरुद्ध है, अर्थात् सर्वथा शून्यता है तो में प्रमाण द्वारा शून्यता सिद्ध करता हूं ऐसा कर्त्ता करण आदि रूप ज्ञाता आदि तत्त्व सिद्ध होने से शून्यवाद स्वतः खण्डित होता है । अतः प्रमाण सिद्ध आत्मा के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्षमार्ग सिद्ध होता है, मोक्ष मार्ग की अन्यथा–अन्य प्रकार से सिद्धि नहीं है । जैसे लोक में पाटली पुत्र आदि नगर का मार्ग सिद्ध है वैसे मोक्षमार्ग भी सिद्ध है ।

अपने रत्नत्रय रूप कारण द्वारा मुक्त हुए आत्मा के यद्यपि सांसारिक नश्वर ज्ञान और सुख का [कर्मजन्य मति ज्ञानादि और इन्द्रिय सुख का] अभाव होता है किन्तु सकल कर्मों के नाश से उत्पन्न हुए नित्य सातिशय ज्ञान और सुख नियम से रहते हैं ऐसा बुद्धि आदि गुणों का अभावरूप मुक्ति को मानने वाले वैशेषिक को अवश्य स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा इच्छा, द्वेष आदि के अभाव के समान बुद्धि आदि का भी अभाव मानते हैं तो सकल शून्यता होने से मुक्त जीव का भी अभाव हो जायगा, जैसे असाधारण लक्षण रूप उष्णत्व गुण के अभाव होने पर अग्नि का ही अभाव होता है वैसे मुक्ति में बुद्धि आदि गुणों का अभाव मानने पर मुक्त जीव का भी अभाव मानना पड़ेगा ।

दूसरी बात यह है कि वैशेषिक आदि ईश्वर वादी सदाशिव ईश्वर आदि को संसारी मानते हैं या मुक्त ? संसारी कहो तो उनके आप्तता कैसे होगी ? यदि उन सदाशिवादि को मुक्त माना जाता है तो क्लेश कर्म विपाक आशय से अछूता जो पुरुष विशेष है वह ईश्वर है, उसमें निरतिशय सर्वज्ञ बीज है ऐसा पतञ्जलि का कहना

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागः
सृष्टिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु।
आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्ति-
र्ज्ञानं तु सर्वविषयं भगवंस्तवैव ।।

इत्येतत्सर्वमनुपपन्नमेव स्यान्मुक्तेषु ज्ञानाद्यसम्भवेषु सर्वज्ञत्वादिवचनविरोधात्। तथानेकजन्मसङ्क्रान्तेर्यविदद्याक्षयत्वं पुंसो यदि सिद्धं तदा मुक्त्यवस्थायां कुतो हेतोस्तस्य हानिः सौगतैः प्रतिपाद्येत ?

कैसे सिद्ध हो सकता है ? तथा हे भगवन् ! आपके ही अप्रतिहत ऐश्वर्य है, सहज विराग भाव है आप निसर्गतः सृष्टि के रचयिता हैं, इन्द्रियों में वशता, अत्यंत सुख अनावरण शक्ति और संपूर्ण पदार्थ विषयक ज्ञान आपके ही है। इसप्रकार अवधूत का ईश्वर के विषय में कथन है यह सर्व ही कथन असिद्ध है क्योंकि ज्ञान आदि के अभाव रूप मुक्ति मानते हैं ऐसे ज्ञानादि रहित मुक्त जीवों के सर्वज्ञत्वादि गुण विरुद्ध पड़ते हैं।

बौद्ध ने कहा था कि जीव की सन्तान का अभाव होना मोक्ष है वह असत् है, जिसप्रकार अनेक जन्मों में परिवर्तित होकर आज तक जीव का अक्षयपना सिद्ध है तो आपके द्वारा मुक्त अवस्था में उस जीव सन्तान का नाश क्यों माना जाता है ?

कापिल ने कहा था कि बुद्धि आदि का अभाव होने से दृष्टा आत्मा का स्वरूप में स्थित होना मोक्ष है, उसमें हम जैन का कहना है कि संपूर्ण मल–दोषों का अभाव होने पर आत्मा का स्वरूप में जो अवस्थान होता है वह अवस्थान यदि सर्वथा बुद्धि रहित माना जाता है तो घट आदि के समान उस आत्मा के अचेतनपना प्राप्त होता है।

शंका—जिस आत्मा में चक्षु आदि इन्द्रियों का सद्भाव रहता है उस आत्मा में ही बुद्धि पाई जाती है, मुक्त आत्मा में चक्षु आदि इन्द्रियों का अभाव है अतः बुद्धि नहीं रहती ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, चक्षु आदि इन्द्रियां नहीं हैं इसलिये बुद्धि भी नहीं होती ऐसा कहना गलत है देखिये ! अन्धे पुरुष के चक्षु नहीं है फिर भी उसको सत्य स्वप्न दिखाई देते हैं।

ब्रह्माद्वैत वादी ने कहा था कि जैसे घट के नष्ट होने पर घटका आकाश आकाश द्रव्य में लीन होता है वैसे देह के अभाव में प्राणी परमब्रह्म में लीन होता है सो यह

तथा सकलमलापाये द्रष्टुः स्वरूपावस्थानं यदि कापिलैः सर्वथा बुद्धिरहितं प्रतिपाद्येत तदा तस्य कुम्भादिवदचेतनत्वमेवापनिपद्येत । अथ यत्रैवात्मनि चक्षुरादीन्द्रियसद्भावस्तत्रैव बुद्धिर्भवेन्न पुनर्मुक्तात्मनि तदभावादिति मतं तदप्ययुक्तमन्धस्यापि सत्यस्वप्नदर्शनसम्भवात् । तथा यद्येकं ब्रह्म निस्तरङ्गं कुतश्चित्प्रमाणाद्वेदान्तवादिनां मते सिध्येत्तदाकाशे घटाकाशवत्तत्रेदं सर्वं जगल्लीयते । न चादोऽस्ति । अथ मतमेतत्—

एक एव हि भात्यत्मा देहिदेहे व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा वापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ।। इति ।।

तदप्यनुचितं—यथाकाशे एकरूपश्चन्द्रो जलादिषु चानेकरूपश्च जलैरुपलभ्यते, तथा सकल-भेदेभ्योऽन्यत्र नैकस्वभावं ब्रह्म संवेद्यते किं तर्ह्यनेकस्वभावमेव देहादिभेदेषु प्रवर्तमानं संवेद्यत इति न ब्रह्मैकं नामेत्यलमतिविस्तरेण । जिनमतोक्तस्यैव मोक्षस्वरूपस्य प्रमाणोपपन्नत्वसम्भवात् । तदुक्तम्—

आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता ।
एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षो जिनशासने ।। इति ।।

कथन तब सिद्ध हो जब एक निस्तरंग–निर्विकल्प ब्रह्म किसी प्रमाण द्वारा वेदान्ती के मत में सिद्ध हो जाय, उसके सिद्ध होने से आकाश में घटाकाश के समान उस ब्रह्म में सारा विश्व लीन होवेगा ? किन्तु यह ब्रह्म सिद्ध नहीं है ।

शंका—एक ही ब्रह्मात्मा प्रतीत होता है वही देह धारियों के देह में व्यवस्थित है वह एक प्रकार का होकर भी बहुत प्रकार का दिखाई देता है जैसे एक ही चन्द्रमा जल में बहुत रूप दिखाई देता है ।। १ ।।

समाधान—यह कथन अनुचित है, जिसप्रकार आकाश में चन्द्रमा एक रूप प्रतीत होता है और जलादि में जल के कारण अनेक रूप प्रतीत होता है, उसप्रकार सकल भेदों से अन्य कोई एक स्वभाव वाला ब्रह्म प्रतीति में नहीं आता है वह तो शरीर आदि भेदों में रहता हुआ अनेक स्वभाव रूप ही प्रतीत होता है अतः आपका एक ब्रह्म असिद्ध है । अब इस विषय में अधिक नहीं कहते ।

इसप्रकार वैशेषिक सांख्य सौगत आदि के मोक्ष के स्वरूप की सिद्धि नहीं होती है । जिनेन्द्र प्रतिपादित मोक्ष स्वरूप ही वास्तविक है क्योंकि वही प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है । कहा है कि—आनन्द–सुख, ज्ञान ऐश्वर्य [ज्ञानरूप ऐश्वर्य] वीर्य और परम सूक्ष्मता ये गुण जहां पर अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं वह मोक्ष है ऐसा जिनशासन में कहा है ।। १ ।।

तत्र सम्यग्दर्शनलक्षणप्रतिपादनार्थमाह—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।। २ ।।

तेषां भावः स्वरूपभवनं तत्त्वं—जीवादिवस्तुयाथात्म्यमित्यर्थः। तत्त्वेनार्यन्ते ज्ञायन्त इति तत्त्वार्था जीवादयो वक्ष्यमाणलक्षणास्तेषां श्रद्धानम्। दर्शनमोहोपशमक्षयक्षयोपशमापेक्षं विपरीताभि-मानरहितमात्मस्वरूपं सम्यग्दर्शनं प्रत्येतव्यम्। इदं लक्षणमतिव्याप्तयव्याप्तयसंभवदोषरहितत्वा-

---

प्रथम सूत्र में कथित सम्यग्दर्शन के लक्षण का प्रतिपादन करने के लिये अगला सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—"तेषां भावः तत्त्वं" यह तत्त्व शब्द की निरुक्ति है, उनका भाव अर्थात् अपने रूप से होना—जीवादि पदार्थों का यथार्थपना तत्त्व कहलाता है। यथार्थ रूपसे जो जाने जाते हैं वे आगे कहे जाने वाले जीवादि पदार्थ तत्त्वार्थ कहलाते हैं, उनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से होता है और विपरीत मान्यता से रहित आत्म स्वरूप होता है।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं, उपशम सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन यहां पर इन तीनों का वर्णन किया जाता है—अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्व प्रथम उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है इसकी प्राप्ति में पांच लब्धियां होना आवश्यक है, क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्य लब्धि और करण लब्धि। कर्मों की शक्ति का प्रतिसमय अनन्त गुणा हीन—कम कम रूप से उदय में आना क्षयोपशम लब्धि है। साता आदि पुण्य प्रकृति के बंध योग्य परिणाम होना विशुद्धि लब्धि है जिन प्रणीत तत्त्वों के उपदेशक की प्राप्ति आदि रूप देशना लब्धि है। कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को घटा घटा के अन्तः कोटाकोटी मात्र स्थापित करना एवं अशुभ कर्मों का अनुभाग द्विस्थानीय (घातिया कर्म का लता और दारु स्वरूप तथा अघातिया पाप कर्मों का निंब और कांजीर स्वरूप) स्थापित करना प्रायोग्य लब्धि है। अधःकरण आदि रूप अत्यंत विशुद्ध परिणाम जिनके द्वारा नियम से सम्यक्त्व होता है उसे करण लब्धि कहते हैं। पहले की चार लब्धियां होने पर भी सम्यक्त्व होना आवश्यक नहीं है अर्थात् ये चार होकर छूट जाती हैं किन्तु पांचवीं करण लब्धि होने पर नियम से सम्यक्त्व होता है। अनादि मिथ्यात्वी के

दनवद्यम् । रुचिः सम्यक्त्वमिति केचिदाहुः । रुचिश्चेच्छाभिलाष इत्यनर्थान्तरम् । सा च चारित्रमोह-प्रकारस्य लोभकषायस्य भेदस्तस्मिंश्च सम्यक्त्वलक्षणेऽङ्गीक्रियमाणेऽतिव्याप्त्यव्याप्तिलक्षणदोषद्वय-प्रसङ्गः स्यात् । तथा हि–यदा स्वस्य बहुश्रुतत्वचिख्यापयिषया निराचिकीर्षया परमतस्वरूपजिज्ञासया भगवदर्हत्सर्वज्ञभाषितागमविषयानपि जीवादिपदार्थानवबोद्धुमिच्छन्ति मिथ्यादृष्टयस्तदा तेषामपि सम्यग्दृष्टित्वं प्राप्नोतीत्यतिव्याप्तिर्नाम लक्षणस्य दोषः स्यात् । तथा निरवशेषमोहस्य संक्षयादर्हतः

दर्शन मोह की एक मिथ्यात्व प्रकृति ही रहती है वह तथा चार अनंतानुबंधी कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ इन पांच प्रकृतियों का उपशम होकर उपशम सम्यक्त्वी बनता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है, इतने काल तक उक्त पाँच प्रकृतियां उदय में नहीं आती सत्ता में रहती हैं। इस सम्यक्त्व के होते ही मिथ्यात्व के तीन खण्ड हो जाते हैं, उनके नाम मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इस सम्यग्दर्शन के होने पर अनन्त अथाह संसार भ्रमण का विच्छेद होकर मात्र अर्ध पुद्गल परिवर्तन प्रमाण संसार रह जाता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व–अनंतानुबंधी चार कषाय तथा मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन छह कर्म प्रकृतियों के उदयावली में स्थित निषेकों में से एक एक निषेकों का प्रति समय स्तिबुक संक्रमण द्वारा पर रूप से उदय में आना [इस प्रक्रिया को उदयाभावी क्षय कहते हैं] उदयावली के बाह्य में सत्ता में स्थित उक्त कर्मों का दबा रहना [इसको सदवस्थारूप उपशम कहते हैं] तथा सम्यक्त्व प्रकृति उदय में आना क्षयोपशम सम्यग्दर्शन कहलाता है, इसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल छयासठ सागर है। क्षायिक सम्यग्दर्शन—अनंतानुबंधी चार कषाय तथा दर्शन मोहनीय की पूर्वोक्त तीन प्रकृति इन सात प्रकृतियों का सर्वथा नाश होना क्षायिक सम्यक्त्व है। यह केवली या श्रुत केवली के पादमूल में कर्मभूमि के मनुष्य के ही संभव है। यह होने के बाद कभी नहीं छूटता अतः सादि अनंत है। इन तीनों सम्यक्त्व का वर्णन लब्धिसार नामा ग्रंथ में अति विस्तृत रूप से है, यहां तो नाम मात्र कहा है। भव्यात्माओं को उक्त ग्रंथ से इसका ज्ञान अवश्य करना चाहिये। यह सम्यग्दर्शन संसार रूप सागर के अथाह जल को चुल्लुभर जल जितना कर देता है, यही मुक्ति पुरी का पाथेय है, सर्व दुःखों का नाशक है, यही प्राप्तव्य है।

सम्यक्त्व का सूत्रोक्त लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव दोषों से रहित होने से निर्दोष है।

सम्यग्दर्शनाभावो भवेदित्यव्याप्तिर्नाम लक्षणस्य दोषः समापनिपद्यते । तस्मादेतल्लक्षणं सम्यक्त्वस्य परित्यज्यते इति । तच्च सम्यग्दर्शनं सरागवीतरागविकल्पाद्द्विविधम् । प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सरागसम्यक्त्वम् । आत्मविशुद्धिमात्रं वीतरागसम्यक्त्वमिति । रागादीनामनुद्रेकः प्रशमः । संसारभीरुता संवेगः । जीवेषु दयालुताऽनुकम्पा । सर्वज्ञवीतरागप्रणीतपरमागमे यथैव जीवादिरर्थः प्रतिपादितस्तथैव सोऽस्तीति मतिर्यस्यास्ति स आस्तिकस्तस्य भावः कर्म वास्तिक्यम् । सत्येवास्तिक्ये प्रशमादीनां व्यस्तसमस्तानां सम्यक्त्वाभिव्यञ्जकत्वम् । तदभावे मिथ्यादृष्टिष्वपि प्रशमादित्रितयस्य सम्भवात् । आस्तिक्यं पुनः केवलमपि सम्यग्दर्शनस्याभिव्यक्तिहेतुरित्यलं प्रसङ्गेन । सम्यग्दर्शनोत्पत्तिहेतुद्वयसंसूचनार्थमिदमुच्यते—

रुचि ही सम्यक्त्व है ऐसा कोई कहते हैं, रुचि, इच्छा और अभिलाषा ये एकार्थ वाचक शब्द हैं, यह रुचि चारित्र मोह के लोभ कषाय के भेद स्वरूप है, अब यदि इस रुचि को सम्यक्त्व का लक्षण मानेंगे तो अति व्याप्ति और अव्याप्ति ये दो दोष आयेंगे। देखिये ! जब मिथ्यादृष्टि व्यक्ति अपने बहु श्रुतत्व को प्रसिद्ध करने की इच्छा से अथवा जिनमत का निराकरण करने की वांछा से या परमत की जिज्ञासा से भगवत् अर्हन्त सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगम के विषयभूत जीवादि पदार्थों को जानना चाहते हैं तब उन व्यक्तियों को सम्यग्दृष्टि मानना पड़ेगा क्योंकि उनके तत्त्व रुचि है ? किन्तु वे मिथ्यादृष्टि ही हैं अतः रुचि को सम्यक्त्व कहना अतिव्याप्ति दोष युक्त है । तथा यदि रुचि सम्यक्त्व है तो संपूर्ण मोह के क्षय हो जाने से अर्हन्त देव के सम्यक्त्व गुण का अभाव हो जायगा, इसप्रकार अव्याप्ति नामक लक्षण का दोष प्राप्त होता है, इसलिये यह रुचिवाला सम्यक्त्व का लक्षण त्याज्य है ।

वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व । प्रशम संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य गुणों द्वारा जो अभिव्यक्त होता है वह सराग सम्यक्त्व है और आत्म विशुद्धि रूप वीतराग सम्यक्त्व है । रागादि का उद्रेक नहीं होना प्रशम गुण है । संसार से भय होना संवेग है । जीवों में दया होना अनुकंपा कहलाती है । सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत परमागम में जिसप्रकार जीवादि पदार्थों का कथन है उसीप्रकार ही वे हैं ऐसी जिसकी बुद्धि है वह आस्तिक कहलाता है आस्तिक के भाव या कर्म को आस्तिक्य कहते हैं । यह आस्तिक्य महत्व पूर्ण है, इसके होने पर ही प्रशम आदि व्यस्त या समस्त अर्थात् प्रशमादि चारों अथवा तीन दो आदि गुण सम्यक्त्व को

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।। ३ ।।

यद्यपि प्रकृतत्वान्मोक्षमार्गोऽत्र प्रधानस्तथापि तच्छब्दोपादानसामर्थ्येन सम्यग्दर्शनस्य परामर्शः । निसर्गः स्वभावः । जीवाद्यर्थस्वरूपावधारणमधिगमः । तत्सम्यग्दर्शनं निसर्गादधिगमाद्वा समुत्पद्यत इति समुदायार्थः । सर्वथाप्यनवबुद्धजीवाद्यर्थस्वरूपस्य पुंसः श्रद्धानाभावाद्यद्यपि निसर्गजेप्यर्थाधिगमः कियानस्ति तथा यथासम्भवं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वान्तरङ्गो हेतुरप्युभयसम्यक्त्वसाधारणत्वादस्ति, तथापि परोपदेशमन्तरेण यज्जायते तन्निसर्गजमित्याख्यायते । यत्पुनः परोपदेशपूर्वकजीवाद्यर्थनिश्चयादाविर्भवति तदधिगमजमित्यनयोरयं भेदः । दर्शनस्य विषयत्वेनोपक्षिप्तजीवादितत्त्वप्रतिपादनायाह—

अभिव्यक्त करते हैं । आस्तिक्य गुण के अभाव में मिथ्यादृष्टियों में भी प्रशमादि तीन गुण देखे जाते हैं, किन्तु आस्तिक्य ऐसा विशिष्ट गुण है कि वह अकेला भी सम्यक्त्व के अभिव्यक्ति का कारण है । अब इस विषय में अधिक नहीं कहते हैं ।

अब यहां पर सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति के दो हेतुओं को सूचित करने के लिये अग्रिम सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह सम्यक्त्व निसर्ग से अथवा अधिगम से उत्पन्न होता है । यहां पर यद्यपि मोक्षमार्ग प्रकृत होने से प्रधान है तो भी सूत्र में तत् शब्द का ग्रहण होने से सम्यग्दर्शन ही लिया जाता है । स्वभाव को निसर्ग कहते हैं । जीवादि पदार्थों का अवधारण [निश्चय या जानना] अधिगम कहलाता है । वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा अधिगम से उत्पन्न होता है इसप्रकार समुदाय अर्थ जानना चाहिये । निसर्गज सम्यक्त्व में भी जीवादि पदार्थों का बोध पाया जाता है क्योंकि उक्त पदार्थों को जाने विना जीव के श्रद्धान नहीं हो सकता, तथा निसर्गज और अधिगमज सम्यक्त्व में दर्शन मोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण भी समान है, फिर जो पर के उपदेश बिना होता है वह निसर्गज सम्यक्त्व कहलाता है और जो परोपदेश पूर्वक जीवादि पदार्थों के निश्चय से उत्पन्न होता है वह अधिगमज सम्यक्त्व कहलाता है इसप्रकार इन दो में यह भेद है ।

जीवाऽजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

तत्र चेतनालक्षणो जीवः । चेतना च ज्ञानाद्यात्मिका । अजीवः पुनस्तद्विपरीतलक्षणः । कर्मागमनद्वारमास्रवः । स च मिथ्यादर्शनाद्यात्मको द्रव्यभावरूपः पुद्गलपर्यायो द्रव्यरूपश्चेतनपर्यायो भावरूपः । जीवस्य चेतनाऽचेतनकर्मसम्बन्धो बन्धः । सोऽपि पूर्ववद्द्रव्यभावभेदाद्द्विविधः । मिथ्यादर्शनादिचेतनकर्मणा सह जीवस्य तादात्म्यलक्षणसम्बन्धो भावबन्धः । पौद्गलिकाऽचेतनकर्मणा सह संयोगरूपः सम्बन्धो जीवस्य द्रव्यबन्धः । अपूर्वकर्मागमनिरोधो गुप्तिसमित्यादिहेतुकः संवरः । सोपि

सम्यक्त्व के विषयरूप स्वीकृत जीवादि तत्त्वों के प्रतिपादन के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं । चेतना लक्षण वाला जीव तत्त्व है, चेतना ज्ञानादि स्वरूप होती है । अजीव इससे विपरीत लक्षणवाला चेतना रहित होता है । कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं, वह आस्रव मिथ्यादर्शन, अविरति आदि स्वरूप है और उसके द्रव्यास्रव भावास्रव ऐसे दो भेद हैं द्रव्य कर्म के आने रूप पुद्गल की पर्याय द्रव्यास्रव कहलाता है, तथा चेतन की रागादि भावरूप पर्याय भावास्रव है अर्थात् द्रव्यास्रव पुद्गलरूप है और भावास्रव रागादि चिदाभास स्वरूप चेतन है ।

चेतनरूप रागादि का जीव के साथ संबंध होना एवं अचेतन कर्म का संबंध होना बन्ध है, उसके पहले के समान द्रव्य बन्ध और भाव बन्ध ऐसे दो प्रकार हैं । मिथ्यादर्शन आदि रूप चेतन कर्म के साथ जीव का तादात्म्य लक्षणवाला [कथंचित् तादात्म्य लक्षणवाला] संबंध होना भाव बन्ध है । पौदगलिक अचेतन कर्म के साथ जीवका संयोग स्वरूप सम्बन्ध होना द्रव्य बन्ध कहलाता है । गुप्ति, समिति आदि कारणों से नवीन कर्मों का आगमन रुक जाना संवर तत्त्व है । उसके भी द्रव्य संवर और भाव संवर ऐसे दो भेद हैं । सत्ता में संचित हुए कर्मों का एक देश रूप से अभाव होना निर्जरा, उसके द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा ऐसे दो भेद हैं, तथा सोपाय निर्जरा और निरुपाय निर्जरा ऐसे भी दो भेद हैं । ध्यान आदि तपश्चरण द्वारा कर्मों का झड़ जाना सोपाय निर्जरा है [इसीको अविपाक निर्जरा कहते हैं] अपने समय के अनुसार कर्म का उदय में आकर झड़ जाना निरुपाय निर्जरा है [इसीको

द्रव्यभावविषयत्वाद्द्वेधा। देशतः सञ्चितकर्माभावो निर्जरा। सापि पूर्ववद्द्रव्यभावरूपा सोपाया निरुपाया च सम्भवति। ध्यानादितपोभिः कर्मविपाकहेतुका सोपाया। स्वकालेनैव कर्माभावविषया निरुपाया निर्जरा। संवरो निर्जराहेतुकः। सकलद्रव्यभावकर्माभावो मोक्षो जीवस्येति सम्बन्धः। कथंचित्तदव्यतिरेकात् सामानाधिकरण्येन जीवादय एव तत्त्वमिति व्यपदिश्यन्ते। तेषामेव सम्यग्दर्शनादि-जीवादीनां संव्यवहारविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं नामादिनिक्षेपविधिमाह—

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥ ५ ॥

जातिद्रव्यगुणक्रिया अनपेक्ष्य संज्ञाकरणं नाम। तदनेकविधम्। काष्ठलेप्यचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमित्येकत्वाभिसन्धानेन कृतनामकस्य वस्तुनः प्रतिकृतिः स्थाप्यमाना स्थापना। सा सद्भावा-

---

सविपाक निर्जरा कहते हैं जो संपूर्ण संसारी जीवों के होती है] निर्जरा का कारण संवर है। संपूर्ण द्रव्य कर्म और भाव कर्मों का अभाव होना मोक्ष है वह जीव के होता है इस तरह संबंध करना चाहिये। आस्रव आदिक कथंचित् उससे अभिन्न हैं सामानाधिकरण्य से जीवादि ही तत्त्व हैं ऐसा कहा जाता है।

विशेषार्थ—सामानाधिकरण्य या समानाधिकरण के दो भेद हैं, शाब्दिक समानाधिकरण और आर्थिक समानाधिकरण। इनमें विशेष्य विशेषण रूप दो शब्दों का समान विभक्ति रूप होना शाब्दिक समानाधिकरण है, जैसे "नीलं च तत् उत्पलं च नीलोत्पलं"। यहां पर नील और उत्पल शब्द की समान विभक्ति है। जीव ही तत्त्व है, अजीव रूप तत्त्व है इत्यादि में जीव और तत्त्व में कथंचित् अभेद होने से अर्थ समानता रूप आर्थिक समानाधिकरण है।

उन्हीं सम्यग्दर्शन आदि तीन और जीव आदि सात तत्त्वों के संव्यवहार की विप्रतिपत्ति दूर करने के लिये नामादि निक्षेपों की विधि कहते हैं—

सूत्रार्थ—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों द्वारा उन सम्यग्दर्शन आदि का एवं जीवादि तत्त्वों का न्यास [प्रतिपादन] होता है।

नाम निक्षेप—जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया की अपेक्षा न करके संज्ञा रखना नाम निक्षेप है वह अनेक प्रकार का है। काष्ठ कर्म लेप्य कर्म चित्र कर्म आदि में तथा अक्ष—सतरंज के गोटे आदि में "वह यह है" इसप्रकार एकत्व के सन्धान द्वारा

सद्भावभेदाद्द्वेधा। आकारवती सद्भावस्थापना। अनाकाराऽसद्भावस्थापना। भविष्यत्पर्यायाभिमुखमतीततत्पर्यायं च वस्तु द्रव्यम्। तद्द्विविधमागमद्रव्यं नो आगमद्रव्यं चेति। तत्र जीवप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तश्रुतविकल्पाधिरूढः पुरुष आगमजीवद्रव्यम्। नो आगमद्रव्यं तु त्रिविधं-जीवप्राभृतज्ञशरीरं नो आगमद्रव्यं भावि नो आगमद्रव्यं, तद्व्यतिरिक्तं नो आगमद्रव्यं चेति। प्रथमं त्रिकालवृत्तिभेदात्त्रिविधम्। शरीरस्य नो आगमद्रव्यत्वं चानुपयुक्तागमजीवद्रव्यसम्बन्धात्तद्बहिर्भूतत्वाच्च बोद्धव्यम्। अनागतस्वपरिणामयोग्यं वस्तु भावि नो आगमद्रव्यम्। तत एव तन्मुख्यमितरत्सर्वमुपचरितमिति।

कृत नाम वाली वस्तु की प्रतिकृति स्थापित करना स्थापना निक्षेप है। सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना ऐसे इसके दो भेद हैं, साकार स्थापना को सद्भाव स्थापना कहते हैं और अनाकार स्थापना को असद्भाव स्थापना कहते हैं।

विशेषार्थ—नाम निक्षेप में किसी व्यक्ति या वस्तु का नाम जाति आदि की अपेक्षा किये बिना ही रखा जाता है जैसे देवदत्त, जिन पालित इत्यादि। लोक व्यवहार में जाति द्रव्य आदि के अपेक्षा भी नामकरण देखा जाता है जैसे—गौ, मनुष्य इत्यादि नाम जाति विषयक हैं। दण्डी, छत्री आदि दो द्रव्य के संयोगरूप द्रव्य विषयक नाम हैं। कृष्ण, श्वेत गौर इत्यादि गुण विषयक नाम हैं। गायक पूजक इत्यादि क्रिया निमित्तक नाम हैं, ऐसे नाम नाम निक्षेप से पृथक रूप हैं। 'वह यह है' इसप्रकार स्थापना करने को स्थापना निक्षेप कहते हैं इसके सद्भाव और असद्भावरूप दो भेद हैं। लेप द्वारा निर्मित पदार्थ में वह यह है ऐसी कल्पना होती है वह लेप्य कर्म स्थापना है। जैसे लेप चढ़ाई हुई प्रतिमा को कहना कि यह भगवान हैं। काष्ठ द्वारा निर्मित वस्तु में स्थापना करना काष्ठ कर्म स्थापना है जैसे लकड़ी के खिलौने को यह घोड़ा है इत्यादि कहना। कागज या दीवाल आदि पर चित्र बनाकर वह यह है ऐसा कहना चित्र कर्म है। फोटो को कहना कि यह भगवान महावीर हैं इत्यादि यह भी चित्र कर्म स्थापना है। जिस वस्तु की स्थापना की जा रही है उसके सदृश यदि आकार है तो उसे सद्भाव स्थापना या तदाकार स्थापना कहते हैं। जैसे:—वीतराग भगवान आदिनाथ की वीतरागता को झलकाने वाला पाषाण आदि से निर्मित जिनबिम्ब। उक्त वस्तु के सदृश आकार नहीं हो–उसमें उसकी कल्पना करना असद्भाव या अतदाकार स्थापना है, जैसे—सतरंज के गोटे हाथी आदि के आकार रूप नहीं होने पर भी उन्हें हाथी आदि रूप कहा जाता है। इसप्रकार नाम और स्थापना

प्रतिपत्तव्यम् । तद्व्यतिरिक्तं नो आगमद्रव्यं द्वेधा—कर्म नोकर्मभेदात् । कर्म नो आगमद्रव्यमनेकविधं—ज्ञानावरणादिकर्मविकल्पात् । तद्वन्नो कर्म नो आगमद्रव्यम् । शरीरोपचयापचयनिमित्तपुद्गलद्रव्यस्यानेकरूपत्वात् । तस्यापि नो आगमद्रव्यसम्बन्धादेव ज्ञायकशरीरवत् । तद्व्यतिरिक्तत्वं च कर्म नोकर्मणोरौदारिकादिज्ञायकशरीरत्वाभावात् भावि नो आगमद्रव्यत्वाभावाच्च निश्चीयते । वर्तमानतत्परिणामात्मकं द्रव्यमेव भावः । सोप्यागम नो आगमविकल्पात् द्विप्रकारः । तत्र जीवप्राभृतज्ञस्त-

---

निक्षेप द्वारा लोक व्यवहार प्रचलित होता है । आगे शेष दो निक्षेपों का कथन कर रहे हैं ।

आगामी पर्याय के अभिमुख वस्तु को द्रव्य निक्षेप कहते हैं अथवा जो अतीत पर्याय हो चुकी है उसकी अपेक्षा से वस्तु का कथन करना द्रव्य निक्षेप है, इसके दो भेद हैं आगम द्रव्य और नो आगम द्रव्य । उनमें जो जीव संबंधी शास्त्र का ज्ञाता है किन्तु वर्तमान में उस श्रुत ज्ञान के विकल्प से रहित है उस पुरुष को आगम जीव द्रव्य कहते हैं । नो आगम द्रव्य के तीन भेद हैं—जीव शास्त्र के ज्ञाता पुरुष का शरीर नो आगम द्रव्य १, भावि नो आगम द्रव्य २ और तद् व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य ३ । उनमें जीव शास्त्र के ज्ञाता पुरुष का शरीर रूप जो प्रथम भेद है उसके भूत, भविष्य और वर्तमान की अपेक्षा से तीन भेद हैं । अनुपयुक्त आगम जीव द्रव्य का सम्बन्ध होने से तथा उससे बाह्य रूप होने से शरीर में नो आगम द्रव्यपना घटित होता है । आगामी काल में अपने परिणाम के योग्य जो वस्तु है उसे भावि नो आगम द्रव्य कहते हैं । भावि नो आगम द्रव्य का ऐसा लक्षण होने के कारण यही मुख्यतया द्रव्य निक्षेप स्वरूप है, अन्य सब भेद उपचार से नो आगम द्रव्य रूप हैं । तद् व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य के भी दो भेद हैं कर्म और नोकर्म । कर्म नो आगम द्रव्य ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृति रूप अनेक प्रकार का है ऐसे ही नो कर्म नो आगम द्रव्य निक्षेप के अनेक भेद हैं, क्योंकि शरीर के वृद्धि और ह्रास के निमित्त रूप जो पुद्गल है वह अनेक प्रकार का है । जैसे ज्ञायक के शरीर को अनुपयुक्त आगम जीव द्रव्य के संबंध से नो आगम द्रव्यपना माना है वैसे नोकर्म पुद्गल का नो आगम द्रव्यपना है । इन कर्म और नो कर्म को "तद् व्यतिरिक्त" इस नाम से इसलिये कहते हैं कि ये औदारिक आदि ज्ञाता के शरीर रूप नहीं हैं तथा इनमें भावी नो आगम द्रव्यपना भी

दुपयुक्तश्रुतविकल्पाधिरूढो विवक्षितः पुरुष आगमभावस्तद्बहिर्भूतो वर्तमानपर्यायाविष्टो नो आगमभावस्ततोऽन्यत्वात् । तच्छब्देन सम्यग्दर्शनादिजीवादयः परामृश्यन्ते । न्यासो निक्षेपः प्ररूपणेत्येकोऽर्थः तेषां सम्यग्दर्शनादिजीवादीनां न्यासो लोकसमयाविरोधेन यथोदाहरणं योजनीयः । ते च ज्ञानादिजीवादयः श्रद्धानविषया नामादिभिर्निक्षिप्ताः सम्यगधिकारात्परमार्थसन्तः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् संवेदनमात्रवदित्यलं प्रसङ्गेन । अधिगमजसद्दर्शनोत्पत्तिहेतुतत्त्वार्थाधिगमोपायप्रदर्शनार्थमाह—

संभव नहीं है । अभिप्राय यह है कि तद् व्यतिरिक्त नाम का भेद ज्ञायक शरीर रूप भी नहीं है और भावी नो आगम द्रव्य रूप भी नहीं है यह तो उन दोनों से अतिरिक्त अन्य ही है । वर्तमान में उस परिणामरूप द्रव्य को ही भाव निक्षेप कहते हैं उसके भी आगम और नो आगम ऐसे दो भेद हैं । जीव शास्त्र का ज्ञाता एवं उस श्रुत बिकल्प से युक्त आत्मा अर्थात् वर्तमान में जीव संबंधी शास्त्र के ज्ञान में जिसका उपयोग लगा हुआ है ऐसे पुरुष को आगम भाव कहते हैं । उससे पृथक् रूप वर्तमान [जीवन पर्याय से सहित] पर्याय युक्त को नो आगम भाव कहते हैं । यह आगम भाव से भिन्नरूप है ।

सूत्र में तत् शब्द आया है उस तत् शब्द से सम्यक्त्वादि तथा जीवादि सात तत्त्वों का ग्रहण होता है । न्यास, निक्षेप और प्ररूपणा ये तीनों एकार्थवाची हैं । उन सम्यक्त्व आदि का तथा जीवादि का जो न्यास–निक्षेप है वह लोक और आगम में विरोध न हो इस रूपसे करना चाहिये तथा उदाहरण युक्त घटित कर लेना चाहिये । श्रद्धान के विषयभूत ज्ञानादि एवं जीवादि तत्त्व हैं वे नामादि से प्रतिपादित होते हैं सम्यगपने का अधिकार होने से ये तत्त्व परमार्थभूत हैं, क्योंकि इनमें सुनिश्चित रूप से प्रमाण द्वारा कोई बाधा नहीं आती है, जैसे कि अपने संवेदन मात्र में सुनिश्चित रूप से कोई बाधक प्रमाण नहीं है । अब इस विषय को समाप्त करते हैं ।

[निक्षेपों का चार्ट पृष्ठ २४ पर देखें]

जीव तत्त्व की अपेक्षा नामादि निक्षेपों का चार्ट—
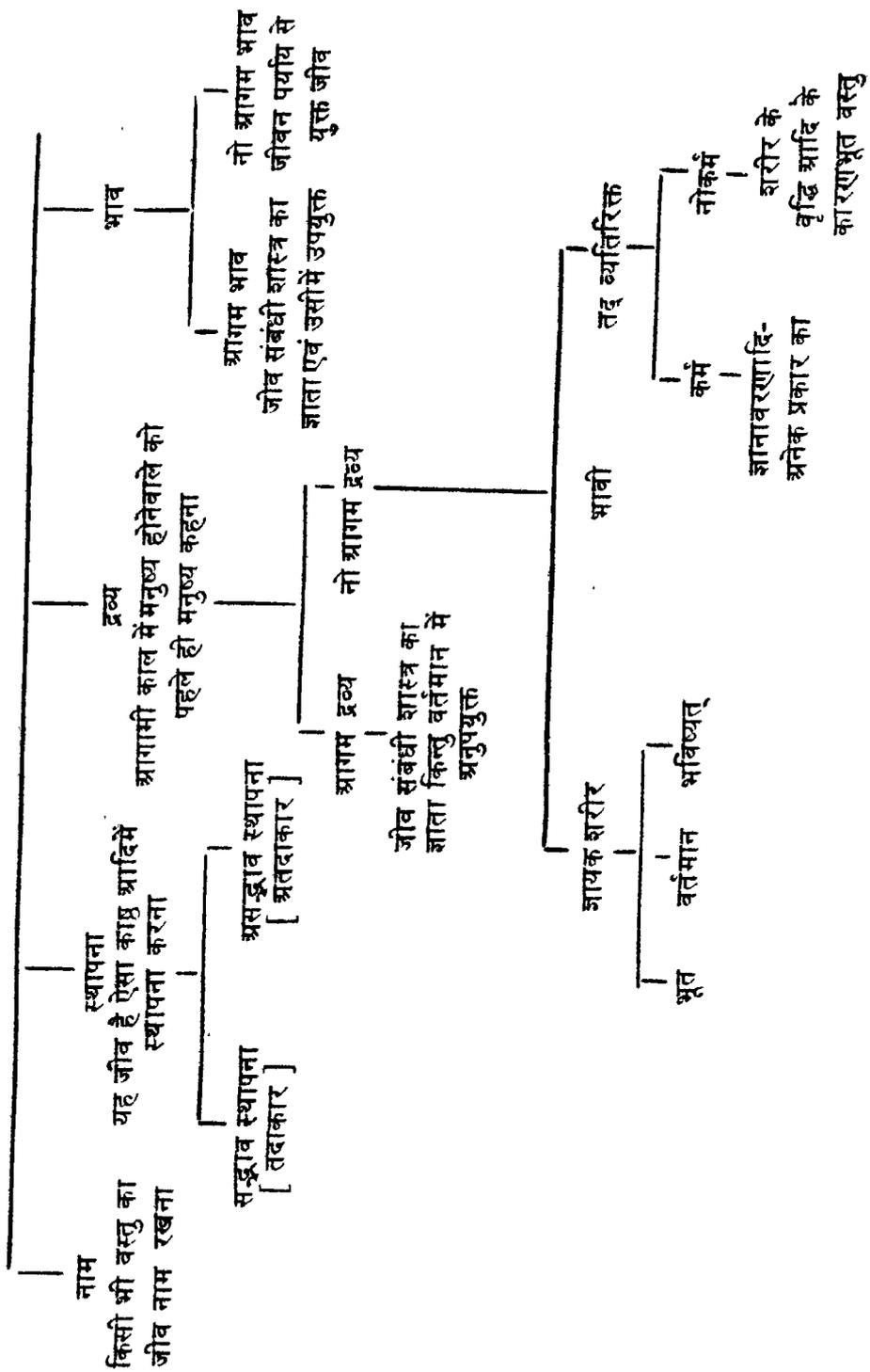
प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

सामान्यविशेषात्मकवस्तुपरिच्छेदकं प्रमाणम् । तद्द्वेधा-प्रत्यक्षपरोक्षभेदात् । तत्र च श्रुताख्यं प्रमाणमधिगमजसम्यग्दर्शनोत्पत्तेर्मुख्यो हेतुः । श्रुताख्यप्रमाणग्राह्यवस्त्वेकदेशद्रव्यपर्यायविषया नयाः । प्रमाणे च नयाश्च प्रमाणनया वक्ष्यमाणलक्षणास्तैस्तत्त्वार्थानामधिगमो निश्चयः क्रियते । मध्यमरुचिविनेयाभिप्रायवशात्तत्त्वार्थाधिगमोपायान्तरसूचनार्थमुच्यते—

निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

किंलक्षणं सम्यग्दर्शनम् । किंलक्षणो जीव इति वा प्रश्ने "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" "चेतनालक्षणो जीव" इति वा वस्तुस्वरूपकथनं निर्देशः । कस्य सम्यग्दर्शनं जीवो वेत्यनुयोगे जीवस्य

जो अधिगमज सम्यक्त्व की उत्पत्ति में हेतु भूत हैं उन जीवादि तत्त्वों के अधिगम के उपाय का निरूपण करते हैं—

सूत्रार्थ—प्रमाण और नयों द्वारा जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है ।

सामान्य विशेषात्मक पदार्थ होते हैं ऐसे सत्यभूत पदार्थों को जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है, उसके दो भेद हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण । उसमें श्रुत नामका जो प्रमाण है वह सम्यक्त्व के उत्पत्ति में प्रमुख कारण है । श्रुत संज्ञक प्रमाण द्वारा ग्रहण करने योग्य वस्तु के द्रव्य और पर्यायरूप एकदेश–अंश को विषय करने वाले नय होते हैं । प्रमाण और नय इन पदों में द्वन्द्व समास हुआ है । प्रमाण और नयों का लक्षण आगे कहेंगे, उन प्रमाण और नयों द्वारा तत्त्वार्थों का अधिगम अर्थात् निश्चय किया जाता है ।

मध्यम रुचि वाले शिष्यों के अभिप्राय के अनुसार तत्त्वार्थों के जानने के अन्य उपायों को सूचित करते हुए अग्रिम सूत्र अवतरित होता है—

सूत्रार्थ—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान इनसे भी जीवादि तत्त्वों का अधिगम–ज्ञान होता है । सम्यक्त्व का लक्षण क्या है ? जीव किस लक्षण वाला है इत्यादि प्रश्न होने पर तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं, चेतना लक्षण वाला जीव होता है इसप्रकार वस्तुस्वरूप का कथन करना निर्देश कहलाता है । सम्यक्त्व या जीव किसके होते हैं ऐसा प्रश्न होने पर जीवके सम्यग्दर्शन होता है अर्थात्

सम्यग्दर्शनं स्वात्मनो जीव इति वाधिपत्तित्वकथनं स्वामित्वम् । केन साध्यते सम्यग्दर्शनंजीवो वेति प्रश्ने अन्तरङ्गबहिरङ्गतत्साधकतमत्वख्यापनं साधनं । क्व सम्यग्दर्शनं क्व जीव इति वा प्रश्ने जीवे सम्यग्दर्शनम् । निश्चयात्स्वात्मनि जीवो व्यवहाराल्लोके शरीरे वा तिष्ठतीत्याधारप्रकाशनमधिकरणम् । सम्यग्दर्शनस्य जीवस्य वा कियान् काल इति प्रश्नेऽन्तर्मुहूर्तादिसाद्यपर्यवसानानन्तकालकृतावस्थानिरूपणमनादिनिधनादिकालस्वरूपकथनं वा स्थितिः । कतिविधं सम्यग्दर्शनं कतिप्रकारो जीव इति वा प्रश्ने एकद्वित्र्यादिसङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदकथनं विधानम् । प्रवृत्तिः फलं चेत्यपरमप्यनुयोगद्वयं कैश्चिदत्रोक्तम् । तत्र प्रवृत्तिरुत्पादव्ययध्रौव्यवृत्तिरुच्यते । फलन्त्वाजवञ्जवीभावः–संसार इत्यर्थः । एवं ज्ञानचारित्राजीवादिष्वप्युदाहार्यन्त इमे निर्देशादयः । सकलनिर्दिश्यमानादिवस्तु-

---

सम्यग्दर्शन का स्वामी जीव है, जीव का स्वामी खुद जीव ही है इसतरह आधिपत्य बतलाना स्वामित्व कहलाता है । सम्यग्दर्शन या जीव किसके द्वारा साध्य है ऐसा प्रश्न आने पर इनके अन्तरंग और बहिरंग रूप साधकतम कारण बतलाना 'साधन' है । सम्यग्दर्शन कहां पर है, अथवा जीव कहाँ पर ऐसा प्रश्न उठने पर जीव में सम्यग्दर्शन रहता है । निश्चय की अपेक्षा जीव अपने में रहता है और व्यवहार की दृष्टि से लोक में या शरीर में रहता है इसतरह आधार का कथन अधिकरण समझना चाहिये । सम्यग्दर्शन का या जीव का कितना काल है ऐसा प्रश्न होने पर अन्तर्मुहूर्त से लेकर सादि अनन्त रूप सम्यग्दर्शन का काल है [उपशम सम्यक्त्व का काल जघन्य तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त, क्षयोपशम सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त जघन्य व छयासठ सागर उत्कृष्ट काल है । क्षायिक सम्यक्त्व का काल सादि अनन्त है] जीव का काल अनंत है अर्थात् जीव सदा ही रहता है इत्यादि रूप वस्तु के कालकृत अवस्था का निरूपण "स्थिति" कहलाती है । अथवा अनादि निधन स्वरूप जो कालद्रव्य है उसका कथन करना 'स्थिति' है । सम्यग्दर्शन कितने प्रकार का है, जीव कितने प्रकार का है ऐसा प्रश्न होने पर एक दो तीन आदि रूप संख्यात असंख्यात और अनन्त भेदों का कथन 'विधान' है ।

इसतरह निर्देश, स्वामित्व आदि ये छह अनुयोग हैं । कोई इनमें प्रवृत्ति और फल ऐसे दो अनुयोग और भी मानते हैं तथा प्रवृत्ति और फल का लक्षण इसप्रकार करते हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप वृत्ति 'प्रवृत्ति' कहलाती है, संसरण भाव 'फल' है ।

विषयाः श्रुतज्ञानविशेषाः प्रमाणात्मकाः । तदेकदेशविषया नयविशेषात्मकाः । तैश्च निर्देशादिभिस्तत्त्वार्थाधिगमो भवति । विस्तररुचिप्रतिपाद्याशयापेक्षयाऽधिगमोपायमुपलक्षयति—

सत्सङ्ख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

यत्सकलपदार्थाधिगममूलं जीवादिद्रव्यं मिथ्यादर्शनादिगुणास्तित्वसामान्यविशेषविषयं श्रुतज्ञाननिमित्तं सदित्यभिधानं तत्सकलादेशत्वादनुमन्यते । अथवा संग्रहव्यवहारनिमित्तविकलादेशत्वात्सदित्याख्यायते । भेदगणना सङ्ख्या । वर्तमाननिवाससामान्यं क्षेत्रम् । तदेव त्रिकालविषयं स्पर्शनम् । वर्तनादिलक्षणः कालः । स च परमार्थव्यवहारविकल्पाद्द्वेधा । कस्यचित्सम्यग्दर्शनादेर्गुणस्य सन्तानेन

यहां पर जैसे सम्यग्दर्शन और जीवतत्त्व में निर्देशादि घटित किये हैं वैसे ज्ञान, चारित्र तथा अजीवादि में भी घटित कर लेना चाहिये ।

ये निर्देशादि छह अनुयोग संपूर्ण रूप से वस्तु को विषय करते हैं तो श्रुतज्ञान रूप प्रमाणात्मक बन जाते हैं और यदि उस वस्तु के एकदेश को विषय करते हैं तो नयात्मक बनते हैं । इसप्रकार उन निर्देश आदि के द्वारा तत्त्वार्थों का ज्ञान होता है ।

अब विस्तर रुचि शिष्य के अभिप्रायानुसार अधिगम का उपाय बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों द्वारा भी उन जीवादि तत्त्वों का अवबोध होता है ।

जो सकल पदार्थों के अधिगम का मूल है, मिथ्यादर्शनादि गुणों के अस्तित्व वाले सामान्य विशेषात्मक जीवादि द्रव्यों को विषय करता है, श्रुतज्ञान का निमित्त है वह सत् है [अर्थात् संपूर्ण वस्तु के सत्–अस्तित्व का ग्राहक महासत्ता रूप सत् है] यह सकलादेशी सत् है । अथवा संग्रह के व्यवहार का निमित्त होने से विकलादेशी रूप सत् है [यह सत् वस्तु के अवान्तर सत्ता ग्राहक स्वरूप है] अभिप्राय यह है कि 'सत्' ऐसा कहने से संपूर्ण वस्तुओं का अस्तित्व ग्रहण होता है अतः यह सकलादेशी महासत्ता ग्राहक है । जीव द्रव्य है इत्यादि रूप सत् एक वस्तु के अस्तित्व का सूचक होने से विकलादेशी अवान्तर सत्ता ग्राहक 'सत्' है । इसतरह यह 'सत्' अनुयोग है । भेदों की गणना को संख्या कहते हैं । वर्त्तमान के निवास सामान्य को 'क्षेत्र' कहते हैं । त्रिकाल के निवास क्षेत्र को 'स्पर्शन' कहते हैं, वर्तनादि लक्षणवाला काल है, उसके

वर्तमानस्य कुतश्चित्कारणान्मध्ये विरहकालोऽन्तरम् । औपशमिकादिर्भावः । सङ्ख्याताद्यन्यतम-निश्चयोप्यर्थानां परस्परविशेषप्रतिपत्तिनिमित्तमल्पबहुत्वम् । एतैश्च सम्यग्दर्शनादिजीवादीनामधिगमो भवतीति वेदितव्यम् । ननु च सत्येवास्तित्वेऽर्थानां निर्देशो घटत इति निर्देशादेव सद्ग्रहणं सिद्धम् । विधानग्रहणात्सङ्ख्या लब्धा । अधिकरणग्रहणात् क्षेत्रस्पर्शनयोर्ग्रहणम् । स्थितिग्रहणात्कालस्यावगमः । भावस्तु नामादिनिक्षेपे उपात्त एव । अन्तरालपबहुत्वयोरपि पूर्वसूत्र एवोपादानं कर्तव्यम् । तस्मात्पृथक्सूत्रेण सदादीनां पुनरुपादानमनर्थकं स्यादिति । सत्यं विस्तररुचिप्रतिपाद्याशयाऽपेक्षयेत्युक्तमेव प्राक् । प्रतिपाद्या हि केचित्संक्षेपेण केचिद्विस्तरेणाऽपरे नातिसंक्षेपेण नातिविस्तरेण किंतु मध्यमप्रतिपत्त्या प्रतिपाद्या भवन्ति । तस्मात्संक्षेपरुचिमध्यमरुचिविस्तररुचिशिष्यप्रतिपादनार्थं क्रमेण सूत्रत्रयं कृतमिति बोद्धव्यम् । अन्यथा हि यदि तीक्ष्णमतयः संक्षेपरुचय एव प्रतिपाद्याः स्युस्तदा प्रमाण-

---

परमार्थकाल और व्यवहारकाल ऐसे दो भेद हैं । सन्तानरूप से वर्तमान सम्यग्दर्शन आदि किसी गुण का किसी कारणवश बीच में विरह काल होना अन्तर है [अर्थात् सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति हुई अन्तर्मुहूर्त आदि काल के बाद वह छूट गया पुनः कभी अपने योग्य समय में प्राप्त हुआ इसके बीच में सम्यक्त्व का जो विरह–अभाव हो गया उसे 'अन्तर' कहते हैं ऐसा किसी भी गुण पर्याय में घटित करना अन्तर अनुयोग द्वार है] औपशमिक आदि "भाव" है । संख्यात् आदि द्वारा पदार्थों की परस्पर की विशेषता जानने के लिये कथन करना "अल्पबहुत्व" अनुयोग है । इन आठ अनुयोगों द्वारा भी सम्यग्दर्शन आदि का तथा जीवादि का अधिगम होता है ।

शंका—पदार्थों का अस्तित्व होने पर ही निर्देश घटित होता है इसलिये निर्देश के ग्रहण से ही सद् का ग्रहण हो जाता है, इसीप्रकार विधान के ग्रहण से संख्या आ जाती है, अधिकरण के कथन से क्षेत्र और स्पर्शन का ग्रहण होता है, स्थिति के ग्रहण से काल का अवगम सिद्ध है । नामादि निक्षेपों में भाव आ चुका है, रही बात अन्तर और अल्पबहुत्व की सो इन दोनों को पूर्व के सूत्र में ही ले लेना चाहिये । इसप्रकार सद् आदि वाला यह आठवां सूत्र पृथक् रूप से ग्रहण करना व्यर्थ ठहरता है ?

समाधान—यह कथन सत्य है किन्तु हमने इसका उत्तर पहले ही दिया है कि विस्तर रुचि शिष्यों के आशय के अनुसार इस सूत्र का अवतार हुआ है । क्योंकि कोई शिष्य वर्ग संक्षेप से समझाने योग्य होते हैं तथा कोई विस्तार से समझाने योग्य होते हैं और कोई न अति संक्षेप से न अति विस्तार से किन्तु मध्यम रूप से समझाने

नयैरधिगम इत्यनेनैव तत्प्रतिपत्तिसिद्धौ किमन्यसूत्रारम्भेणेति । ते च सदादयः सकलादेशित्वाच्छ्रुताख्यप्रमाणात्मकाः, विकलादेशित्वान्नयात्मकाश्च भवन्ति । तेषां च जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानवेदिभिरागमानुसारेण योजना कर्तव्या । तदेवं सम्यग्दर्शनं व्याख्यातम् । तदनन्तरमिदानीं सम्यग्ज्ञानं विचारार्हमिति तत्प्रतिपादनार्थमाह—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।। ९ ।।

मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यथास्वमर्थान्मन्यते मनुते वा पुरुषो यया सा मतिः । मननमात्रं वा मतिः । निरूप्यमाणं यदेव श्रूयते ज्ञायते येन तदेव श्रुतम् । शृणोति जानातीति वा श्रुतम् । श्रवणमात्रं वा श्रुतम् । अवाग्धीयते पुद्गलद्रव्यस्य तद्विषयस्याधः प्राचुर्यादिधः प्रयुज्यते अवच्छिन्नविषयो वा ज्ञानविशेषोऽवधिः । परकीयमनोगतोर्थोऽपि मन उच्यते तत्साहचर्यात् । तस्य पर्ययणं परिगमनं समन्ताद्बोधनं मनः पर्ययः । तत्र ज्ञानसाधनत्वं प्रति मनसो न प्राधान्यम् । तत्र

योग्य होते हैं, इस दृष्टि से संक्षेप रुचि, मध्यम रुचि और विस्तर रुचि शिष्यों को समझाने के लिये क्रमशः तीन सूत्र [प्रमाण, निर्देश, सत्] सूत्रकार उमास्वामी आचार्य देव ने रचे हैं । यदि तीक्ष्ण बुद्धि वाले संक्षेप रुचि शिष्य ही प्रतिपाद्य होते तो "प्रमाणनयैरधिगमः" इस एक सूत्र से ही उनको प्रतीति हो जाती अन्य सूत्र के आरंभ से प्रयोजन ही नहीं रहता ।

ये सत् आदि अनुयोग सकलादेशी [सकल रूप से वस्तु के प्रतिपादक] हैं तो श्रुत नाम के प्रमाण स्वरूप हैं और यदि विकलादेशी [एकदेश रूप से वस्तु के प्रतिपादक] हैं तो नय ज्ञान स्वरूप हैं । गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवस्थानों को जानने वाले पुरुषों को इन अनुयोगों की आगमानुसार योजना करनी चाहिये ।

इसतरह सम्यग्दर्शन का व्याख्यान किया, उसके अनन्तर अब सम्यग्ज्ञान विचारने योग्य है अतः उसके प्रतिपादन के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच सम्यग्ज्ञान हैं—

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर पांच इन्द्रियां और मन के द्वारा यथा योग्य अपने विषयभूत पदार्थों को जिसके द्वारा जाना जाता है, अथवा जिसके द्वारा पुरुष उक्त पदार्थों को जानता है वह मति है "मन्यते मनुते अर्थान् इति मतिः"

तस्यापेक्षामात्रत्वाद्यथाऽभ्रे चन्द्रमसंपश्येत्यत्राभ्रस्यापेक्षामात्रत्वम् । यन्निमित्तमर्थिनः केवन्ते सेवन्ते बाह्यमाभ्यन्तरं च तपः कुर्वन्ति तत्केवलम् । अथवा यदसहायं सकलावरणक्षयोद्भूतं ज्ञानं तत्केवलमित्याख्यायते । तानि मत्यादीनि पञ्च प्रत्येकं सम्यगधिकारात्सम्यग्ज्ञानव्यपदेशानि भवन्ति । ज्ञानस्यैव प्रामाण्यख्यापनार्थं प्रमाणस्वरूपसंख्याविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं चाह—

तत्प्रमाणे ।। १० ।।

तदित्यनेन सम्यग्ज्ञानस्य परामर्शः । प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम् । स्वातन्त्र्यविवक्षया कर्तृसाधनत्वम् । पारतन्त्र्यविवक्षया करणादिसाधनत्वं यथात्र तथान्यत्रापि यथा-

---

यह मति शब्द की निरुक्ति है । अथवा मनन मात्र मति है । निरूपण किया हुआ जो सुना जाता है, जाना जाता है, जिसके द्वारा वह श्रुत है, सुनता है, जानता है वह श्रुत है अथवा श्रवण मात्र श्रुत है । "अवाग् धीयते इति अवधिः" जो पुद्गल द्रव्य को विषय करता है, प्रचुरता से नीचे की ओर जानता है अथवा मर्यादित विषयवाला है उस ज्ञान विशेष को अवधि कहते हैं । पर के मन में स्थित पदार्थ को साहचर्य के कारण मन कहते हैं उसको पर्ययण अर्थात् सब ओर से जानना मनःपर्यय है, उसमें ज्ञानपने की सिद्धि में मन की प्रधानता नहीं है, केवल अपेक्षा मात्र है, जैसे किसी ने कहा कि आकाश में चन्द्रमा देखो, इसमें देखने रूप क्रिया में आकाश की अपेक्षा मात्र है, अभिप्राय यह है कि मनःपर्यय ज्ञान मन में स्थित पदार्थ को जानता है, उस जानन क्रिया में मन की सहायता नही लेता, मनः पर्यय ज्ञान के विषय का मन केवल आधार मात्र है । जैसे चन्द्रमा का आधार आकाश है । जिसके लिये अर्थीजन सेवन करते हैं बाह्याभ्यन्तर तप करते हैं वह केवलज्ञान है, अथवा जो असहाय है सकल आवरण कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है वह केवलज्ञान है ।

सम्यग् शब्द का अधिकार होने से ये पांचों ही मति आदि सम्यग्ज्ञान स्वरूप हैं ।

अब आगे ज्ञान ही प्रमाण है इस बात को बतलाने के लिये तथा प्रमाण के स्वरूप तथा संख्या संबंधी विवाद दूर करने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—मति आदि वे पांचों ज्ञान प्रमाण हैं । सूत्र में तत् शब्द सम्यग्ज्ञान का सूचक है, "प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमिति मात्रं वा प्रमाणम्" जानता है इसके द्वारा जाना जाता है अथवा जाननामात्र प्रमाण है [यह प्रमाण शब्द की निरुक्ति है]

सम्भवं योजनीयम् । यदेव मत्यादिचेतनं स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं तदेव प्रमाणं भवति । तद्विपरीतस्य सन्निकर्षादेः प्रमाणत्वायोगाद् घटादिवत् । द्रव्येन्द्रियप्रदीपालोकादीनामप्युपचारात्प्रामाण्याभ्युपगमात् । द्विवचननिर्देशाद्द्वे एव प्रमाणे—परोक्षं प्रत्यक्षं चेति, शेषानुमानोपमादीनामत्रैवान्तर्भावात् । तत्र परोक्षप्रतिपादनार्थमाह—

आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

द्विवचनसामर्थ्यादाद्यमतिसमीपं श्रुतमप्याद्यमित्युपचर्यते । आद्ये मतिश्रुते इत्यर्थः । पराण्यात्मनोपात्तानीन्द्रियमनांसि, अनुपात्तानि प्रदीपाद्यालोकपरोपदेशादीनि च प्रोच्यन्ते । तदपेक्षं सम्यग्ज्ञानं परोक्षं विशिष्ट वैशद्याभावात्संव्यवहारानपेक्षया सूत्रक्रममपेक्ष्याद्ये मतिश्रुते परोक्षं प्रमाणं भवति । संव्यवहारापेक्षया तु देशतो वैशद्यसम्भवात्स्वसंवेदनमिन्द्रियज्ञानं च प्रत्यक्षमिति चाख्यायते । प्रत्यक्षस्वरूपनिरूपणायाह—

प्रमाण शब्द स्वातन्त्र्य विवक्षा में कर्तृ साधन बनता है, परतन्त्र विवक्षा में करणादि साधनरूप है, जैसे यहाँ प्रमाण शब्द की निरुक्ति में विवक्षा कही है वैसे अन्यत्र भी यथासंभव लगना चाहिये । जो चेतन स्वरूप है, स्व-पर का निश्चायक है एवं मति आदि सम्यग्ज्ञान स्वरूप है वही प्रमाण कहलाता है, इससे विपरीत जो सन्निकर्ष आदि हैं वे प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वे घट आदि के समान अचेतन स्वरूप हैं । स्पर्शनादि द्रव्येन्द्रियाँ, दीपक, प्रकाश आदि को तो उपचार मात्र से प्रामाण्य है । सूत्र में "प्रमाणे" ऐसा द्विवचन प्रयोग है इससे प्रमाण दो ही प्रकार का है ऐसा नियम बनता है । प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण हैं । शेष अनुमान उपमा आदि इन्हीं दो प्रमाणों में अन्तर्भूत हैं ।

परोक्ष प्रमाण का प्रतिपादन करते हैं ।

सूत्रार्थ—आदि के दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं । सूत्रस्थ द्विवचन के सामर्थ्य से आदि के मतिज्ञान के समीप होने से श्रुत को भी उपचार से आद्य शब्द से कहा है । आद्ये अर्थात् मति-श्रुतज्ञान । आत्मा द्वारा उपात्त इन्द्रिय और मन को 'पर' शब्द से कहा जाता है, तथा अनुपात्त स्वरूप दीपक, प्रकाश, परोपदेश आदि को भी "पर" कहते हैं, उनकी अपेक्षा लेकर जो सम्यग्ज्ञान होता है वह परोक्ष है । इस ज्ञान में विशिष्ट निर्मलता नहीं है । यहां पर संव्यवहार से प्रत्यक्ष कहने की अपेक्षा [विवक्षा] नहीं है । सूत्रक्रम की अपेक्षा आदि के मतिज्ञान श्रुतज्ञान परोक्ष होते हैं । संव्यवहार की अपेक्षा एकदेश वैशद्य होने से स्वसंवेदनज्ञान और इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ।

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा । तमेवात्मानं प्रत्याश्रितं सम्यग्ज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियाद्यनपेक्षं प्रत्यक्षमिति व्यपदिश्यते । अन्यदवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानत्रितयमित्यर्थः । मतिश्रुताभ्यामवशिष्टमवध्यादिसंवेदनत्रितयं वैशद्यप्रकर्षयोगान्मुख्यं प्रत्यक्षमिति संलक्ष्यते । तच्च सकलविकलविकल्पाद्द्वेधा । सकलप्रत्यक्षं । केवलज्ञानम् । विकलप्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययज्ञानद्वितयम् । मतिज्ञानान्तर्भूततद्भेदस्मृत्यादिप्रतिपादनार्थमुच्यते—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

अन्तर्बहिश्च परिस्फुटं मन्यते यया सा मतिः । व्यवहारप्रत्यक्षं स्वसंवेदनमिन्द्रियज्ञानं च प्रोच्यते । स्मर्यते यया सा स्मृतिः । स्मरणमात्रं वा स्मृतिः । तदित्यतीताकारावभासिनी प्रतीति-

---

प्रत्यक्ष का स्वरूप कहते हैं—

सूत्रार्थ—शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । "अक्ष्णोति" इति अक्ष आत्मा" जो व्याप्त होता है अर्थात् जानता है वह अक्ष आत्मा है, उस आत्मा के ही जो अश्रित है, इन्द्रिय और मन आदि अपेक्षा रहित है वह सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष है । अन्यत् शब्द से अवधि मनःपर्यय और केवल इन तीन ज्ञानों को ग्रहण किया है । मति और श्रुत से जो अवशिष्ट अवधि आदि तीन ज्ञान हैं वे उत्कृष्ट निर्मल होने से मुख्य प्रत्यक्ष हैं । उस प्रत्यक्ष के सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष ऐसे दो भेद हैं । केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है । अवधि और मनःपर्यय विकल प्रत्यक्ष हैं ।

मतिज्ञान के अन्तर्गत जो स्मृति आदि हैं उनका प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये सब एकार्थवाची हैं । अन्तः और बाह्य को स्फुट रूप माना–जाना जाय जिसके द्वारा उसे मति कहते हैं इससे व्यवहार प्रत्यक्ष स्वसंवेदन ज्ञान और इन्द्रिय ज्ञान लेते हैं । जिसके द्वारा, स्मरण हो वह स्मृति है अथवा स्मरण मात्र स्मृति है "वह" इसतरह अतीत आकार अवभासिनी प्रतीति स्मृति है ऐसा जानना चाहिये । संज्ञान संज्ञा है वही यह है इसप्रकार अतीत और वर्तमान ऐसे दो आकारों का अवभासनरूप प्रत्यभिज्ञान संज्ञा है । चिन्तन चिन्ता है, देशान्तर और कालान्तर में स्थित जो कोई भी धूम है वह सब ही अग्नि से उत्पन्न होता है बिना अग्नि के नहीं होता, इसप्रकार व्याप्ति का ग्रहण करने-

रित्यर्थः । संज्ञानं संज्ञा । तदेवेदमित्यतीतवर्तमानाकारद्वयावभासकं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते । चिन्तनं चिन्ता । देशान्तरे कालान्तरे च यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति व्याप्तिग्रहणमूहाख्यं सम्यग्ज्ञानं कथ्यते । लिङ्गाभिमुखस्य नियतस्य लिङ्गिनो बोधनं परिज्ञानमभिनिबोधः स्वार्थानुमानंभण्यते । बहिश्शब्दोच्चारणपूर्वकं परार्थानुमानं तु श्रुतेऽन्तर्भवति । इति शब्दः प्रकारार्थः । आद्यर्थो वा । तेनैवं प्रकारा एवमादिर्वा या प्रतीतिः सा सर्वा संगृहीता भवति । सा च प्रतिभा बुद्धिमेधाप्रज्ञादिः । प्रकारार्थश्चात्र मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तत्वम् । अनर्थान्तरमर्थस्याभेदः । ततो मतिज्ञानसामान्यादेशादनर्थान्तरत्वे सति मतिज्ञानपर्यायशब्दाः स्मृत्यादयो वेदितव्याः । यथा शचीपतेर्देवेन्द्रार्थस्य वाचकाः शक्रेन्द्रपुरन्दरादयः शब्दाः । सत्यपि कथंचिद्व्युत्पत्त्यार्थभेदे पर्यायशब्दा रूढा लोके प्रतीयन्ते । किंनिमित्तं मतिज्ञानं जायत इत्याह—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

तदित्यनेन मत्यादिप्रकारैकज्ञानस्य परामर्शः । इन्द्रस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य सूक्ष्मस्य च लिङ्गमर्थोपलम्भे सहकारिकारणं ज्ञायकं वा यत्तदिन्द्रियम् । इन्द्रेण नामकर्मणा वा जन्यमिन्द्रियम् ।

वाला ऊहा नाम का सम्यग्ज्ञान संज्ञा कहलाता है । लिंग के अभिमुख नियत लिंगी का बोध अभिनिबोध कहलाता है अर्थात् स्वार्थानुमान को अभिनिबोध कहते हैं । शब्द के उच्चारण पूर्वक होने वाला बाह्यरूप परार्थानुमान ज्ञान का श्रुतज्ञान में अन्तर्भाव होता है अर्थात् स्वार्थानुमान मतिज्ञान स्वरूप है और परार्थानुमान श्रुतज्ञान स्वरूप है । इति शब्द प्रकार वाची है अथवा आद्य वाचक है, इस इति शब्द से इसप्रकार की जो प्रतीति है वह सर्व ही मति में संगृहीत होती है । वह प्रतिभा, मेधा, बुद्धि प्रज्ञा आदि ज्ञान रूप है, इन सबका मतिज्ञान में अन्तर्भाव होता है । ये सब प्रकार मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं अनर्थान्तर अथात् अर्थ में भेद नहीं होना । अतः मतिज्ञान सामान्य को अपेक्षा अभेद होने से स्मृति आदि मतिज्ञान के पर्याय वाचक शब्द हैं ऐसा जानना चाहिये । जैसे शचीपति देवेन्द्र अर्थ के वाचक शक्र, इन्द्र, पुरन्दर आदि शब्द होते हैं । इनमें कथंचित् व्युत्पत्ति निमित्तक भेद हैं फिर भी लोक में पर्याय वाचक शब्द प्रचलित रहते ही हैं ।

किस निमित्त से मतिज्ञान उत्पन्न होता है इस बात को अग्रिम सूत्र में कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है । तत् शब्द से मत्यादि एक प्रकार के ज्ञान का ग्रहण होता है । इन्द्र आत्मा को कहते हैं । सूक्ष्म

नेन्द्रियमनिन्द्रियम् । नो इन्द्रियं च प्रोच्यते । अत्रेषदर्थे प्रतिषेधो द्रष्टव्यो यथाऽनुदरा कन्येति । तेनेन्द्रियप्रतिषेधेनात्मनः करणमेव मनो गृह्यते । तदन्तःकरणं चोच्यते । तस्य बाह्येन्द्रियैर्ग्रहणाभावादन्तर्गतं करणमन्तःकरणमिति व्युत्पत्तेः । निमित्तं कारणं हेतुरित्यर्थः । तन्मत्यादिप्रकारं ज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं नार्थजन्यमर्थस्य ग्राह्यत्वेन कर्मरूपत्वात् तत्र चाद्यं मतिरूपमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् । स्मृत्यादिकं पुनरनिन्द्रियनिमित्तमिति विशेषो द्रष्टव्यः । मतिज्ञानभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

विषयविषयिसम्बन्धे सति श्वेतत्वादिविशेषरहितवस्तुसत्तावभासिनी निर्विकल्पिका दर्शनाख्या प्रतीतिर्जायते । तदनन्तरं अवग्रहो भवति । यथा तदहर्जातस्य प्रथमसमयोन्मेषकाले बालकस्य श्वेतत्वा-

---

और कर्म से मैले ऐसे आत्मा का जो लिंग–चिह्न है उसे इन्द्रिय कहते हैं अथवा पदार्थ के जानने में ज्ञाता को जो सहकारी हो वह इन्द्रिय है । इन्द्र नाम कर्म को भी कहते हैं जो उससे जन्य है उसे इन्द्रिय कहते हैं । "न इन्द्रियं अनिन्द्रियं अथवा नो इन्द्रियं" इसप्रकार यहां अनिन्द्रिय शब्द की निरुक्ति है, यहां ईषत्–किंचित् अर्थ में नञ् समास हुआ है, जैसे अनुदरा कन्या । इन्द्रिय के प्रतिषेध करके जो आत्मा का करण हो वह ग्रहण किया है अनिन्द्रिय शब्द मनका वाचक है उसे अन्तःकरण भी कहते हैं । क्योंकि बाह्य स्पर्शनादि इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होने से अंदर का करण अन्तःकरण ऐसी व्युत्पत्ति है । निमित्त का अर्थ कारण या हेतु है । वह मति आदि प्रकार का [मति, स्मृति इत्यादि] ज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है, वह ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि पदार्थ तो ज्ञान द्वारा ग्राह्य होने से ज्ञान की जानन रूप क्रिया के कर्म हैं । भाव यह है कि बौद्ध लोग ज्ञान पदार्थ से पैदा होता है ऐसा मानते हैं, उनका कहना ठीक नहीं है ज्ञान जड़ पदार्थ से पैदा न होकर इन्द्रिय अनिन्द्रिय की सहायता से होता है, पदार्थ तो ज्ञान के विषय हैं न कि जनक अस्तु ।

मति, स्मृति, संज्ञा आदि ज्ञानों में से पहला मतिरूप ज्ञान इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है । स्मृति आदिक तो अनिन्द्रिय–मन से होते हैं ऐसा विशेष जानना चाहिये ।

मतिज्ञान के भेद बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के भेद हैं । विषय और विषयी [पदार्थ और ज्ञान] के संबंध होने पर सफेद आदि की विशेषता से

दिविशेषवस्तुप्रतिभास: सविकल्पकोऽवग्रहो भवति यथेदं दृष्टं यद्वस्तु तच्छ्‌वेतमिति । तत एव सत्यपि परिच्छित्तिमात्राविशेषे दर्शनावग्रहयोर्निर्विकल्पकत्वसविकल्पकत्वकृतो भेद: परिस्फुट: प्रतीयत इति । तत: श्वेतमिदं वस्तु किं बलाका पताका वेति संशयविच्छेदार्थमवगृहीतवस्तुगतविशेषाकांक्षणमात्मन: प्रयत्नविशेष ईहा । कुतश्चित्तद्‌गतोत्पतनपक्षविक्षेपादिविशेषविज्ञानाद्‌बलाकैवेयं न पताकेत्यवधारणं निश्चयोऽवाय: । निश्चितस्य कालान्तराविस्मरणकारणं धारणा । यथा सैवेयं बलाका या पूर्वाह्णे मया दृष्टा । तदेव मतिज्ञानमवग्रहेहावायधारणा भवति । अवग्रहेहावायधारणाभेदं स्यादित्यर्थ: । केषां पुन: कर्मणामवग्रहादय: परिच्छित्तिविशेषा: स्युरित्याह—

बहुबहुविधक्षिप्रानि:सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।। १६ ।।

बहुशब्द: सङ्ख्यावाची वैपुल्यवाची च सम्भवति । तत्र सङ्ख्यावाची एकद्विबहव इत्यत्र दृष्ट: । वैपुल्यवाची यथा बहुरोदनो बहुघृतमिति । अत्र द्वयोरपि ग्रहणं विशेषाभावात् । वक्ष्यमाणसेतरग्रहणा-

---

रहित वस्तु की सत्तामात्र का अवभासन रूप निर्विकल्प दर्शन रूप प्रतीति उत्पन्न होती है तदनंतर अवग्रह होता है जैसे उसी दिन के जन्मे बालक के प्रथम बार नेत्र खोलने पर सफेद आदि विशेष वस्तु का प्रतिभास होता है वह सविकल्प अवग्रह स्व-रूप है, तथा जैसे यह देखी गई जो वस्तु है वह सफेद है । दर्शन और अवग्रह में परिच्छित्ति मात्र समान है तो भी निर्विकल्प और सविकल्पपने से भेद लक्षित होता ही है अर्थात् दर्शन निर्विकल्प है और अवग्रह सविकल्प है । अवग्रह के अनंतर यह सफेद वस्तु बलाका है या पताका इत्यादि रूप से संशय विच्छेद के लिये अवग्रह द्वारा ज्ञात वस्तु में विशेष जानने की कांक्षा रूप आत्मा का प्रयत्न विशेष ईहा, कहलाती है । उस बलाका में होने वाला ऊपर उड़ना, पंख फैलाना आदि के विशेष ज्ञान से यह बलाका ही है, पताका नहीं इसतरह निर्णय होना अवाय ज्ञान है । निर्णीत वस्तु में कालान्तर में स्मरण होने का जो कारण है वह धारणा ज्ञान है, जैसे वही यह बलाका है जिसको मैंने प्रात: देखा था । इसतरह मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप होता है अर्थात् मतिज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ऐसे चार भेद स्वरूप है ।

अवग्रह आदि ज्ञान किन पदार्थों को विषय करते हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनि:सृत, अनुक्त और अध्रुव तथा इनसे इतर एक, एकविध, अक्षिप्र, नि:सृत, उक्त और ध्रुव ये अवग्रहादि ज्ञानों के विषय हैं ।

सत्प्रतिपक्षस्यापि लब्धत्वात् स्तोक ओदनः स्तोकं घृतमित्येवमप्यवग्रहणं भवति । विधशब्दः प्रकार-वाची । तेन बहुविधो बहुप्रकार उच्यते । ततः शालिषाष्टिककंगुकोद्रवादिभेदाद्भिन्नजातीयौदनदर्शना-दुत्तरकालं बहुप्रकार ओदन इत्यवगृह्यते । तथा गोमहिष्यादिजातिसम्बन्धिनानाघृतोपलम्भाद्बहुप्रकारं घृतमित्यवगृह्यते । सेतरग्रहणादेकविधस्य संग्रहः । तेन नानाभाण्डगतशाल्योदन एकजातीय एकविध ओदन इत्येवमवगृह्यते । तथा बहुषु भाजनेषु स्थितमेकजातीयं गोघृतमेकविधमित्यवगृह्यते । स एव बह्वादिरर्थो यदा शीघ्रं गृह्यते तदा क्षिप्रावग्रहो भवति । यदा तु चिरेण प्रतिपद्यते तदाऽक्षिप्रावग्रहः स्यात् । एकदेशदर्शनात्समस्तस्यार्थस्य ग्रहणमनिःसृतावग्रहः । यथा जलनिमग्नस्य हस्तिन एकदेश-करदर्शनादयं हस्तीति समस्तस्यार्थस्य ग्रहणम् । समस्ततदवयवदर्शनान्निःसृतावग्रहो भवति । अग्नि-मानयेति केनचिद्भणिते कर्परादिना समानयेति परेणानुक्तस्य कर्परादेरग्न्यानयनोपायस्य स्वयमूह-

---

बहु शब्द के संख्या और विपुल ऐसे दो अर्थ हैं, उनमें से जो संख्या वाचक है वह एक दो और बहुत इत्यादि रूप से प्रयुक्त होता है, तथा विपुलवाची जैसे बहुत भात है बहुत घी है इत्यादि रूप है इन दोनों अर्थों का भी ग्रहण संभव है कोई विशेषता नहीं है। कहे जाने वाले सेतर पद से उन बहु आदि के प्रतिपक्ष भूत पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है अतः थोड़ा भात है थोड़ा घी है इत्यादि रूप भी अवग्रहादि ज्ञान होता है ऐसा जानना । विध शब्द प्रकार वाची है इससे बहुविध अर्थात् बहुत प्रकार ऐसा अर्थ होता है । उससे शालि, साठी, कंगु [वरिया चावल] कोद्रव आदि के भेद से भिन्न भिन्न जाति के चांवलों के भातों को देखने से उत्तर काल में बहुत प्रकार का भात अवगृहीत होता है, इसीप्रकार गाय, भैंस आदि जाति के संबंध से नानाप्रकार का घी उपलब्ध होता है इसलिये बहुत प्रकार का घी है ऐसा अवग्रह ज्ञान होता है, भाव यह है कि घी आदि पदार्थों की नाना जातियाँ हैं अतः ज्ञान के विषय में भेद होने से इन अवग्रहादि ज्ञानों में भेद हो जाता है । सेतर शब्द से बहुविध से इतर एकविध का ग्रहण होता है, उससे नाना बर्तनों में स्थित शालि चांवल का भात एक ही जातीय होने से यह सब भात एक ही जातीय है ऐसा बोध होता है, इसीप्रकार बहुत से भाजनों में रखा हुआ एक जाति का गाय का घी एकविध कहलाता है । ये बहु आदि पदार्थ जब शीघ्रता से जाने जाते हैं तब क्षिप्र अवग्रह ज्ञान होता है, और जब इन पदार्थों को धीरे धीरे जाना जाता है तब अक्षिप्र अवग्रह ज्ञान होता है । वस्तु के एक देश को देखने पर पूर्ण देश का बोध होना अनिःसृत अवग्रह है, जैसे जल में डूबे हाथी के एक देश रूप सूंड के देखने पर "यह हाथी है" ऐसा समस्त रूपेण ग्रहण होता है । समस्त अवयवों

नमनुक्तावग्रहः । तस्यैव परेणोक्तस्य कर्परादेर्ग्रहणमुक्तावग्रहः । यथार्थग्रहणं ध्रुवावग्रहः । तद्विपरीत-लक्षणः पुनरध्रुवावग्रहः । एवं बह्वादिषु लोकागमाविरोधेन तज्ज्ञैरीहादयोऽपि योज्याः । तत्र च बह्वाद्यवग्रहादयो मतिज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात्प्रादुर्भवन्ति नेतरे एकैकविधा क्षिप्रनिःसृतोक्ताध्रुवा-वग्रहादयस्तेषां मन्दक्षयोपशमेन प्रभवात् । ध्रुवावग्रहधारणयोः कथ विशेष इति चेदुच्यते--क्षयोपशम-प्राप्तिकाले विशुद्धपरिणामसन्तत्या प्राप्तक्षयोपशमात्प्रथमसमये यथावग्रहस्तथैव द्वितीयादिष्वपि समयेषु न न्यूनो नाप्यधिक इति ध्रुवावग्रह इत्युच्यते । यदा पुनर्विशुद्धपरिणामस्य संक्लेशपरिणामस्य च मिश्रणात्क्षयोपशमो भवति तत उत्पद्यमानोऽवग्रहः कदाचिद्बहूनां कदाचिदल्पस्य कदाचिद्बहुविधस्य कदाचिदेकविधस्य चेति हीनाधिकभावादध्रुवावग्रह इत्युच्यते । धारणा पुनर्गृहीतार्थाविस्मरण-कारणमिति महान् ध्रुवावग्रहधारणयोर्भेदः । सहेतरैः प्रतिपक्षभूतैः षड्भिर्वर्तन्त इति सेतरा बह्वादयः तेषां बह्वादीनां सेतराणामर्थस्वरूपाणामिन्द्रियानिन्द्रियैः षड्भिः प्रत्येकं ग्राहकत्वेनार्थावग्रहादयः

को देख लेने पर जो ज्ञान होता है वह निःसृत कहलाता है । "अग्नि को लाओ" ऐसा किसी के कहने पर अग्नि को खप्पर आदि में रखकर लाना ऐसा पर ने नहीं कहा है तो भी उस अनुक्त खप्पर आदि के अग्नि को लाने के उपाय का स्वयं विचार कर लेना अनुक्त अवग्रह ज्ञान है । और यदि इसप्रकार अग्नि के लाने का उपाय स्वयं नहीं सोच पाता है, पर के कहने पर ही उस उपाय को करता है वह 'उक्त' अवग्रह है । यथार्थ ग्रहण को ध्रुव अवग्रह कहते हैं इससे विपरीत—अयथार्थ ग्रहण अध्रुव अवग्रह कहलाता है । जस अवग्रह ज्ञान के बहु आदि पदार्थों की अपेक्षा उदाहरण दिये हैं वैसे ईहा आदि में भी लोक और आगम में विरोध न आवे इसतरह से ईहा आदि के ज्ञाता पुरुषों को घटित कर लेना चाहिये । बहु, बहुविध, क्षिप्र आदि छह प्रकार के अवग्रह आदि ज्ञान मतिज्ञानावरण के उत्कृष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं किन्तु एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत उक्त और अध्रुव ये छह प्रकार के अवग्रह आदि ज्ञान मन्द-अल्प क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं ।

शंका—ध्रुव अवग्रह ज्ञान और धारणा ज्ञान में किसप्रकार विशेष भेद है ?

समाधान—बतलाते हैं—क्षयोपशम की प्राप्ति के समय जो विशुद्ध परिणामों की संतति थी उस प्राप्त क्षयोपशम के समय में जैसा अवग्रह ज्ञान प्रगट हुआ था वह द्वितीय आदि आगामी समयों में वैसा ही बना रहना न कम होना और न अधिक होना यह ध्रुव अवग्रह ज्ञान कहलाता है । तथा जब विशुद्ध परिणाम और संक्लेश

प्रादुर्भाव्यन्ते । सर्वे च तेऽष्टाशीत्यधिकशतद्द्वयप्रमाणा भवन्ति । चक्षुर्मनोवर्जितचतुरिन्द्रियैर्व्यञ्जन-रूपेषु बह्वादिषु व्यञ्जनावग्रहभेदाश्च वक्ष्यमाणरूपा अष्टाचत्वारिंशन्मिता भवन्ति । सर्वे षट्त्रिंशत्त्रि-शतप्रमाणाश्च मतिज्ञानभेदा मन्तव्याः । अवग्रहादीनां ग्राह्यत्वेन पूर्वं ये बह्वादयो निर्दिष्टास्ते कस्य विशेषणरूपा इत्याह—

अर्थस्य ॥ १७ ॥

इयर्त्ति पर्यायांस्तैर्वाऽर्यत इत्यर्थो द्रव्यमेतस्यैव चक्षुरादिविषयत्वेनाभिमतस्य बह्वादिविशेषण-विशिष्टस्यावग्रहादयो भवन्ति तदव्यतिरेकेणैव गुणानां ग्रहणसद्भावात् । अत एव गुणा एव चक्षुरादि-

---

परिणाम का मिश्रण से क्षयोपशम होता है उस क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ अवग्रह ज्ञान कभी तो बहु पदार्थ को जानता है कभी अल्प को जानता है, तो कभी बहुविध को कभी एकविध को इसप्रकार हीन अधिकपना होना अध्रुव अवग्रह ज्ञान है। धारणा ज्ञान तो जो जाना हुआ पदार्थ है उसको विस्मृत नहीं होना रूप है अर्थात् स्मृति का कारण है इसतरह ध्रुव अवग्रह और धारणा इन दो में महान् भेद है। प्रतिपक्ष भूत छह इतर के साथ जो रहते हैं वे बहु आदिक सेतर हैं। उन सेतर बहु आदि पदार्थों का पांच इन्द्रियाँ और मन द्वारा प्रत्येक के ग्राहक होने से अर्थावग्रह आदि उत्पन्न होते हैं अर्थात् बहु आदि बारह को छह इन्द्रिय अनिन्द्रिय के साथ गुणा किया और पुनः अवग्रह आदि चार के साथ गुणा किया तब वे सब दो सौ अठासी भेद होते हैं ये अर्थावग्रह की अपेक्षा भेद हुए। व्यञ्जनरूप बहु आदिक पदार्थों को चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार से गुणा करने पर वक्ष्यमाण व्यञ्जन अवग्रहों के अड़तालीस भेद होते हैं, इन सब भेदों को मिलाने पर तीन सौ छत्तीस प्रमाण मतिज्ञान के भेद जानना चाहिये।

अवग्रह आदि ज्ञानों के द्वारा ग्राह्य जो बहु आदि कहे गये हैं वे किसके विशेषण रूप हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—वे बहु आदिक भेद पदार्थ के होते हैं। "इयर्त्ति पर्यायान् तैः अर्यते इति अर्थः" जो पर्यायों को प्राप्त होता है अथवा जिसके द्वारा पर्याय प्राप्त की जाती है वह अर्थ कहलाता है अर्थात् द्रव्य को अर्थ कहते हैं, जो चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय है और जिसके बहु बहुविध आदि विशेषण हैं उस अर्थ या द्रव्य के अवग्रह आदि

भिर्गृह्यन्ते न द्रव्यमिति परमतनिराकरणार्थं सूत्रारम्भः । अन्यथा बह्वादीनामप्यर्थत्वात्सूत्रमिदमनर्थकमेव स्यादिति भावः । बह्वादिविशेषणरूपस्य व्यञ्जनस्य किं सर्वे परिच्छित्तिविशेषा भवन्त्याहोस्वित्कश्चिदेवेति पृष्ट आह—

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

व्यज्यते श्रोत्रादिभिर्गृह्यते यत्तद्व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातम् । सिद्धेविधिरारभ्यमाणो नियमार्थो भवतीति नियमार्थमिदं सूत्रम् । तेन व्यञ्जनस्यावग्रह एव ग्राहको भवति नेहादय इत्ययमर्थो लब्धः स्यात् ग्रहणस्यो भयत्र साधारणत्वात् । अर्थावग्रहव्यञ्जनावग्रहयोः किंकृतो विशेष इतिचेद्व्यक्ताव्यक्तकृतोऽस्ति विशेषोऽभिनवशरावार्द्रीकरणवत् । यथा जलकणद्वित्रिसिक्तः शरावोऽभिनवो

ज्ञान होते हैं । उस द्रव्य से अभिन्न गुण होते हैं अतः द्रव्य के ग्रहण से गुणों का ग्रहण हो जाता है । परवादी चक्षु आदि इन्द्रिय द्वारा गुण ही ग्रहण होते हैं द्रव्य ग्रहण नहीं होता ऐसा मानते हैं इस परमत का निराकरण करने के लिये यह सूत्र रचा है । यदि यह मान्यता नहीं होती तो बहु आदि अर्थरूप होने से यह सूत्र आवश्यक ही था ।

बहु आदि विशेषण वाले व्यञ्जन रूप पदार्थ के अवग्रह आदि सभी ज्ञान होते हैं या कुछ ही होते हैं ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्यञ्जनरूप पदार्थ का अवग्रह ज्ञान होता है । कर्ण आदि द्वारा जो ग्रहण होता है वह व्यञ्जन कहलाता है अर्थात् अव्यक्त शब्दादि को व्यञ्जन कहते हैं । "सिद्ध वस्तु में विधि का आरंभ नियम के लिये होता है" इस न्याय से यह सूत्र नियम बनाने के लिये आया है, इससे यह अर्थ फलित होता है कि व्यञ्जन रूप पदार्थ का अवग्रह ज्ञान ही होता है ईहा आदि नहीं होते । व्यञ्जन और अव्यञ्जन दोनों का ग्रहण साधारण है [अर्थात् अवग्रह ज्ञान व्यञ्जन और अव्यञ्जन—व्यक्त और अव्यक्त दोनों पदार्थों के होता है ।]

प्रश्न—अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह इन दोनों में किस कारण से भेद–विशेष है ?

उत्तर—व्यक्त और अव्यक्त रूप भेद है, जैसे नवीन सकोरा को गीला करने में व्यक्त और अव्यक्त कृत भेद होता है, जिसतरह दो तीन जल कणों द्वारा सींचा गया

नार्द्रीभवति स एव मुहुर्मुहुः सिच्यमानः शनैस्तिम्यति तथा श्रोत्रादिष्विन्द्रियेषु शब्दादिपरिणताः पुद्गला द्वित्र्यादिषु समयेषु गृह्यमाणा न व्यक्तीभवन्ति । पुनःपुनरवग्रहणे सति त एव व्यक्तीभवन्ति । अतो व्यक्तग्रहणात्पूर्वं व्यञ्जनावग्रहः । यत्पुनर्व्यक्तगृहणं सोऽर्थावग्रहो भवति । तस्मादव्यक्तावग्रहादीहादयो न भवन्तीति सिद्धम् । सर्वैरिन्द्रियानिन्द्रियैरर्थस्येव व्यञ्जनस्यावग्रहे प्राप्तेऽनिष्टप्रतिषेधार्थमाह—

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।। १६ ।।

चक्षुषाऽनिन्द्रियेण चाव्यक्तशब्दादिजातस्य व्यञ्जनस्यावग्रहः परिच्छेदको न भवति तयोरप्राप्यकारित्वात् । चक्षुर्मनसी प्राप्यकारिणी करणत्वाद्दात्रादिवदिति चेन्न–मन्त्रादिना हेतोर्व्यभिचारात् । मन्त्रादेरप्राप्यकारित्वेऽपि करणत्वदर्शनात् । यथा मन्त्रेण भुजङ्गममाकर्षति, चुम्बकेना-

---

सकोरा गीला नहीं होता, वही सकोरा बार बार सींचा जाने पर धीरे धीरे गीला हो जाता है । उसीप्रकार कर्ण आदि इन्द्रियों में शब्दादि परिणत पुद्गल दो तीन आदि समयों में ग्रहण किये हुए व्यक्त नहीं हो पाते, बार बार ग्रहण करने पर वे ही व्यक्त हो जाते हैं, अतः व्यक्त गृहण के पहले व्यञ्जन अवगृह होता है, पुनः जो व्यक्त रूप गृहण होता है वह अर्थावगृह कहलाता है, इससे सिद्ध होता है कि अव्यक्त अवगृह के अनंतर ईहा आदिक नहीं होते [क्योंकि पहले अव्यक्त अवगृह फिर व्यक्त अवगृह तदनंतर ईहादि इस क्रम से ज्ञान होता है इसमें अव्यक्त के अनंतर व्यक्त गृहण है पश्चात् ईहादि है इसलिये अव्यक्त अवगृह के बाद ईहादि नहीं होते ।]

जैसे अर्थ [व्यक्त पदार्थ] सभी इन्द्रिय और मन द्वारा गृहीत होता है वैसे व्यञ्जन का [अव्यक्त का] अवगृह सभी इन्द्रियादि द्वारा होने का प्रसंग आने पर अनिष्ट का निषेध करने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—व्यञ्जन अवगृह ज्ञान चक्षु और मन द्वारा नहीं होता ।

नेत्र और मन के द्वारा अव्यक्त शब्दादि रूप व्यञ्जन का अवगृह ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि ये दोनों–नेत्र और मन अप्राप्यकारी हैं ।

शंका—चक्षु और मन प्राप्यकारी हैं, क्योंकि वह करणरूप हैं, जैसे दात्रा आदि करणरूप होते हैं ?

कर्षकेण देहान्तर्गतमपि काण्डादिकमाकर्षति, भ्रामकेण च सूच्यादिकं भ्रमयतीति । किंच अप्राप्यकारि चक्षुः स्पष्टम् । यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत्तदा स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयान्न च गृह्णाति । मनोवत्त-स्मादप्राप्यकारीत्येवावसीयते । इयं युक्तिरुक्ता । तथास्यार्थस्यागमोऽप्यस्ति साधकः—

पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पस्सदे तहा रूवं ।
गन्धं रसं च पासं पुट्ठमपुट्ठं वियाणादि ।। इति ।।

ततश्चक्षुर्मनसी वर्जयित्वा शेषेन्द्रियाणां व्यञ्जनस्यावग्रहः । सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थावग्रह इति सिद्धम् । व्याख्यातं मतिज्ञानमिदानीं तदनन्तरोद्दिष्टश्रुतज्ञानलक्षणकारणभेदप्रभेदनिर्ज्ञानार्थमाह—

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है, इस अनुमान का करणत्व हेतु मन्त्रादि से व्यभिचरित होता है, देखो ! मन्त्रादिक अप्राप्यकारी होने पर भी करण रूप होते हैं, जैसे मन्त्र द्वारा नाग आकर्षित किया जाता है, अथवा आकर्ष जाति के चुम्बक द्वारा शरीरादि के भीतर के काण्डादिक आकर्षित होते हैं तथा भ्रामक जाति के चुम्बक द्वारा सूई आदि को घुमाया जाता है, अर्थात् ये मन्त्र चुम्बक आदि पदार्थ अप्राप्य–दूर रहकर ही विष दूर करना आदि कार्य के प्रति करण–कारण बनते देखे जाते हैं ठीक इसीप्रकार चक्षु और मन अप्राप्य होकर अपने विषय को ग्रहण करने में कारण-भूत हैं ।

दूसरी बात यह है कि चक्षु स्पष्ट रूप से अप्राप्यकारी प्रतीत होता है, यदि प्राप्यकारी होता तो स्पर्शन इन्द्रिय के समान स्पर्शित अञ्जन को ग्रहण कर लेता ? किन्तु ग्रहण नहीं करता है । अतः मन के समान चक्षु भी अप्राप्यकारी सिद्ध होती है यह तो युक्ति कही, आगम भी इसी अर्थ का समर्थन करता है, आगे इसी को बताते हैं—

पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पस्सदे तहा रूवं ।
गंधं रसं च पासं पुट्ठमपुट्ठं वियाणादि ।।१।।

अर्थ—स्पर्शित शब्द को सुनता है, तथा अस्पर्शित रूप को देखता है, रस, गंध, और स्पर्श को स्पर्शित तथा अस्पर्शित दोनों को जानता है ।। १ ।। इसप्रकार युक्ति और आगम द्वारा चक्षु का अप्राप्यकारित्व सिद्ध होता है, इसलिये चक्षु और मन को छोड़कर शेष इन्द्रियों द्वारा व्यञ्जन–अव्यक्त का ग्रहण अर्थात् व्यंजनावग्रह होता है, और सर्व ही इन्द्रियों द्वारा अर्थावग्रह होता है यह बात सिद्ध हुई ।

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम् ।। २० ।।

श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमे सति श्रवणं श्रुतम् । नानार्थप्ररूपणसमर्थमस्पष्टं विज्ञानमेव रूढिवशादुच्यते । अनेन श्रुतस्य लक्षणमुक्तम् । श्रुतस्य प्रमाणत्वं पूरयति जनयतीति पूर्वं निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम् । साक्षात्परम्परया वा मतिः पूर्वं यस्य तन्मतिपूर्वं—मतिकारणकमित्यर्थः । निमित्तमात्रं चेदं मतिज्ञानं श्रुतस्योक्तम् । सत्यपि मतिज्ञाने बाह्यश्रुतज्ञाननिमित्तसन्निधानेऽपि प्रबलश्रुतज्ञानावरणोदयस्य पुंसः श्रुताभावात् । श्रुतावरणक्षयोपशमस्तु प्रधानं कारणं तस्मिन् सत्येव श्रुतस्याविर्भावसद्भावात् । तच्चश्रुतं द्विभेदमङ्गबाह्याङ्गप्रविष्टविकल्पात् । अङ्गबाह्यमनेकप्रभेदं—कालिकोत्कालिकादिविकल्पात् । तत्र कालशुद्धयादिनियमापेक्षं कालिकम् । तद्विपरीतलक्षणमुत्कालिकम् । रूढमङ्गप्रविष्टं द्वादशभेदम् । कथं ? आचारः सूत्रकृतं स्थानं समवायो व्याख्याप्रज्ञप्तिर्ज्ञातृकथोपासकाध्ययनमन्तकृद्दशमनुत्तरोपपादिकदशं प्रश्नव्याकरणं विपाकसूत्रं दृष्टिवाद इति पूर्वादीनामन्तर्भावात् । तत्र सामान्येन तावच्चतुःषष्टिर्वर्णाः श्रुते व्यवह्रियन्ते । तद्यथा—ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदेनावर्णस्त्रिविधः । तथा

मतिज्ञान का कथन पूर्ण हुआ । इस समय मतिज्ञान के अनंतर कहे हुए श्रुतज्ञान का लक्षण, कारण तथा भेद के निर्णय के लिये अग्रिम सूत्र अवतरित होता है—

सूत्रार्थ—श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है, उसके दो भेद तथा अनेक और बारह भेद हैं । श्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर श्रवण रूप श्रुत है । जो अनेक अर्थों का प्ररूपण करने में समर्थ है ऐसा अस्पष्ट ज्ञान रूढिवश—शब्द की व्युत्पत्तिवश श्रवण श्रुत कहलाता है यह श्रुत का लक्षण है । श्रुत के प्रमाणत्व को पूरित करता है उत्पन्न करता है वह पूर्व है । पूर्व, निमित्त और कारण ये एकार्थवाची शब्द हैं, भाव यह है कि साक्षात् अथवा परंपरा से मति जिसके पूर्व में होता है वह मतिपूर्वक कहलाता है मति के कारण होता है यह अर्थ है । यह मतिज्ञान श्रुतज्ञान का निमित्त मात्र कहा है, क्योंकि मतिज्ञान के होने पर भी तथा श्रुतज्ञान के बाह्य निमित्तों का सन्निधान भी है किन्तु प्रबल श्रुत ज्ञानावरण का उदय जिसके है उस पुरुष के श्रुतज्ञान नहीं हो पाता । अतः श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम ही श्रुतज्ञान का प्रधान कारण है, उसके होने पर ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है । उस श्रुत के दो भेद हैं, अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट । अंग बाह्य अनेक प्रकार का है कालिक, उत्कालिकादि उसके भेद हैं । जो श्रुतकाल शुद्धि आदि पूर्वक पढ़ा जाता है वह कालिक है और इससे विपरीत अर्थात् जिसके पठन में कालादि शुद्धि का नियम नहीं है वे शास्त्र

इवर्णः । तथा उवर्णः । तथा ऋवर्णः । तथा लृवर्णः । तथा एकारोऽपि त्रिधा । तथा ऐकारः । तथा ओकारः । तथैव औकारस्त्रिधेत्येवं सप्तविंशतिस्वरा भवन्ति । तथा अं अः ≍क ≍प इत्येवं योगवाह्याश्चत्वारः । ककरादीनि हकारपर्यन्तानि त्रयस्त्रिंशद्व्यञ्जनानि भवन्ति । एते समुदिताश्चतुःषष्टिर्वर्णा जायन्ते । विशेषतः पुनरेत एव द्विसंयोगजत्रिसंयोगजचतुःसंयोगजादिभेदेन सङ्ख्यातविकल्पाश्च भवन्ति। वर्णात्मकं पदं भवति । तत्त्रिविधं—मध्यमपदमर्थपदं प्रमाणपदं चेति । तत्र मध्यमपदेनाङ्गपूर्वाणां पदविभागः क्रियते । तस्यैकपदस्य वर्णसङ्ख्या षोडशशतानि चतुस्त्रिंशत्कोटयस्त्र्यशीतिलक्षाणि सप्तसहस्राष्टाशीत्यधिकाष्टशतानि च (१६३४८३०७८८८) । सकलाङ्गप्रविष्टश्रुतपदसङ्ख्या कोटीशतमेकं द्वादशकोटयस्त्र्यशीतिलक्षाण्यष्टपञ्चाशत्सहस्राणि पञ्चोत्तराणि (११२८३५८००५) । सकलाङ्गप्रविष्टश्रुतपदानां समुदितसर्ववर्णसङ्ख्या कोटीकोटीनामेकलक्षं चतुरशीतिसहस्रोपेतं सप्तषष्ट्यधिकचतुःशतान्वितं च तथा कोटीनां चतुश्चत्वारिंशल्लक्षाणि सप्तत्यधिकत्रि सप्ततिशतोपेतानि पञ्चनवतिलक्षाण्येकपञ्चाशत्सहस्राणि पञ्चदशोपेतानि षट्शतानि (१८४४६७४४०७३७०९५५१६१५) । अर्थपदं पुनरनियतवर्णात्मकं किमप्येकाक्षरं किमपि द्व्यक्षरमपरं त्र्यक्षरादि च सर्वत्र व्यवह्रियते । प्रमाणपदं त्वष्टाक्षरम् । तेनाङ्गबाह्यश्रुतं विरच्यते । अङ्गबाह्यश्रुतवर्णैरेकमपि पदं न पूर्यते । तद्वर्ण-

---

उत्कालिक कहलाते हैं । रूढ़ अंग प्रविष्ट बारह भेदवाला है । इसीको बताते हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृकथा, उपासकाध्ययन अन्तकृत् दशा, अनुत्तरोपपादिक दशा, प्रश्न व्याकरण, विपाक सूत्र और दृष्टिवाद, चौदह पूर्वादिका इन्हीं में [दृष्टिवाद में] अन्तर्भाव होता है । अब यहां पर सामान्य से श्रुत में जो चौसठ वर्ण हैं उनका विवरण करते हैं । वह इसप्रकार है—'अवर्ण, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से तीन प्रकार का है, इसीप्रकार इवर्ण, उवर्ण, ऋवर्ण, लृवर्ण, एकार ऐकार, ओकार और औकार तीन तीन प्रकार के हैं, कुल मिलाकर ये स्वर सत्तावीस हो जाते हैं । तथा अं अः ≍क ≍प ये चार योगवाह हैं । ककार से लेकर हकार पर्यंत तेत्तीस व्यंजन होते हैं । ये सब मिलकर चौसठ वर्ण हो जाते हैं । विशेष रूप से ये ही द्विसंयोगज त्रिसंयोगज चतुःसंयोगज आदि भेद से संख्यात विकल्प रूप बन जाते हैं । वर्णात्मक पद होता है इसके तीन प्रकार हैं मध्यमपद, अर्थपद और प्रमाणपद । इनमें से मध्यम नाम के पद द्वारा अंग और पूर्व श्रुत के पदों का विभाग होता है, इस मध्यम पद की वर्ण संख्या सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी १६३४८३०७८८८ है । संपूर्ण अंग प्रविष्ट श्रुतों के पदों की संख्या एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पांच ११२८३५८००५ है । सकल अंग

सङ्ख्या कोटयष्टकमेकं च लक्षमष्टौ सहस्राणि शतं चैकं पञ्चसप्तत्यधिकं (८०१०८१७५)। तस्य च द्रव्यार्थार्पणया कृतकत्वाभावादनाद्यनिधनत्वम्। पर्यायार्थार्पणया पुनरनुवादद्वारेण कृतकत्वसम्भवात्सादिसनिधनत्वं चास्ति। श्रुतस्य हि त्रयः कर्तारो भवन्ति—मूलकर्ता उत्तरकर्ता उत्तरोत्तरकर्ता चेति। तत्रार्थतो मूलकर्ता सर्वज्ञवीतरागो भगवानर्हंस्तीर्थंकर इतरो वा केवली। ग्रन्थतस्तूत्तरकर्ता वीतरागोऽतिशयज्ञानर्द्धिसम्पन्नो गणधरदेवः। उत्तरोत्तरकर्ता पुनरारातीयतच्छिष्यप्रशिष्यादिः। तत्सर्वं प्रमाणं निर्दोषज्ञानिप्रकाशितत्वात्प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वाच्च प्रमाणान्तरवदिति। परोक्ष प्रमाणात्मके मतिश्रुतज्ञाने निरूप्येदानीं प्रत्यक्षस्यावधेः कारणलक्षणस्वामिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

प्रविष्ट के पदों की वर्ण संख्या एक लाख कोडाकोडी, चौरासी हजार चार सौ सड़सठ करोड़, चवालीस लाख सात सौ सैंतीस, पंचानवे लाख इकावन हजार छह सौ पंद्रह १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ है। अर्थ पद जो होता है वह अनियत वर्ण वाला होता है, कोई अर्थ पद एक अक्षर वाला, कोई दो अक्षर वाला और कोई तीन अक्षर वाला आदि होता है ऐसा जानना चाहिये। प्रमाणपद आठ अक्षर वाला होता है, उससे अंग बाह्य श्रुत रचा जाता है।

अंगबाह्य श्रुत के वर्णों की संख्या से एक पद [मध्यम पद] भी नहीं बन पाता। इस अंग बाह्य श्रुत में तो आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर ही वर्ण होते हैं [८०१०८१७५] यह संपूर्ण ही श्रुत द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से रचित नहीं होने से अनादि निधन है। पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से अनुवाद द्वार से रचित–कृतक होने से सादि सान्त भी है। श्रुत के कर्त्ता तीन हैं—मूलकर्त्ता, उत्तर-कर्त्ता और उत्तरोत्तर कर्त्ता। उनमें अर्थ की अपेक्षा मूलकर्त्ता सर्वज्ञ वीतराग भगवान् अर्हन्त तीर्थंकर देव या सामान्य केवली भगवान हैं। ग्रन्थ की अपेक्षा उत्तरकर्त्ता वीतराग अतिशय ज्ञान और ऋद्धियों से समन्वित गणधरदेव हैं। उत्तरोत्तर कर्त्ता आरातीय उनके शिष्य प्रशिष्यादि हैं। ये सर्व ही श्रुत प्रमाणभूत हैं, क्योंकि निर्दोष ज्ञानी द्वारा प्रकाशित हैं, तथा ये प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा बाधित भी नहीं हैं जैसे अन्य प्रमाण बाधित नहीं हैं।

परोक्ष प्रमाण रूप मति श्रुत ज्ञानों का निरूपण करके अब प्रत्यक्ष प्रमाण भूत अवधिज्ञान के कारण, लक्षण, स्वामी और स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

भवप्रत्ययोवधिर्देवनारकाणाम् ॥ २१ ॥

आयुर्नामकर्मोदयनिमित्तो जीवस्योत्पद्यमानः पर्यायो भव इत्युच्यते । प्रत्ययः कारणं निमित्तं हेतुरित्यनर्थान्तरम् । भवः प्रत्ययो यस्यावधेरसौ भवप्रत्ययो भवकारणक इत्यर्थः । अवधिज्ञानावरण-क्षयोपशमे सत्यधोगतप्रचुरपुद्गलद्रव्यं धीयते व्यवस्थाप्यतेऽनेनेत्यवधिः । देवनारका वक्ष्यमाणलक्षणाः ।

सूत्रार्थ—भव के निमित्त से होने वाला अवधिज्ञान देव और नारकी जीवों के होता है । आयु कर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न होने वाली जीव की पर्याय को 'भव' कहते हैं । प्रत्यय, कारण, निमित्त और हेतु ये एकार्थ वाचक शब्द हैं । भव है निमित्त जिसमें उस अवधि को भव प्रत्यय कहते हैं । अवधि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोप-शम होने पर जो अधोगत–नीचे के पुद्गल द्रव्य को प्रचुरता से जानता है [देवों की अपेक्षा] वह अवधिज्ञान है । देव और नारकी का लक्षण आगे कहेंगे । उन देव और नारकी के भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है ऐसा सम्बन्ध करना । उन देव और नारकी के भव का आश्रय लेकर अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है अतः भव ही प्रधान कारण है, उन जीवों के व्रत नियम आदि का अभाव है तो भी उक्त कारण से अवधिज्ञान प्रगट होता है विशेष यह होता है कि सम्यग्दृष्टि के अवधिज्ञान होता है और मिथ्यादृष्टि के विभंगज्ञान होता है, यद्यपि इन जीवों के भवरूप कारण समान है तो भी क्षयोपशम का किसी के प्रकर्ष और किसी के अप्रकर्ष होने से अवधि और विभंग ज्ञान में प्रकर्ष अपकर्ष देखा जाता है, वह प्रकर्ष और अप्रकर्ष किन जीवों में कितना है यह बात आगम से जाननी चाहिये ।

विशेषार्थ—देव और नारकी के भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है उनमें किन देवादि के कितना क्षयोपशम वाला अवधिज्ञान होता है इसको कहते हैं, देवगति में भवनवासी और व्यन्तरों के अवधि का क्षेत्र जघन्य से पच्चीस योजन और काल कुछ कम एक दिन है । ज्योतिषी देवों के अवधि का क्षेत्र इससे संख्यात गुणा और काल इससे बहुत अधिक है । असुरकुमारों के अवधि का क्षेत्र उत्कृष्टता से असंख्यात कोटी योजन है । असुरों को छोड़कर बाकी के भवनवासी देव व्यन्तर तथा ज्योतिषी देव इन सभी का उत्कृष्ट क्षेत्र असंख्यात हजार योजन है । असुरों में अवधि का उत्कृष्ट काल प्रमाण असंख्यात वर्ष है और नौ प्रकार के भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी

तेषां भवप्रत्ययोऽवधिर्जायत इति सम्बन्धः। देवनारकाणां भवमाश्रित्य क्षयोपशमो जायत इति कृत्वा भव एव प्रधानं कारणं व्रतनियमाद्यभावेऽपि सम्यग्दृष्टीनामवधेर्मिथ्यादृष्टीनां तु विभङ्गस्येति। भवस्य साधारणत्वेऽपि क्षयोपशमप्रकर्षाप्रकर्षवृत्तेरवधिविभङ्गयोरपि प्रकर्षाप्रकर्षवृत्तिरागमतो ज्ञेया। मनुष्यतिरश्चां किंनिमित्तः कतिप्रकारश्च सोऽवधिर्भवतीत्याह—

क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पश्शेषाणाम् ॥ २२ ॥

अवधिज्ञानावरणस्य देशघातिस्पर्धकानामुदये सति सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभाव एव क्षयो विवक्षितस्तेषामेवानुदयप्राप्तानां सदवस्था उपशमस्तौ निमित्तं कारणं यस्य न भव इत्यसौ क्षयोपशम-

---

इनके अवधि के उत्कृष्ट काल का प्रमाण असुरों के अवधि काल से संख्यातवें भाग मात्र है। भवनत्रिक देवों का नीचे का क्षेत्र कम है तिर्यग् रूप से अधिक है। सौधर्म ईशान स्वर्गस्थ देव प्रथम नरक तक अवधि द्वारा जानते हैं। सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के देव दूसरे नरक तक ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ स्वर्ग के देव तीसरे नरक तक शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार स्वर्ग के देव चौथे नरक तक, आनत, प्राणत, आरण अच्युत स्वर्ग के देव पांचवें नरक तक, ग्रैवेयक वासी देव छट्ठे नरक तक, नव अनुदिश तथा पंच अनुत्तर वासी देव संपूर्ण लोकनाली को अवधि द्वारा जानते हैं। काल की अपेक्षा सौधर्म ईशान स्वर्ग के देव असंख्यात कोटी वर्ष की बात जानते हैं, सनत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के देवों की अवधि यथायोग्य पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल को जानती है, इसके आगे लांतव स्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त के देव काल की अपेक्षा कुछ कम पल्य प्रमाण काल की बात जानते हैं। नरक में नारकी जीवों का अवधिज्ञान प्रथम नरक में एक योजन प्रमाण क्षेत्र को जानता है, दूसरे नरक में साढ़े तीन कोस, तीसरे में तीन कोस, चौथे में ढाई कोस पांचवें में दो कोस छट्ठे में डेढ़ कोस और सातवें में एक कोस प्रमाण क्षेत्र को अवधिज्ञान से जानता है। इसप्रकार देव और नारकी का अवधिज्ञान हीनाधिक रूप होता है।

मनुष्य और तिर्यञ्चों का अवधिज्ञान किस निमित्त से होता है, कितने प्रकार का है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—शेष मनुष्य और तिर्यञ्च के अवधिज्ञान क्षयोपशम के निमित्त से होता है और उसके छह भेद हैं। अवधि ज्ञानावरण कर्म के देशघाती स्पर्धकों के उदय में आने पर तथा सर्वघाती स्पर्धकों के वर्त्तमान निषेकों के उदय का अभाव होना रूप

निमित्तः । षड्विकल्पा भेदा यस्यासौ षड्विकल्पः । उक्तेभ्यो देवनारकेभ्योऽन्ये शेषा मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च । तेषां शेषाणां संज्ञिपर्याप्तकानां सम्यग्दर्शनादिनिमित्तसन्निधाने सति शान्तक्षीणकर्मणां षड्भेदोऽवधिर्जायत इति समुदायार्थः । स कुतः षड्विकल्प उक्त इति चेत्—अनुगाम्यननुगामिवर्द्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात् । तत्र भास्करप्रकाशवद्देशान्तरं गच्छन्तमनुगच्छति विशुद्धिपरिणामवशात्सोवधिरनुगामी । यस्तु विशुद्धेरननुगमनात्र गच्छन्तमनुगच्छति किं तर्हि तत्रैव निपतति, शून्यहृदयपुरुषादिष्टप्रश्नवचनवत्, सोऽननुगामी । सम्यग्दर्शनादिगुणविशुद्धिप्रकर्षाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो योऽवधिर्वर्धते आअसङ्ख्येयलोकेभ्यः स वर्धमानो यथोपचीयमानेन्धनसमिद्धपावकः । सम्यग्दर्शनादिगुणहानिसंक्लेशवृद्धियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो यो हीयते आअंगुलासङ्ख्येयभागात्स हीयमानोऽवधिर्यथाऽपकृष्यमाणेन्धनाग्निशिखा । यस्तु सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परि-

---

क्षय से तथा जो सर्वघाती स्पर्धक अनुदय रूप [उदयावली के बाहर स्थित] हैं उनका सदवस्थारूप उपशम होना ये दोनों कारण जिस अवधिज्ञान में पड़ते हैं भव कारण नहीं पड़ता वह क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान कहलाता है, इसके छह भेद हैं । कहे गये देव नारकी से जो शेष मनुष्य और तिर्यञ्च हैं उन जीवों के यह ज्ञान होता है । संज्ञी पर्याप्तक ऐसे इन शेष मनुष्य तिर्यंचों के जिनके कि अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम हुआ है उनके यह छह भेदवाला अवधिज्ञान होता है ऐसा समुदायार्थ है । छह भेद कौनसे हैं, ऐसा प्रश्न होने पर बतलाते हैं, अनुगामी, अननुगामी, वर्द्धमान हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित । इनमें से जो अवधिज्ञान परिणाम की विशुद्धि से सूर्य के प्रकाश के समान देशान्तर में जाने वाले के साथ जाता है वह अनुगामी है। विशुद्धि के नहीं होने से जो देशान्तर में साथ नहीं जाता, वहीं रह जाता है जैसे शून्य हृदय वाले पुरुष का किया गया प्रश्न वहीं समाप्त होता है अर्थात् उस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता ऐसी अवधि अननुगामी है । सम्यग्दर्शन आदि गुणों के वृद्धिगत होने से जो अवधिज्ञान जितने प्रमाण में उत्पन्न हुआ था उससे असंख्यात लोक प्रमाण तक बढ़ता जाता है, जैसे इंधन के बढ़ते रहने से अग्नि बढ़ती जाती है । ऐसे अवधि को वर्द्धमान अवधि कहते हैं । सम्यग्दर्शनादि गुणों की हानि और संक्लेश की वृद्धि होने से जितने प्रमाण उत्पन्न हुई थी उससे अंगुल के असंख्यातवें भाग तक घटते जाना जैसे इंधन के घट जाने से अग्नि घटती जाती है ऐसी अवधि हीयमान कहलाती है । सम्यग्दर्शनादि गुणों के अवस्थित रहने से जो अवधि जितने प्रमाण में उत्पन्न हुई थी उतनी ही बनी रहना, न घटती है न बढ़ती है, जैसे लिंग घटता बढ़ता नहीं, ऐसे

माण एवावतिष्ठते न वर्धते नापि हीयते लिङ्गवत्, आभवक्षयादाकेवलज्ञानोत्पत्तेर्वा सोऽवस्थितोऽवधिः। यः पुनः सम्यग्दर्शनादिगुणवृद्धिहानियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते यावदनेन वर्धितव्यम्। हीयते च यावदनेन हातव्यं वायुवेगप्रेरितजलोर्मिवत्सोऽनवस्थितोऽवधिः। एवमयं षड्विकल्पो भवति। इदानीं मनःपर्ययस्य भेदलक्षणव्याख्यानार्थमाह—

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥ २३ ॥

निर्वर्तिता प्रगुणा च या मतिः सा ऋज्वीत्युच्यते। कुत इति चेत् निर्वर्तितप्रगुणवाक्कायमनःस्मृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानात्। ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयमृजुमतिः। अनिर्वर्तिता कुटिला च या मतिः सा विपुलेत्युच्यते। कस्मात्? अनिर्वर्तितकुटिलवाक्कायमनःस्मृतार्थस्य परकीयमनोगतस्यावबोधनात्। विपुला मतिर्यस्य सोऽयं विपुलमतिः। ऋजुमतिश्च विपुलमतिश्च ऋजुविपुलमती। उक्तार्थत्वादेकस्य मतिशब्दस्य लोपः। अथवा ऋज्वी च विपुला च ऋजुविपुले। ते मती ययोस्तौ ऋजुविपुलमती इति विग्रहः कार्यः। अनेन भेदकथनं कृतम्। मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमवशात्परकीयमनःसम्बन्धेनोपजायमान उपयोगविशेषो मनःपर्ययः। अनेन तु लक्षणमुक्तं, मत्यादिज्ञानानामपि

अवधिज्ञान को अवस्थित कहते हैं। सम्यग्दर्शनादि गुणों में कभी हानि और कभी वृद्धि होने से जितने प्रमाण में जो अवधि उत्पन्न हुई है उससे हानि और वृद्धि दोनों रूप होते रहना अर्थात् जितना बढ़ना चाहिये वहां तक बढ़ते रहना और जितना घटना चाहिये उतना घटना जैसे वायु के वेग से प्रेरित जल की तरंगे होती हैं ऐसे अवधि को अनवस्थित कहते हैं। इसतरह अवधिज्ञान के छह भेद होते हैं।

अब इस समय मनःपर्यय ज्ञान के भेद और लक्षण के व्याख्यान के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—ऋजुमति और विपुलमति ऐसे मनःपर्यय ज्ञान के दो भेद हैं। निर्वर्तित और सरल रूप जो मति है वह ऋजु कहलाती है क्योंकि सरल रूप से चिन्तित वचन, काय और मन द्वारा स्मृत ऐसे पर के मन में स्थित पदार्थ को जानती है, ऋजु है मति जिसकी वह ऋजुमति कहलाती है। अनिर्वर्तित और कुटिल रूप जो मति हो वह विपुल है, क्योंकि कुटिल रूप से चिन्तित मन वचन काय द्वारा स्मृत ऐसे परकीय मन में स्थित पदार्थ को जानती है, विपुल है मति जिसकी वह विपुल मति कहलाती है। ऋजुमति और विपुलमति पदों का द्वन्द्व समास कर एक मति शब्द का उक्तार्थ होने से लोप करना अथवा पहले ऋजु और बिपुल इन दो पदों का द्वन्द्व

व्युत्पत्तिद्वारेणैव लक्षणस्य प्रतिपादनात् । स एवंविधो मनःपर्यय ऋजुमतिर्विपुलमतिश्चेति द्विभेदो भवति । तत्र ऋजुमतिः कालतो जघन्येन परेषामात्मनश्च द्वित्रीणि भवग्रहणानि । उत्कर्षेण सप्ताष्ट वा तानि गत्यागत्यादिभिर्जानाति । क्षेत्रतो जघन्येन गव्यूतिपृथक्त्वम् । उत्कर्षेण योजनपृथक्त्वस्याभ्यन्तरं जानाति न बहिः । विपुलमतिः कालतो जघन्येन सप्ताष्टानि भवग्रहणानि । उत्कर्षेणासङ्ख्येयानि गत्यागत्यादिभिः प्ररूपयति । क्षेत्रतो जघन्येन योजनपृथक्त्वम् । उत्कर्षेण मानुषोत्तरशैलस्याभ्यन्तरं प्ररूपयति न बहिः । त्रयाणामुपरि नवानामधो मध्यसङ्ख्यायाः पृथक्त्वमित्यागमसंज्ञा । ऋजुमतिविपुलमत्योः पुनरपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थ माह—

विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥

स्वावरणक्षयोपशमनिमित्तो जीवस्य प्रसत्तिः प्रसादो नैर्मल्यं विशुद्धिः । अप्रच्यवनमप्रति-

---

समास करके बहुव्रीहि समास द्वारा मति शब्द जोड़ना चाहिये, यह सूत्रोक्त ऋजु विपुलमती पद का विग्रह है । इसतरह मनःपर्यय के दो भेदों का कथन किया । मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से परकीय मन के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए उपयोग विशेष को मनःपर्यय कहते हैं । यह लक्षण का कथन हुआ । मति आदि ज्ञानों का भी व्युत्पत्ति रूप से ही लक्षण कहा था । इसप्रकार यह मनःपर्यय ज्ञान ऋजुमति और विपुलमति दो प्रकार का जानना चाहिये । उनमें ऋजुमति काल की अपेक्षा जघन्य से अपने और पर के दो तीन भव जानता है । उत्कृष्ट से सात आठ भव गति आगति द्वारा जानता है । क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से कोस पृथक्त्व [सात आठ कोस] और उत्कृष्ट से योजन पृथक्त्व क्षेत्र को जानता है । विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान जघन्य से काल की अपेक्षा सात आठ भव और उत्कृष्ट से असंख्यात भव गति आगति द्वारा जानता है । क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य से योजन पृथक्त्व और उत्कृष्ट से मानुषोत्तर पर्वत के अभ्यन्तर को जानता है, इसके बाहर के क्षेत्र को नहीं जानता । तीन के ऊपर और नौ के नीचे ऐसी बीच की संख्या को आगम में पृथक्त्व कहते हैं ।

ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान में होनेवाली विशेषता को बतलाने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानों में भेद है ।

पतनमप्रतिपातः । तयो ऋजुमतिविपुलमत्योर्मनःपर्यययोः परस्परं भेदो विशेषस्तद्विशेषः । विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तयोर्विशेषो ज्ञेय इति सम्बन्धः । तत्र विशुद्धया तावदृजुमतेः सकाशाद्विपुलमतिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विशुद्धतरः । तद्यथा—द्रव्यतस्तावद्यः कार्मणद्रव्यानन्तभागोऽन्त्यः सर्वावधेः सूक्ष्मत्वेन विषयोऽनन्तानन्तपरमाण्वात्मकः पुद्गलस्कन्ध उक्तस्तस्य पुनरनन्तभागीकृतस्याऽन्त्यो भाग ऋजुमतेर्विषयः । तस्यापि ऋजुमतिविषयस्यानन्तभागीकृतस्यान्त्यो भागो विपुलमतेर्विषयोऽनन्तस्यानन्तभेदत्वात् सङ्ख्येयासङ्ख्येययोः सङ्ख्येयासङ्ख्येयभेदवत् । सोपि स्कन्धो न परमाणुः । क्षेत्रकालौ पूर्वमेवोक्तौ । भावतो विशुद्धिः सूक्ष्मतरद्रव्यविषयत्वादेव वेदितव्या प्रकृष्टक्षयोपशमसम्बन्धात् । अप्रतिपातेनापि विपुलमतिर्विशिष्टस्तत्स्वामिनां वर्धमानचारित्रोदयत्वे सति प्रच्यवनाभावात् । ऋजुमतिस्तु प्रतिपाती

अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से जीव में जो प्रसन्नता निर्मलता होती है वह विशुद्धि कहलाती है । नहीं छूटने को अप्रतिपात कहते हैं । इनकी अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानों में परस्पर में भेद विशेष पाया जाता है । विशुद्धि और अप्रतिपात द्वारा उनमें विशेष जानना चाहिये ऐसा वाक्य संबंध है । ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों से विशुद्धतर है [अधिक विशुद्ध है] इसी का खुलासा करते हैं सर्वावधि ज्ञान का विषय द्रव्य की अपेक्षा कार्मण द्रव्य के अनंत करने पर जो अन्तिम भाग आता है जो कि अनंतानंत परमाणुओं का पुद्गल स्कन्ध है उतना कहा गया है, उस स्कन्ध के पुनः अनंत भाग करने पर जो अन्तिम भाग आवेगा वह ऋजुमति का द्रव्य की अपेक्षा विषय है, उस ऋजुमति के विषय के पुनः अनन्त बार भाग देने पर जो अन्तिम भाग आयेगा वह विपुलमति का द्रव्य की अपेक्षा विषय है, क्योंकि अनन्त के अनन्त भेद होते है, जैसे कि संख्यात के संख्यात भेद और असंख्यात के असंख्यात भेद होते हैं । यह जो विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान का विषय आया है वह भी स्कन्ध रूप है, परमाणु रूप नहीं है । इन मनःपर्यय ज्ञानों का क्षेत्र और काल प्रमाण पहले [२३ सूत्र में] कह दिया है । ऋजुमति और विपुलमति की भाव की अपेक्षा विशुद्धि तो यह है कि वे दोनों ज्ञान सूक्ष्म और सूक्ष्मतर द्रव्य को विषय करते हैं अर्थात् ऋजुमति का जो द्रव्य है उससे भी सूक्ष्म द्रव्य विपुलमति मनःपर्यय का है अतः ऋजुमति से विपुलमति भाव की अपेक्षा विशुद्धतर [अधिक विशुद्ध] है । विपुलमति अप्रतिपात की अपेक्षा भी विशिष्ट है, क्योंकि विपुलमति के स्वामी प्रवर्द्धमान चारित्र वाले होते हैं उनके च्युत होने का अभाव है ।

तत्स्वामिनां कषायोद्रेके हीयमानचारित्रोदयत्वात् । तर्ह्यवधिमनःपर्यययोः कुतो विशेष इत्याह—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ॥ २५ ॥

विशुद्धिः प्रसाद उक्तः । क्षेत्रं ग्राह्यपदार्थाधारः । स्वामी प्रयोजकः । विषयो ज्ञेयपदार्थः । एतेभ्योऽवधिमनःपर्यययोरन्योन्यतो भेदो विज्ञेयः तत्रावधेः सकाशान्मनःपर्ययः सूक्ष्मतरविषयत्वादेव विशुद्धतर उक्तः । क्षेत्रं चोक्तम् । विषयस्तु वक्ष्यमाणः । स्वामित्वं कथ्यते—प्रमत्तादिक्षीणकषायान्तेषु यतिषु प्रवर्धमानचारित्रेष्वेव सप्तविधान्यतमर्द्धि प्राप्तेष्वेव केषु चिन्मनःपर्ययो जायते न सर्वेष्वित्यस्य

किन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है, क्योंकि उसके स्वामी कषाय का उद्रेक होने पर हीयमान चारित्र वाले हो जाते हैं ।

ऋजुमति और विपुलमति में परस्पर में होने वाली विशेषता इसप्रकार है तो अवधि और मनःपर्यय में किस अपेक्षा विशेषता है ऐसा पूछने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयों की अपेक्षा अवधि और मनःपर्यय ज्ञानों में विशेषता है । प्रसाद को विशुद्धि कहते हैं ऐसा पूर्व सूत्र में कह दिया है । ज्ञान द्वारा ग्राह्य–जानने योग्य पदार्थों के आधार को क्षेत्र कहते हैं । जो इन ज्ञानों का प्रयोग करता है अर्थात् जिनके ये ज्ञान होते हैं उन्हें स्वामी कहते हैं । ज्ञेय पदार्थ विषय कहलाता है, इनसे अवधि और मनः पर्यय में परस्पर में भेद है । इसीको कहते हैं—अवधि से मनःपर्यय सूक्ष्म विषयवाला होने से विशुद्धतर है, इनका क्षेत्र कह दिया है ।

विशेषार्थ—मनः पर्ययज्ञान का क्षेत्र जघन्य से कोस पृथक्त्व और उत्कृष्ट से मानुषोत्तर पर्वत तक बता ही दिया है । देव और नारकी की अपेक्षा क्षेत्र का वर्णन– "भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां" इस सूत्र के विशेषार्थ में किया जा चुका है । तिर्यञ्च और मनुष्य के अवधि का क्षेत्र बतलाते हैं—तिर्यञ्च के अवधि का जघन्य क्षेत्र घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है और उत्कृष्ट लोक के संख्यातवें [असंख्यातवें भाग] प्रमाण है । मनुष्य के देशावधि परमावधि और सर्वावधि तीनों अवधिज्ञान होते हैं [परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी महामुनि के ही होता है] देव नारकी और तिर्यञ्च के तो केवल देशावधि होता है । मनुष्य के अवधिज्ञान का क्षेत्र जघन्य से घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है और उत्कृष्ट से [सर्वावधि की

स्वामिविशेषोऽस्ति । अवधिस्तु सम्यग्दृष्टिषु चातुर्गतिकेष्वपि जायते । इदानीं केवलज्ञानं प्राप्तावसरमपि नेह ज्ञानाधिकारे उक्तं—तस्यसाक्षान्मोक्षं प्रति प्रधानकारणत्वेन मोक्षाधिकारे वक्ष्यमाणत्वात् । तदुल्लङ्घ्य सर्वज्ञानानां विषयसम्बन्धविप्रतिपत्तौ सत्यां तावदाद्यज्ञानयोस्तन्निराकरणार्थमाह—

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।। २६ ।।

मतिश्रुते उक्तलक्षणे । निबन्धनं निबन्धः—सम्बन्ध इत्यर्थः । अत्र निबन्धशब्दसामर्थ्यात्पूर्वसूत्राद्विषयशब्दोऽनुवर्तते । तस्य चार्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति कृत्वा विषयस्य विषयेष्विति वा षष्ठ्यन्तता सप्तम्यन्तता वा भवति । द्रव्यपर्याया वक्ष्यमाणलक्षणाः । न सर्वे पर्याया विषयत्वेन सन्ति येषां द्रव्याणां तान्यसर्वपर्यायाणि तेषु द्रव्येष्वित्यत्र बहुवचननिर्देशो जीवादिसर्वद्रव्यसंग्रहार्थः । ततोऽय-

---

अपेक्षा] असंख्यात लोक प्रमाण है । अवधि और मनःपर्यय का विषय आगे कह रहे हैं । स्वामित्व को बतलाते हैं—प्रमत्त संयत नामा छठे गुणस्थान से लेकर क्षीणपर्यन्त के गुणस्थान के मुनियों के मनःपर्यय ज्ञान होता है उनमें भी सबके नहीं होता प्रवर्द्धमान चारित्र वाले के होता है इनमें भी जो मुनिराज सात ऋद्धियों में से अन्यतम ऋद्धि वाले के ही होता है, ऋद्धि प्राप्त में किसी किसी के होता है सबके नहीं, इसतरह मनःपर्यय के स्वामी कहे । अवधिज्ञान चारों गतियों वाले सम्यग्दृष्टियों के होता है, इसतरह अवधिज्ञान के स्वामी जानना चाहिये ।

इस समय केवलज्ञान के कथन का अवसर है तो भी यहां ज्ञानाधिकार में नहीं कहते हैं । केवलज्ञान मोक्ष का साक्षात् रूप प्रधान कारण है अतः आगे [दसवें अध्याय में] मोक्षाधिकार में कहेंगे । केवलज्ञान का वर्णन छोड़कर सभी ज्ञानों के विषय सम्बन्धि विवाद होने पर उसको दूर करने के लिये आदि के दो ज्ञानों का विषय क्या है यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय संबंध सभी द्रव्यों की कतिपय पर्याय स्वरूप है । मति और श्रुत का लक्षण कह चुके हैं । सम्बन्ध को निबन्ध कहते हैं, इस सूत्र के निबन्ध शब्द की सामर्थ्य से पूर्व सूत्र के विषय शब्द का अनुवर्त्तन करते हैं । वहां के विषय शब्द के विभक्ति का परिणमन अर्थवश से हो जाता है, अतः उस विषय शब्द की "विषयस्य विषयेषु वा" इसप्रकार षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है । द्रव्य और पर्यायों का लक्षण आगे कहेंगे । जिन द्रव्यों की सभी पर्यायें

मर्थः—जीवादिद्रव्येष्वखिलेषु यथासम्भवं कतिपयपर्यायविशिष्टेषु मतेरिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्ताया मूर्तेषु विषयनिबन्धो भवति। अमूर्तेषु पुनरनिन्द्रियनिमित्ताया मतेर्विषयसम्बन्धः स्यात्। श्रुतस्य च मूर्ताऽमूर्तेषु स विज्ञेयः। अवधेः केषु विषयनिबन्ध इत्याह—

रूपिष्ववधेः ॥ २७ ॥

रूपिणः पुद्गला इति वक्ष्यति। तत्सम्बन्धत्वाज्जीवाश्च कथंचिद्रूपिण इति गृह्यन्ते। असर्वपर्यायेष्विति च वर्तते। ततस्तेषु कतिपयपर्याययुक्तेष्ववधेर्विषयनिबन्धनं वेदितव्यम्। मनःपर्ययस्य क्व विषयनिबन्ध इत्यावेदयति।

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ॥ २८ ॥

तच्छब्देन सर्वावधिविषयस्य सम्प्रत्ययः स च कर्मद्रव्यस्यानन्तभागीकृतस्यान्त्यो भागो महा-

---

विषय रूप नहीं हैं उनको असर्वपर्याय कहते हैं, उन असर्व पर्याय वाले द्रव्यों में "द्रव्येषु असर्व पर्यायेषु" ऐसा बहुवचन का प्रयोग जीवादि सर्व द्रव्यों के संग्रह के लिये किया है, इससे यह अर्थ निकलता है कि जीवादि सभी द्रव्यों की कतिपय पर्यायों में इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से होने वाला मतिज्ञान प्रवृत्त होता है, मूर्त्तिक द्रव्य पर्यायों में तो इन्द्रिय अनिन्द्रियज मतिज्ञान प्रवृत्त होता है और अमूर्त्त द्रव्य पर्यायों में अनिन्द्रियज मतिज्ञान का विषय है। श्रुतज्ञान का विषय मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्य पर्याय है।

अब अवधि का विषय निबन्ध किनमें है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य पर्यायों में है। "रूपिणः पुद्गलाः" ऐसा आगे सूत्र कहेंगे, उस पुद्गल द्रव्य को तथा उसके सम्बन्ध से जीव भी कथंचित् रूपी कहे जाते हैं इसतरह पुद्गल और पुद्गल से युक्त जीव इन दोनों को अवधिज्ञान ग्रहण करता है, "असर्वपर्यायेषु" इस पद का अनुवर्त्तन है अतः पुद्गल और पुद्गल से संबद्ध जीवों की कतिपय पर्यायों को अवधिज्ञान विषय करता है ऐसा जानना चाहिये।

मनःपर्यय ज्ञान का कहां विषय निबन्ध है इस बात को बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—उस अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में मनःपर्यय का विषय निबन्ध है।

स्कन्ध उक्तो न परमाणुस्तस्यैकप्रदेशत्वादविभागिनोऽनन्तभागीकरणासम्भवात्सूत्रमपीदमनुपपन्नं स्यात् । ततः स्थितमेतत्सर्वावधिविषयस्यानन्तभागीकृतस्यान्त्ये भागे मनःपर्ययस्य विषयसम्बन्ध इति । अथान्ते निर्दिष्टस्य केवलस्य केषु विषयनिबन्ध इति दर्शयति ।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।। २९ ।।

द्रव्याणि च पर्यायाश्च द्रव्यपर्यायाः । सर्वे च ते द्रव्यपर्यायाश्च सर्वद्रव्यपर्यायास्तेषु । सर्वेषु द्रव्येषु सर्वेषु पर्यायेषु तद्भेदप्रभेदेषु च सर्वेष्वनन्तानन्तेष्वप्यपरिमितमाहात्म्यं केवलज्ञानं ग्राहकत्वेन

सूत्रोक्त तत् शब्द सर्वावधि के विषय का सूचक है उस सर्वावधि का विषय जो कर्म द्रव्य है उसके अनन्तबार भाग करने पर जो अन्तिम भाग महास्कन्ध है, जो कि परमाणु रूप नहीं है, क्योंकि परमाणु एक प्रदेशी होने से अविभागी है उसके अनन्तभाग करना असंभव है, और इससे यह सूत्र भी गलत सिद्ध होगा अर्थात् यदि सर्वावधि का विषय परमाणु मानते हैं तो उसके अनन्त भाग संभव नहीं है अतः अवधि के विषयभूत द्रव्य के अनन्तवें भाग में मनःपर्यय का विषय होता है ऐसा इस सूत्र का अर्थ सिद्ध नहीं होता, इसलिये सर्वावधि का विषय कर्मद्रव्य रूप बड़ा स्कन्ध लेना चाहिये और उसका अनन्तवाँ भाग प्रमाण मनःपर्यय का विषय है । इसप्रकार निश्चित हुआ कि सर्वावधि के विषय के अनन्त भागों में से अन्तिम भाग मनःपर्यय ज्ञान का विषय है ।

अब अन्त में कहे हुए केवलज्ञान का किनमें विषय निबन्ध है इसका कथन करते हैं—

सूत्रार्थ—संपूर्ण द्रव्य और उनकी संपूर्ण पर्यायों में केवलज्ञान का विषय निबन्ध होता है । "सर्वद्रव्यपर्यायेषु" इसमें प्रथम द्वन्द्व समास करके पुनः कर्मधारय समास किया गया है, सभी द्रव्य और उन द्रव्यों के भेद प्रभेद एवं उनकी सभी अनंतानन्त पर्यायें इन सबमें ही केवलज्ञान प्रवृत्त होता है, इसतरह अचिन्त्य अपरिमित माहात्म्य वाला यह केवलज्ञान है । इसतरह का विशिष्ट ज्ञान संभव नहीं है ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये देखिये ! इस केवलज्ञान की अनुमान से सिद्धि करते हैं—किसी पुरुष का ज्ञान उत्कृष्टता की चरम सीमा को प्राप्त होता है क्योंकि वह बढ़ते हुए परिमाण वाला है, जो परिमाण बढ़ता हुआ रहता है वह चरम सीमा तक बढ़ जाता है जैसे बढ़ता हुआ छोटा बड़ा माप आकाश में पूर्णरूप बढ़ जाता है अर्थात् आकाश

प्रवर्तते । न चैतदसम्भवीति वक्तव्यमनुमानतस्तत्सिद्धेः तथाहि—कस्यचिज्ज्ञानं प्रकर्षपर्यन्तमेति प्रकृष्य-माणत्वान्नभसि परिमाणवत्तदेवास्माकं केवलमित्यलं विस्तरेण । एकस्मिन्नात्मनि ज्ञानानि यौग-पद्येन कति सम्भवन्तीत्यावेदयति—

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।। ३० ।।

एकमद्वितीयमादिरवयवो येषां तान्येकादीनि ज्ञानानि । भाज्यानि योज्यानि । युगपदेककाले । एकस्मिन्नात्मनि चत्वार्यभिव्याप्येत्यर्थः तद्यथा—एकं तावत्क्वचिदात्मनि क्षायिकमसहायं च केवलज्ञानं सम्भवति तेन सह कर्मजक्षायोपशमिकान्यज्ञानानामसम्भवात् प्रकृष्टश्रुतरहितं मतिज्ञानं वा । क्वचिद्द्वे मतिश्रुते । क्वचित्त्रीणि मतिश्रुतावधिज्ञानानि । मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानानि वा । क्वचिच्चत्वारि

सर्वोत्कृष्ट परिमाण वाला है वैसे हम जैन का केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट प्रमाणवाला ज्ञान है, अब इस विषय में अधिक नहीं कहते हैं [पूर्ण केवलज्ञानी और सर्वज्ञ की सप्रमाण सिद्धि के लिये प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, अष्ट सहस्री श्लोकवार्तिक आदि न्याय ग्रन्थोंको अवलोकन करना चाहिये ।]

एक आत्मा में एक साथ कितने ज्ञान संभव हैं ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक आत्मा में एक साथ एक ज्ञान को लेकर चार ज्ञान तक ज्ञान होना संभव हैं । एक अद्वितीय को कहते हैं, आदि शब्द अवयववाची है, एक अवयव है जिनके वे एकादि ज्ञान कहलाते हैं इसतरह 'एकादीनि' पद का समास है । भाज्य अर्थात् योज्य युगपद् का अर्थ एक काल में है, एक आत्मा में चार ज्ञान अभिव्याप्त हैं यह अर्थ हुआ । इसीको बताते हैं—किसी आत्मा में (परमात्मा में) एक, क्षायिक, असहाय ऐसा स्वभाव वाला केवलज्ञान होता है । यह एक ही रहता है क्योंकि इस क्षायिक ज्ञान के साथ कर्मों के क्षयोपशम से होनेवाले अन्य मति आदि ज्ञान रहना असंभव है प्रकृष्ट श्रुत से रहित मतिज्ञान भी एक रहता है [किन्हीं जीवों के अत्यंत अल्प श्रुत रहता है उन जीवों के जो मतिज्ञान है श्रुत अल्प होने से नहीं के समान है इस दृष्टि से इन जीवों के एक मतिज्ञान है ऐसा कह सकते हैं] किन्हीं आत्मा में मति और श्रुत ये दो ज्ञान रहते हैं, किन्हीं जीवों में मति, श्रुत और अवधि ये तीन अथवा मति, श्रुत और मनःपर्यय ये तीन ज्ञान विद्यमान रहते हैं । किन्हीं आत्मा में

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानानि सन्ति । पञ्च पुनर्नैकस्मिन् यौगपद्येन सम्भवन्तीत्यर्थः । यथोक्तमतिश्रुतावधयः किं सम्यग्व्यपदेशमेव लभन्ते उतान्यथापीत्यत आह—

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥

मत्यादय उक्तलक्षणाः । विपर्ययो मिथ्येत्यर्थः । कुतः ? सम्यगधिकारात् । चशब्दोऽत्र समुच्चयार्थः । तत इमे मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च सम्यक्चेति समुदायार्थः कुतः पुनरेषां विपर्ययत्वम् ? मिथ्यादर्शनेन सहैकार्थसमवायात् सरजस्ककटुकालाबुगतदुग्धवत् । यथा कटुतुम्बके स्थितं क्षीरं रजसा सहचरितं मधुरमपि कटुकं जायते तथा मिथ्यादृष्टौ जीवे मिथ्यादर्शनेन सहचरितं ज्ञानं संशयविपर्ययानध्यवसायात्मकत्वेन मिथ्या भवति । सम्यक्त्वसहचरितं ज्ञानं सम्यग्भवति अपनीतरजस्कालाबु-

---

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ऐसे चार ज्ञान होते हैं । एक साथ एक जीव में पांच ज्ञान संभव नहीं हैं यह तात्पर्य है ।

ये कहे हुए मति, श्रुत और अवधिज्ञान सम्यग्संज्ञावाले ही होते हैं । अथवा अन्यथा = मिथ्या संज्ञावाले भी होते हैं ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपरीत भी हो जाते हैं मति आदि पूर्वोक्त लक्षण वाले ज्ञान हैं विपर्यय का अर्थ मिथ्या है, सम्यग्–समीचीन का अधिकार चल रहा है अतः उससे विपरीत जो है वह मिथ्या है ऐसा अर्थ होता है, सूत्र में च शब्द समुच्चय के लिये आया है, उससे ये मति, श्रुत और अवधिज्ञान विपरीत और समीचीन भी होते हैं ऐसा समुदायार्थ है ।

शंका—इन ज्ञानों में विपरीतपना किस कारण से आता है ?

समाधान—ये ज्ञान मिथ्यादर्शन के साथ एकार्थ समवाय स्वरूप होगये हैं अर्थात् आत्मा में मिथ्यात्व कर्म का उदय है उस उदय के साथ उसी जीव के मति आदि ज्ञान एकमेक हो रहे हैं अतः उनमें मिथ्यात्व के संपर्क से मिथ्यापना आ जाता है, जैसे सार युक्त कड़वी तुम्बड़ी में रखा हुआ दूध, अर्थात् जिसप्रकार कड़वी तुम्बी में स्थित दुग्ध उस तुम्बी के अन्दर के सार के संबंध से स्वयं मीठा होते हुए भी कड़वा बन जाता है, ठीक इसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव में मिथ्यात्व के साथ रहनेवाला ज्ञान संशय,

गतक्षीरस्य माधुर्यवत् । ननु सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योरर्थविलोकनादिके ग्रहणनिरूपणादिकमविशिष्टम् । तस्मात्कुतो मिथ्यादृष्टेरेव मत्यादिज्ञानानां वितथत्वं प्रतिपाद्यत इत्याह—

सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥

सर्वं वस्तु स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विद्यमानं सदित्युच्यते। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरविद्यमानमसदिति कथ्यते । सच्चासच्च सदसती । तयोः सदसतोः । अविशेषादविभागेनेत्यर्थः यदृच्छा स्वेच्छा यथेच्छेत्यनर्थान्तरम् । उपलब्धिरुपलम्भो ग्रहणं परिच्छित्तिरित्यर्थः । यदृच्छया उपलब्धिर्यदृच्छोपलब्धिः । तस्या यदृच्छोपलब्धेर्हेतोः उन्मत्तो दत्तूरकादिपानेन मत्त उच्यते । उन्मत्तस्येवोन्मत्तवत् । सदसतोरविशेषेण यथा यदृच्छोपलब्धिस्तस्या हेतोर्मिथ्यादृष्टेर्मत्यादिज्ञानविपर्ययो भवत्युन्मत्तस्यार्थ-

---

विपर्यय और अनध्यवसाय रूप से मिथ्या बन जाता है, और सम्यक्त्व के साथ रहने वाला ज्ञान समीचीन हो जाता है, जैसे कि अंदर का कड़वा कड़वा सार भाग जिसका निकाल दिया है ऐसी तुम्बी में रखा हुआ दुग्ध मधुर ही बना रहता है ।

शंका—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन दोनों प्रकार के जीवों के पदार्थों को देखने जानने आदि के होने पर उन पदार्थों का ग्रहण [धरना, उठाना, रखना आदि] निरूपण कथन आदि समान रूप से ही होते हैं अतः मिथ्यादृष्टि के ही मतिज्ञानादि को मिथ्यापन है ऐसा किस कारण से कहा है ?

समाधान—अब इसी बात को अग्रिम सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—सत् और असत् की अविशेषता से मनचाही उपलब्धि करने से उन्मत्त–पागल पुरुष के समान मिथ्यादृष्टि के ज्ञानों को मिथ्यापना आ जाता है । अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सभी वस्तु विद्यमान रहती है अतः स्वद्रव्यादि से वस्तु सत् है, परद्रव्य क्षेत्र काल भाव से अविद्यमान होने से उक्त वस्तु असत् है ऐसा कहा जाता है, सत् और असत् इनमें द्वन्द्व समास है । अविशेषात् पद का अर्थ विभाग नहीं होना । यदृच्छा, स्वेच्छा यथेच्छा ये शब्द एकार्थवाची हैं, उपलब्धि का अर्थ परिच्छित्ति या जानना है । "यदृच्छोपलब्धि" पद में तत्पुरुष समास है । धतूरा आदि को पीने से जो मत्त होता है उसे उन्मत्त कहते हैं मिथ्यात्व के कारण जो उस उन्मत्त के समान है सत् और असत् की विशेषता से रहित जो मनमानी उपलब्धि [जानना] है उस कारण से मिथ्यादृष्टि के मति आदि ज्ञानों में विपरीतपना आता है जैसे पागल

ज्ञानविपर्ययवदिति सम्बन्धः। यथा पित्तोद्रेकाकुलितचित्तत्वादुन्मत्तः कदाचित्सुवर्णं सुवर्णत्वेनोपलभते कदाचिदसुवर्णमपि सुवर्णत्वेनोपलभते कदाचिदसुवर्णत्वेनोपलभते यदृच्छयेति तस्य ज्ञानं मिथ्या भवति, तथा मिथ्यात्वकर्मोदयदूषितत्वान्मिथ्यादृष्टिरपि कदाचित्सत्सत्त्वेनोपलभते कदाचिदसत्त्वेनोपलभते कदाचित्पुनरसदसत्त्वेनोपलभते कदाचित्सत्त्वेनोपलभते यदृच्छयेति तस्य विपर्ययात्मकत्वान्मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति ज्ञानत्रितयमुच्यते। मनःपर्ययकेवलयोस्तु विपर्ययकारणस्य मिथ्यात्वस्याभावात्सम्यग्व्यपदेश एवेत्यलं प्रपञ्चेन। प्रमाणनयैरधिगम इत्युक्तम्। तत्र प्रमाणं व्याख्यातमिदानीं नयप्ररूपणं क्रियते—

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥ ३३ ॥

अनेन नयस्य साधारणलक्षणं संक्षेपतो विस्तरतश्च विभागं विशेषलक्षणं च सूत्रयति। श्रुताख्यप्रमाणपरिगृहीतवस्त्वेकदेशो नीयते गम्यते येन यस्मिन्यस्माद्वाऽसौ नयः। त नयतीति नयः।

के पदार्थ के ज्ञान में विपर्यय रहता है इसतरह वाक्य संबंध है। इसी का खुलासा करते हैं—जैसे पित्त के उद्रेक से आकुलित चित्त होने से पागल मनुष्य कदाचित् सुवर्ण को सुवर्णपने से जानता है, कभी असुवर्ण को भी सुवर्ण रूप से जानता—मानता है और कभी असुवर्ण को असुवर्ण भी कह देता है, वह तो मनचाहे रूप से ही जानता है, इसतरह उसका ज्ञान मिथ्या होता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व कर्म के उदय से दूषित होने के कारण मिथ्यादृष्टि जीव भी कभी सत् को सत् रूप से जानता है, कदाचित् सत् को असत् रूप से और कभी असत् को असत् रूप से एवं कभी असत् को सत् रूप से जानता है अपनी इच्छानुसार चाहे जैसा जानता है, उसके विपरीतता के कारण तीनों ज्ञान मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान स्वरूप हो जाते हैं। मनःपर्यय और केवलज्ञान में विपरीतता का कारण जो मिथ्यात्व है उसका अभाव होने से समीचीनता ही रहती है। अब इस विषय का अधिक कथन नहीं करते।

प्रमाण और नयों के द्वारा अधिगम होता है ऐसा कहा है इनमें जो प्रमाण है उसका वर्णन पूर्ण हुआ। अब इस समय नयों का कथन करते हैं—

सूत्रार्थ—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवंभूत ये सात नय हैं। इस सूत्र द्वारा नय का सामान्य लक्षण, संक्षेप से और विस्तार से विभाग तथा इनका विशेष लक्षण इन सबकी सूचना की गई है। श्रुत नाम के प्रमाण द्वारा ग्रहण

नीतिर्वा नयो ज्ञातुरभिप्राय उच्यते । अनेन सर्वनयानां सामान्यलक्षणमुक्तम् । ततो नैगमादयो नय-शब्देनोच्यन्ते । यथा सम्यग्ज्ञानशब्देन मत्यादीनीति । त एव नैगमादयो नयौ भवतः । श्रुतज्ञानपरिच्छिन्नवस्त्वंशाद्द्रव्यपर्यायौ नीयेते यकाभ्यां तौ नयाविति व्युत्पत्तेः । तौ च द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ । तत्र द्रव्यं सामान्यमभेद उत्सर्गोन्वय इत्यनर्थान्तरम् । तत्प्रयोजनो नयो द्रव्यार्थिकः । द्रव्यविषयो नयो द्रव्यार्थ इति वा । पर्यायो विशेषो भेदोऽपवादो व्यतिरेक इत्येकोऽर्थः । तत्प्रयोजनो नयः पर्यायार्थिकः पर्यायविषयः पर्यायार्थं इति वा । द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकाविति वा संज्ञाद्वयम् । द्रव्यमस्तीति मतिरस्येति द्रव्यास्तिकः, पर्यायोऽस्तीति मतिरस्येति पर्यायास्तिक इति व्युत्पत्तेः । अनेन संक्षेपतो नय-विभागः कृतः । ते नैगमादयो नया भवन्ति–द्रव्यपर्यायभेदा यथास्वं नीयन्ते यकैस्ते नया इति निरुक्ति-सद्भावात् । अनेन विस्तरतो नयविभागकथनं कृतम् । नैगमादिशब्दनिरुक्त्या विशेषलक्षणं च सूचितम् ।

की हुई वस्तु का एकदेश जिसके द्वारा या जिसमें अथवा जिससे "नीयते" प्राप्त किया जाता है–जाना जाता है वह नय है । उसको (वस्तु को) ले जाता है वह नय है, नीति नय है, इसप्रकार नीयते, नयति, नीतिः इति नयः यह नय शब्द की निरुक्ति है । ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं । इससे सभी नयों का सामान्य लक्षण कहा । इस नय शब्द से नैगमादिक सभी नय कहे जाते हैं । जैसे सम्यग्ज्ञान शब्द से मति आदि सभी ज्ञान कहे जाते हैं । ये नैगमादि सातों नय ही दो नय रूप होते हैं, क्योंकि श्रुत ज्ञान के द्वारा गृहीत वस्तु के अंश से द्रव्य और पर्याय जिनके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं वे नय हैं, इसतरह व्युत्पत्ति है । द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे ये दो नय हैं । द्रव्य, सामान्य, अभेद, उत्सर्ग और अन्वय ये शब्द एकार्थ वाची हैं, वह द्रव्य है प्रयो-जन जिसका उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं । द्रव्य विषयवाला द्रव्यार्थ नय है । पर्याय, विशेष, भेद, अपवाद, व्यतिरेक ये शब्द एकार्थवाची हैं, वह पर्याय है प्रयोजन जिसका उसे पर्यार्यार्थिक नय कहते हैं । अथवा पर्याय विषयवाला पर्यायार्थ है । इनके द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिक ये नाम भी हैं । द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार करे वह द्रव्य है इसप्रकार की बुद्धि है जिसकी वह नय द्रव्यास्तिक है, पर्याय है, इसप्रकार की बुद्धि है जिसकी वह पर्याया-स्तिक है, इससे संक्षेप से नयों के विभाग को कहा । वे नैगमादि नय हैं । द्रव्य और पर्यायों के भेद यथायोग्य ले लिये जाते हैं जिनके द्वारा वे नय हैं ऐसी निरुक्ति करने से नयों के बहु भेद सिद्ध होते हैं । इससे विस्तर से नय विभाग को कह दिया समझना चाहिये । नैगमादि शब्दों की निरुक्ति करने से विशेष लक्षण सूचित होता है । नैगम,

नैगमादयस्त्रयो द्रव्यार्थिकस्य भेदाः । ऋजुसूत्रादयश्चत्वारः पर्यायार्थिकस्येति ज्ञेयम् । तत्र निगमनं नियतसङ्कल्पनं *निगमस्तत्र भवोऽभिप्रायो नैगमः । स च सङ्कल्पमात्रग्राही अनिष्पन्नग्राहीति* चोच्यते । यथा अनिष्पन्नप्रस्थादिसङ्कल्पे प्रस्थादिव्यपदेशाभिप्रायः । अथवा द्वयोर्धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षो नैगमः । नैकं गमो नैगम इति व्युत्पत्तेः । स चोभयावलम्बीत्युच्यते । अत्रापि कस्यचिद्धर्मस्य धर्मिणोवाऽनभिप्रेतत्वादविवक्षायामप्राधान्यमितरस्य तु प्राधान्यं विज्ञेयम् । स चैवं त्रेधा ज्ञायते–अर्थव्यञ्जनपर्यायार्थनैगमः, संग्रहव्यवहारद्रव्यार्थनैगमः, द्रव्यपर्यायार्थनैगमश्चेति । तत्र सूक्ष्मः क्षणक्षयोऽवाग्गोचरोऽर्थपर्यायार्थो वस्तुनो धर्मः । स्थूलः कालान्तरस्थायी वाग्गोचरो व्यञ्जनपर्यायोऽर्थधर्मः । एतद्धर्मद्वयास्तित्वावलम्बी अर्थव्यञ्जनपर्यायार्थनैगमो भवति । संगृह्यमाणो द्रव्यार्थोऽस्तीति व्यवह्रियमाणोऽपि तद्द्रव्यार्थोस्तीत्येवं धर्मिद्वयास्तित्वावलम्बी संग्रहव्यवहारद्रव्यार्थनैगमोऽस्ति । द्रव्यार्थोऽस्ति पर्यायार्थोप्यस्तीत्युभयावलम्बी द्रव्यपर्यायार्थनैगमः कथ्यते । एव त्रिधाप्ययमवा-

---

संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्यार्थिक नय के भेद हैं । ऋजुसूत्र आदि शेष चार नय पर्यायार्थिक नय के भेद हैं । नियत संकल्प को निगम कहते हैं उस निगम में जो होवे वह नैगम है, वह संकल्प मात्र का ग्राहक है अथवा अनिष्पन्न का ग्राहक है । जैसे अनिर्मित प्रस्थ [एक सेर का माप] आदि के संकल्प में प्रस्थ नाम का अभिप्राय होता है अर्थात् प्रस्थ नहीं है उसका मात्र संकल्प है उस संकल्प में स्थित प्रस्थ को प्रस्थ कहना नैगम नय है । अथवा दो धर्मों में, दो धर्मी में या धर्म और धर्मी में, गौण और मुख्यता से विवक्षा रखने वाला नैगम नय है, *"नैकं गमो नैगमः"* इसतरह निरुक्ति है । यह उभयावलम्बी दो धर्म आदि का अवलंबन करनेवाला नय है उभय का अवलम्बन होने पर भी इसमें किसी धर्म की अथवा धर्मी की अनिच्छित होने से या अविवक्षा होने से गौणता होती है और इतर की प्रधानता होती है, (अर्थात् प्रमाण की तरह दोनों को मुख्य रूप से ग्रहण नहीं करता क्योंकि नय मात्र अंशग्राही होते हैं) इसप्रकार दो धर्म, दो धर्मी और धर्म धर्मी ऐसे तीन प्रकारों को गौण मुख्यता से ग्रहण करनेवाला होने से यह नैगम नय तीन प्रकार का हो जाता है अर्थ व्यञ्जन पर्यायार्थ नैगम, संग्रह व्यवहार द्रव्यार्थ नैगम और द्रव्य पर्यायार्थ नैगम । जो सूक्ष्म है क्षण क्षण में नष्ट होती है और वचन के गोचर नहीं है वह अर्थ पर्याय कहलाती है जो कि वस्तु का धर्म है । जो स्थूल है, कालान्तर स्थायी है वचन के गोचर है वह व्यञ्जन पर्याय कहलाती है, ये दो धर्म–अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय हैं इनके अस्तित्व का अव-

न्तरविशेषादनेकधापि भवति । सम्यक्स्वजात्यविरोधेन समस्तमेकत्वेन गृह्यतेऽनेनेति संग्रहः । यथा सर्वं सदिति सर्वस्य सत्त्वाविशेषाच्छुद्धसंग्रहः । तथा द्रव्यमिति घट इति च द्रव्यत्वघटत्वावान्तरसामान्येन सकलजीवादिद्रव्यसौवर्णादिघटव्यक्तीनां संग्रहणादशुद्धसंग्रहो विज्ञेयः । संग्रहगृहीतोऽर्थस्तदानुपूर्व्येणैव व्यवह्रियते भेदेनाद्रियतेऽनेनेति व्यवहारः । यथा यत्सत्तद्द्रव्यं गुणः पर्यायो वेति । वस्तुसामान्यशक्त्यपेक्षो वर्तमानपर्यायमृजु प्रगुणं सूत्रयति गमयतीत्ययमृजुसूत्रः । अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावान्निश्चयात्सूक्ष्मः । एकसमयमात्रो वर्तमानोऽस्य विषयः । यथा यत्सदनुभूयमानं तत्क्षणिकमिति । उपचारात्तु समयसन्दोहः । स्थूलस्वभावो यथा मनुष्यपर्यायो मनुष्यः । देवपर्यायो देव इति । तमेवर्जु सूत्रविषयं लक्षणसिद्धेन शब्देन शब्दयति प्रतिपादयतीति शब्दः । यथा मनोर्नामकर्मणो जातो मनुष्यः । दीव्यतीति देवः । अथवा लिङ्गसङ्ख्यासाधनकालोपग्रहकारकभेदेन भिन्नमर्थं शपयति प्रतिपादयत्यनेनेति शब्दः । यथा पुष्यस्तारका नक्षत्रमित्यत्र लिङ्गभेदेन भिन्नार्थाभिमननम् ।

लंबन लेने वाला इनको विषय करनेवाला नय अर्थ व्यञ्जन पर्यायार्थ नैगम नय कहलाता है । एक समस्त संग्रह रूप द्रव्यार्थ होता है और एक भेद रूप द्रव्यार्थ होता है इसतरह दो द्रव्यार्थ या धर्मी के अस्तित्व का अवलंबन लेनेवाला संग्रह व्यवहार द्रव्यार्थ नाम का नैगम नय है । द्रव्यार्थ है और पर्यायार्थ है इसप्रकार द्रव्य और पर्याय के अस्तित्व का अवलंबन लेनेवाला द्रव्य पर्यायार्थ नैगम नय है, इसप्रकार नैगम नय तीन प्रकार का है और इसके अवान्तर की विशेषता से अनेक भेद भी होते हैं ।

विशेषार्थ—यहां तत्त्वार्थ वृत्ति में नैगम नय के तीन भेद इसप्रकार किये हैं—दो धर्म–अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्यायों को गौण मुख्यता से ग्रहण करनेवाला अर्थ-व्यञ्जन पर्यायार्थ नैगम । संग्रह और व्यवहार के विषयभूत अभेद और भेदरूप द्रव्यार्थ को गौण मुख्यता से ग्रहण करनेवाला संग्रह व्यवहार द्रव्यार्थ नैगम है । द्रव्य और पर्याय को गौण मुख्यता से ग्रहण करनेवाला द्रव्य पर्यायार्थ नैगम है, इन तीनों का कथन करके इनके अन्य अन्य भेदों की सूचना दी गई है । तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ग्रंथ में नैगम के नौ भेद किये हैं जो इसप्रकार हैं—प्रथम ही नैगम के तीन भेद हैं—पर्याय नैगम, द्रव्य नैगम, द्रव्य पर्याय नैगम । इनमें पुनः पर्याय नैगम नय के तीन प्रभेद हैं, अर्थ पर्याय नैगम, व्यञ्जन पर्याय नैगम और अर्थ व्यञ्जन पर्याय नैगम । द्रव्य पर्याय नैगम के दो भेद हैं—शुद्ध द्रव्य नैगम और अशुद्ध द्रव्य नैगम । द्रव्य पर्याय नैगम के चार चार भेद हैं—शुद्ध द्रव्यार्थ पर्याय नैगम, शुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय नैगम, अशुद्ध

सलिलमाप इत्यत्र सङ्ख्याभेदेन भिन्नार्थत्वं मन्यते। एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पितेत्यत्र साधनभेदेनार्थभेदः विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता भाविकृत्यमासीदित्यत्र कालभेदेनार्थान्तरत्वं मन्यते। सन्तिष्ठते तिष्ठति विरमति रमत इत्यत्रोपग्रहभेदेन भिन्नार्थताभिमननम्। अनेन क्रियते अयं करोतीत्यत्र कारकभेदेन भिन्नार्थताभिमन्यत इति। अत्र लिङ्गादिभेदेऽपि यद्यर्थैकत्वं स्यात्तदा सर्वशब्दानामेकार्थत्वप्रसङ्गो भवेदित्यस्य शब्दनयस्याभिप्रायः। शब्दारूढं तत्त्वमर्थशब्दपर्यायान्तरासंसृष्टं समभिरुह्यते गम्यतेऽनेनेति समभिरूढः। यथा मनोर्जातत्वान्मनुष्यो न मरणभावात्। मरणभावाद्धि मर्त्योऽभिधीयते। तथा देवनाद्देवो नाऽमरणभावात्। अमरणभावादमर इत्युच्यते। अथवा नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढः अस्यायमर्थः—नानार्थान्समतीत्यैकमर्थमाभिमुख्येन रोहति स्मेति समभिरूढः। अर्थभेदाच्छब्दभेदं गमयतीत्यर्थः। तथाहि—यावन्तोऽर्था वागादयो गोशब्दवाच्यास्तावन्त एव

द्रव्यार्थ पर्याय नैगम और अशुद्ध द्रव्य व्यञ्जन पर्याय नैगम। दो पर्यायों को गौण मुख्यता से ग्रहण करने वाला पर्याय नैगम नय है, दो द्रव्यों को गौण मुख्यता से ग्रहण करने वाला द्रव्य नैगम है, द्रव्य और पर्याय को गौण मुख्यता से ग्रहण करनेवाला द्रव्य पर्याय नैगम है। फिर पर्याय नैगम आदि आगे के सभी नयों का स्वरूप उन उनके नामानुसार ही है, इनके उदाहरण भी उक्त ग्रंथ में दिये हैं। आलाप पद्धति में नैगम नय के काल की अपेक्षा भेद किये हैं भूत नैगम, वर्त्तमान नैगम और भविष्यत् नैगम। भूत पर्याय को वर्त्तमान के समान कहना भूत नैगम है। वर्त्तमान ग्राहक वर्त्तमान नैगम नय है और भविष्यत् को वर्त्तमान वत् कहना भविष्यत् नैगम है। इनके उदाहरण उसी ग्रन्थ से जानना चाहिये।

समीचीन रूप से अपनी जाति का विरोध नहीं करते हुए सभी का एक रूपसे ग्रहण करना संग्रह नय है, जैसे सभी सत् है इसप्रकार सर्व ही पदार्थों में सत्त्व की अपेक्षा समानता होने से शुद्ध सत् मात्र का ग्राहक यह शुद्ध संग्रह नय है तथा द्रव्य है, घट है इसप्रकार द्रव्यत्व और घटत्व रूप अवान्तर सामान्य की अपेक्षा सर्व ही जीव आदि द्रव्यों को ग्रहण करना तथा सुवर्ण का घट रजत का घट, मिट्टी का घट आदि सर्व ही घट व्यक्तियों का संग्रह कर लेने से अशुद्ध संग्रह नय है, इसतरह संग्रहनय शुद्ध अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है।

गोशब्दवाचका भिन्ना भवन्ति । यथा पशौ वर्तमानोऽन्यो गोशब्दो वागादिषु पुनरन्यश्चान्यश्चेति । अथवा नानार्थसमभिरोहणात्समभिरूढ इत्ययमर्थः । शब्दभेदादर्थभेद इति । शचीपतिरेकोप्यर्थ इन्दनशकनपूर्दारणभेदाद्भिद्यते । इन्दतीतीन्द्रः । शक्नोतीति शक्रः । पुरं दरयतीति पुरन्दर इति । इन्दनादिन्द्र एव शकनादिपर्यायान्तराक्रान्तस्योपचारेणेन्द्रव्यपदेशात् । अथवा यो यत्राभिरूढस्तस्य तत्रैवाभिमुख्येन वर्तनात्समभिरूढो यथा क्व भवानास्ते स्वात्मनीति निश्चयादन्यस्यान्यत्र प्रवृत्त्य-भावात् । यद्यन्योऽन्यत्र वर्तेत तदा ज्ञानादीनां रूपादीनां चाकाशे वृत्तिः स्यात् । योऽर्थो येनात्मना भूतस्तं तेनैव निश्चाययतीत्येवंभूतः । यथा स्वाभिधेयक्रियापरिणतिक्षण एव शब्दो युक्तो नान्यथेति । यथा—यदैवेन्दति तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक इति । यदैव गच्छति तदैव गौर्न स्थितो नापि शयित इति । अथवा येनात्मना भूतो येन ज्ञानेन परिणत आत्मा तं तेनैवाऽध्यवसाययतीत्येवंभूतः । यथेन्द्रा-ग्निज्ञानपरिणत आत्मैवेन्द्रोऽग्निश्च कथ्यते । अथवा समभिरूढविषयं यत्तत्त्वं तत्प्रतिक्षणं षट्कारक-

---

विशेषार्थ—महासत्ता जिसमें किसी व्यक्ति रूप उपाधि का लव लेश नहीं है ऐसा सत् अस्तित्व मात्र का ग्राहक शुद्ध संग्रह नय है, यह निखालिस अर्थात् उपाधि-रहित सत् मात्र को ग्रहण करता है जानता है अतः शुद्ध संग्रह नय कहलाता है, जो अवान्तर सत्ता–व्यक्ति की सत्ता ग्रहण करता है द्रव्यत्व आदि की उपाधि जोड़ता है वह अशुद्ध संग्रह नय है । शुद्ध संग्रह नय संपूर्ण अनंतानंत द्रव्यों को चूंकि सभी सत् रूप ही हैं ग्रहण करता है अतः महाविषय वाला है । अशुद्ध संग्रह नय अवान्तर सत्ता-ग्राहक है, द्रव्यत्व घटत्व आदि उपाधि का ग्राहक है अतः शुद्ध संग्रह की अपेक्षा अल्प विषय वाला है ।

संग्रह नय द्वारा ग्रहण किये गये विषय में जो आनुपूर्वी रूप से व्यवहार करता है–भेद रूप से कथन करता है अथवा भेद रूप से जानता है वह व्यवहार नय है, जैसे संग्रह का विषय जो सत् है, वह सत् द्रव्य, गुण और पर्याय रूप तीन भेद वाला है इत्यादि भेदों का ग्राहक यह नय है ।

जो वस्तु सामान्य शक्ति की अपेक्षा वर्त्तमान पर्याय को सरल रूप से सूचित करता है जानता है वह ऋजुसूत्र नय है । अतीत नष्ट हो चुका है और भविष्यत् अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है अतः उनमें व्यवहार नहीं होता ऐसा निश्चय है, इसतरह सूक्ष्म ऋजुसूत्र का कथन है एक वर्त्तमान समय मात्र इस नय का विषय है जैसे जो अनुभव में आ रहा सत् है वह क्षणिक है, इसतरह कहना । समय समूह रूप सत् तो उपचार

सामग्रयां वर्तमानमित्येवंभूतेन शब्देन भावनीयमेव न व्युत्पन्नशब्दवाच्यमित्येवंभूतः। यथा—न मनुष्यो मनुष्यशब्दवाच्यः। न देवो देवशब्दवाच्यः। नापीन्द्र इन्द्रशब्दवाच्य इति। उक्तेषु नैगमादिषु नयेष्वाद्याश्चत्वारोऽर्थनयाः। शब्दव्युत्पत्तिमन्तरेणाप्यर्थस्य प्रतिपादकत्वात्। इतरे शब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः शब्दनया निरुक्त्या तेषामर्थस्य प्रतिपादकत्वात्। तत्रार्थनया अपि द्रव्यार्थपर्यायार्थविकल्पाद्द्वेधा। द्रव्यार्थोऽपि शुद्धाशुद्धभेदाद्द्वेधोक्तः तत्र शुद्धः सन्मात्रसंग्रहः सकलोपाधिरहितत्वात्। नैगमव्यवहारौ पुनरशुद्धौ सविशेषणस्य सत्त्वस्याभिसन्धानात्। तथर्जुसूत्रः पर्यायार्थः। स च शुद्धत्वेनोक्त एव। उक्ता नैगमादयः। इदानीं नैगमादिवद्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभेदानेव पुनः प्रकारान्तरेणान्वयव्यतिरेकपृथक्त्वापृथक्त्वनिश्चयव्यवहारनयान्सलक्षणोदाहरणान्कथयामः। सर्वत्राविकल्पानुगमनादन्वयः। अस्योदाहरणं—अस्तित्वेनास्त्यात्मा ज्ञातृत्वेन ज्ञातेति। उत्पादव्ययोत्कर्षाविकल्पानुगमना-

---

से है। स्थूल स्वभाव रूप स्थूल ऋजुसूत्र नय है जैसे मनुष्य पर्याय रूप मनुष्य है, देव पर्याय रूप देव है। इसप्रकार एक वर्त्तमान समयवर्त्ती पर्याय का ग्राहक सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय है और स्थूल—व्यञ्जन पर्याय का ग्राहक स्थूल ऋजुसूत्र नय है।

उसी ऋजुसूत्र—नय के विषय को लक्षण—सिद्ध शब्द द्वारा कहता है वह शब्द नय है। जैसे मनु से जो हुआ है अथवा नाम कर्म से उत्पन्न हुआ है वह मनुष्य है। दीव्यति—क्रीड़ा करता है वह देव है। अथवा लिंग, संख्या, साधन, काल, उपसर्ग और कारकों के भेद से भिन्न भिन्न अर्थ का प्रतिपादन करता है वह शब्द नय है, जैसे पुष्य, तारका और नक्षत्र इनमें लिंगभेद [पुष्य पुलिंग, तारका स्त्रीलिंग नक्षत्र नपुंसक लिंग] होने से विभिन्न अर्थों को मानना। "सलिलं" यह एक वचन है और "आपः" यह बहु वचन है इनमें संख्या भेद होने से एक ही जल अर्थवाले शब्दों के होने पर भी भेद मानना इस नय का अभिप्राय है। "एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यति यातस्ते पिता" ये संस्कृत के मित्र की मजाक रूप वाक्य हैं इसमें 'मन्ये' क्रिया का प्रयोग 'यास्यसि' क्रिया का प्रयोग व्याकरण दृष्टि से या व्यवहार दृष्टि से युक्त है किन्तु शब्द नय साधन भेद से अर्थात् उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष रूप क्रिया के भेद से भेद ही स्वीकार करता है अतः उपर्युक्त एहि इत्यादि वाक्य इस नय से गलत है। विश्व को जिसने देख लिया है वह इसका पुत्र होगा, आगामी कार्य था इत्यादि रूप काल भेद से भेद मानना, "विश्वदृश्वा" शब्द व्याकरण में विश्वं दृष्टवान् "विश्व को देख चुका ऐसे अतीत काल अर्थ में निष्पन्न होता है उसको "जनिता" इस भविष्यत् क्रिया से जोड़ना शब्द नय की दृष्टि से गलत है, काल का भेद है तो अर्थ में भेद होना

द्व्यतिरेकः। अस्योदाहरणं—सुखेन सुखी, दुःखेन दुःखीति। निर्देशप्रवृत्तिफलैर्द्रव्यपर्यायोर्भेदाधिगमः पृथक्त्वनयः। अस्योदाहरणं—ज्ञानं ज्ञातैव, ज्ञाता पुनरात्मा ज्ञानं भवत्यन्यच्च दर्शनादिकं स्यात्। क्रोधः क्रोधन एव। क्रोधनस्तु जीवः स्यात्क्रोधो मानादिरूपश्चेति। तयोरेव सदादिनिबन्धनैरभेदाधि-

---

चाहिये इसप्रकार यह नय स्वीकार करता है। सन्तिष्ठते तिष्ठति विरमति रमते इत्यादि क्रियायें सं आदि उपसर्ग के निमित्त से आत्मनेपदी धातु परस्मै पदी बनती है किन्तु शब्द नय उपसर्ग का भेद होने से भेद ही मानता है। इसके द्वारा किया जाता है और यह करता है इन वाक्यों में कारकों का भेद होने से भेद मानने वाला शब्द नय है। उपर्युक्त वाक्यों में लिंग आदि का भेद होने पर भी यदि अर्थ का अभेद—एक अर्थ माना जाता है तो सर्व ही शब्दों का एक ही अर्थ हो जाने का प्रसंग आता है, इसप्रकार शब्द नय की मान्यता है। जो नय शब्द में आरुढ़ तत्त्व के अर्थ को दूसरे शब्द से नहीं मिलाता, पर्याय वाची शब्द से असंसृष्ट अर्थ को रूढ करता है वह समभिरूढ नय है, जैसे जो मनु से पैदा हुआ है वह मनुष्य है, इसप्रकार मनुष्य शब्द इस अर्थ में अधिरूढ हुआ है, उसे मरण के भाव से मनुष्य कहना ठीक नहीं, मरण भाव से तो उसे 'मर्त्य' कहेंगे तथा देवनात् देवः, इसको अब मरण के अभाव से देव ऐसा नहीं कह सकते, मरण के अभाव से, अमरण के भाव से तो वह अमर कहा जाता है इसतरह इस नय का विषय है, अभिप्राय यह कि यह नय एक पदार्थ के पर्यायवाची अनेक नाम स्वीकार नहीं करता, इसका कहना है कि नाम भेद है तो अर्थ भेद अवश्य चाहिये। अथवा नाना अर्थों का उल्लंघन कर एक अर्थ को अभिमुख से ग्रहण करना समभिरूढ नय है, यह अर्थ भेद से शब्द भेद को मानता है इसीको बतलाते हैं—वाणी आदि जितने गो शब्द के वाच्यार्थ हैं उतने गो वाचक शब्द भिन्न भिन्न हैं। जैसे पशु पदार्थ में वर्त्तमान गो शब्द भिन्न है और वाणी आदि अर्थों में होने वाले गो शब्द अन्य अन्य ही हैं। नाना अर्थों का समभिरोहण होने से समभिरूढ है इसतरह भी इस नय का अर्थ है, इसप्रकार की निष्पत्ति करने पर शब्द भेद होने पर अर्थ भेद होना चाहिये ऐसा इस नय का अभिप्राय निकलता है, जैसे शचीपति नामा एक अर्थ—पदार्थ भी इन्दन, शकन, पूर्दारण रूप क्रिया भेद से भेद को प्राप्त होता है। इन्दतीति इन्द्रः। शक्नोति इति शक्रः। पूर्दारणात् पुरंदरः इन्दन क्रिया से इन्द्र ही है, शकन आदि अन्य अन्य पर्याय से व्याप्त शचीपति के तो उपचार मात्र इन्द्र व्यपदेश हो सकता है। अथवा जो जिसमें अभिरूढ है उसके उसीमें अभिमुख होकर वर्त्तना समभिरूढ है, जैसे आप

गमोऽपृथक्त्वनयः। अस्योदाहरणं—ज्ञानविशिष्टो ज्ञाता नान्यथा क्रोधविशिष्टः क्रोधनो जीवो नान्यथेति। एकसाधनसाध्यविषयो निश्चयः अस्योदाहरणं—स्वात्मानमात्मा जानाति, स्वात्मानमात्मा पश्यति, स्वात्मानमात्मा कुरुते, स्वात्मानमात्मा भुङ्क्त इति। भिन्नसाधनसाध्यविषयो व्यवहारः।

कहां पर हैं ? तो अपने में ही हैं इसप्रकार निश्चय होता है, क्योंकि अन्य वस्तु का अन्य में रहने का अभाव है, यदि ऐसा न माने तो ज्ञानादिगुण और रूपादिगुण आकाश में रहने चाहिये ? किन्तु ऐसा नहीं है। जो पदार्थ जिस रूप से हुआ उसको उसी रूप से निश्चय कराना एवंभूत नय है। जैसे अपने अभिधेय क्रिया से युक्त जो क्षण है उस क्षण में ही वह शब्द प्रयोग युक्त है अन्य काल में नहीं। जैसे—शचीपति जब ही इन्दन क्रियाशील है उसी वक्त इन्द्र है अब वह न अभिषेचक है और न पूजक है। इस नय की दृष्टि से जिस समय चले उस समय गौ है, शयन के समय या खड़ी है उस समय वह गौ नहीं कहलाती। अथवा जिस स्वरूप से हुआ था जिस ज्ञान से परिणत आत्मा उसको उसीप्रकार निश्चय कराना एवंभूत है। जैसे इन्द्र के ज्ञान से परिणत आत्मा ही इन्द्र है, अग्नि के ज्ञान से परिणत आत्मा ही अग्नि है। अथवा समभिरूढ नय द्वारा जो विषय किया गया तत्त्व है वह प्रतिक्षण छह कर्त्ता कर्म आदि कारक सामग्री से प्रवर्तमान है किन्तु एवंभूतनय वैसा भाव [पर्याय अथवा क्रिया] होनेपर उसको विषय करता है यह शब्द की व्युत्पत्ति अर्थ को वाच्य नहीं मानता, अर्थात् समभिरूढ नय इन्दन, शकन आदि क्रिया होवे या न होवे शब्द निष्पत्ति मात्र से उस पदार्थ को वैसा ग्रहण करता है, इन्दन क्रिया है—सभा में शासन रूप ऐश्वर्य युक्त है अथवा नहीं है [अन्य कार्य में संलग्न है तो भी समभिरूढ नय उसे इन्द्र कहेगा, किन्तु एवंभूत नय इसप्रकार नहीं है वह तो उस २—इन्दन आदि क्रिया के काल में ही इन्द्र आदि कहेगा, मनुष्य नामा अर्थ मनुष्य शब्द का वाच्य नहीं देव नामा अर्थ देव शब्द का वाच्य नहीं है और इन्द्र नामा अर्थ इन्द्र शब्द का वाच्य नहीं है क्योंकि मनु से उत्पन्न होना इत्यादि क्रिया उस उस अर्थ में वर्त्तमान में नहीं है इसप्रकार एवंभूत नय का अभिप्राय रहता है।

उक्त नैगमादि नयों में आदि के चार नय अर्थनय हैं, क्योंकि ये शब्दों की व्युत्पत्ति के बिना भी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय शब्द नय कहलाते हैं, क्योंकि निरुक्ति द्वारा उनके अर्थ के प्रतिपादक हैं। उनमें जो

अस्योदाहरणं—आत्मा परद्रव्यस्वरूपं जानाति पश्यति कुरुते भुङ्क्ते चेति । तथाभूताश्रयविवक्षा निश्चयः । यथा को भवतामाधारः ? स्वात्मैव । भूताभूताश्रयविवक्षा व्यवहारः । चेतनाचेतनसमुदयः

अर्थ नय हैं उनके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो भेद हैं । द्रव्यार्थिक के भी शुद्ध और अशुद्ध भेद से दो भेद हैं सकल उपाधि से रहित होने से सत्ता मात्र का ग्राहक शुद्ध संग्रह नय शुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहलाता है । नैगम और व्यवहार अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय हैं क्योंकि ये विशेषण की उपाधि से युक्त सत्ता को ग्रहण करते हैं । ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक नय है वह शुद्धरूप है [क्योंकि उपाधि रहित है] इसप्रकार नैगमादि सात नयों का विवेचन किया ।

अब यहां पर नैगमादि नयों के समान द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों के भेदों को पुनः दूसरे प्रकार से वर्णन करते हैं—अन्वय नय, व्यतिरेक नय, पृथक्त्व नय, अपृथक्त्व नय, निश्चय नय और व्यवहार नय इसप्रकार ये छह नय हैं, इन सबके सलक्षण उदाहरणों को कहते हैं—जो सर्वत्र अविकल्प अभेद रूप से अनुगमन करता है वह अन्वय नय है जैसे आत्मा अस्तित्व रूप से अस्ति है ज्ञातृत्व रूप से ज्ञाता है इत्यादि, इसमें अस्तित्व का अभेद रूप से अन्वय है । उत्पाद और व्यय के उत्कर्ष को अविकल्प अभेद रूप से अनुगमन करना व्यतिरेक नय है, जैसे सुख से सुखी है, दुःख से दुःखी है । निर्देश, प्रवृत्ति और फल द्वारा द्रव्य और पर्याय में भेद का ज्ञान करना पृथक्त्व नय है, इसका उदाहरण–ज्ञान ज्ञाता ही है, ज्ञाता आत्मा को कहते हैं वह आत्मा तो ज्ञान भी होता है और अन्य दर्शन आदि रूप भी होता है । क्रोध क्रोधन ही है, जो क्रोधन है वह जीव है और यह जो जीव है वह क्रोध रूप भी और मान मायादि रूप भी है । उन द्रव्य और पर्यायों में सत् आदि द्वारा अभेद का ज्ञान करना अपृथक्त्व नय है । इसका उदाहरण–ज्ञान विशिष्ट ज्ञाता है अन्य प्रकार से नहीं है । क्रोध विशिष्ट क्रोधन जीव है अन्यप्रकार से नहीं है । साध्य और साधन एक ही विषय भूत है ऐसा स्वीकार करने वाला निश्चय नय है, इसका उदाहरण बतलाते हैं–आत्मा अपनी आत्मा को जानता है । आत्मा अपने आत्मा को देखता है । आत्मा अपने आत्मा को करता है । आत्मा अपने आत्मा को भोगता है । साध्य और साधन को भेद रूप से विषय करने वाला व्यवहार नय है । इसका उदाहरण देते हैं–आत्मा पर द्रव्य के स्वरूप को जानता है, देखता है, करता है तथा भोगता है । अथवा दूसरे प्रकार से निश्चय व्यव-

पिण्डात्मेति। शुद्ध उपचारोऽपि व्यवहारो यथा—देहादिकमहं भवामि, देहादौ भवाम्यहं, देहादिकं मम भवतीति। तथा चेतनाचेतनस्थूलसूक्ष्ममूर्तामूर्तद्रव्यगुणवृत्तिविषयो निश्चयः। प्रायोऽक्षार्थविषयः

हार का कथन करते हैं, भूत—वास्तविक आश्रय की विवक्षा रखनेवाला निश्चय नय है जैसे किसी ने पूछा आपका आधार कौन है ? तो अपना आत्मा ही आधार है। वास्तविक और अवास्तविक आश्रयों की विवक्षा रखने वाला व्यवहार नय है। जैसे चेतन और अचेतन के समुदाय पिण्ड आत्मा आधार है इत्यादि कहना व्यवहार नय है। अथवा शुद्ध उपचार भी व्यवहार नय कहलाता है, जैसे मैं देहादिक होता हूं, देहादिक में मैं होता हूं, मेरे देहादिक होते हैं। तथा चेतन अचेतन, स्थूल सूक्ष्म, मूर्त्त और अमूर्त्त रूप जो द्रव्य तथा गुण हैं उनको विषय करने वाला निश्चय नय है। और प्रायः करके इन्द्रियों के विषय में प्रवृत्ति और निवृत्ति करने वाला व्यवहार नय है। इसतरह निश्चय नय और व्यवहार नयों का स्वरूप जानना चाहिये। अथवा यथार्थ ग्राही भूतनय है यह सत्य रूप होने से नामान्तर से निश्चय नय रूप कहा जाता है, इस भूतार्थ नय से विपरीत लक्षण वाला अभूतार्थ नय है। अथवा सुनय और दुर्नय स्वरूप अति संक्षेप से दो ही नय जानने चाहिये। इन नयों के वर्णन में एक संग्रह कारिका प्रस्तुत करते हैं—

पृथक्त्वं चोपचारं च शुद्धं द्रव्यं च पर्ययम्।
यथास्वं यो नयो वेत्ति स भूतार्थोऽन्यथेतरे ॥ १ ॥

अर्थ—पृथक्त्व नय [अपृथक्त्व नय] उपचार नय, शुद्ध नय, द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक नय, इसप्रकार नयों के भेद जानना चाहिये, तथा जो नय यथार्थ ग्राही है वह भूतार्थ नय कहलाता है। जो अयथार्थ ग्राही हैं वे अभूतार्थनय कहलाते हैं। अथवा इस संग्रह कारिका में "अन्यथेतरे" पद आये है उससे इस तरह भी अर्थ होता है कि पृथक्त्व, उपचार, शुद्ध, द्रव्य और पर्याय इन विषयों को जैसा का तैसा जो नय ग्रहण करता है अर्थात् जो पृथक्त्व रूप है उसे पृथक्त्व रूप, जो उपचार रूप है उसे उपचार रूप इत्यादि रूप से जानता है वह नय भूतार्थ—वास्तविकरीत्या ग्राहक होने से भूतार्थ नय कहते हैं और जो नय पृथक्त्व आदि को उसी रूप न ग्रहण कर अन्यथा—विपरीत अभूतार्थ रीत्या ग्रहण करते हैं वे सर्व ही नय अभूतार्थ नय कहलाते हैं ॥१॥ ये कहे गये नैगमादि नय विषय के अनंत भेद होने से प्रत्येक विषय की अपेक्षा भेद को प्राप्त

प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपश्च व्यवहारः। अथवा यथार्थग्राही भूतार्थो नयः। स च सत्यत्वान्नामान्तरेण निश्चय एवोक्तः। तद्विपरीतलक्षणः पुनरभूतार्थो नयः। इति सुनयदुर्नयरूपावतिसंक्षेपेण द्वावेव नयौ वेदितव्यौ। तथा चात्र संग्रहश्लोकः—

होते हुए बहुत २ प्रकार के हो जाते हैं। ये सर्व ही नय परस्पर में सापेक्ष हैं तो अर्थ क्रियाकारी होने से सुनय बन जाते हैं, इन नयों के स्वरूप को जानने वाले तत्त्वज्ञ पुरुषों द्वारा उक्त नयों को यथार्थ रूप से प्रयुक्त करने पर ये सम्यग्दर्शन आदि के हेतु बन जाते हैं जैसे कि सूत्र—धागे यदि परस्पर सापेक्ष हैं ताने बाने रूप से स्थापित हैं तो वे वस्त्ररूप कार्य को करने वाले हो जाते हैं और यदि परस्पर सापेक्ष नहीं रहते तो वस्त्ररूप कार्य को नहीं करते हैं, ठीक इसीप्रकार ये नैगमादि नय परस्पर में सापेक्ष हैं तो उनसे ज्ञात विषयों का यथार्थ ज्ञान और श्रद्धान होने से सम्यक्त्व आदि के हेतु बन जाते हैं और यदि ये ही नय परस्पर में सापेक्ष नहीं हैं, निरपेक्ष हैं तो सम्यग्दर्शन आदि कार्य की उत्पत्ति में हेतु नहीं होते हैं। अब इस विषय में अधिक नहीं कहते हैं।

विशेषार्थ—यहां पर तत्त्वार्थ सूत्र में नैगमादि सात नयों का कथन मध्यम वृत्ति से किया गया है। नयों के वर्णन में संक्षेप और विस्तार ऐसे दो प्रकार हैं। संक्षेप तो नयत्व सामान्य से एक नय, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की अपेक्षा निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा, भूतार्थ-अभूतार्थ की अपेक्षा और सुनय-दुर्नय की अपेक्षा दो नय हैं। यह अति संक्षेप कथन है, नैगमादि सात नयों का वर्णन मध्यम संक्षेप वृत्ति से है। इन सात नयों के प्रभेद जैसे नैगम नय के नौ भेद [नैगम के प्रभेदों का कथन उसीके विशेषार्थ में दिया है] संग्रह के शुद्ध संग्रह नय और अशुद्ध संग्रह नयरूप प्रभेद, व्यवहार नय के प्रभेद ऋजुसूत्र के सूक्ष्मऋजुसूत्र और स्थूलऋजुसूत्र ऐसे दो प्रभेद हैं क्योंकि सूक्ष्म अर्थ पर्याय तथा स्थूल व्यञ्जन पर्याय ऐसी दो पर्यायें हैं अतः इनके ग्राहक दो ऋजुसूत्र नय हैं। शब्द नय लिंग, कारक, साधन आदि शब्द संबंध को लेकर अर्थ में भेद करता है। समभिरूढ नय का वर्णन श्री भास्कर नंदी आचार्य ने यहां तत्त्वार्थवृत्ति में चार प्रकार से किया है—शब्दारूढं तत्त्वं अर्थ शब्द पर्यायान्तरं असंसृष्टं समभिरुह्यते गम्यतेऽनेन इति समभिरूढः। एक शब्द में आरूढ जो तत्त्व है उसको पर्यायवाची अन्य शब्द द्वारा जो नय नहीं मिलाता है वह समभिरूढ नय है, मनुष्य और मर्त्य ऐसे पर्याय वाची शब्द का एक अर्थ ग्रहण करना इस नय को इष्ट नहीं है। यह समभिरूढ नय

पृथक्त्वं चोपचारं च शुद्धं द्रव्यं च पर्ययम् ।
यथास्वं यो नयो वेत्ति स भूतार्थोऽन्यथेतरे ।। इति ।।

त इमे उक्ता नैगमादयो नया विषयस्यानन्तभेदत्वात्प्रतिविषयं भिद्यमाना बहुप्रकाराश्च

का लक्षण शब्द नय की अपेक्षा समभिरूढ नय का विषय सूक्ष्म है इस बात का द्योतक है, क्योंकि शब्द नय तो मनुष्य और मर्त्य शब्द में अर्थ भेद नहीं कर सकता क्योंकि इसमें लिंगादि का भेद नहीं है किन्तु समभिरूढ नय शब्द भेद जहां है वहां अर्थ भेद अवश्य मानता है इससे शब्द नय के विषय से समभिरूढ नय का विषय सूक्ष्म है ऐसा सिद्ध होता है । यह तत्त्वज्ञ पुरुषों द्वारा विदित ही है कि नैगमादि सातों ही नयों का विषय क्रमशः आगे आगे सूक्ष्म-या अल्प होता गया है, अर्थात् नैगम नय महाविषय वाला है, उससे संग्रह नय अल्प विषय वाला है, उससे व्यवहार नय अल्प विषय वाला है इत्यादि [इसका वर्णन तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक ग्रन्थ में बहुत ही सुन्दर रूप से किया गया है जिज्ञासुओं को वहीं से अवश्य जानना चाहिये यहां लिखें तो बहुत विस्तार होगा ।] समभिरूढ का दूसरा लक्षण—"नानार्थान् समतीत्व एकं अर्थ अभिमुख्येन रोहति स्म इति समभिरूढः" अनेक अर्थों को छोड़कर एक अर्थ को अभिमुख से ग्रहण करना समभिरूढ नय है । जितने अर्थ हैं उतने शब्द हैं, गाय वाचक गो शब्द और वाणी वाचक गो शब्द भिन्न ही है अर्थात् इस नय की दृष्टि से एक गो शब्द के वाणी, राजा, किरण, पृथ्वी आदि नौ अर्थ नहीं हो सकते हैं । तीसरा लक्षण—"नानार्थ समभिरोहणात् समभिरूढः" यह क्रिया के भेद से अर्थ में भेद करता है, इन्दन क्रिया से इन्द्र है शकन क्रिया से शक्र है इत्यादि । चौथा लक्षण—यो यत्र अभिरूढः तस्य तत्रैव आभिमुख्येन वर्त्तनात् समभिरूढः" जो पदार्थ जहां पर रूढ है—अवस्थित है उसको वहीं स्थित मानना अन्यत्र नहीं मानना समभिरूढ नय है । एवंभूत नय के तीन प्रकार से लक्षण किये हैं—यः अर्थः येन आत्मना भूतः तं तेन एव निश्चाययति इति एवंभूतः । जो पदार्थ जिस रूप से हुआ है उसको उसी रूप से निश्चय कराना एवंभूत नय है जैसे—जिस समय इन्दन क्रिया परिणत है उसी वक्त इन्द्र है, अन्य कोई क्रिया में परिणत है तो वह इन्द्र नहीं है । येन आत्मना भूतः येन ज्ञानेन परिणत आत्मा तं तेन एव अध्यवसाययति इति एवंभूतः, जिस वस्तु के ज्ञान से आत्मा परिणत है उस आत्मा को उसी रूप मानना जैसे इन्द्र के ज्ञान से परिणत [इन्द्र को जानने में उपयुक्त] आत्मा खुद ही इन्द्र है । समभिरूढ विषयं यत् तत्त्वं तत् प्रतिक्षणं षट् कारक

जायन्ते। ते च परस्परापेक्षा अर्थक्रियाकारिणः। सुनयास्तज्ज्ञैर्यथाख्यानं प्रयुज्यमानाः सम्यग्दर्शनादिहेतवो भवन्ति। पटादिकार्यकारितन्त्वादिवन्नान्यथेत्यलमतिविस्तरेण।

ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणम्।
ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम्॥

सामग्र्यां वर्त्तमानं इति एवं भूतेन शब्देन भावनीयं न व्युत्पन्न शब्द वाच्यं इति एवंभूतः समभिरूढ नय का विषयभूत जो तत्त्व है वह प्रतिक्षण छह कारक सामग्री में प्रवर्त्तमान है वही एवंभूत शब्द द्वारा भावनीय है, न कि व्युत्पत्तिरूप शब्द द्वारा वाच्य है। जैसे—मनुष्य नामा पदार्थ मनोजातिः मनुष्यः ऐसे व्युत्पत्ति—निरुक्ति द्वारा वाच्य नहीं है इत्यादि।

अन्वय नय, व्यतिरेक नय, पृथक्त्व नय, अपृथक्त्व नय, निश्चय नय और व्यवहार नय, इसप्रकार नयों के छह भेद इस प्रकरण में भास्कर नंदी ने सोदाहरण कहे हैं। ये सर्व ही नयों के भेद मध्यम रूप से किये गये विस्तार वर्णन में आयेंगे। तथा आलाप पद्धति नय चक्र आदि नय विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों में नयों का बहुविस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। नयों का कथन जैनदर्शन में ही पाया जाता है जैनेतर दर्शनों में नहीं। जिस प्रकार स्याद्वाद और अनेकान्त को जैनेतर दर्शन नहीं मानते, क्योंकि ये नय, स्याद्वाद रूप हैं इनको एकान्त वादी कैसे स्वीकार करें। नयों को समझना, इनकी परस्पर की सापेक्षा समझना ही स्याद्वाद अनेकान्त को जानना मानना है, नयों के ज्ञाता पुरुष हटाग्रही कदाग्रही नहीं होते, कौनसा नय कहां लगाना यह भी बहुत सूक्ष्म तत्त्व है, इसप्रकार नयों की परस्पर की सापेक्षता और नयों को लगाना—नयरूपी चक्र को चलाना या नय समूह में प्रवेश पाना सम्यग्दर्शन का कारण है। जो तीक्ष्ण बुद्धि वाला है उसे इन नयों के स्वरूप आदि को जानकर अपनी श्रद्धा समीचीन करनी चाहिये, और जो अल्प बुद्धि वाले हैं उन्हें यथायोग्य संक्षिप्त रूप से नय स्वरूप जानकर अथवा जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है वह मुझे प्रमाण है इत्यादि रूप गहन तत्त्वों के विषय में आज्ञा सम्यक्त्व रूप श्रद्धा करनी चाहिये, यही मुक्ति का कारण है। अस्तु।

ज्ञान दर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणम्।
ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम्॥१॥

अर्थ—इस प्रथम अध्याय में सर्व प्रथम दर्शन और ज्ञान का कथन किया है, फिर क्रमशः जीवादि सात तत्त्व तथा ज्ञान की प्रमाणता सिद्ध की है अन्त में नयों का वर्णन किया है। इसप्रकार यह प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।

— नयों का चार्ट —
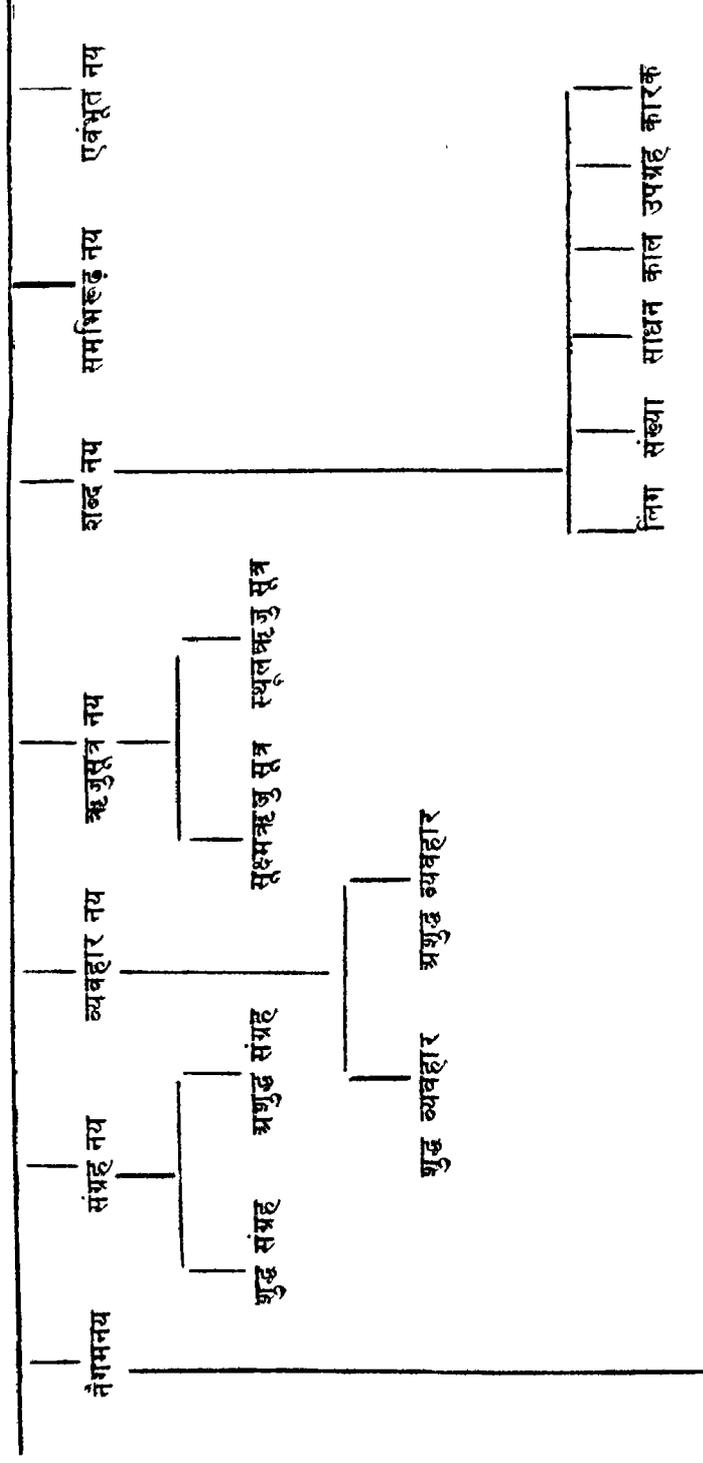
- नैगमनय
  - अर्थ व्यंजनपर्याय नैगम,
  - संग्रह व्यवहार द्रव्यार्थ नैगम,
  - द्रव्य पर्यायार्थ नैगम,
- संग्रह नय
  - शुद्ध संग्रह
  - अशुद्ध संग्रह
- व्यवहार नय
  - शुद्ध व्यवहार
  - अशुद्ध व्यवहार
- ऋजुसूत्र नय
  - सूक्ष्मऋजु सूत्र
  - स्थूलऋजु सूत्र
- शब्द नय
  - लिंग
  - संख्या
  - साधन
  - काल
  - उपग्रह
  - कारक
- समभिरूढ़ नय
- एवंभूत नय
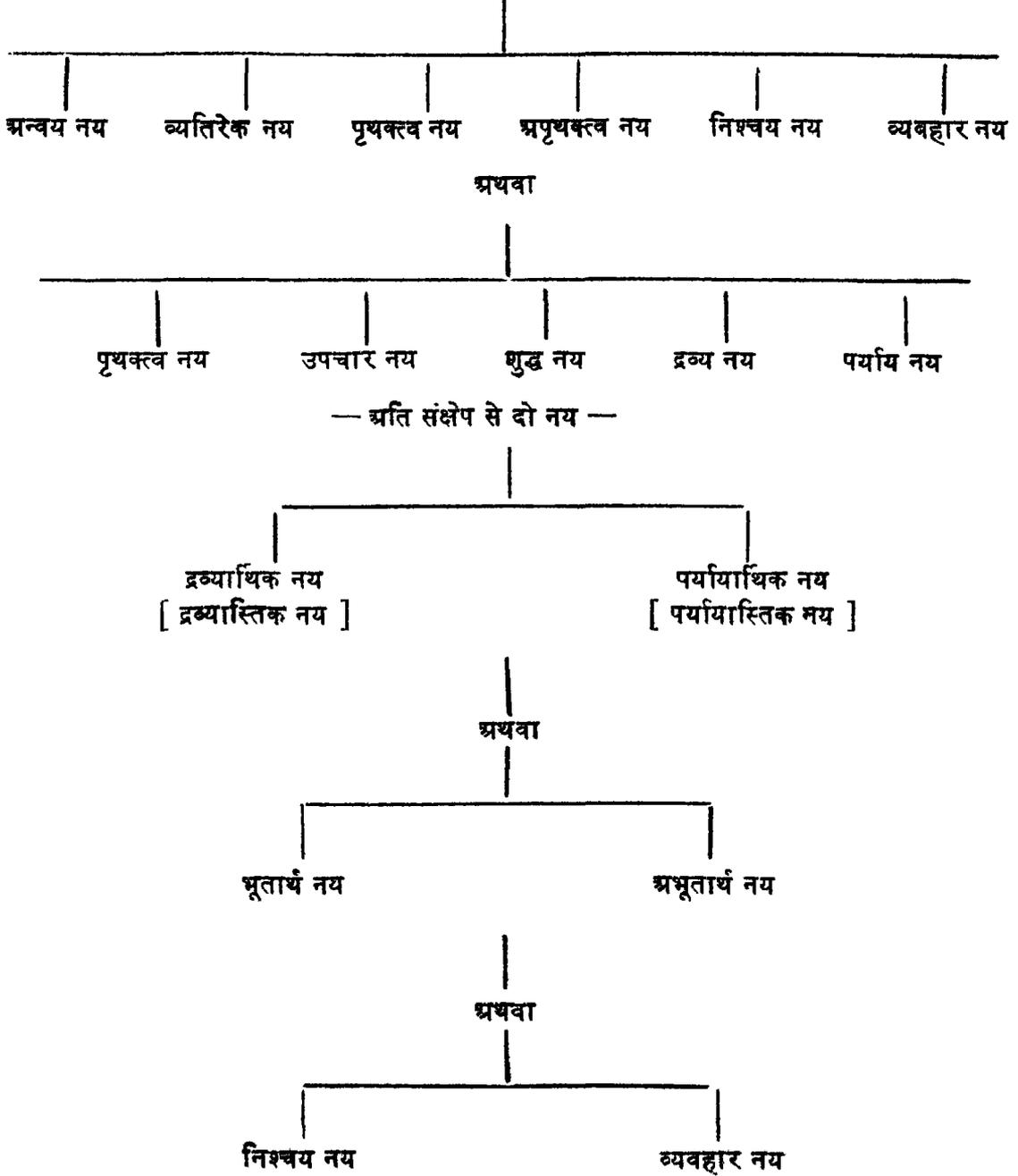
— प्रकारान्तर से नयों का चार्ट —

शशधरकरनिकरसतारनिस्तलतरलतलमुक्ताफलहारस्फारताराऽनिकुरम्बबिम्बनिर्मलतरपरमोदार
शरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघातीन्धनसङ्घातसकलविमलकेवलालोकित-
सकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचिदचित्स्वभाव-
भावाभिधानसाधितस्वभावपरमाराध्यतममहासैद्धान्तः श्रीजिनचन्द्र-
भट्टारकस्तच्छिष्य पण्डितश्रीभास्करनन्दिविरचित-
महाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां
प्रथमोऽध्यायस्समाप्तः ।

चन्द्रमाकी किरण समूह के समान सुन्दर तुलना रहित तरल मोतियों के हार के समान ताराओं के समूह इन सब शुभ्र पदार्थों के समान परम औदारिक शरीर वाले तथा शुद्ध ध्यान रूपी अग्नि की उज्ज्वल ज्वाला द्वारा जला दिया है सघन घातिया कर्म रूपी इन्धन के समूह को जिन्होंने, सकल निर्मल केवलज्ञान द्वारा देख लिया है संपूर्ण लोक और अलोक के स्वभाव को जिन्होंने ऐसे श्रीमत् परमेश्वर जिनेन्द्र के मत द्वारा विस्तृत हुई जो बुद्धि उस बुद्धि से चेतन अचेतन स्वभाव वाले पदार्थों के कथन से साधित स्वभाव रूप परम आराध्य भूत ऐसे महा सिद्धांत को जो जानते हैं ऐसे श्री जिनचन्द्र नामा भट्टारक हुए थे, उनके शिष्य पण्डित श्री भास्करनन्दि हैं उनके द्वारा विरचित सुखबोध नामवाली महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में पहला अध्याय समाप्त हुआ ।

अथद्वितीयोऽध्यायः

सम्यग्दर्शनज्ञानविषयत्वेनोद्दिष्टेषु जीवादिषु तत्त्वार्थेषु मध्ये आद्यस्य जीवस्य किं स्वतत्त्व-मित्याह—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ।। १ ।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के विषयपने से कहे हुए जीवादि सात तत्त्व हैं उनमें आदि के जीव का स्वतत्त्व क्या है ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक ये मूल पांच भाव जीव का स्वतत्त्व–निजीतत्त्व है ।। १ ।। अपने कार्य को करने में जो अभी असमर्थ है ऐसे उदय को प्राप्त नहीं हुए कर्म का आत्मा में सत्ता रूप से स्थित रहना उपशम है । जैसे कतक–निर्मलीफलादि द्रव्य के सम्बन्ध से जल में मैलेपन को करने में असमर्थ ऐसे कीचड़ का प्रगट नहीं होना नीचे मौजूद रहना कीचड़ का उप-शम कहलाता है । उपशम में जो हो उसे औपशमिक कहते हैं । कर्म का अत्यन्त अभाव होना क्षय है जैसे अन्य बर्तन में जल को निथार देने पर कीचड़ बिलकुल नहीं रहता । क्षय में जो हो वह क्षायिक है । परिणाम को भाव कहते हैं । उन उपशम और क्षय-रूप दो स्वभाव की मिश्रण रूप पर्याय मिश्र या क्षायोपशमिक कही जाती है । जैसे कोदों धान्य की मद शक्ति क्षीण और उपशम रूप [धोने आदि से] हो जाती है । सूत्रोक्त च शब्द से छठे सान्निपातिक भाव का ग्रहण होता है । वह सान्निपातिक भाव इन औपशमिक आदि भावों को पूर्वोत्तर रूप से संयोग करने पर बनता है इनके संयोगों के द्वि संयोगी, त्रिसंयोगी चतुः संयोगी और पंच संयोगी ऐसे भेद होते हैं ।

विशेषार्थ—दो स्वजाति भावों को मिलाने पर स्वजाति द्विसंयोगी भेद होता है जैसे उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र के संयोग से ग्यारहवें गुणस्थान में उपशम

आत्मनि स्वकार्यकरणासमर्थस्यानुदयप्राप्तस्य कर्मणः सदवस्थोपशमः। यथा कतकादिद्रव्य-सम्बन्धादम्भसि कालुष्यकरणासमर्थस्य पङ्कस्यानुद्भूतस्याधः सदवस्थोपशमः। उपशमे भवः परि-णाम औपशमिकः। कर्मणोत्यन्ताभावः क्षयो यथाम्भसि भाजनान्तरसङ्क्रान्ते पङ्कस्य। क्षये भवः परिणामः क्षायिक.। भावौ परिणामौ। तदुभयस्वभावः पर्यायो मिश्रः क्षायोपशमिक उच्यते—यथा

संबंधी स्वजाति द्विसंयोगज भाव उत्पन्न होता है। दो भिन्न जातीय भावों के संयोग से भिन्न जातीय द्वि संयोगी भाव होता है जैसे–क्षायिक सम्यक्त्व और उपशम चारित्र का संयोग ग्यारहवें गुणस्थान में होता है (क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणि भी चढ़ सकता है) इसीप्रकार उपशम, क्षायिक और क्षायोपशिक ऐसी तीन भावों के संयोग से त्रिसंयोगी भेद बनता है, उपशम, क्षायिक, क्षयोपशम और पारिणामिक के संयोग से चतुः संयोगी भेद होता है और पांच के संयोग से पंच संयोगी सान्निपातिक भाव बनता है। कहा भी है—

दुग तिग चदु पंचेव य संयोगा होंति सन्निवादेसु।
दस दस पंच य एक्क व भावा छव्वीस पिंडेण ॥१॥

अर्थ—दो का संयोग, तीन का, चार का और पांच का संयोग इसप्रकार सान्नि-पातिक भाव में संयोग होता है, इनमें दो का संयोग करने पर द्वि संयोगी के प्रकार दस हो जाते हैं तीन का संयोग करने पर भी दस प्रकार होते हैं, चार का संयोग करने पर पांच प्रकार बनते हैं और पांचों भावों का संयोग करने पर एक प्रकार बनता है। कुल मिलाकर छब्बीस २६ भेद होते हैं ॥ १ ॥ द्विसंयोगी का भेद जैसे औदयिक मनुष्य गति और उपशम सम्यक्त्व के संयोग रूप वह मनुष्य उपशम सम्यक्त्व है ऐसा कहना, ऐसे अन्य क्षायिक आदि दो दो भावों का संयोग करके द्विसंयोगी भेद बना लेना चाहिये। त्रिसंयोगी भेद जैसे–औदयिक औपशमिक और पारिणामिक मिश्रण करना कि यह मनुष्य उपशान्त क्रोध वाला जीव है इत्यादि, इसमें मनुष्य कहने से औदायिक उपशान्त क्रोध कहने से औपशमिक और जीव कहने से पारिणामिक भाव आ जाता है। चतुः संयोगी भेद जैसे–औपशमिक क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक का मिश्रण करके कहना उपशान्त क्रोधी क्षायिक सम्यक्त्वी श्रुतज्ञानी जीव है, इत्यादि। पंच संयोगी एक भेद है जैसे औदयिक, औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक मिश्रण करके घटित करना कि मनुष्य उपशांत मोह क्षायिक सम्यक्त्वी

मदनकोद्रवमदशक्तिक्षयोपशमपरिणामः । चशब्देन षष्ठः सान्निपातिकः समुच्चीयते । स च पूर्वोत्तर-भावसंयोगादिद्वित्रिचतुःपञ्चसंयोगजो ज्ञेयः । जीवस्यात्मनस्तस्य भावस्तत्त्वम् । स्वं च तत्तत्त्वं च स्वतत्त्वमसाधारणं स्वरूपमित्यर्थः । कर्मणः स्वफलदानसामर्थ्येनोद्भूतिरुदयः उदये भव औदयिकः । कर्मोपशमक्षयक्षयोपशमोदयानपेक्षो जीवभावः परिणामस्तत्र भवः पारिणामिकः । त एते औपशमिकादयश्चेतनात्मकं जीवस्यैव स्वतत्त्वं भवतीति समुदायार्थः अचेतनः पुनरौदयिको भावः पुद्गलानामप्य-

---

श्रुतज्ञानी जीव है । इसप्रकार द्विसंयोगी आदि के उदाहरण हैं । ये सान्निपातिक रूप भाव २६ हैं । इनका विवरण तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक ग्रन्थ में अवलोकनीय है ।

जीव का स्वतत्त्व अर्थात् असाधारण स्वरूप जो है वह इन पांच भाव रूप है । कर्म में फलदान की सामर्थ्य प्रगट होना उदय है, उदय में जो हो वह औदयिक भाव है । जो कर्म के क्षय, उपशम और क्षयोपशम की अपेक्षा से रहित है ऐसा जीवका भाव है वह परिणाम है उसमें जो होवे वह पारिणामिक है । इसप्रकार ये औपशमिक आदि भाव चेतनात्मक होने से जीवका स्वतत्त्व कहलाता है ऐसा समुदाय अर्थ जानना चाहिये । अचेतन रूप जो औदयिक भाव है वह पुद्गलों के भी होता है । तथा पारिणामिक छहों द्रव्यों के होता है ऐसा जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—जीव के स्वतत्त्वरूप जो मूल पांच भाव हैं तथा उनके उत्तर भेद त्रेपन हैं वे सब चेतनात्मक हैं । औदयिक भाव पुद्गलात्मक भी होता है वह अचेतन है । अभिप्राय यह है कि कर्म अचेतन पुद्गल द्रव्य है, कर्म की फल देने रूप जो अवस्था है वह उदय है, प्रत्येक कर्म की यह अवस्था होती है अतः प्रकृति भेद से उदय अनेक प्रकार है यह सर्व ही अचेतनात्मक है, उदयरूप जो होवे वह औदायिक है इसप्रकार अर्थ करने पर पौद्गलिक औदायिक भाव का ग्रहण हो जाता है ।

पारिणामिक भाव तीन प्रकार का वह सर्व ही जीव का स्वतत्त्व है । यहां छहों द्रव्यों में पाया जाने वाला पारिणामिक भाव भी होता है ऐसा संकेत किया है वह इसप्रकार है—अस्तित्व, अन्यत्व, पर्यायित्व, प्रदेशत्व, नित्यत्व आदि भाव पारिणामिक कहलाते हैं और ये धर्मादि छहों द्रव्यों में पाये जाते हैं ये सर्व साधारण भाव हैं । इनको पारिणामिक इसलिये कहते हैं कि ये परनिमित्तक नहीं हैं , जैसे कि जीवके जीवत्व आदि भाव कर्म आदि पर के निमित्त से नहीं होते वैसे अस्तित्व आदि परि-

स्ति । तथा पारिणामिकः षण्णामपि द्रव्याणां सम्भवतीति च प्रत्येतव्यम् । प्रत्येकमौपशमिकादयो भावाः किं भेदवन्त उताऽभेदा इत्याह—

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

द्व्यादयः शब्दाः सङ्ख्येयप्रधानास्तत्साहचर्यादेकविंशतिशब्दोऽपि सङ्ख्येयप्रधानो गृह्यते न सङ्ख्यावचनः । द्वौ च नव चाष्टादश चैकविंशतिश्च त्रयश्च द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रयः । ते भेदा येषामौपशमिकादीनां ते द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदाः क्रमस्यानतिक्रमेण यथाक्रमं यथासङ्ख्यमित्यर्थः । तत औपशमिको द्विभेदः । क्षायिको नवभेदः । मिश्रोऽष्टादशभेदः । औदयिक एकविंशतिभेदः । पारिणामिकस्त्रिभेद इति ज्ञेयम् । तत्राद्यस्यौपशमिकस्य द्वौ भेदौ कावित्याह—

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

तत्र दर्शनमोहसम्बन्धिन्यस्तिस्रः कर्मप्रकृतयो मिथ्यात्वं सम्यङ्मिथ्यात्वं सम्यक्त्वं चेति ।

णाम—परिणमन भी परके निमित्त से न होकर स्व स्व स्वभाव से ही अनादि काल से प्रत्येक द्रव्य में पाये जाते हैं ।

प्रत्येक औपशमिक आदि भाव क्या भेद वाले हैं अथवा भेद रहित हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—उन औपशमिक आदि पांचों भावों के क्रमशः दो, नौ, अठारह, इक्कीस और तीन भेद होते हैं । सूत्रोक्त द्वि आदि शब्द संख्येय प्रधान हैं और उनके साहचर्य से एकविंशति शब्द भी संख्येय प्रधान ग्रहण किया है, संख्या प्रधान नहीं । द्वि आदि पदों में द्वन्द्व समास करके पुनः भेद शब्द बहुव्रीहि समास द्वारा जोड़ा है । क्रम का उल्लंघन नहीं करके संख्या घटित करना । औपशमिक भाव दो भेद वाला, क्षायिक के नौ, मिश्र के [क्षयोपशम के] अठारह औदयिक के इक्कीस और पारिणामिक के तीन भेद जानना चाहिये ।

ओपशमिक के दो भेद कौनसे हैं ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—उपशम सम्यक्त्व और उपशम चारित्र ऐसे औपशमिक दो भेद हैं ।

दर्शन मोह सम्बन्धी तीन कर्म प्रकृतियां हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति । चारित्र मोह सम्बन्धी चार प्रकृति अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया,

चारित्रमोहसम्बन्धिन्यश्चतस्रोऽनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभा इति। एतासां सप्तानां कर्मप्रकृतीनामुप-शमात्काललब्ध्यादिहेतुको भव्यस्य पञ्चेन्द्रियस्य संज्ञिनः पर्याप्तस्य जीवस्यौपशमिकः सम्यक्त्वपरिणामो जायते। निःशेषमोहोपशमात्तत्पूर्वकमौपशमिकं चारित्रं चाविर्भवतीति औपशमिकस्य भेदद्वयं कथित-

---

व लोभ। इन सात कर्म प्रकृतियों का उपशम उन जीवों के संभव है जो कि कालादि लब्धियों से संपन्न है भव्य है, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक है, ऐसे विशिष्ट जीव के उपर्युक्त सात प्रकृतियों के उपशम होने पर औपशमिक सम्यक्त्व प्रगट होता है। संपूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक चारित्र प्रगट होता है।

विशेषार्थ—अनादि मिथ्यादृष्टि के जो प्रथमबार सम्यग्दर्शन होता है वह उपशम सम्यग्दर्शन ही होता है, यह मिथ्यात्वप्रकृति और चार अनन्तानुबंधी प्रकृतियों के उपशम से उत्पन्न होता है, जो सादि मिथ्यादृष्टि है अर्थात् जिसका सम्यक्त्व होकर छूट गया है उसको जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह दो तरह से होता है, जिस जीवके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन तीनों की सत्ता मौजूद है वह जीव तो इन तीनों का तथा अनन्तानुबंधी कषायों का उपशम करके उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है, और जिस जीव के सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति की उद्वेलना हो गई है उनके इन दो प्रकृतियों की सत्ता नहीं रहती अतः पांच प्रकृतियों के उपशम से ही उपशम सम्यक्त्व होता है इसप्रकार अनादि मिथ्यात्व दृष्टि के पांच का उपशम होकर उपशम सम्यक्त्व होता है और सादि मिथ्यादृष्टि के दो तरह से–पांच या सात कर्म प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है। ये प्रथमोपशम सम्यक्त्व के भेद हुए। द्वितीयोपशम सम्यक्त्व अनन्तानुबंधी कषाय की विसंयोजना करके [इन चार कषायों को अप्रत्याख्यानावरण आदि बारह कषायरूप संक्रमण करके इनकी सत्ता समाप्त करने पर] तथा दर्शन मोह की तीन प्रकृतियों का उपशम करने पर प्राप्त होता है [एक आचार्य के मत से अनन्तानुबंधी के विसंयोजना के बिना केवल उपशम से द्वितीयोपशम सम्यक्त्व प्रगट होता है] द्वितीयोपशम सम्यक्त्वी उपशम श्रेणी चढ़ता है अतः यह ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है किन्तु प्रथमोपशम सम्यक्त्वी जीव उपशम श्रेणी नहीं चढ़ता है अतः चौथे से सातवें गुणस्थान तक होता है। इसप्रकार उपशम या औपशमिक सम्यक्त्व का कथन है। चारित्र मोह संबंधी इक्कीस कर्म प्रकृतियां अप्रत्याख्यानावरण कषाय चार, प्रत्याख्यानावरण चार कषाय, संज्वलन चार कषाय, तथा

मिदानीं क्षायिकस्य नवभेदाः क इत्याह—

ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

निःशेषज्ञानदर्शनावरणक्षयात्केवलज्ञानं केवलदर्शनं च क्षायिकमाविर्भवति । दानान्तरायक्षयात्सर्वप्राणिनामभयप्रदशक्तिः केवलिनो दानं क्षायिकं प्रभवति । निःशेषलाभान्तरायस्य प्रलयात्परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतो देहबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्मा अनन्ताः पुद्गलाः प्रतिसमयं सम्बन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः । भोगान्तरायस्यात्यन्तविलयादतिशयवाननन्तो भोगः क्षायिको जायते । यत्कृताः कुसुमवृष्ट्यादिविशेषा उपतिष्ठन्ते । निरवशेषोपभोगान्तरायस्य प्रक्षयादुपभोगः क्षायिकः स्यात् । यत्कृताः सिंहासनचामरच्छत्रत्रयादय उपढौकन्ते । वीर्यान्तरायस्यात्यन्तविलयादनन्तवीर्यं क्षायिकमाविर्भवति । चशब्देन सम्यक्त्वचारित्रयोः परिग्रहः ।

हास्यादि नौ नोकषाय इनके उपशम से औपशमिक चारित्र ग्यारहवें गुणस्थान में होता है । अथवा उपशम का प्रारंभ उपशम श्रेणि में आठवें गुणस्थान से होता है अतः आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है ।

अब इस समय क्षायिक सम्यक्त्व के नौ भेद कौनसे हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग तथा च शब्द से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ऐसे नौ भेद क्षायिक भाव के हैं । संपूर्ण ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के क्षय से क्षायिक केवल ज्ञान और क्षायिक केवल दर्शन प्रगट होता है । दानान्तराय कर्म के नाश से केवली भगवान के सर्व प्राणियों को अभय दान शक्ति रूप क्षायिक दान उत्पन्न होता है । निःशेष लाभान्तराय कर्म के प्रलय से क्षायिक लाभ होता है । जिससे कि कवलाहार–भोजन के परित्यागी सयोग केवली जिनेन्द्र के अन्य मनुष्यों में नहीं पाये जाने वाले ऐसे परम शुभ, सूक्ष्म देह में शक्ति के कारण भूत अनन्त पुद्गल प्रति समय सम्बन्ध को प्राप्त होते रहते हैं । भोगान्तराय कर्म के अत्यन्त विलय से अतिशयवान अनन्त क्षायिक भोग होता है जिसके द्वारा सयोगी भगवान के कुसुमवृष्टि आदि विशेष होते हैं । निरवशेष उपभोगान्तराय कर्म के क्षय से क्षायिक उपभोग भाव प्रादुर्भूत होता है, इस क्षायिक उपभोग के फल स्वरूप देवाधिदेव के सिंहासन चामर छत्रत्रय आदि विशेषतायें उत्पन्न होती हैं । वीर्यान्तराय कर्म के विनाश से क्षायिक अनन्तवीर्य

प्रागुक्तमिथ्यात्वादि सप्तप्रकृतीनामत्यन्तक्षयात्सम्यक्त्वं क्षायिकम् । नि:शेषमोहक्षयाच्चारित्रं क्षायिकम् । सिद्धेषु क्षायिकदानादीनां कथं वृत्तिरिति चेदुच्यते—शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यभावादभय दानादिबाह्यकार्याभावेऽपि परमानन्तवीर्याऽव्याबाधरूपेणैव तेषां सिद्धेषु वृत्तिर्वेदितव्या । केवलज्ञान-रूपेणानन्तवीर्यवृत्तिवत् । उक्ता ज्ञानादय: क्षायिकस्य नव भेदा: । साम्प्रतं मिश्रभावस्याष्टादशभेद-संसूचनार्थमाह—

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदा: सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ।। ५ ।।

सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तेषामेव सदुपशमाद्देशघातिस्पर्धकानामुदये सति ज्ञानादि: क्षायो-पशमिको भावो भवति । ज्ञानादय उक्तलक्षणा: । चत्वारश्च त्रयश्च त्रयश्च पञ्च च चतुस्त्रित्रिपञ्च ।

प्रगट होता है । सूत्रोक्त च शब्द से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र भावों का ग्रहण होता है । पहले कहे हुए मिथ्यात्व आदि सात कर्म प्रकृतियों के अत्यन्त क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व भाव उत्पन्न होता है । संपूर्ण मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक चारित्र भाव होता है ।

शंका— क्षायिक दान आदि का लक्षण सर्व जीवों को अभय दान देना आदि किया है सो ऐसे क्षायिक दानादि सिद्धों में किस प्रकार संभव है ?

समाधान—सिद्ध प्रभु के तीर्थंकर नाम कर्म के उदय आदि रूप कारणों का अभाव होने से अभयदानादि बाह्य कार्यों का यद्यपि अभाव है तो भी परम अनन्तवीर्य अव्याबाध गुण रूप से उन अभयदानादि का सद्भाव सिद्धों में पाया जाता है ऐसा जानना चाहिये । जैसे कि अनन्तवीर्य केवलज्ञान स्वरूप से अवस्थित होता है ।

क्षायिक भाव के ज्ञानादि नौ भेद कह दिये । अब मिश्र भाव के अठारह भेदों की सूचना के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—चार भेद वाला ज्ञान, अज्ञान के तीन भेद, दर्शन तीन प्रकार का, लब्धियां पांच तथा क्षयोपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम चारित्र और संयमासंयम ये क्षयोपशम भाव के अठारह भेद हैं ।

वर्तमान के सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय [पररूप से देश घाती में स्तिबुक संक्रमण द्वारा संक्रमित होकर उदय में आना और नष्ट होना] है और सत्ता में स्थित आगामी सर्वघाती कर्म स्पर्धकों का असमय में उदय में नहीं आने देना सदवस्था रूप उपशम कहलाता है इसप्रकार उदयाभावी क्षय और सदवस्था रूप

ते भेदा यासां ताश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः । यथाक्रममित्यनुवर्तते । तेन चतुरादिभिर्ज्ञानादीनां यथासङ्ख्यमभिसम्बन्धः क्रियते । ज्ञानं चतुर्भेदं—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययविकल्पात् । त्रिभेदमज्ञानं—मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानभेदात् । दर्शनं त्रिभेदं—चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनविकल्पात् । पञ्चभेदा लब्धिर्दानादिविकल्पात् । वेदकं सम्यक्त्वमेकम् । चारित्रं यतिधर्मस्तदेकम् । संयमासंयमो देशसंयमः श्रावकधर्मः सोप्येक एव । त एतेऽष्टादशैव मिश्रभावभेदा भवन्ति । संज्ञित्वस्य मतिज्ञाने, योगस्य वीर्ये, सम्य-

---

उपशम ऐसे दो रूप सर्वघाती कर्म के निषेकों का होना और देशघाती कर्म निषेक उदय में आना इसप्रकार मिश्रित रूप कर्म अवस्था के होने पर जो भाव उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। जैसे मति ज्ञानावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों में से वर्त्तमान के निषेक का स्तिबुक संक्रमण होकर देशघाती रूप होकर उदय में आकर खिरना, तथा उसी सर्वघाती के आगामी काल में आनेवाले निषेकों को असमय में उदय में नहीं आना सदवस्था रूप उपशम है, तथा उसी मतिज्ञानावरण कर्म में जो देशघाती स्पर्धक हैं उनके निषेकों का उदय होना ऐसी मतिज्ञानावरण कर्म की अवस्था हो जाने पर क्षायोपशमिक मतिज्ञान प्रगट होता है। इसीप्रकार श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदि संपूर्ण अठारह भाव उस उस कर्म की क्षयोपशम रूप अवस्था होने पर उत्पन्न होते हैं। मतिज्ञानादि का लक्षण पहले कह आये हैं। सूत्रोक्त चतुः आदि संख्यावाचक पदों में प्रथम ही द्वन्द्व समास करना फिर बहुव्रीहि समास द्वारा भेद शब्द जोड़ना। यथाक्रम का अनुवर्त्तन है उससे चार आदि संख्या के साथ ज्ञानादि का सम्बन्ध कर लिया जाता है। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार भेद ज्ञान के हैं। मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगावधि ये तीन अज्ञान के भेद हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ये तीन दर्शन के भेद हैं। क्षायोपशमिक दान, लाभ, भोग उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियों के भेद हैं। एक वेदक–क्षयोपशम सम्यक्त्व है। यति धर्मरूप एक क्षयोपशम चारित्र है। देश संयम रूप संयमासंयम श्रावकधर्म भी एक ही भाव है। इसप्रकार सब मिलाकर कुल अठारह मिश्र भाव के भेद होते हैं।

संज्ञीपना (मन सहितता) रूप जो क्षयोपशम भाव है उसका मतिज्ञान नाम वाले क्षयोपशम भाव में अन्तर्भाव होता है, मनोयोग आदि योग का क्षयोपशमिक वीर्य भाव में अन्तर्भाव होता है और सम्यग्मिथ्यात्व भाव का क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में

ङ्मिथ्यात्वस्य सम्यक्त्वेऽन्तर्भावात् । इदानीमौदयिकस्यैकविंशतिभेदसंज्ञाप्ररूपणार्थमाह—

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

गत्यादयः शब्दाः कृतद्वन्द्वा निर्दिष्टाः । चत्वारश्च चत्वारश्च त्रयश्च एकश्चैकश्चैकश्चैकश्च षट् च ते भेदा यासां गत्यादीनां तास्तथोक्ताः । यथा क्रममित्यनुवर्तते । ततो नरकगत्यादिनामकर्मोदयाद्गतिरौदयिकी भवति । सा चतुर्भेदा—नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदात् । क्रोधादिकषायनिर्वर्तनस्य कर्मण उदयात्कषाय औदयिकः । स च चतुर्धा–क्रोधमानमायालोभविकल्पात् । स्त्रीवेदादिकर्मण उदयाल्लिङ्गमौदयिकम् । तत्त्रिविधं—स्त्रीपुंनपुंसकभेदात् । मिथ्यात्वकर्मण उदयान्मिथ्यादर्शनं तत्त्वार्थाऽश्रद्धानरूपमौदयिकमेकम् । ज्ञानावरणकर्मोदयात्पदार्थाऽनवबोधो भवत्यज्ञानमौदयिकं तदेकम् । चारित्रमोहस्य

अन्तर्भाव होता है ।

अब औदायिक भाव के इक्कीस भेदों के नामों का प्ररूपण करने के लिये अग्रिम सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, एक मिथ्या दर्शन, एक अज्ञान, एक असंयतत्व, एक असिद्धत्व और छह लेश्या में इसतरह औदायिक भाव के इक्कीस भेद जानना चाहिये ।

गति आदि पदों में द्वन्द्व समास हुआ है । तथा चतुः आदि संख्या वाचक पदों का भी द्वन्द्व समास हुआ है पुनश्च भेद शब्द के साथ उनका बहुव्रीहि समास हुआ है । यथाक्रम पद की अनुवृत्ति है उससे गति आदि का क्रम से चार आदि संख्या के साथ सम्बन्ध हो जाता है । नरक गति आदि नामकर्म के उदय से नरकगति आदि रूप औदयिक भाव होता है । वह गति चार भेद वाली है—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति । क्रोधादि कषायों को पैदा करनेवाले कर्म के उदय से औदयिक कषायभाव होता है, वह चार प्रकार का है क्रोध, मान, माया और लोभ । स्त्रीवेद आदि कर्म के उदय से लिंग औदायिक भाव होता है, वह तीन प्रकार का है स्त्रीलिंग पुंलिंग, नपुंसक लिंग । मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्यादर्शन होता है जो तत्त्वार्थों की श्रद्धा नहीं होने देता यह एक प्रकार का औदयिक भाव है । ज्ञानावरण कर्म के उदय से पदार्थों का बोध नहीं होनेरूप अज्ञान औदयिक भाव एक है । चारित्रमोह

सर्वघातिस्पर्धकस्योदयादसंयतपरिणाम औदयिक एकः। कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धत्वपर्याय औदयिक एकः। कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्भावलेश्या औदयिकी। सा षड्विधा—कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्लभेदात्। उपशान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिषु भूतपूर्वगत्या कषायोदयरञ्जनाद्योगस्य शुक्ल-लेश्यात्वोपचारसम्भवः। त इमे एकविंशतिभेदा औदयिकभावस्य बोद्धव्याः। असञ्ज्ञित्वमज्ञाने, मिथ्या-दर्शने त्वदर्शनमन्तर्भवति। हास्यादीनां षण्णां नोकषायाणां लिङ्गस्योपलक्षणत्वाद्ग्रहणम्। सकलाऽ-घातिकार्याणामौदयिकानां गतिग्रहणमुपलक्षणम्। अधुना पारिणामिकभावभेदसङ्कीर्तनार्थमाह—

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

जीवत्वं चैतन्यम्। सम्यग्दर्शनादिपर्यायाविर्भावशक्तिर्यस्यास्ति स भव्यः। तद्विपरीतलक्षणः पुनरभव्यः। जीवश्च भव्यश्चाभव्यश्च जीवभव्याभव्यास्तेषां प्रत्येकं भावा जीवभव्याभव्यत्वानि—

कर्म के सर्व घाती स्पर्धक के उदय से असंयत औदयिक भाव एक है। कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा असिद्धत्व पर्यायरूप औदयिक भाव एक है। कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति रूप भाव लेश्या औदयिक है। वह छह प्रकार की है, कृष्ण, नील, कपोत, पीत, पद्म और शुक्ल। उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय और सयोग केवली इन तीन गुणस्थानों में भूतपूर्व नय की अपेक्षा से लेश्या कही जाती है अर्थात् इन तीन गुणस्थानों में कषायोदय नहीं है किन्तु योग है। जो योग पहले कषायोदय से संयुक्त था वह यहां पर योग है, इसतरह भूतपूर्व न्याय से इन गुणस्थानों में योग प्रवृत्ति मात्र को उपचार से लेश्या–शुक्ल लेश्या कहा गया है। ये इक्कीस भेद औद-यिक भाव के जानने चाहिये। असंज्ञित्व भाव का अज्ञान भाव में और मिथ्यादर्शन में अदर्शन भाव का अन्तर्भाव होता है। तीन लिंग के ग्रहण से हास्यादि छह नोकषायों का उपलक्षण से ग्रहण कर लिया है। संपूर्ण अघातिया कर्मों के उदय से होनेवाले सभी औदयिक भावों का संग्रह गति ग्रहणरूप उपलक्षण से हो जाता है।

अब इस समय पारिणामिक भावों के भेदों को बतलाने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं, जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व।

चैतन्य को जीवत्व कहते हैं। सम्यक्त्व आदि पर्याय के प्रगट होने की शक्ति जिसके है वह जीव भव्य है। इससे विपरीत लक्षण वाला अर्थात् जिसके सम्यक्त्वादि पर्याय कभी प्रगट नहीं होगी वह अभव्य है। जीवश्च, भव्यश्च अभव्यश्च जीवभव्या-

जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वं चेति । कर्मविशेषोपशमाद्यनपेक्षास्त्रयोऽन्यद्रव्यासाधारणाः पारिणामिकभावभेदाः प्राधान्येनोक्ताः। चशब्दाद्द्रव्यान्तरसाधारणाः सत्त्वद्रव्यत्वासङ्ख्येयप्रदेशत्वामूर्तत्वादयोऽप्राधान्येनोक्ता गृह्यन्ते । अत्राह—जीवकर्मणोर्बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यविवेकः प्राप्नोतीति । तन्न—लक्षणतस्तन्नानार्थत्वसिद्धेः । यद्येवं जीवस्यैव तावर्त्किं लक्षणमित्यत्रोच्यते—

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

अन्तरङ्गबहिरङ्गकारणवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः । लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं ज्ञापकमित्यर्थः । प्रस्तुतस्य जीवस्योपयोगलक्षणं भवत्यन्यद्रव्यासाधारणत्वात् । तथा चात्मा पुद्गलादिभ्यस्तत्त्वान्तरं तद्भिन्नलक्षणत्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेः । उपयोगस्य भेदप्रभेददर्शनार्थमाह—

भव्याः । ऐसा द्वन्द्व समास करके भाव वाचक "त्व" प्रत्यय जोड़ा गया है अर्थात् जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व । कर्म के उपशम क्षय आदि की अपेक्षा नहीं रखनेवाले ये तीन भाव पारिणामिक हैं जो कि अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते हैं अतः असाधारण रूप ये ही तीन भाव प्रधानता से कहे गये हैं । सूत्रोक्त च शब्द द्वारा अन्य द्रव्यों में पाये जाने वाले साधारण रूप सत्त्व, द्रव्यत्व, असंख्येय प्रदेशत्व अमूर्त्तत्व आदि भाव अप्रधानता से ग्रहण किये हैं ।

शंका—जीव और कर्म को बंध की अपेक्षा एकपना स्वीकार करने पर उन दोनों में अभिन्नता प्राप्त होगी अर्थात् ये फिर कभी पृथक् नहीं हो पायेंगे ?

समाधान—ऐसा नहीं है । जीव और कर्म ये दोनों बंध दृष्टि से भले ही एकत्व को प्राप्त हों किंतु लक्षण की दृष्टि से इनमें नानापना भिन्नपना सिद्ध है अर्थात् जीवका और कर्म का लक्षण भिन्न भिन्न होने से दोनों में भेद है ।

शंका—यदि ऐसी बात है तो बतलाईये कि जीवका लक्षण क्या है ?

समाधान—इसीको सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—जीवका लक्षण उपयोग है । अंतरंग और बहिरंग कारण के वश से उत्पन्न होने वाला चैतन्यानुसार परिणाम उपयोग कहलाता है । जिसको लक्षित किया जाता है उसे लक्षण या ज्ञापक कहते हैं । प्रस्तुत जीवका लक्षण उपयोग है, क्योंकि यह जीवको छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं रहता है । तथा आत्मा पुद्गलादि से भिन्न तत्त्व है, क्योंकि उनसे विभिन्न लक्षणत्व की अन्यथानुपपत्ति है, अर्थात् दोनों के लक्षण पृथक् पृथक् हैं इसलिये भिन्न भिन्न तत्त्व रूप हैं ।

उपयोग के भेद प्रभेद दिखाने के लिये सूत्र कहते हैं—

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।। ६ ।।

स पूर्वोक्त उपयोग इत्यर्थः । द्वौ विधौ प्रकारौ भेदौ यस्यासौ द्विविधः । अष्टौ च चत्वारश्चाष्ट चत्वारस्ते भेदा यस्य सोऽयमष्टचतुर्भेदः । स उपयोगस्तावद्द्विभेदः । साकाराऽनाकारविकल्पात्साकारं सविकल्पकं ज्ञानमित्यर्थः । अनाकारं निर्विकल्पकं दर्शनमित्यर्थः । तदुक्तम्—

सविकल्पं भवेज्ज्ञानं निर्विकल्पं तु दर्शनम् ।
द्वाविमौ प्रतिभासस्य भेदौ वस्तुनि कीर्तितौ ।। इति ।।

सूत्रार्थ—वह उपयोग दो प्रकार का है पुनः उन दोनों के क्रमशः आठ और चार भेद हैं । 'स' शब्द से उपयोग का ग्रहण होता है । द्विविध शब्द में बहुव्रीहि समास और 'अष्ट चतुर्भेदः' पद में प्रथम द्वन्द्व समास करके बहुव्रीहि समास किया है । प्रथम ही उपयोग के दो भेद हैं साकार उपयोग और अनाकार उपयोग । सविकल्प ज्ञान को साकारोपयोग कहते हैं और निर्विकल्पक दर्शन को अनाकारोपयोग कहते हैं । कहा है—ज्ञान सविकल्प है और दर्शन निर्विकल्प है; वस्तु के प्रतिभास के ये दो भेद कहे गये हैं ।।१।। ज्ञान आठ प्रकार का है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवलज्ञान, मतिअज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगावधि । दर्शन चार प्रकार का है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन । इसप्रकार जीव के यह बारह प्रकार का सामान्य–विशेषात्मक उपयोग यथासंभव लगा लेना चाहिये, अर्थात् कौनसे गुणस्थान में कितने उपयोग होते हैं यह घटित कर लेना चाहिये ।

गुणस्थानों में उपयोग की संख्या दर्शक चार्ट—

गुणस्थान	ज्ञानोपयोग	दर्शनोपयोग
१ मिथ्यात्व	कुमति, कुश्रुत, विभंग ३	चक्षु अचक्षुदर्शन २
२ सासादन	"	"
३ मिश्र	मिश्ररूप तीन ज्ञान ३	चक्षु, अचक्षु अवधिदर्शन ३
४ अविरत	मति आदि तीन सुज्ञान ३	"
५ देशविरत	" "	"
६ प्रमत्त	मतिश्रुत अवधि मनःपर्यय ४	"
७ अप्रमत्त	" ४	"

ज्ञानमष्टविधं–मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं मत्यज्ञानं श्रुताऽज्ञानं विभङ्गज्ञानं चेति । दर्शनं चतुर्भेदं–चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति । एवं सामान्यविशेषात्मको द्वादशविकल्प उपयोगो जीवानां यथासम्भवं योजनीयः । ते चोपयोगिनो जीवा द्विविधाः ।

संसारिणो मुक्ताश्च ।। १० ।।

संसरणं संसारः । स च नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतिषु द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरिवर्तनरूपः पञ्च-

गुणस्थान	ज्ञानोपयोग	दर्शनोपयोग
८ अपूर्वकरण	,, ४	,,
९ अनिवृत्तिकरण	,, ४	,,
१० सूक्ष्मसांपराय	,, ४	,,
११ उपशांतमोह	,, ४	,,
१२ क्षीणमोह	,, ४	,,
१३ सयोग केवली	केवलज्ञान १	केवलदर्शन
१४ अयोग केवली	केवलज्ञान १	केवलदर्शन

उपर्युक्त उपयोग धारक जीव दो प्रकार के हैं—

सूत्रार्थ—जीव दो प्रकार के होते हैं संसारी और मुक्त । संसरण परिभ्रमण को संसार कहते हैं । नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में भ्रमण स्वरूप अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव स्वरूप पंच परावर्तन करना संसार है । जिनके यह संसार पाया जाता है वे संसारी जीव कहलाते हैं । जो उक्त पंच परावर्त्तन रूप संसार से रहित हो गये हैं वे जीव मुक्त कहलाते हैं । संसारी और मुक्त पदों में बहु वचन रखा है क्योंकि ये दोनों ही प्रकार के जीव अनंत हैं ।

विशेषार्थ—"संसरणं संसारः" अनादि काल से मिथ्यात्वादि विकारी परिणाम युक्त होकर यह जीव पांच प्रकार से तीन लोक में भ्रमण कर रहा है, यह परिवर्त्तन अति विशाल, अगाध, अथाह है । पंच परावर्त्तन का संक्षिप्त स्वरूप यहां पर बतलाते हैं—द्रव्य परिवर्त्तन, क्षेत्र परिवर्त्तन, काल परिवर्त्तन, भव परिवर्त्तन और भाव परि-वर्त्तन । द्रव्य परिवर्त्तन के दो भेद हैं—नोकर्म द्रव्य परिवर्त्तन और कर्म द्रव्य परि-वर्त्तन । अब नोकर्म द्रव्य परिवर्त्तन का स्वरूप कहते हैं—किसी एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों को एक समय में ग्रहण किया । वे पुद्गल जिन स्निग्ध रूक्ष आदि स्पर्श तथा वर्ण गन्ध से युक्त थे, तथा जिस तीव्र मन्दादि भाव से ग्रहण किये थे उस रूपसे अवस्थित रहकर द्वितीयादि समयों में निर्जीर्ण हो गये ।

प्रकार उक्तः । संसारो विद्यते येषां ते संसारिणः । पञ्चविधसंसारविरहिता मुक्ताः उभयत्र बहुवचन-

---

तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोड़ा, मिश्र परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोड़ा और बीच में गृहीत परमाणुओं को अनन्तबार ग्रहण करके छोड़ा। तत्पश्चात् जब उसी जीव के सर्व प्रथम ग्रहण किये गये वे ही परमाणु उसी प्रकार से नोकर्म भाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक नोकर्म द्रव्य परिवर्तन होता है। अब कर्म द्रव्य परिवर्त्तन का कथन करते हैं—एक जीव ने आठ प्रकार के कर्म रूप से जिन पुद्गलों को ग्रहण किया वे समयाधिक एक आवलीकाल के बाद द्वितीयादिक समयों में झर गये। पश्चात् जो क्रम नोकर्म द्रव्य परिवर्त्तन में बतलाया है उसी क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से उस जीव के जब कर्म भाव को प्राप्त होते हैं तब यह सब मिलकर एक कर्म द्रव्य परिवर्त्तन कहलाता है। नोकर्म द्रव्यपरिवर्त्तन और कर्म द्रव्यपरिवर्त्तन दोनों मिलकर एक द्रव्यपरिवर्त्तन पूर्ण होता है।

अब क्षेत्र परिवर्त्तन को कहते हैं—जिसका शरीर आकाश के सबसे कम प्रदेशों पर स्थित है ऐसा एक सूक्ष्म निगोद लब्ध्य पर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य में करके उत्पन्न हुआ और क्षुद्र भव ग्रहण काल तक जीकर मर गया। पश्चात् वही जीव पुनः उसी अवगाहना से वहां दूसरीबार उत्पन्न हुआ, तीसरी बार उत्पन्न हुआ, इसप्रकार अंगुल के असंख्यातवें भाग में आकाश के जितने प्रदेश हैं उतनीबार वहीं उत्पन्न हुआ। पुनः उसने आकाश का एक एक प्रदेश बढ़ाकर सब लोक को अपना जन्म क्षेत्र बनाया इसप्रकार यह सब मिलकर एक क्षेत्र परिवर्त्तन होता है।

काल परिवर्त्तन—कोई जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण कर मरा। पुनः वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु पूर्ण कर मरा। इसप्रकार इसने क्रम से उत्सर्पिणी समाप्त की और इसीप्रकार अवसर्पिणी भी समाप्त की यह जन्म का नैरन्तर्य कहा। तथा ऐसे ही मरण का नैरन्तर्य लेना चाहिये। यह सब मिलकर एक काल परिवर्त्तन है।

भव परिवर्त्तन—नरकगति में सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है। एक जीव उस आयु से वहां उत्पन्न हुआ पुनः घूम फिरकर उसी आयु से वहीं उत्पन्न हुआ।

निर्देशोऽनन्तत्वख्यापनार्थ: । संसारिणां विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

इसप्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय हैं उतनी बार वहीं उत्पन्न हुआ और मरा। पुन: आयु में एक एक समय बढ़ाकर नरक की तैंतीस सागर आयु समाप्त की। तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त्त आयु के साथ तिर्यंचगति में उत्पन्न हुआ और पूर्वोक्त क्रम से उसने तिर्यचगति की तीन पल्य आयु समाप्त की। इसी तरह मनुष्य गति में अन्तर्मुहूर्त्त से लेकर तीन पल्य की आयु समाप्त की। देवगति में नरकगति समान कथन करना किन्तु विशेषता यह है कि यहां इकतीस सागर आयु समाप्त होने तक कथन करना चाहिये। यह सब मिलकर एक भव परिवर्त्तन होता है।

भाव परिवर्त्तन—यह गहन गंभीर परिवर्त्तन है इसमें कषायाध्यवसाय स्थान, स्थिति बंधाध्यवसाय स्थान, अनुभाग बंधाध्यवसाय स्थान ये सब ही असंख्यात लोक प्रमाण हैं, कर्मों के स्थिति भेद आदि भी असंख्यात हैं। योग स्थान जगत् श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। इनका जघन्य से उत्कृष्ट तक परिवर्त्तन करना। सब प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध के स्थानों को प्राप्त करने पर एक भाव परिवर्त्तन होता है। इस परिवर्त्तन का विशेष वर्णन सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रंथ से जानना चाहिये।

इन पांचों परिवर्त्तनों में से एक एक का भी काल अनंत है फिर द्रव्य परिवर्त्तन से अनन्त गुणा क्षेत्र परिवर्त्तन का काल है, उससे अनन्तगुणा काल परिवर्त्तन का उससे अनंतगुणा भव परिवर्त्तन का और उससे अनन्त गुणा भाव परिवर्त्तन का काल है। एक भाव परिवर्त्तन पूर्ण होने में जितना काल लगता है उस काल में अनन्त भव परिवर्त्तन हो जायेंगे ऐसे ही कालादि परिवर्त्तनों के विषय में समझना। जिसप्रकार एक मास में अनेक दिन, एक दिन में अनेक घंटे, एक घंटे में अनेक मिनिट और एक मिनिट में अनेक सेकेन्ड हो जाते हैं अथवा अनेकोंबार सेकेन्डों का परिवर्त्तन हो तो एक मिनिट होता है, अनेकोंबार मिनिटों का परिवर्त्तन हो तब एक घंटा होता है, अनेकोंबार घंटों का परिवर्त्तन हो तब एक दिन होता है और अनेकोंबार दिनों का परिवर्त्तन होने पर एक मास पूर्ण हो पाता है, इसीप्रकार एक भाव परिवर्त्तन में अनन्त भव परिवर्तन, एक भव परिवर्त्तन में अनंत काल परिवर्त्तन, एक काल परिवर्त्तन में अनन्त क्षेत्र परावर्त्तन और एक क्षेत्र परावर्त्तन में अनंत द्रव्य-

समनस्कामनस्काः ।। ११ ।।

मनो द्विविधं-द्रव्यभावभेदात् । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः । वीर्यान्तराय नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षा आत्मविशुद्धिर्भावमनः तेन मनसा सह वर्तन्त इति समनस्काः । न विद्यते मनो येषां ते अमनस्काः । समनस्काश्चामनस्काश्च समनस्कामनस्काः उत्तरसूत्रस्यादौ यत्संसारिग्रहणं कृतं तस्येह सम्बन्धान्मुक्तानामननुवृत्तेर्यथासङ्ख्यं नास्ति ततः संसारिण एव केचित्समनस्काः केचिदमनस्का इति वेदितव्यम् । पुनरपि संसारिणां भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

परावर्त्तन हो जाते हैं अथवा द्रव्य परिवर्त्तन अनंतबार होवे तब एक क्षेत्र परिवर्त्तन पूर्ण होता है ऐसा आगे कालादि में भी समझना । यह उदाहरण मात्र है । वास्तव में इन परावर्त्तनों का समय एवं स्वरूप दुरूह है । मिथ्यात्व के वश में होकर हम संसारी जीवों ने ऐसे अनंत परिवर्त्तन अतीत में कर लिये हैं । भव्य मुमुक्षुजनों को इसकी गहनता, विषमता, दुःख दायकता ज्ञात कर शीघ्र ही सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेना चाहिये । सम्यग्दर्शन ही एक ऐसा अमूल्य रत्न है जो इस अनंत परावर्त्तनों का नाश-छेद कर देता है ।

अब संसारी जीवों के विशेष भेद बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—संसारी जीव संज्ञी और असंज्ञी होते हैं । मन दो प्रकार का है द्रव्य-मन, भावमन । पुद्गल विपाकी नाम कर्म के उदय से द्रव्य मन बनता है । वीर्यान्ति-राय कर्म और नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर आत्मा की जो विशुद्धि है वह भाव मन कहलाता है । अर्थात् शरीर में हृदय रचना रूप द्रव्य मन है और वीर्यान्तरायादि कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो विचार करने की शक्ति होती है वह भाव मन है । ऐसे मन से युक्त जीवों को समनस्क कहते हैं । जिनके उक्त मन नहीं है वे अमनस्क जीव हैं । आगे के बारहवें नंबर के सूत्र में "संसारिणः" पद लिया है उसका सम्बन्ध इस ग्यारहवें सूत्र में भी करना चाहिये जिससे यथाक्रम का प्रसंग नहीं होगा, अर्थात् संसारी जीव समनस्क और मुक्त जीव अमनस्क ऐसा विरुद्ध क्रम नहीं जोड़ सकते, क्योंकि अग्रिम सूत्र से संसारी शब्द का ग्रहण कर लिया जाता है, अतः संसारी जीवों में ही कोई समनस्क होते हैं और कोई अमनस्क (मन सहित और मन रहित) होते हैं ऐसा जानना चाहिये ।

पुनः संसारी जीवों के भेद बतलाते हैं—

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

त्रसनामकर्मोदये सति त्रस्यन्ति चलन्तीति त्रसाः। स्थावरनामकर्मोदये सति स्थानशीला अचलनस्वभावाः स्थावराः अत्र व्युत्पत्तेर्गौणत्वान्न चलनाचलनात्मकं त्रसस्थावरत्वं किं तर्हि नामकर्मोदयनिमित्तम्। अत्रापि पुनः संसारिग्रहणात्समनस्कामनस्कानां त्रसस्थावराणां च याथासङ्ख्याभावे संसारिण एव त्रसाः स्थावराश्चेति विभज्यन्ते तत्राल्पवक्तव्यत्वात् स्थावराणां तावन्निश्चयः क्रियते—

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

स्थावरनामकर्मभेदाः पृथिव्यादयः सन्ति। तदुदयनिमित्ता जीवेषु पृथिव्यादयः संज्ञा वेदितव्याः। तत्र पृथिवी, पृथिवीकायः, पृथिवीकायिकः, पृथिवीजीव इति चतुर्णामपि पृथिवीशब्दवाच्यत्वेऽपि शुद्धपुद्गलपृथिव्याः जीवपरित्यक्तपृथिवीकायस्य च नेह ग्रहणं तयोरचेतनत्वेन तत्कर्मोदया

सूत्रार्थ—संसारी के त्रस और स्थावर ऐसे दो भेद हैं।

त्रस नाम के उदय होने पर जो उद्वेग को प्राप्त होते हैं चलते हैं वे त्रस हैं। स्थावर नाम कर्म के उदय होने पर स्थान शील होते हैं अचल स्वभावी होते हैं वे स्थावर हैं। यहां पर निरुक्ति अर्थ गौण है अतः चलना और नहीं चलना रूप त्रस स्थावर पना नहीं लिया है किन्तु नाम कर्म के उदय के निमित्त से होने वाला त्रस स्थावरत्व लिया है। इस सूत्र में पुनः संसारी शब्द ग्रहण किया है जिससे कि समनस्क अमनस्क तथा त्रस स्थावरों के यथासंख्यपना न होवे अर्थात् सभी त्रस समनस्क और स्थावर अमनस्क ऐसा क्रम नहीं लगाना है, संसारी के ही त्रस स्थावर ऐसे दो भेद होते हैं ऐसा क्रम लगाना है।

स्थावरों के विषय में अल्प कथन है अतः पहले उनका निश्चय करते हैं—

सूत्रार्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, वायू और वनस्पति जीव स्थावर हैं। स्थावर नाम के उत्तर भेद पृथिवी आदि हैं, उस उस कर्म के उदय के निमित्त से जीवों में पृथिवी आदि संज्ञायें होती हैं। उनमें पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवी जीव इसप्रकार चारों भेद पृथिवी शब्द के वाच्य हैं तो भी यहां पर शुद्ध पुद्गल पृथिवी और जीव के द्वारा छोड़ दिया गया पृथिवीकाय का ग्रहण नहीं करना, क्योंकि ये दोनों अचेतन स्वभावी हैं, इनमें उस पृथिवी नाम कर्म का उदय संभव नहीं है अतः उस कर्मोदय निमित्तक संज्ञा इन अचेतन के नहीं होती। यहां पर तो जीवका

सम्भवात्तत्कृतपृथिवीव्यपदेशासिद्धेः। तस्माज्जीवाधिकारात्पृथिवीकायत्वेन गृहीतवतः पृथिवीकायिकस्य विग्रहगत्यापन्नस्य पृथिवीजीवस्य च ग्रहणं तयोरेव पृथिवीस्थावरनामकर्मोदयसद्भावात्पृथिवीव्यपदेशाघटनात्। एवमप्तेजोवायुवनस्पतीनामपि व्याख्यानं योजनीयम्। त एते पञ्चविधाः प्राणिन एकेन्द्रियाः स्थावराः प्रत्येतव्याः। एषां चत्वारः प्राणाः सन्ति–स्पर्शनेन्द्रियप्राणः, कायबलप्राणः, उच्छ्वासनिःश्वासप्राणः, आयुः प्राणश्चेति। अथ के ते त्रसा इत्याह—

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥ १४ ॥

द्वे इन्द्रिये यस्य सोऽयं द्वीन्द्रियः। द्वीन्द्रिय आदिर्येषां ते द्वीन्द्रियादयः अत्रादिशब्दस्य व्यवस्था-

---

अधिकार है, इसलिये पृथिवी को शरीर रूप से जिसने ग्रहण किया है वह पृथिवीकायिक और विग्रहगति में स्थित पृथिवी नाम कर्मोदय वाला पृथिवी जीव इसप्रकार दो का ग्रहण किया है। इनके ही पृथिवी स्थावर नाम का उदय होने से पृथिवी संज्ञा घटित होती है। इसीप्रकार अग्नि, जल वायु और वनस्पति में चार चार भेद लगाना चाहिये।

विशेषार्थ—जो अचेतन है, प्राकृतिक परिणमनों से बनी है और कठिन गुण वाली है वह पृथिवी कहलाती है, अचेतन होने से यद्यपि इसमें पृथिवी नाम कर्म उदय नहीं है तो भी प्रथन क्रिया से उपलक्षित होने के कारण पृथिवी कहलाती है। काय का अर्थ शरीर है पृथिवी कायिक जीव द्वारा जो छोड़ दिया गया है वह पृथिवी काय है। जिस जीव के पृथिवी रूप काय विद्यमान है वह पृथिवी कायिक है। कार्मण काय योग में स्थित विग्रह गति वाला जीव जब तक पृथिवी को काय रूप से ग्रहण नहीं करता है तब तक पृथिवी जीव है। इसीप्रकार अग्नि, अग्निकाय, अग्निकायिक और अग्नि जीव। जल, जलकाय, जलकायिक और जलजीव, वायु, वायुकाय, वायुकायिक और वायुजीव, वनस्पति, वनस्पतिकाय वनस्पतिकायिक और वनस्पति जीव इसतरह चार चार भेद होते हैं, इनके उदाहरण आगमानुसार ज्ञात कर लेने चाहिये।

वे सभी पाँच प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं इन जीवों के चार प्राण होते हैं—स्पर्शनेन्द्रियप्राण, कायबल प्राण, उच्छ्वासनिश्वासप्राण और आयुप्राण।

त्रस जीव कौन हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—द्वीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं। दो इन्द्रियां जिसके पायी जाती हैं वह द्वीन्द्रिय है। द्वीन्द्रिय है आदि में जिसके वे द्वीन्द्रियादि कहलाते हैं। यहां पर

वाचित्वादागमे व्यवस्थिता द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिया गृह्यन्ते । द्वीन्द्रियस्य प्राणाः पूर्वोक्ताश्चत्वारो रसनावाक्प्राणाधिकाः षड्भवन्ति । त्रीन्द्रियस्य त एव घ्राणप्राणाधिकास्सप्त प्राणा भवन्ति । चतुरिन्द्रियस्य त एव चक्षुःप्राणाधिका अष्ट प्राणा भवन्ति । पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनस्त एव श्रोत्रप्राणाधिका नव प्राणा भवन्ति । संज्ञिनस्त एव मनोबलाधिका दश प्राणा भवन्ति । त एते द्वीन्द्रियादयस्त्रससंज्ञा भवन्ति । इदानीमिन्द्रियाणामियत्तावधारणार्थमाह—

पञ्चेन्द्रियाणि ।। १५ ।।

इन्द्रियशब्दो व्याख्यातार्थः । अत्रोपयोगप्रकरणादुपयोगसाधनानां ग्रहणं, न क्रियासाधनानां

आदि शब्द व्यवस्थावाची होने से आगम में व्यवस्थित द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव ग्रहण किये जाते हैं, द्वीन्द्रिय जीवों के छह प्राण हैं, पूर्वोक्त चार और रसना तथा वचन बल प्राण । त्रीन्द्रिय जीव के उक्त छह प्राणों में एक घ्राणेन्द्रिय मिलाने से सात प्राण होते हैं । चतुरन्द्रिय जीव के उक्त सात प्राणों में एक चक्षुरिन्द्रिय मिलाने से आठ प्राण होते है । असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के उक्त आठ प्राणों में एक कर्णेन्द्रिय मिलाने से नौ प्राण होते हैं । संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के उक्त नौ में मनोबल प्राण मिलाने से दस प्राण होते हैं । इसप्रकार ये सब द्वीन्द्रिय आदिक जीव त्रस संज्ञा वाले हैं ।

इस समय इन्द्रियों की संख्या निर्धारित करते हैं—

सूत्रार्थ—इन्द्रियां पांच होती हैं ।

इन्द्रिय शब्द का अर्थ बता चुके हैं । यहां पर उपयोग का प्रकरण है अतः उपयोग के साधन भूत जो इन्द्रियाँ हैं उन्हीं को ग्रहण किया है, क्रिया के साधनरूप वचन, हाथ, पैर, पायु और उपस्थ को इन्द्रिय रूप ग्रहण नहीं किया है । दूसरी बात यह भी है कि यदि क्रिया के सहायभूत हस्त आदि को इन्द्रियाँ माना जाय तो पृथिवी आदि को भी इन्द्रियां माननी पड़ेगी, क्योंकि वे भी क्रिया के साधन हैं ? अतः यह निश्चित होता है कि इन्द्रियाँ पाँच ही हैं इससे न कम हैं न अधिक ।

विशेषार्थ—पर वादीगण-सांख्यादिक इन्द्रियां ग्यारह मानते हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियां-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण । तथा पांच कर्मेन्द्रियां मानते हैं-वचन, हस्त, पाद तथा स्त्री और पुरुष के लिंग पायु और उपस्थ तथा एक मन-इन्द्रिय । इस मान्यता

वाक्पाणिपादपायूपस्थानां । तथा तादृशानां ग्रहणे पृथिव्यादीनामपीन्द्रियत्वप्रसङ्गात् । ततः पञ्चेन्द्रियाणि भवन्ति न हीनाधिकानीति स्थितम् । सम्प्रतीन्द्रियाणां द्वैविध्यख्यापनार्थमाह—

द्विविधानि ॥ १६ ॥

विधशब्दः प्रकारवाची । द्वौ विधौ येषां तानि द्विविधानि—द्विभेदानीत्यर्थः । कौ पुनस्तौ प्रकारौ ? द्रव्येन्द्रियं भावेन्द्रियं चेति । तत्र द्रव्येन्द्रियस्वरूपप्रतिपत्त्यर्थमाह—

निर्वृ त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥

कर्मणा निर्वर्त्यत इति निर्वृत्तिः । निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते येन तदुपकरणम् । निर्वृत्तिश्चोपकरणं च निर्वृत्त्युपकरणे । पुद्गलद्रव्यरूपमिन्द्रियं द्रव्येन्द्रियम् । ते द्वे अपि द्रव्येन्द्रियशब्दवाच्ये

का टीकाकार ने निरसन किया है कि उपयोग अर्थात् ज्ञान दर्शन में सहायक पांच स्पर्शनादि इन्द्रियां ही हैं, क्रिया के साधनों को इन्द्रियां कहना हास्यास्पद है, तथा क्रिया के साधन तो अनेक होते हैं, पांच ही नहीं होते । पृथिवी पर स्थित होकर ही क्रिया कर सकते हैं अतः पृथिवी को भी इन्द्रिय कहना होगा । अंगुली आदि भी क्रिया में सहायक है । अतः क्रिया के साधन पाँच ही हैं ऐसा निश्चित नहीं होने से आपके इन्द्रियों की संख्या विघटित हो जाती है । इसतरह इन्द्रियां पांच ही सिद्ध होती हैं ।

इस समय इन्द्रियों के दो प्रकार सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—उक्त पांचों ही इन्द्रियों के दो प्रकार हैं । विध शब्द प्रकार वाची है, दो प्रकार हैं जिनके वे द्विविध कहलाती हैं । वे दो प्रकार कौनसे हैं ऐसा प्रश्न होने पर बतलाते हैं कि द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय ये दो प्रकार हैं । उनमें द्रव्येन्द्रिय के स्वरूप की प्रतिपत्ति के लिये कहते हैं—

सूत्रार्थ—निर्वृत्ति और उपकरण ये दो द्रव्येन्द्रियां हैं । जो कर्म द्वारा रची जाती है वह निर्वृत्ति कहलाती है । जिसके द्वारा निर्वृत्ति का उपकार किया जाता है वह उपकरण है । निर्वृत्ति और उपकरण शब्द में द्वन्द्व समास हुआ है । पुद्गल द्रव्य रूप इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय है । वे दोनों–निर्वृत्ति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय शब्द के वाच्य होते हैं । उनमें निर्वृत्ति दो प्रकार की है–बाह्य और अभ्यन्तर । चक्षु आदि में मसूर आदि के आकार रूप बाह्य निर्वृत्ति है । चक्षु आदि इन्द्रिय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से

भवत: । तत्र निर्वृत्तिर्द्विविधा—बाह्याभ्यन्तरभेदात् । बाह्या चक्षुरादिषु मसूरिकादिसंस्थान रूपा । अभ्यन्तरा चक्षुरादीन्द्रियज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशिष्टोत्सेधाङ्गुलाऽसङ्ख्येयभागप्रमितात्मप्रदेश-संश्लिष्टसूक्ष्मपुद्गलसंस्थानरूपा । उभयनिर्वृत्तिद्वारेणैवात्मनोऽर्थोपलम्भसम्भव: । उपकरणमपि बाह्या-भ्यन्तरविकल्पाद्द्वेधा । तत्र बाह्यमुपकरणमक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादि । अभ्यन्तरमुपकरणं कृष्णशुक्लमण्ड-लादि । इदानीं भावेन्द्रियस्वरूपप्रदर्शनार्थमाह—

युक्त उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मप्रदेशों पर सूक्ष्म पुद्गलों का उस उस इन्द्रियाकार रूप से संबद्ध होना अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहलाती है ।

विशेषार्थ—यहां पर श्री भास्कर नंदी ने द्रव्येन्द्रिय के दो भेदों का वर्णन करते हुए अभ्यन्तर निर्वृत्ति का लक्षण किया है कि—"अभ्यन्तरा चक्षुरादीन्द्रिय ज्ञानावरण कर्म क्षयोपशम विशिष्टोत्सेधांगुलाऽसंख्येयभाग प्रमितात्म प्रदेश संश्लिष्ट सूक्ष्म पुद्गल संस्थानरूपा ।" अर्थात्—चक्षु आदि इन्द्रिय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से युक्त उत्सेध अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण आत्मा के प्रदेशों में सूक्ष्म पुद्गल का उस उस इन्द्रियाकार रूप से रचना होना अभ्यन्तर निर्वृत्ति है । सर्वार्थ सिद्धि आदि ग्रन्थों में अभ्यन्तर निर्वृत्ति का लक्षण विभिन्न है । वहां कहा है कि उत्सेध अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शुद्ध आत्मा के प्रदेशों की प्रतिनियति चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार से रचना होना अभ्यन्तर निर्वृत्ति है ।

निर्वृत्ति और उपकरण द्रव्येन्द्रिय के भेद हैं, निर्वृत्ति के बाह्याभ्यन्तर दो भेद और उपकरण के बाह्याभ्यन्तर दो भेदों में से एक अभ्यन्तर निर्वृत्ति को छोड़कर शेष तीनों द्रव्येन्द्रियां पुद्गल द्रव्य रूप सर्वत्र मानी गई हैं केवल अभ्यन्तर निर्वृत्ति को आत्मरूप अन्य ग्रन्थ में माना है । यहां पर चारों द्रव्येन्द्रियों को पुद्गल रूप माना है, संभव है कि श्री भास्करनंदी ने द्रव्येन्द्रिय पद के द्रव्य शब्द को लक्ष्य में रखा है । भावेन्द्रियां तो आत्मारूप होती ही हैं । अस्तु ।

इसतरह बाह्य और अभ्यन्तर निर्वृत्ति द्वारा ही आत्मा के पदार्थ की उपलब्धि संभव है । अर्थात् दोनों निर्वृत्ति से युक्त आत्मा पदार्थ को जानता है । उपकरण भी बाह्य अभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है । उनमें नेत्र संबंधी बाह्य उपकरण पलक और दोनों बरोनी है । तथा अभ्यन्तर उपकरण कृष्ण शुक्ल मण्डल है ।

इस समय भावेन्द्रिय के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।। १८ ।।

लम्भनं लब्धिर्ज्ञानावरणक्षयोपशमे सत्यात्मनोऽर्थोपलम्भशक्तिरित्यर्थः । उपयुज्यत इत्युपयोगः। तस्यैवात्मनोऽर्थग्रहणव्यापार इत्यर्थः । लब्धिश्चोपयोगश्च लब्ध्युपयोगौ । तौ चेतनात्मकौ भावेन्द्रियं भवतः । तत्र भावेन्द्रियमेव मुख्यं प्रमाणं स्वार्थप्रमितौ साधकतमत्वाद्द्रव्येन्द्रियस्योपचारत एव प्रामाण्योपगमात् । उक्तानां द्विप्रकाराणामिन्द्रियाणां संज्ञानुपूर्विप्ररूपणार्थ माह—

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ।। १९ ।।

पारतन्त्र्यविवक्षायां स्पर्शनादिशब्दानां करणसाधनत्वम् । आत्मा स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम् । रस्यतेऽनेनेति रसनम् । घ्रायतेऽनेनेति घ्राणम् । आत्मा चष्टेऽर्थान्पश्यत्यनेनेति चक्षुः । श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रमिति । स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृसाधनत्वम् । स्पृशतीति स्पर्शनम् । रसतीति रसनम् । जिघ्रतीति घ्राणम् । चष्ट इति चक्षुः । शृणोतीति श्रोत्रमिति । स्पर्शनं च रसनं च घ्राणं च चक्षुश्च श्रोत्रं च स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीति । एतानि स्पर्शनादीनीन्द्रियनामानि वेदितव्यानि । प्रतिनियतविषयत्वादिन्द्रियाणां भेद इति तद्विषयप्रदर्शनार्थमाह—

सूत्रार्थ—लब्धि और उपयोग भावेन्द्रियां हैं। प्राप्ति को लब्धि कहते हैं अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने पर आत्मा के पदार्थों को जानने की शक्ति का होना लब्धि है। उपयुक्त होना उपयोग है, अर्थात् उसी आत्मा के पदार्थ को जानने रूप क्रिया का होना उपयोग है। लब्धि और उपयोग इन दो पदों में द्वन्द्व समास है। लब्धि और उपयोग ये दोनों चेतनात्मक हैं इन्हीं को भावेन्द्रिय कहते हैं। जो भावेन्द्रिय है वही मुख्य प्रमाण है, क्योंकि स्वपर को जाननरूप क्रिया में यह साधकतम है, द्रव्येन्द्रिय के तो उपचार से प्रमाणता स्वीकार की जाती है।

उक्त दो प्रकार की इन्द्रियों के नाम क्रम से कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियों के पांच नाम हैं। परतन्त्रता की विवक्षा होने पर स्पर्शन आदि सूत्रस्थ शब्दों के करण साधनपना होता है, जिसके द्वारा छुआ जाता है वह स्पर्शन है। जिसके द्वारा चखा जाता है वह रसना है। जिसके द्वारा सूंघा जाता है वह घ्राण है। आत्मा जिसके द्वारा पदार्थों को देखता है वह चक्षु है, जिसके द्वारा सुना जाता है वह श्रोत्र है। स्वातन्त्र्य विवक्षा में कर्तृत्व साधन होता है—छूता है वह स्पर्शन है, चखता है वह रस है, सूंघता है वह

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

यदा स्पर्शादिशब्दैः प्राधान्येन द्रव्यमुच्यते तदा तेषां कर्मसाधनत्वं वेदितव्यं—यथा स्पृश्यत इति स्पर्शो द्रव्यम् । एवं रस्यत इति रसः, गन्ध्यत इति गन्धः, वर्ण्यत इति वर्णः, शब्दयत इति शब्दः । यदा तु स्पर्शादयः शब्दाः प्राधान्येन गुणवाचिनस्तदा तेषां भावसाधनत्वम् । यथा स्पर्शनं स्पर्शो गुणः । एवं रसनं रसः, गन्धनं गन्धः, वर्णनं वर्णः, शब्दनं शब्द इति । स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च शब्दश्च स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः । तच्छब्देन स्पर्शनादीन्द्रियाणां परामर्शः । अर्थशब्दोऽत्र विषयवाची । तेषामर्थास्तदर्थाः । त इमे स्पर्शादयस्तेषां स्पर्शनादीनामिन्द्रियाणां यथासङ्ख्यं ग्राह्यरूपा भवन्तीति समुदायार्थः । अनिन्द्रियस्य को विषय इत्याह—

घ्राण है, देखता है वह चक्षु है, सुनता है वह श्रोत्र है । स्पर्शन आदि पदों का द्वन्द्व समास हुआ है । ये स्पर्शन आदिक इन्द्रियों के नाम हैं । इन इन्द्रियों में विषय भेद होने से भेद होता है ।

अब इनके विषयों का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—स्पर्शनेन्द्रिय आदि इन्द्रियों के क्रमशः स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये विषय हैं ।

जब स्पर्श आदि शब्द द्वारा प्रधानता से द्रव्य कहा जाता है तब इन स्पर्श आदि शब्दों की निरुक्ति कर्म साधनरूप करना जैसे जो छुआ जाता है वह स्पर्श है अर्थात् स्पर्श वाला पदार्थ । इसीप्रकार जो चखा जाता है वह द्रव्य–वस्तु रस है जो सूंघा जाता है वह अर्थ गन्ध है, जो देखा जाता है वह पदार्थ वर्ण है और जो सुनने में आता है वह द्रव्य शब्द है इन स्पर्शादि शब्दों की जब गुण की प्रधानता से निरुक्ति करना है तब भाव साधन होता है । जो छुआ वह स्पर्श अर्थात् स्पर्श नाम का गुण, इसीतरह रसनं रसः, गन्धनं गंधः, वर्णनं वर्णः, शब्दनं शब्दः ऐसा भाव साधन बना लेना । स्पर्शादि पदों में द्वन्द्व समास है । सूत्र में तत् शब्द आया है उससे स्पर्शनादि इन्द्रियों का ग्रहण होता है । अर्थ शब्द विषय वाची है, इनमें तत्पुरुष समास है । समुदाय रूप अर्थ यह हुआ कि ये स्पर्श रस आदि उन स्पर्शन आदि इन्द्रियों के क्रमशः विषय हैं–उनके द्वारा ये विषय ग्रहण किये जाते हैं ।

अनिन्द्रिय का क्या विषय है यह बतलाते हैं—

श्रुतमनिन्द्रियस्य ।। २१ ।।

श्रुतज्ञानविषयोप्यत्रोपचाराच्छ्रुतमुच्यते । अनिन्द्रियं मनः कथ्यते । श्रुतमनिन्द्रियस्य विषयो भवति—श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशिष्टस्यात्मनः श्रुतज्ञानस्यार्थेऽनिन्द्रियालम्बनज्ञानप्रवृत्तेः । इदानीं स्पर्शनस्य तावत् स्वामिनिर्देशार्थमाह—

वनस्पत्यन्तानामेकम् ।। २२ ।।

वनस्पतिरन्ते येषां ते वनस्पत्यन्ताः । तेषां वनस्पत्यन्तानाम् । पृथिव्यादीनामित्येतत्सामर्थ्याल्लभ्यते—सूत्रे स्थावराणां तथैव पठितत्वात् । एकशब्दोऽत्र प्रथमवाची गृह्यते । ततः पृथिव्यादीनां वनस्पतिपर्यन्तानां पञ्चस्थावराणां स्पर्शनमिन्द्रियं वेदितव्यम् । इतरेषामिन्द्रियाणां स्वामिप्रदर्शनार्थमाह—

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।। २३ ।।

सूत्रार्थ—अनिन्द्रिय अर्थात् मन का विषय श्रुत है । यहां पर श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ को भी उपचार से श्रुत कहा है । अनिन्द्रिय का अर्थ मन है, श्रुत मन का विषय होता है । श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से युक्त आत्मा के श्रुतज्ञान के विषयभूत पदार्थ में मन के आलंबन से जानन में प्रवृत्ति होती है यह तात्पर्य है ।

अब स्पर्शनेन्द्रिय के स्वामी का निर्देश करते हैं—

सूत्रार्थ—वनस्पति पर्यन्त के स्थावर जीवों के एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है ।

वनस्पति है अन्त में जिसके वे वनस्पत्यन्त कहलाते हैं, अर्थात् पृथिवीकायिक आदि का सामर्थ्य से ग्रहण हो जाता है, क्योंकि सूत्र में [नं० १३ के] स्थावरों का उसीप्रकार पाठ है । एक शब्द प्रथमवाची है । पृथिवी आदि से लेकर वनस्पति पर्यन्त पांच स्थावरों के एक स्पर्शनेन्द्रिय होती है ऐसा जानना चाहिये ।

इतर इन्द्रियों के स्वामी बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—लट, चींटी, भौंरा और मनुष्य आदि जीवों के एक एक इन्द्रिय बढ़ती है ।

क्रिम्यादयः कृतद्वन्द्वाः प्रसिद्धार्थास्तैः सहादिशब्दः प्रकारवाची कृतान्यपदार्थवृत्तिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तद्यथा—क्रिमिश्च पिपीलिका च भ्रमरश्च मनुष्यश्च क्रिमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यास्ते आदयो येषां ते क्रिमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादय इति । क्रिम्यादयः, पिपीलिकादयः, भ्रमरादयः, मनुष्यादयः इति । एकैकमिति वीप्सायां द्वित्वम् । वृद्धशब्दोऽधिकार्थः । एकैकेन वृद्धानि एकैकवृद्धानि । ततोऽयमर्थः—क्रिमिप्रकाराणामधिकृतं स्पर्शनं रसनाधिकमिति ते द्वीन्द्रियाः । पिपीलिकादीनां स्पर्शनरसने घ्राणाधिके इति ते त्रीन्द्रियाः । भ्रमरादीनां स्पर्शनरसनघ्राणानि चक्षुरधिकानीति ते चतुरिन्द्रियाः । मनुष्यादीनां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूंषि श्रोत्राधिकानीति ते पञ्चेन्द्रिया इति यथासङ्ख्येनाभिसम्बन्धो व्याख्येयः । के पुनः संज्ञिनः संसारिण इत्याह—

संज्ञिनः समनस्काः ।। २४ ।।

हिताहितप्राप्तिपरिहारपरीक्षा संज्ञा । तस्याः सम्भवोऽस्ति येषां ते संज्ञिनः । सह मनसा वर्तन्ते ये ते समनस्काः पूर्वमेव व्याख्याताः । त एव संज्ञिन इत्युच्यन्ते । मनोरहितास्तु संसारिणोऽ-

---

कृमि आदि का द्वन्द्व समास करना फिर उन प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों के साथ प्रकार वाची आदि शब्द का बहुव्रीहि समास करना, जिससे कि प्रत्येक के साथ आदि शब्द का सम्बन्ध होवे । अर्थात् कृमि आदिक, पिपीलिकादि भ्रमरादि और मनुष्यादि एकैकम् यह वीप्सा में द्वित्व हुआ है । वृद्ध शब्द अधिक अर्थ में आया है । एक एक रूप से वृद्ध है । इसका यह अर्थ है कि क्रिमि आदि जीव प्रकारों के प्रकृत स्पर्शन इन्द्रिय एक रसना से अधिक है, ऐसे इनके दो इन्द्रियां होने से ये द्वीन्द्रिय जीव कहलाते हैं । पिपीलिका आदि के स्पर्शन रसना में एक घ्राणेन्द्रिय अधिक करने से वे त्रीन्द्रिय हैं । भ्रमर आदि के स्पर्शन, रसना, घ्राण में एक चक्षु अधिक करके चार इन्द्रियां होने से वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं । मनुष्य आदि के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु में एक श्रोत्र बढ़ाने से वे पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं । इसतरह क्रमशः संबंध करना चाहिये ।

संज्ञी संसारी जीव कौन हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—मनसहित जीव संज्ञी कहलाते हैं ।

हित की प्राप्ति और अहित के परिहार की परीक्षा संज्ञा कही जाती है वह संज्ञा जिनके पायी जाती हैं वे संज्ञी हैं । मन के साथ रहनेवाले समनस्क जीव हैं ऐसा पहले कह दिया है । वे समनस्क ही संज्ञी कहे जाते हैं । जो संसारी जीव मन रहित हैं वे असंज्ञी हैं ऐसा परिशेष न्याय से सिद्ध होता है ।

संज्ञिनः इति पारिशेष्याल्लब्धम् । अत्र कश्चिदाह-जीवस्य पूर्वोपात्तशरीरत्यागादुत्तरशरीराभिमुखं गच्छतस्तत्सम्प्राप्तेः प्रागसिद्धेर्देहान्तरसम्बन्धाभावः प्राप्नोति मुक्तात्मवत्तथा च सति पूर्वोत्तरशरीर-त्यागादानसन्ततिलक्षणसंसाराभावात्कथं संसारिणः प्रपञ्चयन्त इत्यत्रोच्यते—

विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥

विग्रहो देहस्तादर्था गतिर्विग्रहगतिः । अथवा विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघातः पुद्गलादाननिरोध उच्यते । तेन विग्रहेण गतिर्विग्रहगतिस्तस्यां विग्रहगतौ शरीराभिसम्बन्धो जीवस्य क्रियते येन तत्कर्म

यहां पर कोई शंका करता है कि जिस जीव के पूर्व शरीर का तो त्याग हो चुका है और आगामी शरीर के अभिमुख होकर जो जा रहा है उस जीव के आगामी शरीर के प्राप्ति के पहले असिद्धि होने से अन्य शरीर का सम्बन्ध नहीं हो सकेगा, जैसे कि मुक्त जीव के नहीं होता, और इसतरह शरीरान्तर का संबंध नहीं होने से पूर्व शरीर का त्याग और उत्तर शरीर का ग्रहण रूप जो संसार है उसका अभाव होगा, फिर संसारी जीवों का वर्णन किस प्रकार संभव है ? इसी शंका का समाधान अग्रिम सूत्र द्वारा करते हैं—

सूत्रार्थ—विग्रहगति में कर्म योग—कार्मण योग होता है । विग्रह देह को कहते हैं उसके लिये जो गति—गमन है वह विग्रहगति है अथवा विरुद्ध गृह को विग्रह कहते हैं अर्थात् पुद्गलों का ग्रहण रुक जाना, उस विग्रह द्वारा गति होना विग्रह गति है, उस विग्रहगति में जीवका शरीर के साथ जिसके द्वारा संबंध किया जाता है वह कर्म है अर्थात् कार्मणशरीर । आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंदन—हलन चलन रूप क्रिया होना योग है । कर्म द्वारा किया गया योग कर्मयोग कहलाता है, वह योग विग्रह गति में विद्यमान रहता है, अतः जीव की शरीर के लिये जो गति होती है उस गति में कर्मयोग का सद्भाव होने से जीवके कथंचित् शरीरित्व शरीरान्तर का ग्रहण और उस पूर्वक होनेवाला संसारित्व वर्णन का प्रपंच ये सब ही विरुद्ध नहीं होते—सुघटित ही होते हैं ।

भावार्थ—शंका हुई थी कि जब कोई संसारी जीव मरता है तब उसका शरीर समाप्त होता है, उस वक्त दूसरा शरीर तो अभी मिला नहीं है ऐसी स्थिति में मुक्त जीवों के समान ही हो जाता है, अब उसके नया शरीर का संबंध किस प्रकार हो ? एवं संसारीपना भी कैसे हो ? इसतरह शरीर और संसरण के अभाव में जो संसारी

कार्मणं शरीरमित्यर्थः। आत्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणा क्रिया योगः कर्मणा कृतो योगः कर्मयोगः। स विग्रहगतावस्तीति सम्बध्यते। ततश्च शरीरार्थायां गतौ जीवस्य कर्मयोगसद्भावात्कथंचिच्छरीरित्वं देहान्तरग्रहणं तत्पूर्वकसंसारित्वकथाप्रपञ्चश्च न विरुध्यत इति। गतिमतां जीवपुद्गलानां कथं गतिः स्यादित्याह—

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

आकाशप्रदेशपंक्तिः श्रेणिः अनुशब्द आनुपूर्व्ये वर्तते। श्रेणेरानुपूर्व्येणानुश्रेणि। गमनं गतिर्देशान्तरप्राप्तिरित्यर्थः पुनर्गतिग्रहणं सर्वगतिमज्जीवपुद्गलद्रव्यगतिसंग्रहार्थम्। तत्र जीवानां तावन्-

---

जीवों का विस्तृत विवेचन कर रहे हैं वह कैसे सिद्ध हो? इस शंका का समाधान आचार्य ने दिया कि जीव के मरण के पश्चात् भी कार्मण शरीर साथ ही रहता है, उसके निमित्त से जो कार्मण योग होता है उसके द्वारा नवीन शरीरान्तर का ग्रहण होता है और शरीर विद्यमान होने के कारण मुक्तात्मा के समान भी नहीं कहलाता इसतरह अन्तः स्थित सूक्ष्म कार्मण शरीर के कारण इस जीवका संसार चलता रहता है यह कार्मण शरीर ही संसार भ्रमण का हेतु है। इसका नाश जब तक नहीं होता तब तक बराबर नवीन शरीर ग्रहण कर करके परिभ्रमण चलता रहता है।

गति शील जीव पुद्गलों की गति किसप्रकार होती है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—जीव पुद्गलों की गति श्रेणि के अनुसार होती है।

आकाश प्रदेशों की पंक्ति को श्रेणि कहते हैं। अनु शब्द का अर्थ आनुपूर्वी है, जो श्रेणि के आनुपूर्वी के अनुसार है वह अनुश्रेणी है। देशान्तर प्राप्ति गति है। गति शब्द का पुनः ग्रहण [पहले ६ सूत्र में गति शब्द आ चुका है] गति शील सर्व जीव पुद्गलों की गति का संग्रह करने के लिये हुआ है। उनमें संसारी जीवों के मरण काल में दूसरे भव में जाते समय तथा मुक्त जीवों के ऊर्ध्वगमन काल में अनुश्रेणि गति ही होती है। तथा ऊर्ध्वलोक से अधोलोक में, अधोलोक से ऊर्ध्वलोक में तिर्यग्लोक से ऊर्ध्व अथवा अधोलोक में संसारी जीवों की जो गति है वह सर्व अनुश्रेणि रूप से ही होती है। पुद्गलों की जो लोकान्त प्रापणी गति है वह अनुश्रेणि ही है, इसप्रकार काल और देश का नियम यहां पर लगाना चाहिये। उक्त काल और देश को छोड़कर अन्य देश काल में अनुश्रेणि से गमन करने का नियम नहीं है।

मरणकाले भवान्तरसङ्क्रमे, मुक्तानां चोर्ध्वगमनकालेऽनुश्रेण्येव गतिर्भवति । तथोर्ध्वलोकादधोगतिः, अधोलोकादूर्ध्वगतिः, तिर्यग्लोकादूर्ध्वमधो वा गतिः संसारिणामनुश्रेण्येव जायते । पुद्गलानां च या लोकान्तप्रापणी गतिः सानुश्रेण्येव भवतीति कालदेशनियमोऽत्र योजनीयः इतरगतिषु नियमोऽयं नास्ति । मुक्तात्मनो गतिविशेषकथनार्थमाह—

अविग्रहा जीवस्य ।। २७ ।।

विग्रहः कौटिल्यं वक्रतेत्यनर्थान्तरम् । न विद्यते विग्रहो यस्या गतेरसावविग्रहा । जीववचनात्पुद्गलनिवृत्तिः । उत्तरसूत्रे ससारिग्रहणादिह मुक्तस्येति लभ्यते । ततो मुक्तस्य जीवस्य या गतिरालोकान्तात् सा नियमादृज्वी भवतीति प्रत्येतव्यम् । संसारिणः कीदृशी गतिरित्याह—

भावार्थ—जब यह जीव मरकर दूसरी गति में–भव में जाता है तब वह नियम से आकाश प्रदेशों की पंक्ति के अनुसार ही जावेगा तथा पुद्गल के–परमाणु की लोक के अन्त तक अर्थात् लोकाकाश के अधोभाग से ऊर्ध्वभाग तक चौदह राजू प्रमाण जगह एक समय में आकाश प्रदेशों के अनुसार गति होती है, यह तो अनुश्रेणि गति है । विग्रह गति को छोड़कर अन्य समय में जीवके अनेक प्रकार से बिना अनुश्रेणि के टेडी मेडी तिरछी गति होती है तथा पुद्गलों की भी बिना श्रेणि गति होती है । भाव यह है कि जीव का या पुद्गलों का गमन हमेशा श्रेणि के अनुसार नहीं होता किन्तु उक्त देश और समय में अनुश्रेणि गति होती है ।

मुक्त जीवों की गति विशेष का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—मुक्त जीव के मोडा रहित गति होती है । विग्रह, कौटिल्य और वक्रता ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं । जिस गति में विग्रह नहीं है वह अविग्रह गति कहलाती है । सूत्र में जीव पद आया है अतः पुद्गल की निवृत्ति होती है आगे के सूत्र में संसारी पद का ग्रहण किया है अतः यहां मुक्त जीव के अविग्रह गति होती है ऐसा संबंध जुड़ता है । अर्थात् मुक्त जीव के जो लोकान्त तक गति होती है वह नियम से ऋजु–अविग्रह होती है ऐसा जानना चाहिये ।

संसारी जीवों की कैसी गति होती है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ।। २८ ।।

विग्रहवती वक्रा। चशब्दादविग्रहा लभ्यते। संसारी व्याख्यातार्थः। प्रागिति वचनं मर्यादार्थम्। वक्ष्यमाणसमयनिर्देशसामर्थ्यादिह चतुर्भ्यः समयेभ्य इति प्राप्यते। तेन संसारिणो जीवस्य कदाचिदविग्रहेष्वाकारा गतिर्भवति, कदाचिदेकवक्रा पाणिविमुक्ता स्यात्, कदाचिद्विवक्रा लाङ्गली जायते, कदाचिच्च त्रिवक्रा गोमूत्रिका गतिः सम्भवति। न चतुर्थे समये, तथाविधोपपादक्षेत्राभावादिति निश्चीयते। तत्रर्जुगतिकालावधारणार्थमाह—

सूत्रार्थ— संसारी जीवों के मोडावाली गति चार समय के पहले होती है ।

वक्र को विग्रह वती कहते हैं, च शब्द से अविग्रह गति भी होती है। संसारी शब्द का अर्थ कह चुके हैं । प्राक् शब्द मर्यादा अर्थ में आया है, अग्रिम सूत्रस्थ समय शब्द की सामर्थ्य से यहां चार समय के पहले ऐसा अर्थ प्राप्त होता है । इससे यह अर्थ निकलता है कि संसारी जीवों की कभी मोडा रहित इष्वाकार—बाण जैसी गति होती है, तो कभी एक मोडावाली पाणिमुक्ता—हाथ से छोडे गये जल के समान आकार वाली गति होती है, कदाचित् दो मोडावाली लांगली—हल जैसे आकार वाली गति होती है । कदाचित् तीन मोडावाली गोमूत्रिका गोमूत्र के आकार जैसे गति होती है । चौथे समय की गति नहीं होती है क्योंकि उस प्रकार का उपपाद क्षेत्र नहीं है ।

भावार्थ—जब जीव मरण कर दूसरे स्थान पर जन्म लेता है वह स्थान यदि वक्र है तो मोड लेना पड़ता है यदि सरल है तो बिना मोडा के एक ही समय में सीधा बाण की तरह यह जीव पहुंच जाता है, कदाचित् एक मोडा लेकर जाता है तो दो समय लगते हैं एक मोडा लेने का और एक जन्म का । कदाचित् दो मोडे लेता है उसमें तीन समय लगते हैं, दो मोडे के दो समय और एक समय जन्म का । कभी तीन मोडे लेता है उसमें चार समय लगते हैं तीन मोडे के तीन समय और चौथा जन्म का समय । चार मोडा लेना पड़े ऐसा कोई भी स्थान या क्षेत्र नहीं है । तीन मोडे भी वह जीव लेता है, जो एकेन्द्रिय है और लोक के नीचे के कोण से ऊपर लोकाग्र कोण में जन्म लेने वाला है, जिसे निष्कृष्ट क्षेत्र कहते हैं । अतः टीकाकार ने कहा है कि ऐसा कोई उपपाद—जन्म लेने का क्षेत्र—स्थान नहीं है जहां पर कि पहुंचने के लिये चार मोडे लेने पड़े ।

ऋजु गति के काल का अवधारण करते हैं—

एकसमयाऽविग्रहा ।। २६ ।।

एकशब्दः सङ्ख्यावाची । परमनिरुद्धो विभागरहितः क्षणः कालः समय इत्युच्यते । एकः समयो यस्या असावेकसमया । अविग्रहा गतिरवक्रेत्युक्ता । गतिमतां जीवपुद्गलानामवक्रा गतिरा-लोकान्तादप्येकसमयिकी भवति । तथैकवक्रा द्विसमया, द्विवक्रा त्रिसमया, त्रिवक्रा चतुःसमया गतिरित्यप्यत्र निश्चीयते । जीवस्य समयत्रयाहारकत्वप्रतिषेधस्योत्तरसूत्रेणान्यथानुपपत्तेः प्राप्तिपूर्वक-त्वात्तस्येति । देहान्तरसम्प्राप्तिनिमित्तभूतासु चतसृष्वपीष्वाकारादिगतिष्वाहारको जीवः प्रसक्त इत्यपवादमाह—

एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ।। ३० ।।

अत्र समयग्रहणमनुवर्तते । वाशब्दो विकल्पवाची । विकल्पश्च यथेच्छातिसर्गस्त्रीण्यौदारिक-

---

सूत्रार्थ—मोडा रहित–ऋजुगति एक समय वाली होती है । एक शब्द संख्या-वाची है, परम निरुद्ध विभाग रहित क्षण रूप काल समय कहलाता है अर्थात् काल का वह छोटा अंश जिसका कि विभाग नहीं हो सके । एक समय है जिसके वह एक समय वाली मोडा रहित ऋजुगति होती है । गति शील जीव और पुद्गलों की मोडा रहित गति लोकान्त तक होने पर भी वह मात्र एक समय में हो जाती है । तथा एक मोडा वाली दो समय युक्त होती है । दो मोडा वाली तीन समय युक्त और तीन मोडा वाली चार समय युक्त होती है ऐसा यहां निश्चय समझना । जीव तीन समय तक आहारक नहीं होता, विग्रह गति में तीन समय पर्यन्त आहारकपने का निषेध अग्रिम सूत्र में होनेवाला है उसकी अन्यथानुपपत्ति से यह जाना जाता है कि एक मोडा दो मोडा और तीन मोडा वाली विग्रह गति भी होती है अन्यथा आगे जो एक दो तीन समय तक अनाहारक रहने का कथन है वह सिद्ध नहीं होता ।

दूसरे शरीर को प्राप्त करने में निमित्तभूत जो चार प्रकार की इष्वाकार आदि गतियां हैं उनमें जीव के आहारकपने का प्रसंग आनेपर जो अपवाद है उसे कहते हैं अर्थात् उक्त इष्वाकारादि गतियों में सबमें आहारक नहीं रहता ऐसा आगे के सूत्र में बतलाते हैं—

सूत्रार्थ— एक दो या तीन समय तक जीव अनाहारक होता है ।

समय शब्द का अनुवर्त्तन चल रहा है, वा शब्द विकल्प वाची है, और वह विकल्प इच्छानुसार लगता है, अर्थात् एक समय तक अथवा दो समय तक, अथवा

वैक्रियिकाहारकाख्यानि शरीराणि । षट्चाहारशरीरेन्द्रियानप्राणभाषामन संज्ञिकाः पर्याप्तीर्यथा-सम्भवमाहरतीत्याहारकः । नाहारकोऽनाहारकः कर्मवशादिषुगतौ तावज्जीव आहारक एव । पाणि-विमुक्तायामेकं वा समयमनाहारकः । लाङ्गलिकायां द्वौ वा समयावनाहारकः । गोमूत्रिकायां त्रीन्वा समयान्नैरन्तर्येणानाहारक. चतुर्थे तु समये सामर्थ्यादाहारको भवतीति प्राप्यते । कालवाचिनोपि समयशब्दान्न सप्तमी कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग इत्यनेन द्वितीयाविधानात् । यद्येवं देहान्तरप्रादुर्भाव-लक्षणं जीवानां जन्म सिद्धं तदा के तद्विशेषा इत्याह—

सम्मूर्छनगर्भोपपादा जन्म ।। ३१ ।।

स्वकृतकर्मविशेषादात्मनः शरीरत्वेन पुद्गलानां समन्तान्मूर्छनं घटनं सम्मूर्छनम् । स्त्रिय उदरे

तीन समय तक अनाहारक रहता है ऐसा वा शब्द का अर्थ है । औदारिक, वैक्रियिक और आहारक नाम वाले तीन शरीर तथा छह आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन नामवाली पर्याप्तियां हैं, इन तीन शरीर और छह पर्याप्तियों में से यथा संभव शरीर और पर्याप्ति को ग्रहण करना आहारक है [शरीर और पर्याप्ति के योग्य नो कर्म वर्गणा ग्रहण करना आहारक है] और जिसके यह आहारकपना न होवे वह अनाहारक कहलाता है । कर्म के वश से पहली जो इषुगति है उसमें जीव आहारक ही रहता है । पाणिमुक्ता गति में एक समय अनाहारक रहता है । लांगलिका गति में दो समय तक अनाहारक होता है । गोमूत्रिका गति में तीन समय तक अना-हारक रहता है । इसप्रकार निरन्तर रूप से तीन समय तक अनाहारक होता है । चौथे समय में आहारक हो जाता है यह बात सामर्थ्य से ही प्राप्त होती है । यद्यपि एक आदि शब्द यहां पर एक समय आदि काल अर्थ में आये हैं और काल वाचक शब्द में सप्तमी विभक्ति होना चाहिये द्वितीय नियमानुसार काल और मार्ग का अत्यंत संयोग जहां विवक्षित होता है वहां द्वितीया विभक्ति होती है अतः सूत्र में "एकं द्वौ त्रीन्" ऐसा द्वितीया विभक्ति वाला निर्देश किया है ।

जीवों के शरीरान्तर की प्राप्ति होना जन्म है ऐसा सिद्ध है तो अब यह बताईये कि उस जन्म के कितने भेद हैं । अब इसी प्रश्न का उत्तर अग्रिम सूत्र द्वारा देते हैं—

सूत्रार्थ—सम्मूर्छन जन्म, गर्भ जन्म और उपपाद जन्म ये जन्म के तीन भेद हैं ।

अपने कर्म के विशेष से आत्मा के शरीरपने से पुद्गलों का सब ओर से घटन होना—ग्रहण होना सम्मूर्छन कहलाता है । स्त्रियों के उदर में शुक्र और शोणित का

शुक्रशोणितयोर्गरणं मिश्रणं गर्भः । उपेत्युपपद्यते तस्मिन्नित्युपपादः—देवनारकोत्पत्तिस्थानविशेष उच्यते । त एव सम्मूर्छनादयस्त्रयः प्रकाराः सामानाधिकरण्येन जन्मेत्युच्यन्ते—प्रकारतद्वतोः कथंचिद-भेदात् । जन्माधिकरणभूतयोनिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ।। ३२ ।।

चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम् । सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः । शीत इति स्पर्शविशेषः शुक्लादिशब्दवद्गुणगुणिवचनत्वात्तद्युक्तं द्रव्यमपि ब्रूते । सम्यग्वृतः संवृतो दुरुपलक्ष्यः प्रदेशः । सचित्तश्च शीतश्च संवृतश्च सचित्तशीतसंवृताः । सहेतरैर्वर्तन्त इति सेतराः । सप्रतिपक्षा अचि-त्तोष्णविवृता उच्यन्ते । उभयात्मका मिश्राः चशब्द एकैकसमुच्चयार्थः । एकैकं प्रति एकशः । एतस्य

गरण-मिश्रण होना गर्भ है । निकट आकर उत्पन्न होना उपपाद है । अर्थात् देव और नारकी के उत्पत्ति स्थान विशेष को उपपाद कहते हैं उस उपपाद स्थान-शय्या विशेष पर जाकर जन्म लेना उपपाद जन्म कहलाता है । इसप्रकार ये सम्मूर्छन आदि तीन प्रकार सामानाधिकरण्य से जन्म कहलाते हैं, क्योंकि प्रकार और प्रकारवान में कथंचित् अभेद होता है [जन्म प्रकारवान और संमूर्छन आदि प्रकार कहलाते हैं ।

जन्म के आधारभूत जो योनि है उसकी प्रतिपत्ति के लिये कहते हैं—

सूत्रार्थ—सचित्त, शीत, संवृत और इनसे इतर अचित्त, उष्ण विवृत ये छह तथा इनके मिश्रण से तीन मिश्र ऐसी उन जन्मों की नौ योनियां होती हैं ।

चैतन्य विशेष के परिणाम को चित्त कहते हैं उस चित्त से जो सहित है वह सचित्त कहलाता है । शीत एक स्पर्श जाति है । जैसे शुक्ल आदि गुणवाची शब्द गुणी द्रव्य के भी वाचक होते हैं वैसे ही शीत शब्द गुण वाचक होकर भी शीत गुण वाले द्रव्य को कहता है । जो भलीप्रकार ढका हो वह संवृत अर्थात् दुरुपलक्ष्य प्रदेश-दृष्टि के अगोचर स्थान को संवृत कहते हैं । सचित्त आदि में द्वन्द्व समास है । वे सचित्त आदि इतर अर्थात् प्रतिपक्ष युक्त हैं । अचित्त, उष्ण और विवृत से युक्त हैं इनका सेतर शब्द से ग्रहण होता है । उभयरूप मिश्र होता है च शब्द एक एक के समुच्चय के लिये है, इस एक शब्द में वीप्सा अर्थ में शस् प्रत्यय जोड़ा है जिससे कि क्रम क्रम से मिश्रण का बोध हो । उन जन्म विशेषों की योनि तद्योनि इसप्रकार "तद्योनयः" पदमें

वीप्सार्थस्योपादानं क्रममिश्रप्रतिपत्त्यर्थम् । तेषां जन्मविशेषाणां योनय आश्रयास्तद्योनयः । ततः सचित्तोऽचित्तस्तन्मिश्रश्च, शीत उष्णस्तन्मिश्रश्च, संवृतो विवृतस्तन्मिश्रश्चेति यथाक्रमं तेषां जन्मविशेषाणामाधेयानामाधारभूता योनयो नवप्रकारा भवन्ति—चतुरशीतियोनिलक्षाणामागमान्तरोक्तानामत्रैवान्तर्भावात् । उक्तं च—

णिच्चिदरधादुसत्तय तरुदसवियलिन्दिएसु छच्चेव ।
सुरणिरयतिरिय चउरो चोद्दसमणुए सदसहस्सा ।। इति ।।

तत्र गर्भो जन्मविशेषः केषामित्याह—

जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ।। ३३ ।।

यत्प्राणिपरिवरणं विततमांसशोणितं तज्जरायुः । जरायौ जाता जरायुजाः । यत्कठिनं शुक्रशोणितपरिवरणं वर्तुलं तदण्डम् । अण्डे जाता अण्डजाः । परिवरणं विनैव परिपूर्णाङ्गा योनि-

---

तत्पुरुष समास हुआ है । अतः सचित्तयोनि, अचित्तयोनि और उनसे मिश्रित सचित्ताचित्तयोनि, शीतयोनि, उष्णयोनि और उनसे मिली शीतोष्णयोनि, संवृतयोनि, विवृतयोनि और इनके मिश्रण से संवृतविवृतयोनि इस तरह उन जन्मों के आधारभूत नौ प्रकार की योनियां होती हैं । इन नौ योनियों में आगम में कही गई चौरासी लाख योनियों का अन्तर्भाव हो जाता है । कहा भी है—

नित्य निगोद, इतर निगोद, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक इनमें प्रत्येक की सात सात लाख योनियां होती हैं, वनस्पति के दस लाख, द्वीन्द्रिय के दो लाख, त्रीन्द्रिय के दो लाख, चतुरिन्द्रिय के दो लाख, देवों के चार लाख, नारकी के चार लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यंच के चार लाख और मनुष्यों के चौदह लाख योनियां कही गई हैं ।।१।।

गर्भ जन्म किनके होता है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—जरायुज, अण्डज और पोत के गर्भ जन्म होता है ।

प्राणियों में जो मांस और रक्त से युक्त आवरणसा होता है वह जरायु कहलाता है जो जरायु में उत्पन्न हुआ है वह "जरायुज" है । शुक्र शोणित के परिवरण स्वरूप कठिन सा जो गोलाकार होता है वह अण्डा है उस अण्डे में हुआ अण्डज है । परि-

निर्गतमात्रा एव परिस्पन्दादिसामर्थ्ययुक्ताः पोताः । जरायुजाश्चाण्डजाश्च पोताश्च जरायुजाण्डजपोतास्तेषामेव गर्भः । गर्भ एव च तेषामित्युभयथा नियमो द्रष्टव्यः । अथोपपादः केषां भवतीत्याह—

देवनारकाणामुपपादः ।। ३४ ।।

देवनारकाश्च वक्ष्यमाणलक्षणाः । तेषामेवोपपादः, उपपाद एव च तेषामित्यत्राप्युभयथावधारणं ज्ञातव्यम् । सम्मूर्छनं जन्म केषां स्यादित्याह—

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ।। ३५ ।।

उक्तेभ्यो गर्भोपपादिकेभ्योऽन्ये शेषाः । ते चैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च तिर्यङ्मनुष्याः केचिदुच्यन्ते । तेषां शेषाणामेव सम्मूर्छन जन्म भवति । सम्मूर्छनमेव च शेषाणामित्युभयथा नियमः पूर्ववद्वेदितव्यः । अथ येषां शरीराणां प्रादुर्भवनं जीवस्य जन्म व्यावर्णितं तानि कानीत्याह—

वरण के विना ही पूर्ण अंगवाला होकर योनि से निकलते ही हलन चलनादि शक्ति से युक्त जो होता है वह पोत है, जरायुज आदि पदों का द्वन्द्व समास है । जरायुज आदि के ही गर्भ जन्म होता है अथवा गर्भ जन्म ही उनके होता है ऐसा उभयथा नियम लगा लेना चाहिये ।

उपपाद जन्म किनके होता है यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—देव और नारकियों के उपपाद जन्म होता है । देव और नारकी का लक्षण आगे कहेंगे, उनके ही उपपाद जन्म होता है अथवा उपपाद जन्म ही उनके होता है ऐसा उभयथा अवधारण जानना चाहिये ।

सम्मूर्छन जन्म किनके होता है यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—शेष जीवों के सम्मूर्छन जन्म होता है । कहे गये गर्भ और उपपाद वालों को छोड़कर जो अन्य हैं वे शेष हैं, वे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय हैं तथा पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्यों में से कोई कोई तिर्यंच मनुष्यों का शेष शब्द से ग्रहण होता है, उन शेष जीवों का ही सम्मूर्छन जन्म होता है अथवा सम्मूर्छन जन्म ही शेष का होता है ऐसा उभयथा नियम पूर्ववत् लगा लेना चाहिये ।

जिन शरीरों के उत्पन्न होने से जीवों का जन्म हुआ माना जाता है वे शरीर कौनसे हैं ऐसा पूछने पर कहते हैं—

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।। ३६ ।।

औदारिकादिशरीरनामकर्मविशेषोदयजनितान्यौदारिकादीनि शरीराणि । तत्रोदारं स्थूलम् । उदारे भवमुदारं प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम् । एकानेकाणुमहत्त्वादिरूपेण शरीरस्य विविधकरणं विक्रिया । सा द्वेधा—पृथक्त्वैकत्वभेदात् । स्वशरीराद्बहिः पृथक्त्वविक्रिया । स्वशरीर एवैकत्वविक्रिया । सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम् । संशयविषयसूक्ष्मपदार्थनिश्चयार्थमसंयमपरिहारार्थं वा प्रमत्तसंयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते यत्तदाहारकम् । यत्तेजोनिमित्तं तेजसि भवं वा तत्तैजसम् । कर्मैव कार्मणम् । कर्मणां समूहो वा कार्मणम् । शीर्यन्त इति शरीराणि । रूढिवशादेतान्यौदारिकादीनि जन्मिनां पञ्च शरीराणि वेदितव्यानि । यच्चाद्यं शरीरं स्थूलप्रयोजनं तर्हि ततोन्यत्कि स्वरूपमित्याह—

सूत्रार्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच शरीर होते हैं ।

औदारिक आदि शरीर नाम कर्मों के उदय से जो उत्पन्न होते हैं वे औदारिक आदि शरीर हैं । उदार स्थूल को कहते हैं उसमें जो हो अथवा वह जिसका प्रयोजन हो उसे औदारिक कहते हैं । एक-अनेक, छोटा-बड़ा आदि रूप से शरीर को विविध करना विक्रिया है उसके दो भेद हैं पृथक्त्व विक्रिया और एकत्व विक्रिया । अपने शरीर से बाहर होकर विभिन्न आकार धारण करना पृथक्त्व विक्रिया कहलाती है और अपने शरीर को ही दूसरे आकार रूप करना एकत्व विक्रिया है । ऐसी दो प्रकार की विक्रिया जिसका प्रयोजन है वह वैक्रियिक है । संशय के कारणभूत जो सूक्ष्म पदार्थ है उसके निश्चय के लिये अथवा असंयम के परिहार के लिये प्रमत्तसंयत मुनि द्वारा जो रचा जाता है वह आहारक है । जो तेज का निमित्त है अथवा तेज में हुआ है वह तैजस है । कर्म को ही कार्मण कहते हैं अथवा कर्मों के समूह को कार्मण कहते हैं । जो शीर्ण होते हैं वे शरीर हैं इसप्रकार शरीरादि शब्दों का रूढ़ि परक या निरुक्ति परक अर्थ है । ये औदारिकादि पांच शरीर संसारी जीवों के जानने चाहिये ।

प्रथम का औदारिक शरीर स्थूल है तो उससे अन्य शरीर किस स्वरूप हैं ऐसी आशंका का सूत्र द्वारा निरसन करते हैं—

परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

पूर्वापेक्षया परत्वमिति परशब्दोऽत्र व्यवस्थार्थः। तस्य सूक्ष्मत्वगुणेन वीप्सायां द्वित्वम्। परंपरमिति सूक्ष्मत्वं चोत्तरोत्तरस्य परिणतिविशेषादग्राह्यं न परमाणुभिरुत्तरसूत्रसामर्थ्यात्। तेनौदारिकात्परं वैक्रियिकं सूक्ष्मम्। तस्मात्परमाहारकं सूक्ष्मम्। ततोऽपि परं तैजसं सूक्ष्मम्। तैजसात्परं कार्मणं सूक्ष्ममिति निश्चयः। तर्हि प्रदेशतः कथमित्याह—

प्रदेशतोऽसङ्ख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥ ३८ ॥

अविभागित्वेन प्रदिश्यन्ते प्ररूप्यन्त इति प्रदेशाः परमाणवः। प्रदेशैः प्रदेशतः। सङ्ख्यामतीतोऽसङ्ख्येयः स चात्र श्रेण्या असङ्ख्येयभागो गृह्यते। गुण्यतेऽनेनेति गुणः गुणकार इत्यर्थः। असङ्ख्येयो गुणो यस्य तदसङ्ख्येयगुणम्। प्राक्छब्दो मर्यादार्थः। परंपरमित्यनुवर्तते। तेनौदारिका-

---

सूत्रार्थ—आगे आगे वे शरीर सूक्ष्म स्वरूप हैं। पूर्व की अपेक्षा आगे को परत्व संज्ञा होती है, पर शब्द व्यवस्थावाची है उस पर शब्द को वीप्सा अर्थ में द्वित्व हुआ है आगे आगे के सूक्ष्म हैं अर्थात् ये शरीर परिणति विशेष के कारण उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते गये हैं। परमाणुओं के कारण सूक्ष्म नहीं हैं ऐसा आगे के सूत्र सामर्थ्य से जाना जाता है। अर्थ यह हुआ कि औदारिक से वैक्रियिक सूक्ष्म है, वैक्रियिक से आहारक सूक्ष्म है, उससे भी सूक्ष्म तैजस और उससे सूक्ष्म कार्मण शरीर होता है।

प्रदेशों की अपेक्षा वे शरीर कैसे हैं इस बात को कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रदेशों की अपेक्षा वे शरीर तैजस के पहले आहारक तक असंख्यात गुणे असंख्यात गुणे हैं। अविभाग रूप से जो कहे जाते हैं वे प्रदेश हैं अर्थात् परमाणु। तृतीया अर्थ में प्रदेश शब्द से तस् प्रत्यय हुआ है। संख्या से अतीत असंख्यात कहलाता है। यहां पर श्रेणि के असंख्यातवें भाग प्रमाण वाला असंख्यात लिया है। गुण का अर्थ–गुणकार है। असंख्येय गुणा जिसका हो वह संख्या असंख्येय गुणा कहलाती है। प्राक् शब्द मर्यादा अर्थ में ग्रहण किया है। परं परं का अध्याहार है। उससे औदारिक से असंख्यात गुणे प्रदेश वैक्रियिक के और उससे भी असंख्यात गुणे प्रदेश आहारक के होते हैं ऐसा निश्चय होता है।

त्प्रदेशैरसङ्ख्यातगुणं वैक्रियिकम् । ततोऽप्यसङ्ख्यातगुणमाहारकमिति कथितं भवति । तर्हि तैजसकार्मणे कथमित्याह—

अनन्तगुणे परे ।। ३९ ।।

न विद्यतेऽन्तोऽस्येत्यनन्तो मानविशेषो रूढः । स चाभव्यानामनन्तगुणः, सिद्धानामनन्तभागो गुणकारोऽत्र गृहीतः । अनन्तो गुणो ययोस्तेऽनन्तगुणे । परे उत्तरे । पूर्वापेक्षया परत्वं द्वयोरप्यस्ति । ततो द्विवचनसामर्थ्याद्द्वे अपि पूर्वस्मादाहारकात्तैजसकार्मणे अनन्तगुणत्वेन प्रतीयेते । प्रदेशत इत्यनुवर्तते । तत्राहारकात्प्रदेशैस्तैजसमनन्तगुणम् । तैजसात्कार्मणमनन्तगुणमिति विज्ञेयम् । नन्वेवं शल्यकवन्मूर्तिमद्द्रव्योपचितत्वात्संसारिजीवस्याभिप्रेतगतिनिरोधः प्रसज्यत इत्यत्रोच्यते—

अप्रतिघाते ।। ४० ।।

मूर्तस्य मूर्तान्तरेण प्रतिहननं प्रतिघातः प्रतिस्खलनं व्याघात इत्यर्थः । न विद्यते सर्वत्र प्रति-

---

तैजस और कार्मण शरीर के प्रदेश किस प्रकार के हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—आहारक से आगे के शरीर प्रदेशों की अपेक्षा अनन्त गुणे हैं । जिसका अन्त नहीं होता वह अनन्त है, वह एक माप विशेष है । वह अनन्त अभव्यों से अनन्त गुणा और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण गुणकार वाला यहां पर ग्रहण किया है । "अनन्तगुणे" पद में बहुव्रीहि समास है । परे का अर्थ आगे का है पूर्व की अपेक्षा दोनों शरीरों को परत्व है, अतः द्विवचन की सामर्थ्य से दोनों का ग्रहण होता है अर्थात् पहले का जो आहारक शरीर है उससे तैजस कार्मण अनन्त गुणा है ऐसा प्रतीत होता है, प्रदेशतः का प्रकरण है, उनमें आहारक से तैजस प्रदेशों की अपेक्षा अनन्त गुणा है और तैजस से अनन्त गुणा प्रदेशी कार्मण शरीर है ।

शंका—जिसप्रकार कील आदि के लग जाने से कोई भी प्राणी इच्छित स्थान पर नहीं जा सकता उसीप्रकार मूर्तिक द्रव्य से उपचित होने के कारण संसारी जीव की इच्छित गति के निरोध का प्रसंग आता है ?

समाधान—अब इसीको कहते हैं—

सूत्रार्थ—तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात रहित हैं । मूर्त्त का दूसरे मूर्त्तिक पदार्थ द्वारा घात–रुकावट होना प्रतिघात, प्रतिस्खलन या व्याघात कहलाता है ।

घातो ययोस्ते अप्रतिघाते अधिकृते तैजसकार्मणे प्रोच्येते । तथाहि—तैजसकार्मणयोर्वज्रपटलादिषु नास्ति व्याघातः सूक्ष्मावगाहपरिणामात् पारदादिवदिति । तैजसकार्मणशरीरसम्बन्धात्पूर्वममूर्तस्यात्मनः पुनः कथं ताभ्यां सम्बन्धो मुक्तात्मवद्भवेदित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

अनादिसम्बन्धे च ।। ४१ ।।

आदिः प्रथमः सम्बन्धः संयोगलक्षणो ययोस्ते आदिसम्बन्धे । नादिसम्बन्धे अनादिसम्बन्धे । अधिकृते तैजसकार्मणे । चशब्दोऽत्र पक्षान्तरसूचनार्थः । कार्यकारणसन्तत्यपेक्षयाऽनादिसम्बन्धे, विशेषापेक्षया सादिसम्बन्धे च ते जीवस्य बीजवृक्षवदिति तात्पर्यार्थः । एते तैजसकार्मणे किं कस्यचिदेव संसारिणो भवत आहोस्विदविशेषेणेत्याह—

जिनका कहीं पर भी व्याघात नहीं होता वे अधिकार में आये हुए तैजस और कार्मण शरीर हैं । इसी को बतलाते हैं—तैजस और कार्मण शरीर का वज्रपटल आदिक से भी व्याघात नहीं होता, क्योंकि ये दोनों ही सूक्ष्म अवगाह वाले हैं [सूक्ष्म परिणमन-वाले हैं] जैसे पारा आदि द्रव्य ।

शंका—तैजस और कार्मण शरीर के संबंध होने के पूर्व में आत्मा अमूर्त्त रहता है अतः अमूर्त्त आत्मा का उक्त दो शरीरों के साथ पुनः संबंध किस प्रकार हो सकता है ? नहीं हो सकता, जैसे कि मुक्तात्मा अमूर्त्त होने से उसके साथ ये शरीर संबद्ध नहीं होते हैं ?

समाधान—अब इसी शंका का निरसन करते हुए सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरों का आत्मा के साथ अनादि कालीन संबंध है । आदि का अर्थ प्रथम है और संबंध का अर्थ संयोग संबंध है, जिनका आदि संबंध नहीं है अर्थात् अनादि संबंध है उन अनादि संबंध वाले तैजस कार्मण शरीरों का अधिकार होने से ग्रहण होता है । च शब्द पक्षान्तर की सूचना करता है कि कार्य कारण के प्रवाह की अपेक्षा तो ये दोनों शरीर जीव के साथ अनादि से संबद्ध हैं और अमुक अमुक समय पर बंधने की अपेक्षा सादि संबद्ध हैं जैसे बीज और वृक्ष का प्रवाह रूप तो अनादि संबंध है और अमुक वृक्ष उस बीज से पैदा हुआ इत्यादि की अपेक्षा बीज वृक्ष सादि हैं ।

शंका—ये तैजस कार्मण शरीर किसी किसी संसारी जीव के होते हैं अथवा सामान्य से सबके होते हैं ?

समाधान—अब इसीको कहते हैं—

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

पूर्वोक्ते तैजसकार्मणे शरीरे निरवशेषस्य संसारिणो जीवस्याहारकस्यानाहारकस्याप्यविच्छिन्न सन्तानरूपतया अनादिसम्बन्धिनी वर्तेते । कियन्ति पुनः शरीराणि सहैकत्रात्मनि सम्भवन्तीत्याह—

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

तच्छब्दस्तैजसकार्मणानुकर्षणार्थः । ते आदिनी येषां तानि तदादीनि, भाज्यानि विकल्प्यानि । युगपच्छब्द एककालार्थः । एकशब्दः सङ्ख्यावाची । आङभिव्याप्त्यर्थः । चत्वारि शरीराण्यभिव्याप्येत्यर्थः । क्वचिदेकस्मिन्नात्मनि विग्रहगतयापन्ने तैजसकार्मणे एव युगपद्भवतः । क्वचित्तैजसकार्मणौदारिकाणि, तैजसकार्मणवैक्रियिकाणि वा त्रीणि सम्भवन्ति । क्वचित्तैजसकार्मणौदारिकाहारकाणि चत्वारि शरीराणि सन्ति । पञ्च न सम्भवन्ति वैक्रियिकाहारकयोर्युगपदेकत्रासम्भवात् । तर्हि सकलसंसारिणां कार्मणशरीरादेवोपभोगसिद्धेः शरीरान्तरपरिकल्पनमनर्थकमित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

सूत्रार्थ—उक्त दोनों शरीर सर्व ही संसारी जीवों के होते हैं। जीव आहारक होवे चाहे अनाहारक दोनों के ही वे पूर्वोक्त तैजस कार्मण शरीर अविच्छिन्न संतान रूप से अनादि संबंध वाले हैं।

एक साथ एक आत्मा में कितने शरीर संभव हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक साथ एक जीव के उक्त दो शरोरों को आदि लेकर चार तक शरीर होना भाज्य है। सूत्र में तत् शब्द तैजस और कार्मण शरीर का सूचक है, वे दो हैं आदि में जिनके ऐसा तदौदीनि का समास है। भाज्य का अर्थ विकल्पनीय है। युगपत् शब्द एक काल का सूचक है। एक शब्द संख्यावाची है, आङ् अभिविधि—अभिव्याप्ति अर्थ में है अर्थात् चार–तक शरीर होते हैं। किसी आत्मा म विग्रहगति में तैजस कार्मण ही युगपत् होते हैं। किसी जीव के तैजस कार्मण और औदारिक ये तीन होते हैं अथवा तैजस कार्मण वैक्रियिक ये तीन होते हैं। किसी जीव के तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक ये चार शरीर होते हैं। पांच शरीर एक साथ एक जीव के संभव नहीं है, क्योंकि वैक्रियिक और आहारक युगपत् एक जीव में नहीं रहते।

शंका—सभी संसारी जीवों के कार्मण शरीर से ही उपभोग की सिद्धि हो जाती है दूसरे शरीरों को मानने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान—इसी शंका का निवारण करते हैं—

निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥

इन्द्रियद्वारेण शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोगः । उपभोगान्निष्क्रान्तं निरुपभोगम् । सूत्रपाठापेक्षयान्तेभवमन्त्यं कार्मणशरीरमुच्यते । तद्विग्रहगताविन्द्रियलब्धौ सत्यामपि द्रव्येन्द्रियनिष्पत्त्यभावाच्छब्दाद्युपलम्भनिमित्तं न भवति । तैजसं पुनर्योगनिमित्तत्वाभावादेवानुपभोगं सिद्धमिति तन्नेह तथोक्तम् । उक्तलक्षणेषु जन्मसु शरीरोत्पत्तिनियमप्रदर्शनार्थमाह—

गर्भसम्मूर्छनजमाद्यम् ॥ ४५ ॥

गर्भश्च सम्मूर्छनं च गर्भसम्मूर्छने । ताभ्यां जातं गर्भसम्मूर्छनजम् । सूत्रपाठक्रमापेक्षया आदौ भवमाद्यं प्रथममौदारिकमित्यर्थः यद्गर्भजं यच्च सम्मूर्छनजं तत्सर्वमौदारिकमिति वेदितव्यम् । वैक्रियिकं कस्मिन् जन्मनि प्रादुर्भवतीत्याह—

सूत्रार्थ—अंतिम शरीर उपभोग रहित होता है। इन्द्रिय द्वारा शब्दादि की उपलब्धि होना उपभोग कहलाता है उस भोग से रहित को निरुपभोग कहते हैं। सूत्र पाठ की अपेक्षा जो अन्त में है उसे अन्त्य कहते हैं अर्थात् कार्मण शरीर। विग्रह गति में लब्धिस्वरूप इन्द्रियां [क्षयोपशम स्वरूप भावेन्द्रियाँ] होने पर भी द्रव्येन्द्रियों की रचना के अभाव होने के कारण शब्दादि के ग्रहण का निमित्त उक्त कार्मण शरीर नहीं हो पाता अर्थात् वह शरीर शब्दादि ग्रहण नहीं कर पाता। क्योंकि द्रव्येन्द्रियां ही नहीं हैं।

यद्यपि तैजस शरीर भी उपभोग रहित है, किन्तु वह योग का भी कारण नहीं है इसी से उसका निरुपभोगपना सिद्ध है अतः यहाँ पर उसका ग्रहण नहीं किया है।

शंका—गर्भ आदि कहे गये जन्मों में शरीरों की उत्पत्ति का क्या नियम है ?

समाधान—अब इसी का कथन करते हैं—

सूत्रार्थ—गर्भ जन्म वाले के और सम्मूर्च्छन जन्म वाले के आदि का औदारिक शरीर होता है। गर्भ और सम्मूर्च्छन पद में द्वन्द्व समास है उन दो जन्मों से जो पैदा होता है वह सूत्र पाठ की अपेक्षा आदि में जो हुआ वह आध अर्थात् पहला औदारिक शरीर। जो गर्भज है और जो सम्मूर्च्छज है वह सर्व ही औदारिक शरीर है ऐसा जानना चाहिये।

वैक्रियिक शरीर किस जन्म में उत्पन्न होता है ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

औपपादिकं वैक्रियिकम् ।। ४६ ।।

उपपादो व्याख्यातलक्षणस्तत्र भवमौपपादिकम् । यदुपपादजन्मजं शरीरं तद्वैक्रियिकं वेदितव्यम् । अनौपपादिकस्यापि कस्यचिद्वैक्रियिकत्वप्रतिपादनार्थमाह—

लब्धिप्रत्ययं च ।। ४७ ।।

तपोविशेषादिर्लब्धिः प्रत्ययः कारणं । लब्धिः प्रत्ययो यस्य तल्लब्धिप्रत्ययम् । चशब्दो वैक्रियिकाभिसम्बन्धार्थः । तेन वैक्रियिकं शरीरं लब्धिप्रत्ययं च भवतीत्यभिसम्बध्यते । तैजसस्यापि लब्धिप्रत्ययत्वप्रतिपादनार्थमाह—

तैजसमपि ।। ४८ ।।

अपिशब्देन लब्धिप्रत्ययमभिसम्बध्यते । तेन तैजसमपि लब्धिप्रत्ययं भवतीति ज्ञायते । तत्र यदनुग्रहोपघातनिमित्तं निःसरणाऽनिःसरणात्मकं तपोतिशयर्द्धिसम्पन्नस्य यतेर्भवति तद्विशिष्टरूपं

सूत्रार्थ—वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्म वाले के होता है । उपपाद का लक्षण कह चुके हैं उस उपपाद में जो हो वह औपपादिक है । जो उपपाद जन्मज शरीर है वह वैक्रियिक जानना चाहिये ।

जिनका उपपाद जन्म नहीं है ऐसे अनौपपादिक जीवों में भी किसी किसी के वैक्रियिक शरीर होता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—लब्धि के कारण भी वैक्रियिक शरीर होता है, तप विशेष आदि को लब्धि कहते हैं, प्रत्यय का अर्थ कारण है, लब्धि है कारण जिसका वह लब्धि प्रत्यय कहलाता है । सूत्र में च शब्द वैक्रियिक के संबंध के लिये आया है । उससे वैक्रियिक शरीर लब्धि के निमित्त से भी होता है ऐसा सिद्ध होता है ।

तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय है ऐसा बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—तैजस शरीर भी लब्धि प्रत्यय होता है । सूत्र में अपि शब्द है, वह लब्धि प्रत्यय का अध्याहार करता है, उससे यह अर्थ सिद्ध होता है कि तैजस शरीर भी लब्धि के निमित्त से होता है । जो शरीर अनुग्रह और उपघात का कारण है निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक ऐसे दो रूप है अतिशय तप के ऋद्धि से सम्पन्न मुनीश्वर के होता है वह विशिष्ट तैजस शरीर है । तथा जो सुख दुःख के अनुभवन रूप कार्य की उत्पत्ति में कार्मण शरीर का सहकारि है ऐसा तैजस शरीर तो सर्व ही संसारी जीवों के साधारणपने से होता है ।

कथितम् । यत्पुनः सुखदुःखानुभवनकार्योत्पत्तौ कार्मणस्य सहकारि तत् सर्वसंसारिणां साधारणरूपं तैजसं कथ्यते । इदानीमाहारकस्य स्वरूपस्वामिविशेषप्ररूपणार्थमाह—

शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।। ४६ ।।

तत्राहारककाययोगाख्यशुभक्रियायाः कारणत्वाच्छुभमाहारकं व्यपदिश्यते—यथाऽन्नं वै प्राणा इति । विशुद्धस्य पुण्यकर्मणः कार्यत्वाद्विशुद्धमिति व्यपदिश्यते । यथा तन्तवः कार्पास इति । व्याघातः प्रतिबन्धः । न विद्यते व्याघातो यस्य तदव्याघाति । नान्येनाहारकस्य नाप्याहारकेणान्यस्य व्याघातः क्रियत इत्यर्थः । चशब्दस्तन्निवृत्तिप्रयोजनविशेषसमुच्चयार्थः । स च स्वस्यर्द्धिविशेषसद्भावज्ञानं सूक्ष्म-

---

विशेषार्थ—तैजस शरीर के मूलतः दो भेद हैं एक तो वह है जो सभी संसारी के नियम से सदा रहता है, एक क्षण भी संसारी जीव इसके बिना नहीं रहता । यह तैजस शरीर औदारिक आदि शरीर के दीप्ति–रौनक का निमित्त है तथा अनिःसरणात्मक होता है । दूसरा तैजस शरीर किसी उग्र तपस्वी साधु के संभव है यह भी दो प्रकार का है, शुभ तैजस और अशुभ तैजस । किसी महा तपस्वी जैन साधु के कदाचित् दुर्भिक्ष या मारी आदि से पीड़ित जन समूह को देखकर महा करुणा से उक्त कष्ट दूर करने के लिये धवल शुभ तैजस शरीर निकलता है, वह सर्व विपदा दूर कर पुनः उसी मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो विलीन हो जाता है । अशुभ तैजस शरीर किसी उग्र तपस्वी मुनि के कारण वश कुपित होने पर निकलता है । टीकाकार भास्कर नंदी ने तप के निमित्त से होनेवाले तपस्वी जनों के तैजस शरीर को भी दो प्रकार का बतलाया है निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक । अस्तु ।

अब आहारक शरीर का स्वरूप और स्वामित्व का प्ररूपण करते हैं—

सूत्रार्थ—आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध और अव्याघाती होता है यह प्रमत्त संयत नामा छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के ही होता है ।

आहारक काय योग नाम की शुभ क्रिया का कारण यह आहारक शरीर है अतः इसे शुभ कहते हैं, जैसे कि अन्न को प्राण कहते हैं, वहां अन्न प्राण का कारण है अतः उसे भी प्राण कहा वैसे ही आहारक शरीर शुभ क्रिया का कारण है अतः शुभ कहलाता है । विशुद्ध–पुण्य कर्म का कार्य होने से विशुद्ध संज्ञावाला है । जैसे कपास धागे का कारण है अथवा धागे रूप कार्य का कारण कपास है वैसे विशुद्ध कर्म का कार्य आहारक शरीर है इसलिये विशुद्ध कहलाता है । प्रतिबंध–रुकावट को व्याघात कहते हैं,

पदार्थनिर्धारणं संयमपरिपालनं च प्रयोजनविशेषः कथ्यते । तदर्थमाह्रियते निर्वर्त्यत इत्याहारकम् । अत एव तदर्थं तन्निर्वर्तयन्संयतः प्रमत्तो भवतीति प्रमत्तसंयतस्येत्युक्तम् । प्रमाद्यति स्म प्रमत्तः । संयच्छति स्म संयतः । प्रमत्तश्चासौ संयतश्च प्रमत्तसंयतस्तस्य प्रमत्तसंयतस्य । तस्यैवाहारकं नान्यस्येतीष्टतोऽवधारणार्थमेवकारोपादानम् । तत्रौदारिकादिनिवृत्तिर्नास्तीति सिद्धम् । संप्रति संसारिणां लिङ्गनियमार्थमाह—

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

नरकेषु भवा नारका वक्ष्यमाणाः । सम्मूर्छनं सम्मूर्छः । स विद्यते येषां ते सम्मूर्छिनो व्याख्यातलक्षणाः नारकाश्च सम्मूर्छिनश्च नारकसम्मूर्छिनः । नोकषायभेदस्य नपुंसकवेदस्याऽशुभनाम्नश्च विपाकान्न स्त्रियो न पुमांस इति नपुंसकानि भवन्ति । नारकाः सम्मूर्छनजन्मानश्च सर्वे नपुंसकलिङ्गा

जिसके व्याघात नहीं होता उसे अव्याघाती कहते हैं । आहारक शरीर का अन्य द्वारा व्याघात नहीं होता तथा स्वयं आहारक शरीर भी अन्य का घात नहीं करता है । सूत्र में च शब्द आया है उससे उस आहारक शरीर की निवृत्ति–रचना तथा प्रयोजन विशेष का ग्रहण हो जाता है । अपनी ऋद्धि विशेष का सद्भाव ज्ञात करने के लिये सूक्ष्म पदार्थ के निर्णय के लिये या संयम परिपालन के लिये यह शरीर बनता है, यह इसका प्रयोजन है । उपर्युक्त प्रयोजन के लिये जो रचा जाता है वह आहारक है । इसको रचता हुआ मुनि प्रमत्त होता है अतः कहा है कि प्रमत्तसंयत के ही आहारक होता है । प्रमाद युक्त प्रमत्त है संयमी संयत है । प्रमत्तसंयत का कर्मधारय समास है । उसीके आहारक होता है अन्य के नहीं होता, इसप्रकार का इष्ट अवधारण करने के लिये "एव" शब्द का ग्रहण किया है । ऐसा अवधारण नहीं करना कि प्रमत्तसंयत के आहारक ही होता है, इसतरह अवधारण करे तो उक्त मुनि के औदारिकादि शरीर के अभाव का प्रसंग आता है । अतः आहारक यदि होता है तो प्रमत्तसंयत के ही होता है ऐसा अर्थ करना ।

अब इस समय संसारी जीवों के लिंग का नियम बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—नारकी और सम्मूर्छिन जीव नपुंसक होते हैं । नरक में होनेवाले नारकी हैं इनका कथन आगे करेंगे । सम्मूर्छनपना जिनके होता है वे सम्मूर्छिन कहलाते हैं । "नारक सम्मूर्छिनो" पद में द्वन्द्व समास है । नोकषाय के भेद स्वरूप नपुंसक वेद के उदय से तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से जो न स्त्री होता है और न

एव वेदितव्याः । सामर्थ्यलब्धत्रिलिङ्गत्वे देवानां नपुंसकलिङ्गप्रतिषेधार्थमाह—

न देवाः ।। ५१ ।।

देवा नपुंसकानि न भवन्ति । ततस्ते स्त्रियः पुमांसश्चेत्यर्थादवगम्यते । अथान्ये यल्लिङ्गा इत्याह—

शेषास्त्रिवेदाः ।। ५२ ।।

औपपादिकेभ्यः सम्मूर्च्छनजेभ्यश्चान्ये संसारिणः शेषास्ते पुनर्गर्भजा एव । वेद्यन्त इति वेदा रूढिवशात् स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गान्युच्यन्ते । त्रयो वेदा येषां ते त्रिवेदाः । शेषाणां प्राणिनां त्रयो वेदा भवन्तीति निश्चयः कर्तव्यः । के पुनः संसारिणोऽनपवर्त्यायुषः, के चापवर्त्यायुष इत्याह—

औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसङ्ख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।। ५३ ।।

पुरुष होता है, वे नपुंसक होते हैं । नारकी और सम्मूर्छन जन्मवाले सर्व नपुंसक लिंगधारी ही होते हैं । सामर्थ्य से अन्य जीवों के तीन लिंगपने का प्रसंग आने पर देवों में नपुंसक लिंग का निषेध करते हैं—

सूत्रार्थ—देव नपुंसक लिंगवाले नहीं होते । देव नपुंसक नहीं होते । उनके तो स्त्रीलिंग और पुल्लिग ये दो लिंग ही होते हैं । ऐसा अर्थापत्ति से ज्ञात होता है ।

अन्य जीवों के लिंग बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—शेष जीवों के तीनों लिंग होते हैं । उपपाद जन्मवाले और सम्मूर्छन जन्मवाले जीवों को छोड़कर गर्भ जन्मवाले ही शेष बचते हैं । जिनका वेदन किया जाय वे वेद हैं यह रूढि परक अर्थ है । स्त्रीलिंग, पुल्लिग और नपुंसक लिंग ये तीन वेद हैं । "त्रिवेदा" पद में बहुव्रीहि समास हुआ है । तात्पर्य यह है कि शेष प्राणियों के तीनों वेद होते हैं ।

प्रश्न—कौनसे संसारी जीव अनपवर्त्य आयुवाले हैं और कौन से अपवर्त्य आयुवाले हैं ?

उत्तर—इसीको कहते हैं ।

सूत्रार्थ—उपपाद जन्मवाले, चरमोत्तम देहवाले और असंख्यात वर्ष की आयुवाले जीव अनपवर्त्य आयु युक्त होते हैं । उपपाद जन्मवाले देव नारकी होते हैं । अन्त्य को चरम और उत्तम को उत्कृष्ट कहते हैं । देह का अर्थ शरीर है । चरम उत्तम है देह

औपपादिका देवनारकाः। चरमोऽन्त्यः। उत्तम उत्कृष्टः। देहः शरीरं। चरम उत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहास्तज्जन्मनि मोक्षार्हाः। असङ्ख्येयानि असङ्ख्यातमानविशेषपरिच्छिन्नानि वर्षाण्यायुर्येषां ते असंङ्ख्येयवर्षायुषः पल्याद्युपमाप्रमाणगम्यायुषो भोगभूमिजास्तिर्यङ्मनुष्या इत्यर्थः। औपपादिकाश्च चरमोत्तमदेहाश्चाऽसंङ्ख्येयवर्षायुषश्च औपपादिकचरमोत्तमदेहासङ्ख्येयवर्षायुषः।

जिनके वे चरमोत्तम कहे जाते हैं अर्थात् उसी जन्म में मोक्ष जाने वाले। असंख्यात माप विशेष से जिनकी आयु के वर्ष नापे जाते हैं वे असंख्येय वर्ष आयुवाले जीव हैं। अर्थात् पल्य आदि उपमा प्रमाण द्वारा जिनकी आयु गम्य होवे वे भोगभूमिज मनुष्य तिर्यच असंख्येय वर्षायुष्क होते हैं। सूत्रस्थ औपपादिक आदि पदों का द्वन्द्व समास जानना चाहिये। विष, शस्त्र, वेदना आदि बाह्य निमित्त द्वारा जो ह्रस्व-कम किया जाता है वह अपवर्त्य कहलाता है। अपवर्त्य है आयु जिनके वे अपवर्त्य आयुष्क हैं। जिन जीवों के ऐसा अपवर्त्य नही होता वे अनपवर्त्य आयु वाले हैं। वे औपपादिक आदि जीव अपवर्त्तन-घात युक्त आयु धारी नहीं होते ऐसा नियम है। उक्त जीवों को छोड़कर शेष संसारी अपवर्त्तन आयुष्क होते हैं ऐसा सामर्थ्य से ज्ञात होता है। इस अपवर्त्तन योग्य आयु के कारण ही प्राणियों के अकाल मरण होना निश्चित होता है। तथा आयु के अपवर्त्य के प्रतीकार आदि के अनुष्ठान की अन्यथानुपपत्ति से भी निश्चय होता है कि अकाल मरण संभव है। अभिप्राय यह है कि यदि अकाल मरण नहीं होता तो आयु घात को रोकने के लिये चिकित्सा आदि का अनुष्ठान नहीं हो सकता था, किन्तु चिकित्सा आदि होती अवश्य है इसीसे अकाल मरण की सिद्धि होती है, अब इस विषय में अधिक नहीं कहते।

इस दूसरे अध्याय में जीव के औपशमिक आदि ५३ भाव बतलाये हैं तथा जीवका लक्षण, इन्द्रियरूप साधन उनके विषय तथा उन्हीं इन्द्रियों के स्वामी के भेद कहे गये हैं, पुनश्च गति [विग्रहगति] जीवों के जन्म भेद, योनि, शरीर और अनपवर्त्य आयु इन सब ही का प्रतिपादन किया गया है।

विशेषार्थ—संसारी जीवों की आयु दो प्रकार से पूर्ण होती है एक तो जितने काल को लेकर बँधी थी तदनुसार फलती है और एक बाह्य प्रबल निमित्त के वश असमय में उदीर्ण होकर फलती है। देव नारकी चरम शरीरी और भोगभूमिज जीवों

विषशस्त्रवेदनादिबाह्यनिमित्तविशेषेणापवर्त्यते ह्रस्वीक्रियत इत्यपवर्त्य—अपवर्तनीयमित्यर्थः। अपवर्त्य-मायुर्येषां ते अपवर्त्यायुषः। नापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषः। त इमे औपपादिकादयोऽपवर्तनीयायुषो न भवन्तीति नियमोऽवसेयः। तेभ्योऽन्ये तु संसारिणः सामर्थ्यादपवर्त्यायुषोऽपि भवन्तीति गम्यते। अत एव प्राणिनां प्रतीकाराद्यनुष्ठानान्यथानुपपत्तेरकालेऽपि मरणमस्तीति निश्चीयत इत्यलं विस्तरेण।

की आयु यथासमय ही क्रमशः निर्जीर्ण होती है। केवल कर्मभूमिज मनुष्य तिर्यंचों की आयु अपवर्त्य–अपवर्त्तनीय–कम होने योग्य है, बाह्य में विष भक्षण, शस्त्रप्रहार, अग्निदाह, रक्तक्षय, अत्यंत संक्लेश परिणाम आदि आदि अनेक निमित्तों के मिलने से इनके आयु का ह्रस्वीकरण हो जाता है। यह नियम है कि भुज्यमान आयु बढ़ती नहीं, अर्थात् जिसका उदय प्रारंभ हो गया जिसे वर्त्तमान पर्याय में भोग रहे हैं वह जितने समय प्रमाण बंधी है उन समयों मे वृद्धि कदापि संभव नहीं है, केवल ह्रास ही संभव है। यदि किसी की शंका हो कि जैसे वृद्धि संभव नहीं है वैसे ह्रास भी नहीं होना चाहिये। सो यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि कर्मभूमिज जीवों के अपवर्त्य वाली आयु का कथन इस तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ में महान आचार्य उमास्वामी ने किया है। तथा यदि उक्त जीवों की आयु में ह्रास–हानि संभव नहीं होती तो चिकित्सा व्यर्थ ठहरती है। यदि कहा जाय कि चिकित्सा तो केवल वेदना कम करने के लिये है सो यह बात भी कर्म के उदय में परिवर्तन ही सिद्ध करती है, अर्थात् रोग का प्रतीकार चिकित्सा द्वारा होता है यह माना जाय तो रोग असाता वेदनीय आदि कर्मोदय के कारण होता है और वह असातादि कर्म औषधि आदि द्वारा अल्प होता है अथवा शीघ्र उदीर्ण होकर समाप्त होता है तो जैसे असाता कर्म में अपवर्त्तन–ह्रस्वपना स्वीकार किया वैसे आयु का अपवर्तन क्यों नहीं स्वीकार किया जाय ? करना ही होगा। इसप्रकार रोग-वेदना के प्रतीकार की अन्यथानुपपत्ति से उक्त प्राणियों के अकाल मरण की सिद्धि होती है।

जो चन्द्रमा के किरण समूह के समान तथा विस्तीर्ण तुलना रहित मोतियों के विशाल हारों के समान एवं तारका समूह के समान शुक्ल निर्मल उदार ऐसे परमौ-दारिक शरीर के धारक हैं, शुक्लध्यान रूपी अग्नि की उज्ज्वल ज्वाला द्वारा जला दिया है घाती कर्मों के ईन्धन समूह को जिन्होंने ऐसे तथा सकल विमल केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण लोकालोक के स्वभाव को जाननेवाले श्रीमान परमेश्वर जिनपति के मत को

जीवस्य भावलक्षणसाधनविषयेश्वरप्रभेदाश्च गतिजन्म–योनिदेहानपवर्त्यायुष्कभेदाश्चास्मिन्नध्याये निरूपिताः ॥

शशधरकरनिकरसतारनिस्तलतरलतममुक्ताफलहारस्फारतारानिकुरम्बबिम्बनिर्मलतरपरमोदार
शरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघातीन्धनसङ्घातसकलविमलकेवलालोकित-
सकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचिदचित्स्वभाव-
भावाभिधानसाधितस्वभावपरमाराध्यतममहासैद्धान्तः श्रीजिनचन्द्र-
भट्टारकस्तच्छिष्यपण्डितश्रीभास्करनन्दिविरचित-
महाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां
द्वितीयोऽध्यायस्समाप्तः ।

जानने में विस्तीर्ण बुद्धि वाले, चेतन अचेतन द्रव्य को सिद्ध करने वाले परम आराध्य भूत महा सिद्धांत ग्रंथों के जो ज्ञाता हैं ऐसे श्री जिनचन्द्र भट्टारक हैं, उनके शिष्य पण्डित श्री भास्करनन्दी विरचित सुखबोधा नामवाली महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में द्विनीय अध्याय पूर्ण हुआ ।

❖

अथ तृतीयोऽध्यायः

अत्राह वातवलयत्रयेण सर्वः समन्तात्परिक्षिप्तो रज्जुविधिना च परिच्छिन्नो लोक आगमान्तरे प्रतिपादितस्तस्य सन्निवेशसंस्थानप्रमाणवचनं कर्तव्यमित्यत्रोच्यते। तथाहि—अलोकाकाशस्यानन्तस्य बहुमध्ये सुप्रतिष्ठकसंस्थानो लोकः। ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्च मृदङ्गवेत्रासनझल्लर्याकृतिस्तनुवातान्तवलय-परिक्षिप्त ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु प्रतरवृत्तश्चतुर्दशरज्ज्वायामो मेरुप्रतिष्ठवज्रवैडूर्यपटलान्तररुचकसंस्थिता अष्टाकाशप्रदेशा लोकमध्यम्। लोकमध्याद्यावदैशानान्तस्तावदेका रज्जुरर्धं च। माहेन्द्रान्ते तिस्रो ब्रह्मलोकान्ते अर्धचतुर्थाः। कापिष्ठान्ते चतस्रो महाशुक्रान्तेऽर्धपञ्चमा। सहस्रारान्ते पञ्च। प्राणतान्तेऽर्धषष्ठाः। अच्युतान्ते षट्। आलोकान्तात्सप्त। तथा लोकमध्यादधो यावत्शर्करापृथिव्यन्तस्ताव-

---

यहां पर कोई कहता है कि अन्य आगम में तीन वातवलयों से सब ओर से परिवेष्टित और राजू विधि से नापा गया लोक बतलाया है, उस लोक की रचना कैसी है तथा संस्थान और प्रमाण क्या हैं यह सब कथन इस ग्रंथ में करना चाहिये। सो इसतरह का प्रश्न होने पर इसी का प्रतिपादन करते हैं—अनन्त प्रदेशी अलोकाकाश के बहु मध्य में सुप्रतिष्ठ संस्थान वाला लोक है। इसका ऊर्ध्व भाग मृदंग आकार सदृश है, अधोभाग वेत्रासनाकृति है और मध्यभाग झालर के आकार का है। ऊपर नीचे और तिरछे तनुवात वलय नामके अन्तर वायु से वेष्टित है, प्रतर वृत्त है, चौदह राजू आयाम वाला है। मध्य लोक में मेरु पर्वत के आधार भूत जो भूमि है उस भूमि के सोलह पटल हैं उनमें से ऊपर के वज्र और वैडूर्य नाम वाले दो पटलों के अन्तराल में स्थित रुचक के समान आकार धारक जो आकाश के आठ प्रदेश हैं वह लोक का मध्य है। अर्थात् लोक का मध्य मेरु के जड़ में वज्र पटल और वैडूर्य पटल के बीच में है। जो कि आठ प्रदेश स्वरूप है एवं रुचकाकार है। उक्त लोक मध्य से लेकर ईशान स्वर्ग के अन्त भाग तक डेढ़ राजू प्रमाण क्षेत्र हो जाता है। माहेन्द्र स्वर्ग के अन्त में तीन राजू पूर्ण होते हैं। ब्रह्मलोक के अन्त में साढ़े तीन राजू, कापिष्ठ के अन्त में चार राजू, महाशुक्र स्वर्ग के अन्त में साढ़े चार राजू, सहस्रार के अन्त में पांच राजू, प्राणत स्वर्ग के अन्त में साढ़े पांच राजू, अच्युत के अन्त में छह राजू और

देका रज्जुः । ततोऽधःपृथिवीनां पञ्चानां प्रत्येकमन्तेऽन्ते रज्जुरेकैका वृद्धा । ततोऽधस्तमस्तम प्रभाया आलोकान्तादेका रज्जुः । एवं सप्ताधोरज्जवः । अधोलोकमूले दिग्विदिक्षु विष्कम्भः सप्तरज्जवः । तिर्यग्लोक एका । ब्रह्मलोके पञ्च । पुनर्लोकाग्रे रज्जुरेका । लोकमध्यादधो रज्जुमवगाह्य शर्करान्तेऽष्टास्वपि दिग्विदिक्षु विष्कम्भो रज्जुरेका रज्ज्वाश्च षट्सप्तभागाः । ततो रज्जुमवगाह्य वालुकान्ते द्वे रज्जू रज्ज्वाश्च पञ्चसप्तभागाः । ततो रज्जुमवगाह्य पङ्कान्ते तिस्रो रज्जवो रज्ज्वाश्च चत्वारस्सप्तभागाः । ततो रज्जुमवगाह्य धूमान्ते चतस्रो रज्जवो रज्ज्वाश्च त्रयः सप्तभागाः । ततो रज्जुमवगाह्य तमःप्रभान्ते पञ्चरज्जवो रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ । ततो रज्जुमवगाह्य तमस्तमःप्रभान्ते षड्ज्जवः । सप्तभागश्चैकस्ततो रज्जुमवगाह्य कलङ्कलान्ते विष्कम्भः सप्तरज्ज्वः । वज्रतलादुपरि

लोकान्त में सात राजू प्रमाण क्षेत्र पूर्ण होता है । यह तो ऊर्ध्वलोक के राजूओं का क्रम हुआ । अब अधोलोक का बतलाते हैं—लोक मध्य से लेकर शर्करा पृथिवी के अन्त भाग तक एक राजू क्षेत्र पूर्ण होता है । उससे नीचे की पांच पृथिवी पर्यन्त प्रत्येक पृथिवी के अन्त में एक एक राजू प्रमाण है । उससे नीचे तमस्तमप्रभा पृथिवी से लोकान्त तक एक राजू पूर्ण होता है और इसतरह अधोभाग के सात राजू होते हैं । अधोलोक के मूल में दिशा विदिशा में लोकाकाश की चौड़ाई सात राजू है । पुनः ऊपर घटती हुई मध्यलोक में एक राजू रह गई है । पुनः ऊर्ध्वलोक में बढ़ती हुई ब्रह्म स्वर्ग में पांच राजू प्रमाण लोक की चौड़ाई होती है और पुनः घटते हुए लोकाग्र में एक राजू चौड़ाई रह जाती है । इसीको और भी स्पष्ट करते हैं—मध्यलोक–तिर्यग्लोक से एक राजू नीचे चले जाने पर शर्करा भूमि के अन्त में आठों दिशा विदिशाओं में लोक की चौड़ाई एक राजू पूर्ण तथा एक राजू के सात भागों में से छह भाग प्रमाण होती है । उससे नीचे वालुका पृथिवी के अंत में दो राजू और एक राजू के सात भागों में से पांच भाग प्रमाण चौड़ाई है । उससे एक राजू नीचे जाकर पंक प्रभा के अंत में तीन राजू और राजू के सात भागों में से चार भाग प्रमाण चौड़ाई है । उससे एक राजू नीचे जाकर धूमप्रभा के अन्त में चार राजू और एक राजू के सात भागों में से तीन भाग चौड़ाई है । उससे नीचे एक राजू जाकर तमःप्रभा के अन्त में पांच राजू और एक राजू के सात भागों में से दो भाग चौड़ाई है । उससे नीचे एक राजू जाकर तमः तमप्रभा के अन्त में छह राजू और एक राजू के सात भागों में से एक भाग चौड़ाई है । उससे नीचे एक राजू जाकर कलंकल के अन्त में सात राजू प्रमाण चौड़ाई है । अब ऊपर की चौड़ाई बताते हैं—मेरु के तल में जो वज्र

रज्जुमुत्क्रम्य विष्कम्भो द्वे रज्जू रज्ज्वाश्चैकस्सप्तभागस्ततो रज्जुमुत्क्रम्य तिस्रो रज्जवो रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ। ततो रज्जुमुत्क्रम्य चतस्रो रज्जवो रज्ज्वाश्च त्रयस्सप्तभागाः। ततोर्धरज्जुमुत्क्रम्य रज्जवः पञ्च। ततोऽर्धरज्जुमुत्क्रम्य चतस्रो रज्जवो रज्ज्वाश्च त्रयस्सप्तभागाः। ततो रज्जुमुत्क्रम्य तिस्रो रज्जवो रज्ज्वाश्च द्वौ सप्तभागौ। ततो रज्जुमुत्क्रम्य द्वे रज्जू रज्ज्वाश्चैकस्सप्तभागाः। ततो रज्जुमुत्क्रम्य लोकान्ते रज्जुरेका विष्कम्भः इत्येष लोको रज्जुविधिना परिच्छिन्नो ज्ञेयः। अस्य चाधोमध्योर्ध्वभागत्रयसम्भवेऽधोभागस्तावद्वक्तव्यः। एतस्मिंश्च संसारिविकल्पा नारकास्तिष्ठन्ति। तत्प्रतिपादनार्थं तदधिकरणनरकाधिष्ठानभूतभूमिसप्तकनिर्देशः क्रियते—

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥

पटल भूमि है उससे ऊपर एक राजू चले जाने पर लोक की चौड़ाई दो राजू पूर्ण और एक राजू के सात भागों में से एक भाग प्रमाण है। उसके ऊपर एक राजू जाने पर चौड़ाई तीन राजू और एक राजू के सात भागों में से दो भाग की है। उसके ऊपर एक राजू जाने पर चार राजू पूर्ण तथा एक राजू के सात भागों में से तीन भाग की चौड़ाई है। उसके ऊपर आधा राजू चले जाने पर पांच राजू की चौड़ाई है। उसके ऊपर आधा राजू जाने पर चार राजू पूर्ण और एक राजू के सात भागों में से तीन भाग चौड़ाई है। उसके ऊपर एक राजू जाने पर तीन राजू और एक राजू के सात भागों में से दो भाग चौड़ाई है। उसके ऊपर एक राजू जाने पर दो राजू पूर्ण और एक राजू के सात भागों में से एक भाग प्रमाण चौड़ाई है। उसके ऊपर एक राजू जाकर लोक के अन्त में एक राजू की चौड़ाई है। इसप्रकार राजू की विधि द्वारा लोक नापा गया है। इस लोक के अधोभाग, मध्यभाग और ऊर्ध्वभाग ऐसे तीन भाग हैं। उनमें पहले अधोभाग का कथन करना चाहिये। इसी अधोभाग में संसारी जीवों के भेद स्वरूप नारकी जीव रहते हैं। उन नारकी जीवों के प्रतिपादन के लिये उनके आधार भूत नरकों के अधिष्ठान स्वरूप सात भूमियाँ हैं उनका निर्देश करते हैं—

सूत्रार्थ—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा ये सात भूमियां हैं। ये भूमियां घनवात, घनोदधिवात और तनुवात के आधार में स्थित हैं। पुनश्च ये वातवलय आकाश के आधार पर हैं। ये सातों ही

रत्नादयः शब्दाः प्रसिद्धार्थाः। रत्नं च शर्करा च वालुका च पङ्कश्च धूमश्च तमश्च महातमश्च रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमांसि। प्रभाशब्दो दीप्तिवाची। तस्य रत्नादिभिः प्रत्येकमभिसम्बन्धे तद्भेदाद्भेदोपपत्तेर्बहुत्वमुपपद्यते। तेषां रत्नादीनां प्रभा रत्नादिप्रभाः। तत्साहचर्याद्भूमयोऽपि रत्नप्रभादिशब्दैः प्रोच्यन्ते। यथा यष्टिसहचरितो देवदत्तो यष्टिरित्युच्यते। ततश्च चित्रवज्रवैडूर्यलोहिताक्षमसारगल्वगोमेदप्रवालद्योतीरसाञ्जनाञ्जनमूलकान्तस्फटिकचन्दनवर्धकवकुलशिलामयाद्यषोडशरत्नप्रभासहचरिता भूमी रत्नप्रभा। शर्कराप्रभासंयुक्ता भूमिः शर्कराप्रभेत्यादि। ता एता रत्नप्रभादिसंज्ञा इन्द्रगोपादिसंज्ञाशब्दवत् रूढा भूमयः पृथिव्यो न नरकपटलानि। नापि विमानानि। घनशब्देन घनवात आगमे रूढो गृह्यते। तथाम्बुशब्देनाम्बुवातः। वातशब्देन च तनुवातः। आकाशं

भूमियां नीचे नीचे स्थित हैं। रत्नादि शब्द प्रसिद्ध अर्थ वाले हैं। इनमें द्वन्द्व समास हुआ है। प्रभा शब्द दीप्ति वाचक है। उस प्रभा शब्द का रत्नादि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करने पर उनके भेद से प्रभा शब्द के बहुपना बन जाता है, उन रत्नादि की प्रभा रत्नादिप्रभा इसप्रकार समास हुआ है। उन रत्नादि की प्रभा के साहचर्य से भूमियां भी रत्नप्रभा आदि शब्दों द्वारा कही जाती हैं। जैसे यष्टि—के साहचर्य से देवदत्त को यष्टि कह देते हैं। चित्रवज्र, वैडूर्य, लोहिताक्ष, मसारगल्व, गोमेद, प्रवाल, द्योतीरस, अञ्जन, मूल अंक, स्फटिक, चन्दन, वर्धक, बकुल और शिला इन सोलह रत्नों की प्रभाओं से युक्त भूमि रत्नप्रभा नाम से कही जाती है। शर्करा—कंकर जैसे प्रभावाली भूमि शर्कराप्रभा भूमि है। वालु—रेत जैसी प्रभायुक्त भूमि वालुकाप्रभा है इत्यादि सबके विषय में लगा लेना चाहिये। अथवा ये रत्नप्रभा आदि नाम इन्द्रगोप आदि नाम के समान रौढिक समझना चाहिये। अर्थात् 'इन्द्रं गोपयति इति इन्द्रगोपः' इन्द्र का गोपन करे वह इन्द्रगोप ऐसी रूढि व—निरुक्ति होने पर भी वैसा अर्थ न लेकर इन्द्रगोप नाम तो एक कीट विशेष [वीर बहुरी—लाल—मखमल जैसा आकार वाला जोव] का है, इसीतरह रत्नप्रभा आदि नाम रूढि स्वरूप जानने। भूमि अर्थात् पृथ्वी। ये नरक पटल नहीं हैं, विमान भी नहीं हैं किन्तु ये सात तो भूमियां हैं इस बात को बतलाने के लिये "भूमयो" ऐसा पद दिया है। घन शब्द से आगम में कथित घनवात लिया जाता है, अम्बु शब्द से अम्बुवात और वात शब्द से तनुवात का ग्रहण होता है। आकाश व्योम कहलाता है यह प्रसिद्ध ही है। घन, अम्बु, वात और आकाश इनमें द्वन्द्व समास जानना। प्रतिष्ठा आश्रय को कहते हैं। घन, अम्बु, वात और आकाश ये प्रतिष्ठा—आश्रय जिन भूमियों की है वे घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा कहलाती हैं।

तु व्योम सुप्रसिद्धमेव। घनश्च अम्बु च वातश्चाकाशं च घनाम्बुवाताकाशानि। प्रतिष्ठन्ते अस्यामिति प्रतिष्ठा आश्रय इत्यर्थः। घनाम्बुवाताकाशानि प्रतिष्ठा यासां भूमिनां ता घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः। ता एता भूमयो घनवातप्रतिष्ठाः। घनवातोम्बुवातप्रतिष्ठः। अम्बुवातस्तनुवातप्रतिष्ठः। तनुवातश्चाकाशप्रतिष्ठः। आकाशं तु स्वप्रतिष्ठमेव तस्यैवामूर्तत्वसर्वगतत्वाभ्यामाधाराधेयत्वोपपत्तेः। घनवातादयस्त्रयो वाता वृक्षत्वक्त्रयवत्सर्वतः समस्तं लोकं परिवेष्ट्य स्थिताः याथासङ्ख्येन गोमूत्रमुद्गनानावर्णाश्च। ते सप्तभूमेरधःपार्श्वेषु चैकां रज्जुं यावद्दण्डाकाराः प्रत्येकं विंशतियोजनसहस्रबाहुल्यास्तत ऊर्ध्वं भुजङ्गवत्कुटिलाकृतयः। कौटिल्यं मूले यथासङ्ख्यं सप्तपञ्चचतुर्योजनबाहुल्यास्तत ऊर्ध्वं क्रमेण हानौ सत्यां मध्यलोकपर्यन्ते पञ्च चतुस्त्रियोजनबाहुल्यास्तत ऊर्ध्वं क्रमवृद्धौ सत्यां ब्रह्मलोकान्ते सप्त-

---

अर्थात् ये सात भूमियां घनवात प्रतिष्ठ हैं, घनवात, अम्बुवात प्रतिष्ठ हैं, अम्बुवात, तनुवात प्रतिष्ठ हैं और तनुवात आकाश प्रतिष्ठ हैं। आकाश स्वप्रतिष्ठ ही है वह आकाश अमूर्त्त तथा सर्वगत होने के कारण स्वयं ही आधार और स्वयं आधेयभूत है, इसको अन्य आधार की अपेक्षा नहीं होती। ये तीनों वातवलय जैसे वृक्ष को उसकी छाल सब तरफ से वेष्टित करती है वैसे समस्त लोक को सब तरफ से वेष्टित करते हैं। इनमें घनवात का वर्ण गोमूत्र जैसा है, अम्बुवात का वर्ण मूंग जैसा है, और तनुवात अनेक वर्ण वाला है। वे तीनों वातवलय सातों ही भूमियों के नीचे तथा पार्श्व भागों में एक राजू पर्यन्त दण्डाकार से स्थित हैं। यहां पर इनकी प्रत्येक की मोटाई बीस हजार बीस हजार योजनों की है। एक राजू के बाद ऊपर जाकर ये वातवलय सर्प के समान कुटिल आकार वाले हो जाते हैं। अर्थात् ये वातवलय एक राजू की ऊंचाई तक तो सर्वत्र बीस हजार बीस हजार योजन मोटे हैं। इसके अनन्तर घटते जाते हैं। एक राजू के बाद शुरु में इन वातवलयों में से प्रथम वात की सात योजन मोटाई है, दूसरे की पांच योजन और तीसरे वात की मोटाई चार योजन प्रमाण है। उसके बाद क्रम से घटते घटते मध्यलोक में इनकी मोटाई क्रमशः पांच योजन, चार योजन और तीन योजन रह जाती है। इसके ऊपर क्रम से इनकी मोटाई बढ़ती हुई ब्रह्मलोक के अन्त में सात योजन, पांच योजन और चार योजन की मोटाई हो जाती है। इसके अनंतर ऊपर क्रम से घटती हुई मोक्ष भूमि पर्यन्त तिर्यग्रूप से पांच योजन, चार योजन और तीन योजन मोटाई है। उससे ऊपर लोक के अग्र में

पञ्चचतुर्योजनबाहुल्यास्ततः क्रमहानौ सत्यां मोक्षपृथिवीपर्यन्ते तिर्यक्पञ्चचतुस्त्रियोजनबाहुल्यास्तत ऊर्ध्वं लोकस्योपरि क्रोशद्वयैकक्रोशपञ्चविंशतिदण्डाधिकदण्डशतचतुष्टयोनैकक्रोशबाहुल्याश्च भवन्ति। तदनेन कूर्माद्याधारता जगतो निषिद्धा। सप्तवचनात्सङ्ख्यान्तरनिरासः। सप्तैव ताः स्युर्न हीनाधिका इति। अधोऽधोवचनं ग्रामनगरादिवत्तिर्यगवस्थाननिवृत्त्यर्थम्। तत्र मेरुतले लोकमध्यादधो रत्नप्रभा अशीतिसहस्राधिकलक्षयोजनबाहुल्या। ततोधः शर्कराप्रभा द्वात्रिंशद्योजनसहस्रबाहुल्या। ततोप्यधो वालुकाप्रभा अष्टाविंशतियोजनसहस्रबाहुल्या। ततोधः पङ्कप्रभा चतुर्विंशतियोजनसहस्रबाहुल्या। ततोधो धूमप्रभा विंशतियोजनसहस्रबाहुल्या। ततोधस्तमःप्रभा षोडशयोजनसहस्रबाहुल्या। ततोधो महातमःप्रभा अष्टयोजनसहस्रबाहुल्येति योज्यम्। एतासां प्रत्येकमन्तराणि सङ्ख्यातीतयोजनकोटी-

---

घनवात दो कोस मोटा अम्बुवात एक कोस मोटा और तनुवात चार सौ पच्चीस धनुष कम एक कोस मोटा रह जाता है।

इसप्रकार संपूर्ण जगत्—लोक का आधार ये वायु मण्डल है यह सिद्ध होता है अतः जो लोग जगत् का आधार कछुआ है, शेषनाग है इत्यादि रूप मानते हैं उस मान्यता का खण्डन हो जाता है। सात भूमियां हैं ऐसा कहने से अन्य संख्या का निरसन हो जाता है, ये भूमियां सात ही हैं इससे न अधिक हैं और न कम ही हैं। अधोऽधः जो पद आया है उससे यह सिद्ध होता है कि ये भूमियां नीचे नीचे अवस्थित हैं, ग्राम नगर आदि के समान तिर्यग् स्वरूप स्थित नहीं हैं। अब इन सातों भूमियों का बाहुल्य [मोटाई] बतलाते हैं, मेरुतल में लोक के मध्य से नीचे रत्नप्रभा भूमि है, इसका बाहुल्य एक लाख अस्सी हजार महायोजन प्रमाण है। उसके नीचे शर्करा भूमि है वह बत्तीस हजार योजन बाहुल्य वाली है। उसके नीचे वालुका भूमि है वह अट्ठावीस हजार योजन बाहुल्य की है। उसके नीचे पंकप्रभा भूमि है, यह चौबीस हजार योजन मोटी है। उसके नीचे धूमप्रभा भूमि है यह बीस हजार योजन मोटी है। उसके नीचे तमःप्रभा भूमि है यह सोलह हजार योजन मोटी है। उसके नीचे महातमःप्रभा पृथिवी है यह आठ हजार योजन बाहुल्य वाली है। इन सातों पृथिवियों के बीच बीच में जो छह अन्तराल हैं वे प्रत्येक प्रत्येक असंख्यात कोटाकोटी योजन प्रमाण के हैं।

ये सातों ही पृथिवियां त्रस नाली में हैं एक के नीचे एक हैं। हीन परिणाह हैं, अर्थात् मोटाई कम कम है ऐसा नहीं समझना कि नीचे नीचे अधिक विस्तीर्ण हैं, क्योंकि आगम में इसीतरह प्रतिपादन किया गया है। आगम में ऐसा कथन मिलता है

कोटीप्रमाणानि । ता एताः सप्तापि भूमयस्त्रसनालमध्यवर्तिन्योऽधोऽधो हीनपरिणाहा वेदितव्याः । तत एव नाधोऽधो विस्तीर्णास्तास्तथैवागमे प्रतिपादितत्वात् । एवं ह्य क्तमागमे स्वयम्भूरमणसमुद्रान्तादवलम्बिता रज्जुः सप्तम्या भूमेरधःस्थाने पूर्वादिदिग्भागावगाहिकालमहाकालरौरवमहारौरवान्ते पततीति तासां भूमीनां नामान्तराण्यपि सन्ति । तद्यथा—

धर्मावंशाशिलासूच्चैरञ्जनारिष्टयोरपि ।
कुदृष्टिर्दुःखमाप्नोति मघवीमाघवीभुवोः ।। इति ।।

साम्प्रतं तासु भूमिषु नरकविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

कि मध्यलोक में अन्तिम जो स्वयंभूरमण समुद्र है उस समुद्र के परले तट भाग से एक मोटा रस्सा [कल्पना द्वारा] नीचे सातवें नरक भूमि तक लटका दो, तो वह रस्सा सातवीं भूमि के अधोभाग में पूर्व आदि दिशाओं के क्रम से काल, महाकाल, रौरव, महारौरव नाम वाले जो चार बिल हैं उनके अन्तभाग में जाकर पड़ता है । इस आगम वाक्य से सिद्ध होता है कि ये भूमियां त्रस नाली में हैं ।

विशेषार्थ—यहां पर रत्नप्रभा आदि सातों भूमियों को त्रस नाली में कहा है और उसके लिये हेतु दिया है कि मध्यलोक जो कि त्रस नाली में है एक राजू विस्तीर्ण है उसके अन्त में स्वयंभूरमण समुद्र है उसके परले तट से रस्सा बुद्धि द्वारा या कल्पना द्वारा नीचे सातवें नरक तक लटकाया जाय तो वह उक्त नरक के पूर्वादि दिशा में काल आदि नाम वाले बिल हैं उनके अन्त भाग में जाकर गिरता है किन्तु त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में इन सातों नरक भूमियों का विस्तार लोक के अन्त तक कहा है जो कि त्रस नाली के बाहर है । नरक भूमियां लोक के अन्त तक हैं किन्तु नरक बिल तो त्रस नाली में हैं अर्थात् लोक के अन्त तक फैली हुई इन भूमियों में जो भाग त्रस नाली में है उतने भाग में ही नरक बिल हैं बाहर नहीं अतः मध्यलोक का अन्त और सातवें नरक के दिशा संबंधी बिल एक सीधमें हैं इस बात को बतलाने के लिये रस्सा लटकाने की कल्पना की है। सातों भूमियों के विषय में विशेष जानने के लिये त्रिलोकसार का लोक सामान्य अधिकार [प्रथम] की १४४ से आगे की गाथाओं का अर्थ अवलोकनीय है । इन नरक भूमियों के दूसरे नाम भी हैं । इसीको बताते हैं—धर्मा, वंशा, शिला, अञ्जना, अरिष्टा, मघवी, और माघवी ये सात नरक भूमियां हैं इनमें मिथ्यादृष्टि जीव अत्यंत दुःख को भोगते हैं ।। १ ।।

अब आगे उन भूमियों में नरक विशेषों का प्रतिपादन करते हैं—

तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशत-सहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ।।२।।

तासु भूमिष्वित्यर्थः। सतसहस्रशब्दो लक्षसङ्ख्यावाची। नरकाणां शतसहस्राणि नरकशत-सहस्राणि। नरकशतसहस्रशब्दस्त्रिंशदादिभि सङ्ख्याशब्दैः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। ततो रत्नप्रभायां त्रिंशन्नरकलक्षाणि। शर्कराप्रभायां पञ्चविंशतिः। वालुकाप्रभायां पञ्चदश। पङ्कप्रभायां दश। धूमप्रभायां त्रीणि। तमःप्रभायां पञ्चोनैकं नरकशतसहस्रम्। महातमःप्रभायां पञ्चैव नरकाणीति यथाक्रमवचनादवगम्यते। रत्नप्रभायां त्रयोदश नरकप्रस्ताराः। ततोऽध आसप्तम्या द्वाभ्यां द्वाभ्यां हीना नरकप्रस्ताराः। अथ तन्निवासिनो नारकाः कथंभूता भवन्तीत्याह—

सूत्रार्थ—"तासु" पद भूमियों का सूचक है। शत सहस्र शब्द लाख संख्यावाची है। नरक शतसहस्र का तत्पुरुष समास करके पुनः त्रिंशत आदि संख्यावाची शब्दों के साथ प्रत्येक का संबंध जोड़ना चाहिये। इससे फलितार्थ होता है कि रत्नप्रभा में तीस लाख नरक बिल हैं। शर्कराप्रभा में पच्चीस लाख, वालुकाप्रभा में पन्द्रह लाख, पंकप्रभा में दस लाख, धूमप्रभा में तीन लाख, तमःप्रभा में पांच कम एक लाख और महातमःप्रभा में पांच नरक बिल हैं। इसतरह सूत्रोक्त यथाक्रमम् शब्द से जाना जाता है।

रत्नप्रभा में तेरह प्रस्तार [पाथडे] हैं, उसके नीचे सातवीं भूमि तक दो दो प्रस्तार कम करना।

भावार्थ—प्रथम नरक में तेरह प्रस्तार, दूसरे में ग्यारह, तीसरे में नौ, चौथे में सात, पांचवें में पांच, छठे में तीन और सातवीं भूमि में एक ही प्रस्तार है। ये प्रस्तार या पाथडे जैसे पृथिवी में मिट्टी आदि के "परत" जमे रहते हैं वैसे हैं। इसप्रकार अधोलोक में सात भूमियां हैं एक एक भूमि में तेरह, ग्यारह आदि प्रस्तार हैं, एक एक प्रस्तार में तीस लाख, पच्चीस लाख आदि नरक बिल हैं और उन नरक बिलों में एक एक में संख्यातीत नारकी जीव अपने पाप कर्म का कटुक फल भोगते है।

उक्त नरक बिलों में रहने वाले नारकी जीव किस प्रकार के होते हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ।।३।।

नरकेषु भवा नारकाः संसारिणो जीवाः । नित्यमभीक्ष्णं पुनः पुनरित्यर्थः । अतिशयेनाशुभा अशुभतराः । नित्यमशुभतरा नित्याशुभतराः । लेश्या च परिणामश्च देहश्च वेदना च विक्रिया च लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः । नित्याशुभतरा लेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया येषां ते नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः । तत्र लेश्या द्रव्यभावविकल्पाद्द्वेधा । तत्र देहच्छविर्द्रव्यलेश्या । असौ सर्वनारकाणामेकैव कृष्णा । कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्भावलेश्या । तत्र तद्विशेषसंग्रहश्लोकः—

द्विः कापोताथ कापोता नीले नीला च मध्यमा ।
नीलाकृष्णे च कृष्णातिकृष्णा रत्नप्रभादिषु ।।

सूत्रार्थ—नारकी जीव हमेशा ही अशुभतर लेश्या वाले अशुभतर परिणाम वाले, अशुभतर शरीरधारी, अशुभतर–अत्यन्त वेदनायुक्त और अशुभतर विक्रिया करने वाले होते हैं ।

नरक बिलों में होने वाले संसारी जीव नारकी कहलाते हैं, नित्य अर्थात् अभीक्ष्ण, पुनः पुनः । अतिशय अशुभ को अशुभतर कहते हैं । नित्य–सतत अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह वेदना और विक्रिया वाले नारकी होते हैं । नित्य अशुभतर पद का कर्मधारय समास करना, पुनः लेश्या आदि पदों का द्वन्द्व गर्भित बहुव्रीहि समास करना चाहिये । लेश्या के दो भेद हैं द्रव्यलेश्या और भावलेश्या । देह की छवि को द्रव्यलेश्या कहते हैं । यह द्रव्यलेश्या सब नारकी जीवों की कृष्ण ही होती है [सभी नारकी काले ही होते हैं] कषाय के उदय से रंजित योग की प्रवृत्ति भाव लेश्या है । उन नारकियों में लेश्या विशेष को बतलाने वाला यह संग्रह श्लोक है—

द्विः कापोताथ कापोता नीले नीला च मध्यमा ।
नीला कृष्णे च कृष्णाति कृष्णा रत्नप्रभादिषु ।। १ ।।

अर्थ—रत्नप्रभादि भूमियों में क्रमशः प्रथम द्वितीय नरक में कापोत लेश्या तीसरी में कापोत और नील, चौथी में मध्यम नील, पांचवीं में नील तथा कृष्ण, छठी में कृष्ण और सातवीं नरक भूमि में अतिकृष्ण लेश्या है । अर्थात् रत्नप्रभा में जघन्य कापोत लेश्या है । शर्कराप्रभा में मध्यम कापोत लेश्या है । वालुकाप्रभा में दो लेश्या हैं, उत्कृष्ट कापोत लेश्या तो ऊपरि भाग में है और अधोभाग में जघन्य नील लेश्या है ।

तत्र रत्नप्रभायां जघन्या कापोता नारकाणाम् । शर्कराप्रभायां मध्यमा कापोता । वालुकायां द्वे लेश्ये-उत्कृष्टा कापोता उपरिष्टे भागे, अधोभागे तु जघन्या नीला । पङ्कप्रभायां नीला मध्यमा । धूमप्रभायामुपरि नीला उत्कृष्टा, अधः कृष्णा जघन्या । तमःप्रभायां कृष्णा मध्यमा । तमस्तमःप्रभायां कृष्णा उत्कृष्टा । देहस्य स्पर्शादिपरिणतिः परिणामः । देहोऽपि हुण्डसंस्थानोऽतिबीभत्सः । नारकाणां देहस्योत्सेधः प्रथमायां भूमौ सप्तधनूंषि त्रयो हस्ताः षट्चांगुलयः । ततोऽधोऽधो द्विगुणो द्विगुण उत्सेधः । शीतोष्णजनितं दुःखं वेदना । शुभं करिष्याम इत्यशुभस्यैवासिवास्यादिरूपस्वदेहस्य विकरणं विक्रिया । त एते लेश्यादयो भावास्तिर्यगाद्यपेक्षयाऽतिशयेनाऽधोऽधोऽशुभा नारकाणां वेदितव्याः । किं शीतोष्ण-जनितदुःखा एव नारका उतान्यथापीत्यत आह—

पंकप्रभा में मध्यम नील लेश्या है । धूमप्रभा के ऊपर भाग में उत्कृष्ट नील लेश्या है और अधोभाग में जघन्य कृष्ण लेश्या है । तमःप्रभा में मध्यम कृष्ण लेश्या है । तम-स्तमप्रभा में उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है । शरीर के स्पर्शादि की परिणति को परिणाम कहते हैं । नारकी का शरीर भी हुण्डक संस्थान वाला अति घिनावना होता है । उनके शरीरों की ऊंचाई पहले नरक में सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल प्रमाण है । दूसरे आदि नरकों में नीचे नीचे उंचाई दुगुणी दुगुणी होती गई है । शीत और उष्ण के दुःख को वेदना कहते हैं । वे नारकी जीव हम शुभ को करेंगे ऐसा विचारते हैं किन्तु अशुभ ही तलवार, वसूला आदि स्वरूप शरीर की विक्रिया होती है । नारकियों में अशुभतर लेश्या आदि है ऐसा कहा है वह तिर्यंच गति आदि की अपेक्षा समझना, अर्थात् तिर्यंच गति में जीवों के जितनी अशुभ लेश्या आदिक हैं उनसे अधिक अशुभ लेश्यादि प्रथम नरक में हैं, उससे अधिक अशुभ लेश्यादिक दूसरे नरक में हैं, इसप्रकार नीचे नीचे अतिशयपने से लेश्या, परिणाम वेदना आदि अशुभतर अशुभतर होते गये हैं ।

इन नारकियों के शीत उष्ण जनित दुःख ही होता है या अन्य प्रकार से भी दुःख होता है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

परस्परोदीरितदुःखाः ॥४॥

वासिक्षुर तीक्ष्णपादप्रहारादिभिः परस्परस्यान्योन्यस्योदीरितं जनितं दुःखं यैस्ते परस्परोदीरितदुःखा नारका भवन्तीति सम्बन्धः। यथासम्भवं कारणांतरजनितदुःखत्वं च तेषां प्रतिपादयन्नाह—

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥५॥

संक्लेशपरिणामेन पूर्वोपार्जितपापकर्मोदयादत्यन्तं क्लिष्टाः संक्लिष्टाः। भवनवासिविकल्पाऽसुरत्वनिर्वर्तनस्य कर्मण उदयादस्यन्ति क्षिपन्ति परानित्यसुराः। संक्लिष्टाश्च ते असुराश्च संक्लिष्टासुरास्तैरुदीरितं दुःखं येषां ते संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखा नारका उपरि तिसृष्वेव पृथिवीषु प्राक्चतुर्थ्या

सूत्रार्थ—वे नारकी परस्पर में एक दूसरे को अत्यंत दुःख को उत्पन्न करते रहते हैं। वसूला, खुरपा, तीक्ष्ण पाद प्रहार आदि के द्वारा वे नारकी एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हैं, वसूला आदि के द्वारा एक दूसरे को उत्पन्न किया जाता है दुःख जिनके द्वारा वे "परस्परोदीरित दुःखाः" कहलाते हैं। इसप्रकार सूत्रोक्त पद का समास है।

उन नारकियों के अन्य कारणों से भी दुःख उत्पन्न होता है ऐसा आगे बताते हैं—

सूत्रार्थ—संक्लिष्ट परिणाम वाले असुरकुमार देवों द्वारा चौथे नरक के पहले तीसरे नरक तक उत्पन्न किये गये दुःखों से युक्त वे नारकी होते हैं। पूर्व जन्म में संक्लेश परिणाम द्वारा बांधे गये पाप कर्म के उदय से जो अत्यन्त क्लिष्ट हैं उन्हें संक्लिष्ट कहते हैं, भवनवासि भेद स्वरूप असुरत्व को उत्पन्न करनेवाले कर्म के उदय से जो परको पीड़ित करते हैं वे असुर हैं। संक्लिष्ट असुरों द्वारा किया गया है दुःख जिनके वे "संक्लिष्टासुरोदीरित दुःखाः" कहलाते हैं। ऊपर की तीन भूमियों में ही यह स्थिति है अतः प्राक् चतुर्थ्याः ऐसा मर्यादा अर्थ जानना चाहिये। च शब्द पूर्वोक्त दुःखों का समुच्चय करने के लिये है। अन्यथा ऊपर की तीन भूमियों में यह सूत्र पूर्व सूत्र को बाधा करेगा। अभिप्राय यह है कि यदि इस सूत्र में च शब्द नहीं होता तो पूर्व सूत्र में कहा गया परस्पर उदीरित दुःख का तीसरे नरक तक अभाव हो जाता,

इति मर्यादावचनाद्वेदितव्याः । चशब्दः पूर्वोक्तदुःखहेतुसमुच्चयार्थः । अन्यथा पूर्वसूत्रस्येदं सूत्रमुपरिष्ट-भूमित्रये बाधकं स्यादित्यर्थः । का पुनस्तत्र नारकाणां परा स्थितिरित्याह—

तेष्वेकत्रिसप्त दश सप्तदश द्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा-सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

तेषु नरकेषु एकः च त्रीणि च सप्त च दश च सप्तदश च द्वाविंशतिश्च त्रयस्त्रिंशच्च । तानि सागरोपमाणि यस्याः स्थितेः सा तथोक्ता । परोत्कृष्टा स्थितिरायुःपरिमाणलक्षणा भूमिसङ्ख्याक्रमेण यथासङ्ख्यं सत्त्वानां नारकप्राणिनां वेदितव्या । रत्नप्रभायामेकं सागरोपमं परा स्थितिः । शर्करा-प्रभायां त्रीणि । वालुकाप्रभायां सप्त । पङ्कप्रभायां दश । धूमप्रभायां सप्तदश । तमःप्रभायां द्वाविंशतिः । महातमःप्रभायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । उक्त अधोलोकः । इदानीं तिर्यग्लोको वक्तव्यः । तत्र द्वीपसमुद्राणां तिर्यगवस्थानात्तिर्यग्लोकव्यपदेश इति कृत्वा तेषां प्रतिपादनं क्रियते—

फिर यह अर्थ होता कि पहले के तीन नरकों में असुर द्वारा प्रदत्त दुःख है और शेष में परस्पर उदीरित दुःख है ।

उन नरकों में नारकी जीवों की उत्कृष्ट स्थिति–आयु कितनी है ऐसा पूछने पर अग्रिम सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—उन नरकों में नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सतरह सागर, बावीस सागर और तैंतीस सागर प्रमाण है । एक आदि पदों में प्रथम ही द्वन्द्व समास है और पुनः बहुव्रीहि समास है । भूमियों की संख्या के क्रम से नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयु जाननी चाहिये, रत्नप्रभा में एक सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है । शर्कराप्रभा में तीन सागर, वालुकाप्रभा में सात सागर, पंकप्रभा में दस सागर, धूमप्रभा में सतरह सागर, तमःप्रभा में बावीस सागर और महातमःप्रभा में तैंतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति–आयु है । इसप्रकार अधो-लोक का वर्णन पूर्ण हुआ ।

[अधोलोक संबंधी सात पृथिवी आदि का दर्शक चार्ट अगले पृष्ठ पर देखें]

जम्बूद्वीपलवणोदादय: शुभनामानो द्वीपसमुद्रा: ।। ७ ।।

शीतायाः पूर्वतो नीलगजदन्तपर्वतयोरन्तराले पार्थिवश्चतु:शाखः सपरिवार उत्तरकुरुमध्ये जम्बूवृक्षोऽस्ति । तेनोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपः । लवणमुदकं यस्य स लवणोदः समुद्रः । तावादी

अधो लोक संबंधी सात पृथिवी आदि का दर्शक चार्ट—

नं०	पृथिवी	बाहल्य [मोटाई]	प्रस्तार	बिल	शरीर ऊंचाई	लेश्या	आयु उत्कृष्ट
१	रत्नप्रभा	१८००००० यो	१३	३००००००	७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल	ज० कापोत	१ सागर
२	शर्कराप्रभा	३२००० यो.	११	२५०००००	१५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल	म० कापोत	३ सा०
३	वालुकाप्रभा	२८००० यो.	९	१५०००००	३१ धनुष १ हाथ	उ० कापोत ज० नील	७ सा०
४	पंक प्रभा	२४००० यो.	७	१००००००	६२ धनुष २ हाथ	म० नील	१० सा०
५	धूम प्रभा	२०००० यो.	५	३०००००	१२५ धनुष	उ० नील ज० कृष्ण	१७ सा०
६	तमः प्रभा	१६००० यो.	३	९९९९५	२५० धनुष	म० कृष्ण	२२ सा०
७	महातमप्रभा	८००० यो.	१	५	५०० धनुष	उ० कृष्ण	३३ सा०

अब तिर्यग्लोक का वर्णन करना चाहिये । द्वीप और सागर तिर्यग्रूप से अवस्थित होने के कारण यह तिर्यग्लोक संज्ञा वाला है अत: उन द्वीप समुद्रों का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—शुभनामवाले जम्बू द्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र तिर्यग्लोक में हैं । शीता नदी के पूर्व में नीलकुलाचल और गजदन्त पर्वत के अन्तराल में पृथिवीमय चार शाखावाला परिवार वृक्षों से युक्त उत्तरकुरु भोगभूमि में स्थित

येषां ते जम्बूद्वीपलवणोदादयः । आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तेन जम्बूद्वीपो धातकीखण्डः पुष्क-रमित्येवमादयो द्वीपाः । लवणोदः कालोद इत्येवमादयः समुद्राः । शुभानि प्रशस्तानि नामानि येषां ते शुभनामानः । द्वीपाश्च समुद्राश्च द्वीपसमुद्राः । ते चासङ्ख्येयाः स्वयम्भूरमणपर्यन्ता अनाद्यनन्ता वेदितव्याः । अमीषां विष्कम्भसन्निवेशसंस्थानविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

द्वौ वारौ मीयन्त इति द्विः । सङ्ख्यायाभ्यावृत्तौ कृत्वसुचिति वर्तमाने द्वित्रिचतुर्भ्यः सुचित्यनेन द्विशब्दात्सुच्प्रत्ययः । तदन्तस्य वीप्साभिद्योतनार्थं द्विरुक्तिः । द्विर्द्विरिति कोऽर्थो ? द्विगुणो द्विगुण

ऐसा जम्बू नाम का वृक्ष है । उस वृक्ष से उपलक्षित द्वीप जम्बूद्वीप कहलाता है । लवणसदृश है पानी जिसका वह लवण समुद्र है, वे हैं आदि में जिनके वे जम्बूद्वीप लवणोदादि कहलाते हैं । आदि शब्द प्रत्येक के साथ संबद्ध है, उससे जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड पुष्कर इत्यादि द्वीप लिये जाते हैं तथा लवणोद, कालोद इत्यादि समुद्र लिये जाते हैं । शुभ–प्रशस्त हैं नाम जिनके वे शुभनामवाले कहलाते हैं, वे द्वीप और समुद्र असंख्यात हैं स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त वे सर्व ही अनादि निधन जानने चाहिये ।

अब इन द्वीप समुद्रों का विष्कंभ, रचना और संस्थान विशेषों को ज्ञात करने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—वे द्वीप और समुद्र दुगुणे दुगुणे विस्तार वाले हैं पूर्व पूर्व को वेष्टित करते हैं और वलय–चूड़ी के आकार वाले हैं ।

द्वौ वारौ मीयन्त इति द्विः इसप्रकार द्विः शब्द बना है । "संख्यायाभ्यावृत्तौ कृत्वसुच्" इस सूत्र के वर्त्तमान होने पर "द्वि त्रि चतुर्भ्यः सुच्" इस सूत्र द्वारा द्वि शब्द से सुच् प्रत्यय आया, उसके अन्त में वीप्सा अर्थ को प्रगट करने के लिये पुनः "द्विः" शब्द का प्रयोग हुआ है । "द्विर्द्वि" पद का अर्थ यह हुआ कि दुगुणे दुगुणे हैं । विष्कम्भ विस्तार को कहते हैं । दुगुणे दुगुणे हैं विस्तार जिनके वे "द्विर्द्विविष्कम्भाः" हैं । जम्बूद्वीप में दुगुणे विस्तार की व्याप्ति नहीं है किन्तु उस जम्बूद्वीप को वेष्टित करनेवाला लवण समुद्र दुगुणा विस्तार वाला है, पुनः उसको वेष्टित करनेवाला धातकी खण्ड दुगुणा विस्तार वाला है इसप्रकार अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र तक वीप्सा

इत्यर्थः । विष्कम्भो विस्तारः । द्विर्द्विर्विष्कम्भो येषां ते द्विर्द्विर्विष्कम्भा मीयन्ते । जम्बूद्वीपे द्विर्द्विर्विष्कम्भत्वव्याप्तिर्न भवति । किं तर्हि तत्परिक्षेपी लवणोदस्तद्द्विगुणविस्तारस्तत्परिक्षेपी च धातकीखण्डस्तद्द्विगुणविष्कम्भ इत्येवमाद्यास्वयम्भूरमणाद्वीप्साभ्यावृत्तिवचनाद्विष्कम्भद्विगुणत्वव्याप्तिः सिद्धा भवति । पूर्वशब्दस्य वीप्सायां द्वित्वम् । पूर्वपूर्वं परिक्षिपन्ति परिवेष्टन्त इत्येवशीलाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः । न ते ग्रामनगरादिवदवस्थिता इत्यर्थः । वलयस्येवाकृतिः संस्थानं येषां ते वलयाकृतयो न त्र्यश्रचतुरश्रादिसंस्थाना द्वीपसमुद्रा इत्यर्थः । तर्हि जम्बूद्वीपस्य को विष्कम्भो यद्द्विगुणत्वेन शेषसमुद्रद्वीपा व्याप्यन्ते । क्व कीदृशश्चासावास्त इत्याह—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।। ९ ।।

तेषां द्वीपसमुद्राणां मध्यं तन्मध्यं तस्मिंस्तन्मध्ये । मेरुर्मन्दरः । स च भूप्रदेशे दशयोजनसहस्रविस्तारः । समभूतलादध एकयोजनसहस्रावगाहः । ऊर्ध्वं नवनवतियोजनसहस्रोत्सेधः । मेरुपरिमाणस्तिर्यग्लोकः तदूर्ध्वं शिखररूपा चूलिका वैडूर्यमयी चत्वारिंशद्योजनोच्छ्राया । सा चोर्ध्वलोकसम्बन्धिनी । नाभिरिव नाभिर्मेरुर्नाभिर्यस्य स मेरुनाभिः । वृत्तो वर्तुलो रविबिम्बोपमः । शतानां सहस्रं

की अभ्यावृत्ति होने से दुगुणा दुगुणा विस्तार अन्ततक सिद्ध होता है । पूर्व पूर्व ऐसा वीप्सार्थ में द्वित्व हुआ है । पूर्व पूर्व को परिक्षिप्त करने के स्वभाववाले वे द्वीप समुद्र हैं । ये ग्राम नगर आदि के समान स्थित नहीं हैं किन्तु वेष्टित करके स्थित हैं । ये सब वलय के समान संस्थान वाले हैं । तिकोणे चौकोणे आदि संस्थानवाले नहीं हैं ।

शंका—यदि ऐसी बात है तो जम्बूद्वीप का विस्तार ही बताइये कि जिसको दुगुणा करके शेष समुद्र द्वीप हैं तथा यह भी बताइये कि यह द्वीप कहां पर है किस प्रकार का है ?

समाधान—अब इसी बात को सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—उन द्वीप और समुद्रों के मध्य में मेरु है नाभि-मध्य में जिसके ऐसा एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बू द्वीप है । उन द्वीप समुद्रों के मध्य को तन्मध्य कहते हैं ।

मेरु का वर्णन करते हैं—वह भूमि प्रदेश में दस हजार योजन विस्तार वाला है । समतल से नीचे एक हजार योजन अवगाह [नीचे की जड़] वाला है, ऊपर में निन्यानवे हजार योजन ऊंचा है । इस सुमेरु पर्वत की ऊंचाई प्रमाण तिर्यग्लोक है । उक्त सुमेरु के उपरिम भाग में शिखररूप चूलिका है जो वैडूर्यमणि मय चालीस योजन

शतसहस्रं लक्षमित्यर्थः। योजनानां शतसहस्रं योजनशतसहस्रं विष्कम्भो यस्यासौ योजनशतसहस्रविष्कम्भः। जम्बूवृक्षोपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीप उक्तः सकलविशेषणविशिष्टः सर्वसमुद्रद्वीपमध्यवर्ती समस्तीति कथ्यते। तत्र जम्बूद्वीपे यानि षड्भिः कुलपर्वतैर्विभक्तानि क्षेत्राणि तत्प्रतिपादनार्थमाह—

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥

भरतादयः संज्ञा अनादिकालप्रवृत्ताः। भरतश्च हैमवतश्च हरिश्च विदेहश्च रम्यकश्च हैरण्यवतश्चैरावतश्च। त एव वर्षा देशाः। सप्तैव क्षेत्राणि जम्बूद्वीपे भवन्ति। तत्र क्षुद्रहिमवतोऽद्रेः पूर्वदक्षिणपश्चिमदिग्भेदभिन्नसमुद्रत्रयस्य च मध्ये भरतवर्ष आरोपितचापाकारो गङ्गासिन्धुभ्यां विजयार्धेन च विभक्तत्वात्षड्खण्डः। तन्मध्यवर्ती विजयार्धो रजताद्रिः पञ्चाशद्योजनविस्तारस्तदर्धोच्छ्रायश्चतुर्थभागावगाहो विजयस्यार्धकरणादन्वर्थो भवति। पूर्वपश्चिमसमुद्रयोर्हिमवन्महाहिमवतोश्चा-

---

ऊंची है। यह ऊर्ध्वलोक संबंधी है। नाभि के समान मध्य में है मेरु जिसके ऐसा वह द्वीप है। वह गोल सूर्यबिम्ब सदृश है। "शतसहस्रविष्कंभः" पद में पहले तत्पुरुष और पुनः बहुव्रीहि समास है। एक लाख योजन विस्तारवाला, जम्बू वृक्ष से उपलक्षित जम्बूद्वीप उक्त संपूर्ण विशेषणों से विशिष्ट है तथा सर्व ही द्वीप सागरों के मध्य में स्थित है यह तात्पर्य है।

उस जम्बू द्वीप में छह कुलाचलों द्वारा जो क्षेत्र विभक्त हुए हैं उनका प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

भरत आदि संज्ञायें अनादि काल से प्रवृत्त हैं। इन भरत आदि पदों में द्वन्द्व समास है। ये सात क्षेत्र जम्बूद्वीप में हैं। अब इन क्षेत्रों का विशेष कथन करते हैं— क्षुद्र हिमवान पर्वत और पूर्व दक्षिण पश्चिम की दिशा भेद से भिन्न ऐसे समुद्रत्रय के मध्य में भरत क्षेत्र है। इसका आकार बाण चढ़ाये धनुष के समान है। गंगा सिन्धु नदी तथा विजयार्ध पर्वत से विभक्त होने के कारण छह खण्ड वाला है उस भरत क्षेत्र के मध्य में विजयार्ध नामा जो पर्वत है वह पचास योजन विस्तार वाला, पच्चीस योजन ऊंचा और भूमि में चतुर्थ भाग अवगाह वाला है यह चक्रवर्ती के आधे विजय का सूचक होने से सार्थक विजयार्ध कहलाता है। पूर्व पश्चिम समुद्र और हिमवान् महा-

भ्यन्तरे हैमवतवर्षः । तन्मध्ये योजनसहस्रोच्छ्रायोऽर्धतृतीययोजनशतावगाहः उपरि मूले च योजनसहस्रायामविष्कम्भः शब्दवान् वृत्तवेदाढ्यः पटहाकारोऽद्रिरस्ति । महाहिमवन्निषधपूर्वापरसमुद्राणामन्तरे हरिवर्षः । तन्मध्ये विकृतवान् वृत्तवेदाढ्यो नगः पटहाकृतिः शब्दवृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णनः । अथ कथं विदेहसंज्ञा ? उच्यते—विगतो देहो येषां पुंसां ते विदेहास्तद्योगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः । के पुनस्ते विगतदेहा इति चेत् कथ्यन्ते—येषां कर्मसम्बन्धसन्तानोच्छेदाद्देहो नास्ति ये वा सत्यपि देहे विगतशरीरसंस्कारास्ते विदेहास्तत्सम्बन्धाज्जनपदोऽपि विदेहसंज्ञको भवति । तत्र हि सततं धर्मोच्छेदाभावान्मुनयो देहोच्छेदार्थं यतमाना विदेहत्वमास्कन्दन्तो विदेहाः सन्तीति प्रकर्षापेक्षो विदेहव्यपदेशो रूढः । क्व पुनरसौ सन्निविष्टः ? निषधस्योत्तरान्नीलतो दक्षिणात्पूर्वापरसमुद्रयोरन्तरे विदेहस्य सन्निवेशो द्रष्टव्यः । स च चतुर्धा पूर्वविदेहादिभेदात् । कुत इति चेत्—मेरोः प्राक्क्षेत्रं पूर्वविदेहः । उत्तरक्षेत्रमुद-

---

हिमवान् कुलाचलों के मध्य में हैमवत क्षेत्र है । इस क्षेत्र के मध्य भाग में शब्दवान नाम का वृत्त वैताढय पर्वत है, इसकी ऊंचाई हजार योजन की है अवगाह ढ़ाई सौ योजन का है और ऊपर नीचे एक हजार योजन का समान विस्तार है । यह पटहाकार है । महाहिमवन् और निषध पर्वत तथा पूर्वापर समुद्र के अन्तराल में हरि क्षेत्र का विन्यास है । इस हरिवर्ष के मध्य में विकृतवान् नामवाला वृत्तवैताढय पर्वत है, यह भी शब्दवान् के समान प्रमाण वाला पटहाकार है । विदेह संज्ञा किसप्रकार है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—"विगतः देहः येषां पुंसां सः विदेहः" जहां मनुष्यों का देह विगत हो जाता है–नष्ट हो जाता है वे विदेह कहलाते हैं उनके संयोग से देश विदेह संज्ञावाला है ।

शंका—विगत देह वाले वे कौन हैं ?

समाधान—कर्म बंध के संतान का उच्छेद–(नाश) हो जाने से जिनके देह नहीं है अथवा देह के रहते हुए भी देह के संस्कार से रहित हैं वे जीव विदेह हैं और उनके संबंध से जनपद भी विदेह संज्ञक होते हैं, क्योंकि उनमें धर्म का विच्छेद नहीं होता अतः सतत ही मुनिगण देह के नाश के लिये प्रयत्न शील होकर विदेहत्व को प्राप्त होते हैं अतः प्रकर्ष की अपेक्षा विदेह संज्ञा रूढ है । अभिप्राय यह है कि इस क्षेत्र में धर्म का अभाव नहीं होता, मुनि ध्यान द्वारा कर्म नोकर्म शरीर रहित होकर मुक्त होते रहते हैं, इस प्रकर्ष के कारण यह क्षेत्र सार्थक विदेह संज्ञा वाला है । इसका सन्निवेश बतलाते हैं—निषध पर्वत के उत्तर में नील पर्वतके दक्षिण में पूर्वापर समुद्र के मध्य में विदेह का सन्निवेश है । इसके पूर्व विदेह आदि चार भाग हैं, वे कैसे सो

क्कुरवः । अपरं क्षेत्रमपरविदेहः । दक्षिणं क्षेत्रं देवकुरव इति व्याख्यानात् । तत्र विदेहमध्यभागे मेरुर्यस्मादपरोत्तरस्यां दिशि गन्धमाली विजयात्पूर्वस्यां दिशि व्यवस्थितो नीलादपाक् गन्धमादनाख्यो वक्षारपर्वत उदग्दक्षिणायतः प्राक्प्रत्यग्विस्तीर्णो दक्षिणोत्तरकोटिभ्यां मेरुनीलाद्रिस्पर्शी द्वाभ्यामर्धयोजनविष्कम्भपर्वतसमायामाभ्यां वनषण्डाभ्यामलंकृतो मूलमध्याग्रेषु सुवर्णमयो नीलाद्रिपर्यन्ते चतुर्योजनशतोच्छ्रितो योजनशतावगाहः प्रदेशवृद्धया वर्धमानो मेरुपर्यन्ते पञ्चयोजनशतोत्सेधः पञ्चविंशतियोजनशतावगाहः पञ्चयोजनशतविष्कम्भः । ततः प्रदेशहान्या हीयमानो नीलान्तेऽर्धतृतीययोजनशतविष्कम्भः त्रिंशत्सहस्राणि द्वे च नवोत्तरे शते योजनानां षट्चैकान्नविंशतिभागाः सातिरेका आयामः । मेरोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि नीलाद्दक्षिणस्यां कच्छविजयात्पश्चिमायां दिशि माल्यवान्वक्षारपर्वतो मूलमध्याग्रेषु वैडूर्यमयो विष्कम्भायामोच्छ्रायावगाहसंस्थानैर्गन्धमादनेन समानः । मेरोरुदग्गन्ध

बताते हैं—मेरु के पूर्व में पूर्व विदेह, उत्तर में उत्तर कुरु, पश्चिम में पश्चिम विदेह और दक्षिण में देवकुरु क्षेत्र है । विदेह के मध्य में मेरु है, उस मेरु से पश्चिम और उत्तर के बीच की विदिशा में [–वायव्य में] गंधमाली नाम के देश से पूर्व दिशा में और नील कुलाचल के पश्चिम में गन्धमादन नाम का वक्षार पर्वत [गजदंत] है । यह गजदन्त दक्षिण उत्तर लंबा, पूर्व पश्चिम चौड़ा अपने दक्षिण और उत्तर के सिरे से क्रमशः मेरु और नील का स्पर्श करने वाला है । इस गजदन्त के दोनों तरफ उसके समान लंबे और आधा योजन चौड़े दो वन खण्ड हैं । यह पर्वत मूल मध्य और अग्रभाग में सुवर्ण मय है । नील कुलाचल के निकट इसकी ऊंचाई चार सौ योजन की है । इसका वहां पर अवगाह [नींव] एक सौ योजन है । प्रदेश वृद्धि से आगे बढ़ता हुआ मेरु के निकट पांच सौ योजन ऊंचा हो जाता है, और एक सौ पच्चीस योजन अवगाह वाला होता है । पांच सौ योजन चौड़ा है, फिर वहां से घटता हुआ नील पर्वत के निकट ढाई सौ योजन चौड़ा रह जाता है, इसप्रकार मेरु से लेकर नील तक लंबे फैले हुए इस गजदंत की लंबाई तीस हजार नौ सौ दो योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग कुछ अधिक है । इसप्रकार गंधमादन नाम के गजदंत का वर्णन किया ।

मेरु के पूर्व उत्तर दिशा के अंतराल में [ईशान में] नील से दक्षिण और कच्छा देश से पश्चिम में माल्यवान नाम का वक्षार [गजदन्त] नाम का पर्वत है, यह मूल मध्य तथा अग्र में वैडूर्यमणि मय है, इस गजदन्त का विस्तार, ऊंचाई अवगाह और संस्थान गंधमादन के समान है । मेरु के उत्तर में गन्धमादन से पूर्व में नील के

मादनात्प्राङ्नीलाद्दक्षिणतो माल्यवतः पश्चिमत उदक्कुरवः पूर्वापरायता उदगपाग्विस्तीर्णाः। तत्र नीलाद्दक्षिणस्यां दिशि एकं योजनसहस्रं तिर्यगतीत्य शीतामहानद्या उभयोः पार्श्वयोः पञ्चयोजनशतान्तरौ सप्रणिधी द्वौ यमकाद्री। यमकाभ्यामपाक्प्रत्येकं पञ्चयोजनशतान्तरा उभयपार्श्वगतैर्दशभिर्दशभिः काञ्चनगिरिभिरुपशोभिताः शीतामहानद्या नीलाद्यभिधानाः पञ्चह्लदा भवन्ति। समुदितं काञ्चनगिरीणां शतं विज्ञेयम्। एकादशसहस्राण्यष्टौ शतानि द्वाचत्वारिंशानि योजनानां द्वौ चैकान्नविंशतिभागा उदक्कुरुविष्कम्भः। नीलसमीपे त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि ज्या। षष्टिसहस्राणि चत्वारि शतान्यष्टादशानि योजनानां द्वादश चैकान्नविंशतिभागाः साधिका धनुः। तत्र शीतायाः प्राग्दिग्भागे जम्बूवृक्षः सुदर्शनाख्य उक्तः। तस्योत्तरदिक्शाखायामर्हदायतनम्। पूर्वदिक्शाखायां जम्बूद्वीपाधिपतिर्व्यन्तरेश्वरोऽनावृतनामा वसति। दक्षिणापरशाखाद्वयेरमणीयप्रासादान्तर्वर्तिशयनानि सन्ति। तस्य जम्बूवृक्षस्य परिवारभूतजम्बूवृक्षसङ्ख्या एकं शतसहस्रं चत्वारिंशत्सहस्राणि शतं चैका-

---

दक्षिण में और माल्यवान के पश्चिम में उत्तर कुरुक्षेत्र है, यह पूर्व पश्चिम लंबा और दक्षिण उत्तर चौड़ा है। उसमें नील कुलाचल से दक्षिण की तरफ एक हजार योजन तिरछा जाकर शीता नदी के दोनों पार्श्व में दो यमक पर्वत हैं, इनका अन्तर पांच सौ योजन का है। इन दो यमक पर्वतों से अपाची दिशा में पांच सौ पांच सौ योजन के अंतराल से अवस्थित ऐसे पांच ह्रद–सरोवर हैं, इन सरोवरों के दोनों पार्श्व भागों में दस दस कांचनगिरि हैं, इसप्रकार शीता महानदी में नील आदि नामवाले पांच ह्रद हैं। इन पांच ह्रद संबंधी उक्त कांचनगिरि सब मिलकर सौ हो जाते हैं [एक सरोवर के दो तटों में से एक एक तट पर दस दस ऐसे एक सरोवर के बीस हुए और पांच सरोवर के जोड़ो तो सौ कांचनगिरि हुए] उत्तर कुरु क्षेत्र का विस्तार ग्यारह हजार आठ सौ बियालीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण है। यह उत्तर कुरुक्षेत्र धनुषाकार है। इसकी ज्या नील पर्वत के निकट त्रेपन हजार योजन की है। और धनुष पृष्ठ साठ हजार चार सौ अठारह योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से बारह भाग कुछ अधिक है। शीता नदी के पूर्व दिशा में सुदर्शन नाम का जम्बू वृक्ष है। इस वृक्ष के उत्तर दिशा की शाखा पर अर्हन्त का मन्दिर है। पूर्व दिशा की शाखा पर जम्बूद्वीप का स्वामी अनावृत नाम का व्यन्तर इन्द्र रहता है। दक्षिण और पश्चिम की शाखा पर दो रमणीय प्रासाद हैं उनमें शयन स्थान हैं [त्रिलोकसार ग्रन्थ के अनुसार एक शाखा पर जिनालय और तीन शाखा पर अनावृत्त–अनादर आदर नाम के दो व्यन्तर देवों के निवास स्थल हैं] इस प्रमुख

त्रिंशतिः (१४०११९)। एतेष्वनावृतदेवस्य परिवारभूता व्यन्तरा वसन्ति । मेरोर्दक्षिणपूर्वस्यां दिशि मङ्गलावद्विजयात्प्रत्यङ् निषधादुदक्सौमनसो नाम वक्षारगिरिः । स च स्फटिकपरिणामो गन्धमादनेन विष्कम्भायामोच्छ्रायावगाहसंस्थानैस्तुल्यः । मेरोः पश्चिमदक्षिणस्यां दिशि निषधादुदक् पद्मवद्विजयात्प्राग्विद्युत्प्रभो नाम वक्षारगिरिस्तपनीयपरिणामो गन्धमादनसमवर्णनः । मेरोरपाक्सौमनसात्प्रत्यङ् निषधादुदक् विद्युत्प्रभात्प्राक् देवकुरवः । तेषां ज्याधनुरिषुगणना उत्तरकुरुगणनया व्याख्याता । मेरोर्दक्षिणापरस्यां दिशि निषधादुदक् शीतोदायाः प्रत्यग्विद्युत्प्रभात्प्राक् मध्ये शुभा नाम शाल्मली सुदर्शनया जम्ब्वाख्यातवर्णना । तस्या उत्तरशाखायामर्हदायतनं पूर्वदक्षिणापरासु शाखासु प्रासादेषु गरुत्मान्वेणुदेवो वसति । तस्य परिवारः सर्वोऽनावृतदेवपरिवारेण तुल्यः । निषधादुदगेकयोजनसहस्रं तिर्यगतीत्य शीतोदाया महानद्या उभयोः पार्श्वयोश्चित्रकूटविचित्रकूटौ गिरी भवतः । शीताया इव

विशाल जम्बू वृक्ष के परिवार स्वरूप जम्बूवृक्ष और भी हैं उनकी संख्या एक लाख, चालीस हजार एक सौ उन्नीस है (१४०११९) इन परिवार भूत वृक्षों पर अनावृत व्यन्तर देव के परिवार देव निवास करते हैं ।

मेरु के दक्षिण पूर्व दिशा में—आग्नेय में मंगला देश के पश्चिम में निषध कुलाचल से उत्तर में सौमनस नाम का वक्षारगिरि–गजदंत है, यह स्फटिक मणिमय है, इसकी चौड़ाई, लंबाई, ऊंचाई, अवगाह और संस्थान गन्धमादन गजदन्त के समान है । मेरु के पश्चिम दक्षिण में नैऋत में निषध कुलाचल से उत्तर में और पद्म देश के पूर्व में विद्युत्प्रभ नाम का वक्षारगिरि–गजदंत है, यह तप्त सुवर्णमय है । इसका वर्णन भी गन्धमादन के समान ही है । मेरु के अपाची दिशा में सौमनस गजदंत से पश्चिम में और निषध कुलाचल से उत्तर में तथा विद्युत्प्रभ गजदंत से पूर्व में देवकुरु क्षेत्र है, यह भी धनुषाकार है, इसकी ज्या धनुपृष्ठ और बाण उत्तर कुरु क्षेत्र के समान है ।

मेरु के दक्षिण ऊपर दिशा में, निषध से उत्तर शीतोदा महानदी के पश्चिम में और विद्युत्प्रभ गजदंत से पूर्व में शुभा नाम का शाल्मली वृक्ष है, इसका सर्व ही वर्णन जम्बूवृक्ष के समान है उस शाल्मली वृक्ष की उत्तर शाखा पर जिनालय है । और पूर्व, दक्षिण पश्चिम शाखाओं पर प्रासादों में गरुत् मान वेणुदेव निवास करता है । इसका सर्व ही परिवार अनावृत्त देव के परिवार के समान है ।

निषध कुलाचल से उत्तर में एक हजार योजन तिरछे जाकर शीतोदा महानदी के दोनों पार्श्वों में चित्रकूट और विचित्रकूट नाम के दो पर्वत हैं । जिसप्रकार शीता

शीतोदाया अपि निषधाभिधानह्रदपञ्चकं काञ्चनगिरिशतं च वेदितव्यम् । शीतया महानद्या पूर्वविदेहो द्विधा विभक्त—उत्तरो दक्षिणश्चेति । तत्रोत्तरभागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभङ्गनदीभिश्च विभक्तोऽष्टधाभिन्नोऽष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः । तत्र चित्रकूटः पद्मकूटो नलिनकूट एकशीलश्चेति वक्षाराः । तेषामन्तरेषु ग्राहावती ह्रदावती पङ्कावती चेति विभङ्गनद्यः । तत्र चत्वारोपि वक्षारा दक्षिणोत्तरकोटिभ्यां शीतानीलस्पर्शिनो नीलान्ते चतुर्योजनशतोत्सेधा योजनशतावगाहाः प्रदेशवृद्धचा वर्धमानाः शीतानद्यन्ते पञ्चयोजनशतोत्सेधाः पञ्चविंशतियोजनशतावगाहा अश्वस्कन्धाकाराः सर्वत्र पञ्चयोजनशतविष्कम्भाः षोडशसहस्राणि पञ्चशतानि द्वानवत्यधिकानि योजनानां द्वौ चैकान्नविंशतिभागौ तेषामायामः । तिस्रोपि विभङ्गनद्यः स्वतुल्यनामकुण्डेभ्यो नीलाद्रिनितम्बनिवेशिभ्यो निर्गताः । प्रभवे द्विक्रोशाधिकद्वादशयोजनविस्तारा गव्यूत्यवगाहाः । मुखे पञ्चविंशतियोजनशतविष्कम्भा दशगव्यूत्यवगाहाः । प्रत्येकमष्टाविंशतिनदीसहस्रपरीताः शीतां प्रविशन्ति । एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः-

---

महानदी संबंधी पांच ह्रद और सौ कांचनगिरि हैं उसी प्रकार शीतोदा महानदी संबंधी भी निषधादि पांच ह्रद और सौ कांचनगिरि हैं ।

शीता महानदी द्वारा पूर्व विदेह के दो विभाग हो गये हैं उत्तर और दक्षिण । उत्तर भाग चार वक्षार और तीन विभंगा नदियों द्वारा आठ भेद वाला हो गया है । ये आठों विदेह भेद आठ ही चक्रवर्ती द्वारा उपभोग्य हैं अर्थात् एक एक विदेह छह खण्ड युक्त हैं और उनमें चक्रवर्ती का साम्राज्य है । उक्त विदेहों में जो चार वक्षार कहे उनके नाम क्रमशः चित्रकूट, पद्मकूट, नलिनकूट और एक शैल है । उनके अन्तरालों में ग्राहावती, ह्रदावती और पंकावती नाम की पूर्वोक्त विभंगा नदियां हैं । वे जो चार वक्षार हैं वे दक्षिण और उत्तर के सिरे से क्रम से शीता नदी और नील कुलाचल का स्पर्श करते हैं । ये वक्षार नील के निकट चार सौ योजन ऊंचे हैं सौ योजन अवगाह वाले हैं फिर बढ़ते हुए शीता नदी के निकट पांच सौ योजन ऊंचे और एक सौ पच्चीस योजन अवगाह वाले हो जाते हैं । अश्वस्कंध के आकार वाले हैं, सर्वत्र पांच सौ योजन चौड़े हैं । इनकी लंबाई सोलह हजार पांच सौ बानवे योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण है । उक्त तीनों विभंगा नदियाँ अपने अपने नामवाले नील कुलाचल संबंधी कुण्डों से निकली हैं । निकलते समय उनका विस्तार बारह योजन दो कोस प्रमाण है और गहराई एक कोस प्रमाण है । अन्त में शीता नदी में प्रविष्ट होते वक्त एक सौ पच्चीस योजन विस्तार युक्त है और गहराई दस कोस की है । प्रत्येक विभंगा नदी अट्ठावीस हजार परिवार नदियों से युक्त होकर

कच्छ, सुकच्छ, महाकच्छ, कच्छक, कच्छकावर्त, लाङ्गलावर्त, पुष्कल, पुष्कलावर्ताख्याः । तेषां मध्ये राजधान्यः—क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खड्गा, मञ्जूषा, ओषधिः, पुण्डरीकिणी चेति नगर्यः । तत्र शीताया उदङ् नीलादवाक् चित्रकूटात्प्रत्यक् माल्यवत्समीपदेवारण्यात्प्राक्कच्छविजयः चित्रकूटसमायामः द्वे सहस्रे द्वे च शते त्रयोदशयोजनानां केन चिद्विशेषेणोने प्राक्प्रत्यग्विस्तीर्णः । तस्य बहुमध्यदेशभागे विजयार्धो रजताद्रिर्भरतविजयार्धतुल्योच्छ्रायावगाहविष्कम्भः कच्छविजयविष्क-म्भसमायामः प्राक्प्रत्यगायतः । स चैवं कच्छविजयो विजयार्धेन गङ्गासिन्धुभ्यां चतुर्दशनदीसहस्रपरि-वृताभ्यां नीलाद्रिनिःसृताभ्यां शीतायां प्रविष्टाभ्यां विभक्तत्वात्षड्खण्डः । तत्र शीताया उदग्विजया-र्धादपाग्गङ्गासिन्ध्वोर्बहुमध्यदेशभाविनी क्षेमा नाम राजधानी वेदितव्या । एवमितरे सप्तापि जनपदाः क्रमेण पूर्वदेशनिवेशिनो वेदितव्याः । लवणसमुद्रवेदिकायाः प्रत्यक् पुष्कलावत्याः प्राक् शीताया

शीता महानदी में प्रविष्ट हो जाती है । इसप्रकार चार वक्षार और तीन विभंगा नदी इनके द्वारा विदेह के आठ भेद होते हैं अर्थात् आठ जनपद या देश हो जाते हैं उन देशों के नाम कच्छ, सुकच्छ, महाकच्छ, कच्छक, कच्छकावर्त, लांगलावर्त, पुष्कल और पुष्कलावर्त हैं । उन आठों देशों की आठ राजधानी नगरियां हैं उनके नाम क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खड्गा, मंजूषा, औषधि और पुंडरीकिनी हैं । उनमें शीता के उत्तर नील से दक्षिण, चित्रकूट वक्षार से पश्चिम माल्यवान गजदंत के निकट देवारण्य के पूर्व में [यहां पर देवारण्य शब्द असंबद्ध है, क्योंकि देवारण्य समुद्र निकट है न कि गजदंत के निकट] पूर्वोक्त कच्छ नाम का देश है । यह चित्रकूट वक्षार के समान आयामवाला है और पूर्व पश्चिम में दो हजार दो सौ तथा कुछ कम तेरह योजन विस्तार वाला है । इसके मध्य भाग में विजयार्ध पर्वत है जो भरत क्षेत्र के विजयार्ध के समान ऊंचा गहरा और चौड़ा है तथा लंबा अपने कच्छ देश के विष्कंभ के बराबर है। इसकी यह लंबाई पूर्व पश्चिम में है। इसप्रकार यह कच्छ देश चौदह हजार परिवार नदियों से युक्त गंगा सिंधुनदी द्वारा और विजयार्ध द्वारा विभक्त छह खण्ड वाला हो गया है, कच्छ देश की ये गंगा आदि नदियां नील कुलाचल के कुण्डों से निकलती हैं और शीता महानदी में प्रविष्ट होती हैं । इस कच्छ देश में शीता नदी के उत्तर में विजयार्ध के अपाची में और गंगा सिंधु के बहुमध्य में क्षेमा नाम की नगरी है । इस कच्छ देश के समान ही शेष सात सुकच्छ आदि देश हैं ।

लवण समुद्र की वेदिका से पश्चिम में पुष्कलावती देश से पूर्व में शीता नदी से उत्तर में और नील कुलाचल से दक्षिण में देवारण्य नाम का वन है । यह वन शीता

उदङ् नीलादपाग्देवारण्यं नाम वनम् । तस्य द्वे सहस्रे नवशतानि द्वाविंशानि योजनानां शीतामुखे विष्कम्भः । षोडशसहस्राणि पञ्चशतानि द्वानवत्यधिकानि योजनानां द्वौ चैकान्नविंशतिभागा वायामः । शीताया अपाङ् निषधादुदग्वत्सविजयात्प्राग्लवणसमुद्रवेदिकायाः प्रत्यक् पूर्ववद्देवारण्यम् । शीताया दक्षिणतः पूर्वविदेहश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिश्च विभङ्गनदीभिर्विभक्तोऽष्टधा भिन्नोऽष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः । तत्र त्रिकूटो—वैश्रवणकूटोऽञ्जन आत्माञ्जनश्चेति वक्षाराः । तेषामन्तरेषु तप्तजला अमलजला उन्मत्तजला चेति तिस्रो विभङ्गनद्यः । एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः । वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सावती, रम्या, रम्यका, रमणीया, मङ्गलावत्याख्यास्तेषां मध्ये राजधान्यः । सुसीमा, कुण्डलावती, अपराजिता, प्रभाकरी, अङ्कावती, पद्मावती, शुभा, रत्नसञ्चया चेति नगर्यः । तेषु जनपदेषु द्वे द्वे नद्यौ रक्ता रक्तोदासंज्ञे । एकैको विजयार्धः । तेषां सर्वेषां विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या । शीताया उत्तरतटे दक्षिणतटे च प्रतिजनपदं त्रीणि त्रीणि तीर्थानि—मागध वरदान

नदी के निकट दो हजार नो सौ बावीस योजन चौड़ा है, सोलह हजार पांच सौ बानवे योजन तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से दो भाग प्रमाण लम्बा है । शीता नदी से अपाची में निषध से उत्तर में वत्स देश के पूर्व में लवण समुद्र की वेदिका से पश्चिम में पहले के समान एक देवारण्य वन है ।

शीता नदी के दक्षिण तट पर दक्षिण संबंधी पूर्व विदेह चार वक्षार और तीन विभंगा नदियों द्वारा विभक्त हुआ आठ भेद वाला हो जाता है, ये आठों विदेह जनपद आठ ही चक्रवर्ती द्वारा उपभोग्य होते हैं । इनमें जो चार वक्षार हैं उनके नाम त्रिकूट वैश्रवणकूट, अंजन और आत्मांजन हैं । इनके अन्तरों में तीन विभंगा नदियों के नाम तप्तजला, अमल जला और उन्मत्तजला हैं । इन चार वक्षार और तीन विभंगा नदियों के कारण उक्त विदेह आठ जनपद वाला हो गया है ।

उन जनपदों के नाम वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सावती, रम्या, रम्यका, रमणीया और मंगलावती हैं । इन देशों की राजधानियां क्रम से सुसीमा, कुण्डलावती अपराजिता, प्रभाकरी, अंगावती, पद्मावती, शुभा और रत्नसंचया हैं । उक्त जनपदों में प्रत्येक में दो दो रक्ता रक्तोदा नाम की नदियां हैं, एक एक विजयार्ध हैं । उन सब देशादि का विष्कंभ आयाम आदि पूर्ववत् जानना चाहिये ।

शीता नदी के उत्तर तट पर और दक्षिण तट पर प्रत्येक जनपद संबंधी तीन तीन तीर्थ हैं उन सबके एकसे नाम मागध, वरदान और प्रभास हैं । ये तीर्थ पूर्व विदेह

प्रभाससंज्ञानि । तानि समुदितानि अष्टचत्वारिंशत्तीर्थानि पूर्वविदेहे भवन्ति । शीतोदया महानद्या अपरविदेहो द्विधा विभक्तो दक्षिण उत्तरश्चेति । तत्र दक्षिणो भागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिश्च विभङ्गनदीभिर्विभक्तोऽष्टधा भिन्नोऽष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः । तत्र शब्दावत्, विकृतावत्, आशीविष, सुखावहसंज्ञाश्चत्वारो वक्षाराद्रयः । तेषामन्तरेषु क्षारोदा, शीतोदा, स्रोतोऽन्तर्वाहिनी चेति तिस्रो विभङ्गनद्यः । एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः । पद्म, सुपद्म, महापद्म, पद्मावच्छङ्ख, नलिन, कुमुद, सरिताख्यास्तेषां मध्ये राजधान्यः । अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका, वीतशोका चेति नगर्यः । तेषु जनपदेषु द्वे द्वे नद्यौ रक्ता रक्तोदासञ्ज्ञे । एकैको विजयार्धश्च । तेषां सर्वेषां विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या । देवारण्ये द्वेऽपि पूर्ववद्वेदितव्ये । उत्तरो विभागश्चतुर्भिर्वक्षारपर्वतैस्तिसृभिर्विभङ्गनदीभिश्च विभक्तोऽष्टधा भिन्नोऽष्टाभिश्चक्रधरैरुपभोग्यः । तत्र चन्द्र, सूर्य, नाग, देवसञ्ज्ञाश्चत्वारो वक्षारपर्वताः । तेषामन्तरेषु गम्भीरमालिनी, फेनमालिनी, ऊर्मिमालिनी चेति तिस्रो विभङ्गनद्यः एतैर्विभक्ता अष्टौ जनपदाः । वप्र, सुवप्र, महावप्र, वप्रावत्, वल्गु, सुवल्गु, गन्धिल, गन्धमालिसंज्ञास्तेषां मध्ये राजधान्यः । विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता,

---

संबंधी सोलह जनपदों के अड़तालीस होते हैं । इसप्रकार शीता नदी संबंधी विदेहों का वर्णन पूर्ण हुआ । शीतोदा महानदी के द्वारा पश्चिम विदेह दो प्रकार से विभक्त हुआ है दक्षिण और उत्तर । उनमें दक्षिण भाग के चार वक्षार और तीन विभंगा नदियों द्वारा आठ विभाग हो गये हैं जो आठ चक्रवर्ती द्वारा उपभोग्य हैं । उनमें जो चार वक्षार हैं उनके नाम शब्दवान्, विकृतवान्, आशीविष और सुखावह हैं । इनके अन्तरों में क्षारोदा शीतोदा, स्रोतोऽन्तर्वाहिनी नामवाली तीन विभंगा नदियाँ हैं । इन सातों द्वारा विभक्त आठ जनपद होगये हैं इनके नाम पद्म, सुपद्म, महापद्म, पद्मावत्, शंख, नलिन, कुमुद और सरित हैं । उन देशों में राजधानी नगरी अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका और वीतशोका नाम वाली हैं । उन आठ जनपदों में प्रत्येक में दो दो रक्ता रक्तोदा नदी हैं, एक एक विजयार्ध है । उन सभी का विष्कंभ आयाम आदि का वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिये तथा दो देवारण्य भी पूर्ववत् जानने चाहिये । शीतोदा महानदी का उत्तर विभाग भी चार वक्षार पर्वत और तीन विभंगा नदियों द्वारा विभक्त हुआ आठ भेद वाला हो जाता है और आठ ही चक्रधरों द्वारा उपभोग्य होता है । इनके वक्षारों के नाम चन्द्र, सूर्य, नाग और देव हैं । उन वक्षारों के अन्तरों में गंभीरमालिनी, फेनमालिनी और ऊर्मिमालिनी नामकी तीन विभंगा नदियां हैं । उन सबसे विभक्त आठ जनपद हैं उनके नाम वप्र, सुवप्र, महावप्र, वप्रावत्, वल्गु, सुवल्गु, गंधिल और गंधमालि । इनमें राजधानी नगरियां विजया,

चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयोध्या, अवन्ध्याचेति नगर्यः। तेषु जनपदेषु गङ्गासिन्धुसंज्ञे द्वे द्वे नद्यौ। एकैको विजयार्धश्च। तेषां सर्वेषां विष्कम्भायामादिवर्णना पूर्ववद्वेदितव्या। सर्ववक्षारपर्वतेषु प्रत्येकं सिद्धायतनस्वनामपूर्वापरदेशनामानि चत्वारि कूटानि भवन्ति। शीतोदाया अपि तीर्थानि शीताया इवाष्टचत्वारिंशद्वेदितव्यानि। विदेहस्य मध्ये मेरुर्नवनवतियोजनसहस्रोत्सेधः। धरणीतले सहस्रावगाहो दश सहस्राणि नवतिश्च योजनानां दश चैकादशभागा अधस्तलेऽस्य विस्तारः। एकत्रिंशत्सहस्राणि नवशतान्येकादशयोजनानि किञ्चिन्न्यूनान्यधस्तलेऽस्य परिधिः। दशसहस्राणि योजनानां भूतलेऽस्य विष्कम्भः। एकत्रिंशत्सहस्राणि षट्छतानि त्रयोविंशानि योजनानि किञ्चिन्न्यूनानि तत्रास्य परिधिः। स चतुर्वनः, त्रिकाण्डः, त्रिश्रेणिः। चत्वारि वनानि-भद्रशालवनं, नन्दनवनं, सौमनसवनं, पाण्डुकवनं चेति। भूमितले भद्रशालवनं पूर्वापरं देशोनद्वाविंशतियोजनसहस्राण्यायतं, दक्षिणोत्तरं देशोनार्धतृतीययोजनशतान्यायतम्। एकयाऽर्धयोजनोच्छ्रायपञ्चशतधनुर्विष्कम्भवनसमायामया बहुतोरणविभक्तया

वैजयन्ती, जयन्ती अपराजिता, चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयोध्या और अबन्ध्या हैं। उन जनपदों में प्रत्येक में दो दो गंगा सिंधु नदियां और एक एक विजयार्ध है। उन सभी का विष्कंभ आयाम आदि का वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिये। सर्व ही वक्षार पर्वतों पर प्रत्येक में चार चार कूट हैं। उन कूटों के नाम–एक का सिद्धायतन कूट है, एक नाम अपने अपने वक्षार का है तथा शेष दो कूटों के नाम अपने अपने वक्षारो के दोनो पार्श्व भागो में स्थित देशो के जो नाम हैं वे नाम हैं। शीतोदा महानदी संबंधी तीर्थ भी शीता नदी के समान अड़तालीस हैं। इसप्रकार विदेह देशो का वर्णन किया।

अब सुमेरु महा पर्वत का वर्णन करते हैं—विदेह के मध्य भाग में निन्यानवें हजार योजन ऊंचा सुमेरु पर्वत है, इसकी नींव भूमि में एक हजार योजन प्रमाण है। इस नींव का विस्तार [चौड़ाई] दश हजार नब्बे योजन और एक योजन के ग्यारह भागों में से दश भाग प्रमाण है। इस नींव की परिधि इकतीस हजार नो सौ योजन और ग्यारह योजन में कुछ कम प्रमाण वाली है। समतल भूमि में आने पर मेरु का विस्तार दश हजार योजन का है, इसकी परिधि इकतीस हजार छह सौ योजन और तेईस योजन में कुछ कम प्रमाण है। वह सुमेरु चार वन युक्त तीन काण्ड और तीन श्रेणि वाला है। चार वनों के नाम भद्रशाल, नंदन, सौमनस और पाण्डुक वन हैं। समतल पर भद्रशाल वन है यह पूर्व पश्चिम दिशा में कुछ कम बाईस हजार योजन आयत [लम्बा] है और दक्षिण उत्तर दिशा में कुछ कम ढाई सौ योजन आयत है। यह बन पद्मवर वेदिका से वेष्टित है उस वेदिका की ऊंचाई आधा योजन, विष्कम्भ

पद्मवरवेदिकया परिवृतम् । मेरोश्चतसृषु दिक्षु भद्रशालवने चत्वार्यर्हदायतनानि सन्ति । ततो भूमितलात्पञ्चयोजनशतान्युत्पत्य पञ्चयोजनशतविष्कम्भं मेरुसमायाममण्डलं पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्तं वृत्तवलयपरिधि नन्दनवनम् । तत्र बाह्यगिरिविष्कम्भो नवसहस्राणि नव च शतानि चतु.पञ्चाशानि योजनानां षट्चैकादशभागाः । तत्परिधिरेकत्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतान्येकान्नाशीत्यधिकानि सातिरेकाणि योजनानाम् । अभ्यन्तरगिरिविष्कम्भोऽष्टौ सहस्राणि नवशतानि चतुःपञ्चाशानि योजनानां षट्चैकादशभागाः । तत्परिधिरष्टाविंशति सहस्राणि त्रीणि शतानि षोडशानि योजनानामष्टौ चैकादशभागाः । चतसृषु दिक्षु चतस्रो गुहाः । तासु यथासङ्ख्यं सोम, यम, वरुण, कुबेराणां विहाराः । मेरोश्चतसृषु दिक्षु नन्दनवने चत्वारि जिनायतनानि सन्ति । नन्दनात्समाद्भूभागाद्द्विषष्टियोजनसहस्राणि पञ्चशतान्युत्पत्य वृत्तवलयपरिधि पञ्चयोजनशतविष्कम्भं पद्मवरवेदिकापरिक्षिप्तं सौमनसवनम् । तत्र बाह्यगिरिविष्कम्भश्चत्वारि सहस्राणि द्वे शते द्वासप्ततिश्च योजनानामष्टौ चैकादशभागा । तत्परिधिस्त्रयोदशसहस्राणि पंचशतान्येकादशानि योजनानां षट्चैकादशभागाः । अभ्यन्तरे गिरि-

---

पांच सौ धनुष और लंबाई वन के बराबर है । तथा यह वेदिका बहुत से तोरणों से सुशोभित है । मेरु की चार दिशाओं में भद्रशाल वन में चार जिनालय हैं । इस भद्रशाल वन वाले मेरु के भाग से ऊपर पांच सौ योजन चले जाने पर नन्दन बन आता है, इस वन का विष्कम्भ पांच सौ योजन का है, मेरु के समान आयम मण्डल है । यह पद्मवर वेदिका से वेष्टित और वृत्ताकार परिधि वाला है । उस नन्दन वन में मेरु के बाह्य भाग का विष्कम्भ नौ हजार नौ सौ चौवन योजन और एक योजन के ग्यारह भागों में से छह भाग प्रमाण का है । इसकी परिधि इकतीस हजार चार सौ योजन और कुछ अधिक उन्यासी योजन प्रमाण है । यहीं पर मेरु के अभ्यन्तर भाग का विष्कम्भ आठ हजार नौ सौ चौवन योजन और एक योजन के ग्यारह भागों में से छह भाग है । और उसकी परिधि अट्ठाईस हजार तीन सौ सोलह योजन और एक योजन के ग्यारह भागों में से आठ भाग है । इस वन के चारों दिशाओं में चार गुफायें हैं, उनमें पूर्वादि दिशा क्रम से सोम, यम, वरुण और कुबेर देव के विहार स्थल [प्रासाद] हैं । मेरु के नंदन वन में चार दिशाओं में चार अर्हदायतन हैं । नन्दन वन के समभूमि भाग से बासठ हजार पांच सौ योजन ऊपर जाकर सौमनस नाम का वन आता है, वह वृत्ताकार परिधि युक्त पांच सौ योजन चौड़ा, पद्मवर वेदिका से वेष्टित है इस जगह मेरु के बाह्य भाग का विस्तार चार हजार दो सौ बहत्तर योजन और एक योजन के ग्यारह भागों में से आठ भाग प्रमाण है । उसकी परिधि तेरह हजार पांच सौ ग्यारह योजन पूर्ण तथा एक योजन के ग्यारह भागों में से छह भाग प्रमाण की है । उसी

विष्कम्भस्त्रीणि सहस्राणि द्वे शते द्वासप्ततिर्योजनानामष्टौ चैकादशभागाः। तत्परिधिर्दशसहस्राणि त्रीणि शतान्येकान्नपंचाशानि योजनानां त्रयश्चैकादशभागाः किंचिद्विशेषोनाः। मेरोश्चतुर्दिक्षु सौमनसे चत्वार्यर्हदायतनानि सन्ति। सौमनसात्समाद्भूभागात्षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य योजनानि वृत्तवलयपरिधि पाण्डुकवनं चतुर्नवत्युत्तरचतुःशतविष्कम्भं पद्मवरवेदिकापरिवृतं चूलिकां परीत्य स्थितम्। शिखरे मेरोरेकं योजनसहस्रं विष्कम्भः। तत्परिधिस्त्रीणि सहस्राणि द्विषष्ट्यधिकं शतं योजनानां साधिकम्। पाण्डुकवनबहुमध्यदेशभाविनी चत्वारिंशद्योजनोच्छ्राया मूलमध्याग्रेषु द्वादशाष्ट चतुर्योजन विष्कम्भा सुवृत्तचूलिका। तस्याः प्राच्यां दिशि पाण्डुकशिला उदग्दक्षिणायामा प्राक्प्रत्यग्विस्तारा। अपाच्यां पाण्डुकम्बलशिला प्राक्प्रत्यगायामा उदग्दक्षिणविस्तारा। प्रतीच्यां रत्नकम्बलशिला उदगपागायता प्राक्प्रत्यग्विस्तीर्णा। उदीच्यामतिरक्तकम्बलशिला प्राक्प्रत्यगायता उदगपाग्विस्तीर्णा। ता एताश्चतस्रोऽपि योजनशतायामास्तदर्धविष्कम्भा अष्टयोजनबाहुल्या अर्धचन्द्रसंस्थाना अर्धयोजनो-

---

जगह मेरु के अभ्यन्तर भाग का विष्कम्भ तीन हजार दो सौ बहत्तर योजन और एक योजन के ग्यारह भागों में से आठ भाग है और परिधि दश हजार तीन सौ उनचास योजन तथा एक योजन के ग्यारह भागों में से कुछ कम तीन भाग प्रमाण है। यहां मेरु के सौमनस वन की चार दिशाओं में चार जिन भवन हैं। सौमनस वन के समभाग से छत्तीस हजार योजन ऊपर जाकर पाण्डुक नाम का वन आता है, इसका विष्कम्भ चार सौ चौरानवे योजन का है। पद्मवर वेदिका से वेष्टित है वृत्ताकार परिधि वाला है तथा चूलिका की प्रदक्षिणा रूप से अवस्थित है। मेरु के शिखर भाग पर एक हजार योजन का विष्कंभ है। उसकी परिधि तीन हजार एक सौ बासठ योजन और कुछ अधिक है। पाण्डुक वन के ठीक मध्य भाग में चालीस योजन की ऊंची चूलिका है यह गोल है मूल में बारह योजन मध्य में आठ योजन और अग्र में चार योजन चौड़ी है। चूलिका के प्रारम्भ भाग के सन्निकट शिलायें हैं पूर्व दिशा में पाण्डुक शिला है, वह उत्तर दक्षिण लंबी और पूर्व पश्चिम में चौड़ी है, दक्षिण दिशा में पाण्डुकम्बला शिला है, यह पूर्व पश्चिम में तो लंबी है और उत्तर दक्षिण में चौड़ी है। पश्चिम दिशा में रत्नकम्बला नाम की शिला है, यह शिला उत्तर दक्षिण में आयत और पूर्व पश्चिम में विस्तृत है। उत्तर दिशा में अतिरक्त कम्बला नाम की शिला है, यह पूर्व पश्चिम में लंबी और उत्तर दक्षिण में विस्तीर्ण है। ये चारों ही शिलायें सौ योजन लंबी [राजवार्त्तिक के अनुसार पांच सौ योजन लंबी] पचास योजन चौड़ी आठ योजन मोटी हैं, अर्ध चन्द्राकार हैं। चारों ही शिलायें पद्मवर वेदिका से परिवृत हैं, ये

त्सेधाः पंचधनुःशतविष्कम्भशिलासमायामैकपद्मवरवेदिकापरिवृताः श्वेतवरकनकस्तूपिकालंकृतचतुस्तोरणद्वारविराजिताः । तासामुपरि बहुमध्यदेशभावीनि पंचधनुःशतोत्सेधायामतदर्धविष्कम्भाणि प्राङ्मुखानि सिंहासनानि । पौरस्त्यसिंहासने पूर्वविदेहजान् अपाच्ये भरतजान्, प्रतीच्ये अपरविदेहजान् उदीच्ये ऐरावतजान् तीर्थकरान् चतुर्णिकायदेवाधिपाः सपरिवारा महत्या विभूत्या क्षीरोदवारिपूर्णाष्टसहस्रकनककलशैरभिषिचंन्ति । चूलिकायाश्चतसृषु महादिक्षु चत्वार्यर्हदायतनानि भवन्ति । भद्रशालवनभाविनि भूतले लोहिताक्षकल्पः परिक्षेपः । तत ऊर्ध्वमर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य द्वितीयः पद्मवर्णः । ततोप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य तृतीयस्तपनीयवर्णः । ततोप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य चतुर्थो वैडूर्यवर्णः । ततोप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य पंचमो वज्रप्रभ । ततोप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य षष्ठो हरितालवर्णः ततोप्यर्धसप्तदशयोजनसहस्राण्यारुह्य जाम्बूनदसुवर्णवर्णो

वेदिकायें आधा योजन ऊंची पांच सौ धनुष चौड़ी, शिलाओं के बराबर लंबी हैं। इनके प्रत्येक के चार चार तोरण द्वार श्वेत सुवर्ण मय स्तूपिकाओं से अलंकृत हैं। उन पाण्डुकादि शिलाओं पर बहुमध्य भागों में सिंहासन हैं, वे सर्व ही सिंहासन पांच सौ धनुष ऊंचे और लम्बे हैं तथा उससे आधे अर्थात् ढाई सौ धनुष चौड़े हैं तथा पूर्वाभिमुख हैं। पूर्व दिशा की शिला के सिंहासन पर पूर्व विदेह में होनेवाले तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है, दक्षिण शिला के सिंहासन पर भरत क्षेत्रस्थ तीर्थंकरों का, पश्चिम शिला के सिंहासन में पश्चिम विदेहस्थ तीर्थङ्करों का और उत्तर दिशा की शिला के सिंहासन पर ऐरावत क्षेत्रस्थ तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है। इस जन्माभिषेक को चार प्रकार के देवों के इन्द्र सपरिवार महान विभूति द्वारा क्षीर सागर के जल से परिपूर्ण सुवर्ण मय एक हजार आठ कलशों द्वारा करते हैं।

मेरु की चूलिका के प्रारम्भ भाग में [पाण्डुक वन में] चार महादिशाओं में चार जिनालय हैं। मेरु के सात परिक्षेप हैं, पहला परिक्षेप लोहिताक्ष मणिमय है यह भद्रशाल वन के भूतल पर है, उससे ऊपर साडे सोलह हजार योजन जाकर दूसरा परिक्षेप है यह पद्मवर्ण है। उससे साडे सोलह हजार योजन ऊपर चढ़कर तीसरा तपे सोने के वर्ण का परिक्षेप है। उससे साडे सोलह हजार योजन ऊपर जाकर चौथा परिक्षेप वैडूर्य वर्ण–वाला आता है। उससे साडे सोलह हजार योजन ऊपर जाकर पांचवां वज्रप्रभ परिक्षेप है। उससे साडे सोलह हजार योजन ऊपर जाकर छठा हरिताल वर्ण का परिक्षेप है। उससे साडे सोलह हजार योजन ऊपर जाकर सातवां जांबूनद सुवर्ण सदृश वर्ण का परिक्षेप आता है।

भवति । अधोभूम्यवगाही योजनसहस्रायामः प्रदेशः पृथिव्युपलवालुकाशर्कराचतुर्विधपरिणामः उपरि वैडूर्यपरिणामः प्रथमकाण्डः । सर्वरत्नमयः द्वितीयकाण्डः । जाम्बूनदमयस्तृतीयकाण्डः । चूलिका वैडूर्यमयी । मेरुरयं त्रयाणां लोकानां मानदण्डः । अस्याधस्तादधोलोकः । चूलिकामूलादूर्ध्वलोकः । मध्यप्रमाणस्तिर्यग्विस्तीर्णस्तिर्यग्लोकः । एवं च कृत्वाऽन्वर्थनिर्वचनं क्रियते—लोकत्रयं मिनोतीति मेरुरिति । तस्य भूमितला दारभ्याऽऽशिखरादेकादशिकी प्रदेशहानिः । एकादशसु प्रदेशेष्वेकः प्रदेशो हीयते । एकादशसु गव्यूतेष्वेकं गव्यूतं हीयते । एकादशसु योजनेष्वेकं योजनं हीयते । एव सर्वत्राशिखरात् भूमितलस्याध ऐकादशिकी प्रदेशवृद्धिः । एकादशसु प्रदेशेष्वेकः प्रदेशो वर्धते । एकादशसु गव्यूतेष्वेकं गव्यूतं वर्धते । एकादशसु योजनेष्वेकं योजनं वर्धते । एवं सर्वत्र आ अधस्तलात् ।

मेरु के तीन काण्ड बतलाते हैं मेरु के अधोभाग में [नीचे जमीन में] जड में एक हजार योजन आयाम वाला जो प्रदेश है वह पृथिवी, पाषाण, बालु और रेत [कंकर] इसप्रकार चार भेद रूप है उसका उपरिम भाग वैडूर्य वर्ण है यह प्रथम काण्ड कहलाता है । द्वितीय काण्ड सर्व रत्नमय है । तृतीय काण्ड सुवर्ण मय है । मेरु की चूलिका वैडूर्यमणि मय है । यह मेरु तीन लोकों का माप दण्ड है । इसके नीचे अधोलोक है । इसकी चूलिका के मूल से ऊर्ध्वलोक है और मध्य प्रमाण वाला तिरछे रूप से फैला हुआ तिर्यग्लोक है । इसतरह होने से ही इसकी अन्वर्थ नाम निरुक्ति होती है कि "लोक त्रयं मिनोति इति मेरुः" अब इस मेरु के ऊपर ऊपर भाग में किस प्रकार प्रदेश हानि [सकड़ाई] होती है सो बताते हैं—उस मेरु के भूमितल से लेकर शिखर तक ग्यारह प्रदेश जाने पर एक प्रदेश कम होता है अर्थात् ग्यारह प्रदेशों में एक प्रदेश हीन हुआ, इस क्रम से ग्यारह कोस ऊंचे जाने पर मेरु की चौड़ाई एक कोस कम होगी, ग्यारह योजन ऊपर जाने पर एक योजन चौड़ाई घट जायगी । यह तो नीचे से ऊपर घटने का क्रम बताया । इस प्रकार शिखर भाग से नीचे जावो तो बढ़ता क्रम है वह भी शिखर से लेकर भूमितल तक ग्यारह प्रदेशों में एक प्रदेश बढ़ता है ग्यारह कोस नीचे आने पर एक कोस की चौड़ाई बढ़ती है, ग्यारह योजन नीचे आने पर एक योजन चौड़ाई बढ़ती है । इसप्रकार भूमितल तक लगाना । इसतरह विदेह का वर्णन समाप्त हुआ ।

[मेरु का नकशा अगले पृष्ठ पर देखिये]

पंच मेरु संबंधी बीस गज दंत पर्वतों के ऊंचाई आदि का विवरण—

क्रम	नाम	वर्ण	कुलाचलों के निकट ऊंचाई	मेरु के निकट ऊंचाई	कुलाचलों के निकट विष्कंभ	मेरु के निकट विष्कंभ	कुलाचल के निकट नींव	मेरु के निकट नींव	आयाम
१	गंधमादन	सुवर्णमय	४०० महा यो.	५०० महा यो.	२५० महा यो.	५०० महा यो.	१०० महा यो.	१२५ महा यो.	३००९०२ [illegible]
२	माल्यवान	वैडूर्यमय	"	"	"	"	"	"	"
३	सौमनस	स्फटिकमय	"	"	"	"	"	"	"
४	विद्युत्प्रभ	तप्तसुवर्ण	"	"	"	"	"	"	"

एवं विदेहो वर्णितः । नीलरुक्मिपर्वतयोः पूर्वापरसमुद्रयोश्च मध्ये रम्यकवर्षः । तन्मध्ये गन्धवान्वृत्तवेदाढ्यः पर्वतोऽस्ति । सोऽपि पटहसंस्थानः । शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णनः । रुक्मिशिखरिणोः पूर्वापरसमुद्रयोश्चान्तरे हैरण्यवतवर्षः । तन्मध्ये माल्यवान्वृत्तवेदाढ्योऽद्रिरस्ति । सोऽपि पटहसमानः शब्दवद्वृत्तवेदाढ्येन तुल्यवर्णनः । शिखरिणः पूर्वोत्तरपश्चिमसमुद्रत्रयस्य चान्तरे ऐरावतवर्षः । तन्मध्ये भरतविजयार्धतुल्यविस्तारोत्सेधावगाहो रजताद्रिर्विद्यते । तेन विजयार्धेन रक्तारक्तोदाभ्यां च विभक्तत्वात्सोऽपि षड्खण्डः । तेषां क्षेत्राणां के विभागहेतवः कीदृशाश्च त इत्याह—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-
रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

तानि भरतादिक्षेत्राणि विभजन्ति पृथक्कुर्वन्तीत्येवंशीलास्तद्विभाजिनः । पूर्वश्चापरश्च पूर्वापरौ दिग्विभागौ । तयोरायता दीर्घीभूताः पूर्वापरायताः । पूर्वपश्चिमस्वकोटिभ्यां लवणसमुद्रस्पर्शिन

नील और रुक्मि कुलाचल तथा पूर्वा पर समुद्रों के मध्य में रम्यक क्षेत्र है। उसके मध्य में गंधवान वृत्त वैताढ्य है, वह पटहाकार है और शब्दवान वृत्तवैताढ्य के समान वर्णन वाला है अर्थात् इसकी चौड़ाई ऊंचाई आदि शब्दवान के समान है। रुक्मि और शिखरी पर्वत तथा पूर्वापर समुद्रों के मध्य में हैरण्यवत क्षेत्र है, उसके मध्य में माल्यवान वृत्तवैताढ्य पर्वत है। वह पटहाकार है एवं शब्दवान वैताढ्य के समान प्रमाण वाला है। शिखरी पर्वत और पूर्वोत्तर पश्चिम समुद्रों के अन्तराल में ऐरावत क्षेत्र है। इसके मध्य में विजयार्ध पर्वत है, यह भरत क्षेत्र के विजयार्ध पर्वत के समान विस्तार ऊंचाई और अवगाह वाला है। उस विजयार्ध से तथा रक्ता रक्तोदा नदियों द्वारा विभक्त हुआ छह खण्ड युक्त हो जाता है।

[चार्ट अगले पृष्ठ पर देखिये]

उन भरतादि क्षेत्रों के विभाग के कारण कौन हैं तथा वे किसप्रकार के हैं ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—उन भरतादि क्षेत्रों का विभाग करने वाले पूर्व पश्चिम लंबे हिमवन् महाहिमवन्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी नाम वाले छह कुलाचल पर्वत हैं।

उन भरतादि क्षेत्रों का विभाग अर्थात् पृथक् पृथक्पना करने वाले ये पर्वत हैं, पूर्व और ऊपर दिशा भाग में आयत हैं अर्थात् अपने पूर्व पश्चिम सिरे से लवण समुद्र

अढ़ाई द्वीप संबंधी विदेह क्षेत्रस्थ अस्सी वक्षारों का विवरण—

क्रम	नाम	वर्ण	कुलाचलों के निकट ऊंचाई	नदी के निकट ऊंचाई	विष्कंभ योजन	आयाम	कुलाचल के निकट नींव	नदी के निकट नींव
१	चित्रकूट	सुवर्णमय	४०० योजन	५०० योजन	५०० योजन	१६५९२ $\frac{२}{१९}$ यो.	१०० योजन	१२५ योजन
२	पद्मकूट	,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
३	नलिन	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
४	एक शैल	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
५	त्रिकूट	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
६	वैश्रवण	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
७	अंजनात्मा	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
८	अंजन	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
९	श्रद्धावान	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१०	विजयवान	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
११	आशीविष	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१२	सुखावह	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१३	चन्द्रमाल	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१४	सूर्यमाल	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१५	नागमाल	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,
१६	देवमाल	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,

विशेष—यह आयाम जंबूद्वीप के वक्षारों का है, धातकी खण्ड और पुष्करार्ध के वक्षारों का आयाम अपने-अपने देशों के बराबर है।

इत्यर्थः । हिमवांश्चमहाहिमवांश्च निषधश्च नीलश्च रुक्मी च शिखरी च हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणः । मर्यादया वर्षान् धरन्तीति वर्षधराः । वर्षधराश्च ते पर्वताश्च वर्षधरपर्वताः । एते हिमवदादयः शश्वदनिमित्तरूढसंज्ञा अकृत्रिमाः क्षेत्रविभागहेतवः षट्कुलपर्वता वेदितव्याः । तत्र भरतहैमवतयोरन्तर्वर्ती क्षुद्रहिमवान् पर्वतो योजनशतोत्सेधः पञ्चविंशतियोजनावगाहः । हैमवतहरिवर्षयोः सीम्नोर्मध्ये महाहिमवान् स्थितः । स च द्वियोजनशतोत्सेधः पञ्चाशद्योजनावगाहो भवति । हरिवर्षमहाविदेहयोरन्तराले निषधपर्वतश्चतुर्योजनशतोच्छ्रायो योजनशतावगाहः । महाविदेहरम्यकविभागकरश्चतुर्योजनशतोच्छ्रायश्चतुर्थभागावगाहो नीलपर्वतः । रम्यकहैरण्यवतकमध्यवर्ती द्वियोजनशतोत्सेधश्चतुर्थभागावगाहो रुक्मी । हैरण्यवतैरावतयोरन्तरे शिखरी व्यवस्थितः । स च योजनशतोच्छ्रायः पञ्चविंशतियोजनावगाहो भवति । सर्वेषां पर्वतानां स्वोच्छ्रायस्य चतुर्थभागोऽवगाहो वेदितव्यः । सर्वे ते दण्डकाराः । तेषां पर्वतानां वर्णविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

का स्पर्श करते हैं । हिमवन् आदि पदों में द्वन्द्व समास है । वर्षधरपर्वताः पद में कर्मधारय समास है । ये सर्व हिमवत् आदि पर्वत सतत विना निमित्त के ही रूढ संज्ञा (नाम) वाले हैं । अकृत्रिम हैं, ये क्षेत्र विभाग के हेतु भूत छह कुलाचल जानने चाहिये ।

भरत और हैमवत् क्षेत्रों के मध्य में क्षुद्रहिमवान पर्वत है, यह सौ योजन ऊंचा और पच्चीस योजन अवगाह (नींव) वाला है । हैमवत और हरि क्षेत्रों की सीमाओं के मध्य में महाहिमवान् पर्वत है । वह दो सौ योजन ऊंचा और पचास योजन अवगाह वाला है । हरिक्षेत्र और महाविदेह के अन्तराल में निषध पर्वत है, यह चार सौ योजन ऊंचा और सौ योजन अवगाह वाला है । महाविदेह और रम्यक क्षेत्र का विभाग करने वाला नील पर्वत है, वह चार सौ योजन ऊंचा और सौ योजन अवगाह वाला है । रम्यक् और हैरण्यवत् क्षेत्रों के मध्य में दो सौ योजन ऊंचा और पचास योजन अवगाह (नींव) वाला रुक्मि कुलाचल है । हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रों के अन्तराल में शिखरी पर्वत है, वह सौ योजन ऊंचा, पच्चीस योजन अवगाह वाला है । सर्व ही पर्वतों का अवगाह अपने अपने पर्वत के ऊंचाई के चौथे भाग प्रमाण है । ये सभी पर्वत दण्डाकार हैं ।

[चार्ट अगले पृष्ठ पर देखिये]

हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेममयाः ॥१२॥

हेम पीतवर्णं सुवर्णम् । अर्जुनः शुक्लो वर्णस्तद्योगाद्रजतमप्यर्जुनाख्यम् । तपनीयं रक्तवर्णं स्वर्णम् । वैडूर्यं नीलवर्णो मणिविशेषः । रजतं शुक्लवर्णं प्रसिद्धम् । हेम पीतवर्णं काञ्चनम् । ते हिमवदादयः पर्वता यथासङ्ख्यं हेमादिभिर्निर्वृत्ताः पीतादिवर्णाः वेदितव्याः । पुनस्तद्विशेषं तद्विस्तारं च प्रतिपादयन्नाह—

जंबूद्वीपस्थ कुलाचलों का विवरण—

क्रम	नाम	वर्ण	ऊंचाई योजन	चौड़ाई योजन	अवगाह योजन
१	हिमवान	सुवर्णमय	१०० महा यो.	१०५२ १२/१९	२५ महा यो.
२	महाहिमवान	रजतमय	२०० महा यो.	४२१० १०/१९	५० महा यो.
३	निषध	तप्तसुवर्ण	४०० महा यो.	१६८४२ २/१९	१०० महा यो.
४	नील	वैडूर्य	४०० महा यो.	१६८४२ २/१९	१०० महा यो.
५	रुक्मि	रजत	२०० महा यो.	४२१० १०/१९	५० महा यो.
६	शिखरी	सुवर्ण	१०० महा यो.	१०५२ १२/१९	२५ महा यो.

विशेष—यह सब प्रमाण महा योजन से है । एक महा योजन चार हजार माईलों का होता है ।

अब इन पर्वतों के वर्णों का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—वे छह कुलाचल क्रमशः सुवर्ण, चांदी, ताया सुवर्ण, वैडूर्य, चांदी और सुवर्ण सदृश वर्ण वाले हैं । हेम सुवर्ण को कहते हैं यह पीत वर्ण होता है । शुक्ल वर्ण को अर्जुन कहते हैं और उसके योग से चांदी को भी अर्जुन कहते हैं । लाल वर्ण के सुवर्ण को तपनीय कहते हैं, नील रंग के मणि को वैडूर्य कहते हैं, रजत और हेम क्रमशः चांदी और सुवर्ण वाचक प्रसिद्ध ही हैं । वे हिमवन आदि पर्वत क्रम से सुवर्ण आदि वर्ण वाले जानने चाहिये ।

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ।।१३।।

नानावर्णप्रभावादिगुणोपेतैर्मणिभिर्विचित्राणि कर्बुराणि पार्श्वानि तटानि येषां ते मणि-विचित्रपार्श्वाः । उपर्यूर्ध्वभागे मूलेऽधोभागे च शब्दान्मध्ये भागे च तुल्यः समानो विस्तारो विष्कम्भो येषां ते तुल्यविस्तारा हिमवदादयः कुलपर्वता बोद्धव्याः । तत्पृष्ठेषु ह्रदविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीकाह्रदास्तेषामुपरि ।।१४।।

स्वमध्यवर्तिपद्मादियोगादह्रदा अपि पद्मादिसंज्ञा रूढाः । ते च तेषां हिमवदादीनामुपरि मध्यदेशवर्तिनो यथाक्रमं वेदितव्याः । तत्र प्रथमह्रदपरिमाणमाह—

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कम्भो ह्रदः ।।१५।।

प्रथमः सूत्रपाठापेक्षया आद्यः पद्मनामा ह्रदः । योजनानां सहस्रं योजनसहस्रम् । तदेव पूर्वा-परयोरायामो दैर्घ्यं यस्य सोऽयं योजनसहस्रायामः । तस्यायामस्यार्धं शतपञ्चकम् । तदेव दक्षिणोत्तर-

---

उन पर्वतों का विस्तार विशेष का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ— ये छहों कुलाचल अनेक मणियों से युक्त पार्श्व भागवाले हैं तथा इनका विस्तार ऊपर और मूल में समान है । नाना वर्ण वाले कान्तियुक्त रत्नों से चितकबरे हैं पार्श्व भाग जिनके ऐसे वे पर्वत हैं । इनका उपरि भाग और मूलभाग तथा मध्य भाग सर्व ही समान चौड़ा है ऐसे ये कुलाचल विशिष्ट आकार वाले जानने चाहिये ।

उन पर्वतों के ऊपर सरोवर होते हैं उनका प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—उन कुलाचलों पर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी महा पुण्डरीक और पुण्डरीक नाम वाले सरोवर हैं ।

अपने मध्य में होने वाले पद्मों–(कमलों) से युक्त होने के कारण सरोवर भी पद्म आदि वाले रूढ हुए हैं । ये छह सरोवर उन हिमवान् आदि कुलाचलों के उप-रिम मध्यभागों में अवस्थित जानने चाहिये ।

उनमें प्रथम सरोवर का परिमाण बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—पहला सरोवर एक हजार योजन लंबा और पांच सौ योजन चौड़ा है ।

सूत्र पाठ की अपेक्षा प्रथम आदि का पद्म नामा सरोवर लेना, पूर्व पश्चिम में एक हजार योजन लंबा और उस लंबाई से आधा अर्थात् पांच सौ योजन चौड़ा है,

योर्विष्कम्भो विस्तारो यस्यासौ तदर्धविष्कम्भः। ह्रदो वज्रतलः पद्मनामा क्षुद्रहिमवतः पृष्ठे नित्यमवस्थितो वेदितव्यः। तदवगाहप्रतिपत्त्यर्थमाह—

दशयोजनावगाहः ॥१६॥

दशयोजनान्यवगाहोऽधःप्रवेशो निम्नता यस्यासौ दशयोजनावगाहः पद्मह्रदो ज्ञातव्यः। तन्मध्यवर्तिपुष्करप्रमाणावधारणार्थमाह—

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥१७॥

प्रमाणयोजनपरिमाणसम्बन्धादभेदेन पुष्करमपि योजनशब्देनोच्यते। कथं तत्पद्मं योजनपरिमाणं कथ्यते? क्रोशायामपत्रत्वात्क्रोशद्वयविस्तारकर्णिकत्वाच्च योजनायामविष्कम्भं पुष्करम्। तच्च जलस्योपरितनभागात्क्रोशद्वयोत्सेधनालं द्विक्रोशबाहुल्यपत्रप्रचयं वेदितव्यम्। इतरह्रदपुष्करायामादिनिर्ज्ञानार्थमाह—

यह चौड़ाई दक्षिण उत्तर में है, इस पद्म सरोवर का तलभाग वज्रमय है, यह हिमवान पर्वत के पृष्ठ पर नित्य ही अवस्थित जानना चाहिये। अब इसका अवगाह-गहराई बताते हैं—

सूत्रार्थ—उसकी गहराई दश योजन की है। अवगाह, अधः प्रवेश और निम्नता ये एकार्थ वाची शब्द हैं, दस योजन का है अवगाह जिसका ऐसा यह पद्म सरोवर जानना चाहिये।

उस पद्म सरोवर के मध्य के कमल का प्रमाण बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—उस पद्म सरोवर के मध्य में एक योजन का कमल है।

प्रमाण–माप योजन का होने से योजन शब्द द्वारा अभेदपने से कमल को कहा है। यह कमल एक योजन का किसप्रकार है सो बताते हैं–इस कमल के पत्र एक कोस आयाम वाले हैं और कर्णिका दो कोस की है अतः कुल घेरा एक योजन का हो जाता है। इसका नाल दण्ड जल के उपरितन भाग से दो कोस ऊंचा है, दो कोस बाहुल्य वाले पत्र समूह संयुक्त यह कमल है ऐसा जानना चाहिये।

अन्य सरोवर तथा कमलों के आयामादि को कहते हैं—

तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ।।१८।।

ताभ्यां ह्रदपुष्कराभ्यां द्विगुणा द्विगुणास्तद्द्विगुणद्विगुणाः । अत्रायामादीनां द्विगुणत्वव्याप्तिज्ञापनार्थं द्विर्वचनं कृतम् । पद्मह्रदाद्द्विगुणायामविष्कम्भावगाहो महापद्मह्रदः । ततो द्विगुणायामविष्कम्भावगाहस्तिगिञ्छह्रदः । एवं पुष्करात्पुष्करान्तरायामादिद्विगुणत्वव्याप्तिर्योज्या । तथा ह्रदाः पुष्कराणि चेत्युभयत्र द्विवचने प्राप्ते यद्बहुवचनं कृतं तत्सामर्थ्येनोत्तरादक्षिणतुल्या इति वक्ष्यमाणसूत्रसम्बन्धात्पुण्डरीकह्रदतत्पुष्कराभ्यां महा पुण्डरीकह्रदतत्पुष्करयोरायामविष्कम्भावगाहैर्द्विगुणत्वम् । ताभ्यां च केसरिह्रदतत्पुष्करयोर्द्विगुणत्वं व्याख्यायते । तन्निवासिनीनां देवीनां संज्ञाजीवितपरिमाणपरिवारसंसूचनार्थमाह—

सूत्रार्थ—उक्त सरोवर तथा कमल से आगे के सरोवर और कमल दुगुणे दुगुणे विस्तार युक्त हैं ।

उन ह्रद और पद्मों में आयामादि का दुगुणापना बतलाने के लिये द्विगुण शब्द को दो बार रखा है । पद्म ह्रद से दुगुणा आयाम, विष्कंभ और अवगाह वाला महापद्म ह्रद है, उससे दुगुणा आयाम, विष्कम्भ और अवगाह वाला तिगिञ्छ ह्रद है । इसीप्रकार कमल से कमल का आयाम आदि दुगुणा है ऐसी व्याप्ति कर लेना चाहिये । "इस सूत्र में ह्रदाः पुष्कराणि" ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया, उससे तथा आगे छब्बीसवें "उत्तरा–दक्षिण तुल्याः" सूत्र से संबंध कर लेने पर पुण्डरीक ह्रद और उसके कमल से महापुण्डरीक ह्रद और उसके कमल का आयाम, विष्कम्भ तथा अवगाह दुगुणा है ऐसा ज्ञात हो जाता है । तथा उससे केसरि ह्रद और उसका कमल दुगुणा है यह भी ज्ञात होता है ।

भावार्थ—पद्म ह्रद से महापद्म का आयाम आदि दुगुणा है, महापद्म से तिगिंछ का दुगुणा है, पुनः केसरी ह्रद का तो तिगिंछ जितना आयामादि है, उस केसरी से आधा आयामादि महापुण्डरीक ह्रद का है, और उससे आधा आयामादिक पुण्डरीक का है ऐसा जानना । कमल में भी यही क्रम है ।

[इन ह्रद आदि के आयामादि का चार्ट अगले पृष्ठ पर देखिये]

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपम स्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ॥१९॥

तेषु पुष्करेषु कर्णिकामध्यवर्तिनः क्रोशायामाः क्रोशार्धविष्कम्भा देशोनक्रोशोत्सेधाः प्रासादाः सन्ति। तेषु निवसनशीलास्तन्निवासिन्यो देवताः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्मीसञ्ज्ञिताः पद्मादिह्रदेषु यथासङ्ख्यं सन्ति। पल्योपमा स्थितिरायुषोऽवस्थानं यासां ताः पल्योपमस्थितयः। समानं तुल्यमा-

---

इन ह्रद आदि के आयामादि का दर्शक चार्ट

क्र०	ह्रद	लम्बाई	चौड़ाई	गहराई	कमल	देवी
१	पद्म	१००० यो.	५०० यो.	१० यो.	१ यो.	श्री
२	महापद्म	२००० यो.	१००० यो.	२० यो.	२ यो.	ह्री
३	तिगिंछ	४००० यो.	२००० यो.	४० यो.	४ यो.	धृति
४	केसरी	४००० यो.	२००० यो.	४० यो.	४ यो.	कीर्ति
५	महापुण्डरीक	२००० यो.	१००० यो.	२० यो.	२ यो.	बुद्धि
६	पुण्डरीक	१००० यो.	५०० यो.	१० यो.	१ यो.	लक्ष्मी

उक्त कमलों पर निवास करने वाली देवियों के नाम, जीवित काल तथा परिवार का कथन करते हैं—

सूत्रार्थ—उन कमलों पर श्री, ह्री, धृति, कीर्त्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामवाली देवियां निवास करती हैं, इनकी आयु एक पल्य की है तथा सामानिक और परिषत् जाति के देवों के साथ वहां रहती हैं।

उक्त कमलों की कर्णिकाओं पर प्रासाद हैं, वे एक कोस लम्बे, आधे कोस चौड़े, पोन कोस ऊंचे हैं। उनमें निवास करने को शील-स्वभाव वाली वे श्री, ह्री, धृति, कीर्त्ति, बुद्धि और लक्ष्मी देवियां हैं। पद्म आदि सरोवरों पर ये देवियां क्रम से रहती हैं। "पल्योपम स्थितयः" पद में बहुव्रीहि समास है। वे सर्व ही देवियां एक पल्यकी

ज्ञैश्वर्यवर्जितस्थानायुर्वीर्यपरिवारभोगादिकमुच्यते। तस्मिन्समाने भवाः सामानिकाः बाह्या मध्याऽभ्यन्तरा चेति तिस्रः परिषदः परिवारदेवीसभा इत्यर्थः। सामानिकाश्च परिषदश्च सामानिकपरिषदः। सहताभिर्वर्तन्ते ससामानिकपरिषत्काः। प्रधानभूतपद्मस्य परिवारभूतपद्मेषु सामानिकाः परिषदश्च निवसन्ति। तत्र हिमवन्महाहिमवन्निषधनिवासिन्यो दिक्कुमार्यः सौधर्मप्रतिबद्धाः। नीलरुक्मिशिखरिनिवासिन्य ईशानस्य। एवं धातकीखण्डपुष्करार्धयोरपि हिमवदादिह्रदपुष्करेषु श्रीप्रभृतयो देवता व्याख्येयाः। अथोक्तक्षेत्राणां मध्यगामिन्यो महानद्यः का इत्याह—

गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्ताशीताशीतोदानारीनरकान्तासुवर्णकूलारूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥२०॥

गङ्गा च सिन्धुश्च रोहिच्च रोहितास्या च हरिच्च हरिकान्ता च शीता च शीतोदा च नारी च नरकान्ता च सुवर्णकूला च रूप्यकूला च रक्ता च रक्तोदा च ताः। इतरेतरयोगे द्वन्द्वः। ता एता-

---

आयुवाली हैं। आज्ञा और ऐश्वर्य को छोड़कर अन्य जो स्थान आयु, वीर्य, परिवार, भोग आदिक जिनके इन्द्र समान हैं वे सामानिक देव कहलाते हैं। समान शब्द होने से अर्थ में इकण् प्रत्यय आकर सामानिक बना है। परिषत् तीन प्रकार की होती है बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर। परिषत् में रहने वाले देव परिषत्क कहलाते हैं। ये देवियां सामानिक और परिषत्क देवों के साथ रहती हैं। मुख्य कमल पर देवी और उस कमल के परिवार भूत कमलों पर सामानिक तथा परिषत्क देव निवास करते हैं। उनमें हिमवन, महाहिमवन् और निषध संबंधी सरोवरों के कमलों पर रहने वाली श्री आदि तीन दिक्कुमारी देवियां सौधर्म इन्द्र की आज्ञानुवर्त्तिनी हैं। और नील, रुक्मि तथा शिखरी पर्वत संबंधी सरोवरों के कमलों पर रहने वाली कीर्त्ति आदि तीन दिक् कुमारी देवियां ईशान इन्द्र की आज्ञानुवर्त्तिनी हैं। जैसे जम्बूद्वीप के कुलाचल संबंधी ये देवियां हैं वैसे ही धातकी खण्ड और पुष्करार्ध संबंधी हिमवन आदि के सरोवर संबंधी कमलों पर भी श्री आदि देवियां हैं।

प्रश्न—उक्त भरतादि क्षेत्रों के मध्य में होनेवाली महानदियां कौनसी हैं ?

उत्तर—अब इसीको बताते हैं—

सूत्रार्थ—गंगा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हरित् हरिकांता, शीता, शीतोदा, नारी नरकान्ता, सुवर्णकूला, रुप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा ये नादियां उन भरतादि क्षेत्रों के मध्य में बहती हैं।

श्चतुर्दश सरितो नद्यो न वाप्यः। तेषां भरतादिक्षेत्राणां मध्यं तन्मध्यं तन्मध्येन वा गच्छन्तीति तन्मध्यगाः। इत्यनेन नान्यथा गतिर्गङ्गासिन्धुप्रभृतीनां सरितामस्तीत्या वेदितं भवति। सर्वासामेकत्र क्षेत्रे प्रसङ्गनिवृत्यर्थं दिग्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं चाह—

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥२१॥

पूर्वसूत्रपाठक्रमेणैकस्मिन् क्षेत्रे द्वयोर्द्वयोः सरितोर्या पूर्वाः सरितस्ताः पूर्वसमुद्रं गच्छन्तीति पूर्वगा एवेति कथ्यन्ते। इतरासां दिग्विभागप्रतिपत्त्यर्थमाह—

शेषास्त्वपरगाः ॥२२॥

द्वयोर्द्वयोः सरितोर्मध्ये याः पूर्वाः पूर्वगा उक्तास्ताभ्योऽन्या उत्तरोत्तराः सरितः शेषाः। तुः पुनरर्थे। शेषाः पुनरपरं पश्चिमसमुद्रं गच्छन्तीत्यपरगा इति निरूप्यन्ते। तत्र पद्महृदप्रभवा पूर्वस्मा-

---

गंगा आदि पदों में द्वन्द्व समास है। ये चौदह नदियां हैं ये वापिका नहीं हैं। उन भरतादि क्षेत्रों के मध्य में जो जाती हैं वे तन्मध्यगा कही जाती हैं। गंगा सिंधु आदि नदियों का अन्यत्र या अन्य प्रकार से गमन नहीं होता इस बात को तन्मध्यगा शब्द से बतलाया है।

सभी नदियां एक क्षेत्र में होने का प्रसंग आने पर उसको दूर करने के लिये उन नदियों के बहने की दिशा विशेष बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—दो नदियों में से पूर्व पूर्व की नदी पूर्व समुद्रगामी है।

सूत्र पाठ के क्रम से एक क्षेत्र में जो दो नदियां हैं उनमें पूर्व की नदी पूर्व समुद्र में जाती है, अतः पूर्वगा कहलाती है।

इतर नदियों का दिशा विभाग कहते हैं—

सूत्रार्थ—शेष नदियां अपर समुद्र में जाती है। दो दो नदियों में से जो पूर्व पूर्व की नदी है वे पूर्वगा हैं और उनसे अन्य नदियां शेष कहलाती हैं। तु शब्द पुनः अर्थ में है। पुनः शेष नदियां अपर समुद्र में जाती हैं अतः "अपरगाः" कहलाती हैं। अब इन नदियों का निर्गम आदि बतलाते हैं—पद्म सरोवर में उत्पन्न हुई गंगा नदी उस

त्तोरणद्वारान्निर्गता गङ्गा। अपरस्मान्निर्गता सिन्धुः। भरतक्षेत्रगामिन्यावेते। तथोत्तरस्मात्तोरण-द्वारान्निर्गता रोहितास्या अपरगा। महापद्मप्रभवा दक्षिणात्तोरणद्वारान्निर्गता रोहित्पूर्वगा, हैमवतक्षेत्र-वर्तिन्याविमे। तदुदीच्यात्तोरणद्वारान्निर्गता हरिकान्ताऽपरगा। तिगिञ्छह्रदप्रभवा दक्षिणात्तोरण-द्वारान्नि:सृता हरित्पूर्वगा, हरिवर्षगे एते। तदुत्तरात्तोरणद्वारान्निर्गता शीतोदाऽपरगा केसरिह्रदप्रभवा दक्षिणद्वारान्निर्गता शीता पूर्वगा, ते विदेहक्षेत्रवर्तिन्यौ। तदुदीच्यात्तोरणद्वारानि:सृता नरकान्ताऽपरगा। महापुण्डरीकह्रदप्रभवा दक्षिणद्वारान्निर्गता नारी पूर्वगा, रम्यकक्षेत्रनिवासिन्यावेते। तदुदीच्यात्तोरण-द्वारान्निर्गता रूप्यकूलाऽपरगा, पुण्डरीकह्रदप्रभवाऽपाच्यात्तोरणद्वारान्निर्गता सुवर्णकूला पूर्वगा, ते हैरण्यवतक्षेत्रगे। तत्पूर्वात्तोरणद्वारान्निर्गता रक्ता, तत्प्रतीच्यात्तोरणद्वारान्निर्गता रक्तोदा, ते ऐरावत-क्षेत्रनिवासिन्यौ बोद्धव्ये। तासां परिवारनदीप्रमाणप्रतिपादनार्थमाह—

सरोवर के पूर्व तोरण द्वार से निकलती है। उसीके अपर तोरण द्वार से सिन्धु नदी निकलती है, ये दोनों गंगा सिंधु नदियां भरत क्षेत्र में बहती हैं। उसी पद्म सरोवर के उत्तर तोरण द्वार से रोहितास्या नदी निकलती है और पश्चिम समुद्र में जाती है। महापद्म सरोवर में उत्पन्न हुई रोहित् नदी दक्षिण तोरण द्वार से निकलती है और पूर्व समुद्र में प्रविष्ट होती है। ये दोनों रोहितास्या रोहित नदियां हैमवत क्षेत्र में बहती हैं। उसी महापद्म सरोवर में उत्पन्न हुई हरिकान्ता नदी उसके उत्तर तोरण द्वार से निकलती है और पश्चिम समुद्र में जाती है। तिगिञ्छ सरोवर में उत्पन्न हुई हरित् नदी उसी के दक्षिण तोरण द्वार से निकलती है और पूर्व समुद्र में जाती है। ये दोनों हरिक्षेत्र में बहती हैं। उसी तिगिञ्छ सरोवर के उत्तर तोरण द्वार से निकली शीतोदा नदी पश्चिम समुद्र में जाती है। केसरी सरोवर में उत्पन्न हुई शीता नदी उसके दक्षिण तोरण द्वार से निकलती है और पूर्व समुद्र में जाती है। ये दोनों विदेह क्षेत्र में बहती हैं। उसी केसरी सरोवर के उत्तर तोरण द्वार से नरकान्ता नदी निक-लती है और पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट होती है। महापुण्डरीक सरोवर में उत्पन्न हुई नारी नदी उसके दक्षिण तोरण द्वार से निकलती है और पूर्व समुद्र में प्रविष्ट हो जाती है। ये दोनों नदियां रम्यक क्षेत्र में बहती हैं। उसी महापुण्डरीक सरोवर के उत्तर तोरण द्वार से रुप्यकूला नदी निकलती है और पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट होती है। पुण्डरीक ह्रद में उत्पन्न हुई सुवर्णकूला नदी उसके दक्षिण द्वार से निकलती है और पूर्व समुद्र में जाती है। ये दोनों हैरण्यवत क्षेत्र में बहती हैं। उसी ह्रद के पूर्व तोरण द्वार से रक्ता नदी निकलतो है, उसीके पश्चिम तोरण द्वार से रक्तोदा निकलती है, ये दोनों ऐरावत क्षेत्र में बहती हैं।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥

चतुर्भिरधिकानि दश चतुर्दश । नदीनां सहस्राणि नदीसहस्राणि । चतुर्दश च तानि नदीसहस्राणि च चतुर्दशनदीसहस्राणि । तैः परिवृताः परिवेष्टिताश्चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृताः । गङ्गा च सिन्धुश्च गङ्गासिन्धू । ते आदी यासां नदीनां ता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यो वेदितव्याः । पूर्वगाणां चापरगाणां चोभयानां संग्रहार्थं गङ्गासिन्ध्वादिग्रहणं क्रियते । अन्यथाऽनन्तरत्वादपरगाणामेवात्र ग्रहणं स्यात् । सिन्धुग्रहणमपनीय गङ्गादय इति चोच्यमाने पूर्वगाणामेव ग्रहणं भवेदिति सिन्धुग्रहणं कृतम् । प्रकरणवशात् सरितां ग्रहणे सिद्धे उत्तरत्र प्रतिक्षेत्रं द्विगुणा द्विगुणा इत्यभिसंबन्धार्थं नदीग्रहणं कृतम् । ततो गङ्गासिन्ध्वोरुक्तो यश्चतुर्दशनदीसहस्रपरिमाणः परिवारः स उत्तरोत्तरक्षेत्रे द्विगुणो द्विगुण आविदेहात्तत उत्तरत्रैरावतपर्यन्तमर्धहीन इति सिद्धम् । तत्र तावद्भरतस्य विस्तारप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

अब उन नदियों की परिवार नदियों की संख्या बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—गंगा सिन्धु आदि नदियां चौदह हजार परिवार नदियों से युक्त हैं ।

चतुर्दश नदी सहस्र पद में तत्पुरुष तथा कर्मधारय समास है । पुनः परिवृता पद के साथ तत्पुरुष समास हुआ है । "गंगा–सिंध्वादय" पद में प्रथम द्वन्द्व समास होकर फिर बहुब्रीहि समास हुआ है । पूर्वगा और पश्चिमगा दोनों का संग्रह करने के लिये गंगा सिंध्वादि पद लिया है । यदि गंगा शब्द नही लेते तो निकट होने से पश्चिम समुद्र गामी नदियों का ही ग्रहण होता, और यदि सिंधु शब्द नहीं लेते "गंगादयः" ऐसा पद कहते तो पूर्व समुद्रगामी नदियों का ही ग्रहण होता, इसलिये गंगा के साथ सिंधु पद का भी ग्रहण किया गया है । प्रकरण वश से यद्यपि नदी शब्द नहीं लेवें तो नदी का अर्थ निकलता है, फिर भी आगे प्रत्येक क्षेत्र में दुगुणा दुगुणापने का संबंध जोड़ना है इसलिये इस सूत्र में "नद्यः" नदी पद का ग्रहण किया है । उससे फलितार्थ निकलता है कि गंगा और सिंधु का जो चौदह हजार नदी परिवार कहा है, वह उत्तरोत्तर के क्षेत्रों में दुगुणा दुगुणा होता है, यह क्रम विदेह क्षेत्र तक है, पुनः आगे ऐरावत क्षेत्र तक आधा आधा हीन होता गया है ।

भावार्थ—गंगा और सिंधु का नदी परिवार चौदह हजार नदी रूप है, रोहित रोहितास्या का नदी परिवार अट्ठावीस हजार नदी स्वरूप है । हरित् हरिकान्ता का छप्पन हजार नदी परिवार है । शीता शीतोदा का एक सौ बारह हजार नदी परिवार है । पुनः घटता हुआ नारी नरकान्ता का छप्पन हजार नदी परिवार है । सुवर्णकूला

भरतः षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकान्नविंशति-भागा योजनस्य ।।२४।।

भरतो भरतवर्ष इत्यर्थः। षड्भिरधिका विंशतिः षड्विंशतिरधिका येषु तानि षड्विंशानि। तदस्मिन्नधिकमिति सद्दशान्ताड्ड इति वर्तमाने विंशतेश्चेत्यनेन डप्रत्ययः। योजनानां शतानि योजन-शतानि। पञ्च च तानि योजनशतानि च पञ्चयोजनशतानि। षड्विंशानि पञ्चयोजनशतानि विस्तार उदगपाङ्मध्यविष्कम्भो यस्यासौ षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारो भरतो वेदितव्यः। किमेतावानेव विस्तारो नेत्याह—षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्येति। एकेनोना विंशतिरेकान्नविंशतिः। एकान्न-विंशतिश्च ते भागाश्चैकान्नविंशतिभागा.। कति ? षट्। ते च कस्य ? योजनस्य। एकोनविंशति-भागीकृतस्य प्रमाणयोजनस्य षड्भागा इत्यर्थः। परिभाषानिष्पन्नैः पञ्चभिर्योजनशतैरेकं प्रमाण-योजनं भवति। तेन क्षेत्रादीनां विस्तारादयः प्रमीयन्ते। भरतविष्कम्भस्योत्तरत्र सूत्रद्वारेण प्रतिपा दनादिदमिह सूत्रमनर्थकमिति चेन्न—जम्बूद्वीपनवतिशतभागस्येयत्ताप्रतिपादनार्थत्वादेतस्य सूत्रस्य

रुप्यकूला का अट्ठावीस हजार नदी परिवार है और रक्ता रक्तोदा का चौदह हजार नदी परिवार है।

अब भरत क्षेत्र के विस्तार का प्रमाण बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—भरत क्षेत्र पांच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग प्रमाण विस्तार वाला है। भरत शब्द से भरत नाम का क्षेत्र लेना। छह से अधिक बीस छब्बीस है, और छब्बीस से अधिक है संख्या जिनमें वे षड्वीश हैं। यहां पर "तदस्मिन्नधिकमिति सद्द्शान्ताड्डः" यह सूत्र वर्त्तमान था किन्तु "विंशतेश्च" इस सूत्र से विंशति शब्द के आगे ड प्रत्यय आया उससे 'ति' का लोप होकर "विंशः" बना है।" पंचयोजन शत विस्तारः, पद में क्रमशः तत्पुरुष, कर्मधारय और बहुव्रीहि समास हुआ है। इसप्रकार उत्तर दक्षिण में भरत क्षेत्र पांच सौ छब्वीस योजन विस्तार युक्त है। इतना ही विस्तार नहीं किन्तु एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग प्रमाण अधिक है। यहां योजन से प्रमाण योजन लेना पांच सौ उत्सेध योजनों का एक प्रमाण योजन होता है इस प्रमाण योजन से क्षेत्रादि के विस्तार आदि नापे जाते है।

शंका—भरत का विस्तार आगे [३२ वें सूत्र में] सूत्र द्वारा कहा जायगा अतः यह सूत्र व्यर्थ है ?

वक्ष्यमाणसूत्रस्य चैतत्सङ्ख्यानयनोपायप्रतिपत्त्यर्थत्वात् । इतरेषां पर्वतक्षेत्राणां विष्कम्भविशेष-प्रतिपत्त्यर्थमाह—

तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ।।२५।।

ततो भरताद्द्विगुणो द्विगुणो विस्तारो येषां ते तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा । वीप्साभिव्यक्त्यर्थं द्विगुणशब्दस्य द्विरुच्चारणं कृतम् । वर्षधरा: पर्वता: । वर्षा: क्षेत्राणि । वर्षधराश्च वर्षाश्च वर्षधर-वर्षा: । ते च किमव साना इत्याह—विदेहान्ता: । विदेहोऽन्त: पर्यन्तो येषां ते विदेहान्ता: पूर्वोक्त-विशेषणविशिष्टा वेदितव्या: । भरताद्द्विगुणो हिमवान्वर्षधरस्त तोऽपि द्विगुणो हैमवतो वर्षस्ततो द्विगुणो महाहिमवान्वर्षधरस्ततो द्विगुणो हरिवर्षस्ततो द्विगुणो निषधो वर्षधरस्ततोऽपि द्विगुणो विदेह इत्येतस्यार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थं द्वन्द्वेऽनल्पाचोऽपि वर्षधरशब्दस्यादौ वचनं कृतं विदेहान्तवचनं चेति तात्पर्यार्थ: । अथोत्तरा: कीदृशा इत्याह—

समाधान—ऐसी बात नहीं है । जम्बू द्वीप के एक सौ नव्वे वां भाग इतने प्रमाण वाला है ऐसा प्रतिपादन करने वाला यह [२४ वां] सूत्र है और आगे का सूत्र कहे गये विस्तार की संख्या को लाने के उपाय स्वरूप है, अत: यह सूत्र व्यर्थ नहीं है ।

अन्य पर्वत तथा क्षेत्रों के विष्कंभ की प्रतिपत्ति के लिये आगे का सूत्र अवतरित होता है—

सूत्रार्थ—उस भरत क्षेत्र से दुगुणे दुगुणे विस्तार युक्त पर्वत और क्षेत्र विदेह तक जानने चाहिये ।

उस भरत से दूना दूना है विस्तार जिनका वे द्विगुण द्विगुण विस्तार वाले कह-लाते हैं, वीप्सा अर्थ के द्योतन के लिये द्विगुण शब्द दो बार रखा है । वर्षधर पर्वत कहलाते हैं और क्षेत्र को वर्ष कहा है । इनमें द्वन्द्व समास है । कहां तक यह क्रम है इसके लिये विदेहान्ता कहा है । विदेह पर्यन्त उक्त दूना दूना क्रम जानना चाहिये । भरत से दूने विस्तार वाला हिमवन् कुलाचल है, उससे दूना हैमवत क्षेत्र है, उससे दुगुणा महाहिमवन् पर्वत है, उससे दूना हरिक्षेत्र है, उससे दुगुणा निषध पर्वत है, उससे दूना विदेह है । "वर्षधर वर्षा:" इसमें द्वन्द्व समास है और द्वन्द्व समास में जिस पद में अल्प स्वर-अक्षर होते हैं उस पद का पूर्व निपात होता है यह सामान्य नियम है इस दृष्टि से वर्ष पद प्रथम होना चाहिये किन्तु दूने दूने का क्रम वर्षधर से प्रारंभ होकर विदेह तक चलता है इस अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये वर्षधर पद पहले रखा है और "विदेहान्ता:" पद भी दिया है ।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥२६॥

उत्तरा मेरोरुत्तरदिग्भागवर्तिन ऐरावतादयो नीलपर्यन्ता उच्यन्ते। ते च दक्षिणैर्भरतादिभिस्तुल्या विस्तारादिभिस्समाना दक्षिणतुल्या इत्येवं वेदितव्याः। ऐरावतो भरतेन तुल्यः। शिखरी हिमवता तुल्यः। हैरण्यवतो हैमवतेन तुल्यः। रुक्मी महाहिमवता तुल्यः। रम्यको हरिणा तुल्यः। नीलो निषधेन तुल्य इत्यर्थः इयं च तुल्यता पूर्वोक्तसर्वह्रदपुष्करादीनामपि योज्या। उक्तेषु क्षेत्रेषु यत्र मनुष्याणामुपचयापचयौ स्तस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥

भरतश्चैरावतश्च भरतैरावतौ। तयोर्भरतैरावतयोः। क्षेत्रयोरधिकरणनिर्देशोऽयम्। वृद्धिरुत्कर्षः। ह्रासोऽपकर्षः वृद्धिश्च ह्रासश्च वृद्धिह्रासौ। प्रत्येकं षट्समाः कालविभागा ययोरुत्सर्पिण्य-

---

विदेह के आगे के पर्वतादि कैसे हैं ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—उत्तरवर्ती पर्वतादि दक्षिण के समान हैं। मेरु के उत्तर दिशा संबंधी ऐरावतादि नील तक के क्षेत्र और पर्वत 'उत्तरा' शब्द से ग्रहण होते है। वे दक्षिण संबंधी भरतादि के विस्तार आदि के समान हैं ऐसा जानना चाहिये। अर्थात् ऐरावत भरत के समान है। शिखरी हिमवत् पर्वत के समान विस्तार वाला है। हैरण्यवत क्षेत्र हैमवत के समान विस्तार युक्त है। रुक्मी पर्वत महाहिमवान के समान विष्कंभ वाला है। रम्यक क्षेत्र हरिक्षेत्र के समान है नील पर्वत निषध पर्वत के समान विस्तार वाला है। यह जो समानता है वह पूर्वोक्त सरोवर कमल आदि में भी लगाना चाहिये।

उक्त क्षेत्रों में से जिनमें मनुष्यों के उपचय अपचय [बुद्धि शक्ति आदि संबंधी] होते हैं उन क्षेत्रों को कहते हैं—

सूत्रार्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्रों में छह काल विभाग वाले उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी द्वारा वृद्धि और ह्रास होता रहता है।

भरत ऐरावत पदों का तथा वृद्धि ह्रास पदों का द्वन्द्व समास है। "भरतैरावतयोः" यह सप्तमी विभक्ति है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में प्रत्येक में छह कालों का विभाग है उन काल विभाग द्वारा जो उपभोग आदि से वृद्धि स्वभाव वाली और

वसर्पिण्योस्ते षट्समे। ताभ्यां षट्समाभ्यामुपभोगादिभिरुत्सर्पणशीला उत्सर्पिणी । अवसर्पणशीला अवसर्पिणी। उत्सर्पिणी चावसर्पिणी चोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालौ। ताभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्। हेतुनिर्देशोऽयम्। तत्राऽवसर्पिणी षड्विधा—सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुःषमा, दुःषमसुषमा, दुःषमा, अतिदुःषमा चेति। तथोत्सर्पिण्यप्यतिदुःषमाद्या सुषमसुषमान्ता षड्विधैव। तत्र चतुःसागरोपमकोटी-कोटीप्रमिता सुषमसुषमा। तदादौ मनुष्या उत्तरकुरुमनुष्यतुल्याः। ततो हानिक्रमेण त्रिसागरोपम-कोटीकोटीपरिमाणा सुषमा भवति। तदादौ मनुजा हरिवर्षमनुष्यसमाः। तथा द्विसागरोपमकोटी-कोटीप्रमाणा सुषमदुःषमा भवति। तदादौ मनुष्या हैमवतकजनसमानाः। ततो हानिक्रमेण द्वाचत्वारिंश द्वर्षसहस्रोनैकसागरोपमकोटीकोटीपरिमाणा दुःषमसुषमा स्यात्तदादौ मनुष्या विदेहजनसमानाः। ततः क्रमहानौ सत्यामेकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणा दुःषमा भवति। तदादौ नृणामायुर्विंशत्यधिकं वर्षशतम्। सप्तहस्ता उत्सेधः। ततो हानिक्रमेणैकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणातिदुःषमा भवति। तदादौ नराणामायु-र्विंशतिवर्षाणि। हस्तद्वयमङ्गुलषट्कं चोत्सेधः। अस्य विपरीतक्रमा उत्सर्पिणी वेदितव्या। एवमुक्तो-

---

हानि स्वभाववाली है वह क्रमशः उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कहलाती है। इसमें पंचमी विभक्ति है। अवसर्पिणी छह प्रकार की है सुषम सुषमा, सुषमा, सुषम दुःषमा, दुःषम सुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा। तथा उत्सर्पिणी के अतिदुःषमा से लेकर सुषम सुषमा तक छह प्रकार हैं। सुषम सुषमा काल चार कोडाकोडी सागर का है। उसके प्रारंभ में उत्तरकुरु भोगभूमि के मनुष्यों के समान मनुष्य होते हैं।

आगे आगे अन्त तक हानिक्रम है। सुषमा काल तीन कोडाकोडी सागर का है, इसके प्रारम्भ में मनुष्य हरिवर्ष नाम की मध्यम भोगभूमि के मनुष्यों के समान होते हैं। दो कोडा कोडी सागर प्रमाण वाला सुषम दुःषमा काल है उसके प्रारम्भ में मनुष्य हैमवतक नाम की जघन्य भोगभूमिजों के समान होते हैं। उसके आगे हानि क्रम चलता ही रहता है। इसके अनंतर बियालीस हजार वर्ष कम एक कोडा कोडी सागर का दुःषम सुषमा नाम का काल आता है, उसके आदि में मनुष्य विदेह के समान होते हैं। उसके बाद क्रम से हानि होने पर इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमा काल आता है, उसके आदि में मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष की होती है शरीर सात हाथ ऊंचा रहता है। उसके बाद क्रम से हानि होकर इक्कीस हजार वर्ष का छठा अति-दुःषमा काल आता है, उसके प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु बीस वर्ष की और शरीर ऊंचाई दो हाथ छह अंगुल की रहती है। इस अवसर्पिणी से विपरीत क्रम उत्सर्पिणी

त्सर्पिण्यवसर्पिण्योस्समुदितयोः कल्प इति संज्ञा भवति । ततः षट्कालयोत्सर्पिण्याऽवसर्पिण्या च हेतु भूतया भरते ऐरावते च लोकानामुपभोगायुः परिमाणोत्सेधादिवृद्धिह्रासौ भवत इति समुदायार्थः । अथेतरासु भूमिषु काऽवस्थेत्याह—

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥

भूमिशब्देन तज्जातलोका उपचारादुच्यन्ते । ताभ्यां भरतैरावताभ्यामन्या भूमयोऽवस्थित-कालत्वादवस्थिताः । उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यसम्भवे तत्र जनानां वृद्धिह्रासाभावादित्यर्थः । किं स्थितयस्त-न्निवासिनो जना इत्याह—

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ॥ २९ ॥

एकं च द्वे च त्रीणि चैकद्वित्रीणि । एकद्वित्रीणि च तानि पल्योपमानि चैकद्वित्रिपल्योपमानि । तानि यथासङ्ख्येनोत्कृष्टा स्थितिर्जीवितपरिमाण येषां नराणां ते एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयः । हैमवते

में होता है । इन दोनों उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल मिलकर कल्प संज्ञा वाला काल बनता है । इसप्रकार छह काल वाले उत्सर्पिणी अवसर्पिणी द्वारा भरत और ऐरावत क्षेत्र में लोकों की आयु, उपभोग, उत्सेध आदि में वृद्धि तथा ह्रास होता है ।

इतर भूमियों में क्या व्यवस्था है यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—उन भरत ऐरावत क्षेत्रों को छोड़कर शेष भूमियां अवस्थित हैं ।

भूमि शब्द से उसमें होनेवाले लोक उपचार से ग्रहण किये जाते हैं । उन भरत ऐरावतों से इतर भूमियां अवस्थित काल वाली हैं अतः अवस्थित हैं, अर्थात् उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल उक्त क्षेत्रों में नहीं है अतः वहां के लोकों के आयु आदि में हानि वृद्धि नहीं होती है ।

अब प्रश्न होता है कि वहां निवास करने वाले जीवों की आयु कितनी है ? सो इसका उत्तर अग्रिम सूत्र द्वारा देते हैं—

सूत्रार्थ—एक पल्य, दो पल्य, तीन पल्य प्रमाण क्रम से आयुवाले हैमवतक, हरिवर्षक और दैवकुरवक मनुष्य होते हैं । एक आदि पदों का द्वन्द्व गर्भित कर्मधारय युक्त बहुव्रीहि समास है । एक दो और तीन पल्य प्रमाण उत्कृष्ट आयु है जिनकी वे मनुष्य एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयः कहलाते हैं । हैमवत क्षेत्र में होनेवाले मनुष्य

भवा मनुष्या हैमवतकाः । हरिवर्षे भवा हारिवर्षका. । देवकुरुषु भवा दैवकुरवकाः । हैमवतकाश्च हारिवर्षकाश्च दैवकुरवकाश्च हैमवतक हारिवर्षकदैवकुरवकाः । एकादयः सङ्ख्याशब्दास्त्रयो हैमवतकादयश्च त्रयस्तत्र यथासङ्ख्यमभिसम्बन्धः क्रियते । तत्र पञ्चसु हैमवतेषु सुषमदुःषमा सदाऽवस्थिता । तत्रत्या जना उत्कर्षेणैकपल्योपमायुषो जघन्येन पूर्वकोट्यायुषो द्विचापसहस्रोत्सेधाश्चतुर्थभक्ताहारा नीलोत्पलवर्णाः । पञ्चसु हरिवर्षेषु सुषमा सदावस्थिता । तत्र नरा उत्कर्षेण द्विपल्योपमायुषो जघन्येनैकपल्यायुषश्चतुश्चापसहस्रोच्छ्रायाः षष्ठभक्ताहाराः शङ्खवर्णाः । पञ्चसु देवकुरुषु सुषमसुषमा सदावस्थिता । तत्र लोका उत्कर्षेण त्रिपल्यायुषो जघन्येन द्विपल्योपमायुषः षट्चापसहस्रोत्सेधा अष्टमभक्ताहाराः कनकवर्णाः । ततो जघन्यमध्यमोत्कृष्टभोगभूमिषु मनुजास्तिर्यञ्चश्च समायुषो न सन्तीति वेदितव्यम् । अथोत्तराः किंस्थितय इत्याह—

हैमवतक कहलाते हैं, हरिवर्ष मे होनेवाले हारिवर्षक और देवकुरु में होने वाले दैवकुरुवक कहलाते हैं । इन पदों में द्वन्द्व समास है । एक आदि संख्या वाची तीन शब्द हैमवतक आदि तीन के साथ क्रम से संबद्ध हैं । उनमें पांच हैमवतों में [ढाई द्वीप संबंधी] सुषम दुःषमा काल सदा अवस्थित है । वहां के लोग उत्कृष्ट से एक पल्य और जघन्य से पूर्व कोटी आयुवाले होते हैं, दो हजार धनुष ऊंचे शरीर वाले, एक दिन के अंतराल से भोजन करने वाले होते हैं, इनका नील कमलवत् वर्ण होता है । पांचों ही हरिवर्ष क्षेत्रों में सुषमा काल सदा अवस्थित है उनमें उत्कृष्ट से दो पल्य की और जघन्य से एक पल्य की आयु वाले मनुष्य होते हैं चार हजार धनुष ऊंचे, दो दिनों के बाद आहार करने वाले तथा शंखवत् धवल वर्ण वाले होते हैं । पांच देवकुरु में सुषम सुषमा काल सदा अवस्थित है । उनमें लोक उत्कृष्ट से तीन पल्य और जघन्य से दो पल्य की आयुवाले हैं । छह हजार धनुष ऊंचे, तीन दिन बाद भोजन करने वाले और सुवर्ण वर्ण वाले हैं । अतः जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भोग भूमियों में मनुष्य और तिर्यंच समान आयुवाले नहीं होते यह सिद्ध होता है (यहां पर विशेष ज्ञातव्य यह है कि राजवार्त्तिक ग्रन्थ में इन भोगभूमिजों की जघन्य उत्कृष्ट आयु नहीं बताई अर्थात् पूर्व कोटी से लेकर पल्य तक की आयु का कथन उक्त ग्रन्थ में नहीं है ।)

[अढाई द्वीपों के शाश्वत भोगभूमि संबंधी विवरण का चार्ट आगे देखिये]

तथोत्तराः ॥३०॥

तेन प्रकारेण तथा। मेर्वपेक्षयोत्तरदिग्भागवर्तिन उत्तरा उच्यन्ते। यथैव दक्षिणा हैमवतकादयो व्याख्यातास्तथैवोत्तरा हैरण्यवतकादयो नरा विज्ञेयाः। हैरण्यवतका मनुष्या हैमवतकैर्नरै-

अढ़ाई द्वीपों के शाश्वत भोगभूमि संबंधी विवरण

पांच देवकुरु	पांच उत्तरकुरु	पांच हरिवर्ष	पांच रम्यक क्षेत्र	पांच हैमवत	पांच हैरण्यवत
उत्तम भोग भूमि	उत्तम भोग भूमि	मध्यम भोग भूमि	मध्यम भोग भूमि	जघन्य भोग भूमि	जघन्य भोग भूमि
जीवों की आयु ३ पल्य	जीवों की आयु ३ पल्य	जीवों की आयु २ पल्य	जीवों की आयु २ पल्य	जीवों की आयु १ पल्य	जीवों की आयु १ पल्य
ऊंचाई ३ कोस	ऊंचाई ३ कोस	ऊंचाई २ कोस	ऊंचाई २ कोस	ऊंचाई १ कोस	ऊंचाई १ कोस
मनुष्यों का वर्ण सुवर्ण सम	मनुष्यों के शरीर का वर्ण सुवर्ण सम	मनुष्यों के शरीर का वर्ण शुक्ल	मनुष्यों के शरीर का वर्ण शुक्ल	मनुष्यों के शरीर का वर्ण नील	मनुष्यों के शरीर का वर्ण नील
भोजन काल ३ दिन बाद	भोजन काल ३ दिन बाद	भोजन काल २ दिन बाद	भोजन काल २ दिन बाद	भोजन काल १ दिन बाद	भोजन काल १ दिन बाद

उत्तर भाग में कौन स्थिति वाले जीव हैं यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—उत्तर में उसी प्रकार स्थिति वाले जीव होते हैं।

"तेन प्रकारेण तथा" यह तथा शब्द की निष्पत्ति है। मेरु की अपेक्षा उत्तर दिशा में होने वाले "उत्तरा" कहलाते हैं। जैसे दक्षिण के हैमवतक आदि का व्याख्यान किया है वैसे ही उत्तर के हैरण्यवतक आदि मनुष्य होते हैं। हैरण्यवतक मनुष्य हैम-

स्तुल्याः । राम्यका हारिवर्षकैस्तुल्याः । औत्तरकुरवका दैवकुरवकैस्तुल्या ज्ञेयाः । विद्याधराणां पूर्वकोटिरायुस्तावदवसर्पति यावद्विंशत्यधिकं वर्षशतं भवति । प्रकृष्टात्पञ्चविंशत्यधिक-पञ्चशतचापोत्सेधात्तावदवसर्पणं यावत्सप्तहस्तवपुषो भवन्ति । न ततो हीयते चायुरुत्सेधश्चेत्ययमत्र विशेषो द्रष्टव्यः । विदेहेषु किंस्थितिका लोका इत्याह—

विदेहेषु सङ्ख्येयकालाः ॥ ३१ ॥

सङ्ख्येयो गणनाविषयः कालो जीवितपरिमाणं येषां नराणा ते सङ्ख्येयकालाः । सर्वेषु विदेहेषु कालः सुषमदुःषमान्तोपमः सदाऽवस्थितः । मनुष्याश्च पञ्चविशत्यधिकपञ्चधनुःशतोत्सेधा नित्याहाराः । उत्कर्षेणैकपूर्वकोटिस्थितिका जघन्येनान्तर्मुहूर्तायुष इत्यत्र व्याख्येयम्—

पुव्वस्स दु परिमाणं सदरिखलु कोडिसदसहस्साइं ।
छप्पण्ण च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥

(७०५६००००००००००)

वतक के मनुष्यों के समान होते हैं । राम्यक मनुष्य हारिवर्षक मनुष्यों के समान होते है । उत्तरकुरु के मनुष्य देवकुरु के मनुष्य के समान हैं । विद्याधर मनुष्यों की आयु उत्कृष्ट तो पूर्व कोटी प्रमाण है इससे तब तक घटती आयु है जबतक कि एक सौ बीस वर्ष प्रमाण तक होती है । उन विद्याधरों के शरीर की ऊंचाई उत्कृष्ट से पांच सौ पच्चीस धनुष की है और घटती हुई सात हाथ की है । इस आयु और ऊंचाई से कम आयु ऊंचाई विद्याधरों के नहीं होती । अभिप्राय यह हुआ कि विद्याधर मनुष्यों की आयु एक सौ बीस वर्ष की तो कम से कम है इससे कम आयु नहीं होती तथा ऊंचाई कम से कम सात हाथ को होती है इससे कम नहीं होती ।

विदेहों में कितनी आयु वाले मनुष्य हैं यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—विदेहों में संख्येय वर्ष वाले मनुष्य होते हैं । संख्येय गणना विषयक काल है, जीने का प्रमाण जिन मनुष्यों का संख्येय काल है वे संख्येयकालाः हैं । सर्व विदेहों में सुषम दुःषमा काल सदा अवस्थित है । मनुष्य पाँच सौ पच्चीस धनुष ऊंचे हैं और नित्याहारी हैं, उत्कृष्ट से पूर्वकोटी आयु वाले हैं और जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त आयु वाले हैं । यहां पूर्व कोटी का प्रमाण बतलाते हैं—एक पूर्व कोटी का प्रमाण सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जानना ॥ १ ॥ ७०५६०००००००००० इतनी संख्या प्रमाण पूर्व कोटी का है ।

निर्णयविशेषार्थमुक्तमपि भरतविष्कम्भं प्रकारान्तरेण पुनराह—

भरतस्य विषकम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ॥३२॥

भरततुल्यविस्तारा नवत्यधिकशतपरिमाणा जम्बूद्वीपस्य भागा भवन्तीति नवत्यधिकशतेन जम्बूद्वीपविस्तारस्य योजनशतसहस्रस्य भागे हृते यो लभ्यते एको भागः पूर्वोक्तपरिमाण स भरतस्य विष्कम्भ इति प्रतिपत्तव्यम् । स च षड्विंशपञ्चयोजनशतानि षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्येत्यत्रैव सूत्रे वक्तव्यं न पूर्वमिति चेन्न—यथेदं सूत्रमत्रोत्तरार्थं तथा तत्रोत्तरार्थं कृतमिति नैकसूत्रीकरणम् । तदेवमुक्तो जम्बूद्वीपः स्ववेदिकापरिवृतयोजनलक्षद्वयविष्कम्भलवणोदेन वलयाकृतिना परिक्षिप्तः । स च धातकीखण्डेन चतुर्योजनलक्षविस्तारेण परिवेष्टित इति सामर्थ्यादवगम्यते । वर्षादिस्तु तत्र किंप्रमाणो मीयत इति तत्प्रति पत्त्यर्थमाह—

भरत का विष्कंभ प्रकारान्तर से निर्णय विशेष के लिये पुनः कहते हैं—

सूत्रार्थ—भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप के एक सौ नब्बेवां भाग प्रमाण है ।

जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन प्रमाण है, उसमें एक सौ नब्बे का भाग दो तो जो भाग आयेगा वह भरत के समान है, भरत क्षेत्र का विष्कंभ इतने प्रमाण वाला जानना चाहिये ।

शंका—पांच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में छह भाग प्रमाण है ऐसा पहले सूत्र में जो कहा गया है उसको इस सूत्र में [३२ वें में] कहना चाहिये, पहले नहीं ?

समाधान—इस तरह नहीं कहना, जैसे यहां यह सूत्र उत्तरार्थ है वैसे वहां उत्तरार्थ है अतः एक सूत्र नहीं बनाया है ।

इसप्रकार जम्बूद्वीप का कथन किया । यह द्वीप अपनी वेदिका से वेष्टित है तथा दो लाख योजन वाले गोल लवण समुद्र से वेष्टित है । वह लवणोदधि चार लाख योजन प्रमाण वाले धातकी खण्ड से परिवृत है ऐसा सामर्थ्य से जाना जाता है ।

उस धातकीखण्ड में क्षेत्रादि किस प्रमाण से नापते हैं इस बातको जानने के लिये सूत्र कहते हैं—

द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥

भरतादयो द्वौ वारौ मीयन्त इत्यध्याह्रियमाणक्रियाभिद्योतनार्थं सङ्ख्याया अभ्यावृत्तौ कृत्वसीति वर्तमाने द्वित्रिचतुर्भ्यः सुजित्यनेन सुच् क्रियते। यथा द्विस्तावानयं प्रासादो मीयत इति। जम्बूद्वीपे यत्र यथा जम्बूवृक्षसमूह उक्तस्तत्र तथा धातकीखण्डद्वीपे धातकीखण्डोऽस्ति। ततो धातकीखण्डेनोपलक्षितत्वाद्द्वीपोऽपि धातकीखण्ड इत्यनादिरूढः। स च सामर्थ्यादागमे द्वाभ्यामिष्वाकाराभ्यां दक्षिणोत्तरायताभ्यां योजनसहस्रविष्कम्भचतुर्योजनशतोत्सेधाभ्यां लवणोदकालोदवेदिकास्पर्शिभ्यां पर्वताभ्यां द्विधा विभक्तः पूर्वोऽपरश्चेति। तत्र पूर्वे परे च बहुमध्यदेशभाविनौ मेरू स्थितौ। तदुभयतो भरतौ हिमवन्तौ शेषौ च वर्षवर्षधरौ द्विसङ्ख्यौ चक्राकारसंस्थानौ। जम्बूद्वीपभरतादिद्विगुणविस्तारौ भवतोऽन्यत्र मेरुभ्यां तयोर्जम्बूद्वीपमन्दरादल्पविष्कम्भोत्सेधत्वात्। चतुर्दशाधिकषट्षष्टियोजनशतानि,

---

सूत्रार्थ—धातकी खण्ड में भरतादिक दूने हैं। भरतादिक दो बार मापते हैं इसप्रकार 'मीयन्ते' क्रिया का अध्याहार करना, इसकी प्रगटता के लिये "संख्याया अभ्यावृत्तौ कृत्वसि" इस सूत्र से कृत्वस् प्रत्यय का प्रसंग था किन्तु इसको न करके द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" इस सूत्र से सुच् प्रत्यय किया गया है। जैसे यह प्रासाद दुगुणा नापा जाता है, द्विस्तावानयं प्रासादः" इसमें सुच् होने से संख्या की अभ्यावृत्ति है। वैसे "द्विर्धातकी खण्डे" में संख्या की अभ्यावृत्ति है। इसीको बताते हैं—जहां जम्बूद्वीप में जैसे जम्बू वृक्ष समूह कहा है वैसे वहां धातकी खण्ड द्वीप में धातकी खण्ड है [धातकी वृक्षों का समूह है] उस धातकी खण्ड से [यहां खण्ड शब्द का अर्थ वन है] उपलक्षित होने से द्वीप भी धातकी खण्ड नाम से अनादि रूढ़ है। आगम के सामर्थ्यानुसार इसका विभाग करने वाले दो इष्वाकार पर्वत हैं, ये पर्वत दक्षिण उत्तर लंबे, एक हजार योजन चौड़े, चार सौ योजन ऊंचे हैं, तथा अपने सिरे से लवणोदधि और कालोदधि की वेदिका का स्पर्श करने वाले हैं। इन दो पर्वतों के कारण धातकी खण्ड पूर्व और पश्चिम भाग वाला हो गया है। उन पूर्व और पश्चिम भाग के बहुमध्य में दो मेरु हैं, उन मेरुओं के दोनों तरफ दो भरत, दो हिमवान तथा शेष भी क्षेत्र पर्वत दो दो संख्या वाले हैं। इनका आकार चक्राकार है। ये क्षेत्रादि जम्बूद्वीप के क्षेत्रादि की अपेक्षा दुगुण विस्तार वाले हैं किन्तु मेरु दुगुणे विस्तार वाले नहीं हैं, क्योंकि जम्बूद्वीप के मेरु से ये दो मेरु अल्प विष्कम्भ तथा उत्सेध युक्त हैं। धातकी खण्ड में भरत का अभ्यन्तर विष्कंभ छयासठ सौ चौदह योजन और एक योजन के

द्वादशाधिकशतद्वयीयमेकोनत्रिंशदधिकं योजनस्य भागशतं च (६६१४ १२९/२१२) धातकीखण्डे भरतस्याभ्यन्तरविष्कम्भः। एकाशीत्यधिकपञ्चशतोपेतानि द्वादशयोजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं षट्त्रिंशद्भागाश्च योजनस्य (१२५८१ ३६/२१२) मध्यविष्कम्भः। सप्तचत्वारिंशदधिकपञ्चशतोपेतान्यष्टादशयोजनसहस्राणिद्वादशाधिकशतद्वयीयं पञ्चपञ्चाशदधिकं भागशतं च योजनस्य (१८५४७ १५५/२१२) बाह्यविष्कम्भः। अष्टपञ्चाशदधिकचतुःशतोपेतानि षड्विंशतियोजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं द्वानवतिभागाश्चयोजनस्य (२६४५८ ९२/२१२) हैमवताभ्यन्तरविष्कम्भः। चतुर्विंशत्यधिकशतत्रयोपेतानि पञ्चाशद्योजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं चतुश्चत्वारिंशदधिकं भागशतं च योजनस्य (५०३२४ १४४/२१२) मध्यविष्कम्भः। नवत्यधिकशतोपेतानि चतुःसप्ततियोजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं षण्णवत्यधिकं भागशत च योजनस्य (७४१९० १९६/२१२) हैमवतबाह्यविष्कम्भः। एवं स्ववर्षाद्वर्षश्चतुर्गुण आविदेहात्। स्ववर्षधराच्च वर्षधरश्चतुर्गुण आनिषधात्। उत्तरा दक्षिणतुल्या इति चात्र योज्यम्। यथा धातकीखण्डे तथा पुष्करार्धे च द्वौ मन्दराविष्वाकारौ च तुल्यपरिमाणौ ज्ञेयौ। तत्रैकैकस्य मेरोश्चतुरशीतियोजनसहस्राण्युत्सेधः (८४०००)। योजनसहस्रमवगाहः (१०००)। मेरोर्मूले विष्कम्भः पञ्चनवतियोजनशतानि (९५००)।

दो सौ बारह भागों में से एक सौ उनतीस भाग प्रमाण है [६६१४ १२९/२१२] इसीका मध्य विष्कंभ बारह हजार पांच सौ इक्कासी योजन तथा एक योजन के दो सौ बारह भागों में से छत्तीस भाग प्रमाण है [१२५८१ ३६/२१२] इसीका बाह्य विष्कंभ अठारह हजार पांच सौ सैंतालीस योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागो में से एक सौ पचपन भाग प्रमाण है [१८५४७ १५५/२१२] हैमवत का अभ्यन्तर विष्कंभ छब्बीस हजार चार सौ अट्ठावन योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से बानवे भाग प्रमाण है। [२६४५८ ९२/२१२] उसीका मध्य विष्कंभ पचास हजार तीन सौ चौबीस योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से एक सौ चवालीस भाग प्रमाण है [५०३२४ १४४/२१२] उसीका बाह्य विष्कंभ चोहत्तर हजार एक सौ नव्वे योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से एक सौ छियानवे भाग प्रमाण है [७४१९० १९६/२१२] इसप्रकार अपने क्षेत्र से क्षेत्र विदेह तक चौगुणा चौगुणा है। तथा अपने पर्वत से पर्वत निषध तक चौगुणा चौगुणा है। उत्तरवर्ती क्षेत्रादि दक्षिण के तुल्य होते हैं इस बात को यहाँ भी लगाना चाहिये। जैसे धातकी खण्ड में दो इष्वाकार और दो मेरु हैं वैसे पुष्करार्ध में भी दो इष्वाकार और दो मेरु समान प्रमाण वाले हैं। उनमें एक एक मेरु की ऊंचाई चौरासी हजार योजन है [८४०००] एक हजार योजन अवगाह है [१०००] मेरु का मूल में विस्तार पंचानवे सौ है [९५००] समभूमि

भूमितले विष्कम्भश्चतुर्नवतियोजनशतान्येव (९४००)। अन्यदप्यागमाविरोधेन योजनीयम्। धातकीखंडपरिक्षेपी कालोदः समुद्रष्टङ्कच्छिन्नतीर्थोऽष्टयोजनशतसहस्रविष्कम्भः। कालोदपरिक्षेपी पुष्करद्वीपः षोडशयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भः। तत्र धातकीखंडवर्षाद्यपेक्षया वर्षादीनां द्विगुणत्वप्रसंगे विशेषावधारणार्थमाह—

पुष्करार्धे च ॥३४॥

जम्बूवृक्षस्थानीयसपरिवारपुष्करेणोपलक्षितो द्वीपः पुष्करः। तस्यवलयाकृतिमानुषोत्तरशैलेन विभक्तस्य पुष्करस्यार्धं पुष्करार्धं। तस्मिन्पुष्करार्धे जम्बूद्वीपभरतादयो द्विर्मीयन्त इत्येतस्यार्थस्यात्राभिसम्बन्धार्थश्चशब्दः। तेन यथा धातकीखण्डे जम्बूद्वीपभरतादयो द्विगुणसङ्ख्या व्याख्याता स्तथा पुष्करार्धे च जम्बूद्वीपस्येव भरतादयो द्विगुणसङ्ख्या व्याख्यायन्ते न धातकीखण्डस्येत्येतसिद्धम्। जम्बूद्वीपवक्षारनदीह्रदकुण्डपुष्करादीनां विस्तारो यथा धातकीखण्डे द्विगुणस्तथा पुष्करार्धे च स एव

पर विस्तार चौरानवे सौ है [९४००] अन्य भी जो कथन इन पर्वत क्षेत्रादि का है वह सर्व आगमानुसार लगाना चाहिये—जानना चाहिये। धातकी खण्ड को वेष्टित करके कालोदधि है इसका तीर्थ—तट भाग टांकी से कटे हुए के समान है। यह समुद्र आठ लाख योजन विस्तृत है। कालोदधि को वेष्टित कर पुष्करार्ध द्वीप अवस्थित है, यह सोलह लाख योजन प्रमाण है।

धातकी खण्ड के क्षेत्रादि की अपेक्षा पुष्करार्ध के क्षेत्रादि दुगुणे होने का प्रसंग का निरसन कर विशेष का अवधारण अग्रिम सूत्र द्वारा करते है—

सूत्रार्थ—पुष्करार्ध द्वीप में भी धातकी खण्डवत् दो भरतादिक हैं।

जम्बू वृक्ष के स्थानीय सपरिवार पुष्कर नामा वृक्ष है उससे उपलक्षित द्वीप पुष्कर द्वीप कहलाता है। उस पुष्कर द्वीप के वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत के द्वारा दो भाग हो गये हैं, उन दो भागों में से पहले भाग में भरतादि हैं अतः पुष्करार्ध कहा है। पुष्करार्ध में जम्बूद्वीप के भरतादि से दुगुणपना है इस अर्थ का यहां संबंध कराने के लिये च शब्द आया है। जैसे धातकी खण्ड में जम्बूद्वीप के भरतादिक से दुगुण संख्या कही वैसे पुष्करार्ध में भी जम्बूद्वीप के भरतादि के समान दुगुणी संख्या लेना धातकी खण्ड के समान नहीं लेना। भाव यह है कि जैसे धातकी खण्ड में दो भरत दो हिमवान दो हैमवत् आदि हैं वैसे पुष्करार्ध में भी दो भरत दो हिमवान आदि हैं। जम्बूद्वीप में वक्षार, नदी, कुण्ड, ह्रद, कमल आदि का जैसा विस्तार है और जैसा

द्विगुणः स्यादवगाहोत्सेधौ तत्तुल्यौ ज्ञेयौ । तत्रैकोनाशीत्यधिकपञ्चशतोपेतैकचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं त्रिसप्तत्यधिकं भागशतं च योजनस्य (४१५७९$\frac{१७३}{२१२}$) पुष्करार्धे भरतस्याभ्यन्तर-विष्कम्भः । द्वादशाधिकपञ्चशतोपेतानि त्रिपञ्चाशद्योजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं नवनवत्य-धिकभागशतं च योजनस्य (५३५१२$\frac{१९९}{२१२}$) भरतस्य मध्यविष्कम्भः । षट्चत्वारिंशदधिकचतुःशतो-पेतानि पञ्चषष्टियोजनसहस्राणि द्वादशाधिकशतद्वयीयं त्रयोदशभागाश्च योजनस्य (६५४४६$\frac{१३}{२१२}$) भरतस्य बाह्यविष्कम्भः । एकोनविंशत्यधिकत्रिशतोपेतषट्षष्टिसहस्रान्वितयोजनैकलक्षं द्वादशाधिक-शतद्वयीयं षट्पञ्चाशद्भागाश्च योजनस्य (१६६३१९$\frac{५६}{२१२}$) हैमवताभ्यन्तरविष्कम्भः । एकषष्ट्यधिक-चतुर्दशसहस्रोपेतयोजनलक्षद्वयं द्वादशाधिकशतद्वयीयं षष्ट्यधिकभागशतं च योजनस्य (२१४०६१$\frac{१६०}{२१२}$) हैमवतमध्यविष्कम्भः । चतुरशीत्यधिकसप्तशतोपेतैकषष्टिसहस्रान्वितयोजनलक्षद्वयं द्वादशाधिकशत-द्वयीयं पञ्चाशद्भागाश्च योजनस्य (२६१७८४$\frac{५०}{२१२}$) हैमवतबाह्यविष्कभः । अत्र स्ववर्षाद्वर्षश्चतुर्गुणो वर्षधराच्च वर्षधरश्चतुर्गुणो वेदितव्यः । तथान्यदप्यागमानुसारेण तज्ज्ञैर्योज्यम् । अत्र कश्चिदाह–

धातकी खण्ड में दुगुणा विस्तार है पुष्करार्ध में वही दुगुणा विस्तार लेना [दुगुणा से ज्यादा है] केवल अवगाह और उत्सेध समान है ।

अब इस पुष्करार्ध के भरतादि का विस्तार बतलाते हैं—इकतालीस हजार पांच सौ उन्नासी योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से एक सौ तिहत्तर भाग [४१५७९$\frac{१७३}{२१२}$] प्रमाण पुष्करार्ध के भरत का अभ्यन्तर विष्कंभ जानना चाहिये । इसीका मध्य विष्कंभ त्रेपन हजार पांच सौ बारह योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से एक सौ निन्यानवे भाग प्रमाण है [५३५१२$\frac{१९९}{२१२}$] इसीका बाह्य विस्तार पैंसठ हजार चार सौ छियालीस योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से तेरह भाग प्रमाण है [६५४४६–$\frac{१३}{२१२}$] हैमवत क्षेत्र का अभ्यन्तर विस्तार एक लाख छयासठ हजार तीन सौ उन्नीस योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से छप्पन भाग है [१६६३१९$\frac{५६}{२१२}$] इसी क्षेत्र का मध्य विस्तार दो लाख चौदह हजार इकसठ योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से एक सौ साठ भाग है । [२१४०६१$\frac{१६०}{२१२}$] इसी क्षेत्र का बाह्य विष्कंभ दो लाख इकसठ हजार सात सौ चौरासी योजन और एक योजन के दो सौ बारह भागों में से पचास भाग प्रमाण है [२६१७८४$\frac{५०}{२१२}$] इस द्वीप में भी अपने अपने क्षेत्र से अगला क्षेत्र चौगुणा विस्तृत है और अपने अपने पर्वत से अगला पर्वत चौगुणा विस्तृत है । इनके अतिरिक्त शेष जो भी कथन इस विषय का

किमर्थं भरतादिव्यवस्था पुष्करार्ध एव कथ्यते ? न पुनः कृत्स्न एव पुष्करद्वीप ? इत्यत्रोच्यते—

प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ।। ३५ ।।

प्राक्छब्दः पूर्ववाची । पुष्करद्वीपबहुमध्यदेशभावी वलयवृत्तो मानुषोत्तरो नाम शैलोऽस्ति । तस्यैकविंशत्यधिकसप्तशतोपेतं (१७२१) योजनैकसहस्रमुत्सेधः । सक्रोशत्रिंशदधिकयोजनशतचतुष्टयमव-

---

है उसको आगमानुसार आगम के ज्ञाता पुरुषों द्वारा लगाना चाहिये—जानना चाहिये ।

धातकी खण्ड के भरत क्षेत्रों का त्रिविध विष्कंभ

आदि विष्कंभ	मध्य विष्कंभ	बाह्य विष्कंभ
महा योजन ६६१४ १२९/२१२	महायोजन १२५८१ ३६/२१२	महायोजन १८५४७ १५५/२१२

पुष्करार्ध के भरत क्षेत्रों का त्रिविध विष्कंभ

आदि विष्कंभ	मध्य विष्कंभ	बाह्य विष्कंभ
महायोजन ४१५७९ १७३/२१२	महायोजन ५३५१२ १९९/२१२	महायोजन ६५४४६ १३/२१२

शंका—भरतादि क्षेत्र आदि की व्यवस्था आधे पुष्कर में ही क्यों कहते हैं ? सकल पुष्कर द्वीप में यह व्यवस्था क्यों नहीं बताते ?

समाधान—अब इसीको अग्रिम सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—मानुषोत्तर नाम के पर्वत से पहले तक ही मनुष्य होते हैं ।

प्राक् शब्द पहले का वाची है । पुष्कर द्वीप के ठीक मध्य भाग में वलयाकार गोल चूड़ी के आकार का मानुषोत्तर नाम का पर्वत है । उसकी ऊंचाई एक हजार सात सौ इक्कीस योजन की है [१७२१] इस शैल की नींव चार सौ तीस योजन

गाहः (४३०१/४) चतुर्विशत्यधिकयोजनशतचतुष्टयं (४२४) तस्योपरि विस्तार । द्वाविंशत्यधिकानि योजनदशसहस्राणि (१००२२) मूले विस्तारः । त्र्यधिकविंशत्युपेतानि योजनसप्तशतानि (७२३) मध्ये विस्तारः । नास्मादुत्तरं कदाचिदपि विद्याधरा ऋद्धिप्राप्ता अपि मनुष्या गच्छन्त्यन्यत्रोपपादसमुद्घाताभ्याम् । ततोऽस्याऽन्वर्थसंज्ञा । यस्मान्मानुषोत्तरादुत्तरं नरा न सन्ति तस्मान्न ततो बहिर्भरतादिव्यवस्थाऽस्तीति । जम्बूद्वीपादिष्वर्धतृतीयेषु द्वीपेषु द्वयोश्च समुद्रयोर्मनुष्या वेदितव्याः । ते च द्विप्रकारा भवन्तीति तत्प्रतिपादनार्थमाह—

और एक कोस की है । इस पर्वत का उपरिम विस्तार चार सौ चौवीस योजन का है । इसी का मूल में विस्तार दस हजार बावीस योजन का है । इसीका मध्य भाग में विस्तार सात सौ तेईस योजन है । इस मानुषोत्तर पर्वत के आगे विद्याधर मनुष्य तथा ऋद्धिधारी मुनिगण भी कदाचित् भी नहीं जा सकते हैं । उपपाद और मारणान्तिक समुद्घात को छोड़कर अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत के आगे के द्वीपादि से मरकर कोई जीव यहां ढाई द्वीप में मनुष्य पर्याय में जन्म लेने को विग्रह गति से आरहा है उस वक्त उस जीव के मनुष्य गति मनुष्यायु का उदय आ चुका है और अभी वह ढाई द्वीप के बाहर है इस उपपाद की अपेक्षा मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत के बाहर है ऐसा कहा जाता है तथा कोई मनुष्य ढाई द्वीप में मरण के अन्तर्मुहूर्त पहले मारणान्तिक समुद्घात करके ढाई द्वीप के बाहर के द्वीपों में कहीं जन्म लेने के स्थान पर गया उस वक्त उस मनुष्य के आतम प्रदेश मानुष्योत्तर शैल के बाहर हैं इस दृष्टि से मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत से बाहर है ऐसा कहते हैं । तथा केवली समुद्घात करते हैं उस वक्त उनके आत्मप्रदेश सर्वत्र लोक में फैलने हैं इस दृष्टि से मानव ढाई द्वीप के बाहर है । उपर्युक्त अवस्था विशेष को छोड़कर अन्य समय में कभी भी मनुष्य मानुषोत्तर के बाहर नहीं रहते हैं ।

इसप्रकार जिससे उत्तर में—आगे के भाग में मनुष्य कभी भी नहीं पाये जाते अतः इस पर्वत की अन्वर्थसंज्ञा "मानुषोत्तर" है । इसी कारण से इसके बाह्य भाग में भरतादि क्षेत्रादि की व्यवस्था नहीं है । जम्बूद्वीप आदि ढाई द्वीप और दो समुद्र [लवणोद कालोद] इनमें ही मनुष्य निवास करते हैं ।

अब मनुष्यों के दो प्रकार होते हैं उनका प्रतिपादन करते हैं—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

गुणैर्गु णवद्भिर्वाऽर्यन्ते गम्यन्ते सेव्यन्त इत्यार्यास्तद्विपरीतलक्षणाम्लेच्छा: । उभयत्राऽवान्तर-जातिबहुत्वख्यापनार्थो बहुवचननिर्देश: । तत्रार्या: प्राप्तर्द्धयोऽप्राप्तर्द्धयश्चेति द्विविधा: । तत्रापि प्राप्त-र्द्ध य: सप्तधा—बुद्धितपोविक्रियौषधबलरसक्षेत्रर्द्धिप्राप्तिभेदात् । अप्राप्तर्द्धय: पञ्चधा-जातिक्षेत्रकर्म दर्शनचारित्रनिमित्तभेदात् । म्लेच्छा द्विविधा-अन्तरद्वीपजा: कर्मभूमिजाश्चेति । तत्रान्तरद्वीपा लवणो-दधेरष्टासु दिक्ष्वष्टौ । तदन्तरेचाष्टौ । हिमवच्छिखरिणोरुभयोश्च विजयार्द्धयोरन्तेष्वष्टौ । सर्वे समुदिता

सूत्रार्थ—आर्य और म्लेच्छ ऐसे मनुष्यों के दो भेद है । गुण अथवा गुणवानों द्वारा जो प्राप्त होते हैं सेवित होते हैं वे आर्य कहलाते हैं । उससे विपरीत लक्षणवाले गुणवानों से सेवित जो नही होते वे म्लेच्छ हैं । आर्य म्लेच्छ दोनों की अवान्तर जाति भेदों को बतलाने के लिये बहुवचन का प्रयोग हुआ है । उनमें आर्य दो प्रकार के हैं ऋद्धि प्राप्त आर्य और ऋद्धि रहित आर्य । ऋद्धि प्राप्त आर्य सात प्रकार के हैं । बुद्धि तप, विक्रिया, औषध, बल, रस और क्षेत्रर्द्धि ये सात ऋद्धियां हैं और इनसे संपन्न आर्य सात प्रकार के हैं । बुद्धि ऋद्धि सहित मुनिराज बुद्धि ऋद्धि प्राप्त आर्य हैं । तप ऋद्धि वाले मुनि तप ऋद्धि प्राप्त आर्य हैं इसप्रकार ऋद्धिधारी मुनिगण ऋद्धि प्राप्त आर्य कहलाते हैं । ऋद्धि रहित आर्य पांच प्रकार के हैं जाति आर्य, क्षेत्रार्य, कर्मार्य, दर्शनार्य, और चारित्र आर्य ।

भावार्थ—इक्ष्वाकु आदि वंशज मनुष्य जाति आर्य हैं । आर्य क्षेत्र में उत्पन्न मनुष्य क्षेत्र की अपेक्षा क्षेत्र आर्य हैं । कर्म क्रिया जिनकी उच्च हैं वे कर्म आर्य हैं । सम्यक्त्व युक्त मनुष्य दर्शन आर्य हैं । संयमधारी मनुष्य चारित्र आर्य हैं ।

म्लेच्छ दो प्रकार के हैं—अन्तर द्वीपज म्लेच्छ और कर्मभूमिज म्लेच्छ । उनमें अन्तर द्वीपज म्लेच्छों का कथन करते हैं—लवण समुद्र के आठ दिशा संबंधी आठ अन्तरद्वीप हैं । तथा उन आठों के अन्तरालों में भी आठ अन्तर द्वीप हैं । पुन: हिमवान के उभय सिरे के निकटस्थ लवण समुद्र में दो, शिखरी पर्वत के सिरे के निकटस्थ लवण समुद्र में दो भरत और ऐरावत के दो विजयार्ध के दो दो सिरे के निकटस्थ लवण समुद्र में दो दो इसप्रकार कुल मिलाकर चौवीस अन्तरद्वीप हुए ये लवण समुद्र के इसतरफ के तट संबंधी द्वीप हैं इसीप्रकार उस तरफ के तट संबंधी चौवीस अन्त-

अष्टचत्वारिंशद्भवन्ति । तथा कालोदेप्युभयोस्तटयोरष्टचत्वारिंशद्विज्ञेयाः । सर्वे समुदिताः षण्णवतिसङ्ख्या जायन्ते । तत्र दिक्षु द्वीपा वेदिकायास्तिर्यक्पञ्चयोजनशतानि प्रविश्य भवन्ति । विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपाः पञ्चाशेषु पञ्चयोजनशतेषु गतेषु भवन्ति । शैलान्तेषु द्वीपाः षट्सु योजनशतेषु गतेषु भवन्ति । दिक्षु द्वीपाः शतयोजनविस्ताराः । विदिक्ष्वन्तरेषु च द्वीपाः पञ्चाशद्योजनविस्ताराः । शैलान्तेषु द्वीपाः पञ्चविंशतियोजनविस्ताराः । ते चतुर्विंशतिरपि द्वीपा जलतलादेकयोजनोत्सेधाः । तथा कालोदेपि वेदितव्याः । तेष्वन्तरद्वीपेषु भवा म्लेच्छा एकोरुकादयो मृत्पुष्पफलाहारा गुहावृक्षवासिनः । सर्वे ते पल्योपमायुषः प्रोक्ताः । कर्मभूमिजास्तु । शकयवनशबरपुलिन्दादयः । काः पुनः कर्मभूमय इत्याह—

द्वीप हैं ऐसे लवण समुद्र में अड़तालीस अन्तर्द्वीप हैं । तथा कालोदधि समुद्र के उभय तटों में इसीतरह अड़तालीस द्वीप हैं सर्व मिलाकर छियानवे अन्तर्दीप होते हैं उनमें जो दिशा संबंधी दीप हैं वे लवण समुद्र के तट की वेदिका से तिरछे पांच सौ योजन जाकर आते हैं । विदिशा संबंधी और अन्तराल संबंधी जो द्वीप हैं वे पांच सौ पचास योजन जाकर होते हैं [त्रिलोकसार में अन्तराल के द्वीपों को ५५० योजन जाकर माना है और विदिशा के द्वीपों को ५०० यो० जाकर माना है] हिमवान आदि पर्वतों के अन्त भाग संबंधी लवण समुद्रस्थ द्वीप तट से छह सौ योजन जाकर आते हैं । दिशा संबंधी जो द्वीप हैं वे सौ योजन विस्तार वाले हैं । विदिशा संबंधी और अन्तराल संबंधी जो द्वीप हैं वे पचास योजन विस्तृत हैं त्रिलोकसार में विदिशा संबंधी द्वीप ५५ यो० विस्तार वाले माने हैं हिमवान आदि पर्वत के अन्त भाग सम्बन्धी जो द्वीप हैं वे पच्चीस योजन विस्तार वाले हैं । ये चौवीस द्वीप जल तल से एक योजन उत्सेध वाले हैं । उसीप्रकार कालोदधि संबंधी अन्तर द्वीपों का वर्णन जानना चाहिये । ये सब अन्तर द्वीप हैं इनमें उत्पन्न होने वाले मनुष्य अन्तरद्वीपज म्लेच्छ कहलाते हैं । एक पैर आदि विचित्र शरीर धारी ये म्लेच्छ कोई तो मिट्टी का भोजन करते हैं और कोई पुष्प फलाहारी होते हैं, कोई गुफा निवासी तो कोई वृक्ष निवासी होते हैं ये सर्व ही मनुष्य एक पल्य की आयु वाले हैं ।

कर्मभूमिज म्लेच्छ शक, यवन, शबर पुलिन्द आदि हैं ।

कर्म भूमियां कौनसी हैं यह बतलाते हैं—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ।। ३७ ।।

भरता ऐरावता विदेहाश्च पंच पंचैता भूमयः कर्मभूमय इति व्यपदिश्यन्ते । विदेहग्रहणाद्देव-कुरूत्तरकुरूणां कर्मभूमित्वे प्राप्ते तत्प्रतिषेधार्थमन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्य इति कृतम् । अन्यत्रशब्देन वर्जनार्थेन योगाद्देवकुरूत्तरकुरुभ्य इत्यत्र पंचमीविधानमिष्टम् । देवकुरवश्चोत्तरकुरवश्च देवकुरूत्तर-कुरवस्तान्वर्जयित्वेत्यर्थः । कथं भरतादीनां पंचदशानां कर्मभूमित्वमिति चेत्प्रकृष्टस्य शुभाशुभकर्मणोऽधि-ष्ठानत्वादिति ब्रूमः । सप्तमनरकप्रापणस्याशुभस्य कर्मणः सर्वार्थसिद्ध्यादिप्रापणस्य शुभस्य च कर्मणो भरतादिष्वेवोपार्जनं । कृष्यादिकर्मणः पात्रदानादियुक्तस्य तत्रैवारम्भात् । तन्निमित्तस्यात्मविशेषपरि-णामविशेषस्यैतत्क्षेत्रविशेषापेक्षत्वात्कर्मणाधिष्ठिता भूमयः कर्मभूमय इति सज्ञायन्ते । सामर्थ्यादितरा देवकुरूत्तरकुरुहैमवतहरिवर्षरम्यकहैरण्यवता अन्तरद्वीपाश्च कल्पवृक्षादिकल्पिता भोगानुभवनविषय-त्वादभोगभूमय इति गम्यन्ते । केवलं कर्मभूमिसमीपवर्तिष्वन्तरद्वीपेषु कर्मभूमिवन्मनुष्याणां चातुर्गतिक-

---

सूत्रार्थ—भरत, ऐरावत, और देवकुरु उत्तरकुरु भागको छोड़कर शेष विदेह ये सब कर्मभूमियां हैं ।

पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमियां कहलाती हैं । केवल विदेह शब्द रखते तो देवकुरु उत्तरकुरु क्षेत्र को भी कर्मभूमिपना प्राप्त होता है अतः उसका निषेध करने के लिए 'अन्यत्र देवकुरुत्तर कुरुभ्यः' ऐसा सूत्र में वाक्य कहा है । अन्यत्र शब्द वर्जन अर्थ में है उसके योग में 'देवकुरुत्तर कुरुभ्यः' ऐसी पंचमी विभक्ति हुई है ।

प्रश्न—इन भरतादि पंद्रह क्षेत्रों की कर्मभूमि संज्ञा किस कारण से है ?

उत्तर—उत्कृष्ट शुभ कर्म और उत्कृष्ट अशुभ कर्म का अधिष्ठान होने से इन क्षेत्रों की कर्मभूमि संज्ञा है । सातवें नरक के प्राप्ति के कारणभूत अशुभ कर्म और सर्वार्थसिद्धि आदि के प्राप्ति के कारणभूत शुभ कर्म का उपार्जन भरतादि क्षेत्रों में ही होता है, क्योंकि इन क्षेत्रों में ही पात्रदानादि से युक्त कृषि आदि क्रियायें संपन्न होती हैं । और उन क्रियाओं के निमित्तभूत आत्मा के परिणाम विशेष इन भरतादि क्षेत्र की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होते हैं, अतः 'कर्म से अधिष्ठित भूमि' कर्म भूमि नाम से कही जाती है । तथा सामर्थ्य से इतर जो देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरिवर्ष, रम्यक, हैरण्यवत् क्षेत्र और अन्तर द्वीप हैं ये कल्पवृक्षों द्वारा कल्पित भोगों के अनुभवन के विषय होने से 'भोगभूमि' कहलाते हैं । विशेषता यह है कि कर्मभूमि के निकटवर्ती

त्वमिति विशेषोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्र कश्चिदाह—यदि प्रोक्तलक्षणविशेषसद्भावाद्भरतादीनामेव कर्मभूमित्व प्रतिपाद्यते तर्हि स्वयंभूरमणजमत्स्यविशेषाणां कथं सप्तमनरकगमनमित्युच्यते ? स्वयम्भूरमणद्वीपमध्येऽन्तर्द्वीपार्धकारी मानुषोत्तराकृतिः स्वयंप्रभनगवरो नाम नगो व्यवस्थितः । तस्यावर्ग्भागे आमानुषोत्तराद्भोगभूमिविभागः । तत्र चतुर्गुणस्थानवर्तिनस्तिर्यञ्चः सन्ति । परभागेत्वालोकान्तात्कर्मभूमिविभागस्तत्र च पञ्चमगुणस्थानवर्तिनस्तिर्यञ्चः सन्ति । ततस्तस्य कर्मभूमित्वान्नोक्तदोष-

---

अन्तर द्वीपों में होने वाले मनुष्य कर्मभूमि के मनुष्यों के समान मरकर चारों गति में जाते हैं ।

शंका—उक्त लक्षण का सदभाव होने से भरतादि क्षेत्रों को ही कर्म भूमि कहा जाय तो स्वयंभूरमण नाम के अन्तिम समुद्र में होने वाले मत्स्य विशेष सातवें नरकमें जाते हैं यह आगम वाक्य कैसे सिद्ध होगा ?

समाधान—स्वयंभूरमण समुद्र के पहले स्वयंभूरमण द्वीप आता है इस द्वीप के बहुमध्य भाग में मानुषोत्तर पर्वत के समान वलयाकृति स्वयंप्रभ नाम का पर्वत है इसके कारण स्वयंभूरमण द्वीप के दो भाग होते हैं उसके उरले भाग से लेकर इधर मानुषोत्तर पर्वत तक भोग भूमियां हैं । उनमें चार गुणस्थान वाले तिर्यच जीव होते हैं । और उक्त स्वयंप्रभ पर्वत के परले भाग से लेकर लोकान्त तक कर्म भूमिका विभाग है, उनमें पांचवें गुणस्थान वाले तिर्यंच होते हैं अर्थात् प्रथम से लेकर पंचम गुणस्थान तक पांच गुणस्थान यहां के तिर्यञ्चों के संभव हैं अतः स्वयंभूरमण द्वीप का आधा भाग और स्वयंभूरमण समुद्र के कर्म भूमिपना घटित होने से उक्त दोष नहीं आता । यदि ऐसी बात नहीं होती तो आगम में स्वयंभूरमण द्वीप और समुद्रवर्ती जीवों के तथा विदेहादि में होने वाले की पूर्वकोटी आयु और अन्यत्र मानुषोत्तर से आगे के द्वीपों में होनेवाले तिर्यञ्चों की [तथा देवकुरु आदि के मनुष्य तिर्यंचों की] असंख्यात वर्ष की आयु होती है ऐसा प्रतिपादन किया है वह कैसे घटित होता ?

भावार्थ—ढाई द्वीप संबंधी पंद्रह कर्मभूमिज जीवों की उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटी की है और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त की है । मध्यलोक के असंख्यात द्वीप और सागरों में अंतिम द्वीप स्वयंभूरमण और अंतिम स्वयंभूरमण सागर है । इसमें जो स्वयंभूरमण द्वीप है उसके स्वयंप्रभ नाम के पर्वत द्वारा दो भाग होते हैं उनमें परला भाग और संपूर्ण स्वयंभूरमण सागर इनमें कर्म भूमि सदृश व्यवस्था है, इनमें होने वाले तिर्यंचों के पूर्वकोटी की

प्रसङ्गः । कथमन्यथा तत्र पूर्वकोटचायुष्कत्वमन्यत्र चासङ्ख्येयवर्षायुष्कत्वमित्यागमो घटते ? उक्तासु भूमिषु नृणां प्रकृष्टाप्रकृष्टे के स्थिती भवत इत्याह—

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥३८॥

नृशब्दो मनुष्यवाची । स्थितिरायुषोऽवस्थानम् । नृणां स्थिती नृस्थिती । परा प्रकृष्टा । अवरा जघन्या । परा चावरा च परावरे । पल्यं कुसूलः । पल्यमुपमा यस्य तत् पल्योपमम् । रूढिवशात्कश्चिन्मानविशेषः कथ्यते । त्रीणि पल्योपमानि यस्याः स्थितेः सा त्रिपल्योपमा । मुहूर्तो घटिकाद्वयम् । अन्तर्गतो मुहूर्तो यस्या असावन्तर्मुहूर्ता स्थितिः । त्रिपल्योपमा चान्तर्मुहूर्ता च त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते । तत्र यथासङ्ख्येनाभिसम्बन्धः क्रियते—परा त्रिपल्योपमा नृस्थितिरपराऽन्तर्मुहूर्तेति । अत्र कश्चिदाह—किमिदं पल्यं नामेति । अत्रोच्यते—पल्यस्य परिच्छेदः प्रमाणविधिनिर्णयपुरस्सर इति प्रमाणविधिरेव

उत्कृष्ट आयु होती है तथा पांच गुणस्थान होते हैं । मानुषोत्तर पर्वत के परले भाग से स्वयंभूरमण द्वीप के उरले भाग तक के मध्यवर्ती असंख्यात द्वीपों में संज्ञी तिर्यंच होते हैं उनके चार गुणस्थान होते हैं तथा आयु असंख्यात वर्षों की होती है । श्री भास्कर नंदी ने इस सैंतीस नंबर के सूत्र की टीका में अन्तरद्वीपज म्लेच्छ मनुष्य मरणकर चारों गतियों में जाते हैं ऐसा कहा है यह एक विशेष उल्लेख है ।

उक्त भूमियों में मानवों की उत्कृष्ट तथा जघन्य आयु कितनी है ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है तथा जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

नृ का अर्थ मनुष्य है । स्थिति का अर्थ आयु है । परा का अर्थ उत्कृष्ट और अवर का अर्थ जघन्य है । पल्य कुसूल को कहते हैं । पल्य जिसकी उपमा है वह पल्योपम कहलाता है । रूढ़िवश माप विशेष को पल्योपम कहते हैं । "त्रिपल्योपमा" में बहुब्रीहि समास है । दो घड़ी का एक मुहूर्त्त होता है । अन्तर्गत है मुहूर्त्त जिसके वह स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त वाली है । तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त्त का यथाक्रम से संबंध करना, मानवों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ।

प्रश्न—पल्य किसे कहते हैं ?

तावदुच्यते—प्रमाण द्विविधं—लौकिकं लोकोत्तरं चेति। तत्र लौकिक षोढा प्रविभज्यते—मानमुन्मान-मवमानं गणनामानं प्रतिमानं तत्प्रमाणं चेति। तत्र मानं द्वेधा—रसमानं बीजमानं चेति। घृतादिद्रव्य-परिच्छेदकं षोडशिकादि रसमानम्। कुडवादिक बीजमानम्। कुष्टतगरादि भाण्डं येनोत्क्षिप्य मीयते तदुन्मानम्। निवर्तनादिविभागेन क्षेत्रं येनावगाह्य मीयते तदवमानं दण्डादि। एकद्वित्रिचतुरादिगणित-मात्रादगणनामानम्। पूर्वमानापेक्षं मानं प्रतिमानम्—प्रतिमल्लवत्। चत्वारि महिधिकातृणफलानि श्वेतसर्षप एक:। षोडशसर्षपफलानि धान्यमाषफलमेकम्। द्वे धान्यमाषफले गुञ्जाफलमेकम्। द्वे गुञ्जाफले रूप्यमाष एक:। षोडशरूप्यमाषका धरणमेकम्। अर्धतृतीयानि धरणानि सुवर्ण: स च कंस:। चत्वार: कंसा पलम्। पलशतं तुला। अर्धकंसस्त्रीणि च पलानि कुडव:। चतु:कुडव: प्रस्थ:। चतु:प्रस्थमाढकम्। चतुराढको द्रोण:। षोडशद्रोणा खारी। विंशतिखार्यो वाह इत्येवमादिमागधक-प्रमाणं प्रतिमानमित्युच्यते। मणिजात्यश्वादेर्द्रव्यस्य दीप्त्युच्छ्रायगुणविशेषादिमूल्यपरिमाणकरणे

उत्तर—अब इस पल्य को बतलाने के लिये प्रमाण–माप की विधि का निर्णय करते हैं, क्योंकि माप का निर्णय होने से पल्य स्वत: जाना जायगा। प्रमाण [माप या नाप] दो प्रकार का है, लौकिक प्रमाण और लोकोत्तर प्रमाण। उनमें लौकिक प्रमाण छह तरह का है। मान, उन्मान, अवमान, गणना मान, प्रतिमान और तत्प्रमाण। उनमें मान के दो भेद हैं–रसमान और बीजमान। घी आदि तरल पदार्थों के नापने के तोल षोडशिकादि रसमान कहलाता है और कुडव [पाव] आदि माप बीजमान है। कुष्ट तगर आदि भाण्ड को डालकर जो नापा जाता है वह उन्मान है। निवर्तनादि विभाग से जिसके द्वारा खेत–(जमीन) अगवाह करके नापी जाती है वह दण्डा आदिक अवमान कहलाता है। एक, दो, तीन, चार आदि गणनामात्र गणनामान है। पूर्व के माप की अपेक्षा जो माप होता है वह प्रतिमान है प्रतिमल्ल के समान इसका विस्तृत कथन करते हैं–चार महिधि तृण के फलों का [मेंहदी के बीजों का] एक सफेद सरसों होती है। सोलह सरसों प्रमाण [तोलवाला] एक उड़द धान्य होता है। दो उड़दों की एक गुंजा, दो गुंजा का एक रुप्यमाष, सोलह रुप्य-माषों का एक धरण ढाई धरण का एक सुवर्ण होता है इसे कंस भी कहते हैं। चार कंसों का एक पल, सौ पलों का एक तुला, आधा कंस और तीन पलों का एक कुडव होता है, चार कुडवों का एक प्रस्थ [सेर–किलो] चार प्रस्थों का एक आढक, चार आढकों का एक द्रोण, सोलह द्रोणों का एक खारी, बीस खारी का एक वाह इत्यादि जो मागधक प्रमाण है वह प्रतिमान कहलाता है। मणि–रत्न, जाति, अश्व आदि जो विशिष्ट पदार्थ हैं, उन उनकी दीप्ति का ऊंचापना अर्थात् अमुक रत्न मणि

प्रमाणमस्येति तत्प्रमाणम् । तद्यथा—मणिरत्नदीप्तिर्यावत्क्षेत्रमुपरि व्याप्नोति तावत्प्रमाणं सुवर्णकूटं मूल्यमिति । अश्वस्य च यावानुच्छ्रायस्तावत्प्रमाणं सुवर्णकूटं मूल्यम् । अथवा यावता रत्नस्वामिनः परितोषस्तावद्रत्नमूल्यं स्यादिति । एवमन्येषामपि द्रव्याणां योज्यम् । लोकोत्तरं प्रमाणं चतुर्धा—द्रव्य-क्षेत्रकालभावभेदात् । तत्र द्रव्यप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकपरमाणुद्वित्रिचतुरादिप्रदेशात्मकमामहास्कन्धात् । क्षेत्रप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकाकाशप्रदेशद्वित्रिचतुरादिप्रदेशनिष्पन्नमासर्वलोकात् । काल प्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकद्वित्रिचतुरादिसमयनिष्पन्नमाअनन्तकालात् । भावप्रमाणमुपयोगः साकारानाकारभेदः । स जघन्यः सूक्ष्मनिगोतस्य । मध्यमोऽन्यजीवानाम् । उत्कृष्टस्तु केवलिनो भवति । तत्र

आदि का प्रकाश इतना ऊंचा फैलता है इत्यादि गुण विशेष द्वारा उन उन द्रव्यों का मूल्य करना वह तत्प्रमाण नाम का माप विशेष है । इसीको बताते हैं—मणिरत्न की चमक–कान्ति जितने क्षेत्र तक ऊपर फैलती है उतना माप वाला सुवर्णकूट—मूल्य उक्त रत्न का है ऐसा जो माप है वह तत् प्रमाण है । अश्व का जितना उत्सेध है उतना सुवर्ण कूट उसका मूल्य है । अथवा रत्नों के स्वामी को जितने मूल्य से संतोष होवे वह उस रत्न का मूल्य है । इसीतरह अन्य पदार्थों के नाप में लगा लेना चाहिये ।

लोकोत्तर प्रमाण चार प्रकार का है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव । द्रव्य प्रमाण तीन तरह का है, जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । एक परमाणु जघन्य द्रव्य प्रमाण है, दो, तीन आदि परमाणु से लेकर महा स्कन्ध के पहले पहले तक मध्यम द्रव्य प्रमाण है, महा स्कन्ध उत्कृष्ट द्रव्य प्रमाण है । क्षेत्र प्रमाण के तीन भेद जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । आकाश का एक प्रदेश जघन्य क्षेत्र है । दो प्रदेश तीन प्रदेश आदि से लेकर सर्व लोक के पहले पहले तक मध्यम क्षेत्र प्रमाण है । सर्व लोक उत्कृष्ट क्षेत्र प्रमाण है । काल प्रमाण के तीन भेद–जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । जघन्य काल एक समय का । दो समय तीन समय आदि से निष्पन्न काल से लेकर अनंत काल के पहले पहले तक का काल मध्यम काल प्रमाण है । उत्कृष्ट काल प्रमाण अनन्त काल स्वरूप है । उपयोग को भाव प्रमाण कहते हैं । उसके दो भेद हैं साकार उपयोग भाव प्रमाण और अनाकार उपयोग भाव प्रमाण । इस उपयोग रूप भाव प्रमाण के पुनः तीन भेद हैं–जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । जघन्य उपयोग भाव प्रमाण सूक्ष्म निगोदी जीव के होता है, मध्यम उपयोग भाव प्रमाण सूक्ष्म निगोदिया जीवों को छोड़कर तथा केवलज्ञानी को छोड़कर शेष जीवों के होता है । उत्कृष्ट उपयोग भाव प्रमाण केवलज्ञानी के होता है ।

द्रव्यप्रमाणं सङ्ख्याप्रमाणमुपमाप्रमाणं चेति द्वेधा विभज्यते। तत्र सङ्ख्याप्रमाणं त्रिधा—सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदात्। तत्र सङ्ख्येयप्रमाणं त्रेधा। इतरे द्वे नवधा ज्ञेये। जघन्यमजघन्योत्कृष्टमुत्कृष्टं चेति सङ्ख्येयं त्रिविधम्। सङ्ख्येयप्रमाणावगमार्थं जम्बूद्वीपतुल्यायामविष्कम्भा योजनसहस्रावगाहा बुद्ध्या कुसूलाश्चत्वारः कर्तव्याः। तत्र प्रथमोऽनवस्थिताख्यः। शलाका प्रतिशलाका महाशलाकाख्यास्त्रयोऽवस्थिताः। अत्र द्वौ सर्षपौ प्रक्षिप्तौ। जघन्यमेतत्सङ्ख्येयप्रमाणम् तमनवस्थितं सर्षपैः पूर्णं कृत्वा गृहीत्वा च कश्चिद्देव एकैकं सर्षपमेकैकस्मिन् द्वीपे समुद्रे च यदि प्रक्षिपेत्तेन विधिना स रिक्तः कर्तव्यः। रिक्त इति शलाकाकुसूले एकं सर्षपं प्रक्षिपेत्। यत्रान्त्यः सर्षपो निक्षिप्तस्तमवधिं कृत्वा अनवस्थितं कुसूलं परिकल्प्य सर्षपैः पूर्णं कृत्वा ततः परेषु द्वीपसमुद्रेष्वेकैकसर्षपप्रदानेन स रिक्तः कर्तव्यः। रिक्त इति शलाकाकुसूले पुनरेकं प्रक्षिपेत्। अनेन विधिनाऽनवस्थितकुसूलपरिवर्धनेन शलाकाकुसूले पूर्णे।

उनमें द्रव्य प्रमाण के दो भेद हैं—संख्या प्रमाण और उपमा प्रमाण। संख्या प्रमाण के तीन भेद है संख्येय, असंख्येय और अनन्त। उनमें भी संख्येय प्रमाण पुनः तीन भेद वाला है। और असंख्येय तथा अनन्त प्रमाण नौ प्रकार का जानना चाहिये। जो संख्येय प्रमाण है वह जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है।

इस संख्येय प्रमाण को जानने के लिये जम्बूद्वीप के समान आयाम विष्कंभ वाले एक हजार योजन गहरे चार कुसूल बुद्धि से रचने चाहिये। पहले कुसूल का नाम अनवस्था, दूसरा शलाका, तीसरा प्रतिशलाका और चौथा महाशलाका नाम का कुसूल है। इनमें शलाकादि तीन अवस्थित हैं। पहले अनवस्थित कुसूल में दो सरसों डाली यह जघन्य संख्येय प्रमाण है [अर्थात् दो जघन्य संख्या है] उस कुसूल अर्थात् कुण्ड को सरसों से भर दिया है फिर कोई देव उक्त सर्व सरसों को लेकर एक एक सरसों को एक एक द्वीप और सागर में डालता गया, ऐसा करते करते उक्त कुण्ड खाली हो गया। तब एक सरसों शलाका कुसूल में डाल देवे। जिस द्वीपादि में अन्तिम सरसों डाली उतना बड़ा दूसरा अनवस्थित कुसूल बुद्धि में कल्पित किया सरसों से भर दिया और उन सरसों को लेकर आगे के द्वीपादि में एक एक सरसों डालते हुए उस कुण्ड को रिक्त करना चाहिये। रिक्त हुआ तब एक सरसों शलाका नाम वाले कुण्ड में डालो। जहां पर अंतिम सरसों डाली उस प्रमाण वाला अनवस्था कुण्ड बनाया सरसों से पूरा भरा और वहां से आगे के द्वीप सागरों में एक एक सरसों डालकर रिक्त किया। जब रिक्त हुआ तब एक सरसों शलाका कुसूल में डाला। इस विधि से अनवस्थित कुसूल को बढ़ा बढ़ा के शलाका कुसूल पूर्ण भरा तब एक सरसों प्रतिशलाका

पूर्ण इति प्रतिशलाकाकुसूले एकः सर्षपो निक्षेप्तव्यः। एवं तावत्कर्तव्यो यावत्प्रतिशलाका कुसूलः परिपूर्णो भवति। पूर्ण इति महाशलाकाकुसूले एकः सर्षपो निक्षेप्तव्यः। सोऽपि तथैव पूर्णः। एवमेतेषु चतुर्ष्वपि पूर्णेषु उत्कृष्टं सङ्ख्येयमतीत्य जघन्यपरीतासङ्ख्येयं गत्वैकं रूपं पतितम्। तत एकस्मिन् रूपे अपनीते उत्कृष्टसङ्ख्येयं भवति मध्यममजघन्योत्कृष्टसङ्ख्येयम्। यत्र सङ्ख्येयेन प्रयोजनं तत्राजघन्योत्कृष्टसङ्ख्येयं ग्राह्यम्। सङ्ख्येयस्य सन्दृष्टिरौकार एकद्वित्रिचतुराद्यङ्का वा॥

यदसङ्ख्येयं तत्त्रिविधम्—परीतासङ्ख्येयं, युक्तासङ्ख्येयमसङ्ख्येयासंख्येयं चेति। तत्र परीतासंख्येयं त्रिविधम्—जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदादेवमितरे चासंख्येये भिद्येते। तथाऽनन्तमपि त्रिविधम् परीतानन्तं युक्तानन्तमनन्तानन्तं चेति। तदपि प्रत्येकं पूर्ववत्त्रिधा भेद्यम्। यज्जघन्यपरीतासंख्येयं तद्विरलीकृत्य मुक्तावली कृता। तत्रैकस्यां मुक्तायां जघन्यपरीतासंख्येयं देयम्। एवमेतत्पृथक्पृथक्पुञ्जाकारेण विधृतं वर्गीकृतं वर्गीकृतमित्युच्यते। एतस्मात्प्राथमिकीं मुक्तावलीमपनीय यान्येकैकस्यां मुक्तायां जघन्यपरीतासंख्येयानि दत्तानि तानि मिलनविधिना संपिण्ड्य मुक्तावली कार्या। ततो यो

कुण्ड में डालनी चाहिये, ऐसा ही तब तक करना चाहिये जब तक कि प्रतिशलाका कुसूल परिपूर्ण होवे। जब यह पूर्ण होवे तब एक सरसों महाशलाका कुण्ड में डालें। पुनः वह भी उसी विधि से पूर्ण होगया। इसप्रकार चारों ही कुण्ड परिपूर्ण होने पर उत्कृष्ट संख्येय का उल्लंघन होता है और जघन्य परीत असंख्येय तक जाकर एक रूप पतित हुआ, पुनः उससे एक रूप निकाला तब उत्कृष्ट संख्येय होता है। मध्यम को अजघन्य उत्कृष्ट कहते हैं। जहां पर संख्येय से प्रयोजन होता है वहां पर अजघन्य उत्कृष्ट संख्येय ग्रहण करना चाहिये। इस संख्येय गणना की संदृष्टि औकार है, अथवा एक, दो, तीन, चार आदि अंक हैं।

जो असंख्येय है वह तीन प्रकार का है—परीतासंख्येय, युक्तासंख्येय और असंख्येयासंख्येय। उनमें परीतासंख्येय तीन तरह का है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। इसीप्रकार युक्तासंख्येय तथा असंख्येयासंख्येय भी तीन तीन प्रकार का है। तथा अनंत भी तीन प्रकार का है—परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त। उन तीनों के भी पूर्ववत् तीन तीन भेद होते हैं। जो जघन्य परीत असंख्येय है उसका विरलन कर मुक्तावली बनायी। उनमें एक मुक्ता—अंक पर जघन्य परीत असंख्येय देना चाहिये। इसप्रकार यह पृथक् पृथक् पुंजाकार से रखकर वर्ग करने पर वर्गीकरण किया ऐसा कहते हैं। इससे पहली मुक्तावली का विरलन करना एक एक मुक्ता—अंक पर जघन्य परीत असंख्येय दिया उनको मिलन विधि से पिण्ड करके मुक्तावली [पंक्ति] करना उससे

जघन्यपरीतासंख्येयसंपिण्डनान्निष्पन्नो राशिः स देय एकैकस्यां मुक्तायाम् । एवमेतद्धि वर्गितं पुनर्वर्गितमिति कृत्वा प्रतिवर्गितं वर्गितवर्गितं चोच्यते । तच्चोत्कृष्टपरीतासंख्येयमतीत्य जघन्ययुक्तासंख्येयं गत्वा पतितम् । तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टं परीतासंख्येयं भवति । मध्यममजघन्योत्कृष्टं परीतासंख्येयं भवति । यत्रावलिकया कार्यं तत्र जघन्ययुक्तासंख्येयं ग्राह्यम् । जघन्ययुक्तासंख्येयं विरलीकृत्य मुक्तावली रचिता । तत्रैकमुक्तायां जघन्ययुक्तासंख्येयानि देयानि । एवमेतत्सकृद्वर्गितं सपिण्डं च कृतं सदुत्कृष्टं युक्तासंख्येयमतीत्य जघन्यासंख्येयासंख्येयं गत्वा पतितम् । तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टं युक्तासंख्येयं भवति । मध्यममजघन्योत्कृष्टं युक्तासंख्येयं भवति । यज्जघन्यासंख्येयासंख्येयं तद्विरलीकृत्य पूर्वविधिना त्रीन्वारान्वर्गितसंपिण्डितं कृतं सदुत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं न प्राप्नोति ततो धर्माधर्मैकजीवलोकाकाशप्रदेशप्रत्येकशरीरजीवबादरनिगोतशरीराणि षडप्येतान्यसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगविभागपरिच्छेदरूपाणि चासंख्येयलोकप्रदेशपरिमाणान्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाश्च प्रक्षिप्य पूर्वोक्तराशौ त्रीन्वारान्वर्गितसंवर्गिते कृते उत्कृष्टासंख-

---

जो जघन्य परीत असंख्येय के संपिंड से [परस्पर गुणन से] राशि प्राप्त हुई वह एक एक मुक्ता पर देय है इसप्रकार इस वर्गित को पुनः वर्गित करके प्रति वर्गित हुआ इसको वर्गित वर्गित भी कहते हैं। वह संख्या उत्कृष्ट परीत असंख्येय का उल्लंघन कर जघन्य युक्त असंख्येय में जाकर पतित होती है, उससे एक रूप कम करने पर उत्कृष्ट परीत असंख्येय होता है। मध्यम का अजघन्योत्कृष्ट परीत असंख्येय होता है। जहां आवली से कार्य-(प्रयोजन) होता है वहां जघन्य युक्त असंख्येय राशि लेना चाहिये।

जघन्य युक्त असंख्येय का विरलन कर मुक्तावली रची उनमें एक मुक्ता [अंक] पर जघन्य युक्त असंख्येय देना इसतरह एक बार वर्गित कर तथा पिंड कर जो लब्ध आया वह उत्कृष्ट युक्त असंख्येय का उल्लंघन कर जघन्य असंख्येय असंख्येय को प्राप्त हुआ। उसमें एक रूप कम करने पर उत्कृष्ट युक्त असंख्येय होता है। मध्यम का अजघन्योत्कृष्ट युक्त असंख्येय होता है। जो जघन्य असंख्येय असंख्येय है उसका विरलन कर पूर्व विधि से तीन बार वर्गित संपिंड किया फिर भी उत्कृष्ट असंख्येय असंख्येय नहीं बना अतः धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव और लोकाकाश के प्रदेश तथा प्रत्येक जीव के शरीर एवं बादर निगोद शरीर ये छहों असंख्येय राशि हैं, तथा स्थिति बंधाध्यवसाय स्थान, अनुभाग बंधाध्यवसाय स्थान, योग विभाग परिच्छेद रूप, असंख्यात लोकों के प्रदेश उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के समय ये सर्व ही राशियां पूर्वोक्त राशि में

य यासंख्येयमतीत्य जघन्यपरीतानन्तं गत्वा पतितम् । तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं भवति । मध्यममजघन्योत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं भवति । यत्रासंख्येयासंख्येयेन प्रयोजनं तत्राजघन्योत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं ग्राह्यम् । असंख्येयस्य सन्दृष्टिर्दकारः ॥

यज्जघन्यपरीतानन्तं तत्पूर्ववद्वर्गितसंवर्गितमुत्कृष्टपरीतानन्तमतीत्य जघन्ययुक्तानन्तं गत्वा पतितम् । तत् एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टपरीतानन्तं तद्भवति । मध्यममजघन्योत्कृष्टपरीतानन्तमभव्यराशि प्रमाणमार्गणे जघन्ययुक्तानन्तं ग्राह्यम् । यज्जघन्ययुक्तानन्त तद्विरलीकृत्यात्रैकैकरूपे जघन्ययुक्तानन्तं दत्वा सकृद्वर्गितं सम्मिलितं च कृतं सदुत्कृष्टं युक्तानन्तमतीत्य जघन्यमनन्तानन्तं गत्वा पतितम् । तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टयुक्तानन्तं भवति । मध्यममजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तं भवति । यज्जघन्यानन्तानन्तं तद्विरलीकृत्य पूर्ववत्त्रीन्वारान्वर्गितं संवर्गितमप्युत्कृष्टानन्तानन्त न प्राप्नोति ततः सिद्धनिगोतजीववनस्पतिकायाऽतीतानागतकालसमयसर्वपुद्गलसर्वाकाश प्रदेशधर्माधर्मास्तिकायागुरुलघुगुणाननन्तान्

मिलाना फिर तीन बार वर्गित संवर्गित किया तब उत्कृष्ट असंख्येय असंख्येय का उल्लंघन कर जघन्य परीत अनंत को प्राप्त हुआ, उसमें एक रूप निकाल दिया तो उत्कृष्ट असंख्येय असंख्येय हुआ । मध्यम का अजघन्योत्कृष्ट असंख्येय असंख्येय होता है । जहां पर असंख्येय असंख्येय का प्रयोजन हो वहां अजघन्योत्कृष्ट असंख्येय असंख्येय लेना चाहिये । इस असंख्येय की संदृष्टि दकार है ।

जो जघन्य परीतानंत है उसको पूर्ववत् वर्गित संवर्गित किया वह उत्कृष्ट परीतानंत का उल्लंघन कर जघन्य युक्तानंत को प्राप्त हुआ, उसमें से एक रूप निकाल देने पर उत्कृष्ट परीतानंत हुआ । मध्यम का अजघन्योत्कृष्ट परीतानंत है, अभव्य राशि का प्रमाण जघन्य युक्तानंत है । जो जघन्य युक्तानंत है उसका विरलन कर एक एक रूप पर जघन्य युक्तानंत देकर एक बार वर्गित तथा पिंडित किया तो उत्कृष्ट युक्तानंत का उल्लंघन कर जघन्य अनंतानंत को प्राप्त हुआ, उसमें से एक रूप कम किया तब उत्कृष्ट युक्तानंत होता है । मध्यम का अजघन्योत्कृष्ट युक्तानंत है । जो जघन्य अनंतानंत है उसका विरलन कर पूर्ववत् तीन बार वर्गित संवर्गित करने पर भी उत्कृष्ट अनंतानंत प्राप्त नहीं होता अतः सिद्ध जीव निगोद जीव, वनस्पतिकायिक, अतीत अनागत काल के समय, सर्व पुद्गल राशि, सर्व आकाश प्रदेश तथा धर्म अधर्म द्रव्यों के अगुरुलघु इतनी अनंत राशियों को उक्त संख्या में मिलाकर फिर तीन बार

प्रक्षिप्य त्रीन्वारान्वर्गितसंवर्गिते कृते उत्कृष्टानन्तानन्तं न प्राप्नोति ततोऽनन्ते केवलज्ञानदर्शने च प्रक्षिप्ते उत्कृष्टानन्तानन्तं भवति । तत एकरूपेऽपनीतेऽजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तं भवति । यत्रानन्तानन्त-मार्गणा तत्राजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तं ग्राह्यम् । अनन्तस्य सन्दृष्टिः खकारः षोडशाङ्को वा ।

उपमाप्रमाणमष्टविधं–पल्यसागरसूचीप्रतरघनाङ्गुलजगच्छ्रेणीलोकप्रतरलोकभेदात् । अन्ता-दिमध्यहीनोऽविभागोऽतीन्द्रिय एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः परमाणुः । अनन्तानन्तपरमाणुसङ्घातपरिमा-णादाविर्भूता उत्सञ्ज्ञासञ्ज्ञैका । अष्टावुत्सञ्ज्ञासंहताः सञ्ज्ञासञ्ज्ञैका । अष्टौ सञ्ज्ञासञ्ज्ञा एकस्त्रुटिरेणुः । अष्टौ त्रुटिरेणवस्संहता एकस्त्रसरेणुः । अष्टौ त्रसरेणव एको रथरेणुः । अष्टौ रथरेणवस्संहता एका देवकुरूत्तरकुरुमनुजकेशाग्रकोटी भवति । ता अष्टौ समुदिता एका रम्यकहरिवर्षमनुजकेशाग्रकोटी भवति । ता अष्टौ संहता हैरण्यवतहैमवतमनुजकेशाग्रकोटी भवति । ता अष्टौ सम्पिण्डिता भरतैरावत-विदेहमनुजकेशाग्रकोटी भवति । ता अष्टौ संहता एका लिक्षा भवति । अष्टौ लिक्षाः संहता एका यूका भवति । अष्टौ यूका एक यवमध्यम् । अष्टौ यवमध्यान्येकमङ्गुलमुत्सेधाख्यम् । एतेन नारकतैर्यग्योनानां

वर्गित संवर्गित किया तो भी उत्कृष्ट अनंतानंत गणना प्राप्त नहीं हो पायी अतः अनंत प्रमाण वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन [के अविभागी प्रतिच्छेद] को उसमें डाला तब उत्कृष्ट अनंतानंत का प्रमाण आया, उसमें से एक रूप निकाला तो अजघ-न्योत्कृष्ट अनंतानंत होता है । जहां अनंतानंत मार्गणा (संख्या) बताते हैं वहां अजघन्योत्कृष्ट अनंतानंत ग्रहण करना । अनंत की संदृष्टि खकार या षोडश अंक है ।

उपमा प्रमाण आठ प्रकार का है—पल्य, सागर, सूचीअंगुल, प्रतरांगुल घनांगुल, जगत् श्रेणि, लोक और प्रतर लोक । अन्त आदि और मध्य से रहित, अविभागी, अतीन्द्रिय, एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला परमाणु होता है । अनंता-नंत परमाणुओं के समूह से प्रगट उत्संज्ञासंज्ञ नाम का स्कंध बनता है । आठ उत्संज्ञ एक संज्ञासंज्ञ, आठ संज्ञासंज्ञ का एक तृटि रेणु, आठ तृटि रेणुओं के समुदित होने पर एक त्रस रेणु बनता है । आठ त्रस रेणु का एक रथरेणु । आठ रथरेणु का देवकुरु उत्तर कुरु के मनुष्य के केश का अग्रभाग होता है, वे आठ समुदित होने पर रम्यक और हरिवर्ष के मनुष्य का एक बालाग्र होता है । वे आठ समुदित हुए तो हैरण्यवत और हैमवत के मनुष्य का एक बालाग्र होता है । वे आठ मिलने पर भरत ऐरावत और विदेह के मनुष्य का एक केशाग्र होता है । वे आठ बालाग्र मिलने पर एक लिक्षा होती है । आठ लिक्षा संहत होने पर एक यूका होती है । आठ यूका का एक यव-मध्य होता है । आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल होता है । इस उत्सेधांगुल से नारकी

देवमनुष्याणामकृत्रिमजिनालयप्रतिमानां च देहोत्सेधो मातव्यः। तदेव पञ्चशतगुणितं प्रमाणांगुलं भवति। एतदेव चावसर्पिण्यां प्रथमचक्रधरस्यात्मांगुलं भवति। तदानीं तेन ग्रामनगरादिप्रमाणपरिच्छेदो ज्ञेयः। इतरेषु युगेषु मनुष्याणां यद्यदात्मांगुलं तेन तेन तदा ग्रामनगरादिप्रमाणपरिच्छेदो ज्ञेयः। यत्तत्प्रमाणांगुलं तेन द्वीपसमुद्रजगतीवेदिकापर्वतविमाननरकप्रस्ताराद्यकृत्रिमद्रव्यायामविष्कम्भादिपरिच्छेदोऽवसेयः। षडंगुलः पादः। द्वादशांगुलो वितस्तिः। द्विवितस्तिर्हस्तः। द्विहस्तः किष्कुः। द्विकिष्कुर्दण्डः। द्वे दण्डसहस्रे गव्यूतं। चतुर्गव्यूतं योजनम्।

पल्यं त्रिविधं-व्यवहारोद्धाराद्धाविकल्पादन्वर्थात्। व्यवहारपल्यमुद्धारपल्यमद्धापल्यमिति त्रिधा पल्यं विभज्यते। त्रिधा अन्वर्थश्चाय विकल्पः। आद्य व्यवहारपल्यमुत्तरपल्यव्यवहारबीजत्वान्नानेन किञ्चित्परिच्छेद्यमस्ति। द्वितीयमुद्धारपल्यम्। तत उद्धृतैर्लोमच्छेदैर्द्वीपसमुद्रसंख्यानिर्णय इति। तृतीयमद्धापल्यमद्धाकाल इत्यर्थः। अतो हि स्थितिपरिच्छेद इति। तद्यथा-प्रमाणांगुलपरिमितयोजनायामविष्कम्भावगाहानि त्रीणि पल्यानि-कुसूला इत्यर्थः। एकादिसप्तान्ताहोरात्रजाताऽवि रोमा-

---

तिर्यञ्च, देव, मनुष्यों के शरीर, अकृत्रिम जिनालय, प्रतिमाओं का माप होता है। उसी उत्सेधांगुल को पांच सौ से गुणा करने पर एक प्रमाणांगुल होता है, अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती का आत्मांगुल इस प्रमाणांगुल के समान होता है। उस वक्त उस अंगुल से ग्राम नगर आदि का माप होता है। अन्य अन्य कालों में उस उस समय के मनुष्यों का जो जो अंगुल होता है उस उससे उस वक्त के ग्राम नगर आदि का प्रमाण मापना चाहिये। जो यह प्रमाणांगुल है, उसके द्वारा द्वीप, सागर, वेदिका, जगती, पर्वत, विमान, नरक, पाथडे इत्यादि अकृत्रिम पदार्थों के आयाम विष्कंभ आदिका प्रमाण मापा जाता है।

छह अंगुल का एक पाद होता है। बारह अंगुल का एक वितस्ति–बिलास्त होता है। दो वितस्ति का एक हाथ, दो हाथों का एक किष्कु, दो किष्कु का एक दण्ड [धनुष] दो हजार दण्डों का एक कोश और चार कोशों का एक योजन होता है।

पल्य तीन प्रकार का है—व्यवहार पल्य, उद्धार पल्य और अद्धापल्य। ये तीनों सार्थक नाम वाले हैं, पहला व्यवहार पल्य आगे के दो पल्यों के उत्पत्ति का कारण स्वरूप है, इससे कोई पदार्थ नापा नहीं जाता। दूसरा जो उद्धार पल्य है उसके उधृत लोमच्छेदों द्वारा द्वीप सागरों की संख्या का निर्णय होता है। तीसरा अद्धापल्य है, अद्धा का अर्थ काल है, इस पल्य से स्थिति का नाप करते हैं। अब इसीको स्पष्ट करते हैं—प्रमाणांगुल से नापा गया प्रमाण योजन अर्थात् महायोजन जो कि लघु योजन से पांच सौ गुणा है उस एक योजन के लंबे चौड़े और गहरे तीन पल्य अर्थात् कुसूल–गड्ढे

ग्राणि तावच्छिन्नानि यावद्द्वितीयं कर्तरिच्छेदं नावाप्नुवन्ति तादृशैर्लोमच्छेदैः परिपूर्णं घनीकृतं व्यवहारपल्यमित्युच्यते। ततो वर्षशते वर्षशतेऽतीते एकैकलोमापकर्षणविधिना यावता कालेन तद्रिक्तं भवेत्तावत्कालो व्यवहारपल्योपमाख्यः। तैरेव रोमच्छेदैः प्रत्येकमसंख्येयवर्षकोटिसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमुद्धारपल्यम्। ततः समये समये एकैकस्मिन्रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावान्काल उद्धारपल्योपमः। एषामुद्धारपल्यानां दश कोटीकोटच एकमुद्धारसागरोपमम्। अर्धतृतीयोद्धारसागरोपमाणां यावन्तो रोमच्छेदास्तावन्तो द्वीपसमुद्राः। पुनरुद्धारपल्यरोमच्छेदैर्वर्षशतसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमद्धापल्यम्। ततः समये समये एकैकस्मिन्रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावत्कालोऽद्धापल्योपमाख्यः। एषामद्धापल्यानां दश कोटी कोटच एकमद्धासागरोपमम्। दशाद्धासागरोपमकोटीकोटच एकावसर्पिणी। तावत्येवोत्सर्पिणी। अनेनाद्धापल्येन नारकतैर्यग्योनानां देवमनुष्याणां च कर्मस्थितिर्भवस्थितिरायुःस्थितिः कायस्थितिश्च परिच्छेत्तव्या। (पल्यस्य सन्दृष्टिः पवर्णः। सागरोपमस्य सन्दृष्टिः सावर्णः)। अद्धापल्यस्यार्धच्छेदेन शलाका विरलीकृत्य प्रत्येकमद्धा-

---

रचे। एक दिन से लेकर सात दिन तक के जन्मे हुए भेड़ों के बच्चों के केशों को लेकर इतने छोटे छोटे टुकड़े करना कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके ऐसे रोमच्छेदों से उक्त गड्ढों को पूर्ण भरना, उनमें जितने रोमच्छेद आये उतनी संख्या वाला व्यवहार पल्य है। उन रोम छेदों को सौ वर्ष बाद एक रोमछेद निकालना, फिर सौ वर्ष बाद एक निकालना, इस विधि से जितने काल में उक्त गड्ढे खाली हुए उतने काल को व्यवहार पल्योपम कहते हैं। उन्हीं रोमच्छेदों में से प्रत्येक प्रत्येक को असंख्यात कोटी वर्ष के समयों से गुणा किया तो उद्धार पल्य हुआ, फिर एक समय में एक रोमच्छेद निकाला, इस रीति से जितने काल में सर्व रोमच्छेद निकाले उतने काल का उद्धार पल्योपम हुआ, दश कोटा कोटी उद्धार पल्यों का एक उद्धार सागर होता है, ढाई उद्धार सागर के जितने रोमच्छेद हैं उतने द्वीप सागर हैं। उद्धार पल्य के जो रोमच्छेद हैं उनको सौ वर्ष के समयों से गुणा किया तब एक अद्धा पल्य हुआ, उन रोमछेदों को एक समय में एक रोमछेद निकालने के विधि से निकाला उतने काल का एक अद्धा पल्योपम होता है, दस कोटाकोटी अद्धा पल्यों का एक अद्धासागर होता है। दस कोटाकोटी अद्धा सागरों की एक उत्सर्पिणी होती है और उतने प्रमाण ही अवसर्पिणी होती है। इस अद्धापल्य द्वारा नारकी, तिर्यंच देव और मनुष्यों की कर्मस्थिति भवस्थिति, आयुस्थिति और कायस्थिति नापी जाती है। पल्य की संदृष्टि पवर्ण है। सागरोपम की संदृष्टि 'सा' है।

अद्धापल्य के अर्धच्छेद करके उस शलाका का विरलन करे फिर उस विरलन के एक एक अंक पर अद्धापल्य स्थापित करे और परस्पर में गुणा करे, गुणित राशि

पल्यप्रदानं कृत्वाऽन्योन्यगुणने कृते यावन्तश्छेदास्तावद्भिराकाशप्रदेशैर्मुक्तावली कृता सूच्यंगुलमित्युच्यते। (सूच्यंगुलस्य सन्दृष्टिर्द्वयङ्कः)। तदेवापरेण सूच्यंगुलेन गुणितं प्रतरांगुलं (प्रतरांगुलस्य सन्दृष्टिश्चतुरङ्कः)। तत्प्रतरांगुलमपरेण सूच्यंगुलेनाभ्यस्तं घनांगुलम्। (अस्य सन्दृष्टिःषडङ्कः)। पञ्चविंशतिकोटीकोटीनामुद्धारपल्यानां यावन्ति रूपाणि जम्बूद्वीपप्रमाणस्यार्धच्छेदनानि च रूपाधिकानि सर्वाणि तानि प्रत्येकं द्विगुणीकृत्यान्योन्याभ्यस्तानि कृत्वा यः समुत्पादितो राशिस्तस्य परिच्छेद प्रमिताकाशप्रदेशपङ्क्ती रज्जुः। (तस्याश्च सन्दृष्टिः श्रेणीसप्तमभाग) असङ्ख्येयवर्षाणां यावन्तस्समयास्तावत्खण्डमद्धापल्यं कृतम्। ततोऽसङ्ख्येयान् खण्डानपनीयासङ्ख्येयमेकभागं बुद्धया विरलीकृत्य एकैकस्मिन् घनांगुलं दत्वा परस्परेण गुणिता जाता जगच्छ्रेणी। (अस्याः सन्दृष्टिस्तिर्यगेका रेखा) सा अपरया जगच्छ्रेण्याऽभ्यस्ता प्रतरलोकः। (अस्य सन्दृष्टिस्तिर्यग्रेखाद्वयम्)। स एवापरया जगच्छ्रेण्या संवर्गितो घनलोकः। (अस्य सन्दृष्टिस्तिर्यग्रेखात्रयम्)॥

क्षेत्रप्रमाणं द्विविधं-अवगाहक्षेत्रं विभागनिष्पन्नक्षेत्रं चेति। तत्र चावगाहक्षेत्रमनेकविधं-एकद्वित्रिचतुःसङ्ख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपुद्गल—द्रव्यावगाह्यैकाद्यसंख्येयाकाशप्रदेशभेदात्। विभाग

में जितने छेद हैं उतने आकाश प्रदेशों द्वारा मुक्तावली स्थापित की वह सूच्यंगुल हुआ सूच्यंगुल की संदृष्टि दो का अंक है (२) सूच्यंगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर प्रतरांगुल बनता है। प्रतरांगुल की संदृष्टि चार का अंक है (४) प्रतरांगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर घनांगुल बनता है इसकी संदृष्टि षडंक है। पच्चीस कोटा कोटी उद्धार पल्यों के जितने रूप हैं तथा जंबूद्वीप प्रमाण के जितने अर्धच्छेद हैं उनमें एक रूप अधिक कर फिर उनमें से प्रत्येक को दुगुणा करो। फिर उसको परस्पर में अभ्यस्त करें जो राशि उत्पन्न हुई उसके परिच्छेद प्रमाण आकाश प्रदेशों की जो पंक्ति है वह राजू कहलाता है उसकी संदृष्टि श्रेणी का सप्तम भाग है।

असंख्यात वर्षों के जितने समय हैं उतने अद्धापल्य के खण्ड किये, उनमें से असंख्येय खण्डों को हटाकर एक असंख्येय भाग लिया, उस भाग का बुद्धि द्वारा विरलन किया। एक एक पर घनांगुल दिया और परस्पर में गुणा किया तब जगत् श्रेणी होती है इसकी संदृष्टि तिरछी रेखा है। जगत् श्रेणी को जगत् श्रेणी से गुणा करने पर प्रतर लोक होता है इसकी संदृष्टि तिरछी दो रेखा है। प्रतर लोक को जगत् श्रेणी से गुणा करने पर घन लोक होता है, इसकी संदृष्टि तिरछी तीन रेखा है।

क्षेत्र प्रमाण दो प्रकार का है—अवगाह क्षेत्र और विभाग निष्पन्न क्षेत्र। अवगाह क्षेत्र अनेक प्रकार का है एक परमाणु दो, तीन, चार, संख्येय, असंख्येय और अनंत

निष्पन्नक्षेत्रं चानेकविधं–असंख्येया आकाशश्रेण्यः । ताश्च क्षेत्रप्रमाणांगुलस्यैकोऽसंख्येयभागः । असंख्येयाः क्षेत्रप्रमाणांगुलासंख्येयभागाः क्षेत्रप्रमाणांगुलमेकं भवति । पादवितस्त्याद्यवशिष्टं पूर्ववद्वेदितव्यम् ।।

कालप्रमाणमुच्यते–सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाढाकाशप्रदेशव्यतिक्रमकालः परमनिरुद्धो निर्विभागः समयः । असंख्येयाः समया आवलिकैका । संख्येया आवलिका एक उच्छ्वासः । तावानेव निःश्वासः । तावेतावनुपहतस्य पुंसः प्राण एकः । सप्त प्राणाः स्तोकः । सप्त स्तोका लवः । सप्तसप्ततिर्लवा मुहूर्तः । त्रिंशन्मुहूर्ता अहोरात्रः पञ्चदशाहोरात्राः पक्षः । द्वौ पक्षौ मासः । द्वौ मासौ ऋतुः । ऋतुवस्त्रयोऽयनम् । द्वे अयने संवत्सरः । चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि पूर्वाङ्गम् ।

प्रदेश वाले पुद्गल द्रव्यों के अवगाहों के कारण आकाश प्रदेशों के एक प्रदेश आदि से लेकर असंख्येय प्रदेश तक भेद होते हैं, अभिप्राय यह हुआ कि लोकाकाश के एक प्रदेश पर एक पुद्गल परमाणु अवगाह लेता है, द्वयणुक त्र्यणुक आदि स्कंध एक प्रदेश पर स्थित हो सकते हैं तथा भिन्न प्रदेश पर भी स्थित हो सकते हैं इस क्रम से अनंतानंत प्रदेश वाले स्कंध एवं अनंतानंत पुद्गल द्रव्य के भेद प्रभेद [बादर सूक्ष्म आदि स्कंध, आहार वर्गणा आदि वर्गणायें] यथायोग्य शिथिल रूप स्कंध या सघन संघात रूप स्कंध की जाति के अनुसार संख्यात आदि आकाश प्रदेशों पर अवगाह लेते हैं, ये सर्व पुद्गल असंख्यात प्रदेश वाले लोककाश में अच्छी तरह अवगाहित हो जाते हैं ।

विभाग निष्पन्न क्षेत्र भी अनेक प्रकार का है वह असंख्येय आकाश श्रेणी प्रमाण हैं । वे आकाश श्रेणियां क्षेत्रप्रमाणांगुल के एक असंख्येय भाग है । असंख्येय क्षेत्र प्रमाणांगुलों के असंख्येय भाग प्रमाण एक क्षेत्र प्रमाणांगुल होता है । पाद, वितस्ति आदिक पूर्ववत् समझना ।

काल प्रमाण बतलाते हैं—सर्व जघन्य गति [मंद गति] से परिणत परमाणु अपने अवगाहित एक आकाश प्रदेश को उल्लंघन करता है उसमें जितना काल लगता है वह 'समय' कहलाता है जो कि सर्वथा निर्विभाग परम निरुद्ध है । असंख्येय समयों की एक आवली, संख्यात आवली का एक उच्छ्वास होता है निःश्वास भी उतने ही प्रमाण है । दोनों मिलकर स्वस्थ पुरुष का एक प्राण होता है । सात प्राणों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, सतत्तर लवों का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त्त की एक अहोरात्रि, पंद्रह अहोरात्रियों का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, दो मासों का एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयनों का एक वर्ष, चौरासी लाख वर्षों का एक

चतुरशीतिपूर्वाङ्गशतसहस्राणि पूर्वम् । एवमनयैव वृद्धया पर्वांग, पर्व, नयुतांग, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, तुटयांग, तुटय, अदटांग, अदट, अममांग, अमम, हूहांग, हूह, लतांग, लता, महालतांग, महालताप्रभृतिसञ्ज्ञाः । कालो वर्षगणनागम्यः संख्येयो वेदितव्यः । ततः परोऽसंख्येयः पल्योपमसागरोपमप्रमितः । ततः परोऽनन्तः कालोऽतीतोऽनागतश्च सर्वज्ञप्रत्यक्षः । भावप्रमाण पञ्चविधं ज्ञानं पुरस्ताद्व्याख्यातम् । यथैवैते उत्कृष्टजघन्ये स्थिती नृणां तथैव तिरश्चामपि प्रतिपादयन्नाह—

पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांगों का एक पूर्व होता है । इसी क्रम से आगे आगे वृद्धि करते करते पर्वांग, पर्व, नयुतांग, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, तुटयांग, तुटय, अदटांग, अदट, अममांग, अमम, हूहांग, हूह, लतांग, लता, महालतांग, महालता इत्यादि काल वर्षों की गणना के गम्य है वह सर्व ही संख्येय जानना चाहिये । उससे आगे का असंख्येय काल है जो कि पल्योपम सागरोपम स्वरूप है । उससे आगे का काल अनंत स्वरूप है, अतीत और अनागत काल अनंत है यह अनंत संख्या सर्वज्ञ गम्य है ।

भाव प्रमाण ज्ञान को कहते हैं ज्ञान के पांच भेद मति आदि पहले कह आये हैं ।

[मान का चार्ट अगले पृष्ठ पर देखिये]

मान
लौकिक मान
—मान { रसमान (घृतादि का माप)
बीजमान (धान्य का माप)
—उन्मान (तुलादि)
—अवमान (दण्डादि)
—गणनामान (संख्या)
—प्रतिमान (रत्ति मासा आदि)
—तत्प्रमाण (घोड़े के मूल्यादि)
द्रव्यमान
जघन्य द्रव्यमान
[एक परमाणु]
मध्यम द्रव्यमान
[द्विअणुक आदि स्कंध]
उत्कृष्ट द्रव्यमान
[महास्कंध]
अवगाह क्षेत्र
जघन्य
[एक प्रदेश]
संख्या प्रमाण
संख्यात
जघन्य संख्यात
मध्यम संख्यात
उत्कृष्ट संख्यात
असंख्यात
परीता संख्यात
युक्ता संख्यात
जघन्य
मध्यम
उत्कृष्ट
जघन्य
मध्यम
उत्कृष्ट
जघन्य
मध्यम
पल्य
सागर
सूच्यंगुल
प्रतरांगुल
व्यवहारपल्य
[रोमों की संख्या]
उद्धारपल्य
[द्वीप समुद्रों का माप]
अद्धापल्य
[कर्म स्थिति का प्रमाण]

लोकोत्तर मान
क्षेत्रमान
कालमान
भावमान उपयोग
निष्पन्न क्षेत्र
साकारोपयोग
अनाकारोपयोग
मध्यम [दो आदि प्रदेश]
उत्कृष्ट [सर्व लोक]
जघन्य [एक समय]
मध्यम [दो समय आदि]
उत्कृष्ट [अनंतानंत]
जघन्य [सूक्ष्म निगोदी जीवका ज्ञान दर्शन]
मध्यम [एकेन्द्रिय आदि के ज्ञानादि]
उत्कृष्ट [केवल ज्ञान]
उपमा प्रमाण
अनंत
असंख्याता संख्यात
परीतानंत
युक्तानंत
अनंतानंत
जघन्य
मध्यम
उत्कृष्ट
जघन्य
मध्यम
उत्कृष्ट
उत्कृष्ट
जघन्य
मध्यम
उत्कृष्ट
घनांगुल
जगच्छ्रेणी
जगत्प्रतर
घनलोक

तिर्यग्योनिजानां च ।। ३९ ।।

तिर्यग्गतिनामकर्मोदयजनितत्वात्तिरोञ्चतीति तिर्यञ्चो जीवविशेषा रूढाः । योनिरत्र जन्मोच्यते । तिरश्चां योनिस्तिर्यग्योनिः । तिर्यग्योनौजातास्तिर्यग्योनिजास्तेषां तिर्यग्योनिजानाम् । चशब्दः प्रकृताभिसम्बन्धार्थः । तेन तिर्यग्योनिजानां चोत्कृष्टा भवस्थितिस्त्रिपल्योपमा । जघन्यान्तर्मुहूर्ता । मध्येऽनेकविध-विकल्प इति चात्र वेदितव्यम् । तिरश्चां पुनरपि विशेषप्रतिपादनार्थमिदमुच्यते—तिर्यञ्चस्त्रिविधा—एकेन्द्रियविकलेन्द्रिय—पञ्चेन्द्रियभेदात् । एकेन्द्रिया-विकलेन्द्रियाः पंचेन्द्रियाश्चेति त्रिविधास्तिर्यञ्चो वेदितव्याः । द्वादश द्वाविंशति दश सप्त त्रि-वर्षसहस्राण्येकेन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिर्यथासम्भवं त्रीणि रात्रिदिवानि च । एकेन्द्रियाः पञ्चविधाः पृथिवीकायिका, अप्कायिकास्तेजस्कायिका, वायुकायिका, वनस्पतिकायिकाश्चेति । तत्र पृथिवीकायिका द्विधा—शुद्धपृथिवीकायिकाः खरपृथिवीकायिकाश्चेति । तत्र शुद्धपृथिवीकायिकानामुत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशवर्षसहस्राणि । खरपृथिवी-

---

जिसप्रकार मनुष्यों की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति है उसीप्रकार तिर्यचों की भी होती है ऐसा अगले सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ— तिर्यचों की स्थिति [आयु] भी मनुष्यवत् उत्कृष्ट तीन पल्य और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

तिर्यंच गति नाम कर्म के उदय से तिरछे–कुटिल होते हैं वे तिर्यच जीव कहलाते हैं, तिरोञ्चति इति तिर्यचः यह तिर्यंच शब्द की निष्पत्ति है । यह शब्द तिर्यंच जीवों में रूढ है । यहां जन्म को योनि कहते हैं । तिर्यंच की योनि में होने वाले तिर्यंच योनिज हैं । च शब्द प्रकृत अर्थ के संबंध के लिये है । तिर्यंचों की भी उत्कृष्ट भव स्थिति तीन पल्य की है, तथा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है । मध्य के अनेक भेद हैं ऐसा यहां जानना चाहिये । अब तिर्यञ्च के विषय में विशेष प्रतिपादन करते हैं—तिर्यञ्च के तीन भेद हैं—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय । एकेन्द्रियों की उत्कृष्ट स्थिति बारह हजार वर्ष, बावीस हजार वर्ष, दश हजार वर्ष, सात हजार वर्ष, तीन हजार वर्ष तथा तीन दिन रात की यथा—संभव जाननी चाहिये । इसीको बताते हैं—एकेन्द्रिय पांच प्रकार के हैं पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक । पृथिवीकायिक के दो भेद हैं शुद्ध पृथिवीकायिक और खर पृथिवीकायिक । शुद्ध पृथिवीकायिकों की उत्कृष्ट आयु बारह हजार वर्ष की है । खर पृथिवी

कायिकानां द्वाविंशतिर्वर्षसहस्राणि । वनस्पतिकायिकानां दशवर्षसहस्राणि । अप्कायिकानां सप्तवर्षं सहस्राणि । वायुकायिकानां त्रीणि वर्षसहस्राणि । तेजस्कायिकानां त्रीणि रात्रिंदिवानि । विकलेन्द्रियाणां द्वादशवर्षैकान्नपञ्चाशद्रात्रिंदिवानि षण्मासाश्च—द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशवर्षाः । त्रीन्द्रियाणामेकान्नपञ्चाशद्रात्रिंदिवानि । चतुरिन्द्रियाणां षण्मासाः । पञ्चेन्द्रियाणां पूर्वकोटी नवपूर्वांगानि द्विचत्वारिंशद्द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि त्रिपल्योपमा च । पञ्चेन्द्रियास्तैर्यग्योना पञ्चविधाः जलचराः परिसर्पा उरगाः पक्षिणश्चतुः पदाश्चेति । तत्र जलचराणामुत्कृष्टा स्थितिः पूर्वकोटी । परिसर्पाणां गोधानकुलादीनां नवपूर्वाङ्गानि । उरगाणां द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्राणि । पक्षिणां द्वासप्ततिवर्षसहस्राणि । चतुष्पदां त्रिपल्योपमा । सर्वेषां जघन्यस्थितिरन्तर्मुहूर्ता । किमर्थो योगविभागः ? यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः । एकयोगे हि कृते नृणां त्रिपल्योपमा तिरश्चामन्तर्मुहूर्तेति यथासंख्यं स्यात् । तस्मात्प्रत्येकमुभे स्थिती यथा स्यातामिति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो योगविभागः क्रियते । अथैषां काय-

---

कायिकों की बावीस हजार वर्ष, वनस्पतिकायिक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति दश हजार वर्ष, जलकायिकों की सात हजार वर्ष, वायुकायिकों की तीन हजार वर्ष और अग्निकायिकों की तीन दिन रात की उत्कृष्ट आयु होती है । विकलेन्द्रियों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष, उनचास दिन रात और छह मास की है । अर्थात् द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट आयु बारह वर्ष प्रमाण है, त्रीन्द्रियों की उनचास दिन रात की और चतुरिन्द्रियों की छह मास की उत्कृष्ट आयु है । पंचेन्द्रियों में पूर्व कोटी, पूर्वांग, बियालीस हजार, बहत्तर हजार वर्ष और तीन पल्य की आयु है । इसीको आगे स्पष्ट करते हैं—पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च पांच प्रकार के हैं—जलचर, परिसर्प, उरग, पक्षी और चतुष्पद । उनमें जलचर जीवों की उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटी है । गोधा, नकुल आदि परिसर्पों की नव पूर्वांग वर्ष की उत्कृष्ट आयु है । उरग—सर्प—नागों की बियालीस हजार वर्ष की, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्ष की, चतुष्पदों की तीन पल्यों की आयु है । इन सभी जीवों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

प्रश्न—मनुष्यों की आयु और तिर्यञ्चों की आयु पृथक पृथक सूत्र द्वारा क्यों कही ?

उत्तर—यथासंख्य लगाने का प्रसंग हटाने के लिये, मनुष्यों की आयु तीन पल्य और तिर्यञ्च की आयु अन्तर्मुहूर्त्त है ऐसा अर्थ एक सूत्र करने पर हो जाता, अतः प्रत्येक के दोनों स्थिति सिद्ध हो जाय, यथासंख्य का प्रसंग दूर होने के लिये सूत्र विभाग क्रिया गया है ।

स्थितिः का ? कः पुनरनयोर्विशेषः ? एकभवविषया भवस्थितिः । कायस्थितिरेककायाऽपरित्यागेन नानाभवग्रहणविषया । यद्येवमुच्यतां कस्य का कायस्थितिः ? उच्यते–पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकानां कायस्थितिरुत्कृष्टा असंख्येया लोकाः । वनस्पतिकायिकस्यानन्तः कालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरिवर्ताः आवलिकाया असंख्येयभाग मात्रा विकलेन्द्रियाणाम् । असंख्येयानि वर्षसहस्राणि पञ्चेन्द्रियाणाम् । तिर्यङ्मनुष्याणां तिस्रः पल्योपमाः पूर्वकोटीपृथक्त्वेनाभ्यधिकाः । तेषां सर्वेषां जघन्या कायस्थितिरन्तर्मुहूर्ता । देवनारकाणां भवस्थितिरेव न कायस्थितिः ।।

शशधरकरनिकरसतारनिस्तलतरलतलमुक्ताफलहारस्फारतारानिकुरुम्बबिम्बनिर्मलतरपरमोदार
शरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघातीन्धनसङ्घातसकलविमलकेवलालोकित-

---

प्रश्न— इन जीवों की काय स्थिति कौनसी है, तथा भव स्थिति और काय स्थिति में क्या अन्तर है ?

उत्तर—एक भव या पर्याय विषयक स्थिति [आयु] भव स्थिति कहलाती है। एक काय का त्याग नहीं करते हुए नाना भव ग्रहण करना काय स्थिति कहलाती है ।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो बताईये कि किस जीव की कायस्थिती कितनी है ?

उत्तर—पृथिवीकायिक, जलकायिक अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्येय लोक प्रमाण है अर्थात् असंख्याते लोकों के जितने प्रदेश हैं उतने काल प्रमाण है । वनस्पतिकायिकों की कायस्थिति अनन्त काल की है, उस काल में असंख्यात पुद्गल परावर्त्तन हो जाते हैं । आवली के असंख्येय भाग मात्र विकलेन्द्रियों की कायस्थिति है। पंचेन्द्रियों की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्येय हजार वर्षों की है । तिर्यञ्च मनुष्यों की उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्व कोटी पृथक्त्व अधिक तीन पल्य प्रमाण है । इन सर्व ही जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है । देव नारकियों की भवस्थिति ही होती है कायस्थिति नहीं होती क्योंकि देव तथा नारकी जीव मरकर तत्काल देव या नारकी नहीं बनते इन्हें मध्य में मनुष्य या तिर्यञ्च का भव लेना पड़ता है लगातार देव ही होते रहें या नारकी ही होते रहें ऐसा संभव नहीं है ।

सकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचिदचित्स्वभाव-
भावाभिधानसाधितस्वभावपरमाराध्यतममहासैद्धान्त: श्रीजिनचन्द्र-
भट्टारकस्तच्छिष्यपण्डितश्रीभास्करनन्दिविरचित-
महाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां
तृतीयोऽध्यायस्समाप्त ।

जो चन्द्रमा की किरण समूह के समान विस्तीर्ण तुलना रहित मोतियों के विशाल हारों के समान एवं तारा समूह के समान शुक्ल निर्मल उदार ऐसे परमौदारिक शरीर के धारक हैं, शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि की उज्ज्वल ज्वाला द्वारा जला दिया है घाति कर्मों रूप ईन्धन समूह को जिन्होंने ऐसे, तथा सकल विमल केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण लोकालोक के स्वभाव को जानने वाले श्रीमान् परमेश्वर जिनपति के मत को जानने में विस्तीर्ण बुद्धिवाले, चेतन अचेतन द्रव्यों को सिद्ध करने वाले परम आराध्य भूत महा-सिद्धान्त ग्रन्थों के जो ज्ञाता हैं ऐसे श्री जिनचन्द्र भट्टारक हैं उनके शिष्य पंडित श्री भास्कर नन्दी विरचित सुखबोधा नामवाली महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ ।
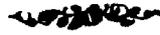
अथ चतुर्थोऽध्यायः

इदानीं देवप्रकारप्रतिपत्त्यर्थमाह—

देवाश्चतुर्निकायाः ।। १ ।।

अन्तरङ्गदेवगतिनामकर्मोदये सति बाह्यविभूतिविशेषैर्द्वीपाद्रिसमुद्रादिषु यथेष्टं दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः । स्वधर्मविशेषापादितभेदस्य शुभदेवगतिनामकर्मण उदयसामर्थ्यान्निचीयन्ते व्यवस्थाप्यन्त इति निकायाः संघाता इत्यर्थः । ते च भवनवासिनो व्यन्तरा ज्योतिष्का वैमानिका इति चत्वारो निकाया येषां ते चतुर्निकाया देवा वेदितव्याः न पुनर्ब्रह्माद्यष्टसङ्ख्याता अन्यथा वेत्यर्थः । देवाश्चतुर्निकाया इति जात्यपेक्षयैकवचननिर्देशेन सिद्धे बहुवचननिर्देश इन्द्रसामानिकादिस्थित्यादिकृतावान्तरभेदबहुत्वसंसूचनार्थः । तत्र त्रिषु निकायेषु देवानां लेश्यावधारणार्थमाह—

सूत्रार्थ—देव चार निकाय वाले हैं ।

अंतरंग में देवगति नाम कर्म के उदय होने पर बाह्य विभूति विशेषों द्वारा द्वीप, पर्वत, समुद्र आदि में जो यथेच्छ क्रीड़ा करते हैं वे देव कहलाते हैं । अपने धर्म विशेष से भेद को प्राप्त ऐसे शुभ देवगति नाम के उदय के सामर्थ्य से जो व्यवस्थित होते हैं वे निकाय कहलाते हैं अर्थात् देवगति नाम कर्म के अन्तर्भेद बहुत हैं उन भेद वाले शुभ नाम कर्मों के उदय से देवों में भेद होते हैं अतः देवों के चार निकाय–[संघात-समूह] हैं, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक इसप्रकार चार निकाय हैं जिनके, वे चतुर्निकाय कहलाते हैं । देवाश्चतुर्निकाया ऐसा सूत्र में बहु वचन का प्रयोग इन्द्र, सामामिक आदि भेद तथा स्थिति आदि विषयक भेदों की सूचना के लिये किया गया है ।

तीन निकायों में देवों की लेश्या का अवधारण करते हैं—

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ।। २ ।।

आदौ आदितः । एतस्योपादानादन्तेऽन्यथा वा निकायग्रहणनिवृत्तिर्भवति । त्रिष्विति वचनादेकस्य द्वयोर्वा निवर्तनम् । चतुर्णां पुनरप्रसङ्ग एवादित इति वचनात् । पञ्चमाद्यभावाच्चतुर्थस्यादित्वाघटनात् । पीतं तेजः । पीता अन्ते यासां ताः पीतान्ताः । पीतान्ता लेश्या येषां ते पीतान्तलेश्या देवाः । आगमान्तरे षड्लेश्याः प्रपञ्चिताः—कृष्णा नीला कापोती पीता पद्मा शुक्ला चेति । ताश्च द्रव्यभावभेदाद्द्वेधा । तत्र देहकान्तिरूपा द्रव्यलेश्या । कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्भावलेश्या । उक्तं च—

> लेश्या योगप्रवृत्तिः स्यात्कषायोदयरञ्जिता ।
> भावतो द्रव्यतोऽङ्गस्य च्छविः षोढोभयी तु सा ।।

ततो भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्काख्यादिनिकायत्रये देवानां पीता पद्मा शुक्ला चेति लेश्यात्रयं द्रव्यतोऽस्ति । षडपि लेश्या द्रव्यतः सन्तीति केचिदाचक्षते । तदुक्तं सिद्धान्तालापे—

सूत्रार्थ—आदि के तीन निकायों में पीतान्त लेश्या होती है । सप्तमी अर्थ में आदि शब्द से तस् प्रत्यय आया है, आदितः कहने से अन्त का या अन्य निकाय का ग्रहण न होकर प्रारंभ के निकायों का ग्रहण होता है तथा "त्रिषु" कहने से एक या दो निकाय ग्रहण का निषेध हो जाता है, "आदितः" कहने से चार निकायों का प्रसंग नहीं आता, क्योंकि पांच आदि निकाय तो है नहीं और चतुर्थ के आदिपना संभव नहीं । "पीतान्त लेश्याः" में बहुव्रीहि समास है । आदि के तीन प्रकार के देवों में पीत तक की लेश्यायें होती हैं ।

आगम में छह लेश्या कही हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल । पुनः उनके द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या ऐसे दो भेद हैं । उनमें शरीर की कान्ति रूप द्रव्य लेश्या है और कषाय उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति भाव लेश्या है । कहा भी है—कषायोदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति भाव से लेश्या है और शरीर की कान्ति द्रव्य से लेश्या है । ये दोनों छह भेद वाली हैं ।।१।। भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिष्क नाम वाले तीन निकाय के देवों के पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन द्रव्य लेश्या हैं । तथा कोई कोई इन देवों के द्रव्य लेश्या छह मानते हैं ।

षड्लेश्याङ्का मतेऽन्येषां ज्योतिष्का भौमभावनाः ।
कापोतमुद्गगोमूत्रवर्णलेश्या निलाङ्गिनः ॥इति॥

तेषामेवापर्याप्तकानां कृष्णनीलकापोत्यस्तिस्रो भावतो लेश्या भवन्ति । पर्याप्तकानां तु तेषामेकैव जघन्या पीतलेश्येति सूत्रे भावलेश्याचतुष्टयमुक्तम् । एतस्य प्रसङ्गेनात्र साधारणवृत्त्या षण्णां लेश्यानां शरीरमाश्रित्य तावत् प्ररूपणं क्रियते । तत्र बादराणां पृथिवीकायिकानां षड्लेश्यानि शरीराणि । तथा अप्कायिकानां शुक्ललेश्यानि । तथा अग्निकायिकानां तेजोलेश्यानि । तथा वातकायिकानां कापोतलेश्यानि । तथा वनस्पतिकायिकानां षड्लेश्यानि । सर्वेषां सूक्ष्माणि शरीराणि कापोतलेश्यानि । सर्वे चापर्याप्तकाः कापोतलेश्याङ्काः । सर्वेषां च विग्रहगतौ शुक्ललेश्यानि शरीराणि । कार्मणं शुक्ललेश्यं । तैजसं तेजोलेश्यम् । तिर्यमनुष्याणामौदारिकं षड्लेश्यं । सर्वेषां देवानां

सिद्धांत आलाप में कहा है कि—अन्य किन्हीं के मत में ज्योतिष्क, व्यंतर और भवनवासी के द्रव्य लेश्या छहों होती हैं अर्थात् ये देव छह प्रकार के वर्ण वाले शरीरों से युक्त होते हैं। वायुकायिक जीवों के शरीर कापोत, मूंग तथा गोमूत्र सदृश वर्ण वाले होते हैं [घनवात गोमूत्र वर्ण का, घनोदधिवात मूंग वर्ण का और तनुवात नाना वर्ण का है।]

भावन, व्यंतर और ज्योतिष्क देवों के अपर्याप्त अवस्था में कृष्ण, नील और कापोत भाव लेश्या होती हैं। और पर्याप्त अवस्था में एक जघन्य पीत लेश्या होती है, इसप्रकार सूत्र में भाव की अपेक्षा उक्त देवों की चार लेश्या बताई गई हैं।

इस प्रसंग में साधारण रूप से शरीर का आश्रय लेकर छह लेश्या का निरूपण करते हैं अर्थात् द्रव्य लेश्या बतलाते हैं—बादर पृथिवी कायिकों के शरीर छह लेश्या वाले—वर्ण वाले होते है। जलकायिकों के शरीर शुक्ल वर्ण के हैं। अग्निकायिकों के शरीर तेज लेश्या—पीत वर्ण के हैं। वायुकायिकों के शरीर कपोत वर्ण हैं। वनस्पतिकायिकों के शरीर छह लेश्या वाले—वर्ण वाले होते हैं।

सभी सूक्ष्म जीवों के सूक्ष्म शरीर कपोत वर्ण के हैं। सभी अपर्याप्तकों के शरीर कपोत वर्ण के हैं। विग्रह गति में सभी के शरीर [कार्मण] शुक्ल वर्ण के हैं। कार्मण शरीर शुक्ल है। तैजस शरीर तेजो लेश्या—पीत वर्ण है। तिर्यञ्च और मनुष्यों के औदारिक शरीर छह लेश्या वाले अर्थात् छह वर्ण वाले हैं। सभी देवों के

मूलनिर्वर्तनातः पीतपद्मशुक्ललेश्यानि शरीराणि । उत्तरनिर्वर्तनातः शुक्लानि । देवीनां मूलनिर्वर्तनातः पीतलेश्यानि । उत्तरनिर्वर्तनातः षड्लेश्यानि । नारकाणां कृष्णलेश्यान्येव । विशेषतः पुनर्भावलेश्योच्यते—मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगैर्जनितः प्राणिनां संस्कारो भावलेश्योक्ता । तत्र यस्तीव्रसंस्कारः स कापोती लेश्या । तीव्रतरो नीललेश्या । तीव्रतमः कृष्णलेश्या । मन्दः संस्कारः पीतलेश्या । स एव मन्दतरः पद्मलेश्या । मन्दतमस्तु शुक्ललेश्येति च ज्ञेयम् । एताः षडपि लेश्या अनन्तभागवृद्धयसङ्ख्यातभागवृद्धिसङ्ख्यातभागवृद्धिसङ्ख्यातगुणवृद्धयसङ्ख्यातगुणवृद्धयनन्तगुणवृद्धिक्रमेण प्रत्येकं षट्स्थान पतिता भवन्ति । एतासां दृष्टान्तद्वारेण लक्षणमुच्यते—तत्र षण्णां फलार्थिनां पुंसां तरोर्निर्मूलोच्छेदे तीव्रतमकषायानुरञ्जितमनोवाक्कायप्रवृत्तित्रयं भावलेश्या कृष्णा । तरोः स्कन्धोच्छेदे तीव्रतरकषायानुरञ्जितं तत्त्रितयं नीला । तरोः शाखोच्छेदे तीव्रकषायानुरञ्जितं तत्कापोती । तरोरुपशाखोच्छेदे मन्दकषायानुरञ्जितं तत्पीता । तरोः फलोच्चये मन्दतरकषायानुरञ्जितं तत्पद्मा । तरोरधःपतित-

---

शरीर मूल निर्वर्तना से पीत, पद्म शुक्ल वर्ण वाले हैं । उत्तर निर्वर्तना की अपेक्षा शुक्ल वर्ण हैं । देवियों के शरीर मूल निर्वर्तना की अपेक्षा पीत वर्ण हैं अर्थात् जन्मतः जो शरीर हैं वे देवियों के एक पीत वर्णवाले है और उत्तर निर्वर्तना की अपेक्षा छह वर्ण वाले शरीर होते हैं सभी नारकियों के शरीर कृष्ण वर्ण ही हैं ।

पुनः विशेष रूप से भाव लेश्या का कथन करते हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग द्वारा जीवों का जो संस्कार होता है वह भाव लेश्या है । उनमें जो तीव्र-संस्कार है वह कापोती लेश्या है, तीव्रतर संस्कार नील लेश्या है । तीव्रतम संस्कार कृष्ण लश्या है । मन्द संस्कार पीत लेश्या है । मंदतर संस्कार पद्म लेश्या है । मंदतम संस्कार शुक्ल लेश्या है । इन छहों भाव लेश्याओं के अनंत भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनंतगुण वृद्धि ये षड् गुणी वृद्धि स्थान होते हैं ।

अब इन लेश्याओं के लक्षण दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—फलों के इच्छुक छह पुरुष हैं । उनमें जिस पुरुष के फल के वृक्ष को जड़ से काटने के भाव हैं तीव्रतम कषाय से अनुरंजित मन, वचन काय की जो प्रवृत्ति त्रय है वह भाव कृष्ण लेश्या कहलाती है । उक्त वृक्ष का स्कन्ध–तना काटने के जिसके भाव हैं वह पुरुष नील लेश्या वाला है उसके तीव्र तर कषायानुरंजित तीन योग की प्रवृत्ति है । जिस पुरुष के वृक्ष की शाखा काटने के भाव हैं वह भाव तीव्र कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति रूप कापोती लेश्या है । जिस पुरुष के वृक्ष की उपशाखा काटने के भाव हैं वह मंद कषाय से अनुरंजित

फलादाने मन्दतमकषायानुरञ्जितं मनोवाक्कायप्रवृत्तित्रितयं शुक्ललेश्येति च बोद्धव्यं। तथा गुण स्थानेषु षड्लेश्यानां संग्रहश्लोकः—

लेश्याश्चतुर्षु षट्षट्च तिस्रस्तिस्रः शुभास्त्रिषु।
गुणस्थानेषु शुक्लैका षट्सु निर्लेश्यमन्तिमम्॥
(६-६-६-६, ३-३-३, १-१-१-१-१-१, ०)

तथा कृष्णनीलकापोतलेश्या अप्रशस्ता अपर्याप्तेषु भोगभूमिजेषु भवन्ति। अपर्याप्तभोग-भूमिजक्षायिकसम्यग्दृष्टौ कापोतलेश्या जघन्या स्यात्। नरतिर्यक्षु कर्मभूमिजेषु षड्लेश्या भवन्ति। नरतिर्यक्षु भोगभूमिजेषु पर्याप्तेषु पीतपद्मशुक्लाः प्रशस्ता भवन्ति। एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेष्वाद्यं लेश्यात्रयं सम्भवति। तथा चोक्तं—

योग प्रवृत्ति रूप पीत लेश्या है। जिस पुरुष के वृक्ष के फल तोड़ने के भाव हैं वह मंदतर कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति रूप पद्म लेश्या है। जिस पुरुष के वृक्ष के नीचे स्वतः गिरे मात्र फल लेने के भाव हैं वह मंदतम कषाय से अनुरंजित मन वचन काय की प्रवृत्तित्रय रूप शुक्ल लेश्या है।

अब यहां पर गुणस्थानों में छह लेश्याओं का अस्तित्व किस किस प्रकार है इस विषय का संग्रह श्लोक कहते हैं—प्रथम गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक छह लेश्या होती हैं। पुनः पांचवें से लेकर सातवें गुणस्थान तक तीन शुभ लेश्या होती है, इसके आगे आठवे से लेकर तेरहवें तक एक शुक्ल लेश्या होती है। अंतिम चौदहवां गुणस्थान लेश्या रहित है॥१॥

अपर्याप्तक भोगभूमिज जीवों के अप्रशस्त कृष्ण, नील और कापोत लेश्या होती है। कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि कर्म भूमिज मनुष्य मरकर भोगभूमिज मनुष्य हुआ तो उसके अपर्याप्त अवस्था में जघन्य कापोत लेश्या होती है। कर्म भूमि के मनुष्य तथा तिर्यञ्चों में छह लेश्या होती हैं। पर्याप्तक भोग भूमिज मनुष्य और तिर्यंच के प्रशस्त पीत पद्म शुक्ल लेश्या होती हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में आदि की तीन लेश्या होती हैं।

कहा भी हैं—

आद्यास्तिस्रोऽप्यपर्याप्तेष्वसङ्ख्येयाब्दजीविषु ।
लेश्याः क्षायिकसद्दृष्टौ कापोता स्याज्जघन्यका ।।
षण्नृतिर्यक्षु तिस्रोऽन्त्यास्तेष्वसङ्ख्याब्दजीविषु ।
एकाक्षविकलाऽसञ्ज्ञिष्वाद्यं लेश्यात्रयं मतम् ।। इति ।।

एवमाद्यागमाविरोधेन यथासम्भवं लेश्या नेतव्याः । तेषां निकायानामन्तर्विकल्पप्रतिपादनार्थमाह—

दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।। ३ ।।

दश च अष्ट च पञ्च च द्वादश च दशाष्टपञ्चद्वादश । ते विकल्पा भेदा येषां निकायानां ते दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः । अत्र यथासङ्ख्यमभिसम्बन्धाद्विकल्पशब्दस्य च प्रत्येकं परिसमाप्तेर्भवनवासिनो दशविकल्पाः । व्यन्तरा अष्टविकल्पाः । ज्योतिष्काः पञ्चविकल्पाः । वैमानिका इन्द्रं प्रति

असंख्यात वर्ष की आयुवाले भोगभूमिज जीवों में अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्या होती हैं, उक्त जीव यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि है तो उसके मात्र जघन्य कापोत लेश्या होती है । कर्म भूमिज मनुष्य तिर्यंच के छह लेश्या होती है । असंख्यात वर्षायुष्क जीवों के पर्याप्त अवस्था में तीन शुभ लेश्या होती हैं । एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय के आदि की तीन अशुभ लेश्यायें होती हैं ।।१।।२।।

इसप्रकार आगम के अविरोध रूप से यथासंभव मार्गणा आदि में लेश्यायें घटित करनी चाहिये ।

अब उक्त चार निकाय वाले देवों के अन्तर्विकल्प का [भेदों का] प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—प्रथम निकाय से लेकर चतुर्थ निकाय तक के देवों के क्रमशः दस, आठ, पांच और बारह भेद होते हैं चौथा निकाय जो वैमानिक का है उसमें कल्पोपपन्न वैमानिक ये बारह भेद हैं यह विशेष जानना । दश आदि पदों में द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास है । यहां यथा संख्य का संबंध है तथा विकल्प शब्द प्रत्येक के साथ लगाना, इसीको बताते हैं—भवनवासी देवों के दस विकल्प अर्थात् भेद हैं । व्यंतर देव आठ भेद वाले हैं । ज्योतिष्क देव पांच प्रकार के हैं । वैमानिकों के इन्द्र की अपेक्षा बारह भेद

द्वादशत्रिकल्पाः । कल्पोपपन्नपर्यन्तवचनान्न सर्ववैमानिकानां द्वादशविकल्पत्वप्रसङ्गः । ग्रैवेयकादीनां कल्पोपपन्नत्वाऽसम्भवात् । इन्द्रादयः प्रकारा दश प्रकल्प्यन्ते येषु ते विकल्पाः षोडश भवन्ति । कल्पेषूपपन्ना घटमानाः कल्पोपपन्ना रूढिवशाद्वैमानिका एवोच्यन्ते न भवनवासिनः । कल्पोपपन्नाः पर्यन्ता मर्यादाभूता येषां ते कल्पोपपन्नपर्यन्ता निकाया इत्यर्थः । तेषां प्रत्येकमिन्द्रादिविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्य-किल्विषिकाश्चैकशः ।। ४ ।।

इन्द्रादिनामकर्मविशेषापेक्षा एता इन्द्रादयः सञ्ज्ञाः । तत्र विशिष्टाणिमादिगुणयोगादिन्दन्तीतीन्द्राः । परमाज्ञैश्वर्यवर्जितं यत् स्थानायुर्वीर्यपरिवारभोगादिकं तत्समानम् । तस्मिन्समाने भवाः सामानिका महत्तराः पितृगुरूपाध्यायतुल्याः । त्रयस्त्रिंशदेव त्रायस्त्रिंशा मन्त्रिपुरोहितस्थानीयाः

हैं । सूत्र में "कल्पोपपन्नपर्यन्ताः" पद है इस पद से सभी वैमानिकों के बारह भेद होने का प्रसंग नहीं आता, क्योंकि ग्रैवेयक आदि के कल्पोपपन्नत्व असंभव है अर्थात् सोलह स्वर्गों के ऊपर इन्द्र सामानिक आदि की कल्पना नहीं है । इन्द्र आदि दस प्रकार जिनमें घटित होते हैं वे स्वर्ग सोलह हैं । कल्प अर्थात् भेद या प्रकार जिसमें घटमान हैं वे कल्पोपपन्न हैं। रूढि वश वैमानिकों को ही कल्पोपपन्न कहा जाता है न कि भवनवासी आदि को अर्थात् इन्द्रादि की कल्पना भवनवासी आदि में भी है, किन्तु रूढिवश सोलह स्वर्गवासियों को ही कल्पोपपन्न कहते है । कल्पोपपन्न पर्यन्ताः पद में बहुब्रीहि समास है। कल्पोपपन्न पर्यन्त के चौथे निकाय तक उक्त दस आदि भेद हैं ऐसा समझना चाहिये ।

उन दस आदि में प्रत्येक के इन्द्रादि विशेष का प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद् आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषिक ये एक एक निकाय के भेद हैं ।

इन्द्र आदि नाम कर्म विशेष की अपेक्षा से ये इन्द्र आदि संज्ञा जाननी चाहिये । उनमें विशिष्ट अणिमा, महिमा आदि गुणों के संयोग से जो इन्दन्ति ऐश्वर्यशाली होवे वे इन्द्र कहलाते हैं । परम आज्ञा और ऐश्वर्य को छोड़कर जो स्थान, आयु, वीर्य, परिवार भोगादिक हैं वे जिनके समान हैं और उसमें जो होवे वे सामानिक कहलाते हैं, ये देव इन्द्र के गुरु पिता या उपाध्याय के तुल्य हैं । संख्या में तैंतीस हैं अतः इन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं, ये देव मन्त्री, पुरोहित स्थानीय हैं । बाह्य, अभ्यन्तर और मध्य परिषद्

कथ्यन्ते । बाह्याभ्यन्तरमध्यपरिषत्सु भवाः पारिषदा वयस्यपीठमर्दसमाना भवन्ति । आत्मरक्षाः शिरोरक्षसमाः । लोकं पालयन्तीति लोकपाला अर्थोत्पादककोट्टपालसदृशाः । दण्डस्थानीयानि सप्तानीकानि भवन्ति । उक्तं च—

गजाश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्तकी ।
सप्तानीकानि ज्ञेयानि प्रत्येकं च महत्तराः ।।इति।।

प्रकीर्यन्ते स्म प्रकीर्णकाः पौरजनोपमानाः । आभियोग्या वाहनादिकर्मणि प्रवृत्ता दास-तुल्याः प्रोच्यन्ते । किल्विषं पापकर्म विद्यते येषां ते किल्विषिका अन्त्यजस्थानीयाः । एषामितरेतरयोगे द्वन्द्वः । चशब्दः पूर्वविकल्पसमुच्चयार्थः । एकैकस्य निकायस्यैकशः । ततो न केवलं पूर्वोक्तविकल्पाः । किं तर्हि ते इन्द्रादयश्च दश विशेषा एकैकस्य निकायस्य भवन्तीति समुदायार्थः निकायचतुष्टये सामान्येन दशसु विकल्पेषु प्राप्तेष्वपवादार्थमाह—

त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ।। ५ ।।

त्रायस्त्रिंशाश्च लोकपालाश्च त्रायस्त्रिंशलोकपालाः । तान्वर्जयन्तीति त्रायस्त्रिंशलोकपाल

में होनेवाले पारिषद् कहे जाते हैं ये देव मित्र और पीठ मर्द सदृश हैं । शिर रक्ष के सदृश आत्म रक्ष देव हैं । लोक को पालने वाले लोकपाल अर्थात् अर्थोत्पादक कोट-पाल के समान । दण्ड स्थानीय अनीक देव हैं इनके सात प्रकार हैं कहा भी है—गज, अश्व, रथ, पदाति, वृषभ [बैल] गन्धर्व और नर्त्तकी ये सात अनीक जाननी चाहिये, इनमें प्रत्येक में एक एक प्रमुख होता है ।

प्रकीर्णक नागरिक सदृश होते हैं । वाहन कार्य में प्रवृत्त होने वाले अभियोग्य देव हैं ये दास तुल्य होते हैं । किल्विष पाप को कहते हैं जिनके किल्विष पाया जाता है वे किल्विषिक देव हैं ये चण्डाल सदृश होते हैं । इन सब पदों में इतरेतर द्वन्द्व समास है । च शब्द पहले के विकल्पों का समुच्चय करता है । एकशः अर्थात् एक एक निकाय के, इससे यह अर्थ फलित होता है कि पहले कहे हुए विकल्प ही नहीं किन्तु ये इन्द्र आदि दश विशेष भी एक एक निकाय के होते हैं ।

चारों निकायों में सामान्य से दस विकल्प प्राप्त होने पर उनमें जो अपवाद है उसको बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल नाम का विकल्प–(भेद) नहीं होता है । त्रायस्त्रिंश आदि पदों में द्वन्द्व समास है । व्यन्तर

वर्जाः। व्यन्तराश्च ज्योतिष्काश्च व्यन्तरज्योतिष्काः। व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च त्रायस्त्रिंशाल्लोकपालांश्च वर्जयित्वा परेऽष्टौविकल्पा सन्तीति समुदायार्थः। क्व कियदिन्द्रा देवा भवन्तीत्याह—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥

पूर्वयोर्भवनवासिव्यन्तरनिकाययोरित्यर्थः। द्विवचनसामर्थ्यादुभयोरपि पूर्वत्वमुत्तरनिकायापेक्षया वेदितव्यम्। द्वौ द्वाविन्द्रौ येषां देवानां ते द्वीन्द्राः। अन्तर्नीतवीप्सार्थोऽयं निर्देशो यथा सप्तपर्णोऽष्टापद इति। तद्यथा भवनवासिनिकाये तावदसुरकुमाराणां द्वाविन्द्रौ चमरवैरोचनौ। नागकुमाराणां धरणभूतानन्दौ। विद्युत्कुमाराणां हरिसिंहहरिकान्तौ। सुपर्णकुमाराणां वेणुदेववेणुतालिनौ। अग्निकुमाराणामग्निशिखाग्निमाणवकौ। वातकुमाराणां वैलम्बप्रभंजनौ। स्तनितकुमाराणां

और ज्योतिष्कों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल को छोड़कर शेष आठ भेद हैं यह समुदायार्थ हुआ।

कहां पर कितने इन्द्र होते हैं ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्व के दो निकायों में दो दो इन्द्र होते हैं। पूर्व के अर्थात् भवनवासी और व्यन्तर निकाय में दो दो इन्द्र हैं। पूर्वयोः ऐसा द्विवचन होने से दोनों निकायों को पूर्वपना उत्तर निकायों की अपेक्षा आ जाता है। दो दो इन्द्र जिन देवों के होते हैं वे "द्वीन्द्राः" कहलाते हैं। 'द्विः' इसमें वीप्सा अर्थपरक निर्देश है, जैसे सप्तपर्णः, अष्टापदः इत्यादि पदों में वीप्सा अर्थ निहित होता है [सप्त सप्त पर्णानि यस्यासौ सप्तपर्णः वृक्षविशेषः, अष्टौ अष्टौ पदाः यस्यासौ अष्टापदः इत्यादि में जैसे सात आठ संख्या को दो बार दुहरा कर अर्थ निकलता है वैसे यहां द्वौ द्वौ इन्द्रौ येषां ते द्वीन्द्राः ऐसा अर्थ है] अब उन इन्द्रों को बतलाते हैं—भवनवासी निकाय में असुरकुमार के दो इन्द्र हैं चमर और वैरोचन। नागकुमारों के धरण और भूतानंद। विद्युत्कुमारों के हरिसिंह और हरिकान्त, सुपर्णकुमारों के वेणुदेव और वेणुताली। अग्निकुमार देवों के अग्निशिखी और अग्निमाणवक। वातकुमारों के वैलंब और प्रभंजन, स्तनितकुमारों के सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारों के पूर्ण और वशिष्ट तथा दिक्कुमारों के अमित गति और अमित वाहन इन्द्र हैं।

व्यंतर निकाय में किन्नरों के दो इन्द्र हैं किन्नर और किंपुरुष। किंपुरुष जाति के व्यन्तरों के सत्पुरुष और महापुरुष, महोरग देवों के अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश, यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र, राक्षसों के भीम और

सुघोषमहाघोषौ । उदधिकुमाराणां जलकान्तजलप्रभौ । द्वीपकुमाराणां पूर्णवशिष्टौ । दिक्कुमाराणामितगत्यमितवाहनौ । तथा व्यन्तरनिकाये किन्नराणां द्वाविन्द्रौ किन्नरकिंपुरुषौ । किंपुरुषाणां सत्पुरुषमहापुरुषौ । महोरगाणामतिकायमहाकायौ । गन्धर्वाणां गीतरतिगीतयशसौ । यक्षाणां पूर्णभद्रमाणिभद्रौ । राक्षसानां भीममहाभीमौ पिशाचानां कालमहाकालौ । भूतानां प्रतिरूपाप्रतिरूपौ । अथ कायसुरतोपसेवनसुखा देवा आकुत इत्याह—

कायप्रवीचारा आऐशानात् ।। ७ ।।

कायः शरीरं प्रवीचारो मैथुनोपसेवनम् । काये कायेन वा प्रवीचारो येषां देवानां ते कायप्रवीचाराः । आङभिव्याप्त्यर्थः । अत्र विसन्धिरसन्देहार्थः । ततो भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मैशानीयानामेवदेवानां प्रतिपत्तिः । ते हि संक्लिष्टकर्मकत्वात् स्त्रीविषयं सुखं मनुष्यवदनुभवन्ति । शेषा देवाः किं प्रवीचारा इत्याह—

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ।। ८ ।।

महाभीम, पिशाचों के काल और महाकाल तथा भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप नाम के इन्द्र होते हैं ।

प्रश्न—काय से काम सेवन का सुख भोगने वाले देव कहां तक होते हैं ?

उत्तर—इसी को अग्रिम सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—ऐशान स्वर्ग तक देवों के काय से प्रवीचार–अर्थात् काम सेवन होता है ।

काय शरीर को कहते हैं, प्रवीचार का अर्थ मैथुन उपसेवन है । काय में या काय द्वारा जिन देवों का प्रवीचार होता है वे काय प्रवीचार कहलाते हैं । आङ् अव्यय अभिविधि अर्थ में है । "आ और ऐशानात्" इन दो पदों की संधि नहीं की है जिससे अर्थ में संदेह नहीं रहे । उससे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों की ही प्रतिपत्ति हो । ये देव संक्लिष्ट कर्म वाले होने से स्त्री विषयक सुख को मनुष्य के समान भोगते हैं ।

शेष देव कौनसे प्रवीचार वाले हैं ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—शेष देव क्रमशः स्पर्शप्रवीचार, रूपप्रवीचार, शब्दप्रवीचार और मनः प्रवीचार वाले होते हैं ।

उक्तेभ्योऽन्येऽवशिष्टाः सानत्कुमारादयः कल्पवासिन एव शेषा उच्यन्ते स्पर्शश्च रूपं च शब्दश्च मनश्च स्पर्शरूपशब्दमनांसि । तेषु तैर्वा प्रवीचारो येषां देवानां ते स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः । पुनः प्रवीचारग्रहणमिष्टसंप्रत्ययार्थम् । तच्चेष्टमागमाविरोधेन योजनम् । कथमिति चेदुच्यते—सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवा देव्यश्च स्पर्शप्रवीचाराः । ब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु रूपप्रवीचाराः । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु शब्दप्रवीचाराः । आनतप्राणतारणाच्युतेषु मनःप्रवीचारा इति । अथ कल्पातीताः कीदृशा इत्याह—

परेऽप्रवीचाराः ॥ ६ ॥

परे इत्यनेनोत्तराः सर्वे ग्रैवेयकादय उच्यन्ते । न विद्यते प्रवीचारो येषां तेऽप्रवीचाराः । ग्रैवेयकादयो देवाः सर्वे प्रवीचाररहिताः कामवेदनोद्रेकाभावात् । तदभावश्च विशुद्धपरिणामविशेषवशात्तेषां तत्र प्रादुर्भावात् । पूर्वेषां तु देवानां कामवेदनोदयप्रकर्षाप्रकर्षतारतम्यभेदात्कायादिप्रवीचारभेदो

पूर्वोक्त देवों से अवशेष सानत्कुमार आदि कल्पवासी देव ही शेष शब्द से कहे गये हैं । स्पर्श आदि पदों का द्वन्द्व गर्भित बहुब्रीहि समास है । सूत्र में पुनः प्रवीचार शब्द का ग्रहण इष्ट अर्थ की प्रतीति के लिये है, वह इष्ट यही है कि आगम के अनुसार स्पर्श आदि प्रवीचार घटित करना, कैसे सो बताते हैं—सानत्कुमार माहेन्द्र के देव और देवियां स्पर्श प्रवीचार वाले हैं । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव और कापिष्ठ स्वर्गस्थ देव देवियां रूप प्रवीचार युक्त हैं । शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार में शब्द प्रवीचार वाले देव देवियां हैं । आनत प्राणत आरण अच्युत में मनः प्रवीचार युक्त देव देवियां हैं ।

कल्पातीत देव किस प्रकार के हैं ऐसी आशंका होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—आगे के देव प्रवीचार रहित हैं ।

परे शब्द से आगे के ग्रैवेयक आदि के देव कहे गये हैं । जिनके प्रवीचार नहीं हैं वे अप्रवीचार कहलाते हैं । ग्रैवेयक आदि के देव सभी प्रवीचार रहित हैं, क्योंकि उनके काम का उद्रेक ही नहीं होता । विशुद्ध परिणाम विशेष होने से उन देवों के कामोद्रक का अभाव होता है । भवनवासी आदि या सौधर्मादि के देवों के काम की वेदना के उदय की प्रकर्ष और अप्रकर्ष की तरतमता के भेद से काय प्रवीचार आदि में भेद होता है । काम वेदना के अनुरूप भावना विशेष से उन देवों ने कर्मों का उपार्जन

भवति । तदनुरूपभावनाविशेषतस्तेषां तदुपार्जनादिति व्याख्येयम् । इदानीमाद्यनिकायदेवानां दशविकल्पानां सामान्यविशेषसंज्ञाप्रतिपादनार्थमाह—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥

भवनानि गृहाणि । भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिन इति । भवनवासिनामकर्मोदयादादिनिकायदेवानां सामान्यसंज्ञेयम् । तद्विशेषनामकर्मोदयादसुरादयो विशेषसंज्ञा वेदितव्याः । असुरादीनां शब्दानामितरेतरयोगे द्वन्द्ववृत्तीनां कुमारशब्देन सह कर्मधारय क्रियते । तद्यथा—असुराश्च नागाश्च विद्युतश्च सुपर्णाश्चाग्नयश्च वाताश्च स्तनिताश्चोदधयश्च द्वीपाश्च दिशश्च असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिशः । ते च ते कुमाराश्च असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारा इति सर्वेषां देवानामवस्थितवयः स्वभावत्वेऽप्युद्धतवेषभूषायुधयानवाहनक्रीडनादिकं कुमाराणामिवैषामाभासत इति भवनवासिषु कुमारव्यपदेशो रूढः । स च कुमारशब्दोऽसुरादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । असुरकुमारा नागकुमारा विद्युत्कुमाराः सुपर्णकुमारा अग्निकुमारा वात-

---

किया था अतः इस तरह के उद्रेक होते हैं ऐसा व्याख्यान करना चाहिये, अभिप्राय यह है कि पुरुष वेद आदि कर्म के उदय की तरतमता से प्रवीचार में अंतर पड़ता है और कर्मोदय में तरतमता भी पूर्व भव में होने वाले तदनुरूप परिणाम के कारण होती है।

अब प्रथम निकाय के दश भेद वाले देवों की सामान्य विशेष संज्ञा का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—भवनवासी देव दश भेद वाले हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

भवन गृहों को कहते हैं, भवनों में रहने वाले भवनवासी हैं। भवनवासी नाम कर्म के उदय से प्रथम निकाय के देवों की यह संज्ञा है। पुनः उसीके विशेष नाम कर्म के उदय से असुर आदि विशेष संज्ञा होती है। असुर आदि शब्दों का इतरेतर द्वन्द्व करके कुमार शब्द के साथ कर्मधारय समास करना।

यद्यपि सभी देव अवस्थित वय वाले स्वभाव वाले होते हैं फिर भी इन असुर आदि की वेषभूषा, आयुध, यान, वाहन, क्रीडनादिक उद्धत होते हैं, ये कुमार—किशोर के समान प्रतीत होते हैं अतः भवनवासियों में कुमार नाम रूढ़ है। कुमार शब्द प्रत्येक के साथ जोड़ना, असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार,

कुमाराः स्तनितकुमारा उदधिकुमारा द्वीपकुमारा दिक्कुमारा इति । तत्र रत्नप्रभायाः पङ्कबहुलभागेऽसुरकुमाराणां भवनानि । शेषाणां नवानां खरपृथ्वीभागेषूपर्यधश्चैकैकं योजनसहस्रं वर्जयित्वा शेषे चतुर्दशयोजनसहस्रसङ्ख्ये भवनानि सन्ति । नोपर्यधश्चेति व्याख्येयम् । द्वितीयनिकाये किं सञ्ज्ञा अष्टविधा देवा ? इत्याह—

व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ११ ॥

विविधानि देशान्तराणि त्रिकचत्वारादीनि निवासा येषां ते व्यन्तरा इति तन्नामकर्मसामान्योदयापेक्षा किन्नरादीनामष्टानामप्यन्वर्था सामान्यसंज्ञेय बोद्धव्या । किन्नरादयश्च विशेषसंज्ञास्तन्नामकर्मविशेषोदयनिमित्ता रूढाः । किन्नराश्च किंपुरुषाश्च महोरगाश्च गन्धर्वाश्च यक्षाश्च राक्षसाश्च

वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार । उनमें रत्नप्रभा भूमि के पंकबहुल भाग में असुरकुमारों के भवन हैं । शेष नागकुमार आदि नौ कुमारों के भवन खर पृथिवी के ऊपर नीचे के एक एक हजार योजन के भाग को छोड़कर शेष चौदह हजार योजन प्रमाण भाग मे हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

द्वितीय निकाय के आठ प्रकार के देव किन नाम वाले हैं सो बताते हैं—

सूत्रार्थ—किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये व्यन्तर जाति के देवों के आठ भेदों के नाम हैं । विविध देशान्तरों में तिराहा, चौराहा आदि में जिनके निवास हैं वे व्यन्तर कहलाते हैं, उस नाम कर्म सामान्य के उदय की अपेक्षा से किन्नरादि आठों देव जातियों की व्यन्तर यह सामान्य संज्ञा है । और किन्नर, किंपुरुष आदि जो विशेष संज्ञायें हैं वे उस उस नाम कर्म विशेष के उदय की अपेक्षा लेकर रूढ हैं । किन्नर आदि पदों में इतरेतर द्वन्द्व समास है । इस जम्बूद्वीप से असंख्यात द्वीप सागरो का उल्लंघन करके नीचे की ओर जो खर पृथिवी का भाग है, उस खर भाग पृथिवी के उपरिम भाग में राक्षस जाति के व्यन्तरों को छोड़कर शेष सात प्रकार के व्यन्तर देवों के आवास हैं [तथा राक्षसों के आवास पंक बहुल भाग में हैं ।]

भावार्थ—मध्यलोक में जंबूद्वीप आदि असंख्यात द्वीप समुद्र हैं ये सर्व ही चित्रा पृथिवी पर अवस्थित हैं, चित्रा पृथिवी के नीचे से अधोलोक प्रारंभ होता है रत्नप्रभा नाम की अधोलोक की जो पहली पृथिवी है उसके तीन भाग हैं—खर भाग, पंक भाग और अब्बहुल भाग । इनमें खर भाग सोलह हजार महा योजन मोटा है, उसके ऊपर

भूताश्च पिशाचाश्चेतीतरेतरयोगे द्वन्द्वः । तत्रास्माज्जम्बूद्वीपादसंख्येयद्वीपसमुद्रानतीत्योपरिष्ठे खर-पृथ्वीभागे सप्तानां व्यन्तराणामावासाः सन्ति । तृतीयनिकाये किं संज्ञाः पञ्चविधा देवा ? इत्याह—

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ।। १२ ।।

ज्योतिर्दीप्तिरित्यर्थः । ज्योतिर्विद्यते येषां ते ज्योतिष्का ज्योतिषायुक्तत्वाज्ज्योतिष्का इति च नामकर्मसामान्योदयनिमित्तान्वर्था पञ्चानामपि सामान्यसंज्ञेयं रूढा । सूर्यादयस्तु विशेषसंज्ञास्तन्नाम कर्मविशेषोदयहेतुकाः प्रसिद्धाः । सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ । तयोः पृथग्वचनं प्रभावादिविशेषतः प्राधान्यख्यापनार्थम् । ग्रहाश्च नक्षत्राणि च प्रकीर्णकतारकाश्च ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारका । चशब्दो-

---

का एक हजार योजन और नीचे का एक हजार योजन छोड़कर शेष भाग में किन्नर आदि सात प्रकार के व्यन्तरों के निवास हैं और राक्षसों के निवास पंक भाग में हैं । इसीप्रकार भवनवासियों के जो असुरकुमार जाति है उसका पंक भाग में निवास है शेष नौ कुमारों का पहले खर भाग में निवास है । ये सर्व निवास स्थल मध्यलोक के नीचे उस सीध में हैं जहां जंबूद्वीप आदि असंख्यात द्वीप सागरों का भाग उल्लंघन हो जाता है, अर्थात् ये निवास स्थल जंबूद्वीप आदि के नीचे नहीं हैं किन्तु उससे असंख्यात द्वीप सागर जाने के बाद नीचे के भाग में हैं ।

तीसरे निकाय में पांच प्रकार के देवों के नाम कौनसे हैं सो बताते हैं—

सूत्रार्थ—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ये ज्योतिष्क देवों के भेद हैं ।

ज्योति दीप्ति को कहते हैं । ज्योति जिनके विद्यमान है वे ज्योतिष्क हैं । ज्योतिष्क नाम कर्म सामान्य के उदय से इन पांच प्रकार के देवों की ज्योतिष्क यह सामान्य संज्ञा है, और सूर्य चंद्र आदि विशेष सज्ञा उस उस विशेष नाम कर्म के उदय से होती है । "सूर्याचन्द्रमसौ" यह पृथक् योग इनका प्रभावादि विशेषता से प्राधान्य दिखलाने के लिये किया गया है । ग्रह आदि पदों में द्वन्द्व समास है । च शब्द अनुक्त का समुच्चय करने के लिये है ।

अब इन ज्योतिष्कों का निवास बतलाते हैं—

इस समतल भूभाग से ऊपर सात सौ नब्बे योजन जाकर सर्व ज्योतिष्कों में अधोभावी तारे चलते हैं, उससे दस योजन ऊपर जाकर सूर्य चलते हैं । उससे अस्सी योजन

ऽनुक्तसमुच्चयार्थस्ततोऽस्मात्समादभूभागादूर्ध्वं सप्तयोजनशतानि नवत्युत्तराण्युत्पत्य सर्वज्योतिषा मधोभाविन्यस्तारकाश्चरन्ति । ततो दशयोजनान्युत्पत्य सूर्याश्चरन्ति । ततोऽशीतियोजनान्युत्पत्य चन्द्रमसो भवन्ति । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य नक्षत्राणि पर्यटन्ति । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य बुधाः। ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य शुक्राः । ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य बृहस्पतयः । ततश्चत्वारि योजनान्युत्पत्याङ्गारकाः । ततश्चत्वारि योजनान्युत्पत्य शनैश्चराश्चरन्तीति । स एष ज्योतिष्कविषयो नभः-प्रदेशो दशोत्तरयोजनशतबहलस्तिर्यग्घनोदधिपर्यन्त इति व्याख्येयम् उक्तं च—

णवदुत्तरसत्तसया दससीदि चदुतिगं च दुचउक्कम् ।
तारा रवि ससि रिक्खा बुह भग्गव गुरु अङ्गिरार सणी ।।

अथैषां ज्योतिष्काणां गतिविशेषविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमाह—

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।। १३ ।।

ऊपर जाकर चन्द्र विमान है । उससे तीन योजन ऊपर जाकर नक्षत्र घूमते हैं । उसके ऊपर तीन योजन जाकर बुध है । उसके तीन योजन ऊपर जाकर शुक्र है । उससे तीन योजन ऊपर जाकर बृहस्पति है । उससे चार योजन ऊपर जाकर मंगल है । उससे चार योजन ऊपर जाकर शनिग्रह है यह ज्योतिष्क देव संबंधी आकाश प्रदेश है वह कुल मिलाकर एक सौ दस योजन मोटाई युक्त है और तिरछा घनोदधि वात पर्यन्त फैला हुआ है ऐसा व्याख्यान करना चाहिये । कहा भी है—

तारा, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बुध, शुक्र, गुरु, मंगल और शनि ये ज्योतिष्क जाति के देवों के विमान इस धरातल से ऊपर सात सौ नब्बे योजन जाने पर आते हैं सर्व प्रथम तारे हैं पुनः क्रमशः दश, अस्सी, चार बार तीन तीन और दो बार चार चार इतने इतने योजन ऊपर ऊपर जाकर आते हैं ।। १ ।।

अथानंतर ज्योतिष्क के गमन के विषय में जो विवाद है उसका निराकरण करने के लिये अग्रिम सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—मनुष्य लोक में [अढ़ाई द्वीप में] ये ज्योतिष्क विमान नित्य गति शील होकर मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं ।

मेरोः प्रदक्षिणाः सव्या मेरुप्रदक्षिणा इत्येतद्विशेषणं विपरीतगतिनिराकरणार्थम् । नित्यमभीक्ष्णं गतिर्गमनं येषां ते नित्यगतयः । इदं तु विशेषणमनुपरतगतिक्रियाप्रतिपादनार्थम् । नृणां मनुष्याणां लोकः क्षेत्रं नृलोकस्तस्मिन्नृलोके । एतस्योपादानमर्धतृतीयद्वीपसमुद्रप्रमाणक्षेत्रविषयत्वप्रतिपादनार्थम् । तत एकादशभिर्योजनशतैरेकविंशैर्मेरुमप्राप्यतस्य प्रदक्षिणा ज्योतिष्का नृलोकेऽनुपरतगतयः स्वभावात्प्रत्येतव्यास्तादृशकर्मविशेषवशीकृतैः सदा गतिरताभियोग्यदेवैः प्रेर्यमाणविमानत्वाच्च । न पुनरन्यथा तेऽवबोद्धव्यास्तादृशनिमित्तान्तराभावात् । भरतैरावतयोः कीलकवद्ध्रुवास्तत्प्रादक्षि-

---

मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं यह विशेषण विपरीत गति का निराकरण करने के लिये है । नित्य अर्थात् अभीक्ष्ण सतत जिनका गमन होता है वे "नित्यगतयः" कहलाते हैं । यह विशेषण बिना रुकावट के सतत गमन क्रिया का प्रतिपादन करने के लिये दिया गया है । मनुष्यों के लोक में अर्थात् मनुष्य क्षेत्र में, अढ़ाई द्वीप और दो समुद्र प्रमाण क्षेत्र को बतलाने के लिये यह पद रखा है । मेरु से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रहकर उसकी प्रदक्षिणा ज्योतिष्क करते हैं, यह गमन बिना रुकावट के स्वभाव से होता रहता है, ऐसा जानना चाहिये, तथा उस प्रकार के विचित्र कर्मों के उदय के वशीभूत हुए गति क्रिया में रत आभियोग्य जाति के देवों द्वारा वे विमान प्रेर्यमाण हैं—उक्त देवों द्वारा उन सूर्यादि के विमानों का वहन किया जाता है, अतः ज्योतिष्क विमान सतत गतिशील हैं । ये सूर्यादिक अन्य प्रकार से गमन नहीं करते ऐसा निश्चय करना चाहिये, क्योंकि उस प्रकार का कोई निमित्त कारण नहीं है कि जिस कारण वे किसी दूसरे प्रकार से गतिशील होवें ।

भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में कोई ज्योतिष्क कील के समान ध्रुव हैं और कोई ज्योतिष्क उनकी प्रदक्षिणा रूप से भ्रमण करते हैं ऐसा आगमान्तर में कथन पाया जाता है । सो इस विषय में जिनेन्द्र द्वारा जैसा दृष्ट–देखा गया है वैसा श्रद्धान छद्मस्थों को करना चाहिये । अब यहां अधिक नहीं कहते हैं ।

विशेषार्थ—यहां पर टीकाकार ने भरत और ऐरावत क्षेत्रों में कील के समान ध्रुव ज्योतिष्कों का उल्लेख किया है तथा इन ध्रुव ज्योतिष्कों की प्रदक्षिणा करने वाले अन्य भ्रमणशील ज्योतिष्कों का भी उल्लेख किया है । कोई आगमान्तर में इस तरह का कथन है ऐसा इनका कहना है, यह एक विशेष बात है । त्रिलोकसार आदि ग्रंथों में ध्रुव ताराओं का कथन तो पाया जाता है ।

ण्येन भ्रमणशीलाश्च केचिज्ज्योतिष्कविशेषाः सन्तीत्यादि चागमान्तरे निवेदितं जिनदृष्टभावेनच्छद्म-स्थैः श्रद्धातव्यमित्यलमिहातिविस्तरेण । गतिमज्ज्योतिष्कसम्बन्धेन सांव्यवहारिककालं प्रतिपाद-यन्नाह—

तत्कृतः कालविभागः ।।१४।।

तैर्गतिमज्ज्योतिर्भिः कृतः प्रादुर्भावितस्तत्कृतः कालस्य विभागो भेदः कालविभागः। किमुक्तं भवति ? व्यवहारकालः समयावलिकादिसंज्ञिकः क्रियाविशेषपरिच्छिन्नोऽन्यस्यौदनपाकवाहदो-हादेरपरिच्छन्नस्य परिच्छेदहेतुर्गतिपरिणतज्योतिर्भिः परिच्छिद्यते न केवलया गत्या नापि केवलैर्ज्यो-

---

जैसे—छक्कदि णव तीस सयं दसप सहस्सं खवार इगिदालं ।
　　गवण ति दु गतेवण्णं थिरतारा पुक्खर दलोत्ति ।।३४७।।

अर्थ—पुष्करार्ध पर्यन्त ध्रुव तारे क्रम से छत्तीस, एक सौ उन्तालीस, एक हजार दस, इकतालीस हजार एक सौ बीस, और त्रेपन हजार दो सौ तीस हैं। अर्थात् जंबूद्वीप में स्थिर तारे ३६ हैं। लवण समुद्र में १३६। धातकी खण्ड में १०१०। कालोदक में ४११२०। और पुष्करार्ध में ५३२३० ध्रुव तारे हैं। किन्तु यहां केवल भरत ऐरावत में ही कील के समान ताराओं का उल्लेख है। सबसे अधिक विशिष्ट बात यह है कि उन कीलवत् ज्योतिष्कों की अन्य ज्योतिष्क प्रदक्षिणा देते हैं ऐसा कहा है। वह आगमान्तर कौनसा है इसका अन्वेषण आवश्यक है।

गतिशील ज्योतिष्क के संबंध से सांव्यावहारिक काल संपन्न होता है ऐसा प्रति-पादन करते हैं—

सूत्रार्थ—उक्त ज्योतिष्क के परिभ्रमण से काल का विभाग होता है।

उन गतिमान ज्योतिष्क द्वारा काल भेद प्रगट किया जाता है। अर्थ यह है कि समय आवली इत्यादि व्यवहार काल क्रिया विशेष द्वारा जाना जाता है। चावल का पकना, वाह क्रिया [बोझा ढोना] गाय का दुहना इत्यादि अपरिच्छिन्न क्रियाओं के परिच्छेद का हेतु उक्त आवली आदि व्यवहार काल है। यह काल गति में परिणत ज्योतिष्क द्वारा मापा जाता है, केवल गति के द्वारा या केवल ज्योतिष्क द्वारा नहीं।

तिभिरनुपलब्धेरपवर्तनाच्चेति । ज्योतिषां गतिर्नास्त्यनुपलब्धेरिति चेन्न—प्रोक्तज्योतिष्कविशेषा गतिमन्तो देशान्तरप्राप्त्युपलम्भाद्देवदत्तादिवदित्यनुमानतस्तत्सिद्धेरित्यलं प्रसङ्गेन। मनुष्यलोकादन्यत्र किमवस्थास्त इत्याह—

बहिरवस्थिताः ॥१५॥

नृलोकाद्बहिर्ज्योतिष्काः स्थिरीभूता एव सन्तीत्यारब्धसूत्रव्याख्यानसामर्थ्यान्नृलोकादन्यत्र ज्योतिषामस्तित्वावस्थानसिद्धेरप्रदक्षिणकादाचित्कगतिनिवृत्तिः सिद्धा भवति । चतुर्थनिकायस्य सामान्यसंज्ञाद्वारेणाधिकारसंसूचनार्थमाह—

क्योंकि अकेली गति अनुलब्ध है और गति के बिना अकेली ज्योति सदा एकसी रहेगी, अतः निश्चय होता है कि केवल गति से काल का निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि वह पायी नहीं जाती और गति के बिना केवल ज्योति से भी काल का निर्णय संभव नहीं, क्योंकि परिवर्त्तन के बिना वह सदा एकसी रहेगी ।

शंका—ज्योतिष्कों की गति नहीं है, क्योंकि वह उपलब्ध नहीं होती ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है । देखिये ! ज्योतिष्क की गति को अनुमान से सिद्ध करते हैं—वे कहे गये ज्योतिष्क विशेष [ज्योतिष्क देवों के विमान] गमन शील होते हैं [पक्ष] क्योंकि वे देश से देशान्तर में प्राप्त होते हैं जैसे देवदत्तादि पुरुष देश से देशान्तर में प्राप्त होने से गतिशील माने जाते हैं वैसे ही सूर्य आदि ज्योतिष्क एक देश से दूसरे देश में उपलब्ध होते हैं अतः अवश्य ही गतिशील हैं । अब इसमें अधिक नहीं कहते ।

प्रश्न—मनुष्य लोक से अन्यत्र पाये जाने वाले ज्योतिष्क किस प्रकार के हैं ?

उत्तर—अब इसी को सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—मनुष्य लोक से बाहर जो ज्योतिष्क हैं वे अवस्थित (स्थिर) हैं ।

नृलोक से बाह्य के ज्योतिष्क स्थिर हैं, आरब्ध सूत्र के व्याख्यान के सामर्थ्य से ही यह सिद्ध होता है किन्तु मनुष्य लोक से अन्यत्र ज्योतिष्कों का अस्तित्व सिद्ध करना है तथा वे प्रदक्षिणा नहीं करते एवं कदाचित भी गति नहीं करते यह सिद्ध करने के लिये इस सूत्र का अवतार हुआ है ।

वैमानिकाः ॥ १६ ॥

स्वस्थान्सुकृतिनो विशेषेण मानयन्ति धारयन्तीति विमानानि । तेषु भवा वैमानिकनामकर्मोदयनिमित्तत्वाद्वैमानिका इत्यतोऽधिकृता वेदितव्याः । तेषां वैमानिकानां भेदावधारणार्थमाह—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥

सौधर्मादिषु षोडशसु कल्पेषूपपन्ना उत्पन्ना ये ते कल्पोपपन्नाः । कल्पानतीताः कल्पातीताश्चेत्येवं वैमानिका देवा द्वेधा भवन्ति । कथं तर्हि ते व्यवस्थिता ? इत्याह—

उपर्युपरि ॥ १८॥

भवनवासिव्यन्तरवन्न विषमावस्थितयो नापि ज्योतिष्कवत्तिर्यगवस्थिता वैमानिका इत्येतस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमुपर्युपरीत्युच्यते । कियत्सु कल्पविमानेषु देवा भवन्तीत्याह—

चौथे निकाय की सामान्य संज्ञा द्वारा उसके अधिकार की सूचना सूत्र द्वारा करते हैं—

सूत्रार्थ—चौथे निकाय के देव वैमानिक होते हैं ।

जो अपने में रहने वाले जीवों को विशेष पुण्यशाली मानते हैं वे विमान हैं, विमान में होनेवाले वैमानिक कहलाते हैं अथवा वैमानिक नाम कर्म के उदय से जो होवे वे वैमानिक देव हैं, इनका आगे अधिकार है ऐसा समझना चाहिये ।

उन वैमानिकों के भेदों का अवधारण करते हैं—

सूत्रार्थ—वैमानिक दो भेद वाले हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत । सौधर्मादि सोलह कल्पों में जो उत्पन्न हुए हैं उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं और कल्पों से जो अतीत हैं वे कल्पातीत हैं, इसप्रकार वैमानिक देवों के दो भेद हैं ।

प्रश्न—वे किस प्रकार व्यवस्थित हैं ?

उत्तर—अब इसीको कहते हैं—

सूत्रार्थ—वे वैमानिक ऊपर ऊपर व्यवस्थित हैं । भवनवासी तथा व्यन्तरों के समान ये वैमानिक विषम रूप से स्थित नहीं हैं न ज्योतिष्क के समान तिरछे स्थित हैं, इस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये "उपरि उपरि" ऐसा सूत्र कहा है ।

कितने कल्प विमानों में देव होते हैं ऐसा पूछने पर कहते हैं—

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

चातुरर्थिकेनाणा स्वभावतो वा सौधर्मादयः संज्ञाः षोडशकल्पानां तत्साहचर्यात्स्वभावतो वा यथासम्भवमिन्द्राणामपि भवन्ति । तद्यथा—तदस्मिन्नस्ति तेन निर्वृत्तस्तस्य निवासाऽदूरभवाविति चतुर्ष्वर्थेषु यथासम्भवं तद्धितोऽणुत्पाद्यते । तत्र सुधर्मा नाम सभा । सास्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः । तदस्मिन्नस्तीत्यण् । तत्कल्पसाहचर्यादिन्द्रोऽपि सौधर्मः । ईशानो नाम इन्द्रः स्वभावतः । ईशानस्य निवासः कल्प ऐशानः । तस्य निवास इत्यण् । तत्साहचर्यादिन्द्रोप्यैशानः । सनत्कुमारो नाम इन्द्रः स्वभावत । तस्य निवासः कल्पः सानत्कुमारः । तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि सानत्कुमारः महेन्द्रो नाम इन्द्रः स्वभावतः । तस्य निवासः कल्पो माहेन्द्रः । तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि माहेन्द्रः । ब्रह्मोत्तरकापिष्ठमहाशुक्र-

---

सूत्रार्थ—सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत आरण और अच्युत ये सोलह स्वर्ग हैं, तथा नवग्रैवेयक च शब्द से नव अनुदिश एवं विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अनुत्तर विमान हैं इन सब में वैमानिक निवास करते हैं । सोलह कल्पों की चार अर्थ वाले अण् प्रत्यय के कारण अथवा स्वभावतः सौधर्म आदि संज्ञायें हैं, उस उस संज्ञा के साहचर्य से अथवा स्वभाव से ही यथा संभव इन्द्रों की भी वे ही संज्ञायें होती हैं । इसीको बताते हैं—वह इसमें है, उससे बना है, उसका निवास है और उसके निकट भावी है इसतरह के चार अर्थों में तद्धित का अण् प्रत्यय लाकर सौधर्म आदि शब्द बनाये जाते हैं । सुधर्मा नाम की सभा है सुधर्मा सभा इसमें है वह सौधर्म कल्प है, "तदस्मिन्नास्ति" अर्थ में अण् प्रत्यय आया है । उस कल्प के साहचर्य से इन्द्र भी सौधर्म नाम से कहा जाता है । ईशान नाम का इन्द्र स्वभाव से है, ईशान का निवास कल्प ऐशान है, "तस्य निवासः" इस सूत्र से अण् प्रत्यय आया है । ऐशान के साहचर्य से इन्द्र भी ऐशान संज्ञक है । स्वभाव से सनत्कुमार नाम का इन्द्र है, उसका निवास कल्प सानत्कुमार है और उसके साहचर्य से इन्द्र भी सानत्कुमार कहा जाता है । महेन्द्र नाम का इन्द्र स्वभावतः है उसका निवास कल्प माहेन्द्र है और उसके साहचर्य से इन्द्र भी माहेन्द्र कहलाता है । ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, महाशुक्र और

सहस्राराख्याश्चत्वारोप्युत्तरदक्षिणदिग्वर्तिनः कल्पसंज्ञा एव नेन्द्राभिधाना ब्रह्मादिदक्षिणकल्पेन्द्रचतुष्टयाधोनत्वात्। तत्र द्वयोर्द्वयोरेकैकइन्द्र इति वचनात्। ब्रह्मा नाम इन्द्रस्तस्य लोको ब्रह्मलोक इति कल्पस्य नाम रूढम्। तथा तदुत्तरदिग्वर्ती ब्रह्मोत्तरोऽपि कल्प एव ज्ञेयो नेन्द्रः। अथवा ब्रह्मण इन्द्रस्य निवासः कल्पो ब्राह्मः। तत्सहचरित इन्द्रोपि ब्राह्मसंज्ञकः। लान्तवस्येन्द्रस्य निवासः कल्पो लान्तवः। तत्सम्बन्धादिन्द्रोपि लान्तवाख्यः। कापिष्ठः कल्प एवास्ति न पुनरिन्द्रः। शुक्रस्येन्द्रस्य निवासः शौक्रः कल्पः। तत्सहचरित इन्द्रोऽपि शौक्रः। अथवा कल्पस्येन्द्रस्य च शुक्रव्यपदेशः। महाशुक्रः कल्प एवास्ति न त्विन्द्रः। शतारस्येन्द्रस्य निवासः कल्पः शतारः। तत्सहचरित इन्द्रोऽपि शतारः। अथवा कल्पस्येन्द्रस्य च शतार इति नाम रूढम्। तथा सहस्रारः कल्प एवास्ति न त्विन्द्रः। आनतस्येन्द्रस्य निवासः कल्प आनतः। तत्सहचरित इन्द्रोप्यानतः। प्राणतस्येन्द्रस्य निवासः कल्पः प्राणतः। तत्सहचरित इन्द्रोऽपि प्राणतः। आरणस्येन्द्रस्य निवासः कल्प आरणः। तत्सहचरित इन्द्रोप्यारणः। अथवा स्वभावात्कल्पस्य तत्साहचर्यादिन्द्रस्याप्यारणसंज्ञा। अच्युतस्येन्द्रस्य निवासः कल्प आच्युतः। तत्सह

सहस्रार नाम वाले चार उत्तर के कल्प हैं ये दक्षिण दिशानुवर्ती हैं, ये संज्ञायें कल्पों की ही हैं इन्द्रों की नहीं, क्योंकि ये कल्प ब्रह्म आदि दक्षिण दिशा संबंधी चार इन्द्रों के अधीनस्थ हैं। उनमें दो दो में एक एक इन्द्र होता है ऐसा आर्ष वचन है। ब्रह्म नामका इन्द्र है उसका लोक ब्रह्म लोक है इसप्रकार कल्प का रूढ नाम है। तथा उसके उत्तर दिशा वर्त्ती ब्रह्मोत्तर भी कल्प ही है उसमें इन्द्र नहीं है। अथवा ब्रह्म इन्द्र का निवास कल्प ब्राह्म है, और उसके सहचर से इन्द्र भी ब्राह्म नाम वाला होता है। लान्तव इन्द्र का निवास कल्प लान्तव है और उसके संबंध से इन्द्र भी लान्तव नामका है। कापिष्ठ नामका कल्प ही है उसमें इन्द्र नहीं है। शुक्र इन्द्र का निवास कल्प शौक्र है उसके सहचर से इन्द्र भी शौक्र कहलाता है अथवा कल्प और इन्द्र का नाम शुक्र है। महाशुक्र कल्प ही है उसमें इन्द्र नहीं है। शतार इन्द्र का निवास कल्प शतार है और उसके साहचर्य से इन्द्र भी शतार संज्ञक है। अथवा कल्प और इन्द्र का शतार नाम रूढ में है। तथा सहस्रार कल्प ही है उसमें इन्द्र नहीं है। आनत इन्द्र का निवास कल्प आनत है उसके साहचर्य से इन्द्र भी आनत है। प्राणत इन्द्र का निवास कल्प प्राणत है और उसके साहचर्य से इन्द्र भी प्राणत कहलाता है। आरण इन्द्र का निवास कल्प आरण है और उसके साहचर्य से इन्द्र भी आरण है। अथवा स्वभाव से कल्प की और उसके सहचर से इन्द्र की भी आरण संज्ञा है। अच्युत इन्द्र का निवास कल्प आच्युत है और उसके सहचर से इन्द्र भी आच्युत है। अथवा स्वभाव से अच्युत

चरित इन्द्रोप्याच्युतः। अथवा स्वभावादच्युतः कल्पः। तत्साहचर्यादिन्द्रोप्यच्युतः। लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वाद्ग्रीवाः। ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयकान्युपर्युपर्येकैकवृत्त्या व्यवस्थितानि विमानानि सुदर्शनाऽमोघसुबुद्धपयोधरसुभद्रसुविशालसुमनः सौमनसप्रियङ्कराख्यानि नव भवन्ति। तत्साहचर्यादिन्द्रा अपि ग्रैवेयका उच्यन्ते। समासेनैकविभक्तिनिर्देशात्सिद्धे नवसु ग्रैवेयकेष्विति नवशब्दस्य पृथग्वचनमागमप्रसिद्धाऽनुदिशाख्याऽपरनवविमानास्तित्वसंसूचनार्थम्। ततो लक्ष्मी लक्ष्मीमालिक वैरैवक, रोचनक, सोम, सोमरूप्याङ्क, पल्यङ्कादित्याख्यानि मध्यभूतादित्येन्द्रविमानस्याष्टदिगानुगत्येन भवनादन्वर्थानि नवानुदिशविमानान्यत्र व्याख्यायन्ते। तत्साहचर्यादिन्द्रा अप्यनुदिशाख्याः प्रोच्यन्ते। अभ्युदयविघ्नहेतुविजयात्सवार्थानां सिद्धेश्चान्वर्थसंज्ञानि विजयादीनि पञ्च विमानानि। तत्साहचर्यादिन्द्रा अपि विजयादिनामानो वेदितव्याः। समासमकृत्वा सर्वार्थसिद्धस्य पृथग्वचनं स्थित्यादिविशेष प्रतिपत्त्यर्थं कृतम्। अत एव तस्य प्राधान्यान्मध्येऽवस्थानमितरेषां गौणत्वाच्चतसृषु दिक्षु वेदितव्यम्।

कल्प है और उसके साहचर्य से इन्द्र भी अच्युत है। लोकाकाश रूप पुरुष के ग्रीवा स्थानीय होने से ग्रीवा है और ग्रीवा में जो होवे वे ग्रैवेयक कहलाते हैं, ये नौ हैं ऊपर ऊपर व्यवस्थित हैं उनके नाम सुदर्शन, अमोघ, सुबुद्ध, पयोधर, सुभद्र, सुविशाल, सुमन, सौमनस और प्रियंकर हैं। इनके साहचर्य से इन्द्रों को भी [अहमिन्द्र] ग्रैवेयक कहते हैं। समास करके एक विभक्ति का निर्देश करके भी ग्रैवेयकों की सिद्धि संभव है किन्तु "नवसु ग्रैवेयकेषु" ऐसे निर्देश में नव शब्द का पृथक् कथन आगम में प्रसिद्ध अनुदिश नामके नव विमानों के अस्तित्व को बतलाने के लिये किया है। उससे लक्ष्मी, लक्ष्मी मालिक, वैरवक, रोचनक, सोम, सोमरूप्य, अंक और पल्यंक नाम के आठ विमान आठ दिशा संबंधी हैं जो मध्य के आदित्य नाम के इन्द्रक विमान के अनुगामी हैं, आठ दिशा के अनुसार होने से अनुदिश ऐसे सार्थक नामवाले हैं इनका कथन यहां "नवसु" पद से हो जाता है। इन विमानों के साहचर्य से इन्द्र [अहमिन्द्र] भी अनुदिश नाम से कहे जाते हैं। अभ्युदय में विघ्न करने वाले हेतु पर विजय प्राप्त करने वाले होने से तथा सभी अर्थों की सिद्धि करने वाले होने से अन्वर्थ नाम वाले ये पांच विजयादिक विमान हैं। उनके साहचर्य से इन्द्र भी [अहमिन्द्र] विजय आदि नाम वाले जानने चाहिये। "सर्वार्थ सिद्धौ" इस पद का समास नहीं करके पृथक् पद रखा है वह स्थिति आदि की विशेषता को बतलाने के लिये रखा है, इसीलिये यह विमान प्रधान तथा मध्य में स्थित है एवं इतर विमान गौण तथा चार दिशाओं में स्थित हैं यह सिद्ध होता है।

सौधर्मादीनां शब्दानां यथासम्भवमितरेतरयोगकृतद्वन्द्ववृत्तीनामाधेयभूतदेवापेक्षयाऽधिकरणत्वनिर्देशः। तत्र मेरोश्चूलिकाया उपर्युत्तमभोगभूमिजकेशान्तरमात्रे व्यवस्थितमृतुविमानमिन्द्रकं सौधर्मस्य सम्बन्धीत्यागमे प्रतिपादितम् । तथा तत्रैवोपर्युपरीत्यनेन द्वयोर्द्वयोर्दक्षिणोत्तरयोः कल्पयोरभिसम्बन्धो वेदितव्यः। तद्यथा प्रथमयोः सौधर्मैशानयोः कल्पयोर्वैमानिकास्तिष्ठन्ति सौधर्मैशानीयाः। तयोरुपरि सानत्कुमारमाहेन्द्रयोस्तद्भवाः । तयोरुपरि ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोस्तद्भवाः तयोरुपरि लान्तवकापिष्ठयोस्तद्भवाः। तयोरुपरि शुक्रमहाशुक्रयोस्तद्भवाः। तयोरुपरि शतारसहस्रारयोस्तद्भवाः। तयोरुपर्यानतप्राणतयोस्तद्भवाः। तयोरुपर्यारणाच्युतयोस्तद्भवाः। तयोरुपरि नवसु ग्रैवेयकेषु तद्भवाः। तेषामुपरि नवस्वनुदिशेषु तद्भवाः। तेषामुपरि विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु तद्भवाः। सर्वार्थसिद्धौ च सर्वार्थसिद्धदेवाः प्रतिवसन्तीति सूत्रनिर्देशविशेषवशादवसीयते। आनतप्राणतयोरारणाच्युतयोश्च समासेनैव सिद्धे पृथग्विभक्तिनिर्देशः प्रत्येकं तयोरिन्द्रसम्बन्धज्ञापनार्थम् । तथाद्यः

सौधर्म आदि पदों का यथा संभव इतरेतर द्वन्द्व समास किया गया है तथा ये विमान आधेयभूत देवों के आधार हैं अतः अधिकरण निर्देश किया है ।

मेरु की चूलिका से ऊपर उत्तम भोगभूमिज मनुष्य के एक केश का अन्तराल छोड़कर सौधर्म स्वर्ग संबंधी पहल ऋतु नाम का इन्द्रक विमान व्यवस्थित है ऐसा आगम में प्रतिपादन किया है। तथा उसीके ऊपर ऊपर क्रम से दो दो दक्षिण उत्तर कल्प हैं ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिये। इसीको बताते हैं—सौधर्म और ऐशान नामके प्रथम दो कल्पों में सौधर्म ऐशान वैमानिक देव रहते हैं। उनके ऊपर सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गों में उनमें उत्पन्न होने वाले देव निवास करते हैं। उन दो के ऊपर ब्रह्म ब्रह्मोत्तर कल्पों में उनमें उत्पन्न होने वाले देव रहते हैं। उन दो कल्पों के ऊपर लांतव और कापिष्ठ नाम के कल्प हैं उनमें उत्पन्न होने वाले देव उन्हीं में निवास करते हैं। उनके ऊपर शुक्र महाशुक्र कल्प हैं, उनमें उत्पन्न होने वाले देव रहते हैं। उनके ऊपर शतार सहस्रार में उनमें उत्पन्न हुए देव रहते हैं। उनके ऊपर जाकर आनत प्राणत में उनमें उत्पन्न होनेवाले देव रहते हैं। उनके ऊपर आरण अच्युत में उनमें उत्पन्न हुए देव रहते हैं, उनके ऊपर नौ ग्रैवेयकों में उनमें उत्पन्न हुए देव निवास करते हैं। उनके ऊपर नौ अनुदिशाओं में उत्पन्न हुए देव निवास करते हैं। उनके ऊपर विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित में उनमें उत्पन्न देव रहते हैं। और सर्वार्थ सिद्धि में सर्वार्थ सिद्धि संबंधी देव निवास करते हैं। इसप्रकार सूत्र के निर्देश से जाना जाता है। आनत प्राणत और आरण अच्युत का समास करना था। किन्तु उनमें प्रत्येक में इंद्र हैं इस बात को बतलाने के लिए समास नहीं किया है। तथा

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रेषु चतुर्षु कल्पेषु प्रत्येकमेकैक इंद्रः। मध्ये ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोरेको ब्रह्मनामेन्द्रः। लान्तवकापिष्ठयोरेको लान्तवाख्य इन्द्रः। शुक्रमहाशुक्रयोरेकः शुक्रसंज्ञक इन्द्रः। शतारसहस्रारयोरेकः शताराख्यः। एवं च कल्पवासिनां द्वादशेन्द्रा भवन्ति। ग्रैवेयकादिषु देवाः सर्वेप्यहमिन्द्रत्वात् स्वतन्त्रता इति च बोद्धव्यम्। शेषं तु लोकानुयोगत इत्यलमतिविस्तरेण। उपर्युपरि कैरधिकास्ते वैमानिका इत्याह—

स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥

स्वोपात्तस्य देवायुष उदयात्तस्मिन्भवे तेन शरीरेण सह स्थानं स्थितिः। शापानुग्रहशक्तिलक्षणः प्रभावः। सद्वेद्योदये सतीष्टविषयानुभवनं सुखम्। शरीरवसनाभरणादीनां दीप्तिर्द्युतिः। लेश्योक्तार्था। लेश्याया विशुद्धिः प्रसादो लेश्याविशुद्धिः। इन्द्रियं चावधिश्चेन्द्रियावधी उक्तार्थौ। तयोर्विशेषयोर्ज्ञेयपदार्थ इन्द्रियावधिविषयः। स्थितिश्च प्रभावश्च सुखं च द्युतिश्च लेश्याविशुद्धिश्चे-

---

नीचे के सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार और माहेन्द्र नाम के चार कल्पों में प्रत्येक में एक एक इन्द्र है। फिर मध्य में ब्रह्म ब्रह्मोत्तर में एक ब्रह्म नाम का इन्द्र है। लान्तव कापिष्ठ में लान्तव नाम का एक इन्द्र है। शुक्र महाशुक्र में एक शुक्र नाम का इन्द्र है। शतार सहस्रार में एक शतार नाम का इन्द्र है। इसतरह कल्पवासियों के बारह इन्द्र होते हैं। ग्रैवेयक आदि में तो सभी देव स्वतन्त्र अहमिन्द्र हैं ऐसा समझना चाहिये। इन वैमानिक देवों के विषय में शेष बहुतसा कथन लोकानुयोग से जानना चाहिये। अब अधिक नहीं कहते।

प्रश्न—ऊपर ऊपर के वे वैमानिक देव किनसे अधिक हैं ?

उत्तर—इसीको अग्रिम सूत्र में बताते हैं—

सूत्रार्थ—स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या की विशुद्धि, इन्द्रिय विषय और अवधि का विषय इन से वैमानिक देव ऊपर ऊपर अधिक अधिक होते हैं। अपने उपार्जित देवायु कर्म के उदय से उस भव में शरीर के साथ रहना स्थिति कहलाती है। शाप और अनुग्रह की शक्ति को प्रभाव कहते हैं। साता वेदनीय के उदय होने पर इष्ट विषय का अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र, आभरण आदि की चमक को द्युति कहते हैं। लेश्या का अर्थ कह चुके हैं। लेश्या की विशुद्धि प्रसन्नता लेश्या विशुद्धि है। इन्द्रिय और अवधि शब्द का अर्थ कह दिया है। उन दोनों के विषय भूत पदार्थ इन्द्रियावधि विषय है। स्थिति आदि पदों में द्वन्द्व समास है। "आद्यादिभ्यस्तस्"

न्द्रियावधिविषयश्च ते तथोक्ताः। तैस्ततः। आद्यादिभ्यस्तस् वक्तव्य इति तस्। एतैः स्थित्यादिभिः प्रतिप्रस्तारमुपर्युपरि वैमानिका भवन्तः प्रकृष्टत्वादधिका बोद्धव्याः। गत्यादिभिरपि तेषामधिकत्वप्रसङ्गे तन्निवारणार्थमाह—

गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥

देशान्तरप्राप्तिहेतुः कायपरिस्पन्दो गतिः। शरीरं वैक्रियिकमुक्तम्। लोभकषायोदयाद्विषयेषु प्रसङ्गः परिग्रहः। मानकषायापादितोऽहङ्कारोऽभिमानः। गतिश्च शरीरं च परिग्रहश्चाभिमानश्च गतिशरीरपरिग्रहाभिमानास्तैस्ततः पूर्ववत्तस्। एतैर्गत्यादिभिरुपर्युपरि वैमानिका अप्रकृष्टत्वाद्धीना वेदितव्याः। तत्र देशान्तरविषयक्रीडारतिप्रकर्षाभावादुपर्युपरि देवा गतिहीनाः। शरीरं सौधर्मैशानीयदेवानां सप्तहस्तप्रमाणम्। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवानां षड्रत्निमात्रम्। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु देवानां पञ्चरत्निप्रमाणम्। शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु देवानां चतूरत्निप्रमाणम्।

इस सूत्र से तस् प्रत्यय हुआ है। इन स्थिति, प्रभाव आदि से प्रत्येक पटल में ऊपर ऊपर के वैमानिक देव प्रकृष्ट होने से अधिक हैं ऐसा जानना चाहिये।

गति आदि की अपेक्षा भी उनके अधिक होने का प्रसंग प्राप्त होने पर उसका निवारण करते हुए सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान से वे वैमानिक देव आगे आगे हीन होते हैं।

देशान्तर की प्राप्ति में हेतुभूत काय का परिष्पंद गति है। शरीर वैक्रियिक होता है जिसका स्वरूप पहले कह आये हैं। लोभ कषाय के उदय से विषयों में आसक्ति होना परिग्रह है। मान कषाय के उदय से जो अहंकार होता है वह अभिमान है। गति आदि शब्दों का द्वन्द्व समास करके पहले के समान तस् प्रत्यय लाना। इन गति आदि से ऊपर ऊपर के वैमानिक देव अप्रकृष्ट होने से हीन जानने चाहिये। देश देशान्तर में जाकर क्रीड़ा करने की रति कम होने के कारण ऊपर ऊपर के देव गमन कम करते हैं [अथवा गमन नहीं करते हैं] अतः गतिहीन है। शरीर को बतलाते हैं—सौधर्म ऐशान स्वर्ग के देवों का शरीर सात हाथ ऊंचा है। सानत्कुमार माहेन्द्र के देवों का शरीर छह हाथ, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लान्तव कापिष्ठ स्वर्गों में देवों के शरीर पांच हाथ, शुक्र महाशुक्र शतार और सहस्रार में देवों के देह की ऊंचाई चार हाथ,

आनतप्राणतयोरर्धचतुर्थरत्निप्रमाणम् । आरणाच्युतयोर्हस्तत्रयप्रमाणम् । अधोग्रैवेयकत्रयेऽर्धतृतीयरत्निप्रमाणम् । मध्यग्रैवेयकत्रये हस्तद्वयप्रमाणम् । उपरिमग्रैवेयकत्रयेऽनुदिशविमानेषु चाध्यर्धारत्नि मात्रम् । पञ्चानुत्तरेषु देवानां हस्तमात्रशरीरं । परिग्रहश्च विमानपरिवारादिरुपर्युपरि हीनः । अभिमानश्चोपर्युपरि मन्दककषायत्वाद्धीन इति व्याख्येयम् । किंलेश्याः सौधर्मादिषु देवा इत्याह—

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥ २२ ॥

पीता च पद्मा च शुक्ला च पीतपद्मशुक्लाः । पीतपद्मशुक्ला लेश्या येषां ते पीतपद्मशुक्ललेश्या देवाः । कथं पीतपद्मयोर्द्वन्द्वसमासे ह्रस्वत्वं समानाधिकरणस्योत्तरपदस्याभावादिति चेदुच्यते—धृतौच्चैरिति सिद्धेर्यद्धृतोच्चैस्त इति सूत्रे तपकरणं तज्ज्ञापयति—क्वचिद्द्वन्द्वेप्यौत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं भवतीति । तेन यथा मध्यमा च विलम्बिता च मध्यमविलम्बिते इत्यादावौत्तरपदिकं ह्रस्वत्वं बहुलं

आनत प्राणत में साढ़े तीन हाथ, आरण अच्युत में तीन हाथ, अधो ग्रैवेयक त्रय में ढाई हाथ, मध्य के तीन ग्रैवेयक में दो हाथ उपरिम तीन ग्रैवेयकों में डेढ़ हाथ तथा नौ अनुदिशों में डेढ़ हाथ और पंच अनुत्तर में एक हाथ प्रमाण शरीर होते हैं । विमान परिवार आदि परिग्रह भी ऊपर ऊपर कम कम हैं मन्द कषाय होने से ऊपर ऊपर अभिमान भी कम है, इसप्रकार व्याख्यान करना चाहिये ।

प्रश्न—सौधर्म आदि स्वर्गों में कौनसी लेश्या वाले देव होते हैं ?

उत्तर—इसी को बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—दो युगल, तीन युगल और शेष युगलों में क्रमशः पीत लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या वाले देव होते हैं ।

पीत आदि शब्दों में द्वन्द्व गर्भित बहुव्रीहि समास है ।

शंका—पीत और पद्म शब्द द्वन्द्व समास में ह्रस्व किस प्रकार हो सकते हैं, क्योंकि समानाधिकरण रूप उत्तर पद का यहां अभाव है ?

समाधान—"धृतोच्चैः" इस सूत्र से सिद्धि होने पर पुनः "यद् धृतोच्चैस्त" यह सूत्र आया है इसमें 'तपर करण' होने से ज्ञापित होता है कि द्वन्द्व समास में भी कहीं कहीं औत्तरपदिक ह्रस्व होता है । जैसे 'मध्यमा च विलंबिता च मध्यम विलंबिते" इसमें मध्यम को ह्रस्व हुआ है । इसप्रकार के प्रयोग में बहुधा औत्तरपदिक ह्रस्व

दृश्यते तद्वदत्रापीत्यदोषः । पाणिनीयमिदं सूत्रमिदानीं चान्द्रीयमुच्यते—घृतावलिविता मध्यमाः । घृतादयः शब्दा उत्तरपदे परतः पुंवद्भावमापद्यन्त इति । द्वौ च त्रयश्च शेषाश्च द्वित्रिशेषाः । तेषु द्वित्रिशेषेषु । तत्र सौधर्मैशानीया देवा मध्यमपीतलेश्याः । सानत्कुमारमाहेन्द्रीयाः प्रकृष्टपीतजघन्यपद्म-लेश्याः । ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु मध्यमपद्मलेश्याः । शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु प्रकृष्टपद्म जघन्यशुक्ललेश्याः । आनतादिषु शेषेषु मध्यमशुक्ललेश्याः । तत्राप्यनुदिशानुत्तरेषु परमशुक्ललेश्या देवाः प्रत्येतव्याः । अत्र कश्चिदाह-शुद्धो मिश्रश्चोक्तोऽयं लेश्याविकल्पो नोपपद्यते सूत्रे मिश्रग्रहणा-भावादिति । तदयुक्तं—शुद्धमिश्रयोरन्यतरग्रहणात् । यथा लोके छत्रिणो गच्छन्तीत्यच्छत्रिष्वपि च्छत्रिव्यपदेशस्तथा पीतपद्मलेश्या देवाः पूर्वग्रहणेन परग्रहणेन वा गृह्यन्ते । एवं पद्मशुक्ललेश्या

देखने में आता है, उसीप्रकार यहां पीता च पद्मा च इत्यादि में पीत और पद्म पद ह्रस्व हो गये हैं । उक्त सूत्र पाणिनि व्याकरण का है । चन्द्र व्याकरण का धृतावलि-विता मध्यमाः । धृतादयः शब्दाः उत्तर पदे परतः पुंवद्भावमापद्यन्ते" इसप्रकार का सूत्र है ।

द्वि आदि पदों में द्वन्द्व समास है । अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं—सौधर्म ऐशान स्वर्ग के देव मध्यम पीत लेश्या वाले होते हैं । सानत्कुमार माहेन्द्र में प्रकृष्ट पीत और जघन्य पद्म लेश्या है । ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ में मध्यम पद्म लेश्या है । शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार में उत्कृष्ट पद्म और जघन्य शुक्ल लेश्या होती है । आनतादि शेष में मध्यम शुक्ल लेश्या है, उनमें भी जो अनुदिश और अनुत्तर वाले देव हैं उनके परम शुक्ल लेश्या जाननी चाहिये ।

शंका—आपने यहां पर कहीं शुद्ध पीत आदि लेश्या कही है और कहीं कहीं पीत पद्म आदि के मिश्ररूप लेश्या बतायी है किन्तु इसतरह का लेश्या विकल्प बनता नहीं, क्योंकि सूत्र में मिश्र शब्द का ग्रहण नहीं है ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है । शुद्ध और मिश्र में से एक का ग्रहण करने से दूसरे का ग्रहण स्वतः हो जाता है, जैसे लोक में प्रयोग देखा जाता है कि "छत्रिणो गच्छन्ति" छत्री वाले जा रहे हैं, इस वाक्य में अछत्री वाले को भी छत्री वाले कह देते हैं अर्थात् बहुत से छत्री वालों में कुछ व्यक्ति छत्री रहित भी होते हैं और उनका ग्रहण छत्री वालों के साथ हो ही जाता है । ठीक इसीप्रकार पीत पद्म लेश्या युक्त देव भी पूर्व या पर ग्रहण से ग्रहण में आ जाते हैं, इसीप्रकार पद्म और शुक्ल लेश्या वाले

अपीति नास्ति दोषः । अथैवमपि सम्बन्धोऽयमनुपपन्नः सूत्रे द्वित्रिशेषग्रहणात् । सूत्रे ह्येवं पठ्यते—द्वयोः पीतलेश्यास्त्रिषु पद्मलेश्याः शेषेषु शुक्ललेश्या इति । तच्चागमविरुद्धमिति । तदयुक्तमिच्छातः सम्बन्धोपपत्तेः । तथाहि—द्वयोः कल्पयुगलयोः पीतलेश्या देवाः सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः पद्मलेश्याया अविवक्षातः । ब्रह्मलोकादित्रिषु कल्पयुगलेषु पद्मलेश्याः शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्याया अविवक्षातः । शेषेषु शतारादिषु शुक्ललेश्याः पद्मलेश्याया अविवक्षात इति नास्त्यर्थविरोधः तथाचोक्तं—

सौधर्मैशानयोः पीता पीतापद्मे द्वयोस्ततः ।
कल्पेषु षट्स्वतः पद्मा पद्माशुक्ले ततो द्वयोः ।।
आनतादिषु शुक्लातस्त्रयोदशसु मध्यमा ।
चतुर्दशसु सोत्कृष्टाऽनुदिशाऽनुत्तरेषु च ।।इति।।

का ग्रहण समझना चाहिये इसमें कोई दोष नहीं है । अभिप्राय यह है कि पहले दूसरे स्वर्ग में पीत लेश्या है, सानत्कुमार माहेन्द्र में उत्कृष्ट पीत और जघन्य पद्म लेश्या है इसप्रकार एक ही स्वर्ग में दो लेश्या होना रूप अर्थ सूत्र से स्पष्ट नहीं होता किन्तु व्याख्यान विशेष से उक्त अर्थ करना चाहिये, क्योंकि आगमान्तर में वैसा उल्लेख है ।

शंका—जैसा लेश्या का संबंध आपने बतलाया वैसा घटित नहीं होता, क्योंकि सूत्र में "द्वित्रिशेषेषु" पाठ है । सूत्र में तो ऐसा पढ़ा जायेगा कि दो में पीत लेश्या है तथा तीनों में पद्म लेश्या है और शेषों में शुक्ल लेश्या है । किन्तु वह अर्थ भी आगम से विरुद्ध पड़ता है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, इच्छा से सम्बन्ध किया जाता है । देखिये ! दो कल्प युगलों में पीत लेश्या वाले देव हैं, सानत्कुमार माहेन्द्र में पद्म लेश्या की अविवक्षा है । ब्रह्मलोक आदि तीन कल्प युगलों में पद्म लेश्या है । शुक्र महाशुक्र में शुक्ल लेश्या की अविवक्षा है । शेष शतार आदि में शुक्ल लेश्या है वहां पद्म लेश्या की अविवक्षा समझना, इसप्रकार व्याख्यान करने से अर्थ में विरोध नहीं आता । कहा भी है—सौधर्म ऐशान में पीत लेश्या है, आगे दो में पीत पद्म लेश्या है, उससे आगे छह कल्पों में पद्म लेश्या है, फिर उसके आगे दो में पद्म और शुक्ल लेश्या है । आनतादि तेरह स्थानों में [आनत प्राणत आरण अच्युत और नौ ग्रैवेयक] मध्यम शुक्ल लेश्या होती है तथा नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर इन चौदह में उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या होती है ।। १ ।। २ ।।

नन्वादितस्त्रिषु पीतान्तलेश्या इत्येतत्सूत्रानन्तरमेवेदं लेश्या विधानं वक्तव्यं नात्रेति चेत् तदयुक्तं—लघ्वर्थत्वादिहारम्भस्य। तत्रारम्भे हि पुनः सौधर्मादिवचनं कर्तव्यं स्यादन्यथा तदभिसम्बन्धाघटनात्। अथ के कल्पा ? इत्याह—

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

सौधर्मादिग्रहणमनुवर्तते। तेनायमर्थो लभ्यते—सौधर्मादयः प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पा इति सामर्थ्याद्ग्रैवेयकादयः कल्पातीता इति निश्चीयन्ते। इदानीं लौकान्तिकानां कल्पविशेषेऽन्तर्भावमाह—

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥

एत्य तस्मिन् लीयन्त इत्यालयो निवास इत्यर्थः। ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालयाः। ब्रह्मकल्पः संसारो वात्र लोकस्तस्यान्ते भवा लौकान्तिका उच्यन्ते। एवं चान्वर्थसञ्ज्ञाकरणान्न सर्वेषां

शंका—"आदितस्त्रिषु पीतान्त लेश्याः" इस दूसरे नंबर के सूत्र के अनंतर ही यह लेश्या का विधान कहना चाहिये था यहां पर कहना युक्त नहीं ?

समाधान—यह शंका गलत है, यहां पर लेश्या का कथन करने से सूत्र लाघव होता है। यदि वहां पर लेश्या का कथन करते तो पुनः सौधर्मादि का ग्रहण करना पड़ता अन्यथा लेश्याओं का संबंध घटित नहीं हो पाता।

कल्प कौन हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—ग्रैवेयक के पहले तक कल्प हैं।

सौधर्मादि का प्रकरण है उससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि सौधर्मादि से लेकर ग्रैवेयक के पहले तक कल्प हैं। पुनः सामर्थ्य से ग्रैवेयक आदि आगे के विमान कल्पातीत है यह निश्चित होता जाता है।

अब लौकान्तिक देवों का कल्प विशेष में अन्तर्भाव करते हैं—

सूत्रार्थ—ब्रह्मलोक में आलय वाले लौकान्तिक देव होते हैं।

"एत्य तस्मिन् लीयन्ते इति आलयः निवासः" आकर उसमें रहा जाय वह आलय है, ब्रह्मलोक है आलय जिनके वे ब्रह्मलोकालय हैं। जो ब्रह्म कल्प के अन्त में होवें, अथवा जिनके संसार का अन्त होने वाला है वे लौकान्तिक कहलाते हैं। इसप्रकार

ब्रह्मलोकालयानां लौकान्तिकत्वं भवेत् । ब्रह्मलोकालया इति वचनाल्लौकान्तिकानां कल्पोपपन्नकल्पातीतविकल्पद्वयात्तृतीयविकल्पत्वं च निरस्तम् । ततः प्रच्युताः सर्वे ते एकमनुष्यभवमवाप्य परिनिर्वान्तीति चात्र बोद्धव्यम् तेषां सञ्ज्ञाविशेषसङ्कीर्तनार्थमाह—

सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥ २५ ॥

सारस्वतश्च—देवगण आदित्यश्च वह्निश्चारुणश्च गर्दतोयश्च तुषितश्चाव्याबाधश्चारिष्टश्च ते तथोक्ताः । ब्रह्मलोकस्यान्तेष्वीशानादिष्वष्टासु दिक्षु यथाक्रमं प्रतिनियतस्वविमानवासिनः सारस्वतादयोऽष्टौ देवगणा वेदितव्याः । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थस्तेन सारस्वतादित्ययोरन्तरालेऽग्न्याभाः । सूर्याभाश्च । आदित्यवह्न्योरन्तराले चन्द्राभाः सत्याभाश्च । वह्न्यरुणयोर्मध्ये श्रेयस्कराः क्षेमङ्कराश्च । अरुणगर्दतोययोर्मध्ये वृषभेष्टाः कामचाराश्च । गर्दतोयतुषितयोर्मध्ये निर्माणरजसोदिगन्तरक्षिताश्च । तुषिताव्याबाधयोरन्तराले आत्मरक्षिताः सर्वरक्षिताश्च । अव्याबाधारिष्टयोर्मध्ये मरुतो

लौकान्तिक देवों की अन्वर्थ संज्ञा कर देने से ब्रह्मलोक में आलय वाले सभी देवों को लौकान्तिकपना नहीं आता । लौकान्तिक देव ब्रह्मलोकालय वाले हैं ऐसा स्पष्टीकरण करने से वे देव कल्पोपपन्न हैं कि कल्पातीत हैं अथवा तीसरे किसी स्थानीय हैं इसतरह विकल्प समाप्त हो जाते हैं ।

ये सर्व ही लौकान्तिक उस ब्रह्म स्वर्ग से च्युत होकर एक मनुष्य भव लेकर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं यह अर्थ जान लेना चाहिये ।

अब उन देवों के नामों को कहते हैं—

सूत्रार्थ—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित अव्याबाध और अरिष्ट ये लौकान्तिकों के नाम हैं (या प्रकार हैं) सारस्वत आदि शब्दों में द्वन्द्व समास है । ब्रह्मलोक के अन्त भाग में ईशान आदि आठ दिशाओं में होनेवाले प्रतिनियत अपने अपने विमानों में निवास करने वाले ये आठ सारस्वतादि देव गण जानने चाहिये । च शब्द अनुक्त के समुच्चय के लिये है, उससे अन्तराल में स्थित देवों का ग्रहण हो जाता है । आगे इसीको बताते हैं—सारस्वत और आदित्य के अन्तराल में अग्न्याभ और सूर्याभ नाम के देव रहते हैं । आदित्य और वन्हि के अन्तराल में चन्द्राभ सत्याभ, वन्हि और अरुण के अन्तराल में श्रेयस्कर क्षेमंकर, अरुण और गर्दतोय के अन्तराल में वृषभेष्ट कामचार, गर्दतोय और तुषित के मध्य भाग में निर्माणरज दिगंत रक्षित, तुषित और अव्याबाध के अन्तराल में आत्मरक्षित सर्वरक्षित, अव्याबाध और

वसवश्च । अरिष्टसारस्वतयोर्मध्ये अश्वाविश्वाश्चेति द्वौ द्वौ देवगणौ समुच्चीयेते । सर्वे ते लौकान्तिकाः स्वतन्त्राहीनाधिकभावरहितत्वात् । देवर्षयश्च ते सर्वेषां देवानामर्चनीया विषयासक्तिविरहाच्चतुर्दशपूर्वश्रुतधारित्वात्तीर्थंकरनिष्क्रमणप्रतिबोधनपरत्वात्तदनन्तरभवे मोक्षार्हत्वाच्चेति व्याख्येयम् । द्विचरमा देवाः क्व सम्भवन्तीत्याह—

विजयादिषु द्विचरमाः ।। २६ ।।

आदिशब्दस्यात्र प्रकारवाचित्वाद्विजयवैजयन्तजयन्तापराजितानुदिशविमानानामिष्टानां ग्रहणम् । प्रकारश्चात्राहमिन्द्रत्वे सति नियमेन सम्यग्दृष्ट्युपपादः । न चैवं सर्वार्थसिद्धदेवानां ग्रहणप्रसङ्गस्तेषामन्वर्थसञ्ज्ञानिर्देशादेकचरमत्वसिद्धेः । सर्वार्थसिद्धौ चेति पृथग्वचनाच्च न तत्र द्विचरमसिद्धिः । सामर्थ्याद्विजयादिभ्योऽन्यत्र सम्यग्दृष्टिषु देवादिषु द्विचरमत्वनियमो नास्तीति वेदितव्यम् ।

अरिष्ट के मध्य में मरुत वसु, अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल में अश्व विश्व नामके दो दो देव गण निवास करते हैं । ये सर्व ही लौकान्तिक देव स्वतन्त्र हैं क्योंकि ये हीनाधिक भाव से रहित हैं । सभी देवों के द्वारा अर्चनीय होने से देवर्षि कहलाते हैं । विषय आसक्ति से रहित होने से वे देवों द्वारा पूज्य हैं । चतुर्दश पूर्वश्रुत धारण करने वाले हैं, तीर्थंकर के दीक्षा कल्याणक में प्रतिबोध देने में तत्पर रहते हैं तथा अनंतर भव में मोक्ष जाने वाले हैं, इसप्रकार लौकान्तिक देवों का विशेष व्याख्यान जानना चाहिये ।

प्रश्न—द्वि चरमा देव कहां पर संभव हैं ?

उत्तर—अब इसीको बताते हैं—

सूत्रार्थ—विजय आदि विमानों में दो चरम शरीर धारी देव रहते हैं ।

यहां आदि शब्द प्रकार वाची है अतः विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित और नौ अनुदिश विमानों का ग्रहण हो जाता है । यहां के देव अहमिन्द्र हैं तथा नियम से सम्यग्दृष्टि ही यहां पर पैदा होते हैं अर्थात् विजयादि विमानों में जन्म लेने वाले सभी जीव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं । ग्रैवेयक से यहां यह विशेषता है । विजयादि शब्द से सर्वार्थसिद्धि देवों का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उनके देवों की अन्वर्थ संज्ञा है, वहां के देव तो एक चरमा हैं । तथा पूर्व सूत्र में "सर्वार्थसिद्धौ च" ऐसा पृथक् पद का ग्रहण है इससे वहां के देवों को द्विचरमपना सिद्ध नहीं होता, वे तो एक चरम ही होते हैं । विजयादि तेरह विमानों के देवों को छोड़कर शेष सम्यग्दृष्टि देवों में द्विचरमपने

चरमशब्दोऽन्त्यवाची व्याख्यातः। द्वौ चरमौ देहौ येषां ते द्विचरमाः। द्विचरमत्वं च मनुष्यदेहद्वयापेक्षमवगन्तव्यम्। वचनप्रामाण्याद्देवभवेनाऽवश्यंभाविना व्यवधानं सदप्यत्र न विवक्षितम्। अथ के तिर्यग्योनय इत्याह—

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥

औपपादिका उक्ता देवानारकाः। मनुष्याश्च व्याख्याताः—प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्या इति। तेभ्योऽन्ये ये ते शेषास्तिर्यग्योनयो भवन्ति। औपपादिकमनुष्येभ्योऽन्यत्वं सिद्धानामप्यस्तीति तिर्यग्योनित्वप्रसङ्ग इति चेन्न—संसारिप्रकरणादुक्तेभ्यः शेषाः संसारिण एव तिर्यग्योनयो न सिद्धा इति

का नियम नहीं है ऐसा सामर्थ्य से ही जाना जाता है। चरम शब्द अन्त्यवाची है ऐसा पहले कह दिया है। दो चरम देह हैं जिनके वे द्विचरमा कहलाते हैं दो चरम देह मनुष्य के देह की अपेक्षा लेना। आगम के वचन प्रामाण्य से जाना जाता है कि अवश्यंभावी देव भव से व्यवधान होता है तो भी उस भव की विवक्षा नहीं लेकर द्विचरमा कहते हैं। अभिप्राय यह है कि दो मनुष्य भव लेने में देव भव का अंतराल अवश्य पड़ता है इससे दो से अधिक भव होते हैं तो भी मनुष्य भवों की अपेक्षा से विजयादि विमानों के देवों को द्विचरमा कहते हैं। ये देव दो मनुष्य भवों को लेकर नियम से मुक्त हो जाते हैं।

तिर्यंच कौन हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—उपपाद जन्म वाले देव नारकी और मनुष्य को छोड़कर शेष संसारी जीव तिर्यंच योनि वाले हैं। औपपादिक देव नारकी का कथन कर चुके हैं। "प्राङ् मानुषोत्तरान् मनुष्याः" इस सूत्र में मनुष्यों का वर्णन भी कर दिया है। उन सबसे अन्य शेष जीव तिर्यंच योनिज हैं।

शंका—औपपादिक और मनुष्यों से अन्य तो सिद्ध जीव भी हैं, उक्त कथनानुसार उनके तिर्यंच योनिपना आता है?

समाधान—ऐसा नहीं कहना। यहां संसारी जीवों का प्रकरण है, अतः उक्त जीवों से शेष संसारी जीव ही तिर्यंच योनि वाले हैं सिद्ध जीव नहीं ऐसा व्याख्यान से ज्ञात होता है।

व्याख्यानात् । अथ केयं तिर्यग्योनिः ? तिरोभावात्तिर्यग्योनिः । तिरोभावो न्यग्भावो गुणभाव उपबाह्यत्वमित्यनर्थान्तरम् । ततः कर्मोदयापादितान्नयग्भावात्तिर्यग्योनिरित्याख्यायते । योनिर्जन्माधिष्ठानरूपा सचित्तादिरुक्ता । तिरश्ची योनिर्येषां ते तिर्यग्योनयः । ते च त्रसस्थावरविकल्पा व्याख्याताः । तेषां तु तिरश्चां सर्वलोकव्यापित्वाद्देवमनुष्यनारकवदाधारविशेषो नोक्तः । नारकादीन्सर्वानुक्त्वा तेभ्योऽन्ये शेषास्तिर्यञ्च इति ग्रन्थगौरवमन्तरेण शेषशब्देन तेषां प्रतिपत्तिश्च यथा स्यादित्यत्र निर्देशः कृतो न नारकानन्तरमित्यलं विस्तरेण । नारकाणां मनुष्याणां तिरश्चां च स्थितिरुक्ता । संप्रति देवानामुच्यते । तत्र चादौ निर्दिष्टानां भवनवासिनां तावत् स्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिता ।। २८ ।।

प्रश्न—यह तिर्यंच योनि कौनसी है ?

उत्तर—तिरोभावात् तिर्यग्योनिः तिरोभाव को तिर्यग्योनि कहते हैं, तिरोभाव, न्यग्भाव, गुणभाव और उपबाह्यत्व ये शब्द एकार्थवाची हैं, उस कर्मोदय से उत्पन्न हुए न्यग्भाव के कारण तिर्यग्योनि ऐसा कहते हैं । सचित्तादि जन्म के स्थानको योनि कहते है ऐसा पहले कह दिया है । तिर्यंच योनि है जिनके वे तिर्यग्योनि वाले कहलाते हैं । इनके त्रस स्थावर भेद पहले कह आये हैं । इन तिर्यंच जीवों का देव नारकी और मनुष्यों के समान आधार विशेष नहीं कहा है, क्योंकि ये जीव सर्व लोक में व्याप्त हैं । नारकी आदि सर्व जीवों का कथन करके उनसे शेष जो जीव हैं वे तिर्यंच हैं इसप्रकार कथन किया है इससे ग्रंथ का गौरव–(ग्रन्थ का बढ़ना) नहीं हो और शेष शब्द से उनका ज्ञान भी होवे इसप्रकार का निर्देश किया गया है, और इसी वजह से नारकी के अनन्तर कथन नहीं किया, अब विस्तर से बस हो ।

नारकी मनुष्य और तिर्यंचों की आयु कह दी थी अब देवों की आयु कहते हैं । उनमें आदि में कहे गये भवनवासियों की स्थिति को बतलाने के लिये सूत्रावतार होता है—

सूत्रार्थ—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार द्वीपकुमार और शेष छह कुमारों की स्थिति क्रमशः एक सागर तीन पल्य और आगे आधा आधा पल्य कम इस रूप से कही गई है ।

एषां स्थितिरियमुत्कृष्टेति गम्यते जघन्याया उत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वात् । असुराश्च नागाश्च सुपर्णाश्च द्वीपाश्च शेषाश्च—असुरनागसुपर्णद्वीपशेषास्तेषामसुरनागसुपर्णद्वीपशेषाणाम् । त्रीणि च तानि पल्योपमानि च त्रिपल्योपमानि । अर्धेन हीनं पल्यमर्धहीनमिति खण्डसमासः । ततः सागरोपमं च त्रिपल्योपमानि चार्धहीनं च सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनानि । तैर्मिता परिच्छिन्ना सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिता । ततो यथाक्रममभिसम्बन्धः क्रियते । तद्यथा—असुराणां सागरोपममितोत्कृष्टा स्थितिः । नागानां त्रिपल्योपममिता । सुपर्णानां ततोऽर्धहीनमिता—अर्धपल्यद्वयप्रमितेत्यर्थः । द्वीपानां ततोप्यर्धहीनमिता—पल्यद्वयप्रमाणेत्यर्थः । शेषाणां षण्णां ततोप्यर्धहीनमिता—प्रत्येकमध्यर्धपल्योपमा चेति तात्पयर्थिः । असुराणां देहोत्सेधस्य मानं पंचविंशतिधनूंषि । नागादीनां तु नवानामपि देहोत्सेधस्य मानं दशधनूंषि । सर्वव्यन्तराणां देहोत्सेधस्य प्रमाणं दशधनूंषि । सर्वज्योतिषां शरीरोत्सेधस्य प्रमाणं सप्तधनूंषीति चात्र वेदितव्यम् । तथा चोक्तम्—

पणवीसं असुराणं सेसकुमाराणं दसधणू चेव ।
वेन्तरजोयिसियाणं दस सत्त सरीर उच्छेहो ।।

सागरोपम आदि स्थिति इन देवों की उत्कृष्ट है ऐसा जाना जाता है क्योंकि जघन्य स्थिति को आगे कहेंगे । असुर आदि पदों में द्वन्द्व समास है । त्रिपल्योपम पद में कर्मधारय समास है, अर्धहीन पद में तत्पुरुष खंड समास है, पुनः इन संख्यावाची पदों का द्वन्द्व समास करके तत्पुरुष समास द्वारा 'मित' पद जोड़ दिया है । फिर इनका क्रमसे संबंध करना, आगे इसीको बतलाते हैं असुरकुमारों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है । नागकुमारों की तीन पल्य की सुपर्णकुमारों की उससे अर्ध पल्य कम है अर्थात् ढाई पल्य स्थिति है । द्वीप कुमारों की उससे आधा पल्य कम अर्थात् दो पल्य आयु है । शेष छह कुमारों की आधा पल्य कम आयु है अर्थात् प्रत्येक कुमारों की स्थिति डेढ पल्य की है ।

असुरकुमारों की शरीर की ऊंचाई पच्चीस धनुष की है । नागकुमारादि शेष नौ की ऊँचाई दस धनुष है । सभी व्यन्तर देवों के शरीर दस धनुष ऊंचे हैं । सभी ज्योतिष्क देवों के शरीर सात धनुष प्रमाण हैं ऐसा जानना चाहिये । कहा भी है—

असुरों की शरीर ऊंचाई पच्चीस धनुष, शेष नौ कुमार तथा सभी व्यन्तरों के शरीरों की ऊंचाई दस धनुष प्रमाण है और सर्व ज्योतिषी के सात धनुष प्रमाण शरीर की ऊंचाई होती है ।।१।।

भवनवास्यादिनिकायत्रयदेवायुषोऽष्टमांशस्तद्देव्यायुषः प्रमाणमिति चात्र बोद्धव्यम् । आद्यदेव-निकायस्थित्यभिधानानन्तरं व्यन्तरज्योतिष्कस्थितिवचनं क्रमप्राप्तम् । तदुल्लङ्घ्य तावद्वैमानिकानां स्थितिरुच्यते । कुत इति चेत्तयोरुत्तरत्र संक्षेपतोऽभिधानात् । तेषु चाद्ययोः कल्पयोः स्थितिप्रतिपाद-नार्थमाह—

सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ।। २६ ।।

भवनवासी आदि तीन निकाय के देवों की जो आयु है उनसे आठवें भाग प्रमाण उन उनके देवियों की आयु है ऐसा विशेष भी यहां समझना चाहिये ।

नोट—यहांपर भवनत्रिक के देवियों की आयु अपने अपने देवों की आयु से आठवें भाग प्रमाण बतलाई है उसमें असुरकुमार की अपेक्षा छोड़ देना, क्योंकि भवनवासियों में असुरकुमार की आयु एक सागरोपम है सागर का आठवां भाग बहुत बड़ा होता है उसमें कई करोड़ पल्य होंगे किन्तु देवियों की आयु इतने अधिक पल्यों की संभव नहीं है [क्योंकि आगम में निषेध है] अतः असुरकुमार को छोड़कर शेष देवों के आयु के आठवें भाग प्रमाण उन उनके देवियों की आयु है ऐसा समझना चाहिये । यह तो इस ग्रन्थ के अभिप्रायानुसार कहा । त्रिलोकसार में असुरकुमार आदि के देवियों की आयु अढ़ाई पल्य आदि कही है । ज्योतिष्क देवियों की आयु अपने अपने देवों की आयु के आधे भाग प्रमाण है । व्यन्तरों के देवियों की आयु आधा पल्य है । यह सब आयु प्रमाण उत्कृष्टता की अपेक्षा से है, मध्यम तथा जघन्य की अपेक्षा तो इससे बहुत कम है । आयु संबंधी यह वर्णन त्रिलोकसार से जानना चाहिये । यहां पर इतना ही कहना है कि असुरकुमार की देवियों की आयु का प्रमाण अपने देव के आयु से आठवें भाग रूप नही लेना, शेष देवों के देवियों की आयु के लिये आठवां भाग लेना । ग्रन्थकार ने सामान्यतः भवनत्रिक कहा है, उसमें असुरकुमार की अपेक्षा गौण की है ।

प्रथम निकाय के देवों की स्थिति कहने पर क्रम प्राप्त व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों की स्थिति कहना चाहिये किन्तु उसका उल्लंघन करके पहले वैमानिक देवों की स्थिति बतलाते हैं ।

प्रश्न—ऐसा क्यों करते हैं ?

उत्तर—उन व्यन्तर और ज्योतिष्कों की स्थिति आगे संक्षेप में कहने में आ जाती है अतः अब आदि के दो कल्पों की स्थिति का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—सौधर्म और ऐशान के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है ।

सौधर्मश्चैशानश्च सौधर्मैशानौ । तयोः सौधर्मैशानयोः । सागरोपमे इति द्विवचननिर्देशाद्द्वे सागरोपमे इति गम्यते । आसहस्रारादधिके इत्ययमधिकारो द्रष्टव्यः । उत्तरत्र तृतीयसूत्रे तुशब्दस्यैतदर्थविशेषार्थत्वात् । तेन सौधर्मैशानयोः कल्पयोर्देवानामधिकृतोत्कृष्टा स्थितिर्द्वेसागरोपमे सातिरेके प्रत्येतव्ये । तदनन्तरयोः स्थितिमाह—

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

सानत्कुमारश्च माहेन्द्रश्च सानत्कुमारमाहेन्द्रौ । तयोः सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः । अत्र सागरोपमग्रहणमधिकग्रहणं चानुवर्तते । तेन सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः कल्पयोर्देवानामुत्कृष्टा स्तिथिः सप्तसागरोपमाणि साधिकानीति गम्यते । ब्रह्मलोकादिष्वच्युतावसानेषु प्रकष्टस्थितिप्रतिपादनार्थमाह—

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ॥ ३१ ॥

त्रीणि च सप्त च नव च एकादश च त्रयोदश च पञ्चदश च तानि तथोक्तानि । तैस्त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिः । सप्तग्रहणमधिकृतम् । तस्येह निर्दिष्टैस्त्र्यादिभिर्द्वयोर्द्वयोः कल्पयोर

सौधर्म ऐशान पद में द्वन्द्व समास है । "सागरोपमे" इस द्विवचन निर्देश से दो सागर का बोध होता है । सहस्रार स्वर्ग तक अधिक का अधिकार समझना, आगे के इकतीसवें सूत्र में 'तु' शब्द आया है, वह इस अधिक शब्द को कहांतक लगाना इस अर्थ की सूचना देता है । इसतरह सौधर्म और ईशान कल्पों के देवों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक दो सागर प्रमाण है ऐसा निश्चय होता है ।

उससे आगे के दो स्वर्गों की स्थिति बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में कुछ अधिक सात सागर प्रमाण स्थिति है ।

सानत्कुमार आदि पदों में द्वन्द्व समास है । सागरोपम और अधिक शब्द का अनुवर्त्तन चलेगा, उससे सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के देवों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागरोपम है यह जाना जाता है ।

ब्रह्मलोक से लेकर अच्युत तक के देवों की प्रकृष्ट स्थिति को बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—पांचवें छठे आदि स्वर्गों में क्रमशः तीन अधिक सात सागर, सात अधिक सात सागर, नौ अधिक सात सागर, ग्यारह अधिक सात सागर, तेरह अधिक सात सागर, पंद्रह अधिक सात सागर आयु हैं ।

भिसम्बन्धो द्रष्टव्यः । सप्त त्रिभिरधिकानि, सप्त सप्तभिरधिकानीत्यादि । तुशब्दोऽत्र विशेषणार्थो द्रष्टव्यः । किमनेन विशिष्यते ? अधिकशब्दोनुवर्तमानश्चतुर्भिः कल्पयुगलैरिह सम्बध्यते नोत्तराभ्या मित्ययमर्थो विशिष्यते । तेनायमर्थो भवति-ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोर्देवानां दशसागरोपमाणि साधिकान्युत्कृष्टा स्थितिः । लान्तवकापिष्ठयोश्चतुर्दशसागरोपमाणि साधिकानि । शुक्रमहाशुक्रयोः षोडशसागरोपमाणि साधिकानि । शतारसहस्रारयोरष्टादशसागरोपमाणि साधिकानि । आनतप्राणतयोर्विंशतिसागरोपमाणि । आरणाच्युतयोर्द्वाविंशतिरेव सागरोपमाणीति । सांप्रतं सौधर्मादिषु देवीनां प्रतिकल्पं परमायुः प्रमाणमुच्यते-सौधर्मदेवीनां पञ्चपल्योपमानि । ईशानदेवीनां सप्तपल्योपमानि । सानत्कुमार देवीनां नवपल्योपमानि । माहेन्द्रे एकादशपल्यानि । ब्रह्मलोके त्रयोदशपल्यानि । ब्रह्मोत्तरे पञ्चदश पल्यानि । लान्तवे सप्तदशपल्यानि । कापिष्ठे एकोनविंशतिपल्यानि । शुक्रे एकविंशतिपल्यानि । महा शुक्रे त्रयोविंशतिपल्यानि । शतारे पञ्चविंशतिपल्यानि । सहस्रारे सप्तविंशतिपल्यानि । आनते

त्रि आदि पदों में द्वन्द्व समास करना, सात शब्द का अधिकार है, उस सात के साथ यहां के तीन आदि संख्या का दो दो कल्पों में संबंध जानना चाहिये सात तीन से अधिक है, सात, सात से अधिक है इत्यादि । यहां पर तु शब्द विशेष अर्थ की सूचना करता है ।

प्रश्न—इस तु शब्द से क्या विशेष सूचना मिलती है ?

उत्तर—अधिक शब्द का प्रवर्त्तन यहां चार युगलों तक संबद्ध है आगे के दो युगलों में अधिक का अधिकार नहीं है, यह अर्थ तु शब्द से सूचित होता है । उससे यह अर्थ होता है कि ब्रह्मलोक और ब्रह्मोत्तर के देवों की कुछ अधिक दश सागर की उत्कृष्ट आयु है, लांतव कापिष्ठ में चौदह सागर से कुछ अधिक शुक्र महाशुक्र में सोलह सागर से कुछ अधिक शतार सहस्रार में अठारह सागर से कुछ अधिक उत्कृष्ट आयु है । बस ! यहीं तक अधिक का प्रकरण है । आनत प्राणत में बीस सागरोपम और आरण अच्युत में बावीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु होती है ।

अब यहां पर सौधर्म आदि में होने वाली देवियों की प्रत्येक कल्प की अपेक्षा उत्कृष्ट आयु बताते हैं—सौधर्म स्वर्ग के देवियों की आयु पांच पल्य की है । ईशान के देवियों की सात पल्य की, सानत्कुमार के देवियों की नौ पल्य, माहेन्द्र के देवियों की ग्यारह पल्य, ब्रह्मलोक में तेरह पल्य, ब्रह्मोत्तर में पंद्रह पल्य, लान्तव में सतरह पल्य कापिष्ठ में उन्नीस पल्य, शुक्र में इक्कीस पल्य, महाशुक्र में तेईस पल्य, शतार में

चतुस्त्रिंशत्पल्यानि । प्राणते एकचत्वारिंशत्पल्यानि ।-आरणकल्पेऽष्टचत्वारिंशत्पल्यानि । अच्युतकल्पे पञ्चपञ्चाशत्पल्यानि परा स्थितिरिति । मतान्तरेण पुनर्द्वयोर्द्वयोः कल्पयोर्देवीनां परा स्थितिरुच्यते—सौधर्मैशानयोर्देवीनां पञ्चपल्यानि तुल्या परा स्थितिः। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्तदशपल्यानि। ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोः पंचविंशति पल्यानि । लान्तवकापिष्ठयोः पञ्चत्रिंशत्पल्यानि । शुक्रमहाशुक्रयोश्चत्वारिंशत्पल्यानि । शतारसहस्रारयोः पञ्चचत्वारिंशत्पल्यानि । आनतप्राणतयोः पञ्चाशत्पल्यानि । आरणाच्युतयोः पञ्चपञ्चाशत्पल्यानि परा स्थितिरिति । तत ऊर्ध्वं का स्थितिः परेत्याह—

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ।। ३२ ।।

आरणश्चाच्युतश्चारणाच्युतं तस्मादारणाच्युतात् । ऊर्ध्वमुपरीत्यर्थः एकैकेनेत्येकोववदित्यनेन वीप्सायां द्विरुक्तस्यैकशब्दस्य पूर्वावयवे विभक्तेर्लोपश्च भवति । तेनानुवर्तमानाधिकशब्दसम्बन्धादेकैकेनाधिकानीति व्याख्यायते । नवसु ग्रैवेयकेषु प्रत्येकमेकैकस्य सागरोपमस्याधिक्यज्ञापनार्थं नवग्रहणं

पच्चीस पल्य, सहस्रार में सत्तावीस पल्य, आनत में चौंतीस पल्य, प्राणत में एकतालीस पल्य, आरण कल्प में अड़तालीस पल्य और अच्युत में देवियों की उत्कृष्ट आयु पचपन पल्य प्रमाण है ।

मतान्तर की अपेक्षा तो दो दो कल्पों में देवियों की उत्कृष्ट आयु इसप्रकार कही जाती है—सौधर्म और ईशान इन दोनों कल्पों में देवियों की आयु समान रूप से पांच पल्य की है । सानत्कुमार माहेन्द्र में सतरह पल्य, ब्रह्मलोक-ब्रह्मोत्तर में पच्चीस पल्य, लान्तव कापिष्ठ में पैंतीस पल्य, शुक्र महाशुक्र में चालीस पल्य, शतार सहस्रार में पैंतालीस पल्य, आनत प्राणत में पचास पल्य और आरण अच्युत के देवियों की उत्कृष्ट आयु पचपन पल्य प्रमाण होती है ।

अब सोलह स्वर्गों के आगे उत्कृष्ट स्थिति कितनी है यह सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

सूत्रार्थ— आरण अच्युत के आगे एक एक सागर स्थिति बढ़ती है नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश, विजयादिक और सर्वार्थ सिद्धि पर्यन्त ।

आरण अच्युत पदों में द्वन्द्व समास है । उससे ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर । "एकैकेन" इस पद में वीप्सा अर्थ में एक शब्द को दो बार कहा है, इसमें पूर्व के एक शब्द की विभक्ति का लोप हुआ है । उस एक शब्द के साथ अधिक शब्द का संबंध कर देने से एक एक अधिक है ऐसा व्याख्यान करते हैं । नौ ग्रैवेयकों में प्रत्येक में एक एक सागर अधिक करना है इस बात को स्पष्ट करने के लिये "नवसु" पद का ग्रहण किया है ।

कृतम् । विजय आदिर्येषां तानि विजयादीनि ग्रैवेयकविजयादिष्विति समासेन सिद्धे ग्रैवेयकेभ्यो विजयादीनां पृथग्ग्रहणमनुदिशसंग्रहार्थं कृतम् । सर्वार्थसिद्धेस्तु पृथग्वचनं जघन्यस्थितिनिवृत्त्यर्थम् । तेनैतदुक्तं भवति-अधोग्रैवेयकेषु प्रथमे देवानां त्रयोविंशतिसागरोपमाणिपरा स्थितिः । द्वितीये चतुर्विंशतिः । *तृतीये पञ्चविंशतिः । मध्यमग्रैवेयकेषु प्रथमे षड्विंशतिः । द्वितीये सप्तविंशतिः । तृतीयेऽष्टाविंशतिः* । उपरिमग्रैवेयकेषु प्रथमे एकोनत्रिंशत् । द्वितीये त्रिंशत् । तृतीये एकत्रिंशत् । अनुदिशविमानेषु द्वात्रिंशत् । विजयादिषु त्रयस्त्रिंशत् । सर्वार्थसिद्धौ त्रयस्त्रिंशदेव सागरोपमाणि परा स्थितिरिति । सर्वार्थसिद्धे चेत्यपि पाठान्तरमस्ति । परा स्थितिरुक्ता । सांप्रतमाद्यकल्पयोस्तावज्जघन्यां स्थितिं प्रतिपादयन्नाह—

अपरा पल्योपममधिकम् ।। ३३ ।।

अपरा जघन्येत्यर्थः । स्थितिरित्यनुवर्तते । पल्योपमं व्याख्यातलक्षणम् । अधिकमभ्यधिकमित्यर्थः । भवनवास्यादीनां जघन्या स्थितिर्वक्ष्यते । सानत्कुमारादीनां चोत्तरसूत्रेणैव वक्ष्यमाणा ।

विजय है आदि में जिनके वे विजयादिक । "ग्रैवेयक विजयादिषु" ऐसा समास कर सकते हैं किन्तु ग्रैवेयक से विजयादि को पृथक् इसलिये रखा है कि जिससे अनुदिश का ग्रहण हो । "सर्वार्थसिद्धौ" इस पद का पृथक् ग्रहण इसमें जघन्य आयु नहीं होती इस बातको स्पष्ट करने के लिये किया है । उससे अब यह अर्थ होता है कि—अधोग्रैवेयकों में से पहले ग्रैवेयक में देवों की उत्कृष्ट आयु तेईस सागर की है । दूसरे ग्रैवेयक में चौवीस सागर, तीसरे में पच्चीस सागर की आयु है । मध्यम ग्रैवेयकों में पहले में छब्बीस सागर द्वितीय में सत्ताईस सागर, तृतीय में अट्ठावीस सागर की उत्कृष्ट आयु है । ऊर्ध्व ग्रैवेयकों में से प्रथम में उनतीस सागर, द्वितीय में तीस सागर और तृतीय ग्रैवेयक में इकतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु है । अनुदिश विमानों में बत्तीस सागरोपम विजयादि चार विमानों में तैंतीस सागर और सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागर ही उत्कृष्ट आयु जाननी चाहिये । "सर्वार्थसिद्धे च" इस तरह भी पाठान्तर देखा जाता है । इसतरह उत्कृष्ट स्थिति का कथन पूर्ण हुआ ।

अब आदि के कल्प युगल में जघन्य स्थिति का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—प्रथम कल्पयुगल में देवों की जघन्य आयु एक पल्य से कुछ अधिक है ।

अपरा जघन्य को कहते हैं । स्थिति का प्रकरण चल रहा है । पल्योपम का लक्षण कह चुके हैं । अधिक का अर्थ कुछ अधिक है । भवनवासी आदि की जघन्य स्थिति आगे कहेंगे । और सानत्कुमार आदि की जघन्य स्थिति उत्तर सूत्र द्वारा कहने

ततः पारिशेष्यात् सौधर्मैशानयोर्देवानां साधिकं पल्योपमं जघन्या स्थितिर्वेदितव्या तत ऊर्ध्वं जघन्य-स्थितिप्रदर्शनार्थमाह—

परतः परतः पूर्वापूर्वानन्तरा ।। ३४ ।।

परस्मिन् देशे परतः। तस्य वीप्सायां द्वित्वम् । तथा पूर्वाशब्दस्यापि । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानं यस्याः सानन्तरा । अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते । किमुक्तं भवति ? पूर्वा पूर्वा याऽनन्तरा स्थितिरुत्कृ-ष्टोक्ता सा उपर्युपरि देवानां जघन्येत्येतदुक्तं भवति । सा चाधिकग्रहणानुवर्तना सातिरेका संप्रतीयते । ततः सौधर्मैशानयोः परा स्थितिर्द्वे सागरोपमे साधिके उक्ते । ते सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सातिरेके जघन्या स्थितिः । सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः परा स्थितिः सप्तसागरोपमाणि साधिकान्युक्तानि । तानि सातिरेकाणि ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरयोर्जघन्या स्थितिरित्यादि योज्यम् । आविजयादिभ्योऽनुत्तरेभ्योऽयम-

---

वाले हैं, उससे पारिशेष न्याय से सौधर्म ईशान स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है ऐसा जानना चाहिये । अभिप्राय यह है कि सूत्र में सौधर्म ईशान का उल्लेख नहीं है तो भी प्रकरण आदि से उनका ग्रहण होता है ।

उससे आगे के स्वर्गों की जघन्य स्थिति का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—आगे के स्वर्गों में जघन्य स्थिति जो पूर्व के स्वर्ग में उत्कृष्ट है वह होती है, अर्थात् पहले पहले स्वर्ग की जो उत्कृष्ट आयु स्थिति है वह आगे आगे स्वर्ग में जघन्य हो जाती है ।

"परस्मिन् देशे परतः" सप्तमी अर्थ में यहां तस् प्रत्यय आया है । वीप्सा अर्थ में परतः परतः ऐसा द्वित्व हुआ है । इसीतरह पूर्व शब्द को द्वित्व हुआ है । जिसमें अन्तर नहीं है, व्यवधान नहीं है वह अनन्तरा है, अपरा स्थिति का प्रकरण चल रहा है । इससे क्या कहा सो बताते हैं—पूर्व पूर्व की जो अनंतर स्थिति उत्कृष्ट है, वह आगे आगे के देवों की जघन्य स्थिति है । अधिक शब्द का अनुवर्त्तन है इससे वह जघन्य स्थिति कुछ अधिक होती है ऐसा प्रतीत होता है । इसीको बताते हैं—सौधर्म ईशान में उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक दो सागर की है, सानत्कुमार माहेन्द्र में वही कुछ अधिक होकर जघन्य स्थिति बन जाती है । सानत्कुमार माहेन्द्र में उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागर की है, वही कुछ अधिक होकर ब्रह्म ब्रह्मोत्तर में जघन्य स्थिति हो जाती है । इसप्रकार विजयादि अनुत्तर विमानों तक लगा लेना चाहिये ।

प्रश्न—विजयादि विमानों तक क्यों योजना करना ?

धिकारो वेदितव्यः। कुत इति चेत्—सर्वार्थसिद्धेः पृथग्ग्रहणं जघन्यस्थितिनिवृत्त्यर्थमित्युक्तत्वात्। व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दः प्रयुज्यमानो दृश्यते। यथा पूर्वं मथुरायाः पाटलीपुत्रमिति। तस्माद्व्यवहित-स्थितिनिरासार्थमनन्तरेति विशेषणं क्रियते। पश्चादनन्तरानिवृत्त्यर्थं पूर्वेति च विशेषणम्। अप्रकृता-नामपि नारकाणां जघन्यां स्थितिं संक्षेपार्थमिह प्रकाशयन्नाह—

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

द्वितीया शर्करा प्रभा। सा आदिर्यासां ता द्वितीयादयो नरकभूमयस्तासु द्वितीयादिषु। परतः परतः पूर्वापूर्वानन्तरा परा स्थितिरित्येतस्यार्थस्य समुच्चयार्थश्चशब्दः कृतः। तेनायमर्थो लब्धः—रत्नप्रभायां नारकाणां परा स्थितिरेकं सागरोपमम्। सा शर्कराप्रभायां जघन्या। शर्कराप्रभायां त्रीणि सागरोपमाणि परा स्थितिरुक्ता। सा वालुकाप्रभायां जघन्या। तस्यां परा स्थितिरुक्ता। सप्तसागरो-

---

उत्तर—सर्वार्थसिद्धि पद का पृथक् रूप से ग्रहण किया है उसीसे वहाँ जघन्य स्थिति का निषेध हो जाता है। व्यवहित में भी पूर्व शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जैसे मथुरा से पूर्व में पाटलीपुत्र नगर है [पटना] इसतरह पूर्व शब्द का अर्थ व्यवहित लेकर व्यवहित की स्थिति का निराकरण करने के लिये "अनंतरा" यह विशेषण दिया है। तथा पश्चात् के अनंतर का निराकरण करने के लिये "पूर्वा" विशेषण दिया है।

अब आगे यद्यपि नारकियों का प्रकरण नहीं है तो भी उनकी जघन्य स्थिति संक्षेप कथन के लिये बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—द्वितीय आदि नरकों में नारकी जीवों की जघन्य स्थिति वह होती है जो पूर्व के नरक में उत्कृष्ट होती है।

द्वितीय नरक शर्करा प्रभा है, वह जिसके आदि में है वे नरक भूमियां द्वितिया-दिषु पद से ग्रहण की हैं। "परतः परतः पूर्वापूर्वानन्तरा" परा स्थितिः "पूर्व पूर्व की जो उत्कृष्ट स्थिति है वह आगे आगे जघन्य हो जाती है" इस अर्थ का समुच्चय करने हेतु "च" शब्द को ग्रहण किया है। उससे यह अर्थ प्राप्त होता है कि—रत्नप्रभा में नारक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम है, वह शर्करा प्रभा में जघन्य स्थिति है। शर्करा प्रभा में उत्कृष्ट स्थिति तीन सागर की है, वह वालुका प्रभा में जघन्य स्थिति है। वालुका प्रभा में उत्कृष्ट आयु सात सागर है, वही पंकप्रभा में जघन्य

पमाणि । सा पङ्कप्रभायां जघन्या । तस्यां परा स्थितिरुक्ता दशसागरोपमाणि । सा धूमप्रभायां जघन्या । धूमप्रभायां परा स्थितिरुक्ता सप्तदशसागरोपमाणि । सा तमःप्रभायां जघन्यां । तमःप्रभायां परा स्थितिरुक्ता द्वाविंशतिसागरोपमाणि । सा महातमः प्रभायां जघन्येति । अथ प्रथमायां पृथिव्यां का जघन्या स्थितिरित्याह—

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।। ३६ ।।

अपरा स्थितिरित्यनुवर्तते । तेन रत्नप्रभायां जघन्या स्थितिर्दशसंवत्सरसहस्राणीति प्रत्येयम् । तर्हि भवनवासिनां का जघन्या स्थितिरित्याह—

भवनेषु च ।। ३७ ।।

चशब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थः । तेन भवनेषु च ये वसन्ति प्रथमनिकायदेवास्तेषां दशवर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिरित्यभिसम्बध्यते । व्यन्तराणां जघन्यस्थितिं प्रतिपादयन्नाह—

व्यन्तराणां च ।। ३८ ।।

स्थिति है, उस पंकप्रभा में उत्कृष्ट आयु दस सागर की है, वही धूमप्रभा में जघन्य आयु है । धूमप्रभा में उत्कृष्ट स्थिति सतरह सागर की है वही तमःप्रभा में जघन्य आयु है । तमः प्रभा में उत्कृष्ट आयु बावीस सागर की है वही महातमः प्रभा में जघन्य आयु है ।

अब प्रथम पृथिवी में जघन्य स्थिति कौनसी है यह सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

सूत्रार्थ— प्रथम नरक में दस हजार वर्ष की जघन्य आयु होती है ।

जघन्य स्थिति का प्रकरण चल रहा है, रत्नप्रभा नरक में जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की जाननी चाहिये ।

भवनवासियों की जघन्य स्थिति कौनसी है सो बताते हैं—

सूत्रार्थ—भवनवासियों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष प्रमाण है ।

च शब्द प्रकृत समुच्चय के लिये है । भवनों में रहने वाले प्रथम निकाय के जो देव हैं उनकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है ऐसा संबंध करना ।

सूत्रार्थ—व्यन्तरों की जघन्य स्थिति भी दस हजार वर्ष की है ।

चशब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थ इत्येवं तेन व्यन्तराणां जघन्यस्थितिर्दशवर्षसहस्राणीत्यवगम्यते। इदानीं व्यन्तराणामिह प्रस्तावे लाघवार्थमुत्कृष्टस्थितिमाह—

परा पल्योपममधिकम् ॥ ३९ ॥

स्थितिरित्यनुवर्तते। तेन व्यन्तराणां पल्योपमं सातिरेकं परा स्थिति रिति निश्चीयते। अथ ज्योतिष्काणां का परा स्थितिरित्याह—

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

चशब्दः प्रकृतसमुच्चयार्थ इत्येवं तेन ज्योतिष्काणां च परा स्थितिः पल्योपमं सातिरेकमित्यभिसम्बध्यते। अथ जघन्या स्थितिर्ज्योतिष्काणां कियती स्यादित्याह—

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

च शब्द प्रकृत समुच्चय के लिये है, उससे व्यन्तरों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है ऐसा जाना जाता है।

इस समय व्यन्तरों का प्रसंग देखकर लाघव के लिये उनकी उत्कृष्ट स्थिति का भी प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्य प्रमाण है।

स्थिति का प्रकरण चल ही रहा है, उससे व्यन्तरों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक पल्योपम है ऐसा निश्चय हो जाता है।

ज्योतिष्कों की उत्कृष्ट स्थिति कौनसी है ऐसा पूछने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—ज्योतिष्कों की भी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्य की है।

च शब्द प्रकृत का समुच्चय करता है। उससे ज्योतिष्क देवों की भी उत्कृष्ट स्थिति एक पल्य से कुछ अधिक है ऐसा संबंध हो जाता है।

ज्योतिष्कों की जघन्य स्थिति कितनी है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

सूत्रार्थ—ज्योतिष्क की जघन्य स्थिति पल्य के आठवें भाग प्रमाण है।

अष्टभिर्भागोऽष्टभागः। तस्य पल्योपमस्याष्टभागस्तदष्टभागः। किमुक्तं भवति ? पल्योपमस्याष्टमो भागो ज्योतिष्काणां जघन्या स्थितिरित्येतदुक्तं भवतीति। अत्र कश्चिदाह—ज्योतिष्काणां परा स्थितिः पल्योपममधिकमित्युक्तम्। तच्चाधिकं कस्य कियदिति न ज्ञायते इत्यत्रोच्यते—चन्द्राणां वर्षशतसहस्राधिकं पल्योपमं परा स्थितिः। सूर्याणां वर्षसहस्राधिकं पल्यं परा स्थितिः। शुक्राणां वर्षशताधिकं पल्यं परा स्थितिः। बृहस्पतीनां पूर्णं पल्योपममेव परा स्थितिर्नाधिकम्। शेषाणां ग्रहाणां बुधादीनां पल्योपमस्यार्धं परा स्थितिः। नक्षत्राणां पल्यार्धं परा स्थितिः। तारकाणां पल्योपमस्य चतुर्थो भागः परा स्थितिः। तथा तारकाणां नक्षत्राणां च पल्यस्याष्टमो भागो जघन्या स्थितिर्भवति। सूर्यादीनां तु पल्योपमस्य चतुर्थो भागो जघन्या स्थितिर्वेदितव्येति। अथ लौकान्तिकानां कियानित्याह—

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२ ॥

एक पल्य के बराबर आठ भाग करना उनमें से आठवां भाग लेना, इससे क्या कहा ? सो बताते हैं—ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति पल्योपम के अष्टम भाग प्रमाण है ऐसा समझना चाहिये।

यहां पर कोई कहता है—ज्योतिष्क देवों की प्रकृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पल्य की बतायी, वह जो कुछ अधिक है वह किसके कितनी अधिक है यह ज्ञात नहीं होता है ?

अब इस शंका का समाधान करते हैं—चन्द्र देवों की उत्कृष्ट स्थिति–आयु एक लाख वर्ष अधिक पल्योपम है। सूर्य देवों की हजार वर्ष अधिक पल्योपम है। शुक्रों की सौ वर्ष अधिक पल्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है। बृहस्पतियों की पूर्ण पल्य प्रमाण ही है इससे अधिक नहीं हैं। शेष बुध आदि ग्रहों की तथा नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु आधा पल्य की है। तारकाओं की उत्कृष्ट आयु पल्य के चौथे भाग प्रमाण है। नक्षत्र तथा ताराओं की जघन्य स्थिति पल्य के आठवें भाग प्रमाण है। सूर्य आदि की जघन्य स्थिति पल्य के चौथाई भाग प्रमाण है ऐसा जानना चाहिये।

अब लौकान्तिक देवों की कितनी स्थिति है यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—सभी लौकान्तिकों की स्थिति आठ सागर प्रमाण कही है।

सर्वलौकान्तिकानामेकैव स्थितिः। सर्वे च ते शुक्ललेश्याः पञ्चहस्तोत्सेधशरीरा इति चात्र बोद्धव्यम्। अपरः प्रपञ्च. सर्वस्य भाष्ये द्रष्टव्यः संक्षेपतोऽत्र लोकत्रयाश्रयस्य संसारिणो जीवस्य सम्यग्दर्शनविषयत्वेनोपक्षिप्तस्य सूचनात्। कुतः पुनर्लोकत्रयावधिप्रतिपादकागमस्य सम्भवदर्थविषयत्वम्? यतः सुनिश्चितसकलबाधकरहितत्वात्तस्य प्रामाण्यं स्यादिति चेत्—सम्यग्युक्त्युपपन्नत्वादिति ब्रूमः। तथाहि—प्रमाणसिद्धस्यात्मनो गतिस्वभावस्याशेषपापविधुरस्याधस्तिर्यग्गमनरहितस्यात्यन्तिकीं विशुद्धिं प्रकृष्टतमोर्ध्वगतिहेतुमादधानस्योर्ध्वं गच्छतः क्वचिदवस्थानाभावे पवनबाणादिवद् गतिमत्त्वानुपपत्तेस्तदवस्थानप्रदेशस्योर्ध्वलोकावधित्वसिद्धिर्भवति सकलपुण्यविकलस्य चोर्ध्वं तिर्यग्गमनरहितस्या-

---

सभी लौकान्तिकों की एक सी ही आयु है। वे सभी देव शुक्ल लेश्या वाले, पांच हाथ की शरीर ऊंचाई वाले होते हैं ऐसा जानना चाहिये। इतर सर्व विस्तार भाष्य ग्रंथ में देखना चाहिये। इस ग्रन्थ में तो संक्षेप से कथन है, संसारी जीव तीन लोकों के आश्रय में रहते हैं, संसारी के सम्यग्दर्शन के विषयभूत तीन लोकादि हैं उनका यहां सूचना रूप कथन किया गया है। भाव यह है कि यह तत्त्वार्थ वृत्ति ग्रन्थ तत्त्वों का संक्षिप्त मात्र कथन करता है। उसमें सम्यग्दर्शन आदि के वर्णन के अन्तर्गत संसारी जीव, उनके आश्रयभूत तीन लोक आदि का कथन अल्प प्रमाण में किया है विशेष जानकारी के लिये तत्त्वार्थ राजवार्त्तिक आदि ग्रन्थ अवलोकनीय है।

शंका—तीन लोकों की अवधि को बतलाने वाला आगम वास्तविक अर्थ वाला है यह किससे जाना जाता है? जिससे कि उसमें सुनिश्चित रूप से सकल बाधाओं से रहितपना होने से प्रामाणिकता मानी जाय?

समाधान—आगम समीचीन युक्तियों से परिपूर्ण है अतः प्रमाणभूत है ऐसा हम कहते हैं। आगे इसीको बताते हैं—आत्मा प्रमाण से सिद्ध है और वह गति स्वभाव वाला है जो आत्मा संपूर्ण पाप से रहित–कर्मों से रहित होता है वह नीचे और तिरछे रूप से गमन नहीं करता अपितु प्रकृष्टतम ऊर्ध्वगति के कारणभूत अत्यन्त विशुद्धि को धारण करता हुआ ऊपर जाता है। अब ऊपर जाते हुए उस जीव के यदि कहीं अवस्थान नहीं होगा तो वायु और बाण आदि के समान उसका गतिशीलपना ही बन नहीं सकता, अर्थात् जैसे वायु आदि पदार्थ गतिशील हैं तो कहीं जाकर स्थित भी होते हैं अन्यथा उनमें गतिपना बनता नहीं वैसे ही जीव यदि गतिशील है और ऊपर जारहा है तो वह कहीं अवश्य रुकेगा, वह जहां स्थित होता है वही लोक का अग्रभाग है लोक की सीमा है। इसतरह ऊर्ध्वलोक की अवधि सिद्ध होती है। तो जो आत्मा सकल

त्यन्तिकं सङ्क्लेशं प्रकृष्टतमोऽधोगतिहेतुं बिभ्राणस्याधो गच्छतः क्वचिदधोऽवस्थित्यभावे पवनबाणादिवद्गतिमत्त्वानुपपत्तेस्तदवस्थानप्रदेशस्याधोलोकावधित्वसिद्धिर्भवति । तथा प्रसिद्धयोश्चानयोरूर्ध्वाधोलोकभागयोर्मध्यलोकभागाभावे प्रासादादिवदघटनान्मध्यलोकसिद्धिर्भवतीति लोकत्रयं सम्भाव्यत एव । लोकत्रयं चावस्थितमस्ति । तदभावे प्रतीतभूभागावस्थानाघटनात् । तथा पवनवलयसिद्धिरप्यस्ति समन्तात्तदसम्भवे लोकत्रयोद्धृत्यनुपपत्तेः । तथाऽवान्तरलोकविशेषाणां चावान्तरविशुद्धिसक्लेशनिमित्तकर्मोपात्तावान्तरलोकाश्रयसंसारिसिद्धेः प्रकर्षाप्रकर्षतारतम्यसिद्धिरस्तीति न किञ्चिदप्यत्रासम्भावनीयं वस्तु वचन विषयभूतम् । तथा प्रतिपादयिष्यते चोत्तरत्र कर्मसम्बन्धतद्धेतुवैचित्र्यमित्यलमतिविस्तरेण ।।

पुण्य से विहीन है वह ऊर्ध्व या तिरछा गमन नहीं करता किन्तु प्रकृष्टतम अधोगति के कारणभूत अत्यन्त संक्लेश को धारण करता है वह नीचे जाता है, नीचे जाते हुए उसका कहीं पर अवस्थान होना चाहिये अन्यथा वायु और बाण आदि के समान गतिपना असंभव है, अब वह जहां स्थित होता है वहां अधोलोक की अवधि सिद्ध होती है । तथा इसप्रकार ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के सिद्ध होने पर मध्यलोक स्वतः सिद्ध होता है, क्योंकि मध्यलोक के अभाव में ऊर्ध्व अधोलोक असंभव ही है जैसे महल का ऊर्ध्व अधोभाग है तो मध्य भाग अवश्यंभावी है । ऐसे तीन लोक सिद्ध हो जाते हैं । जो तीन लोक हैं वे स्थित हैं, यदि स्थित नहीं होवे तो भूमिभाग अवस्थित रूप साक्षात प्रतीत होता है वह नहीं हो सकता था । इसीप्रकार वातवलय की सिद्धि भी हो जाती है, क्योंकि चारों ओर से वायु मण्डल नहीं होवे तो तीन लोक का धारणपना बनता नहीं तथा लोक में जो अवान्तर विशेषतायें हैं [अनेक नरक बिल अनेक विमान पटल, द्वीप, सागर, पृथिवी इत्यादि] वे सभी अवान्तर अनेक प्रकार की विशुद्धि और अनेक प्रकार के संक्लेश परिणामों के निमित्त से उपार्जित किया गया जो कर्म समूह है उनके कारण अनेक भेद वाले संसारी जीव हैं और उनके भेद के कारण आश्रय भूत लोक में विविधता है । इसतरह प्रकर्ष अप्रकर्ष के तरतमता की सिद्धि होती है । इसमें कुछ भी असंभव रूप वस्तु का कथन नहीं है ।

तथा आगे कर्मों का संबंध उसके कारण आदि की विविधता का प्रतिपादन भी करने वाले हैं अब इस विषय में अधिक नहीं कहते ।

विशेषार्थ—यहां पर शंका की गयी थी कि तीन लोक का वर्णन करने वाला आगम प्रमाण भूत कैसे माना जाय ? इसके समाधान में ग्रन्थकार ने कहा कि आत्मा

शशधरकरनिकरसतारनिस्तलतरलतममुक्ताफलहारस्फारतारानिकुरम्बबिम्बनिर्मलतरपरमोदार
शरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघातीन्धनसङ्घातसकलविमलकेवलालोकित-
सकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचिदचित्स्वभाव-
भावाभिधानसाधितस्वभावपरमाराध्यतममहासैद्धान्तः श्रीजिनचन्द्र-
भट्टारकस्तच्छिष्यपण्डितश्रीभास्करनन्दिविरचित-
महाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां
चतुर्थोऽध्यायस्समाप्तः ।

स्वसंवेदन प्रमाण से सिद्ध ही है, यह आत्मा गतिशील–गमन स्वभाव–वाला है । सर्व कर्म से रहित होकर जब गमन करेगा तो वह कहीं जाकर ठहरेगा ही जहां ठहरेगा वहीं लोक का आखिर अग्र भाग है । कोई जीव अत्यधिक पाप कर नीचे चला जाता है तो नीचे जहां जाकर ठहरेगा वहीं लोक का अधो भाग का अंत है इसतरह ऊर्ध्व अधः भाग सिद्ध है तो मध्य भाग स्वतः सिद्ध हो है इसतरह तीनों लोक युक्ति से सिद्ध हो जाते हैं । इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शनादि का कथन है, सम्यग्दर्शन का स्वामी जीव है, जीव सर्व लोक में गमन करता है अतः तीन लोक का वर्णन आवश्यक है । इस लोक को स्थिर मानना भी जरूरी है क्योंकि अपने प्रतीति में जो पृथिवी भाग है वह स्थिर ही प्रतीत होता है अतः सर्व लोक स्थिर ही होगा ऐसा युक्ति से सिद्ध होता है । लोक का आधार वातवलय है । इस लोक में जो विविधता है वह भी विचित्र कर्मोदय के वश से है । इसतरह सर्व ही आगमोक्त बातें युक्ति पूर्ण हैं अनुमानादि से सिद्ध हैं अतः लोक का वर्णन करने वाला आगम प्रामाणिक है ।

जो चन्द्रमा की किरण समूह के समान विस्तीर्ण, तुलना रहित मोतियों के विशाल हारों के समान एवं तारा समूह के समान शुक्ल निर्मल उदार ऐसे परमौदारिक शरीर के धारक हैं, शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि की उज्ज्वल ज्वाला द्वारा जला दिया है घाती कर्म रूपी ईन्धन समूह को जिन्होंने ऐसे तथा सकल विमल केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण लोकालोक के स्वभाव को जानने वाले श्रीमान परमेश्वर जिनपति के मत को जानने में विस्त्तीर्ण बुद्धि वाले, चेतन अचेतन द्रव्यों को सिद्ध करने वाले परम आराध्य भूत महासिद्धान्त ग्रन्थों के जो ज्ञाता हैं ऐसे श्री जिनचन्द्र भट्टारक हैं उनके शिष्य पंडित श्री भास्करनंदी विरचित सुख बोधा नामवाली महा शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ पंचमोऽध्यायः

जीवतत्त्वं व्याख्यातमिदानीमजीवतत्त्वस्य सामान्यलक्षणाऽनेकप्रदेशत्वभाग्विभागविशेषलक्षण-सूचनार्थमाह—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।। १ ।।

चेतनोपयोगजीवनलक्षणो जीव उक्तस्तद्विपरीतलक्षणाः पुनरजीवाः । अनेन सामान्यलक्षण मुक्तम् । काया इव कायाः । यथौदारिकादिशरीरनामकर्मोदयवशात्पुद्गलाश्चीयन्ते कायास्तथा धर्मादीनामनादिपारिणामिकप्रदेशचयनात्कायत्वम् । कायग्रहणेन धर्मादीनां प्रदेशबहुत्वं ज्ञापितं कालस्य च निषिद्धम् । अजीवाश्च ते कायाश्च अजीवकायाः । अजीवत्वं काले कायत्वं जीवेप्यस्तीत्युभयपद-

---

जीवतत्त्व का कथन कर दिया है, अब अजीव तत्त्व का सामान्य लक्षण तथा उनमें अनेक प्रदेशपने का विभाग विशेष की सूचना के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीव काय हैं । चेतन, उपयोग लक्षण जीव है, इसका वर्णन कर दिया है, उससे विपरीत लक्षण वाले अजीव हैं। यह अजीव का सामान्य लक्षण है । काय के समान काय है, जैसे औदारिक आदि शरीर नाम कर्म के उदय वश से पुद्गल संचित होते हैं वे काय कहलाते हैं वैसे धर्म आदि द्रव्य अनादि पारिणामिक रूप से प्रदेश संचय रूप रहते हैं अतः इनमें कायपना है । काय शब्द से धर्मादि द्रव्यों का बहुप्रदेशपना सिद्ध होता है और काल में बहु-प्रदेशत्व का निषेध हो जाता है । "अजीव कायाः" इसमें कर्मधारय समास है । काल द्रव्य में अजीवपना है और जीव द्रव्य में कायपना है इसप्रकार उभय पद व्यभिचरित है अर्थात् काल में कायत्व नहीं होते हुए भी अजीवत्व है और जीव में कायत्व रहते हुए भी अजीवत्व नहीं है, इसतरह व्यभिचार दोष संभव होने से नीलोत्पल पद के समान यहां कर्मधारय समास किया है ।

विशेषार्थ—अजीवाश्च ते कायाश्च अजीवकायाः इसप्रकार अजीव और काय इन दो पदों में कर्मधारय समास किया गया है । अकेला काय पद होवे तो वह जीवके

व्यभिचारसम्भवान्नीलोत्पलादिवदत्र कर्मधारयः । धर्मादयोऽर्हत्प्रणीते परमागमेऽनादिपारिणामिक्यः सञ्ज्ञा रूढा वेदितव्याः । अथवा क्रियानिमित्ता एता सञ्ज्ञा व्युत्पाद्यन्ते । कथमिति चेदुच्यते—स्वयं गतिक्रियापरिणामिनां जीवपुद्गलानां साचिव्यं यो ददाति स धर्मः । तद्विपरीतलक्षणश्चाधर्मः । जीवादीनि द्रव्याणि स्वैः स्वैः पर्यायैरव्यतिरेकेण यस्मिन्नाकाशन्ते प्रकाशन्ते तदाकाशम् । स्वयं चात्मीयपर्यायमर्यादया आकाशत इत्याकाशम् । इतरेषां द्रव्याणामवकाशदानसामर्थ्याद्वाऽऽकाशमिति पृषोदरादिषु यथोपदिष्टमित्यत्र निपातितः शब्दः । पूरणगलनान्वर्थसञ्ज्ञात्वात्पुद्गलाः । यथा भासं करोतीति भास्कर इति भासनार्थमन्तर्नीय भास्करसञ्ज्ञाऽन्वर्था प्रवर्तते तथा भेदात्सङ्घाताद्भेदसङ्घाताभ्यां च पूर्यन्ते गलन्ति चेति पूरणगलनात्मिकां क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः पृषोदरादिषु

साथ भी है क्योंकि जीवद्रव्य भी अस्तिकाय–(बहुप्रदेशी) स्वरूप है । तथा अकेला अजीव पद होवे तो काल द्रव्य के साथ व्यभिचार आता है क्योंकि काल अजीव तो है किन्तु काय स्वरूप नहीं है अतः अजीव कायाः ऐसा रखा गया है । जैसे नीलं च तत् उत्पलं च नीलोत्पलम् इसमें कर्मधारय समास है, नीलत्व उत्पल को छोड़कर अन्यत्र भी है तथा उत्पल भी केवल नीलरूप नहीं है—लाल आदि वर्ण रूप भी है अतः व्यभिचार संभव होने से कर्मधारय समास किया जाता है ।

अर्हत्प्रणीत आगम में धर्म आदिक संज्ञायें अनादि पारिणामिक रूढ हैं ऐसा जानना चाहिये । अथवा ये संज्ञायें क्रिया निमित्तक व्युत्पादित की जाती हैं । कैसे सो बताते हैं—स्वयं गति क्रिया में परिणत हुए जीव और पुद्गलों को जो साचिव्य—सहायता देता है वह धर्म है साचिव्यं ददाति [दधाति] इति धर्मः । इससे विपरीत लक्षण वाला अधर्म है । जीवादिक द्रव्य अपने अपने पर्यायों द्वारा अव्यतिरेक से जिसमें प्रकाशित होते हैं वह आकाश है । तथा स्वयं भी अपनी पर्यायों की मर्यादा से प्रकाशित होता है वह आकाश है । इतर द्रव्यों को अवकाश देने में समर्थ होने के कारण भी आकाश कहलाता है । "पृषोदरादिषु यथोपदिष्टम्" इस नियम से आकाश शब्द निपात सिद्ध भी है । जो पूरण गलन करे वह पुद्गल है यह अन्वर्थ संज्ञा है, जैसे "भासं करोति इति भास्करः" यहां भास–प्रकाश का अर्थ निहित होने से भास्कर संज्ञा अन्वर्थ है वैसे भेद से, संघात से और भेद संघात दोनों से जो पूरित होते और गलते हैं इसतरह पूरण गलन क्रिया अन्तर्निहित होकर पुद्गल शब्द अन्वर्थ संज्ञा वाला सिद्ध होता है, यह पृषोदरादि गण में निपात सिद्ध है । जैसे "शव शयनं श्मशानम्" शव जहां सोते हैं वह श्मशान है ।

निपातितः । यथा शवशयनं श्मशानमिति । परमाणूनां निरवयवत्वात्पूरणगलनाभावात्पुद्गलव्यपदेशाभावप्रसङ्ग इति चेन्न—गुणापेक्षया तत्सिद्धिः । रूपरसगन्धस्पर्शगुणयुक्ता हि परमाणवः । एकगुणरूपादिपरिणता द्वित्रिचतुःसङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तगुणत्वेन वर्धन्ते तथैव हानिमुपयान्तीति गुणापेक्षया भावपूरणगलनोपपत्तेः परमाणुष्वपि पुद्गलत्वं न विरुध्यते । अथवा पूरणगलनयोर्भावित्वाद्भूतत्वाच्च शक्त्यपेक्षया परमाणुषु पुद्गलत्वमौपचारिकं बोद्धव्यम् । अथवा पुम्भिर्जीवैः शरीराहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्त इति पुद्गलाः । परमाण्वादिषु तदभावादपुद्गलत्वमिति चेन्न—दत्तोत्तरत्वात् । एतेन विभागकथनं निरुक्त्या विशेषलक्षणाभिधानं च कृतम् । धर्माधर्माकाशपुद्गला इत्यत्र समाहारे समुदायप्रधाने एकवचनेन सिद्धेर्बहुवचनमेषां स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं द्रष्टव्यम् । धर्मादयो हि

शंका—परमाणु अवयव रहित होते हैं अतः उनमें पूरण गलन का अभाव होने से पुद्गल संज्ञा का अभाव होता है ?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है । परमाणुओं में गुणों की अपेक्षा पूरण गलन होता है अतः पुद्गल संज्ञा सिद्ध होती है । परमाणु स्पर्श, रस, गंध वर्ण वाले होते हैं । एक गुण रूपादि से परिणमन करते हुए दो, तीन, चार, संख्येय, असंख्येय और अनंत गुणपने से बढ़ते हैं उसीप्रकार घटते भी हैं इसप्रकार गुणों की अपेक्षा भावरूप पूरण गलन परमाणुओं में भी होता रहता है इसलिये उनमें पुद्गलत्व विरुद्ध नहीं है । अथवा पहले पूरण गलन हो चुका है या आगे पूरण गलन होगा (स्कन्ध अवस्था में) इसतरह शक्ति की अपेक्षा परमाणुओं में पुद्गलत्व औपचारिक है ऐसा समझना चाहिये । अथवा पुरुषों द्वारा (जीवों द्वारा) शरीर के आहार का विषय कर उपकरणादि भाव से निगले जाते हैं वे पुद्गल हैं ।

शंका—पुद्गल का यह लक्षण परमाणु आदि में घटित नहीं होता अतः वे अपुद्गल ठहरते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, इसका उत्तर तो पहले दे चुके हैं । अर्थात् परमाणु जब स्कंध रूप होते हैं तब पुरुष द्वारा निगले जाते हैं इस दृष्टि से उन्हें पुद्गल कहने में बाधा नहीं आती है । इसप्रकार धर्मादि का विभाग एवं उनका निरुक्ति परक लक्षण किया गया है । "धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" इसमें इतरेतर द्वन्द्व समास किया है । समुदाय प्रधान समाहार द्वन्द्व समास करके एक वचन हो सकता था किन्तु धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य आदि द्रव्य स्वतन्त्र हैं इस बात को बतलाने के लिये बहुवचन वाला द्वन्द्व

गत्याद्युपग्रहान्प्रति प्रवर्तमानाः स्वयमेव तथा परिणमन्ते न परप्रेरणादिना तेषां प्रवृत्तिः परद्रव्यादे-निमित्तमात्रत्वात्। कालोप्यजीवपदार्थोऽस्ति। तस्याऽत्रोपादानं कर्तव्यमिति चेन्न—तस्याकायत्वादु-त्तरत्र वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्। सांप्रतं धर्मादीनां द्रव्यत्वविधानार्थमाह—

द्रव्याणि ॥ २ ॥

स्वैः स्वैः पर्यायैर्द्रूयन्ते गम्यन्ते संप्रतीयन्त इति द्रव्याणि गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात्। इवार्थे वा द्रव्यं भव्य इत्यनेन निपातितो द्रव्यशब्दो वेदितव्यः। द्रुरिव भवतीति द्रव्यम्। क उपमार्थ इति चेदुच्यते—द्रुरिति दारुनाम। यथा ग्रन्थिरहितमजिह्म ऋजुकाष्ठं तक्ष्णोपकल्प्यमानमभिलषितेनाका-रेणाविर्भवति तथा द्रव्यमप्यात्मपरिणामगमनसमर्थं पाषाणखननोदकवदविभक्तिकर्तृकरणमुभय-निमित्तवशोपनीतात्मना तेन तेन पर्यायेण द्रुरिव भवतीति द्रव्यमित्युपमीयते। वक्ष्यते च सद्द्रव्यलक्षण-

---

समास किया गया है। क्योंकि ये धर्मादि द्रव्य अपने अपने गति स्थिति आदि उपकार को करने में प्रवृत्तमान होते हुए स्वयं ही परिणमन करते हैं, परकी प्रेरणा आदि से उनकी प्रवृत्ति नहीं होती है। वे तो पर द्रव्यादि के निमित्त कारण मात्र हैं।

शंका—काल नाम का पदार्थ भी अजीव है, उसको यहां ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— यह कथन ठीक नहीं है। काल द्रव्य अकाय स्वरूप है (एक प्रदेशी है) उसका कथन तो आगे करेंगे। इस समय धर्मादि के द्रव्यत्व का विधान करने के लिये कहते हैं—

सूत्रार्थ—वे धर्मादिक द्रव्य कहलाते हैं। अपने अपने पर्यायों द्वारा जो प्राप्त होते हैं-जाने जाते हैं वे द्रव्य हैं, द्रूयन्ते इति द्रव्याणि, द्रु धातु से द्रव्य शब्द बनता है, गमनार्थक धातु ज्ञानार्थक भी होते हैं, इस न्याय से गमनार्थक द्रु धातु से ज्ञानार्थ में द्रव्य शब्द निष्पन्न हुआ है। अथवा इव अर्थ में "द्रव्यं भव्ये" इस सूत्र से द्रव्य शब्द निपात से बनता है। "द्रुः इव भवति इति द्रव्यम्" द्रु के समान होता है वह द्रव्य है, क्या उपमा है ऐसे प्रश्न पर कहते हैं—द्रु सीधी लकड़ी को कहते हैं, जैसे गांठ रहित सीधी लकड़ी बढ़ई द्वारा छीलने पर इच्छित आकार से चौकी पट्टा आदि रूप प्रगट होती है इसीतरह द्रव्य भी अपने परिणमन को प्राप्त करने में समर्थ है। पाषाण के खोदने से जैसे जल निकलता है उनमें अभिन्न कर्तृकरणपना है, इसीप्रकार उभय निमित्त के वश से प्राप्त हुए उस उस पर्याय से द्रु के समान जो होता है वह द्रव्य है। इसतरह उपमा दी जाती है। आगे सूत्र कहने वाले हैं कि "सद् द्रव्य लक्षणं, उत्पाद

मुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति च । ततश्च द्रव्यलक्षणयोगात्प्रकृता धर्मादयो द्रव्याण्येव । न पुनर्धर्माधर्मावदृष्टाख्यावात्मगुणौ । नाप्याकाशमभावमात्रं च । न पुद्गला रूपादय एव विशेषाः प्रतीतिविरोधादिति निवेदितं भवति । अथ मतमेतत्–यथा दण्डसम्बन्धाद्दण्डीत्यभिधानं प्रत्ययश्च देवदत्ते भवति तथा द्रव्यत्वं नाम सामान्यविशेषोऽस्ति पृथिव्यादिषु द्रव्यमिति प्रत्ययाभिधानानुवृत्तिप्रदर्शनात् । गुणकर्मभ्यो व्यावृत्त्युपलब्धेश्चानुमीयमानान्वयव्यतिरेकाख्यस्तेन योगाद्द्रव्यं न पर्यायद्रवणादिति । तन्न युक्तिमत् । किं कारणम् ? तदभावात् । यथा दण्डसम्बन्धात्प्राग्देवदत्तो जात्यादिभिः सिद्धोऽस्ति, देवदत्तसम्बन्धाश्च प्राग्दण्डो वृत्तत्वदीर्घत्वादिभिः प्रसिद्धोऽस्ति, ततस्तयोः

व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" गुणपर्ययवद्द्रव्यम् । अतः द्रव्य का लक्षण घटित होने से ये धर्मादिक द्रव्य ही कहलाते हैं । परवादी वैशेषिक धर्म अधर्म नाम के आत्मा के गुण मानते हैं, उस लक्षण वाले धर्मादि नहीं हैं, आकाश भी अभाव मात्र नहीं है । रूपादि गुण ही पुद्गल हैं ऐसा नहीं कहना क्योंकि ऐसा मानने में प्रतीति से विरुद्ध पड़ता है ।

विशेषार्थ—परवादी वैशेषिक आदि लोक पदार्थ को सात प्रकार का मानते हैं– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव । पुनः द्रव्यों के नौ भेद, गुणों के चौवीस भेद, कर्म के पांच भेद, सामान्य का एक भेद (अथवा दो भेद) विशेष अनेकानेक भेद और अभाव के चार भेद मानते हैं । गुणों के चौवीस भेदों में धर्म–अधर्म नाम के दो गुणों को उन्होंने आत्मद्रव्य में माने हैं तथा रूप, रस, गंध, स्पर्श को केवल गुण रूप माना है आकाश द्रव्य को तो केवल पोलरूप माना है अर्थात् कोई रिक्त स्थान हो वह आकाश कहलाता है जैसे ढोल में पोल होती है वह आकाश है इत्यादि सो यहां पर ग्रंथकार ने उन मान्यताओं का निरसन कर कहा है कि धर्म अधर्म आत्मा के गुण नहीं हैं किन्तु स्वतन्त्र दो द्रव्य हैं । आकाश केवल शून्य रूप नहीं किन्तु अनंत प्रदेशी एक वास्तविक पदार्थ है । रूपादि गुण भी पुद्गल द्रव्य रूप आधार के बिना नहीं रहते इत्यादि । इस वैशेषिक की मान्यता का पूर्व पक्ष रखकर बहुत ही सुन्दर रूप से प्रमेय कमल मार्त्तण्ड आदि न्याय ग्रंथों में निराकरण किया गया है ।

शंका—देवदत्त में दण्ड के संबंध से दण्डी ऐसा नाम और ज्ञान जैसे होता है वैसे पृथिवी आदि में द्रव्यत्व नाम का सामान्य विशेष रहता है उसके द्वारा द्रव्य ऐसा नाम तथा प्रत्यय–ज्ञान एवं अनुप्रवृत्ति देखी जाती है । क्योंकि द्रव्य ऐसा नाम और प्रत्यमादिक गुण और कर्म से तो होता नही अतः अन्वयव्यतिरेकी अनुमान द्वारा वह

सम्बन्धो युक्तः । न च तथा द्रव्यत्वयोगात्प्राग्द्रव्यमुपलभ्यते । यद्युपलभ्येत तर्हि सम्बन्धकल्पनमनर्थकं स्यात्तथा द्रव्यत्वमपि द्रव्यसम्बन्धात्प्राङ् नोपलभ्यते । अतस्तयोरसतोर्न युक्तः सम्बन्धः । एतेन गुणसन्द्रावो द्रव्यमित्यप्यपास्तं गुणसमुदायमात्रद्रव्यवादिनो हि मते गुणेभ्यः पृथक्समुदायस्यानुपलम्भाद्गुणासम्भवे कर्तृकर्मव्यवहारानुपपत्तेः । एतेन सामान्यविशेषाख्याज्जीवत्वसम्बन्धाज्जीवो न स्वत इत्यप्यत्रैव निरस्तं बोद्धव्यं पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात् । अन्यस्तु विशेषो भाष्ये द्रष्टव्यः । प्रकृतधर्मादिभिर्बहुभिः सामानाधिकरण्याद्द्रव्याणीति बहुवचनेन निर्देशः कृतः । न चैवं पुल्लिङ्गप्रसङ्गो द्रव्य

द्रव्यत्व नाम के सामान्य विशेष द्वारा ही होता है ऐसा सिद्ध होता है, उस द्रव्यत्व के योग से [द्रव्यत्व समवाय से] द्रव्य कहलाता है न कि पर्याय के द्रवण से द्रव्य कहलाता है ?

समाधान—यह सर्व ही कथन युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि द्रव्यत्व योग का अभाव है । देखिये ! जैसे दण्डा का संबंध होने के पहले देवदत्त अपनी मनुष्यादि जाति आदि से सिद्ध रहता है, तथा देवदत्त के संबंध होने के पहले दण्डा अपने गोलपना, लंबाई आदि विशेष से प्रसिद्ध रहता है अतः उन दोनों का संबंध होना युक्त है । किन्तु वैसे द्रव्यत्व के संबंध के पहले द्रव्य उपलब्ध नहीं होता, यदि उपलब्ध हो जाय तो द्रव्यत्व संबंध की कल्पना व्यर्थ है, तथा द्रव्य भी द्रव्यत्व संबंध के पहले दिखाई नहीं देता अतः द्रव्य और द्रव्यत्व दोनों असत् हैं असत् का संबध संभव ही नहीं है ।

कोई परवादी गुण संद्राव को द्रव्य कहते हैं वह मत भी पूर्वोक्त रीत्या खंडित हुआ समझना चाहिये । गुण समुदाय मात्र को जो द्रव्य मानते हैं उनके मतमें गुणों से पृथक् समुदाय तो उपलब्ध होता नहीं, समुदाय के अभाव में गुण भी अभावरूप है उनमें कर्तृकर्म व्यवहार नहीं बनता । जैसे द्रव्यत्व के संबंध से द्रव्य सिद्ध नहीं होता वैसे जीवत्व नाम के सामान्य विशेष के संबंध से जीव द्रव्य है, जीव स्वतः ही नहीं होता इत्यादि मान्यता भी सिद्ध नहीं होती, इसमें वही पूर्वोक्त दोष आते हैं ।

इस विषय में विशेष कथन भाष्य ग्रन्थ में [तत्त्वार्थ राजवार्तिक में] देखना चाहिये ।

प्रकृत में धर्मादिक बहुत से हैं अतः उनके साथ सामान्याधिकरण होने से "द्रव्याणि" ऐसा बहुवचन रूप सूत्र निर्देश किया गया है । सामान्याधिकरण्य है तो

शब्दस्याविष्टलिङ्गत्वात्स्वकीयनपुंसकलिङ्गपरित्यागेन लिङ्गान्तरे वृत्त्ययोगाद्वनादिशब्दवत् । अनन्तरत्वाच्चतुर्णामेव द्रव्यत्वप्रसङ्गे जीवानामद्रव्यव्यवच्छेदार्थ माह—

जीवाश्च ॥ ३ ॥

उक्तलक्षणा जीवाः । चशब्दो द्रव्याणीत्यस्यानुकर्षणार्थः । तेन जीवाश्च द्रव्याणि भवन्तीति वेदितव्यम् । स्यान्मतं ते–उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति च द्रव्यलक्षणं वक्ष्यते । ततस्तेन योगाद्धर्माधर्माकाशपुद्गलानां जीवानां च वक्ष्यमाणेन कालेन सह द्रव्यत्वं सिद्धम् । किमनेन द्रव्यपरिगणनेनेति । तन्न युक्तम् । किं कारणम् ? नियमार्थत्वाद्द्रव्यसङ्ख्यानस्य । तेन धर्माधर्माकाश पुद्गलजीवकालाः षडेव द्रव्याणीति नियमात्परवादिपरिकल्पितानां दिगादीनां निवृत्तिः सिद्धा भवति ।

धर्मादि पद पुल्लिग होने से द्रव्य पद भी पुल्लिग होना चाहिये । ऐसी आशंका भी नहीं करना, क्योंकि द्रव्य शब्द आविष्ट लिंगवाला है वह अपना नपुंसक लिंग छोड़कर लिंगान्तर को प्राप्त नहीं होता जैसे वन आदि शब्द अन्य लिंग रूप नहीं होते ।

अनंतर होने से धर्मादि चार को ही द्रव्यपने का प्रसंग आने पर जीव नाम का द्रव्य भी है इस बात का निर्णय करने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—जीव भी द्रव्य है ।

जीवों का लक्षण कह चुके हैं । च शब्द "द्रव्याणि" सूत्र के अनुकर्षण के लिये है । उससे जीव भी द्रव्य होते हैं ऐसा निश्चय होता है ।

शंका—"उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्, गुण पर्ययवद् द्रव्यं" इसप्रकार सूत्रों द्वारा आगे द्रव्य का लक्षण कहेंगे, उससे धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल का तथा जीव एवं वक्ष्यमाण काल का द्रव्यपना सिद्ध होता है, अतः "द्रव्याणि" "जीवाश्च" इन सूत्रों द्वारा द्रव्यों की गणना करने में क्या लाभ है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, द्रव्यों की गणना करने से नियम बन जाता है उससे धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल ये छह ही द्रव्य हैं ऐसा नियम हो जाने से परवादी परिकल्पित दिशादि द्रव्यों का निरसन हो जाता है । कैसे सो बताते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य वैशेषिक द्वारा कहे जाते हैं, उनमें पृथिवी, जल, तेज, वायु और द्रव्य मन का पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि ये सभी पदार्थ रूप रस गंध स्पर्श वाले हैं । भाव मन ज्ञान रूप है उसका आत्मा में अन्तर्भाव होता है ।

कथमिति चेदुच्यते—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसीति नवैव द्रव्याणि वैशेषिकैरुक्तानि। तत्र पृथिव्यप्तेजोवायवो द्रव्यमनश्च पुद्गलेऽन्तर्भवन्ति रूपरसगन्धस्पर्शवत्वात्। भावमनश्च ज्ञानम्। तस्यात्मन्यन्तर्भावः। जीवा इति बहुवचनं द्वैविध्यनानात्वख्यापनार्थं क्रियते। विविधा हि जीवाः संसारिणो मुक्ताश्चेति। संसारिणोऽपि गतिन्द्रियादिचतुर्दशमार्गणास्थानविकल्पात्, मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानभेदात्, सूक्ष्मबादरादिचतुर्दशजीवस्थानविकल्पाच्च विविधाः। तथा मुक्ताश्चैकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तसमयसिद्धपर्यायभेदाश्रयात्, मुक्तिहेतुशरीराकारानुविधायिस्वक्षेत्रावगाहनादिभेदाच्च

सूत्र में 'जीवाः' ऐसा बहुवचन किया है वह जीवों के दो प्रकार एवं नानाप्रकार बतलाने हेतु किया है। जीव विविध प्रकार के हैं, जैसे संसारी और मुक्त। संसारी के गति इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं के अपेक्षा चौदह भेद होते हैं। मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों की अपेक्षा चौदह एवं सूक्ष्म बादर आदि चौदह जीवसमासों की अपेक्षा चौदह भेद होते हैं। तथा मुक्त जीवों के विविध भेद संभव हैं—एक, दो, तीन, चार, संख्येय, असंख्येय और अनंत समय के अन्तराल से सिद्ध पर्याय प्राप्त की इत्यादि अपेक्षा तथा मुक्ति के कारण भूत शरीर के आकार के अनुविधायिपना अपने अपने क्षेत्र तथा अवगाहना इत्यादि के भेद से सिद्धों में भेद कल्पित कर विविधपना हो जाता है।

विशेषार्थ—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार इसप्रकार चौदह मार्गणायें होती हैं, इनसे संसारी जीवों के चौदह भेद होते हैं। इन चौदह मार्गणाओं के उत्तर भेद पंचानवें ९५ हैं। मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र, अविरत-सम्यग्दृष्टि, विरताविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान संसारी के होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों के बादर और सूक्ष्म ऐसे दो भेद, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तीन तथा पंचेन्द्रिय के संज्ञी असंज्ञी दो भेद ऐसे सात हुए इनको पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा गुणा करने पर चौदह जीव समास संसारी के होते हैं। इसतरह संसारी जीव नाना प्रकार के हैं।

मुक्त जीव सभी समान गुण समूह से मण्डित अनंत सुख के भोक्ता लोकाग्र में विराजमान हैं उनमें सभी स्वतन्त्र अस्तित्व वाले हैं कोई उपाधियां नहीं होने से वास्तव में एक समान हैं। केवल भूत पूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा भेद संभव हैं, वह इसप्रकार हैं—एक समय में एक साथ कितने सिद्ध हुए, दो समयादि में कितने इसप्रकार भेद करते हैं। जिस चरम शरीर से मुक्त हुए वह शरीर छह संस्थान वाला होता है इस

विविधाः । स्यान्मतं ते–द्रव्याणीति पृथग्योगो न कर्तव्य. । किं तर्हि ? द्रव्याणि जीवा इत्येक एव योगः कार्यः । एवं च सति चशब्दाकरणाल्लाघवं स्यादिति । तन्न युक्तं–द्रव्यशब्दस्य जीवबद्धत्वाज्जीवानामेव द्रव्यसञ्ज्ञाप्रसङ्गात्, धर्मादीनां तु न स्यात् । बहुवचनात्तेषामपि भविष्यतीति चेन्न–तस्य वैविध्यख्यापनार्थत्वेनोक्तत्वात् । सदधिकारे यत्नविशेषस्याकरणाच्चाऽजीवानां द्रव्यसञ्ज्ञा न स्यादिति पृथग्योगकरणं न्याय्यम् । तथा च सति चशब्दोऽप्यर्थवान्भवतीति । उक्तानां द्रव्याणां विशेषप्रतिपादनार्थमाह —

दृष्टि से उनमें भेद करना, शरीर की अवगाहना पांच सौ पच्चीस धनुष से लेकर साढ़े तीन हाथ तक संभव है उस अपेक्षा से भेद करना, मनुष्य लोक में पंद्रह कर्म भूमियां है उनमें से किस क्षेत्र से मुक्त हुए अथवा संहरण–उपसर्ग की अपेक्षा अन्य भोग भूमि आदि में क्षेपे जाने पर वहां से मुक्त हुए इत्यादि दृष्टि से सिद्धों में भेद कल्पित किया जाता है । इसका दसवें अध्याय के नौवें सूत्र में विशेष वर्णन करने वाले हैं । इसप्रकार जीवों के बहुत से भेदों का ज्ञापन कराने हेतु एवं उनकी अनंत संख्या बतलाने हेतु 'जीवाः' ऐसा बहुवचन का प्रयोग सूत्र में हुआ है ।

शंका—'द्रव्याणि' "जीवाश्च" ऐसे पृथक् दो सूत्र नहीं करने चाहिये । किन्तु "द्रव्याणि जीवाः" ऐसा एक सूत्र बनाना चाहिये । ऐसा करने पर च शब्द जोड़ने की आवश्यकता नहीं होती और सूत्र लघु हो जाता है ।

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है । यदि ऐसा एक योग करते हैं तो द्रव्य शब्द जीव के साथ संबद्ध हो जाने से जीवों की ही द्रव्य संज्ञा होगी, धर्म आदि की नहीं ।

शंका—बहुवचन के निर्देश से धर्मादि की भी द्रव्य संज्ञा हो जायगी ?

समाधान—ऐसा नहीं है । बहुवचन तो द्रव्यों की एवं जीवों की विविधता बतलाता है । तथा सत अधिकार में यत्नविशेष भी नहीं किया है, इससे अजीव पदार्थों की द्रव्य संज्ञा नहीं बन पाती, एतदर्थ पृथक् पृथक् सूत्र प्रयोग ही न्याय्य है । इसप्रकार करने से च शब्द भी सार्थक हो जाता है ।

उक्त द्रव्यों की विशेषता का प्रतिपादन करते हैं—

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

नित्यशब्दोऽयं ध्रौव्यवचनो वेदितव्यो नेध्रुव इत्यन्वाख्यातः। किं पुनर्नित्यत्वमिति चेदुच्यते–येन भावेनोपलक्षित द्रव्यं तस्य भावस्याव्ययोऽनिधनो नित्यत्वमित्युच्यते। तथा च वक्ष्यते–तद्भावाव्ययं नित्यमिति पर्यायार्थिकनयादेशातप्रतिक्षणपरिणामानेकत्वसम्भवेऽपि धर्मादीनि द्रव्याणि गतिहेतुत्वादि विशेषलक्षणद्रव्यार्थादेशात् अस्तित्वादिसामान्यलक्षणद्रव्यार्थादेशाच्च कदाचिदपि न वीयन्त्यतो नित्यानीत्युच्यन्ते। धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि षडित्येतदीयत्वं यथोक्तस्वप्रदेशत्वं च कदाचिदपि नातिक्रामन्त्यतोऽवस्थितानीति व्यपदिश्यन्ते। अथवा नित्यग्रहणमिदमवस्थितविशेषणं विज्ञायते। ततश्चायमर्थः यथा गमनागमनाद्यनेकपर्यायसद्भावेप्यभीक्ष्णप्रज्वलनसद्भावान्नित्यप्रज्वलितो देवदत्त इत्युच्यते तथान्तरङ्गबहिरङ्गकारणद्वयोपजनितोत्पादविनाशसंभवेप्यमूर्तत्वादिस्वभावं कदाचिदपि धर्मादीनि न परित्यजन्त्यतो नित्यानि च तान्यवस्थितानि च नित्यावस्थितानीति कथ्यन्ते। अरूपग्रहणं द्रव्यस्वतत्वनिर्ज्ञा-

---

सूत्रार्थ—वे द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं। नित्य शब्द ध्रौव्यवाची है। "ने ध्रुवः" सूत्र से यह बना है।

शंका—नित्यत्व किसे कहते हैं ?

समाधान—जो जिस भाव से उपलक्षित है उस द्रव्य का उस भाव से नाश नहीं होना अनिधन रहना वह नित्यत्व कहलाता है। आगे सूत्र कहेंगे कि "तद्भावाव्ययं नित्यम्" पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा प्रतिक्षण परिणमन होने से अनेकपना संभव है तो भी ये धर्मादि द्रव्य गति हेतुत्व आदि लक्षण को तथा अस्तित्व आदि सामान्य लक्षण को द्रव्यार्थिक नय से कभी भी नहीं छोड़ते हैं अतः ये नित्य कहलाते हैं। धर्मादि छहों द्रव्य अपने छह संख्या को कभी नहीं छोड़ते तथा अपने अपने जितने प्रदेश हैं उनका उल्लंघन नहीं करते इस दृष्टि से ये अवस्थित नाम से प्रतिपादित होते हैं। अथवा नित्य शब्द अवस्थित का विशेषण है। उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि जैसे देवदत्त में गमन आगमन आदि अनेक पर्यायों के सद्भाव होने पर भी यह देवदत्त सतत जलता है, क्रोध करता है ऐसा कह देते हैं। वैसे ही अंतरंग बहिरंग दो कारणों से होने वाले उत्पाद और विनाश युक्त ये धर्मादि द्रव्य हैं फिर भी अपने अमूर्त्तत्व आदि स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़ते अतः नित्य ही अवस्थित हैं ऐसा कहते हैं।

नार्थं क्रियते । न विद्यते रूपं येषां तान्यरूपाणि । रूपप्रतिषेधात्तदविनाभाविनां रसादीनामपि प्रतिषेधो वेदितव्यः । तेनारूपाण्यमूर्तानीतिगम्यन्ते । यथा सर्वेषां द्रव्याणां नित्यावस्थितानीत्येतत्साधारणं लक्षणं तथाऽरूपत्वमपि प्राप्तमतस्तदपवादार्थमाह—

रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥

रूपशब्दोऽयं यद्यपि द्रव्यस्वभावाभ्यासश्रुतिमहाभूतचाक्षुषगुणमूर्तिसञ्ज्ञकेषु सप्तस्वर्थेषु प्रसिद्ध स्तथाप्यत्र मूर्तिपर्यायस्य ग्रहणम् । तेन योगाद्रूपिणः पुद्गला मूर्तिमन्तः पुद्गला इत्यर्थो भवति । का पुनर्मूर्तिरिति चेदुच्यते—रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः । रूपादयो रूपरसगन्धस्पर्शाः । परिमण्डल त्रिकोणचतुरश्रादिराकृतिः संस्थानम् । तैरूपादिभिः संस्थानैश्च परिणामो मूर्तिरित्याख्यायते । अथवा रूपमित्यनेन चक्षुर्ग्रहणयोग्यो नीलादिगुणो गृह्यते । रूपग्रहणात्तदविनाभाविनां रसादीनामपि ग्रह-

---

अरूप शब्द द्रव्य के स्वतत्त्व का निर्णय करने के लिये आया है । जिनके रूप नहीं होता वे अरूपी हैं । रूप का निषेध करने से उसके अविनाभावी रसादि का भी निषेध हो जाता है । उससे अरूपी अर्थात् अमूर्त्त हैं ऐसा जाना जाता है ।

नित्य और अवस्थित ये दो लक्षण जैसे सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं वैसे अरूपत्व लक्षण भी सबमें प्राप्त होता है, अतः इस विषय में जो अपवाद है उसको सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—पुद्गल द्रव्य रूपी होते हैं ।

यह रूप शब्द सात अर्थों में प्रसिद्ध है—द्रव्य, स्वभाव, अभ्यास, श्रुति, महाभूत, चाक्षुषगुण और मूर्त्ति । इनमें से यहां पर मूर्त्ति अर्थ लिया है । अर्थात् रूप शब्द का अर्थ मूर्त्ति है । रूप के योग से "रूपिणः" बना अर्थात् पुद्गल द्रव्य मूर्त्तिमान होते हैं यह अर्थ है ।

प्रश्न—मूर्त्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर—रूप आदि संस्थान स्वरूप परिणाम को मूर्त्ति कहते हैं । रूपादि चार हैं—रूप, रस, गंध और स्पर्श । गोल, तिकोण, चौकोण आदि आकार को संस्थान कहते हैं । उन रूपादि और संस्थानों द्वारा जो परिणाम होता है वह मूर्त्ति कहलाती है । अथवा यहां रूप शब्द से चक्षु–इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य नीलादि गुण लिये जाते हैं । क्योंकि रूप के ग्रहण से उसके अविनाभावी रसादि का

णम् । यद्यपि पुद्गलद्रव्यादनन्यद्रूपं तत्परिणामात् द्रव्यार्थादेशाद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेस्तथापि पर्यायार्थिकनयविवक्षावशाद्रूपविनाशे पुद्गलावस्थानाद्धेतोरुत्पाद्यानुत्पाद्यत्वादिमदनादिमत्वान्वयव्यतिरेकरूपवाग्विज्ञानवृत्तिहेतुत्वादिभिश्च हेतुभिः कथञ्चिद्व्यतिरेकोपपत्तेरिन उत्पत्तिर्न विरुध्यते । रूपं विद्यते येषां ते रूपिणः पुद्गलाः । अत्र बहुवचननिर्देशो भेदप्रतिपादनार्थः । भिन्ना हि पुद्गलाः परमाणुभेदात् स्कन्धभेदाच्च वक्ष्यन्ते । अत्राह—किं पुद्गलवद्धर्मादीन्यपि द्रव्याणि प्रत्येकं भिन्नान्याहोस्विन्नेत्यत्रोच्यते—

आआकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

ग्रहण भी हो जाता है । यद्यपि यह रूप पुद्गल द्रव्य से अभिन्न है, क्योंकि पुद्गल स्वयं उस स्वरूप ही है तथा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा पुद्गल को छोड़कर उपलब्ध नहीं होता है, तथापि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथंचित् पुद्गल से भिन्न है, क्योंकि रूपके विनाश होने पर भी पुद्गल स्थित रहता है (किसी एक कृष्ण आदि रूप बदल जाने पर भी) पुद्गल द्रव्य और उसका रूप गुण इनमें कथंचित् व्यतिरेक–पृथक्पना निम्न हेतुओं से सिद्ध होता है ।

पुद्गल अनुत्पाद्य है और रूप उत्पाद्य है । पुद्गल अनादिमत् है और रूप सादिमत् है । पुद्गल द्रव्य अन्वय रूप रहता है और रूपविशेष व्यतिरेक स्वरूप । रूप शब्द से रूप का ज्ञान और रूप में प्रवृत्ति होती है । इसतरह कथंचित् भिन्नता के कारण रूप शब्द से इन् प्रत्यय आना विरुद्ध नहीं पड़ता । जिनके रूप विद्यमान हैं वे रूपी पुद्गल हैं । "रूपिणः" ऐसा बहुवचन इनके भेदों को बतलाने के लिये है । पुद्गल परमाणु और स्कन्ध के भेद से विभिन्न प्रकार के होते हैं ऐसा आगे कहेंगे ।

शंका—पुद्गल के समान धर्मादि द्रव्यों के प्रत्येक के भेद होते हैं अथवा नहीं होते ?

समाधान—अब इसीका सूत्र द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—आकाश तक के द्रव्य एक एक हैं ।

अभिविध्यर्थोऽत्राङ्युक्तः । अभिविधिश्चाभिव्याप्तिः । तेनाकाशस्याप्येकद्रव्यत्वं सिद्धम् । सूत्रे आङो विसन्धिरसन्देहार्थः । सौत्रीमानुपूर्वीमाश्रित्य धर्माधर्माकाशानि गृह्यन्ते । असहायान्यप्रधानाद्य-नेकार्थत्वे सत्यप्येकशब्दोऽत्र सङ्ख्यावचनो गृहीतव्यः । तर्हि तेन सामानाधिकरण्याद्द्रव्यशब्दस्याप्येक वचनमेव प्राप्नोतीति चेन्न—धर्मादिद्रव्याणां बहुत्वापेक्षया बहुवचनसिद्धेः । अत्र कश्चिदाह—आआ-काशादेकैकमित्येतावदेव सूत्रमस्तु लघुत्वात् धर्मादीनामागमे द्रव्यव्यपदेशस्य प्रसिद्धत्वाच्च द्रव्यग्रहण मनर्थकमिति । तदयुक्तं—धर्मादीनां द्रव्यापेक्षयैवैकत्वख्यापनार्थत्वात् द्रव्यग्रहणस्य । एकैकमित्युक्ते हि न ज्ञायते किं द्रव्यतः क्षेत्रतो भावतो वेति सन्देह एव स्यात् । ततोऽयमर्थो लभ्यते गतिस्थितिपरिणा-

---

आङ् अभिविधि अर्थ में आया है। अभिविधि व्याप्ति को कहते हैं, उससे आकाश के भी एकपना सिद्ध होता है। सूत्र में आ और आकाशात् इनमें सन्धि नहीं की है जिससे आङ् अभिविधि का अर्थ स्पष्ट हो जाय। "अजीवकाया धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः" इस सूत्र में धर्मादि पदों का जो क्रम है तदनुसार "आ आकाशात् एक द्रव्याणि" इसमें धर्म अधर्म और आकाश का ग्रहण हो जाता है।

एक शब्द के असहाय, अप्रधान आदि अनेक अर्थ होते हैं किन्तु यहां उन अनेक अर्थों में से संख्या अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

शंका—यदि ऐसी बात है तो द्रव्य शब्द भी एक वचनान्त होना चाहिये, क्योंकि एक और द्रव्य इन पदों में सामानाधिकरण है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, धर्मादि द्रव्य बहुत हैं अतः बहुवचन किया गया है।

शंका—यहां पर कोई शंका उपस्थित करता है कि "आ आकाशादेकैकम्" ऐसा सूत्र बनना चाहिये, इससे सूत्र छोटा हो जायगा। दूसरी बात यह भी है कि आगम में धर्मादि द्रव्य प्रसिद्ध ही हैं अतः द्रव्य शब्द का ग्रहण व्यर्थ है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है। धर्मादि द्रव्यों में द्रव्य की अपेक्षा एकपना है इस बात को बतलाने के लिये द्रव्य पद का ग्रहण हुआ है। "एकैकम्" ऐसा प्रयोग करते तो यह समझ में नहीं आता कि द्रव्य की अपेक्षा एक है, कि क्षेत्र की अपेक्षा एक है अथवा भाव की अपेक्षा एक है। इस विषय में संदेह बना रहता। "द्रव्याणि" पद लेने से यह निश्चय हो जाता है कि—गति और स्थिति रूप परिणाम के धारक अनेक

मिविविधजीवपुद्गलद्रव्यानेकपरिणामनिमित्तत्वेन सत्यपि भावतोऽनेकत्वे सति च प्रदेशभेदादसङ्ख्येय क्षेत्रत्वे धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं च द्रव्यत एकैकमेव । अवगाह्यनेकद्रव्यविविधावगाहननिमित्तत्वेनानन्तभावत्वे सत्यपि प्रदेशभेदादनन्तक्षेत्रत्वेऽपि द्रव्यत एकमेवाकाशमिति न तु जीवपुद्गलवद्धर्मादीनां बहुत्वम् । नापि धर्मादिवज्जीवपुद्गलानामेकद्रव्यत्वं दृष्टेष्टविरोधात् । कालद्रव्यं त्वसङ्ख्यातभेदं द्रव्यतस्तच्चो-त्तरत्र वक्ष्यते । ततः सामर्थ्यादनेकद्रव्याणि पुद्गलादय इति च गम्यते । अधिकृतानामेवैकद्रव्याणां विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

अभ्यन्तरं क्रियापरिणामशक्तियुक्तं द्रव्यं बाह्यं च प्रेरणाभिघातादिकं निमित्तमपेक्ष्योत्पद्य-मानः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रियेति व्यपदिश्यते । निष्क्रान्तानि क्रियाया निष्क्रियाणीत्यन्यपदार्थवृत्त्याप्रकृतैकद्रव्याणां गतिश्चशब्दस्य प्रकृताभिसम्बन्धार्थत्वात् ।

प्रकार के जो जीव और पुद्गल द्रव्य हैं उनके विविध परिणमन में निमित्त भूत होने के कारण ये धर्मादि पदार्थ भाव की [पर्यायों की] अपेक्षा यद्यपि अनेक हैं तथा प्रदेश भेद की दृष्टि से असंख्येय क्षेत्र वाले हैं किन्तु धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य द्रव्यदृष्टि से तो एक एक ही हैं । उसीप्रकार अवगाह लेने वाले अनेक द्रव्यों की विविध अवगाहना के निमित्त भूत होने से आकाश अनंत भाव स्वरूप है, तथा प्रदेश भेद की दृष्टि से अनंत क्षेत्र वाला है किन्तु द्रव्य दृष्टि से तो वह आकाश एक ही है । ये तीनों धर्म अधर्म आकाश, जीव और पुद्गलों के समान बहुत बहुत नहीं हैं । धर्मादि तीन द्रव्य एक एक हैं अतः जीव पुद्गल भी एक एक है ऐसा नहीं मानना क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष रूप से विरोध आता है । तथा ऐसा किसी को इष्ट भी नहीं है । काल द्रव्य द्रव्यदृष्टि से असंख्येय हैं ऐसा आगे कहेंगे । उससे सामर्थ्य से जाना जाता है कि पुद्गलादि द्रव्य अनेक हैं ।

अधिकार में आये हुए धर्मादि एक द्रव्यों की विशेषता का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—धर्मादि द्रव्य निष्क्रिय हैं । द्रव्य का अंतरंग में क्रिया परिणाम की शक्ति से युक्त होना और बाह्य में प्रेरणा, अभिघातादि निमित्त का होना इन दोनों की अपेक्षा लेकर द्रव्य में पर्याय विशेष होती है जो कि देश से देशान्तर में प्राप्त करने में हेतु है वह क्रिया कहलाती है । क्रिया से जो निष्क्रांत है वे निष्क्रिय हैं, इसमें अन्य पदार्थ प्रधान समास (बहुव्रीहि समास) है जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि प्रकृत के धर्मादि एक एक द्रव्य क्रिया रहित हैं । च शब्द प्रकृत का संबंध करने के लिये है ।

स्यान्मतं ते–यदि निष्क्रियाणि धर्मादीनि तदा सर्वद्रव्याणामुत्पादादित्रितयकल्पना नोपपद्यते क्रियापूर्वको हि पटादीनामुत्पादो विनाशश्च लोके दृष्ट इति। तन्न युक्तं–क्रियानिमित्तोत्पादविनाशाभावेऽपि धर्मादीनामन्यथा तदुपपत्तेः। तद्यथा–द्विविध उत्पादो विनाशश्च भवति–स्वनिमित्त परनिमित्तश्चेति। स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानां सर्वज्ञवीतरागाप्तप्रणीतागमप्रामाण्यादभ्युपगम्यमानानां षट्स्थानपतितया वृद्धया हान्या च वर्तमानानां स्वभावादेषामुत्पादो व्ययश्च सम्भवति। परप्रत्ययोप्यश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात् क्षणे क्षणे तेषां भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिद्यत इति कृत्वा परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो विनाशश्च व्यवह्रियते। अथ मतमेतद्धर्मादीनि स्वयं निष्क्रियाणि। ततः कथं जीवपुद्गलानां क्रियानिमित्तानि भवेयुः? सक्रियाणि हि जलादीनि मत्स्यादीनां गत्यादिनिमित्तानि लोके दृष्टानीति।

शंका—यदि धर्मादि द्रव्य निष्क्रिय हैं तो सर्व द्रव्यों में उत्पाद व्यय ध्रौव्य मानना सिद्ध नहीं होगा, क्योकि लोक में घटादि पदार्थों में क्रिया पूर्वक ही उत्पाद और विनाश देखा जाता है, भाव यह है कि सभी द्रव्यों में उत्पाद व्यय स्वीकार किया गया है और उत्पाद व्यय क्रिया के विना हो नहीं सकते। अत: धर्मादि को निष्क्रिय मानना बनता नहीं ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है। क्रिया के निमित्त से होने वाला उत्पाद व्यय धर्मादि द्रव्यों में नहीं होता किन्तु अन्य प्रकार का उत्पाद व्यय होता है। उसीको बताते हैं—उत्पाद और व्यय दो प्रकार का है स्वनिमित्तक और परनिमित्तक। सर्वज्ञ वीतराग आप्त भगवान द्वारा प्रणीत आगम की प्रमाणता से जो स्वीकार किये गये हैं ऐसे अनंत अगुरु लघु गुण हैं उन गुणों में षट् स्थान पतित वृद्धि और हानि प्रवृत्त होती है, यह जो वृद्धि हानि रूप होना है वह स्वभावत: है, यही उत्पाद व्यय इन धर्मादि द्रव्यों में होता है। पर निमित्तक उत्पाद व्यय भी इनमें होता है, कैसे सो बताते हैं—गति स्थिति और अवगाह में परिणत अश्वादि को उनकी उक्त क्रिया में ये धर्मादिक निमित्त होते हैं। अश्वादि की गति स्थिति अवगाह में क्षण क्षण में भेद पड़ता है अत: धर्मादि में भी भेद होगा इस दृष्टि से धर्मादि में पर निमित्तक उत्पाद व्यय कहा जाता है।

शंका—ये धर्मादि द्रव्य स्वयं निष्क्रिय हैं अत: जीव और पुद्गलों की क्रिया में निमित्त कैसे हो सकते हैं ? स्वयं क्रियाशील ऐसे जलादि पदार्थ ही मत्स्यादि के गमनादि क्रिया में निमित्त होते हुए लोक में देखे जाते हैं ?

तदप्यसत्—बलाधानमात्रत्वादिन्द्रियवत् । यथा द्रष्टुमिच्छोरात्मनो रूपोपलब्धौ चक्षुरिन्द्रियं बलमात्रमादधाति न तु तथा चक्षुषो रूपोपलम्भनसामर्थ्यमस्ति—इन्द्रियान्तरोपयुक्तस्यात्मनस्तदभावात् । यथा चायुषः संक्षयादात्मनि शरीरान्निष्क्रान्तेपीन्द्रियं रूपाद्युपलब्धौ समर्थं न भवति । ततो ज्ञायते आत्मन एवैतत्सामर्थ्यमिन्द्रियाणां तु बलाधानमात्रहेतुत्वमिति । तथा स्वयमेव गतिस्थित्यवगाहनपर्यायपरिणामिनां जीवपुद्गलानां धर्माधर्माकाशद्रव्याणि गत्यादिनिर्वृत्तौबलाधानमात्रत्वेन विवक्षितानि न तु स्वयं क्रियापरिणामीनीति । तदेतद्द्रव्यशक्तिस्वाभाव्यादवसीयते । कालोऽपि निष्क्रियोऽस्ति । स च वक्ष्यमाणत्वान्नेहाभिसम्बध्यते । चशब्दस्याभिहितानन्तरैकद्रव्यनिष्क्रियत्वनियमार्थत्वात् । अतो धर्माधर्माकाशानां निष्क्रियत्वनियमाज्जीवपुद्गलानां स्वतः परतश्च क्रियापरिणामित्वं सिद्धम् । अथ जीवोऽपि सर्वगतत्वान्निष्क्रिय इति चेन्न—तस्य कायप्रमाणत्वात्सर्वगतत्वाऽसिद्धेः । तथा हि—काय

समाधान—यह कथन असत् है—ये धर्मादि बलाधान मात्र हैं इन्द्रिय के समान। इसी को बताते हैं—जैसे देखने की इच्छा वाले आत्मा के रूप की उपलब्धि में चक्षु इन्द्रिय बलाधान मात्र होती है। अर्थात् रूप देखने की सामर्थ्य आत्मा में होती है उसमें चक्षु केवल सहायमात्र है, चक्षु में रूप देखने की वैसी सामर्थ्य नहीं होती, क्योंकि जब आत्मा कर्ण आदि अन्य इन्द्रिय में उपयुक्त होता है तब रूप की उपलब्धि नहीं हो पाती। दूसरी बात यह है कि जब आयु का नाश हो जाने से आत्मा शरीर से निकल जाता है तब चक्षु आदि इन्द्रियां रूपादि के अवलोकन में समर्थ नहीं होती उससे ज्ञात होता है कि रूपादि के अवलोकनादि की सामर्थ्य आत्मा में ही है, इन्द्रियां तो सहाय मात्र हैं। उसीप्रकार स्वयं ही गति स्थिति और अवगाह रूप पर्याय में परिणत हुए जीव पुद्गलों के धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य गति आदि के होने में सहाय मात्र है, यही यहाँ विवक्षा है। ये धर्मादिक स्वयं क्रिया परिणत नही होते हैं। यह सर्व द्रव्यों की शक्ति का स्वभाव ही ऐसा होने से निर्णीत होता है। अर्थात् धर्मादिक में केवल गति आदि क्रिया के लिये बलाधान होने मात्र की शक्ति है और जीवादि में उनकी सहायता लेने की शक्ति है ऐसी वस्तुस्थिति है।

काल द्रव्य भी निष्क्रिय होता है, उसका कथन आगे करेंगे अतः यहां उसके संबंध में नहीं कहा है। अनन्तरवर्ती एक एक द्रव्य के निष्क्रियत्व का नियम बनाने हेतु च शब्द आया है। इससे धर्म अधर्म और आकाश के निष्क्रियपने का नियम हो जाने से जीव पुद्गलों में स्वतः और परतः क्रियाशीलपना सिद्ध हो जाता है।

शंका—सर्वगत होने से जीव भी निष्क्रिय है ?

प्रमाण आत्मा घटमहं वेद्मि पटमहं वेद्मीत्यहमहमिकया तस्य स्वदेह एवाबाधबोधेनाध्यवसीय मानत्वात् । तन्तुसमवेतत्वेन प्रतीयमानपटस्य तत्प्रमाणत्ववत् । ननु सर्वगत आत्मा द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाशवदिति चेन्न—नैयायिकादिप्रसिद्धेन मनसा व्यभिचारात् । तस्य द्रव्यत्वामूर्तत्वस्वभावेऽपि सर्वगतत्वाभावात् । लोकपूरणकाले कायप्रमाणता व्यभिचार इति चेन्न—तत्कालेऽपि कार्मणकायप्रमाणत्वस्य सद्भावात् । कार्मणकाययोगकृतात्मप्रदेशप्रसारणोपसंहरणपूर्वकं हि लोकपूरणादिकम् । कार्मण

समाधान—ऐसा नहीं कहना, जीव तो अपने शरीर प्रमाण रहता है अतः सर्वगत नहीं है । आगे इसीको बतलाते हैं—आत्मा शरीर प्रमाण है, क्योंकि मैं घट को जानता हूं, मैं पट को जानता हूं, इत्यादि प्रतीति में "मैं मैं" इस रूप निर्दोष बोध उसके स्वशरीर में अनुभव में आता है । जैसे कि तन्तुओं के समवेतपने से प्रतीत हुआ वस्त्र उन तन्तुप्रमाण ही दिखायी देता है, तन्तुओं के समवेत से बाह्य में प्रतीत नहीं होता । ठीक इसीप्रकार आत्मा शरीर में स्वसंवेद्य होता है अतः शरीर प्रमाण ही है शरीर के बाहर नहीं ।

शंका—आत्मा सर्वगत है, क्योंकि उसमें द्रव्यपना होने के साथ अमूर्त्तपना पाया जाता है, जैसे कि आकाश में द्रव्यत्व और अमूर्त्तत्व होने से आकाश सर्वगत है ऐसे ही आत्मा सर्वगत है ।

समाधान— यह परवादी का अनुमान उन्हीं नैयायिक आदि के मत में स्वीकार किये गये मन के साथ व्यभिचरित होता है । देखिये ! आपके मत में मनो द्रव्य में द्रव्यत्व और अमूर्त्तत्व स्वभाव रहने पर सर्वगतपना नहीं पाया जाता, अतः जो जो द्रव्य और अमूर्त्त रूप है वह वह सर्वगत है ऐसा अनुमान प्रमाण असत् ठहरता है ।

शंका—आप जैन के यहां भी उक्त व्यभिचार दोष आता है, देखिये ! आपने आत्मा को शरीर प्रमाण सिद्ध किया किन्तु केवली समुद्घात के लोकपूरण काल में वह आत्मा सर्वत्र रहता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है । लोकपूरण काल में भी आत्मा अपने कार्मण शरीर प्रमाण रहता है, बात ऐसी है कि आत्मा जब केवली समुद्घात में लोकपूरण आदि रूप होता है उस वक्त कार्मण काय योग के द्वारा किये गये आत्म प्रदेशों के प्रसारण और

काययोगाभावे तदनुपपत्तेर्मुक्तात्मवत् । मुक्तात्मनस्तर्हि निष्क्रियत्वं स्यादिति चेत्तन्न—कर्मनिमित्त क्रियानिवृत्तावपि मुक्तस्योर्ध्वगतेरभ्युपगमात् । तस्मादयमदोष एव—शरीरवियोगादात्मनो निष्क्रियत्व प्रसङ्ग इति । वक्ष्यते चोत्तरत्र मुक्तानां क्रिया पूर्वप्रयोगादिभिः । पुद्गलानामपि क्रिया विस्रसानिमित्ता प्रयोगनिमित्ता चेति द्वितयी वक्ष्यते । इत्यलमतिविस्तरेण । अजीवकाया इत्यत्र कायग्रहणेन धर्माधर्म योर्जीवस्य चानेकप्रदेशत्वसूचनात्तत्प्रमाणावधारणार्थमाह—

असङ्ख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ।। ८ ।।

उपसंहरण पूर्वक ही लोक पूरणादिक होता है । कार्मण काय योग के अभाव में वह क्रिया नहीं बनती, जैसे मुक्तात्मा में योग नहीं होने से लोकपूरणादिक नहीं होते ।

शंका—तो फिर मुक्तात्मा में निष्क्रियपना सिद्ध होगा ?

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं है । मुक्तात्मा में कर्म के निमित्त से होने वाली क्रिया का अभाव होने पर भी ऊर्ध्वगमन क्रिया का सद्भाव है, अतः यह दोष नहीं आता कि शरीर के अभाव से आत्मा निष्क्रिय होता है, अतः मुक्तात्मा निष्क्रिय है इत्यादि ।

आगे अंतिम अध्याय में कहेंगे कि मुक्तात्मा में पूर्व प्रयोग आदि के निमित्त से क्रिया होती है ।

पुद्गलों में भी दो प्रकार की क्रिया पायी जाती है स्वभाव निमित्तक और प्रयोग निमित्तक, इसका कथन आगे [२४ वें सूत्र में] करेंगे । अब इस विषय में अधिक नहीं कहते ।

"अजीवकाया" इत्यादि सूत्र में काय शब्द का ग्रहण हुआ है उससे धर्म अधर्म और जीव के अनेक प्रदेशपने की सूचना मिलती है, वे अनेक प्रदेश कितने हैं इसका अवधारण करने के लिये अग्रिम सूत्र अवतरित होता है—

सूत्रार्थ—धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और एक जीव द्रव्य में असंख्यात प्रदेश पाये जाते हैं ।

सङ्ख्यानं सङ्ख्यागणनेत्यर्थः। तामतिक्रान्ता ये तेऽसङ्ख्येयाः। न केनचित्सङ्ख्यातुं शक्यन्त इति यावत्। तर्हि तदनुपलब्धेरसर्वज्ञत्वं प्राप्तमिति चेन्न। किं कारणम् ? तेन स्वरूपेणोपलम्भसम्भवात्। यथाऽनन्तमनन्तात्मनोपलंभमानस्य न सर्वज्ञत्वं हीयते तथाऽसङ्ख्येयमप्यसङ्ख्येयात्मनाऽवबुध्यमानस्य न सर्वज्ञत्वहानिरस्ति सर्वज्ञस्य यथास्थितार्थवेदित्वादिति। अजघन्योत्कृष्टमत्रासङ्ख्येयं प्रमाणं गृह्यते। परमाणुस्थानपरिच्छेदात्प्रदिश्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति प्रदेशाः। वक्ष्यमाणलक्षणो द्रव्यपरमाणुर्यावति क्षेत्रेऽवतिष्ठते स प्रदेश इति व्यवह्रियते। धर्माधर्मैकजीवास्तुल्याऽसङ्ख्येयप्रदेशा वेदितव्याः। तत्र धर्माधर्मौ निष्क्रियौ लोकाकाशमसङ्ख्येयप्रदेशमभिव्याप्य स्थितौ। जीवस्तावत्प्रदेशोऽपि संहरणविसर्पणस्वभावत्वात्कर्मनिर्वर्तितशरीरमणुमहद्वाऽधितिष्ठंस्तावदवगाह्यवर्तते। लोकपूरणकाले तु मन्द-

---

संख्या के गणना को संख्यान कहते हैं, उस संख्या से जो अतिक्रान्त हैं वे असंख्येय हैं, किसी के द्वारा संख्या नहीं कर सकना सो असंख्येय यह अर्थ है।

शंका—जिसकी गणना नहीं कर सकते वह असंख्येय है ऐसा माने तो उस असंख्येय का अभाव ही हो जायगा, क्योंकि जो जाना नहीं जाता वह पदार्थ ही नहीं है, अथवा उक्त असंख्येय विद्यमान है और उसको जाना नहीं जाय तो सर्वज्ञपना सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि सबको जाने वह सर्वज्ञ है अब यदि उसने असंख्येय को नहीं जाना है तो वह असर्वज्ञ कहलायेगा ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है। असंख्येय अपने स्वरूप से उपलब्ध होता ही है, जैसे अनंत अनंतरूप से उपलब्ध होता है, अतः सर्वज्ञत्व में बाधा नहीं आती। उसीप्रकार असंख्येय भी असंख्येय रूप से उपलब्ध होता है अतः सर्वज्ञत्व में बाधा नहीं आती। सर्वज्ञ देव तो जो पदार्थ जैसा अवस्थित है उसको उस रूप से जानते हैं।

यहां पर असंख्येय शब्द से अजघन्योत्कृष्ट असंख्येय प्रमाण ग्रहण किया है। एक परमाणु द्वारा जितना आकाश स्थान रोका जाता है वह एक प्रदेश है, इस नाप से जो नापे जाते हैं वे प्रदेश कहलाते हैं। पुद्गल द्रव्य के परमाणु का लक्षण आगे कहने वाले हैं, उक्त परमाणु जितने क्षेत्र में रहता है वह प्रदेश है। धर्म अधर्म और एक जीव के समान रूप असंख्येय प्रदेश जानने चाहिये। उनमें धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य असंख्येय प्रदेश प्रमाण संपूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करके अवस्थित हैं। जीव भी उतने असंख्येय प्रदेश वाला है किन्तु इसमें प्रदेशों के संकोच विस्तार का स्वभाव पाया जाता है अतः अपने अपने कर्म द्वारा रचित जो छोटा बड़ा शरीर है, उसमें ठहरता हुआ शरीर में ही अवगाह कर रहता है। लोकपूरण काल में तो सुमेरुपर्वत के नीचे चित्रा

रस्याधश्चित्रवज्रपटलयोर्मध्ये जीवस्याष्टौ मध्यप्रदेशा व्यवतिष्ठन्ते । इतरे प्रदेशा ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्लोकं कृत्स्नं लोकाकाशं व्याप्नुवन्ति । स्यान्मतं ते—एकद्रव्यस्य या प्रदेशकल्पना सा न पारमार्थिकीति । तन्न । किं कारणम् ? मुख्यक्षेत्रविभागसद्भावात् । अन्यो हि घटावगाह्याकाशप्रदेश इतरावगाह्यश्चान्य इति यद्यन्यत्वं न स्यात्तदा काण्डपटवद्युगपन्नानादेशद्रव्यव्यापित्वं नोपपद्यते । अथ मतमेतत्—यदि मुख्य एव विभागोभ्युपगम्यते तर्हि निरवयवत्वं नोपपद्यत इति । तन्न । किं कारणम् ? द्रव्यविभागा-भावात्–यथा घटो द्रव्यतो विभागवान्सावयवो न च तथैषां द्रव्यविभागोऽस्तीति निरवयवत्वं

और वज्रा भूमि पटल के मध्य में जीव के मध्य के आठ प्रदेश स्थित हो जाते हैं और अन्य सभी प्रदेश ऊपर नीचे तिरछे सब ओर मध्यलोक तथा संपूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करते हैं ।

शंका—आप जैन के मत में एक द्रव्य में जो प्रदेश कल्पना की है वह पारमार्थिक नहीं है । अभिप्राय यह है कि यदि अनेक द्रव्यों के अनेक प्रदेश मानें तो ठीक है किन्तु एक ही द्रव्य प्रदेशों की कल्पना ठीक नहीं है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि मुख्य रूप क्षेत्र का विभाग देखा जाता है । देखिये ! घट द्वारा अवगाहित आकाश प्रदेश भिन्न है और पटादि अन्य वस्तु द्वारा अवगाहित आकाश प्रदेश भिन्न है । यदि इस तरह आकाश प्रदेशों में अन्यत्व नहीं होवे तो वस्त्र के समान एक साथ नाना देशों में स्थित पदार्थों में आकाश का व्यापकपना नहीं बनता ।

शंका—यदि आकाशादि में प्रदेश विभाग मुख्य रूप माना जायगा तो उनमें निरवयवपना सिद्ध नहीं होता ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि द्रव्य का विभाग नहीं होता प्रदेशों का विभाग है । अर्थात् आकाश द्रव्य या धर्म द्रव्य द्रव्य तो एक ही है, उस एक एक द्रव्य में प्रदेश नाना हैं, किन्तु प्रदेश विभाग होने से द्रव्य का विभाग—हिस्सा टुकड़ा हो जाय ऐसा इनमें नहीं होता । बात ऐसी है कि जैसे घट पदार्थ द्रव्य से विभागवान है सावयव है वैसे आकाशादि में द्रव्य से विभाग नहीं पाया जाता इसलिये ये अवयव रहित माने जाते हैं । दूसरी बात यह है कि सामान्य और विशेष की अपेक्षा इन आकाशादि में एक प्रदेशपना और अनेक प्रदेशपने के प्रति अनेकान्त है अर्थात् कथंचित् एक प्रदेश-त्व और कथंचित् अनेक प्रदेशत्व है । जैसे पुरुष एक अपने जीव की अपेक्षा एक है और

युज्यते सामान्यविशेषापेक्षया पुरुषवदेकानेकप्रदेशत्वं प्रत्यनेकान्तात्त्च । नानाजीवापेक्षयानन्तप्रदेश-त्वमप्यस्तीत्येकग्रहणमिह क्रियते । एकश्चासौ जीवश्चैकजीवः । धर्मश्चाधर्मश्चैकजीवश्च धर्माधर्मै-कजीवाः । असङ्ख्येयप्रदेशा धर्माधर्मैकजीवा इति लघुनिर्देशेन सिद्धे प्रदेशा इति भेदकरणमुत्तरार्थम् । द्रव्यप्रधाने हि निर्देशे सति प्रदेशानां गौणत्वादुत्तरत्राभिसम्बन्धो न स्यात् । अथाकाशस्य कति प्रदेशा इत्यत आह—

आकाशस्याऽनन्ताः ।। ९ ।।

अन्तोऽवसानमित्यर्थः । न विद्यतेऽन्तो येषां तेऽनन्ता इत्यन्यपदार्थवृत्त्या प्रत्यासन्नाः प्रदेशा गृह्यन्ते । ते चाकाशस्य वेदितव्याः । न चासङ्ख्येयानन्तयोरविशेष इति वक्तव्यम्—तयोर्भेदस्य प्रागे-

---

पिता पुत्र आदि रिस्तों की अपेक्षा अनेक है, वैसे आकाशादिक द्रव्य की अपेक्षा एक प्रदेश रूप है क्योंकि इनमें विभाग नहीं होता, तथा व्याप्त होकर रहने से एवं अनेकों को भिन्न भिन्न रूप अवगाह आदि देने की अपेक्षा अनेक प्रदेश रूप है । इनमें अनेकान्त है ।

नाना जीवों की अपेक्षा अनंत प्रदेशपना भी पाया जाता है अर्थात् जीव राशि अनंत हैं एक एक के असंख्यात प्रदेश हैं अतः सब अनंत हो जाते हैं । उनका ग्रहण न होवे इसलिये सूत्र में एक शब्द को लिया है । एकश्चासौ जीवश्च ऐसा कर्मधारय समास करके पुनः धर्म अधर्म पदों के साथ इसका द्वन्द्व समास करना । "असंख्येय-प्रदेशा धर्माधर्मैक जीवाः" इसप्रकार लघु निर्देश कर सकते हैं किन्तु "असंख्येयाः" पद से "प्रदेशाः" पद को जो पृथक् रखा है वह आगे के सूत्र के साथ संबंध करने के लिये रखा है । यदि "असंख्येयप्रदेशाः" ऐसा द्रव्य प्रधान निर्देश करते तो प्रदेश पद गौण हो जाता और उससे फिर प्रदेश शब्द का आगे के सूत्र के साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता ।

प्रश्न—आकाश के कितने प्रदेश हैं ?

उत्तर—अब इसी को सूत्र द्वारा कहते हैं ।

सूत्रार्थ—आकाश के अनंत प्रदेश होते हैं । अवसान को अन्त कहते हैं । जिनका अन्त नहीं होता वे अनन्त कहलाते हैं, इसतरह अन्यपद प्रधान—बहुव्रीहि समास करने से निकटवर्ती प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं । वे अनंत प्रदेश आकाश के होते हैं ऐसा जानना चाहिये । असंख्येय और अनंत में समानता है ऐसा नहीं कहना, इनमें जो भेद है वह पहले कह आये हैं ।

बोक्तत्वात् । स्यान्मतं ते– सर्वज्ञेनानन्तं परिच्छिन्नं वा स्यादपरिच्छिन्नं वा ? । यदि परिच्छिन्नं तह्य पलब्धावसानत्वादनन्तत्वमस्य हीयते । अथाऽपरिच्छिन्नं तर्हि तत्स्वरूपानवबोधात्सर्वज्ञत्वं न स्यादिति । तन्न । किं कारणम् ? अतिशयज्ञानदृष्टत्वात् । यत् क्षायिकमतिशयवदनन्तानन्तपरिमाणं च केवलिनां ज्ञानं तेन तदनन्तमवबुध्यते साक्षात् । तदुपदेशात्पुनरितरैरस्पष्टज्ञानेनेति न सर्वज्ञत्वहानिः । न च तेन परिच्छिन्नमिति कृत्वा सान्तं तदिति वक्तव्यं– स्वयमनन्तेनानन्तमिति ज्ञातत्वात् । इदानीं पुद्गलानां प्रदेशपरिमाणावधारणार्थमाह—

सङ्ख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

सङ्ख्येयाश्चाऽसङ्ख्येयाश्च सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येया । चशब्दः प्रकृतानन्तसामान्यसमुच्चयार्थ स्तेन परीतानन्तं युक्तानन्तमनन्तानन्तमिति त्रिविधमप्यनन्तमनन्तसामान्येऽन्तर्भूतं गृह्यते । परमाणु

शंका—आप जैन द्वारा मान्य जो सर्वज्ञ है उसने अनंत को जाना है कि नहीं जाना ? यदि जाना है तो अनंत का अवसान उपलब्ध होने से उसे अनंतपना नही रहता, और यदि सर्वज्ञ ने अनंत को नही जाना है तो अनंत के स्वरूप को नहीं जानने से सर्वज्ञत्व समाप्त होता है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, अनन्त तो अतिशय ज्ञान द्वारा देखा गया है । केवलियों का ज्ञान क्षायिक होता है तथा सातिशय, अनन्तानन्त प्रमाण स्वरूप होता है, उस अनन्त स्वरूप ज्ञान द्वारा अनन्त प्रत्यक्ष रूप जाना जाता है । उन सर्वज्ञ भगवान के उपदेश से अन्य अन्य पुरुषों द्वारा परोक्ष ज्ञान से अनन्त जाना जाता है, इसप्रकार सर्वज्ञत्व में कुछ भी हानि नहीं आती । सर्वज्ञ ने अनन्त को जाना है अतः वह सान्त हो गया ऐसा कोई कहे तो वह ठीक नहीं है, सर्वज्ञ तो अनन्त को अनन्त रूप से जानते हैं । अतः कोई दोष नहीं है ।

अब पुद्गलों के प्रदेशों का प्रमाण बतलाने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—पुद्गलों के संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेश होते हैं ।

संख्येयादि पदों में द्वन्द्व समास है । च शब्द प्रकृत के अनन्त सामान्य का समुच्चय करने के लिये दिया है । उससे परीतानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त ऐसे तीन प्रकार के अनन्त को अनन्त सामान्य में अन्तर्भूत करके ग्रहण किया है । परमाणु और स्कन्ध की अपेक्षा पुद्गलों के अनन्तप्रकार हैं ऐसा आगे कहेंगे । उससे किन्हीं द्वयणुक आदि के संख्यात प्रदेश होते हैं किन्हीं के असंख्यात प्रदेश होते हैं, किन्हीं के अनन्त प्रदेश और किन्हीं के अनन्तानन्त प्रदेश होते हैं, ऐसा निश्चय होता है ।

स्कन्धभेदेन पुद्गलानामनन्तप्रकारत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । ततः केषाञ्चित् द्व्यणुकादीनां सङ्ख्येयाः प्रदेशाः । केषाञ्चिदसङ्ख्येयाः । परेषामनन्ताः । केषाञ्चिदनन्तानन्ता इति कथ्यन्ते । अथ मतमेतत्—असङ्ख्यातप्रदेशो लोकोऽनन्तानामनन्तानंतानां च पुद्गलानामधिकरणमिति विरोधस्ततो नानन्तमिति । तन्न । किं कारणम् । सूक्ष्मपरिणामावगाहनसामर्थ्यात् । परमाण्वादयो हि पुद्गलाः सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते । अवगाहनसामर्थ्यमप्येषामव्याहतमस्ति येनैकैकस्मिन्नपि प्रदेशेऽनन्तानन्तानामवस्थानं न विरुध्यते । किञ्च नायमेकान्तोऽस्ति—अल्पेऽधिकरणे महद्द्रव्यं नावतिष्ठत इति । कुतः ? संघातविशेषेण बहूनामपि पुद्गलानामल्पेऽपि क्षेत्रेऽवस्थानदर्शनात् संहृतविसर्पितचम्पकादिगन्धादिवत्यथाल्पे कुड्मलावस्थे चम्पकपुष्पे सूक्ष्मप्रचयपरिणामात् संहृताश्चम्पकपुष्पगन्धावयवास्तद्व्यापिनो बहवोऽवतिष्ठमाना दृष्टाः । तस्मिन्नेव विकसिते तु स्थूलप्रचयपरिणामाद्विनिर्गताश्चम्पकगन्धावयवाः सर्वदिङ्मण्डलव्यापिनो दृष्टाः । यथा वाल्पे करीषपटले दारुपिण्डे च प्रचयविशेषावगाढाः सन्तः पुद्गला अग्निना दह्यमानाः प्रचयविशेषेण धूमभावेन दिङ्मण्डलव्यापि-

---

शंका—लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है वह अनन्त और अनन्तानन्त पुद्गलों का आधार है ऐसा कहना विरुद्ध पड़ता है, अतः पुद्गलों के अनंत प्रदेश नहीं मानने चाहिये ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये । पुद्गलों में सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन की सामर्थ्य पायी जाती है अतः वे असंख्येय प्रदेशी लोक में अनंत भी समा जाते हैं । देखिये ! परमाणु आदि रूप जो पुद्गल हैं वे सूक्ष्म भाव से परिणत होकर एक एक आकाश प्रदेश पर भी अनन्तानन्त रह जाते हैं । तथा इन पुद्गलों में अवगाहना सामर्थ्य भी निर्बाध रूप से रहती है जिससे कि एक एक प्रदेश में भी इन अनन्तानन्ता का अवस्थान विरुद्ध नहीं पड़ता । दूसरी बात यह है कि, यह एकान्त नहीं है कि छोटे आधार पर बड़ा द्रव्य न रहता हो, क्योंकि सघन संघात के कारण बहुत सारे पुद्गलों का छोटे से क्षेत्र में भी अवस्थान देखा जाता है । जैसे चम्पक पुष्प आदि पदार्थों में सुगंधादिक संकोच विस्तार करके रहते हैं । इसीको बताते हैं कि जब चंपा का फूल कली अवस्था में है तब उसके सुगंधि के अवयव सूक्ष्म प्रचय रूप परिणमन कर सकोच रूप उस कली मात्र में व्याप्त होकर रह जाते हैं और जब वही कली खिल जाती है तब वे चंपा के सुगंधि अवयव स्थूल परिणाम से निकल कर सर्व दिशा मंडल को व्याप्त कर देते हैं । तथा जैसे छोटे से कंडे में और लकड़ी में प्रचय विशेष से अवगाढ रूप ठहरे हुए पुद्गल अग्नि द्वारा जलने पर प्रचय विशेष धूम द्वारा दिशा-

नोऽपि दृष्टा: तथाऽल्पेऽपि लोकाकाशेऽनन्तानामनन्तानन्तानां च जीवपुद्गलानामवस्थानमिति नास्ति विरोध: । पुद्गलानामित्यविशेषवचनात्परमाणोरपि सप्रदेशत्वप्रसङ्गे तत्प्रतिषेधार्थमाह—

नाणोः ॥ ११ ॥

अणो: प्रदेशा न सन्तीति वाक्यशेष: । कुतो न सन्तीति चेदुच्यते—प्रदेशमात्रत्वादाकाशैक-प्रदेशवत् । तस्य द्वयादिसङ्ख्येयासङ्ख्येयाऽनन्तप्रदेशभेदाभ्युपगमे परमाणुव्यपदेशानुपपत्तेश्च । क्व पुनरवगाहो धर्मादिद्रव्याणामित्युत्सर्गत: प्राह—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

प्रसिद्धावधिना लोकेन परिच्छिन्नमाकाशमसङ्ख्येयप्रदेशं लोकाकाशम् । तस्मिन् द्रव्याणाम-वगाहोऽवस्थानमिति वेदितव्यम् । आकाशस्य परममहत्त्वान्नान्य आधारोऽस्तीति स्वाधारं तत्प्रसिद्धम् ।

मण्डल को व्याप्त कर देते हैं, ठीक इसीप्रकार छोटे लोकाकाश में भी अनन्तानन्त तथा अनन्त जीवों और पुद्गलों का अवस्थान हो जाता है इसमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है ।

पुद्गलों के संख्यात आदि बहुत से प्रदेश होते हैं ऐसा कहने से परमाणु के भी सप्रदेशत्व प्राप्त होता है अत: उसका निषेध करने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—परमाणु के बहुत प्रदेश नहीं होते । अणु के प्रदेश नहीं होते हैं ऐसे वाक्य का सम्बन्ध कर लेना ।

प्रश्न—अणु के प्रदेश क्यों नहीं होते ।

उत्तर—वह एक प्रदेश मात्र रूप होता है, जैसे आकाश का एक प्रदेश । यदि परमाणु के दो आदि संख्यात असंख्यात अनन्त प्रदेश स्वीकार करेंगे तो उसकी परमाणु संज्ञा ही नहीं बनेगी ।

प्रश्न—धर्मादि द्रव्यों का अवगाह कहां पर है ?

उत्तर—इसको अगले सूत्र में कहते हैं—

सूत्रार्थ—धर्मादि द्रव्यों का लोकाकाश में अवगाह है । प्रसिद्ध अवधि [सीमा] रूप लोक से नापा गया आकाश असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश कहलाता है । उस लोका-काश में द्रव्यों का अवगाह अर्थात् अवस्थान पाया जाता है ऐसा जानना चाहिये । आकाश परम महा परिमाण है अत: इसका अन्य कोई आधार नहीं है, वह तो अपने

तथा च सत्यपरापराधारकल्पनयाऽनवस्थादोषानुषङ्गो न स्यात् । एवंभूतनयादेशात्तु सर्वद्रव्याणि परमार्थतया स्वप्रतिष्ठान्येवाऽन्योन्याधारत्वस्य सर्वस्य व्यवहारनयापेक्षत्वात् । तत्र ध्रियमाणानामवस्थानभेदसम्भवाद्विशेषावधारणार्थमाह—

धर्माऽधर्मयोः कृत्स्ने ।। १३ ।।

धर्मश्चाधर्मश्च धर्माधर्मौ । तयोर्धर्माधर्मयोरवगाह इत्यनेनाभिसम्बन्धः । लोकाकाशे इत्यनुवर्तते । कृत्स्नवचनं निरवशेषलोकाकाशव्याप्तिप्रदर्शनार्थम् । यथा गृहैकदेशे घटस्यावस्थानं न तथा धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाहः । किं तर्हि—तिलेषु तैलवन्निरवशेषे । धर्माऽधर्मौ हि लोकाकाशमशेषं नैरन्तर्येण व्याप्य स्थितौ । कथं धर्माऽधर्माकाशानां परस्परप्रदेशाऽविरोध इति चेदमूर्तत्वादिति ब्रूमः । मूर्तिमन्तोऽपि केचिज्जलभस्मसिकतादय एकत्राविरोधेनावतिष्ठन्ते किमुतामूर्तानि धर्माऽधर्माकाशानीति

आधार में स्थित है । ऐसा स्वीकार करने से उसके लिये दूसरे आधार की कल्पना नहीं करनी पड़ती और उस कारण से अनवस्था दोष भी नहीं आता । एवंभूतनय की दृष्टि से तो सभी द्रव्य परमार्थ से अपने अपने आधार पर ही स्थित हैं । एक दूसरे का आधारपना व्यवहार नय की अपेक्षा से होता है ।

उस लोकाकाश के आधार में रहने वाले द्रव्यों में अवस्थान का भेद संभव है अतः विशेष का अवधारण करने के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं ।

धर्मादि पद में द्वन्द्व समास है । अवगाह शब्द का यहां संबंध कर लेना चाहिये । "लोकाकाशे" पद का अनुवर्त्तन चल ही रहा है । सूत्र में 'कृत्स्ने' पद संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं इस बात को बतलाने के लिये दिया है । जैसे घर के एक भाग में घट रहता है वैसे धर्म अधर्म लोकाकाश में नहीं रहते किन्तु तिलों में तैल के समान संपूर्ण लोक में रहते हैं । धर्म और अधर्म द्रव्य सकल लोकाकाश को निरन्तर रूप से व्याप्त होकर स्थित हैं ।

प्रश्न—यदि ये द्रव्य सर्व लोक में रहते हैं तो धर्म अधर्म और आकाश के प्रदेशों का परस्पर में अविरोध किस प्रकार संभव होगा ?

उत्तर—अमूर्त्त होने से अविरोध है, कोई कोई जल, भस्म, बालु आदि मूर्त्तिक पदार्थ भी एक जगह अविरोध रूप से रहते हैं तो फिर अमूर्त्त धर्म अधर्म आकाश

नास्त्येषां परस्परं प्रदेशविरोधः । तथा पारिणामिकानादिसम्बन्धत्वाच्च तेषामन्योन्यप्रदेशाविरोधः सिद्धः । इदानीं पुद्गलानामवगाहनविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।। १४ ।।

एकश्चासौ प्रदेशश्चैकप्रदेशः । स आदिर्येषां द्वित्रिचतुःसङ्ख्येयासङ्ख्येयानां प्रदेशानां ते एकप्रदेशादयो लोकाकाशस्य प्रदेशास्तेष्वेकप्रदेशादिष्ववयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थस्तेनैकप्रदेशस्योपलक्षणभूतस्याप्यन्तर्भावो भवति । भाज्यो विकल्प्यो भजनीयः पृथक्कर्तव्यो विभाज्य इत्यनर्थान्तरम् । कः पुनरसावनुवर्तमानोऽवगाहः ? पुद्गलानामिति सामान्यनिर्देशादेकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयाऽनन्तानां परमाणूनां द्व्यणुकादिस्कन्धानां च ग्रहणम् । लोकाकाशे इत्यनुवर्तते । तस्यार्थवशात् षष्ठ्यन्त विपरिणामः । तद्यथा—लोकाकाशस्यैकस्मिन्नेव प्रदेशे एकस्य परमाणोरवगाहः । द्वयोः परमाण्वोर्ब-

---

एकत्र क्यों नहीं रह सकते ? अवश्य रह सकते हैं । इनके प्रदेशों में अमूर्त्तपना होने से परस्पर में विरोध नहीं आता । तथा इन धर्मादि का स्वाभाविक अनादि संबंध होने से परस्पर के प्रदेशों में अविरोध सिद्ध है ।

अब पुद्गलों का अवगाह विशेष बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—पुद्गल द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश के एक प्रदेश आदि में विभाजित है ।

एक प्रदेशादि पदों में कर्मधारय पूर्वक बहुव्रीहि समास है । एक, दो, तीन, संख्येय और असंख्येय लोकाकाश के प्रदेशों में पुद्गलों का अवस्थान है । "एक प्रदेशादिषु" पद का "अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः" इस व्याकरण सूत्र के [पातंजलि महाभाष्यके] अनुसार समास करना जिससे उपलक्षण भूत एक प्रदेश का भी ग्रहण हो जाता है, अर्थात् एक प्रदेश में भी पुद्गल का अवस्थान है यह सिद्ध होता है । भाज्य, विकल्प्य, भजनीय, पृथक्–कर्तव्य और विभाज्य ये सब शब्द एकार्थवाची हैं । क्या भाज्य है ? तो अवगाह भाज्य है, क्योंकि अवगाह का प्रकरण चल रहा है । "पुद्गलानां" ऐसा सामान्य निर्देश करने से एक, दो, तीन, चार, संख्येय, असंख्येय और अनन्त परमाणु तथा द्व्यणुक आदि स्कन्धों का ग्रहण हो जाता है । "लोकाकाशे" पद का अनुवर्त्तन चल रहा है उस पद की अर्थवश से षष्ठी विभक्ति रूप परिणमन करना । आगे इसी को बतलाते हैं—लोकाकाश के एक ही प्रदेश में एक परमाणु का

द्वयोरबद्धयोश्चैकस्मिन् द्वयोश्चाकाशप्रदेशयोरवगाहः । त्रयाणां परमाणूनां बद्धानामबद्धानां चैकत्रो भयत्र त्रिषु चाकाशप्रदेशेष्ववगाहः । एवं संख्येयासंख्येयानन्तानां परमाणूनां स्कन्धानां चैकसंख्येयासंख्येयप्रदेशेषु लोकाकाशेऽवस्थानं प्रत्येतव्यम् । स्यान्मतं ते–मूर्तिमदनेकपुद्गलानामेकप्रदेशेऽव स्थानं विरुध्यते प्रदेशस्य विभागवत्वप्रसंगादवगाहिनामेकत्वप्रसक्तेश्चेति । तन्न युक्तम् । कुतः ? उक्तत्वात् । उक्तं ह्यत्र प्रचयविशेषादिभिर्हेतुभिरेकत्रावस्थानं भवतीति । एकापवरकेऽनेकप्रकाशाव स्थानदर्शनान्न विरोधः सिध्यति । यथैकस्मिन्नपवरके बहवः प्रकाशा वर्तन्ते । न चापवरकक्षेत्रस्य विभागो नाप्येकक्षेत्रावगाहित्वात्तेषां प्रकाशानामेकत्वमुपलभ्यते । तथैकस्मिन्प्रदेशेऽनन्तानामपि स्कन्धानां सूक्ष्मपरिणामादसङ्करेण व्यवस्थानं न विरुध्यते । किं च प्रतिनियतद्रव्यस्वभावानां प्रेरणा-

---

अवगाह है । दो बद्ध परमाणुओं का अथवा दो अबद्ध परमाणुओं का आकाश के एक प्रदेश में अथवा दो प्रदेश में अवगाह हो जाता है । तीन बद्ध परमाणुओं के अथवा तीन अबद्ध परमाणुओं का आकाश के एक प्रदेश में, दो प्रदेश में या तीन प्रदेशों में अवगाह होता है । इसीप्रकार संख्यात असंख्यात और अनंत परमाणुओं का तथा संख्यात, असंख्यात और अनंत स्कन्धों का लोकाकाश के एक प्रदेश में, संख्यात प्रदेशों में या असंखयात प्रदेशों में अवगाह होता है ऐसा निश्चय करना चाहिये ।

शंका—मूर्त्तिक अनेक पुद्गलों का आकाश के एक प्रदेश में रहना जो आपने बताया वह विरुद्ध है, यदि ऐसा मानेंगे तो आकाश के एक प्रदेश में विभाग मानना पड़ेगा, अथवा एक प्रदेश पर स्थित होने से अवगाह लेने वाले जो बहु परमाणु स्वरूप पुद्गल हैं उनमें एकत्व आयेगा ?

समाधान— यह कथन ठीक नहीं है, इसका समाधान तो पहले दे चुके हैं । अभी अभी [दसवें सूत्र के अर्थ में] कह दिया था कि प्रचय विशेष आदि के कारण अनंतादि पुद्गलों का एकत्र अवस्थान होता है । जैसे एक ही कमरे में बहुत से प्रकाश रह जाते हैं । वहां पर कमरे के क्षेत्र का विभाग नहीं होता और एक क्षेत्र में रहने के कारण उन प्रकाशों में भी एकपना नहीं होता अर्थात् एक क्षेत्र है तो एक क्षेत्र रूप ही रहता है बहुत प्रकाशों के कारण क्षेत्र अनेक नहीं होते, न उसमें विभाग ही होता है, प्रकाशशील पदार्थ भी क्षेत्र एकता के कारण एक रूप नहीं बनते । ऐसे ही आकाश के एक प्रदेश में अनन्त पुद्गल स्कन्धों का सूक्ष्म परिणमन हो जाने के कारण बिना संकरता के अवस्थान हो जाता है इसमें विरोध नहीं आता ।

नर्हत्वादग्नितृणादीनां दहनदाह्यत्वादिशक्तिवत्। मूर्तिमत्वेप्यवगाहनस्वभावत्वादेकस्मिन्नपि प्रदेशे बहूनामवस्थानं न विरोधाय कल्पते। सर्वज्ञवीतरागाप्तप्रणीतागमप्रामाण्याच्चोक्तोऽवगाहो वेदितव्यः। सूक्ष्मनिगोतावस्थानवत्–यथा एकनिगोतजीवशरीरेऽनन्ता निगोतजीवास्तिष्ठन्ति साधारणाहारप्राणापानजीवितमरणत्वात्साधारणा इत्यन्वर्थसंज्ञा इत्येतदागमप्रामाण्यादवसीयते तथावगाहोप्यवसेयः। तथा चोक्तं—

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाए हि सव्वदो लोओ।
सुहुमे हि बादरे हि अणन्ताणन्ते हि विविहे हि॥

इत्येवमादीति। अथ जीवानामवगाहः कथमित्यत आह—

असंख्येयभागादिषु जीवानाम्॥ १५॥

दूसरी बात यह है कि प्रतिनियत वस्तुओं का अपना स्वभाव हुआ करता है उसमें तर्कणा नहीं होती। अग्नि और तृणादि में दहन दाह्य आदि रूप जैसे स्वभाव या शक्ति प्रतिनियत होती है, उसमें यह प्रश्न संभव नहीं है कि अग्नि में दहन–जलाने का स्वभाव क्यों है तृणादिक ही क्यों जल जाते हैं ? इत्यादि। यह तो वस्तुस्थिति है इसमें विरोध की बात ही नहीं है। ठीक इसीप्रकार पुद्गल मूर्तिमान हैं तो भी अवगाहन स्वभाव वाले होने से बहुत से पुद्गलों का एक प्रदेश में भी अवस्थान हो जाता है, कोई विरोध नहीं है। तथा सर्वज्ञ वीतराग भगवान द्वारा प्रणीत आगम में इस अवगाह शक्ति का कथन पाया जाता है, सर्वज्ञ की प्रमाणता से आगम प्रमाण भूत है और आगम प्रमाण भूत होने से उसमें कथित यह अवगाह शक्ति आदि भी प्रामाणिक है ऐसा समझना चाहिये। जैसे कि सूक्ष्म निगोत जीवों का एकत्र अवस्थान होता है, अर्थात् एक निगोत शरीर में अनन्त निगोत जीव रहते हैं, एक साथ आहार और श्वासोच्छ्-वास लेते हैं तथा एक साथ ही जन्ममरण करते हैं इसतरह ये सब साधारण होने से इन जीवों का "साधारण" यह सार्थक नाम है। यह निगोत विषयक वर्णन भी आगम की प्रमाणता से ही जाना–माना जाता है वैसे ही अवगाह शक्ति को भी आगम प्रमाण से जानना मानना चाहिये। आगम में कहा भी है [पंचास्तिकाय में] यह लोकाकाश विविध प्रकार के सूक्ष्म तथा बादर स्वरूप अनंतानंत पुद्गलों से अवगाढ गाढ रूपसे सब तरफ भरा हुआ है ॥१॥ इसप्रकार आगम वाक्य है।

जीवों का अवगाह किसप्रकार है ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—लोक के असंख्यातवें भाग आदि में जीवों का अवगाह है।

लोकाकाशस्यासंख्येयानां भागानामेको भागोऽसंख्येयभागः । सोऽसंख्येयभाग आदिर्येषाम-संख्येयभागानां तेऽसंख्येयभागादयस्तेष्वसंख्येयभागादिषु । अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्यर्थः । तेनैकस्यासंख्येय भागस्यापि ग्रहणम् । उक्तलक्षणा जीवाः । भाज्योऽवगाह इति वर्तते । एतेनैवमभि सम्बन्धो व्याख्यायते—लोकस्य प्रदेशा असंख्येया भागाः कृताः । तत्रैकस्मिन्नंगुलाऽसंख्येयभागमात्रे लोकाकाशस्यासंख्येयभागे सर्वजघन्यशरीरभाजो जीवस्यावगाहो भवति । कस्यचिज्जीवस्यैकद्वित्रि चतुरादिप्रदेशाधिके अंगुलासंख्येयभागमात्रेऽवगाहः । एवं द्वित्रिचतुरादिसंख्येयेष्वप्यसंख्येयभागेष्वा सर्वलोकात्समुद्घातकालेऽवगाहो वेदितव्यः । स्यान्मतं ते—कस्मिन्नप्यसंख्येयभागे प्रदेशा असंख्येयाः ।

लोकाकाश के असंख्यात भागों में से एक भाग असंख्येय भाग कहलाता है । असंख्येय भाग है आदि में जिनके वे असंख्येय भागादि कहे जाते हैं उनमें, इसप्रकार "असंख्येय भागादिषु" पद का समास करने से "अवयवेन विग्रहः समुदायो वृत्यर्थः" इस व्याकरण सूत्र के अनुसार एक असंख्येय भाग का भी ग्रहण हो जाता है, अर्थात् लोक के असंख्येय भागों में से एक भाग में भी जीव का अवस्थान है ऐसा अर्थ होता है ।

जीवों का लक्षण कह आये हैं । भाज्यः और अवगाहः पद का प्रकरण चल रहा है, इन पदों का संबंध करके ऐसा व्याख्यान किया जाता है कि—लोक के जो प्रदेश हैं उनके असंख्यात भाग किये, उन भागों में से एक भाग लिया जो अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है, उस लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में सर्व जघन्य शरीर का धारक जीव रहता है, अथवा उतने भाग में उस जीव का अवगाह है । उस असंख्यातवें भाग में एक प्रदेश अधिक रूप क्षेत्र में कोई जीव अवगाह पाता है कोई उक्त भाग में दो प्रदेश अधिक रूप क्षेत्र में रहता है । इसप्रकार उक्त अंगुल के असंख्यातवें भाग में तीन प्रदेश अधिक, चार प्रदेश अधिक इत्यादि रूप भिन्न भिन्न जीवों का भिन्न भिन्न अवगाह जानना चाहिये । समुद्घात काल में तो उक्त असंख्यातवें भाग में दो संख्यातवें भाग अधिक, तीन संख्यातवें भाग अधिक, चार संख्यातवें भाग अधिक इत्यादि रूप से लेकर सर्व लोक पर्यन्त जीव का अवगाह होता है ।

विशेषार्थ—संसारी जीव शरीर धारी हैं, शरीर की अवगाहना बहुत प्रकार की है, सबसे छोटी अवगाहना सूक्ष्म निगोद जीव की है जो अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है, इसका धारक निगोद जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रहता है, लोक के असंख्या-

द्वित्रिचतुरादिष्वप्यसंख्येया एव । ततो जीवानामवगाहभेदो न प्राप्नोतीति । तन्न युक्तमसंख्येयस्यासंख्येयविकल्पत्वात् । अजघन्योत्कृष्टासंख्येयस्य हि असंख्येयाविकल्पा भवन्त्यतोऽवगाहविशेषो जीवानां सिद्धः । धर्माऽधर्मपुद्गलजीवानां कृत्स्नलोकावगाहनियमात् कालद्रव्यस्य लोकाकाशस्यैकस्मि-

---

तवें भाग के भी असंख्य भेद हैं, अतः उपर्युक्त असंख्यातवें भाग में दो तीन चार इत्यादि प्रदेश मिलाने पर भी वह क्षेत्र एवं वह शरीर अवगाहना असंख्येय भाग प्रमाण ही कहलायेगी । निगोद जीव की जघन्य अवगाहना से लेकर एक हजार योजन प्रमाण महामत्स्य की अवगाहना तक मध्य के अवगाहनाओं के असंख्य भेद हो जाते हैं, ये सर्व भेद लोक के असंख्यातवें भाग मात्र को व्याप्त करने वाले हैं । इन अवगाहनाओं के धारक जीव समुद्घात क्रिया को करते हैं । समुद्घात के सात भेद हैं—कषाय समुद्घात, वेदना समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात, वैक्रियिक समुद्घात, तैजस समुद्घात, आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात । मूल शरीर को बिना छोड़े आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है । मारणान्तिक, वैक्रियिक आदि समुद्घातों में जीव के प्रदेश कई राजू तक फैल जाते हैं । केवली समुद्घात में दण्ड और कपाट रूप अवस्था में लोक के असंख्यातों भाग और प्रतर में संख्यात बहुभाग एवं लोकपूरण अवस्था में सर्व लोक प्रमाण आत्मा के प्रदेश फैल जाते हैं । अतः असंख्यातों भाग, संख्यातों भाग और सर्व लोक तक जीव का अवगाह यहां पर बतलाया गया है । इस विषय का विशद वर्णन सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में प्रथम अध्याय के सत् संख्या–आदि आठवें सूत्र की टीका में अवलोकनीय है ।

शंका—किसी एक असंख्येय भाग में प्रदेश असंख्यात होते हैं तथा दो, तीन, चार आदि भागों में भी असंख्यात ही होते हैं, उस कारण से जीवों के अवगाहनाओं में भेद नहीं हो सकता ?

समाधान—यह कथन युक्त नहीं है, असंख्येय के भी असंख्येय भेद–विकल्प होते हैं । अजघन्योत्कृष्ट असंख्यात के असंख्यात विकल्प हैं इसलिये जीवों की अवगाहनाओं में भेद सिद्ध हो जाता है ।

धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और जीव द्रव्य संपूर्ण लोक में अवगाहित होते हैं ऐसा प्रतिपादन करने से काल द्रव्य लोकाकाश के एक प्रदेश में एक काल द्रव्य

त्रैकस्मिन् प्रदेशे एकस्यैकस्यावगाह इति सामर्थ्यादवगम्यते। अत्र कश्चिदाह—एकैकजीवः सकल लोकव्यापी लोकाकाशसमानपरिमाणप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मवदिति कुतस्तस्यासंख्येयभागादिषु वृत्तिर्घटत इति। तन्निराकरणार्थमाह—

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।। १६ ।।

परमाणुमात्रं क्षेत्रं प्रदेशः । सूक्ष्मशरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तं सूक्ष्मशरीरमधितिष्ठतः शुष्कचर्मवत्सङ्कोचनं प्रदेशानां संहारः । बादरशरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तं बादरशरीरमधितिष्ठतो जलतैलवत्प्रसारणं विसर्पः। सहारश्च विसर्पश्च संहारविसर्पौ । प्रदेशानां संहारविसर्पौ प्रदेशसंहार-विसर्पौ । ताभ्यां प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यामात्मनो लोकस्या संखेयभागावगाहित्वम् । समुद्घातकाले त्वसङ्ख्येयभागावगाहिता सर्वलोकव्यापिता वा न विरुद्ध्यते प्रदीपवत् । यथा निरावरणव्योमदेशा-

---

रूप या एक कालाणु रूप अवगाह पाता है ऐसा सामर्थ्य से जाना जाता हैं। अर्थात् काल द्रव्य एक एक प्रदेशी अणुवत् पृथक पृथक् हैं उनकी संख्या असंख्यात है, एक एक कालाणु एक एक आकाश प्रदेश पर अवस्थित है। जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने कालाणु हैं, जो रत्न राशिवत् एक एक प्रदेश में अवगाहित हैं।

शंका—एक एक जीव सकल लोक व्यापी लोकाकाश के समान प्रमाण वाले प्रदेशों से युक्त हैं, जैसे धर्म अधर्म द्रव्य लोकाकाश बराबर प्रदेश वाले हैं। इसलिये उस जीव का असंख्येय भाग आदि में रहना कैसे संभव है ?

समाधान—अब इसी आशंका का निराकरण करने हेतु सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ— जीव के प्रदेशों में दीपक के प्रकाश की तरह संकोच और विस्तार होता है।

परमाणु प्रमाण क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। सूक्ष्म शरीर नाम कर्म के उदय से सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है, उस शरीर में रहने वाले जीव के प्रदेशों का सूखे चमड़े की तरह सिकुड़ जाना संहार कहलाता है। बादर शरीर नाम कर्म के उदय के वश से बादर शरीर को प्राप्त कर उसमें रहता हुआ जीव जल में तेल की तरह फैल जाता है इसको "विसर्प" कहते हैं। संहार विसर्प पदों में द्वन्द्व समास करना फिर प्रदेश पद के साथ तत्पुरुष समास करना। प्रदेशों के संहार और विसर्प के कारण जीव लोक के असंख्येय भाग में अवगाह पाते हैं। जीव जब समुद्घात करते हैं उस वक्त वे असंख्येय भाग में अथवा सर्व लोक में अवगाहित होते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं आता, जैसे

वधृतप्रकाशपरिमाण: प्रदीप: शरावकुडवापवरकाद्यावरणवशात्तत्परिमाणप्रकाश उपलभ्यते तथा प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यामसंख्येयभागादिपरिच्छित्तिवृत्तिरात्मनो वेदितव्या। अथ मतमेतत्—यदि संहरणविसर्पणस्वभावो जीवस्तर्हि प्रदीपादिवदेवास्यानित्यत्वं प्राप्नोतीति। तन्न–तथेष्टत्वात्—इष्टमेवास्माभिरात्मन: कार्मणशरीरापादितप्रदेशसंहारविस्तारपर्यायादेशादनित्यत्वमिति। तथा प्रदीपादे: सङ्कोचविकासस्वभावत्वेऽपि रूपद्रव्यसामान्यार्थादेशान्नित्यत्ववदात्मनोऽपि द्रव्यार्थादेशान्नित्यत्वमिष्यते। न च सावयवत्वात्प्रदेशसंहारविसर्पवत् संसारिण: सदेहजीवस्य घटादिवच्छेदनभेदनादिभि: प्रदेशविसरणमस्ति। कुत इति चेदुच्यते—तस्य बन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वमापद्यमानस्यामूर्तस्व-

---

दीपक के प्रकाश के संकोच विस्तार में विरोध नहीं आता। अर्थात् खुले आकाश प्रदेश में रखा हुआ दीपक है उसका प्रकाश उस स्थान में फैल जाने से तत्प्रमाण रूप है और शराव, कुडव, कोठा आदि आवरण युक्त स्थान पर उक्त दीपक को रख दिया जाय तो उसका प्रकाश तत्प्रमाण हो जाता है। ठीक उसीप्रकार प्रदेशों के संकोच और विस्तार के कारण जीव असंख्येय भाग आदि में रहता है ऐसा जानना चाहिये।

शंका—यदि जीव को संहार विसर्प स्वभाव वाला मानते हैं तो प्रदीप के समान वह अनित्य हो जायगा ?

समाधान—यह शंका व्यर्थ है, यह बात इष्ट है, हम जैन जीव को कथंचित् अनित्य मानते हैं। इसीको आगे बतलाते हैं—कार्मण शरीर के द्वारा प्राप्त हुए जो प्रदेश हैं उनमें संकोच विस्तार होने से जीव प्रदेशों में संकोच विस्तार रूप पर्याय होती है उस पर्याय दृष्टि से जीव के अनित्यपना भी स्वीकार किया है। जैसे दीपक आदि पदार्थ संकोच विस्तार स्वभाव वाले होने पर भी रूपी द्रव्य के सामान्यपने से–द्रव्य–दृष्टि से नित्य स्वरूप माने जाते हैं। इसीतरह आत्मा भी द्रव्य दृष्टि से नित्य माना जाता है।

प्रश्न—संसारी जीव शरीर सहित है सावयव होने से जैसे उसमें प्रदेशों का संकोच विस्तार होता है वैसे घट आदि के समान छेदन भेदन आदि द्वारा प्रदेशों का विशरण–बिखेरना–नष्ट होना संभव होगा ?

उत्तर—ऐसा नहीं होता, बन्ध की अपेक्षा जीव और कर्म तथा शरीरादि में एकत्व होने पर भी लक्षण भेद की अपेक्षा अनेकत्व ही है। क्योंकि यह जीव बंधन अवस्था में भी अपने अमूर्त स्वभाव का त्याग नहीं करता है। दूसरी बात यह है कि जीव के

भावापरित्यागात् । किञ्च—द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयवशात्प्रदेशसंहारविसर्पणवत्वस्य सावयवत्वस्य च सद्भावमसद्भावं च प्रत्यनकान्त इति परोक्तसकलदोषाभावः । अत्र कश्चिदाह—यदि पदार्थानां विशेषलक्षणसद्भावान्नानात्वास्तित्वे स्याता तर्हि धर्माधर्मयोः किं विशेषकर तदस्तित्वसाधकं च लक्षणमिति । उपकार इति ब्रूमस्तमेवाह—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

गमनं गतिः । स्थानं स्थितिः । जीवपुद्गलद्रव्याणां बाह्याभ्यन्तरहेतुसन्निधाने सति परिणममानानां देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गतिरित्युच्यते । तेषामेव स्वदेशादप्रच्यवनहेतुर्गतिनिवृत्तिरूपा स्थितिरवगन्तव्या । गतिश्च स्थितिश्च गतिस्थिती । उपग्रहो द्रव्याणां शक्त्यन्तराविर्भावे कारणभाव इत्यर्थः । तस्य च गतिस्थित्योर्भेदात्तत्सामानाधिकरण्याद्भेदसिद्धेर्द्वित्वनिर्देश उपपद्यते । कथं सामानाधि-

---

प्रदेशों में द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा संकोच विस्तार नही होता, और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा होता है, इसप्रकार संकोच विस्तार के प्रति अनेकान्त है अतः परवादी द्वारा दिये गये सकल दोष नहीं आते हैं ।

प्रश्न—सभी पदार्थों के अपने अपने विशेष लक्षणों का सद्भाव होने से वे पदार्थ नाना–पृथक् पृथक् रूप हैं एवं उनका अस्तित्व सिद्ध है । अर्थात् पदार्थों के विशेष लक्षणों से नानापना और अस्तिपना सिद्ध होता है । यदि ऐसी बात है तो धर्म अधर्म के विशेष लक्षण कौनसे हैं जो कि उनके अस्तित्व को सिद्ध करने वाले हैं ?

उत्तर—उनका उपकार ही लक्षण है ऐसा हम कहते हैं अब उसी उपकार को सूत्र द्वारा बताते हैं—

सूत्रार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्य का उपकार क्रमशः गति और स्थिति उपग्रह है।

गमन को गति कहते हैं । स्थान को स्थिति कहते हैं । परिणमनशील जीव और पुद्गल द्रव्यों के बाह्य अभ्यन्तर कारण मिलने पर देश से देशान्तर प्राप्ति का हेतु जो परिणाम है वह गति कहलाती है । उन्हीं जीव पुद्गलों के अपने स्थान से अच्युत के हेतु भूत जो गति निवृत्ति—गति का रुकना है वह स्थिति है । गति और स्थिति पदों में द्वन्द्व समास करना । द्रव्यों के एक शक्ति से दूसरी शक्ति के प्रगट होने में जो कारण भाव है वह उपग्रह कहलाता है । उसके गति और स्थिति के भेद से दो भेद हैं, उपग्रह शब्द का गति स्थिति शब्द के साथ सामान्याधिकरण होने से उपग्रह शब्द में द्विवचन निर्देश बनता है ।

करण्यमिति चेदुपगृह्येते उपग्रहाविति कर्मण्यलो विधानात्तसो गतिस्थिती एवोपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहाविति कर्मधारयः। धर्मश्चाधर्मश्च धर्माधर्मौ तयोर्धर्माधर्मयोः। अत्र करोतिक्रियायाः कर्तृत्व-विवक्षया कर्तरि षष्ठीनिर्देशः। उपकारः कार्यमुच्यते। स चोपकारशब्दः कर्मसाधनः, कर्मणि घञो विधानात्। तस्य सामान्योपक्रमे एकवचननिर्देशः। धर्माधर्मयोः क उपकार इत्युक्ते गतिस्थित्युपग्रहाविति पश्चाद्विशेषसम्बन्धात्। अथवोपग्रहशब्दो भावसाधन–उपग्रहणमुपग्रह इति भावेऽलो विधानात्। तथोपकारशब्दोऽपि भावसाधन–उपकरणमुपकार इति भावे घञो विधानात्। तदा गतिस्थित्योरुपग्रहौ गतिस्थित्युपग्रहाविति षष्ठीलक्षणस्तत्पुरुषः क्रियते। तर्हि भावस्यैकत्वादुपग्रहशब्दादेकवचनं प्राप्नोतीति चेन्न—गतिस्थितिभेदात्तद्भेदसद्भावे द्विवचननिर्देशोपपत्तेः। स च द्विवचननिर्देशो धर्माधर्माभ्यां सह यथासङ्ख्यप्रतिपत्त्यर्थः। एकवचने हि सति यथा भूमिरेकैवाश्वादीनां गतिस्थित्योरुपग्रहे वर्तते

प्रश्न—सामान्याधिकरण्य कैसे हैं ?

उत्तर—"उपगृह्येते इति उपग्रहौ" इसप्रकार विग्रह कर कर्मणि अल् प्रत्यय आकर उपग्रह शब्द बना, पुनः गतिस्थिती एव उपग्रहौ, गतिस्थित्युपग्रहौ" इसप्रकार का कर्मधारय समास (सामान्याधिकरण्य) हुआ है। धर्म अधर्म पदों में द्वन्द्व समास है। यहां पर करोति क्रिया के कर्त्ता की विवक्षा होने से कर्त्तरि षष्ठी विभक्ति "धर्माधर्मयोः" हुई है। कार्य को उपकार कहते हैं। वह उपकार शब्द कर्म साधन अर्थ में निष्पन्न हुआ है, कर्मणि घञ् प्रत्यय आया है। उपकार सामान्य है अतः एक वचन का निर्देश किया है। धर्म अधर्म द्रव्यों का कौनसा उपकार है ऐसा पूछने पर गतिस्थित्युपग्रहौ ऐसा पीछे विशेष संबंध करना अथवा उपग्रह शब्द भावसाधन रूप मानना, "उपग्रहणमुपग्रहः" ऐसे भाव अर्थ में अल् प्रत्यय करना। उपकार शब्द भी भावसाधन है "उपकरणम् उपकारः" इसतरह भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय का विधान है। इसप्रकार दोनों शब्दों को भावसाधन रूप मानते हैं तो "गति स्थित्योः उपग्रहौ" गतिस्थित्युपग्रहौ ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास करना चाहिये।

शंका—यदि उपग्रह शब्द भावसाधन है तो भाव एक रूप होने से उपग्रह शब्द एक वचन को प्राप्त होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना। गति और स्थिति के भेद से उपग्रह में भेद होता है अतः द्विवचन बनता है, वह द्विवचन निर्देश धर्म अधर्म के साथ क्रम से संबंध जोड़ने के लिये है। एक वचन करते तो क्या दोष आता है सो बताते हैं—जैसे भूमि एक

तथा धर्म एक एव जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योरुपग्रहं कुर्यात्तथाऽधर्मोपीत्ययमर्थो गम्येत । न चैवमन्यतरस्य वैयर्थ्यमिति वक्तव्यं लोकेऽनेकसहायकारणदर्शनात् । तेनैतदुक्तं भवति—जीवपुद्गलानां सकृत्स्वयमेव गतिपरिणामिनामप्रेरकबाह्यसाधारणोपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानो धर्मास्तिकायस्तेषामेव स्वयमेव युगपत् स्थितिपरिणामिनां बाह्यसाधारणोपग्रहाश्रयकारणत्वेनानुमीयमानोऽधर्मास्ति कायः। सर्वगतौ चैतौ सर्वत्र तत्कार्यदर्शनादिति । ननूपग्रहोप्युपकार एवोच्यते । ततस्तदर्थस्योपकार वचनेनैव लब्धत्वादुपग्रहवचनमनर्थकम् । तेन गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार इत्यस्तु लघुत्वादिति । सत्यं—यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थमुपग्रहवचनं क्रियते । अन्यथा जीवानामेव गतिपरिणामोपकारो धर्मस्य स्यान्न तु पुद्गलानाम् । पुद्गलानामेव स्थितिपरिणामोपकारस्यादधर्मस्य न तु जीवानामिति यथा-

---

अकेली ही अश्वादि के गति और स्थिति स्वरूप उपग्रह करती है, वैसे एक धर्म द्रव्य ही जीव पुद्गलों के गति स्थिति उपग्रह को करे तथा अधर्म द्रव्य भी अकेला ही उक्त उपग्रह को करे ऐसा अनिष्ट अर्थ संभव होगा ।

प्रश्न—ऐसा अर्थ करने पर तो धर्म और अधर्म में से एक द्रव्य व्यर्थ ठहरेगा ?

उत्तर—व्यर्थ नहीं होगा, क्योंकि लोक में देखा जाता है कि एक कार्य में अनेक सहायक कारण होते हैं । उक्त कथन का भाव यह है कि स्वयं गति क्रिया में परिणत हुए जीव और पुद्गल–दोनों को एक साथ अप्रेरक स्वरूप बाह्य साधारण उपकारक कारणपने से अनुमान से जाना गया धर्मास्तिकाय है और स्वयं एक साथ स्थिति क्रिया में परिणत हुए जीव तथा पुद्गलों के बाह्य में साधारण उपकारक कारणपने से अनुमान से जाना गया अधर्मास्तिकाय है ।

ये दोनों ही सर्वत्र कार्य के देखने से सर्वगत–लोक में व्याप्त हैं ।

शंका—उपग्रह भी उपकार वाचक ही है, अतः उसका अर्थ उपकार शब्द से ही ज्ञात होने से उपग्रह शब्द व्यर्थ है, इसलिये "गति स्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः" ऐसा सूत्र होना चाहिये जिससे वह लघु–(छोटा) हो जाय ?

समाधान—ठीक है । किन्तु यथासंख्य अर्थ न लग जाय इसके लिये उपग्रह शब्द का ग्रहण किया है । यदि उपग्रह शब्द नहीं लेते तो धर्म द्रव्य का गति परिणाम स्वरूप उपकार जीवों के ही सिद्ध होता, पुद्गलों के नहीं । तथा अधर्म द्रव्य का स्थिति परिणाम स्वरूप उपकार केवल पुद्गलों के ही संभव होता जीवों के नहीं ।

सङ्ख्य प्रतीयते । व्याख्यानाविशृसप्रत्यये च गौरवं स्यादिति सुखप्रतिपत्त्यर्थमुपग्रहवचनं कृतम् । तथैव मुच्यते—विवादापन्नाः सकलजीवपुद्गलाश्रयाः सकृद्गतयः साधारणबाह्याप्रेरकनिमित्तापेक्षा युगपद्भाविगतित्वादेकसरःसलिलाश्रयानेकमत्स्यादिगतिवत् । तथा सकलजीवपुद्गलस्थितयः साधारणबाह्याश्रयहेत्वपेक्षा युगपद्भाविस्थितित्वादेककुण्डाश्रयबदरादिस्थितिवत् । यत्तत्साधारणं बाह्यं निमित्तं स धर्मोऽधर्मश्चेति निश्चीयते । न चाकाशं साधारण निमित्तं तद्गतिस्थितीनां सर्वत्र भावादिति वक्तव्यं—तस्यावकाशनिमित्तत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । अथैकमेवाकाशमनेककार्यनिमित्तं भविष्यतीत्युच्यते तर्ह्यनेक सर्वगतकालादिद्रव्यपरिकल्पनमनर्थकतामियात् । यौगपद्यादिप्रत्ययस्य कालकार्यस्य बुद्ध्यादेरात्म-

---

यदि कहा जाय कि यह अर्थ व्याख्यान द्वारा सिद्ध हो जायगा सो भी बात नहीं है क्योंकि इसतरह तो बुद्धि में गौरव होगा [समझने में कठिनाई] अतः सुखपूर्वक अर्थ बोध कराने हेतु उपग्रह पद को सूत्र में लिया है । आगे अनुमान प्रमाण द्वारा धर्म अधर्म द्रव्य की सिद्धि करते हैं—विवाद में स्थित संपूर्ण जीव और पुद्गलों के आश्रय में एक साथ होने वाली गतियां साधारण बाह्य अप्रेरक कारण की अपेक्षा से ही होती हैं, [प्रतिज्ञा] क्योंकि एक साथ गति स्वरूप हैं [हेतु] जैसे एक सरोवर के जल के आश्रय में अनेक मत्स्यादि की गति एक साथ होने से एक साधारण बाह्य कारणभूत जल से होती है । तथा सकल जीव और पुद्गलों की स्थितियां साधारण बाह्य आश्रय भूत कारण की अपेक्षा से होती हैं [प्रतिज्ञा] क्योंकि एक साथ स्थिति रूप हैं [हेतु] जैसे एक कुण्डे के आश्रय में अनेक बेर आदि की स्थिति एक साथ होती है अतः वे कुण्डाश्रित ही माने जाते हैं । जो वह साधारण सा बाह्य निमित्त-कारण या हेतु है वही धर्म और अधर्म द्रव्य है ऐसा निश्चय होता है ।

शंका—जीव और पुद्गल के गति और स्थिति का साधारण निमित्त आकाश है, क्योंकि वह सर्वत्र पाया जाता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, आकाश तो अवकाश दान का निमित्त है, आगे इस बात को कहने वाले हैं ।

शंका—एक ही आकाश द्रव्य गति आदि सर्व कार्यों का निमित्त हो जायगा ?

समाधान—यदि शंकाकार इसतरह कहता है तो अनेक सर्वगत कालादि भिन्न भिन्न द्रव्यों की कल्पना करना व्यर्थ ठहरता है । आप परवादियों के मत में काल,

कार्यस्य इदमित: पूर्वेणेत्यादिप्रत्ययस्यदिक्कार्यस्य अन्वयज्ञानस्य सामान्यकार्यस्य च इहेदमिति प्रत्ययस्य समवायकार्यस्यापि नभोनिमित्तत्वोपपत्तेस्तस्य सर्वत्र सर्वदा सद्भावात्। अथ कार्यविशेषात्कालादि निमित्तभेदव्यवस्थाऽभ्युपगम्यते तर्हि तत एव धर्मादिनिमित्तभेदव्यवस्थाप्यभ्युपगन्तव्या—सर्वथा विशेषाभावात् । किं च धर्माधर्माऽनभ्युपगमे सर्वत्राकाशे सर्वजीवपुद्गलगतिस्थितिप्रसङ्गाल्लोकालोक-व्यवस्था न स्यात्। ततो लोकालोकव्यवस्थाऽन्यथाऽनुपपत्तेर्धर्माधर्मास्तित्वसिद्धि:। नापि कालहेतुका: सर्व जीवपुद्गलगतिस्थितय: कालस्य वर्तनादिहेतुत्वेन व्यवस्थितत्वात् । तर्हि पुण्यापुण्याख्यादृष्टनिमित्ता:

आत्मा, दिशा आदि द्रव्य एवं पदार्थ माने जाते हैं, उन द्रव्यों की एवं पदार्थ की विभिन्न कार्यों से सिद्धि भी करते हैं। जैसे कि अमुक कार्य युगपत् या क्रम से हुए इत्यादि प्रतीति काल द्रव्य का कार्य है इससे काल द्रव्य की सिद्धि होती है, बुद्धि आदि आत्मा के कार्य हैं। यह यहां से पूर्व में है इत्यादि प्रतीति दिशा नाम के द्रव्य का कार्य है। यह गौ है यह भी गौ है इत्यादि रूप अन्वय ज्ञान सामान्य पदार्थ का कार्य है। यह यहां पर है इत्यादि बोध समवाय पदार्थ का कार्य है। ऊपर कहे हुए सर्व ही कार्य एक मात्र आकाश द्रव्य के निमित्त से होते हैं ऐसा आपको मानना चाहिये ? क्योंकि आकाश हमेशा सर्वत्र रहता है।

शंका—विशेष कार्य को देखकर काल द्रव्यादि विभिन्न निमित्तों की व्यवस्था स्वीकार करते हैं ?

समाधान—तो फिर विशेष कार्य को देखकर धर्म द्रव्यादि विभिन्न निमित्तों की व्यवस्था भी अवश्य स्वीकार करना चाहिये, दोनों पक्ष एवं हेतुओं में कोई विशेषता नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि यदि धर्म अधर्म द्रव्य स्वीकार नहीं करते तो आकाश सर्वत्र होने से सभी जीव एवं पुद्गल सारे आकाश में गति स्थिति करेंगे, और उससे लोक अलोक की व्यवस्था समाप्त हो जायगी। लोक अलोक व्यवस्था की अन्यथानुपपत्ति से ही धर्म अधर्म द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है। कोई कहे कि सर्व जीव पुद्गलों की गति और स्थिति काल के निमित्त से होती है, तो यह मान्यता भी ठीक नहीं है, क्योंकि काल द्रव्य तो वर्त्तना परिणाम आदि का निमित्त है, गति आदि का नहीं।

शंका—गमन और स्थान स्वरूप परिणमन करने वाले पदार्थों की गति और स्थिति पुण्य पाप नाम के अदृष्ट द्वारा होती है ?

सन्तु गमनस्थानपरिणामिपदार्थगतिस्थितय इति चेन्न—पुद्गलानामदृष्टाभावात्तासामभावप्रसक्तेः। ये यदात्मोपभोग्याः पुद्गलास्तद्गतिस्थितयः सदात्माऽदृष्टनिमित्ता इति चेत्तर्ह्यसाधारणं निमित्तंदृष्टं तासां स्यात्प्रतिनियतात्माऽदृष्टस्य प्रतिनियतद्रव्यगतिस्थितिहेतुत्वसिद्धेः न च सर्वथा तदनिष्टं तासां जलपृथिव्यादेरिव दृष्टगतिस्थितिनिमित्तस्याप्यसाधारणस्यापीष्टत्वात् । साधारणं तु सहकारिकारणं धर्मोऽधर्मश्चैव । ततः प्रमाणसिद्धजीवपुद्गलसाधारणगतिस्थित्यन्यथानुपपत्तेर्धर्माधर्मयोः प्रसिद्धिरित्यलमतिविस्तरेण । आकाशस्योपकारः कोऽस्तित्वसाधन इत्याह—

समाधान—यह कथन गलत है, देखिये ! पुद्गल तो अचेतन जड़ पदार्थ है उसके पुण्य पाप रूप अदृष्ट नहीं होता, इसलिये फिर उसकी गति स्थिति ही नहीं हो सकेगी । भाव यह है कि पुण्य पाप जड़ के होते नहीं । आपने गति आदि का कारण पुण्य पाप को माना, अतः जड़ स्वरूप पुद्गलों के गति आदि होने का अभाव हो जायेगा ।

शंका—जो पुद्गल जिस आत्मा के उपभोग्य होते हैं उनकी गति स्थिति उस आत्मा के अदृष्ट के निमित्त से हो जाया करती है ?

समाधान—यदि ऐसी बात है तो उन गति और स्थिति का अदृष्ट असाधारण निमित्त हुआ ? क्योंकि प्रतिनियत [निश्चित अपने अपने एक एक] आत्मा के अदृष्ट के निमित्त से प्रतिनियत द्रव्य की गति और स्थिति होती है ऐसा सिद्ध होता है [अर्थात् अदृष्ट को यदि गति स्थिति का असाधारण कारण मान लिया तो वह प्रतिनियत आत्मा में ही रहेगा सर्व साधारण स्वरूप नहीं] इस तरह की बात हम जैन को सर्वथा अनिष्ट नहीं है, क्योंकि हम जैन ने गति और स्थितियों का असाधारण कारण जल पृथिवी आदि के सदृश भी माना है जो कि प्रत्यक्ष रूप से गति और स्थितियों का निमित्त है । किन्तु बात यहां साधारण सहकारी कारण—निमित्त की है गति और स्थिति का साधारण निमित्त तो धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य ही है ।

अतः अनुमान प्रमाण से धर्म और अधर्म की सिद्धि होती है—प्रमाण भूत जो जीव और पुद्गल द्रव्य हैं उनके गति और स्थिति का साधारण निमित्त धर्म अधर्म द्रव्य ही है क्योंकि अन्य कोई सर्व साधारण निमित्त उपलब्ध नहीं होता ।

अब इस विषय से विराम लेते हैं ।

प्रश्न—आकाश के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला कौनसा उपकार है ?

उत्तर—इसको सूत्र द्वारा कहते हैं—

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

आकाशशब्दो व्याख्यातार्थः। अवगाहोऽनुप्रवेश इत्यर्थः। अवगाहशब्दस्तु भावसाधनोऽवगाहनमवगाह इति। असर्वगतद्रव्याणां परस्परमनुप्रवेशनक्रियायाः स्वयं कर्तृभावमास्कन्दतां सर्वावकाशदानसमर्थाकाशे योऽवगाहः कार्यं तदाकाशस्यास्तित्वं साधयतीति समुदायार्थः। तथाहि—युगपत्सर्वद्रव्यावगाहः साधारणकारणापेक्षः सर्वसाधारणावगाहनत्वान्यथानुपपत्तेः। यच्च बाह्यमप्रेरक साधारणकारणं तदाकाशमवबोद्धव्यम्। अथ मतमेतत्—मधुनि सर्पिषोऽवगाहो, भस्मनि जलस्यावगाहो, जले चाश्वादेरवगाहो यथा दृष्टस्तथैवालोकतमसोरशेषार्थावगाहघटनान्नास्मादाकाशं सिध्यतीति। तन्न युक्तिमत्—आलोकतमसोरपि नभसोऽसम्भवेऽवगाहानुपपत्तेः। शब्दात्तद्‌गुणादाकाशसिद्धिर्भविष्यतीति

सूत्रार्थ—आकाश द्रव्य का उपकार सर्व द्रव्यों को अवगाह देना है।

आकाश शब्द का अर्थ बतला दिया है। अनुप्रवेश को अवगाह कहते हैं। अवगाह शब्द भाव साधन है अवगाहनं अवगाहः। परस्पर में अनुप्रवेश रूप क्रिया के कर्त्तापन को स्वयं प्राप्त होने वाले असर्वगत द्रव्यों का सर्व को अवकाश दान देने में समर्थ ऐसे आकाश में जो अवगाह रूप कार्य होता है वह अवगाह कार्य आकाश के अस्तित्व को सिद्ध करता है ऐसा समुदाय अर्थ जानना। आगे इसी को बतलाते हैं—एक साथ सर्व द्रव्यों का जो अवगाह देखा जाता है वह सर्व साधारण कारण की अपेक्षा रखता है [प्रतिज्ञा] क्योंकि अन्यथा सर्व साधारण अवगाह बन नहीं सकता [हेतु] यह जो बाह्य अप्रेरक साधारण कारण है वह आकाश है इसप्रकार अनुमान प्रमाण जानना चाहिये।

शंका—मधु में [शहद में] घी का अवगाह जैसे देखा जाता है, अथवा जैसे राख में जल का अवगाह, जल में अश्वादि का अवगाह देखा जाता है वैसे प्रकाश और अंधकार में सम्पूर्ण पदार्थों का अवगाह होता है। इसलिये अवगाह की अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु से आकाश द्रव्य की सिद्धि करना अयुक्त है?

समाधान—यह बात असत् है, यदि आकाश नहीं होगा तो प्रकाश और अन्धकार का अवगाह भी नहीं हो सकता अथवा प्रकाश और अन्धकार में जो अवगाह देखा जाता है वह आकाश के बिना हो ही नहीं सकता।

शंका—आकाश की सिद्धि आकाश के शब्द नाम के गुण द्वारा होगी?

चेन्न—तस्य पुद्गलपर्यायत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । स्यान्मतं ते—यथा जलमवगाहते हंस इत्यत्र गमनपरिणतस्य हंसस्य जलावगाहन क्रियायाः कर्तृत्वोपपत्तेर्जलहंसयोरनादिः सम्बन्धो नास्ति । तथाकाशं धर्माधर्मावगाहेते इत्यभ्युपगमादनादिसम्बन्धो निवर्तत इति । तन्न युक्तम् । किं कारणम् ? निष्क्रियत्वादनयोरुक्तावगाहस्यौपचारिकत्वात् कुतस्तह्युपचार इति चेद्व्याप्तिसद्भावादाकाशस्य सर्वगतत्ववत् । यथा गमनाभावे सर्वगतमाकाशमित्युच्यते व्याप्तिसद्भावात्तथा मुख्यावगाहनाभावेऽपि लोकाकाशे सर्वत्र व्याप्तिदर्शनाद्व्यवह्रियते धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाह इति । अथ मतमेतत्—युतसिद्धानां लोके आधाराधेयभावो दृष्टो यथा कुण्डबदरादीनाम् । आकाशधर्माधर्माः पुनरयुतसिद्धा अप्राप्तिपूर्वकप्राप्त्यभावात् । तस्मादेषामाधाराधेयभावो नोपपद्यत इति । तदयुक्तम् । किं कारणम् ? तत्राप्याधाराधेय

समाधान—नहीं होगी । क्योंकि शब्द आकाश का गुण नहीं है वह तो पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, इस बात को आगे कहेंगे ।

शंका—हंस जल में अवगाह लेता है अथवा रहता है इसमें गमन में परिणत हंस के जलावगाहन क्रिया का कर्तृत्व बन जाता है, क्योंकि जल और हंस में अनादि का संबंध नहीं है । किन्तु आकाश में धर्म अधर्म अवगाह लेते हैं–रहते हैं, ऐसा यदि स्वीकार करेंगे तो उनका अनादि संबंध खण्डित होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना । धर्म अधर्म द्रव्य निष्क्रिय हैं, उक्त अवगाह को उपचार से माना है । अर्थात् धर्म अधर्म आकाश में रहते हैं ऐसा कहना औपचारिक है।

प्रश्न—यह उपचार किस कारण से माना है ?

उत्तर—क्योंकि धर्म अधर्म लोक में व्याप्त होकर स्थित हैं, आकाश को जैसे सर्वगत कहते हैं । अर्थात् गमन का अभाव होने पर भी आकाश सर्वगत है ऐसा कहते हैं क्योंकि उसकी सर्वत्र व्याप्ति देखी जाती है, वैसे ही मुख्यतया अवगाहन नहीं होने पर भी लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्ति देखकर व्यवहार से कहते हैं कि धर्म अधर्म का अवगाह लोकाकाश में है ।

शंका—लोक में युतसिद्ध पदार्थों का आधार आधेय भाव देखा जाता है, जैसे कुण्ड में बेर आदि का आधार आधेय भाव होता है । आकाश, धर्म और अधर्म ये पदार्थ तो अयुत सिद्ध हैं, क्योंकि इनमें अप्राप्ति पूर्वक प्राप्ति नहीं होती । इस कारण से उन आकाशादि का आधार आधेय भाव सुघटित नहीं हो सकता ?

भावस्य दर्शनात् । यथा युतसिद्ध्यभावेऽपि पाणौ रेखा घटे रूपमित्यादिष्वाधाराधेयभावो दृष्टस्तथा लोकाकाशे धर्माधर्मावित्यादिष्वप्याधाराधेयभावसिद्धिर्न विरुध्यते । किं चानेकान्तात्तत्सिद्धिर्वेदितव्या । तद्यथा—पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिक प्राधान्याद्व्ययोत्पादाभावे स्यादनादिसम्बन्धावयुतसिद्धौ च धर्माधर्मौ । द्रव्यार्थिकगुणभावे पर्यायार्थिकप्राधान्यात्पर्यायाणां व्ययोदयसद्भावात्स्याद्नादि सम्बन्धौ नायुतसिद्धौ चेत्यादि योज्यम् । ततः कथंचिदेवावगाह आधाराधेयभावस्य सिद्धो भवति । जीवपुद्गलानां तु सक्रियत्वान्मुख्योऽवगाहो वेदितव्यो यथा जले हंसस्येति । स्यान्मतं ते—यद्याकाशस्यावकाशदानसामर्थ्यमस्ति तर्हि तस्य सर्वत्र भावान्मूर्तानां परस्परप्रतिघातो न स्यात् । दृश्यते च वज्रादिभिर्लोष्टानां भित्यादिभिश्च गवादीनाम् । ततोऽस्यावकाशदानसामर्थ्यं हीयत इति । तन्न युक्तं—स्थूलानामन्योन्यप्रतिघातोपपत्तेः । स्थूला हि परस्परतः प्रतिहन्यन्ते न सूक्ष्मास्तेषामन्योन्य-

---

समाधान—यह कथन अयुक्त है । अयुत सिद्ध पदार्थों में भी आधार आधेय भाव देखा जाता है । इसीको बतलाते हैं— जैसे हाथ में रेखा है, घट में रूप है इत्यादि में युत सिद्धि नहीं है तो भी आधार आधेय भाव मानते ही हैं । इसीतरह लोकाकाश में धर्म अधर्म हैं, इत्यादि में आधार आधेय सिद्ध होता है, इसमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है । तथा यह भी है कि आधार आधेय भाव अनेकान्त से सिद्ध होता है । कैसे सो ही बतलाते हैं—पर्यायार्थिक नय को गौण करके द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता से उत्पाद व्यय नहीं होने से धर्म अधर्म द्रव्य अनादि संबंध वाले अयुत सिद्ध हैं । तथा द्रव्यार्थिकनय को गौण करके और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से पर्यायों में उत्पाद व्यय का सद्भाव होने से ये धर्म अधर्म द्रव्य अनादि संबंध वाले नहीं हैं और अयुत सिद्ध भी नहीं हैं । इसप्रकार लगाना चाहिये । अतः आधार आधेय भाव का अवगाह कथंचित् ही सिद्ध होता है । हां ! जीव और पुद्गल द्रव्य सक्रिय (क्रियावान्) हैं इसलिये उनमें मुख्य अवगाह जानना चाहिये, जैसे जल में हंस का अवगाह मुख्य है ।

शंका—यदि आकाश में अवकाश दान की सामर्थ्य है तो आकाश सर्वत्र है अतः मूर्त्तिक पदार्थों का परस्पर में घात नहीं होना चाहिये । किन्तु उनका घात देखा जाता है । वज्रादि के द्वारा लोष्ट का एवं दिवाल आदि से गौ अश्व आदि का घात–रुकना देखने में आता ही है ? इस कारण उस आकाश के अवकाश दान का सामर्थ्य सिद्ध नहीं होता ।

समाधान—यह कथन अयुक्त है । स्थूल पदार्थों का परस्पर में घात संभव है । क्योंकि स्थूल पदार्थ आपस में प्रतिघात करते हैं किन्तु सूक्ष्म पदार्थ ऐसे नहीं हैं, उनमें

प्रवेशशक्तियोगान्न तस्य तावतावकाशदानसामर्थ्यं हीयत इति । तर्ह्यलोकाकाशेऽवगाहिनामभावादव-गाहस्य तल्लक्षणस्याभावस्तदभावाच्च लक्ष्यस्य नभसोप्यभावप्रसङ्गः इति चेन्न–स्वभावापरित्यागात् । यथा हंसस्यावगाहकस्याभावेप्यवगाहत्वं जलस्य न हीयते तथाऽवगाहिनामभावेऽपि नालोकाकाशस्या-वकाशदानसामर्थ्यहानिरित्यलमतिप्रपञ्चेन । उपकारप्रकरणाभिसम्बन्धेन शरीराद्यारम्भकसूक्ष्मपुद्-गलास्तित्वसिद्धिनि बन्धनं कार्यमाह—

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १६ ॥

शरीरं च वाक्च मनश्च प्राणश्चापानश्च शरीरवाङ्मन प्राणापानाः । उपकार इत्यनुवर्तते । ततश्च वक्ष्यमाणलक्षणानां पुद्गलानामुपादानसहकारिरूपाणां शरीरादयः कार्यरूपा अस्तित्वं साधय-

---

परस्पर में प्रवेश करने की शक्ति रहती है । स्थूल पदार्थ के आपस में घात करने मात्र से कोई आकाश की अवकाश दान शक्ति नष्ट नहीं होती ।

शंका—इसप्रकार आकाश में सर्वथा अवकाश दान शक्ति मानते हैं तो आलोका-काश में अवगाह लेने वाले जीवादि द्रव्यों का अभाव होने के कारण अवगाह लक्षण का अभाव होगा और उससे लक्ष्यभूत आकाश के अभाव का भी प्रसंग प्राप्त होता है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि अलोकाकाश में स्वभाव का त्याग नही है, देखिये ! जैसे अवगाहक–अवगाह लेने वाले हंस का अभाव होने पर भी जल का अव-गाहत्व नाम का स्वभाव नष्ट नहीं होता, ठीक ऐसे ही अवगाह लेने वाले जीवादि के अभाव होने पर भी अलोकाकाश का अवकाशदान सामर्थ्य नष्ट नहीं होता । इस विषय का अब अधिक विस्तार नहीं करते ।

उपकार का प्रकरण चल रहा है उसके संबंध में अब शरीर आदि के उत्पत्ति के कारणभूत जो सूक्ष्म पुद्गल हैं उनके अस्तित्व को सिद्ध करने में जो हेतु है, उस उप-कार कार्य को कहते हैं अर्थात् पुद्गलों के कार्यभूत उपकार को बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास ये पुद्गलद्रव्य के उपकार हैं ।

शरीर आदि पदों में द्वन्द्व समास जानना । उपकार शब्द का अनुवर्त्तन है । उससे जिनका लक्षण आगे कहेंगे और जो उपादान तथा सहकारी कारण स्वरूप हैं ऐसे पुद्गलों के अस्तित्व को कार्य रूप शरीरादि पदार्थ सिद्ध करते हैं । यह संक्षेप

न्तीति संक्षेपः। तद्विस्तरः पुनरयमुच्यते—तत्र शरीराण्यौदारिकादीनि स्थूलसूक्ष्माणि प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूपाणि पञ्चोक्तानि। तत्र च यानीन्द्रियप्रत्यक्षाणि तत्र विवादाभावान्न तदर्थोयं सूत्रारम्भः, किं तर्हि— जीवं प्रत्युपकारजनकसूक्ष्मपुद्गलसिद्ध्यर्थः। तथाहि—शरीरं तावत्पुद्गलकार्यं स्पर्शादिमत्त्वाद्घटादि-वत्। अथ मतमेतत्—कार्मणं शरीरमपौद्गलिकमनाकारत्वादिति। तदयुक्तं—मूर्तिमत्सम्बन्धेन विपच्य मानत्वाद्व्रीह्यादिवत्। यथा व्रीह्यादीनामुदकादिद्रव्यसम्बन्धप्रापितपाकानां पौद्गलिकत्वं दृष्टं तथा कार्मणमपि गुडकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात्पौद्गलिकमित्यवसीयते। न ह्यमूर्तं किंचिन्मूर्तिमत्सम्बन्धे सति विपच्यमानं दृष्टमिति। वाग्द्विविधा—भाववाग्द्रव्यवाक्चेति। तत्र भाववाक् चेतनपर्यायरूपा वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणपुद्गलाङ्गोपाङ्गनामपुद्गललाभनिमित्तत्वादुपचारतः पौद्गलिकी—पुद्गलस्य निमित्तस्याभावे तद्वृत्त्यभावात्। भाववचनसामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना

कथन है। इसीको आगे विस्तार पूर्वक कहते हैं—प्रत्यक्ष परोक्षरूप स्थूल सूक्ष्म औदा-रिक आदि पांच शरीर होते हैं जिनको कि पहले कह आये हैं [२ अ. सू. ३६] उन शरीरों में जो शरीर इन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं उनमें तो विवाद नहीं है अतः उनके कथन के लिये यह सूत्र प्रारंभ नहीं हुआ है, किन्तु जीव के प्रति जो उपकार का जनक है उस सूक्ष्म पुद्गल रूप शरीर की सिद्धि के लिये यह सूत्र प्रारंभ हुआ है। इसीको अनुमान से सिद्ध करते हैं—शरीर तो पुद्गल द्रव्य का कार्य है, क्योंकि स्पर्शादि मान है, जैसे घट आदि पदार्थ स्पर्शादिमान होने से पुद्गल के कार्य हैं।

शंका—कार्मण शरीर पौद्गलिक नहीं है क्योंकि अनाकार है ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है, कार्मण शरीर मूर्त्तिमानके संबंध से फलता है, व्रीहि आदि के समान अर्थात् जैसे व्रीहि—चावल आदि धान्य जल आदि द्रव्य के संबंध से पकते हैं अतः व्रीहि आदि पौद्गलिक हैं वैसे कार्मण भी गुड़ काटा आदि मूर्त्तिक द्रव्यों के संबंध होने पर पकता है अतः कार्मण मूर्त्तिमान है। कोई ऐसा पदार्थ नहीं देखा गया है कि जो अमूर्त्त हो और मूर्त्तिक के संबंध से पकता हो। वाक्–[वाणी–वचन] दो प्रकार की है–भाव वाग् और द्रव्य वाग्। उनमें भाववाग् चेतन पर्याय रूप है। इसमें वीर्या-न्तराय, मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण कर्मों का क्षयोपशम निमित्त है तथा पुद्गल विपाकी अंगोपांग नाम का उदय निमित्त है, इन निमित्तों की दृष्टि से भाववाग् उप-चार से पौद्गलिक कही जाती है। पुद्गल का निमित्त हट जाने पर भाववाग् नहीं होती। भाववाग् के सामर्थ्य से युक्त क्रियावान आत्मा द्वारा प्रेरित हुए पुद्गल वचन

प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति पुद्गलोपादाना द्रव्यवाक्कथ्यते। तथा हि—द्रव्यवाक्पुद्गलपर्यायः सामान्यविशेषत्वे सति बाह्येन्द्रियविषयत्वाद्गन्धादिवत्। बाह्येन्द्रियं तु वाचो ग्राहक श्रोत्रमेव न चक्षुरादि। यथा घ्राणग्राह्ये गन्धद्रव्ये तदविनाभाविनः सन्तोऽपि रसादयो घ्राणेन नोपलभ्यन्ते तथा श्रोत्रविषयः शब्दोऽपि शेषेन्द्रियैर्न गृह्यते। पुनः कस्माद्वाङ्न गृह्यत इति चेन्न—विशीर्णत्वात्तडिद्द्रव्यवत्। यथा तडिद्द्रव्यं चक्षुषोपलब्धं विष्वग्विशीर्णत्वात् पुनर्न दृश्यते तथा श्रोत्रेणोपलब्धा वागपि विष्वग्विशीर्णा पुनर्न श्रूयत इत्यदोषः। स्यान्मतं ते—अमूर्तः शब्दोऽमूर्ताकाशगुणत्वादिति। तन्न। किं कारणम्? मूर्तिमद्ग्रहणप्रेरणावरोधदर्शनात्। मूर्तिमता तावदिन्द्रियेण शब्दो गृह्यते। न वामूर्तः कश्चिदिन्द्रियग्राह्योऽस्ति। प्रेर्यते च मूर्तिमता पवनेनार्कतूलराशिवत् दिगन्तरस्थन

रूप परिणमन कर जाते हैं वे पुद्गल रूप वचन द्रव्य वाक् कहलाती है। द्रव्यवाग् पुद्गल रूप है इस बात को अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं—द्रव्यवाग् पुद्गल की पर्याय है [प्रतिज्ञा] क्योंकि वह सामान्य विशेष रूप होकर बाह्येन्द्रिय का [कर्णेन्द्रिय का] विषय है [हेतु] जैसे गंधादिक पदार्थ बाह्येन्द्रिय का विषय होने से पुद्गल हैं। वचन का ग्राहक बाह्येन्द्रिय तो कर्ण है चक्षु आदि इन्द्रिय वचन को ग्रहण नहीं करती, जैसे कि घ्राण द्वारा ग्राह्य गंध द्रव्य में उस गंध के अविनाभावी रसादिक विद्यमान रहते हुए भी घ्राण द्वारा ग्रहण नहीं होते। वैसे श्रोत्र का विषयभूत शब्द भी शेष इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता।

प्रश्न—वचन, वाणी या वाग् को एक बार ग्रहण करने के बाद पुनः उसका ग्रहण क्यों नहीं होता ?

उत्तर—वह बिजली के समान विशीर्ण हो जाती है। अर्थात् जैसे बिजली नामा वस्तु नेत्र द्वारा उपलब्ध होकर सकल रूप से नष्ट हो जाती है वह पुनः नहीं दिखायी देती, वैसे कर्ण द्वारा उपलब्ध हुई वाग् भी सकल रूप से विशीर्ण–नष्ट हो जाती है, वह पुनः सुनायी नहीं देती। इसतरह इसमें दोष नहीं है।

शंका—शब्द अमूर्त्त होता है, क्योंकि वह अमूर्त्त आकाश का गुण है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, शब्द मूर्त्तिक द्वारा ग्रहण होता है, वह मूर्त्तिक से प्रेरित होता है एवं मूर्त्तिक द्वारा रुक भी जाता है। देखिये ! मूर्त्तिमान इन्द्रिय द्वारा शब्द ग्रहण किया जाता है, जो अमूर्त्त होता है वह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता। तथा शब्द मूर्त्तिक वायु द्वारा प्रेरित होकर अर्कतूल के समान [आकड़े की रुई के

ग्राह्यत्वात् । न चामूर्तस्य मूर्तिमता प्रेरणं युज्यते । अवरुध्यते च शब्दः तृणबिलादिभिः कुल्याजलवत् । न चामूर्तं किंचिन्मूर्तिमताऽवरुध्यमानं दृष्टम् । तथा स्पर्शवद्द्रव्याभिघाताच्छब्दान्तरानारम्भाभ्युपगमान्मुख्यावरोधसिद्धेः शब्दस्य मूर्तत्वसिद्धिः । तारकादिवदभिभवादिदर्शनाच्च मूर्तः शब्दोऽवगन्तव्यः । यथा तारकादयो भास्करप्रभाभिभवान्मूर्तिमन्तो दृष्टास्तथा सिंहगजभेर्यादिशब्दैर्बृहद्भिः शकुनिरुतादयोऽभिभूयन्ते । तथा कंसादिषु पतिताः शब्दा ध्वन्यन्तरारम्भे हेतवो भवन्ति । गिरिगह्वरादिषु च प्रतिहताः प्रतिशब्दभावमास्कन्दन्ति । अथाऽमूर्तस्यापि विज्ञानस्य मूर्तिमद्भिः सुरादिभिरभिभवो दृश्यते । ततो ज्ञानेन प्रकृतहेतोर्व्यभिचार इत्युच्यते । तदप्ययुक्तं—विज्ञानस्यापि क्षायोपशमिकस्य कथञ्चिन्मूर्तत्वाभ्युपगमात् । अन्यथाऽऽकाशवत्तस्याभिभवाघटनात् । मनोऽपि द्वेधा–भावमनो

समान] अन्य दिशा में स्थित व्यक्ति द्वारा ग्रहण में आ जाता है । जो अमूर्त्त है उसकी मूर्त्तिक द्वारा प्रेरणा होना शक्य नहीं है । शब्द तृण बिल आदि के द्वारा रोका भी जाता है जैसे नहर का जल रोका जाता है । कोई अमूर्त्तिक पदार्थ ऐसे किसी मूर्त्तिक से रोका जाता हुआ देखा नहीं गया है ।

तथा परवादियों ने माना है कि स्पर्श वाले द्रव्य के अभिघात से शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न नहीं करता । इससे तो शब्द में मुख्य रूप अवरोध रुकावट सिद्ध होता है । और रुकावट सिद्ध होने से मूर्त्तपना भी सिद्ध हो जाता है । तथा तारे आदि के समान शब्द का अभिभव आदि देखा जाने से उसको मूर्त्तिक ही मानना चाहिये । जैसे तारे आदि सूर्य की प्रभा से अभिभूत होने से मूर्त्तिमन्त हैं वैसे सिंह, गज, भेरी आदि के तीव्र शब्दों द्वारा पक्षी आदि के मन्द शब्द अभिभूत होते हैं । तथा कांसे आदि के गिरने से उत्पन्न हुए शब्द दूसरे ध्वनि को उत्पन्न करने में कारण होते हैं । गिरि गुफा आदि स्थानों में टकराये हुए शब्द प्रतिशब्द को प्राप्त होते देखे जाते हैं । इससे शब्द का मूर्त्तपना भलीभांति सिद्ध होता है ।

शंका—विज्ञान अमूर्त्त है फिर भी उसका मूर्त्तिक मदिरा आदि से अभिभव देखा जाता है, अतः आपने जो कहा कि शब्द अमूर्त्त होता तो मूर्त्तिक से अभिभूत नहीं होता इत्यादि, सो यह कथन विज्ञान से व्यभिचरित होता है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है । हम जैन ने क्षायोपशमिक विज्ञान को कथंचित् मूर्त्त माना है । यदि विज्ञान सर्वथा अमूर्त्त होता तो आकाश के समान उसका अभिभव नहीं होता ।

द्रव्यमनश्चेति । भावमनो लब्ध्युपयोगलक्षणं चेतनपर्यायः । तदपि पुद्गलात्मकमनोवर्गणालम्बनत्वात्पौद्गलिकम् । द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्यया गुणदोषविचारस्मरणादि प्रणिधानाभिमुख्यस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गलावीर्यविशेषावर्जनसमर्थाः मनस्त्वेन परिणता इति कृत्वा पौद्गलिकम् । किंच द्रव्य मनः पुद्गलकार्यं द्रव्यकरणत्वेन ज्ञानसाधनत्वाच्चक्षुरादिवदिति । युक्तिबलाच्चास्य पौद्गलिकत्वसिद्धिः । वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयापेक्षेणात्मना उदस्यमानः कोष्ठचो वायुरुच्छ्वासलक्षणः प्राण इत्युच्यते । तेनैवात्मना बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निःश्वास लक्षणोऽपान इत्याख्यायते । एतावप्यात्मानुग्राहिणौ जीवितहेतुत्वात् । तथा मनसः प्राणापानयोश्च मूर्तिमत्वं प्रतिघातादिदर्शनात् । मनसस्तावत्प्रतिभयहेतुभिरशनिशब्दादिभिः प्रतिघातो दृश्यते सुरादिभिश्चाभिभवः । हस्तपादादिभिरास्यसंवरणात्प्राणापानयोः प्रतिघात उपलभ्यते

मन दो प्रकार का है—भाव मन और द्रव्यमन । लब्धि और उपयोग रूप भावमन चेतन पर्याय स्वरूप है । पुद्गलात्मक मनोवर्गणा के अवलंबन लेने से इसको कथंचित् पुद्गल रूप मानते हैं । ज्ञानावरण व वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से जो प्राप्त होते हैं तथा गुण दोष के विचार करने में एवं स्मरण आदि के प्रणिधान के संमुख हुए आत्मा के जो अनुग्राहक हैं ऐसे पुद्गल वीर्य विशेष में समर्थ हुए मन स्वरूप परिणमन करते हैं अर्थात् मनोवर्गणा रूप पुद्गलद्रव्य द्रव्यमन रूप परिणत होता है अतः द्रव्य मन पौद्गलिक है ही ।

अनुमान से भी यही बात सिद्ध होती है—द्रव्यमन पुद्गल का कार्य है [पक्ष] क्योंकि वह द्रव्यकरण–[द्रव्येन्द्रिय] होकर ज्ञान का साधन है [हेतु] जैसे चक्षु आदि द्रव्येन्द्रियां पुद्गल का कार्य होती हैं और ज्ञान का साधन होती हैं । युक्ति से भी द्रव्यमन पौद्गलिक सिद्ध होता है ।

वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नाम कर्म के उदय से आत्मा द्वारा कोठे की [उदर की] वायु बाहर निकाली जाती है वह उच्छ्वास नाम का प्राण है । तथा उसी आत्मा के द्वारा बाहर की वायु अंदर ली जाती है वह निःश्वास लक्षण वाला अपान है । ये दोनों ही आत्मा के जीवित का हेतु होने से अनुग्राहक हैं । मन, प्राण और अपान ये तीनों मूर्त्तिक हैं क्योंकि इनका प्रतिघात आदि देखा जाता है । प्रतिभव के कारण भूत बिजली वज्र आदि के शब्द से मन का प्रतिघात होता है, तथा उसका मदिरा आदि से अभिभव भी होता है । हस्त पाद आदि

श्लेष्मणा चाभिभवः । न चामूर्तस्य मूर्तिमद्भिः प्रतिघातादयो भवेयुः । तथा प्राणापानौ पुद्गलारब्धौ स्पर्शवत्त्वाद्घटादिवदित्यनुमानाच्च प्राणापानयोः पौद्गलिकत्वसिद्धिः । प्राण्यंगत्वादेकवद्भावः प्राप्नोति शरीरादिपदानामिति चेन्न—अङ्गाङ्गिद्वन्द्वे तदभावात् । सांसारिकसुखादिकार्यत्वं च पुद्गलानां प्रतिपादयन्नाह—

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

द्रव्यादिबाह्यप्रत्ययवशादन्तरङ्गसद्वेद्यकर्मोदयाच्चात्मनः प्रीतिरूपः प्रसादः सुखमित्याख्यायते। बाह्यद्रव्यादिकारणवशादन्तरङ्गाऽसद्वेद्यकर्मोदयाच्चात्मपरिणामः सङ्क्लेशप्रायो दुःखमिति कथ्यते। भवधारणकारणायुराख्यकर्मोदयापादितां भवस्थितिमादधानस्य जीवस्य पूर्वोक्तप्राणापानलक्षणस्य

के द्वारा मुख को ढ़क देने से [तथा नाक को ढ़क देने से] प्राण और अपान का प्रतिघात होता है और श्लेष्मा–कफ से उसका अभिभव भी देखा जाता है। अमूर्त्त का मूर्तिक द्वारा प्रतिघातादिक होना संभव नहीं है। अनुमान प्रमाण भी है कि प्राण और अपान पुद्गल से निष्पन्न हैं, [पक्ष] क्योंकि वे स्पर्शवान हैं जैसे घटादिक स्पर्शवान् होने से पुद्गल निष्पन्न हैं। इससे भी प्राण अपान पौद्गलिक सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—शरीर वाङ् मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ इस सूत्र में शरीर वाङ् मनः प्राणापानाः ॥ जो पद है उसमें शरीरादिक प्राणी के अंग हैं, और अंगवाचक पदों का एकवत् भाव–समाहार द्वन्द्व समास होने से अन्त में एकवचन [नपुंसकलिंग का] होगा ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। शरीरादि पद अंग अंगी वाचक होने से एकवत् भाव नहीं होता है।

सांसारिक सुखादिक पुद्गल का कार्य है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—सुख, दुःख जीवन और मरण ये भी पुद्गल द्रव्यों के उपकार हैं।

द्रव्य, क्षेत्र आदि बाह्य कारणों से तथा अन्तरंग में साता वेदनीय कर्म के उदय होने से आत्मा के जो प्रीतिरूप प्रसाद है वह सुख कहलाता है। बाह्य में द्रव्यादि कारण से तथा अंतरंग में असाता कर्म के उदय से आत्मा में जो संक्लेश बहुल परिणाम होता है उसे दुःख कहते हैं। भवधारण का कारण आयु है उस आयु कर्म के उदय से भवस्थिति को धारण करने वाले जीव के पूर्वोक्त प्राणापान लक्षण रूप क्रिया विशेष का

क्रियाविशेषस्याऽविच्छेदो जीवितमिति परिभाष्यते । तस्यैव जीवितस्योच्छेदो जीवस्य मरणमित्युच्यते । सुखं च दुःखं च जीवितं च मरणं च सुखदुःखजीवितमरणानि । तान्येवोपग्रहः कार्यं सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहः । केषामिति प्रश्ने पुद्गलानामिति प्रकृतमेवाभि सम्बन्ध्यते । यदा सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्चेति पाठान्तर तदा सुखादीन्युपग्रहो येषां ते सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहा इत्यर्थवशाद्विभक्तिपरिणामेन सदसद्वेद्यायुःकर्मपुद्गलाः सुखाद्युपग्रहाश्च भवन्तीति व्याख्यायते । ननु प्रकृतमुपग्रह वचनमस्ति तेन शरीरवाङ्मनःप्राणापानैरचेतनैः सुखदुःखजीवितमरणैश्च चेतनात्मकैः कार्यविशेषैः पुद्गला जीवानुपगृह्णन्तीत्यस्मिन्नर्थे प्रतिपादिते पुनरुपग्रहवचनमनर्थकमिति चेत्तन्न । किं कारणम् ? पुद्गलानां परस्परोपग्रहप्रदर्शनार्थत्वात् । यथा धर्माधर्माकाशानि परेषामेवोपग्रहं कुर्वन्ति न तथा पुद्गलाः । किं तर्हि—पुद्गलानां च पुद्गलकृत उपकारोऽस्तीति प्रतिपादनार्थं पुनरुपग्रहवचनं कृतम् ।

विच्छेद नहीं होना जीवित है । उसी जीवित का उच्छेद होना जीवका मरण है । सुखादि पदों में द्वन्द्व समास करके उपग्रह शब्द के साथ कर्म धारय समास किया गया है । ये उपग्रह किनके हैं ऐसा प्रश्न होने पर पुद्गलों के हैं ऐसा प्रकृत का सम्बन्ध कर लेते हैं ।

जब "सुखदुःख जीवित मरणोपग्रहाश्च" ऐसा सूत्र पाठान्तर मानते हैं तो सुख दुःखादिक उपग्रह हैं जिनके वे "सुख दुःख जीवित मरणोपग्रहाः" ऐसा बहुब्रीहि समास होगा । अर्थ के वश से विभक्ति का परिणमन होने से साता असाता वेदनीय कर्म तथा आयु कर्म रूप जो पुद्गल हैं वे सुख आदिक उपग्रह स्वरूप होते हैं ऐसा अर्थ होगा ।

शंका—उपग्रह का प्रकरण है अतः शरीर वाग् मन प्राण अपान रूप अचेतन कार्य तथा सुख दुःख, जीवित और मरण रूप चेतनात्मक कार्य विशेष द्वारा पुद्गल द्रव्य जीवों का अनुग्रह करते हैं ऐसा अर्थ सिद्ध होता है, इसलिये इस सूत्र में उपग्रह शब्द लेना व्यर्थ है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही है । पुद्गलों का परस्पर में उपग्रह होता है इस बात को बतलाने के लिये पुनः उपग्रह शब्द का ग्रहण हुआ है । जैसे धर्म अधर्म और आकाश द्रव्य परका ही उपग्रह करते हैं वैसा पुद्गल द्रव्य नहीं है किन्तु पुद्गलों का भी पुद्गल उपकार करता है इस बात को बतलाने के लिये पुनः उपग्रह पद आया है । पुद्गल पुद्गलों का उपकार कैसे करते हैं सो ही बताते हैं—राख मिट्टी आदि पुद्गल द्वारा कांसे पीतल आदि के बर्त्तन आदि पुद्गल रूप पदार्थों का उपकार होता

तद्यथा–कंसादीनां भस्मादीनि । जलादीनां कतकफलादीनि । अयःप्रभृतीनामुदकादीनि च नैर्मल्यलक्षण मुपकारं कुर्वन्ति । स्यान्मतं ते—शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहश्च पुद्गलानामित्येकमेव सूत्रं कर्तव्यं लघ्वर्थमिति । तन्न । किं कारणम् ? यथासङ्ख्यशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात्पृथग्योग करणस्य । एकयोगे हि कृते शरीरवाङ्मनःप्राणापानहेतवश्चत्वारः । सुखदुःखजीवितमरणानि च फलानि चत्वारीति तेषां यथासङ्ख्यमनिष्टमाशङ्क्येत । तन्निवृत्त्यर्थं पृथक्सूत्रीकरणम् । उत्तरसूत्रे सुखादिसम्बन्धनार्थं चेति । चशब्दश्चक्षुरादिसमुच्चयार्थः । तेन यथा शरीराणि पुद्गलकार्याणि तथा चक्षुरादीन्द्रियाण्यपीत्यवसेयम् । ततः सिद्धमेतत्–शरीरवर्गणादिवज्जीवस्य सुखादिजनकं कर्मापि पौद्गलिकं भवतीति । एवमजीवकृतमुपकारं प्रदर्श्य जीवकृतोपकारप्रदर्शनार्थमाह—

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।। २१ ।।

परस्परशब्दः कर्मव्यतिहारविषयः । कर्मव्यतिहारश्च क्रियाव्यतिहार उच्यते । परस्परस्योपग्रहः कार्यं परस्परोपग्रहः । उपकारस्य प्रस्तुतत्वात्पुनरुपग्रहवचनं पूर्वोक्तसुखादिचतुष्टयाभिसम्बन्ध-

---

है अर्थात् राखादि से कांस्य पात्रादि स्वच्छ हो जाते हैं । कनक द्वारा जल स्वच्छ होता है इत्यादि । तथा लोहा आदि का जलादि द्वारा निर्मलता रूप उपकार होता है ।

शंका—"शरीर वाङ् मनः प्राणापानाः सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहश्च पुद्गलानाम्" ऐसा एक सूत्र करना चाहिये जिससे लाघव हो ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना । यथा क्रम की आशंका को दूर करने हेतु पृथक् पृथक् सूत्र किये गये हैं । यदि दोनों मिलाकर एक सूत्र करते तो शरीर, वाग् प्राण और अपान ये चार हेतु रूप तथा सुख, दुःख, जीवित और मरण ये चार उनके फल स्वरूप हैं ऐसे अनिष्ट अर्थ की कल्पना संभव थी अतः उसके निरसन हेतु पृथक् सूत्र किये हैं । उत्तर सूत्र में सुखादि का सम्बन्ध करने के लिये भी पृथक् सूत्र किया है । सूत्र में च शब्द चक्षुरादि के समुच्चय करने हेतु है । जैसे शरीर आदि पुद्गल के कार्य हैं वैसे चक्षु आदि इन्द्रियां भी पुद्गल के कार्य हैं ऐसा जानना । इसतरह यह सिद्ध हुआ कि जैसे शरीर वर्गणा आदि पुद्गल रूप हैं वैसे जीव के सुखादि को पैदा करने वाले कर्म भी पुद्गल रूप हैं ।

अजीवकृत उपकार बतला कर अब जीवकृत उपकार को सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—जीवों का परस्पर में उपकार होता है ।

परस्पर शब्द कर्म व्यतिहार विषयक है । क्रिया व्यतिहार को कर्म व्यतिहार कहते हैं । परस्पर के उपग्रह को अर्थात् कार्य को परस्परोपग्रहः कहते हैं । यद्यपि

नार्थम् । तेन जीवानां स्वामिभृत्यादिभावेन वृत्तिः परस्परोपग्रहो वेदितव्यः । तद्यथा—स्वामी तावद्वित्तत्यागादिना भृत्यानामुपग्रहे वर्तते । भृत्याश्च हितप्रतिपादनाहितप्रतिषेधेन च स्वामिन उपकारे वर्तन्ते । आचार्य उभयलोकफलप्रदोपदेशदर्शनेन तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते । शिष्या अपि तदानुकूल्यवृत्त्या प्रवर्तन्ते । यथा धर्मादीनामस्तित्वस्याविर्भावको गत्यादिरुपकार उक्तस्तथा कालस्याप्यस्तित्वसंसूचकं प्रतिनियतमुपकारं दर्शयन्नाह—

वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य ।। २२ ।।

स्त्रीलिङ्गे कर्मणि भावे वा णिजन्ताद्वृतेर्युचि प्रत्यये सति वर्तनेति सिध्यति । वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तनेति । अथवा वृत्तिरयमनुदात्तानुबन्धस्ततस्ताच्छीलिके युचि वर्तनशीला वर्तनेति भवति ।

उपकार का प्रकरण होने से उपग्रह शब्द की आवश्यकता नहीं थी किन्तु पूर्वोक्त सुख-दुःखादि चार का सम्बन्ध करने के लिये उसका ग्रहण हुआ है । उससे जीवों का स्वामी सेवक आदि रूप परस्पर उपग्रह होना सिद्ध होता है । आगे इसीको कहते हैं—स्वामी धन का त्याग आदि द्वारा सेवक का उपकार करता है और सेवक हित का प्रतिपादन तथा अहित का निषेध करके स्वामी का उपकार करता है । आचार्य दोनों लोकों में सुखदायी ऐसा उपदेश देकर तथा उस उपदेश में कथित क्रिया के अनुष्ठान कराने द्वारा शिष्यों का अनुग्रह करते हैं । और शिष्य वर्ग आचार्य की अनुकूल वृत्ति द्वारा उपग्रह करते हैं ।

धर्मादि द्रव्यों के अस्तित्व का सूचक जैसे गत्यादि उपकार कहा वैसे काल द्रव्यके अस्तित्व का सूचक जो उपकार है उसको सूत्र द्वारा दिखलाते हैं—

सूत्रार्थ—वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्य के उपकार हैं ।

स्त्रीलिंग में कर्म या भाव अर्थ में णिजन्त से युच् प्रत्यय आकर "वर्त्तना" शब्द निष्पन्न हुआ है । वृत्यते वर्त्तनमात्रं वा वर्त्तना । अथवा यह वृत्ति अनुदात्त रूप है उससे शील अर्थ में [वैसा होने का स्वभाव] युच् प्रत्यय आकर "वर्त्तन शीला वर्त्तना" ऐसा वर्तना शब्द बनता है ।

प्रश्न—वर्त्तना किसे कहते हैं ?

का पुनरसौ वर्तना नाम ? प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना । अस्यार्थः—द्रव्यस्य पर्यायो द्रव्यपर्यायः द्रव्यपर्यायं प्रति प्रतिद्रव्यपर्यायम् । अन्तः प्रापित एकः समयो यया साऽन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिरुच्यते । उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यवृत्तिरेव सत्ता । न ततोऽन्या काचिदस्ति । स्वा स्वकीया प्रतिनियता असाधारणीत्यर्थः । स्वा चासौ सत्ता च स्वसत्ता । सा बुद्ध्यभिधानानुप्रवृत्तिलिङ्गेनानुमीयमाना सादृस्योपचारादेकापि सती जीवाजीवतद्भेदप्रभेदैः सम्बन्धमापद्यमाना विशिष्टशक्तिभिरेव सम्बध्यते । तस्याः स्वसत्ताया अनुभूतिरनुभवनं स्वसत्तानुभूतिर्वर्तनेत्युच्यते । एकस्मिन्नविभागिनि समये धर्मादीनि द्रव्याणि षडपि स्वपर्यायैरादिमदनादिमद्भिरुत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पैर्वर्तन्त इति कृत्वा तद्विषया सती वर्तना प्रतिद्रव्यपर्यायमेकसमयवृत्तिहेतुत्वमेवेति कथ्यते । सा कालस्य लक्षणं भवति । लक्ष्यते ज्ञायते कालोऽनयेति लक्षणमिति व्युत्पत्तेः । तथाहि—सकलपदार्थगता वर्तना कार-

---

उत्तर—प्रत्येक द्रव्य की एक समय वाली जो पर्याय है उसमें अपनी सत्ता की जो अनुभूति है वह वर्त्तना कहलाती है । इसीको और भी कहते हैं—द्रव्य की पर्याय को द्रव्य पर्याय कहते हैं, द्रव्य पर्याय के प्रति जो हो वह प्रति द्रव्यपर्याय है, अन्तर में प्राप्त कराया है-एक समय जिससे वह अन्तर्नीत एक समय वाली स्वसत्ता की अनुभूति कही जाती है । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की ऐक्य वृत्ति ही सत्ता है इससे अन्य कुछ सत्ता नहीं है । स्वकीय सत्ता अर्थात् प्रतिनियत असाधारण सत्ता । स्वा चासौ सत्ता च स्वसत्ता ऐसा इसका समास है । वह सत्ता बुद्धि, अभिधान और अनुप्रवृत्तिरूप लिंग से अनुमीयमान अर्थात् सभी पदार्थों में यह सत् है, यह सत् है ऐसी बुद्धि होती है, सब पदार्थ सद् रूप होने से रूप लिंग [हेतु] द्वारा अनुमीयमान यह सत्ता सादृश्यता के उपचार से एक है [सब पदार्थों में सत् समान होने से महा सत्ता रूप सत्ता एक है ।] तो भी जीव अजीव तथा उनके भेद प्रभेद द्वारा जो संबंध को प्राप्त होती है वह विशिष्ट शक्तियों द्वारा ही प्राप्त होती है अतः वह सत्ता अनेक है [अवांतर सत्ता] ऐसी उसे स्वसत्ता की अनुभूति होना स्वसत्तानुभूति है यह वर्त्तना है । एक अविभागी समय में धर्मादि छह द्रव्य भी आदिमान और अनादिमान उत्पाद-व्यय ध्रौव्य विकल्प रूप स्व स्व पर्यायों द्वारा वर्त्तित होते हैं इस दृष्टि से तद् विषयक वर्त्तना प्रत्येक द्रव्यपर्याय एक समयवर्त्ती होने से एक समय हेतुक कहलाती है । अभिप्राय है कि धर्मादि द्रव्यों की अर्थ पर्याय एक समय वाली है उस एक एक समयवाली पर्याय में अपनी सत्ता की अनुभूति होती है, उसमें निमित्त वर्त्तना है अतः इसे एक समय रूप कहते हैं । वह काल का लक्षण है । "लक्ष्यते ज्ञायते कालः अनया" जिसके द्वारा काल लक्षित होता है वह लक्षण है, इसतरह व्युत्पत्ति है । इसीको कहते हैं—

णान्तरसाध्या कार्यत्वात्तण्डुलपाकवत् । यच्च निमित्तकारण स मुख्यः काल इति निश्चीयते । समयादीनां क्रियाविशेषाणां समयादिनिर्वर्त्यानां च पर्यायाणां पाकादीनां च स्वात्मसद्भावानुभवनेन स्वतः एव वर्तमानानां निवृत्तेर्बहिरङ्गो हेतुः समयः पाक इत्येवमादिस्वसंज्ञारूढिसद्भावेऽपि काल इत्ययं व्यवहारोऽकस्मान्न भवतीति तद्व्यवहारहेतुनान्येन भवितव्यमिति कालोऽनुमेयः । सूर्यादिगतिः सूक्ष्मा वर्तनाहेतुरिति चेन्न—तस्या अप्येकसमयवृत्तिहेतुत्वस्य कालमन्तरेणानुपपत्तेः । नाप्याकाशप्रदेशा वर्तनाहेतवस्तेषामाधारत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । नापि धर्माधर्मौ तद्धेतू तयोर्गतिस्थितिहेतुत्वेनोक्त

सकल पदार्थों में पायी जाने वाली वर्त्तना कारणान्तर से साध्य है, क्योंकि कार्यरूप है, जैसे चावलों का पकना कारणान्तर साध्य होता है । वह जो कारणान्तर है वह मुख्य काल है । इसतरह काल का निश्चय होता है । समय आदि क्रिया विशेषों का तथा समय से निष्पन्न पाकादि पर्यायें जो कि स्वसत्ता का अनुभवन करके स्वतः ही वर्त्तमान हैं उनकी उत्पत्ति का बाह्य कारण काल है । उनमें पाक आदि स्वसंज्ञा रूढ़ि से सद्-भाव होने पर भी काल यह व्यवहार अकस्मात् [निर्हेतुक] नहीं होता । अतः उस काल के व्यवहार का हेतु कोई अन्य अवश्य होना चाहिये । उस काल के व्यवहार के कारण से काल अनुमेय होता है ।

शंका—सूक्ष्म रूप जो सूर्य आदि की गति है वह वर्त्तना का हेतु है [न कि काल] ।

समाधान—यह कथन ठीक नही है । एक समय वृत्ति का हेतुरूप वह सूर्यादि की गति भी काल के बिना नही हो सकती । अर्थात् सूक्ष्म वर्त्तन चाहे किसी में हो वह काल के बिना संभव नही है । सूर्य की गति से हम समयादि का निश्चय भले ही करें किन्तु स्वयं सूर्य की गति में हेतु तो काल ही है ।

आकाश के प्रदेश वर्त्तना के हेतु हैं ऐसा भी नहीं कह सकते, आकाश प्रदेश तो उन वर्त्तना वाले पदार्थों के आधार भूत हैं । अर्थात् आकाश आधार का हेतु है वर्त्तना का हेतु नहीं है ।

धर्म अधर्म द्रव्य भी वर्त्तना के हेतु नहीं हैं, वे दोनों तो गति और स्थिति के हेतु है ।

शंका—पदार्थों की अपनी सत्ता ही वर्त्तना का हेतु है, जैसे कालाणु स्वयं स्व-सत्ता के हेतु हैं ।

त्वात्। स्वसत्तैव पदार्थानां वर्तनाहेतुः कालाणुवदिति चेत्कुतः कालाणुसिद्धिर्यतोयं दृष्टान्तः स्यात्? पदार्थानामेकसमयवृत्तित्वादेव तत्सिद्धिरिति चेत्—सिद्धा तर्हि कालाणुगृहीता पदार्थानां वृत्तिः कथं निराक्रियेत? अथ कालाणूनां वृत्तेरपरापरनिमित्तापेक्षायामनवस्था स्यादिति चेन्न—स्वतः कालस्य कालान्तरानपेक्षित्वात्। पदार्थान्तरवृत्तिर्हि कालविशिष्टतया प्रतीयमाना तत्सम्बन्धापेक्षा भवतीति युक्तं वक्तुम्। न तु स्वयं कालः कालान्तरापेक्षो भवति, तस्य कालान्तरसम्बन्धत्वप्रतीत्यभावात्। कुतस्तर्हि प्रतिसमयं वृत्तिरर्थानां सिद्धेति चेन्मुहूर्तादिवृत्त्यन्यथानुपपत्तेरिति ब्रूमः। द्रव्यस्य स्वजात्य परित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः। तत्र प्रयोगे पुरुषकारस्तदनपेक्षा विक्रिया

समाधान—कालाणु की सिद्धि किससे हुई है, जिससे कि यह दृष्टांत बने?

शंका—पदार्थों की एक समय की वृत्ति से ही कालाणु की सिद्धि होती है?

समाधान—तो फिर कालाणु से गृहीत पदार्थों की वृत्ति का निराकरण कैसे किया जा सकता है, नहीं किया जा सकता।

शंका—पदार्थों की वृत्ति को कालाणु द्वारा होना मानेंगे तो कालाणु की वृत्ति का भी दूसरा कोई निमित्त मानना होगा इसतरह अनवस्था आती है?

समाधान—नहीं आती, जो स्वतः कालस्वरूप है उसको दूसरे काल की अपेक्षा नहीं होती। काल से भिन्न जो पदार्थांतर हैं उनकी वृत्ति काल से विशिष्ट होकर प्रतीत होती है अतः काल के निमित्त की अपेक्षा से पदार्थों की वृत्ति होती है ऐसा कहना बनता है किन्तु स्वयं काल ही कालान्तर की अपेक्षा से होता है ऐसा कहना असत् है, क्योंकि उसके लिये कालान्तर के संबंध की अपेक्षा हो ऐसा प्रतीत नहीं होता।

प्रश्न—तो बताइये कि पदार्थों की प्रति समय में होने वाली वृत्ति किस कारण से सिद्ध होती है?

उत्तर—मुहूर्त आदि वृत्ति की अन्यथानुपपत्ति से उसकी सिद्धि होती है ऐसा हम कहते हैं।

द्रव्य का अपनी जाति का त्याग नहीं करते हुए प्रयोग और स्वभाव से जो विकार होता है वह परिणाम है। उनमें जो प्रयोग से होता है वह पुरुषार्थ से होता है और जो स्वभाव से होने वाला परिणाम है वह पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं रखता, इस-

विस्रसा । तन्निमित्तत्वात्तल्लक्षणः परिणाम उच्यते । स च द्वेधा—अनादिरादिमांश्चेति । तत्रानादि र्लोकसंस्थानमन्दराकारादिः । स पुरुषप्रयत्नानपेक्षत्वाद्वैस्रसिकः आदिमांस्तु प्रयोगजो वैस्रसिकश्चेति द्वेधा । तत्र चेतनस्य द्रव्यस्यौपशमिकादिर्भावः कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषेयत्वाद्वैस्रसिक इति कथ्यते । ज्ञानशीलभावनादिरूप आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात्प्रयोगज इत्याख्यायते । अचेतनस्य च मृदादे र्घटसंस्थानादिपरिणामः कुम्भकारादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगज इत्युच्यते । इन्द्रधनुरादिनाना विधवर्णादिपरिणामोऽपौरुषेयत्वाद्वैस्रसिक इति निगद्यते । तथा धर्माधर्माकाशानामगुरुलघुगुणवृद्धि हानिकृतोऽपरिस्पन्दात्मकः परिणामो वेदितव्यः । द्रव्यस्य बाह्याभ्यन्तरकारणवशादुत्पद्यमानः परिस्पन्दरूपः पर्यायः क्रियेत्यवसीयते । सा द्वेधा—प्रायोगिकी विस्रसानिमित्ता चेति । तत्र प्रायोगिकी शकटादीनां भवति । विस्रसानिमित्ता मेघादीनां विज्ञेया । गतिनिवृत्तिलक्षणा स्थितिस्तु परिणामे ऽन्तर्भवतीति पृथङ्नोक्ता । वर्तना च परिणामश्च क्रिया च वर्तनापरिणामक्रियाः । परत्वं चापरत्वं

तरह उन निमित्तों से होने वाला होने से प्रयोग परिणाम और विस्रसा परिणाम ऐसा कहते हैं । उनके भी पुनः दो प्रकार हैं । आदिमान और अनादि लोक का संस्थान, मेरु का आकार आदि अनादि परिणाम रूप है, यह सब आकार रूप परिणाम पुरुष प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रखता अतः वैस्रसिक है । आदिमान परिणाम दो प्रकार का है प्रयोगज और वैस्रसिक । चेतन द्रव्य के जो औपशमिक आदि भाव हैं वे कर्मों के उपशम आदि की अपेक्षा से होते हैं, पुरुष प्रयत्न से नही होने के कारण उन्हें वैस्रसिक कहते हैं । ज्ञान भावना, शील की भावना आदि रूप जो परिणाम हैं उनमें आचार्य आदि पुरुष प्रयत्न का निमित्त है अतः वे प्रयोगज परिणाम कहलाते हैं । अचेतन में जो मिट्टी आदि पदार्थों का घट आदि रूप संस्थान परिणाम है वह कुंभकार आदि पुरुष प्रयोग के निमित्त से होता है अतः प्रयोगज कहलाता है । इन्द्र धनुष आदि नाना वर्णादि स्वरूप परिणाम अपौरुषेय होने से वैस्रसिक कहा जाता है । तथा धर्म अधर्म और आकाश द्रव्यों में अगुरु लघु नाम के गुणों की हानि–वृद्धि द्वारा जो परिस्पन्द रहित परिणाम होता है वह वैस्रसिक है ।

बाह्याभ्यन्तर कारणों के निमित्त से उत्पन्न होने वाली हलन चलन रूप जो द्रव्य की पर्याय है वह क्रिया है । वह दो प्रकार की है—प्रायोगिकी और वैस्रसिकी । उनमें शकट आदि की प्रायोगिक क्रिया है । मेघ आदि की क्रिया तो वैस्रसिकी कहलाती है । गति के रुकने रूप जो स्थिति है वह परिणाम में अन्तर्भूत होती है, अतः उसका पृथक् निर्देश नहीं किया । वर्त्तना आदि पदों में तथा परत्व आदि पदों में द्वन्द्व समास जानना ।

च परत्वाऽपरत्वे । ते च क्षेत्रनिमित्ते प्रशंसानिमित्ते कालनिमित्ते च सम्भवत: । तत्र क्षेत्रनिमित्ते तावदाकाशप्रदेशाल्पबहुत्वापेक्षे । एकस्यां दिशि बहूनाकाशप्रदेशानतीत्य स्थित: पदार्थ: पर इत्युच्यते । ततोऽल्पानतीत्य स्थितोऽपर इति कथ्यते । प्रशंसाकृते अहिंसादिप्रशस्तगुणयोगात्परो धर्म: । तद्विपरीत लक्षणस्त्वधर्मोऽपर इत्युच्यते । कालहेतुके —शतवर्ष: पुमान्पर: । षोडशवर्षस्त्वपर इत्याख्यायते । तत्र कालोपकारप्रकरणात् क्षेत्रप्रशंसानपेक्षे परत्वापरत्वे व्यवहारकालकृते इह गृह्येते । यथाह्यपरक्षेत्र स्थितोऽपि निर्गुणोऽपि चाण्डालो बहुतरकालापेक्षयाऽन्यस्मात्पर इत्युच्यते । परक्षेत्रस्थोऽपि च सगुणोऽपि ब्राह्मणबालकोऽल्पकालत्वादेतस्मादपर इति च कथ्यते । त एते वर्तनादय उपकारा यस्यार्थस्य लिङ्गं स काल इत्यनुमीयते । वर्तनाग्रहणमेवास्तु तद्भेदत्वात्परिणामादीनां पृथग्ग्रहणमनर्थकमिति

परत्व और अपरत्व क्षेत्रनिमित्तक प्रशंसा निमित्तक और काल निमित्तक होते हैं । उनको क्रम से बताते हैं—आकाश प्रदेशों के अल्प और बहुकी अपेक्षा लेकर जो परत्वापरत्व होता है वह क्षेत्र निमित्तक है, एक दिशा में बहुत से आकाश प्रदेशों को लांघकर जो स्थित है उस पदार्थ को 'पर' दूर है ऐसा कहा जाता है । उससे अल्प आकाश प्रदेशों को लांघकर जो स्थित है उस पदार्थ को "अपर" निकट है ऐसा कहते हैं । प्रशंसा निमित्तक परत्व अपरत्व को बताते हैं—अहिंसा आदि प्रशस्त गुणों वाला होने से धर्म "पर" श्रेष्ठ कहलाता है और उससे विपरीत हिंसा आदि अप्रशस्त लक्षण वाला अधर्म "अपर" हीन-प्रशंसा रहित कहलाता है । काल निमित्तक परत्वापरत्व को बताते हैं—सौ वर्ष की आयु वाला वृद्ध पुरुष "पर" है और सोलह वर्ष वाला "अपर" है । उनमें काल के उपकार का यहां प्रकरण होने से क्षेत्र और प्रशंसा निमित्तक परत्व अपरत्व नहीं लिया है, यहाँ तो कालकृत परत्वापरत्व ग्रहण किया है । जैसे कोई अपर क्षेत्र [निकट] में स्थित भी है निर्गुण चाण्डाल भी है तो भी बहुत काल जीवित की अपेक्षा से उसको अन्य पुरुष से "पर" बड़ा–बड़ी आयु वाला ऐसा कहते हैं । और कोई पुरुष पर क्षेत्र स्थित भी है तथा गुणवान ब्राह्मण बालक भी है तो भी उसको अल्प वयस्क होने से इससे यह अपर है—इसकी अपेक्षा यह छोटा है कहा जाता है ।

ये वर्त्तना परिणाम आदि उपकार जिस पदार्थ का लिंग है वह काल द्रव्य है, इसतरह काल द्रव्य अनुमान द्वारा जाना जाता है ।

शंका—सूत्र में केवल वर्त्तना पद लेना चाहिये क्योंकि परिणामादिक सब उसी के भेद हैं, अत: अन्य पदों का ग्रहण व्यर्थ है ?

चेन्न—कालद्वैविध्यप्रदर्शनार्थत्वात्प्रप्रञ्चस्य । द्विविधो हि काल—परमार्थकालो व्यवहारकालश्चेति । तत्र परमार्थकालो वर्तनालिङ्गो गत्यादीनां धर्मादिवद्वर्तनाया उपकारकः । तत्स्वरूपमुच्यते—यावन्तो लोकाकाशे प्रदेशास्तावन्तः कालाणवः परस्परं प्रत्यबन्धा एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकव्यापिनो मुख्योपचारप्रदेशकल्पनाविरहान्निरवयवा विनाशहेत्वभावान्नित्याः परप्रत्ययोत्पादविनाश सद्भावादनित्याश्च । सूचीसूत्रमार्गाकाशच्छिद्रवत्परिच्छन्नमूर्तित्वेऽपि रूपादियोगाभावादमूर्ताः, प्रदेशान्तरसङ्क्रमाभावान्निष्क्रियाश्च भवन्ति । व्यवहारकालस्तु परिणामादिलक्षणःक्रियाविशेषः कालवर्तनया लब्धकालव्यपदेशः कुतश्चित्परिच्छिन्नोऽन्यस्य परिच्छेदहेतुः । स च परस्परापेक्षया भूतादि व्यपदेशानुभवनात्त्रिविधः सिद्धः । यथा वृक्षपंक्तिमनुसरतो देवदत्तस्यैकैकतरुं प्रति प्राप्तः प्राप्नु

समाधान—व्यर्थ नहीं है, क्योंकि काल के दो भेद बतलाने हेतु परिणाम आदि पदों का ग्रहण हुआ है । काल दो प्रकार का है, परमार्थ काल और व्यवहार काल । उनमें परमार्थ काल वर्त्तना लिंग वाला है, जैसे धर्मादि द्रव्य गति आदि से उपकार करते हैं, वैसे काल द्रव्य वर्त्तना से उपकारक है । उसका स्वरूप बतलाते हैं—जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने कालाणु—कालद्रव्य परस्पर में संबद्ध हुए बिना ही एक एक आकाश प्रदेश पर एक एक रूप से स्थित हैं और इसी कारण लोक में व्याप्त हैं । मुख्य और उपचार रूप से प्रदेश बहुत्व कल्पना से रहित होने के कारण निरवयव हैं, इनका विनाश कभी नहीं होता अतः नित्य हैं और पर निमित्तक उत्पाद व्यय का सद्भाव होने से अनित्य भी हैं । सूई के धागा जाने के आकाश मार्ग के छिद्र के समान परिच्छिन्न मूर्त्ति होने पर भी रूपादि से रहित होने के कारण अमूर्त्त है । अर्थात् जैसे सूई का धागा जाने से मार्ग परिच्छिन्न होता है, अमूर्त्त होते हुए भी सूई के छिद्र का आकाश सूई के नोक बराबर मूर्त्त हो जाता है । उतने स्थान का कालाणु भी परिच्छिन्न होने से मूर्त्तसा है किन्तु रूपादि के अभाव में वास्तव में अमूर्त्त ही है ।

इन कालाणुओं में कभी प्रदेशान्तर संक्रमण नहीं होता अतः वे निष्क्रिय हैं ।

परिणाम आदि लक्षण वाला व्यवहार काल है । यह क्रिया विशेष रूप है । काल की वर्त्तना से उसे काल संज्ञा प्राप्त होती है । किसी से नापा जाकर या ज्ञात होकर अन्य किसी के परिच्छेद का (नाप का या जानने का) हेतु होता है । वह व्यवहार काल परस्पर की अपेक्षा से भूत, भावी आदि सज्ञा के अनुभवन से तीन प्रकार का सिद्ध होता है । जैसे वृक्षों की पंक्ति के अनुसार गमन करने वाले देवदत्त के एक एक वृक्ष के प्रति "प्राप्त हो चुका, प्राप्त हो रहा है और प्राप्त होगा" इसप्रकार की

वत्प्राप्स्यद्व्यपदेशो भवति तथा तत्कालाणूननुसरतां द्रव्याणां क्रमेण वर्तनापर्यायमनुभवतां भूतवर्तमान-भविष्यद्व्यवहारो भवति । तत्र परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्यो भूतादिव्यपदेशो गौणः । व्यवहार-काले भूतादिव्यपदेशो मुख्यः कालव्यपदेशो गौणः क्रियावद्द्रव्यापेक्षत्वात्कालोपजनितत्वाच्च । स च व्यवहारकालो ज्योतिर्गतिपरिणामकृतत्वान्मनुष्यक्षेत्रे सम्भविष्यते नृलोकाद्बहिर्निवृत्तगतिव्यापारत्वा-ज्ज्योतिषाम् । अथ किमर्थं परत्वापरत्वयोः पृथग्ग्रहणम् ? वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वानीत्येवं वक्तव्यमिति चेन्न—परस्परापेक्षत्वात्परत्वाऽपरत्वयोः । पृथग्वचनस्य परत्व ह्यपेक्ष्याऽपरत्वं भवति, अपरत्वं चापेक्ष्य परत्वमित्यदोषः । अत्र कश्चिदाह—धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवकालानामुपकार उक्तः । लक्षणं चोक्तमुपयोगादिकम् । पुद्गलानां तु सामान्यलक्षणं नोक्तम् । तत्किमित्यत्रोच्यते—

संज्ञा होती है, वैसे ही उन उन कालाणुओं का अनुसरण करने वाले द्रव्यों के क्रम से वर्त्तना पर्याय को अनुभव करते हुए भूतवर्त्तमान और भविष्यत् ऐसा व्यवहार होता है ।

परमार्थ काल में 'काल' यह संज्ञा तो वास्तविक है, मुख्य है और भूत भावी आदि संज्ञायें तो गौण हैं । इससे विपरीत व्यवहार काल में भूत भावी आदि संज्ञायें तो प्रमुख होती हैं और 'काल' यह संज्ञा गौण है ।

यह व्यवहार काल क्रियावान द्रव्यों की अपेक्षा से होता है और कालाणु से जनित है अर्थात् व्यवहार काल का निमित्त कारण तो क्रियाशील द्रव्य है और उपादान कारण कालाणु है । तथा यह व्यवहार काल ज्योतिष्क विमानों की गति परिणमन से किया जाता है इसलिये मनुष्य क्षेत्र में ही होता है । क्योंकि मनुष्य लोक के बाहर के ज्योतिष्क विमान गति क्रिया से रहित हैं ।

शंका—परत्व और अपरत्व की पृथक् विभक्ति क्यों की है ? 'वर्त्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वानि' ऐसा सूत्र बनना चाहिए ?

समाधान—परत्व और अपरत्व ये दोनों परस्पर की अपेक्षा से होते हैं इसलिये ये दोनों पद सूत्र में पृथक् रखे गये हैं । परत्व की अपेक्षा लेकर अपरत्व होता है और अपरत्व की अपेक्षा लेकर परत्व होता है । अतः इनकी पृथक् विभक्ति है इसमें दोष नहीं है ।

शंका—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल जीव और काल द्रव्य का उपकार आपने कह दिया तथा इनका लक्षण उपयोग आदि भी कह दिये । किन्तु अभी पुद्गल द्रव्यों का सामान्य लक्षण नहीं कहा है ? वह लक्षण क्या है ?

स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

स्पृश्यते स्पर्शनमात्रं वा स्पर्शः । स च मूलभेदापेक्षयाऽष्टविधो—मृदुकठिनगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षविकल्पात् । रस्यते रसनमात्रं वा रसः । स पञ्चविधः—तिक्ताम्लकटुकमधुरकषायभेदात् । गन्ध्यते गन्धनमात्रं वा गन्धः । स द्वेधा—सुरभिरसुरभिश्चेति । वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्णः । स च पञ्चधा—कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात् । त एते मूलभेदाः । उत्तरभेदोत्तरोत्तरभेदापेक्षया तु सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तविकल्पाश्च जायन्ते । स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णास्ते सन्ति येषां पुद्गलानां ते स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त इति नित्ययोगेऽत्र मत्वर्थीयस्य विधानं यथा क्षीरिणो न्यग्रोधा इति । ननु रूपिणः पुद्गला इत्यत्र रूपाविनाभाविनां रसादीनामपि ग्रहणात्तेनैव सूत्रेण पुद्गलानां रूपादिमत्वे सिद्धेऽनर्थकमिदं सूत्रमिति । नैष दोषः—नित्यावस्थितान्यरूपाणीत्यत्र सूत्रे धर्मादीनां नित्यत्वादिप्ररूपणया पुद्गलानामरूपत्वे प्राप्ते तन्निरासार्थं रूपिणः पुद्गला इत्युक्तम् । इदं

समाधान—अब उसी लक्षण को सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं । जो छूआ जाता है अथवा छूना मात्र स्पर्श है । उसके मूल भेद आठ हैं–मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष । जो चखा जाता है अथवा चखना मात्र रस है उसके पांच भेद हैं—तीखा, खट्टा, कड़वा, मीठा और कषायला । जो सूंघा जाता है अथवा सूंघना मात्र गन्ध है वह दो प्रकार की है—सुगन्ध और दुर्गन्ध । जो देखा जाता है अथवा देखना मात्र वर्ण है उसके पांच भेद हैं—काला, नीला, पीला, शुक्ल और लाल । ये तो मूल भेद हुए । उत्तरोत्तर भेदों की अपेक्षा संख्यात असंख्यात और अनंत भेद हो जाते हैं । स्पर्श आदि पदों में द्वन्द्व समास है पुनः अस्ति अर्थ में वन्तु प्रत्यय लाकर बहुव्रीहि समास करना चाहिए । मत्वर्थीयप्रत्यय नित्य योग में आया है, जैसे 'क्षीरिणः न्यग्रोधाः' यहां पर क्षीरिणः पद में नित्य दूध वाले वृक्ष हैं ऐसे अर्थ में मत्वर्थीय इन् प्रत्यय आया है वैसे नित्य स्पर्शरसगन्धवर्ण वाले पुद्गल होते हैं ऐसे अर्थ में मत्वर्थीय वन्तु प्रत्यय आकर 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः' ऐसा पद बना है ।

शंका—'रूपिणः पुद्गलाः' इस सूत्र में रूप के अविनाभावी रसादिका ग्रहण होता है अतः उस सूत्र से ही पुद्गलों का रूपादिमानपना सिद्ध होता है इसलिये यह सूत्र व्यर्थ है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है । 'नित्यावस्थान्यरूपाणि' इस सूत्र में धर्म आदि के नित्यत्वादि की प्ररूपणा की थी उससे पुद्गलों के भी रूपीपना प्राप्त हो रहा

तु सूत्रं परमतनिराचिकीर्षया पृथिव्यादीनां सर्वेषां पुद्गलजातिविशेषाणां प्रत्येकं रूपादिचतुष्टयं साधारणं स्वरूप मित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं कृतम् । परमते हि स्पर्शरसगन्धवर्णवती पृथिवी । स्पर्श-रसवर्णवत्य आप: । स्पर्शवर्णवत्तेज: । स्पर्शवानेव वायुरिति चतुस्त्रिद्व्येकगुणा जात्यन्तरत्वेन स्थिता: पृथिव्यादय इत्युक्तम् । तच्च युक्त्याऽनुपपन्नमिति स्वपक्षसाधनद्वारेण निराक्रियते । तथा ह्यापो गन्ध-वत्यस्तेजो गन्धरसवत् । वायुर्गन्धरसवर्णवान् स्पर्शवत्वात्पृथिवीपर्यायवदिति । एवमुक्तं तावद्युक्तिबला-त्पृथिव्यादीनां पुद्गलपर्यायत्वं पुद्गलानां च स्पर्शादिसाधारणगुणत्वम् । इदानीमसाधारणपर्याय-योगिन: पुद्गलानाह—

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ।।२४।।

था । उसका निराकरण करने के लिये रूपिण: पुद्गला: सूत्र आया था । यह सूत्र तो परवादी के मतका निरसन करने हेतु प्रयुक्त हुआ है । आगे इसी को कहते हैं—पृथिवी आदि सभी पुद्गल जाति विशेषों में प्रत्येक में रूप आदि चारों गुण साधारण स्वरूप हैं, इस अर्थ का प्रतिपादन करने हेतु यह सूत्र आया है । देखिये ! परमत में (नैयायिक वैशेषिक) पृथिवी स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण वाली मानी है । जल में तीन ही गुण माने हैं स्पर्श, रस और वर्ण । गन्ध को जल में नहीं माना है । तेज में स्पर्श और वर्ण ही माना है एवं वायु में तो केवल एक स्पर्श ही स्वीकार किया है । इस तरह चार, तीन, दो और एक गुण वाले ये पृथिवी आदि पदार्थ सर्वथा भिन्न जातीय हैं ऐसी इनकी मान्यता है, किन्तु यह सर्व युक्ति संगत नहीं है । इस बातको अपने पक्षकी सिद्धि द्वारा परका मत निराकरण कर बतलाया है । अनुमान से सिद्ध होता है कि जलादि सब पदार्थ स्पर्शादि चारों गुणों से युक्त हैं । देखिये ! जल गंध वाला है क्योंकि उसमें स्पर्शादि पाये जाते हैं, तेज में (अग्नि में) भी स्पर्शादि चारों होने ही चाहिए क्योंकि उसमें स्पर्श और वर्ण हैं । वायु भी गंधरस वर्ण वाली है, क्योंकि स्पर्श युक्त है, ये सर्व ही पृथिवी के समान ही हैं । इस तरह युक्ति बल से पृथिवी आदि के पुद्गल पर्यायित्व सिद्ध होता है, तथा पुद्गलों में साधारण रूप स्पर्शादि चारों गुण विद्यमान हैं यह निश्चित होता है ।

अब इस वक्त असाधारण पर्याय वाले पुद्गलों का कथन करते हैं—

सूत्रार्थ—शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत वाले भी पुद्गल होते हैं ।

शपत्यर्थमाह्वयति प्रत्याययति शप्यते येन शपनमात्रं वा शब्दः । बध्नाति बध्यतेऽसौ बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धः । केन चिल्लिङ्गेनात्मानं सूचयति सूच्यतेऽसौ सूच्यतेऽनेन सूचनमात्रं वा सूक्ष्मः । सूक्ष्मस्य भावः कर्म वा सौक्ष्म्यम् । स्थूलयते परिबृंहयति स्थूल्यतेऽसौ स्थूल्यतेऽनेन स्थूलनमात्रं वा स्थूलः । स्थूलस्य भावः कर्म वा स्थौल्यम् । सन्तिष्ठते संस्थीयतेऽनेनेति संस्थितिर्वा संस्थानम् । भिनत्ति भिद्यते भेदनमात्रं वा भेदः । पूर्वोपात्ताऽशुभकर्मोदयवशात्ताम्यत्यात्मा तम्यतेऽनेन तमनमात्रं वा तमः । पृथिव्यादिघनपरिणाम्युपश्लेषाद्देहादिप्रकाशावरणतुल्याकारेण च्छिद्यते छिनत्त्यात्मानमिति वा छाया । असद्वेद्योदयादातपत्यात्मान मातप्यतेऽनेनातपनमात्रं वाऽऽतपः । निरावरणमुद्योतयत्युद्योत्यतेऽनेनोद्योतनमात्रं वा उद्योतः । शब्दश्च बन्धश्च सौक्ष्यं च स्थौल्यं च संस्थानं च भेदश्च तमश्च च्छाया च आतपश्च उद्योतश्च शब्दबन्धसौक्ष्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतास्ते येषां सन्ति ते शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तः पुद्गला इत्यभिसम्बध्यते । तत्र शब्दो द्वेधा—भाषात्मकेतरभेदात् । तत्र भाषात्मकोऽपि द्वेधा-अक्षरीकृतानक्षरीकृतविकल्पात् । तत्राक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यंजकः

जो अर्थ को कहता है, प्रतीति कराता है, जिसके द्वारा कहा जाता है अथवा कहना मात्र 'शब्द' है । बांधता है, बंधा जाता है अथवा बंधना मात्र बन्ध है । किसी चिन्ह से जो अपने को सूचित करता, सूचित किया जाता है या सूचनामात्र है वह सूक्ष्म है । सूक्ष्म के भाव या कर्म को सौक्ष्म्य कहते हैं । स्थूल होता है स्थूल किया जाता है अथवा स्थूल होना मात्र स्थूल है स्थूल के भाव या कर्म को स्थौल्य कहते हैं । ठहरता है स्थित होता है जिसके द्वारा अथवा स्थित होना मात्र संस्थान है । भिन्न होता है भेदा जाता है या भेदन मात्र भेद है । पूर्व के अशुभ कर्म के उदय से आत्मा खिन्न होता है या जिसके द्वारा दुःखी किया जाता है अथवा खेद मात्र तम कहलाता है । पृथिवी आदि ठोस पदार्थ के सम्बन्ध से शरीरादि के प्रकाश आवरण के समान आकार से जो अपने को परिच्छिन्न करती है वह छाया है । असाता वेदनीय कर्म के उदय से जो अपने को तपाता है या तपना मात्र आतप है । निरावरण रूप से प्रकाशित करता है, प्रकाशित किया जाता है अथवा प्रकाश मात्र उद्योत है । यह शब्द बन्ध आदि पदों का निरुक्ति परक अर्थ है । इनमें द्वन्द्व समास है । शब्द बन्ध आदि हैं जिनके वे शब्द बन्ध इत्यादि पर्याय वाले पुद्गल हैं ऐसा सम्बन्ध कर लेना चाहिए ।

शब्द दो प्रकार का है भाषात्मक और अभाषात्मक उनमें भाषात्मक के दो भेद हैं, अक्षर कृत, अनक्षर कृत । शास्त्र का अभिव्यंजक शब्द अक्षरीकृत है इसके संस्कृत

संस्कृतेतरभेदादार्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः । अवर्णात्मको द्वीन्द्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूप प्रतिपादनहेतुः । स एव भाषात्मकः सर्वोऽपि पुरुषप्रयत्नापेक्षित्वात्प्रायोगिकः । अभाषात्मको द्वेधा—प्रयोगविस्रसा-निमित्तभेदात् । तत्र वैस्रसिको मेघादिप्रभवः । प्रयोगश्चतुर्धा—ततविततघनसौषिरभेदात् । तत्र चर्मातत-तनात्ततः पुष्करभेरीदर्दुरादिप्रभवः । विततस्तन्त्रीकृतो वीणासुघोषादिसमुद्भवः । घनस्तालघण्टालाल-नाद्यभिघातजः । सौषिरो वंश शङ्खादिहेतुकः । एवं च सत्याकाशगुणः शब्द इति परमतं निराकृत भवति । बन्धोऽपि द्वेधा—वैस्रसिकः प्रायोगिकश्चेति । तत्र पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैस्रसिको यथा स्निग्ध-रूक्षत्वगुणनिमित्तो विद्युदुल्काजलधराग्नीन्द्रधनुरादिविषयः । पुरुषप्रयोगनिमित्तः प्रायोगिकः । स चाऽजीवविषयो जीवाजीवविषयश्चेति द्विधा भिद्यते । तत्राजीवविषयो जतुकाष्ठादिलक्षणः । जीवा-जीवविषयः कर्म नोकर्मबन्धः । सौक्ष्म्यं द्विविधमन्त्यमापेक्षिकं चेति । तत्रान्त्यं परमाणूनाम् । आपेक्षिकं

और असंस्कृतरूप भेद हैं जो कि आर्य और म्लेच्छ के व्यवहार के हेतु हैं । अवर्णात्मक—अनक्षर कृत शब्द द्वीन्द्रियादि के होता है जो उनके अतिशय ज्ञान के प्रतिपादन का हेतु है ।

इस प्रकार यह सर्व भाषात्मक शब्द पुरुष के (जीव के) प्रयत्न की अपेक्षा से होता है अतः प्रायोगिक कहलाता है । अभाषात्मक शब्द भी दो प्रकार का है प्रायोगिक और वैस्रसिक । मेघ आदि से उत्पन्न हुआ शब्द वैस्रसिक है । प्रयोग से होने वाला प्रायोगिक शब्द चार प्रकार का है—तत, वितत, घन और सुषिर । चर्म के तनने से जो उत्पन्न होता है वह तत शब्द है जैसे भेरी, ढोल, नगाड़ा आदि की ध्वनि । तार से निकली ध्वनि वितत शब्द है जैसे वीणा, सितार आदि की ध्वनि । ताल घंटा आदि के बजाने से उत्पन्न हुई ध्वनि घन है । बांसुरी, शंख आदि की ध्वनि सौषिर शब्द है । इस प्रकार के कथन से शब्द को आकाश का गुण मानने वाले पर मतका खण्डन हो जाता है ।

बन्ध भी दो प्रकार का है—वैस्रसिक और प्रायोगिक । उनमें जो पुरुष प्रयोग की अपेक्षा नहीं रखता वह वैस्रसिक बन्ध है । जैसे स्निग्ध रूक्षत्व गुण के निमित्त से विद्युत, उल्का, मेघ, इन्द्रधनुष आदि बनते हैं ये सर्व वैस्रसिक बंध स्वरूप हैं । जो पुरुष प्रयोग के निमित्त से होता है वह प्रायोगिक बंध है । यह प्रायोगिक बंध भी दो प्रकार का है–अजीव विषयक और जीवाजीव विषयक । लाख लकड़ी आदि के संबंधरूप अजीव बंध है । कर्म नोकर्म का जीव के साथ जो संबंध है वह जीवाजीव बन्ध है । सौक्ष्म्य दो प्रकार का है–अन्त्य और आपेक्षिक । अन्त्य सौक्ष्म्य परमाणुओं में होता है ।

बिल्वामलकबदरादीनाम् । स्थौल्यमप्यन्त्यमापेक्षिकं चेति द्विविधम् । तत्रान्त्यं जगद्व्यापिनि महास्कन्धे । आपेक्षिकं बदरामलकबिल्वतालादिषु । संस्थानमाकृतिस्तद्द्विधा भिद्यते—इत्थंलक्षणमनित्थलक्षणं चेति । तत्र वृत्तत्र्यस्रचतुरस्रायतपरिमण्डलादिनियतमित्थंलक्षणम् । अतोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानमनेकविधमित्थमेवेदमिति निरूपणाभावादनित्थंलक्षणम् । भेदः षोढा भिद्यते—उत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात् । तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम् । चूर्णो यवगोधूमादीनां सक्तुकणिकादि । खण्डो घटादीनां कपालशर्करादि । चूर्णिका माषमुद्गादीनाम् । प्रतरो अभ्रपटलादीनाम् । अणुचटनं तप्तायःपिण्डादिष्वयोघट्टनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः । तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि । प्रकाशावरणं शरीरादिकं यस्या निमित्तं भवति सा छाया । सा द्वेधा—वर्णादिविकारपरिणता प्रतिबिम्बमात्रात्मिका चेति । तत्रादर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणता उपलभ्यते । इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव । आतप आदित्यनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षणः पुद्गलपरिणामः । उद्योतश्चन्द्रमणिखद्योतादीनां प्रकाशः । एवमन्येऽपि नोदनाभिघातादयो ये पुद्गल-

---

बेल, बेर आदि में आपेक्षिक सौक्ष्म्य होता है । स्थौल्य भी दो प्रकार का है–अन्त्य और आपेक्षिक । अन्त्य स्थौल्य जगद्व्यापी महास्कन्ध में होता है और आपेक्षिक स्थौल्य बेर, आंवला, बेल, ताड़फल आदि में पाया जाता है । आकृति को संस्थान कहते है, इसके दो भेद हैं–इत्थं लक्षण और अनित्थं लक्षण । गोल, तिकोण, चौकोण, लंबा, परिमण्डल आदि नियत आकार इत्थं लक्षण संस्थान है । इससे अन्य जो मेघादिका अनेक प्रकार का संस्थान है जिसे ऐसा है इस प्रकार कह नहीं सकते वह अनित्यं लक्षण संस्थान है । भेद छह प्रकार का है–उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन । काठ आदि को करोंतादि से छीलकर जो भेद होता है वह उत्कर कहलाता है । जौ, गेहूं आदि का आटा चूर्ण कहलाता है । घट आदि के कपाल, खप्पर आदि रूप भेद होना खण्ड है । उड़द, मूंग आदि को दाल, टुकड़े रूप होना वह चूर्णिका है । बादल आदि का फैलना प्रतर है और तपे लोहे को हथोड़ा आदि से पीटने से जो स्फुलिंग निकलते है वे अणुचटन कहलाते हैं, प्रकाश का विरोधि और नेत्र के प्रतिबंधक का कारण जो है वह तम है । प्रकाश के आवरण स्वरूप जो शरीरादिक है वह जिसका निमित्त है वह छाया है । वह दो प्रकार की है–वर्णादिके विकार स्वरूप और प्रतिबिंब मात्र स्वरूप । उनमें दर्पण आदि प्रसन्न–स्वच्छ द्रव्यों में मुखादिकी छाया उसी वर्णादि रूप परिणत होती है वह वर्णादि विकार परिणत छाया कहलाती है । और शरीर की परछाई स्वरूप प्रतिबिंबात्मक छाया है । सूर्य के निमित्त से उष्ण प्रकाश लक्षण वाला पुद्गल परिणाम आतप कहलाता है । चन्द्र, चन्द्रकांत खद्योत आदि के प्रकाश को

परिणामा आगमे इष्टास्तेषामिह चशब्देन समुच्चयः क्रियते। ततश्च शब्दादयः पुद्गलपर्यायाः सामान्यविशेषवत्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्पत्मगन्धवदिति सिद्धम्। न पुनराकाशादिपर्यायास्त इति। अत्र कश्चिदाह—यदि स्पर्शादयश्च शब्दादयश्च पुद्गलानामेव परिणामास्तह्र्येक एव योगः कर्तव्यो न पृथगिति। अत्रोच्यते—पृथक्करणं केषां चित्पुद्गलानामुभयपर्यायज्ञापनार्थं क्रियते। स्पर्शादयो हि परमाणूनां स्कन्धानां च भवन्ति। शब्दादयस्तु स्कन्धानामेव व्यक्तिरूपेण भवन्ति। सौक्ष्म्यवर्ज्या इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपत्त्यर्थं पृथग्योगकरणम्। सौक्ष्यं पुनरन्त्यं परमाणुष्वेव। आपेक्षिकं स्कन्धेषु भवति। तस्येह सूत्रे करणं स्थौल्यप्रतिपक्षप्रतिपत्त्यर्थम्। इदानीं पुद्गलानां भेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

उद्योत कहते हैं। ये पुद्गल की पर्यायें हैं। तथा इसी प्रकार अन्य भी नोदन अभिघात आदि पुद्गल के परिणाम आगम में इष्ट हैं उनका च शब्द से ग्रहण किया है। इस तरह अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि शब्दादिक पुद्गल की पर्यायें हैं (पक्ष) क्योंकि सामान्य विशेषात्मक होकर बाह्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है (हेतु) जैसे–गन्धादि पदार्थ बाह्येन्द्रिय ग्राह्य होने से पुद्गलात्मक है। अतः ये शब्दादिक आकाश आदि की पर्यायें नहीं हैं।

शंका—यदि स्पर्शादि और शब्दादिक पुद्गलों के ही परिणाम है तो फिर दोनों एक सूत्र में करने चाहिए। पृथक् नहीं करना चाहिए।

समाधान—कोई पुद्गल दोनों स्वरूप होते हैं (स्पर्शादि रूप और शब्दादि स्वरूप) इस बातको बतलाने के लिये पृथक्-पृथक् सूत्र रचे हैं। देखिए ! स्पर्शादिक तो परमाणु और स्कन्ध दोनों में पाये जाते हैं। और शब्दादिक पर्यायें तो स्कन्धों में ही व्यक्त होतीं हैं केवल एक सौक्ष्म्य को छोड़कर अर्थात् अन्तिम सौक्ष्म्य तो परमाणु में है किन्तु अन्य पर्यायें परमाणु में नहीं है। इस विशेष को बतलाने हेतु भी दो सूत्र किये गये हैं। भाव यह है कि अन्त्य सौक्ष्म्य परमाणुओं में ही होता है और आपेक्षिक सौक्ष्म्य स्कन्धों में पाया जाता है। सौक्ष्म्य स्थौल्य का प्रतिपक्षी है इस बातको बतलाने हेतु यहां सूत्र में सौक्ष्म्य को ग्रहण किया है अर्थात् शब्दादि पर्यायें तो स्कन्धों में पायी जाती है एक केवल अंतिम सौक्ष्म्य है वह परमाणु में रहता है स्कन्धों की पर्यायों के साथ यह सौक्ष्म्य इसलिए लिया है कि वह स्थौल्य का प्रतिपक्ष रूप हैं।

अब पुद्गलों के भेद बतलाते हैं—

अणवः स्कन्धाश्च ।।२५।।

प्रदेशमात्रभाविभिः स्पर्शादिभिर्गुणैः सतत परिणमन्त इत्येवमण्यन्ते शब्द्यन्ते ये ते अणवः । सौक्ष्म्यादात्मादय आत्ममध्या आत्मान्ताश्च । उक्तं च—

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तन्तं णेव इन्दिए गेज्जं ।
ज दव्वं अविभागि तं परमाणुं वियाणाहि ।।इति।।

स्थूलभावेन ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारस्कन्दनात् स्कन्धा इति संज्ञायन्ते । रूढिवशाद्ग्रहणादिव्यापारायोग्येष्वपि द्वयणुकादिषु स्कन्धाख्या वर्तते । अनन्तभेदा अपि पुद्गला अणुजात्या स्कन्धजात्या च द्वैविध्यमापद्यमानाः सर्वे गृह्यन्त इति तज्जात्याधारानन्तभेदसंसूचनार्थमुभयत्र बहुवचनं कृतम् । अणुस्कन्धा इत्येकविभक्तिनिर्देशो युक्तो लघुत्वादिति चेत् तन्नोभयसूत्रसम्बन्धार्थत्वाद्भेदकरणस्य । तेन स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तोऽणवः । स्कन्धाः पुनः शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतयन्तश्च स्पर्शादिमन्तश्चेत्ययमभिसम्बन्धः सिद्धो भवति । समासे पुनः समुदायस्यार्थवत्वादवयवार्थाभावाद्भेदे-

---

सूत्रार्थ—पुद्गल द्रव्य के दो प्रकार हैं अणु और स्कन्ध । प्रदेशमात्र में होने वाले स्पर्शादि गुणों द्वारा जो सतत् परिणमन करते हैं उन्हें अणु कहते हैं । अण्यंते इति अणवः ऐसी निष्पत्ति है । ये अत्यन्त सूक्ष्म होने से स्वयं ही आदि मध्य अन्त स्वरूप हैं, कहा भी है—जो स्वयं ही आदि है स्वयं मध्य और स्वयं अन्तरूप है, इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है ऐसा जो अविभागी द्रव्य है उसको परमाणु जानो ।।१।। (पंचास्तिकाय) स्थूल होने से ग्रहण करना रखना आदि व्यापार योग्य जो होवे वे स्कन्ध कहलाते हैं । यद्यपि द्वयणुक आदि स्कन्ध ग्रहण आदि व्यापार के योग्य नहीं होते तो भी रूढिवश उन्हें भी स्कन्ध कहते हैं । यद्यपि पुद्गल के अनन्त भेद हैं तो भी अणुओं की जाति और स्कन्धों की जाति से उनके दो प्रकार हैं उनका यहां सूत्रमें ग्रहण किया है जाति के आधार से होने वाले अनन्त भेदों की सूचना के लिये अणवः स्कन्धाः ऐसा बहुवचन किया गया है ।

शंका—'अणु स्कन्धाः' ऐसा एक विभक्ति निर्देश करना चाहिए जिससे सूत्र लघु हो जाय ?

समाधान—यह ठीक नहीं है । दो सूत्रों के संबंध के लिए भेद निर्देश किया है । उससे यह ज्ञात होता है कि अणु, स्पर्श, रस, गंध वर्ण वाले होते हैं । और स्कन्ध शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत वाले तथा स्पर्शादि युक्त भी होते हैं । इस तरह पूर्वोक्त स्पर्शादि वाला सूत्र और शब्द बंध इत्यादि वाला

नाभिसम्बन्धः कर्तुं न शक्यते । तत्र परमाणुः केनचित्प्रकारेण कार्यरूपो भेदादणुरिति वक्ष्यमाणत्वात् । द्वयणुकादिकार्यस्य हेतुत्वात्कारणरूपश्च भवति । द्रव्यार्थतया व्ययोदयाभावात्स्यान्नित्यः । स्नेहादि-विपरिणामाभ्युपगमात्स्यादनित्यश्च । तथा व्यक्तिरूपेणैकरस एकवर्ण एकगन्धश्च परमाणुर्वेदितव्यो निरवयवत्वात् । सावयवानां हि मातुलुङ्गादीनामनेकरसत्वं दृश्यते । अनेकवर्णत्वं च मयूरादीनाम् । अनेकगन्धत्वं च पवनादीनाम् । निरवयवश्चाणुस्तस्मादेकरसवर्णगन्धो भवति । द्विस्पर्शश्चाणुरवगन्तव्यो विरोधाभावात् । कौ पुनर्द्वौ स्पर्शौ ? शीतोष्णस्पर्शयोरन्यतरः स्निग्धरूक्षयोरन्यतरश्च एकः प्रदेश-त्वाद्विरोधिनोर्युगपदनवस्थानात् । गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शानां तु परमाणुष्वभावः स्कन्धविषयत्वात् । शक्तिरूपेण तु सर्वेऽपि रसादयः सन्ति । कथं पुनस्तेषामणूनामत्यन्तपरोक्षाणामस्तित्वमवसीयते ? इति

सूत्र इन दोनों का इस सूत्र के साथ संबंध सिद्ध करने हेतु 'अणवः स्कंधाश्च' ऐसा भिन्न विभक्ति परक निर्देश किया है । यदि यहां समासान्त पद बनाते तो समुदाय अर्थ होने से भिन्न-भिन्न अवयव (अणु अवयव और स्कंध अवयव) अर्थ का अभाव होने से क्रमशः भेद संबंध नहीं कर पाते ।

अब परमाणु का वर्णन करते हैं—परमाणु किसी एक प्रकार से कार्यरूप होता है 'भेदादणुः' ऐसा आगे सूत्र कहेंगे । वही परमाणु द्वयणुक आदि कार्य का हेतु होने से कारणरूप भी होता है । ये परमाणु द्रव्य दृष्टि से उत्पाद व्यय रहित हैं अतः नित्य कहलाते हैं और स्नेह आदि गुणरूप परिणमन करते हैं अतः कथंचित् अनित्य हैं । तथा एक परमाणु में व्यक्त रूप से एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध (और दो स्पर्श) होता है क्योंकि वह अवयव रहित है । सावयवभूत जो मातुलुंग फलादि पुद्गल स्कन्ध होते हैं उनमें अनेक रस पाये जाते हैं और मयूर आदि में अनेक वर्ण पाये जाते हैं । वायु आदि में अनेक गंध हैं । परमाणु अवयव रहित है अतः उसमें एक रस, एक गंध, एक वर्ण होता है । किन्तु इसमें स्पर्श दो रहते हैं, क्योंकि दो स्पर्श रहने में विरोध नहीं आता । वे दो स्पर्श कौनसे हैं ऐसा प्रश्न होने पर बताते हैं कि शीत और उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक स्पर्श होता है । यह परमाणु एक प्रदेशी है अतः इसमें विरोधी स्पर्शादि गुण एक साथ नहीं रहते । गुरु, लघु, मृदु और कठिन इन चार स्पर्श गुणों का तो परमाणु में अभाव है क्योंकि ये गुण स्कन्ध में संभव हैं । ऊपर जो परमाणुओं के गुण बताये वे व्यक्तता की अपेक्षा बताये हैं । शक्ति की अपेक्षा सभी रसादि गुण परमाणु में होते हैं ।

प्रश्न—वे अणु अत्यन्त परोक्ष हैं इसलिए उनका अस्तित्व कैसे जाना जाय ?

चेदुच्यते—अणूनामस्तित्वं कार्यलिङ्गत्वात्—कार्यलिङ्गं हि कारणमिति वचनात्। परमाणूनामभावे शरीरेन्द्रियमहाभूतादिलक्षणस्य कार्यस्य प्रादुर्भावाघटनात्। तथा चोक्तम्—

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ इति ॥

अथ के स्कन्धाः ? वक्ष्यमाणबन्धं परिप्राप्ता येऽणवस्ते स्कन्धा इति व्यपदिश्यन्ते। ते च त्रिविधाः—स्कन्धाः स्कन्धदेशाश्च स्कन्धप्रदेशाश्चेति। तत्रानन्तानन्तपरमाणुबन्धविशेषः स्कन्धः। तदर्धं देशः। अर्धार्धं प्रदेशः। तद्भेदाः पृथिव्यप्तेजोवायवः स्पर्शादिशब्दादिपर्यायाः प्रसिद्धाः न पुन-

---

उत्तर—अणुओं का अस्तित्व कार्य लिंग से ज्ञात होता है। क्योंकि 'कार्यलिंगं हि कारणम्' कार्य के लिंग से कारण जाना जाता है, अर्थात् कार्य को देखकर कारण का अनुमान सहज ही हो जाया करता है। देखिये ! यदि परमाणु नहीं होवे तो शरीर, इन्द्रियां, महाभूत-पृथिवी, जल, अग्नि और वायु रूप जो कार्य दिखायी देते हैं उन कार्यों की उत्पत्ति हो नहीं सकती थी। कहा भी है—जो अन्त्य सूक्ष्म है, नित्य है, वह कारण परमाणु ही है, वह परमाणु एक रस, गन्ध वर्ण वाला तथा दो स्पर्श वाला होता है एवं कार्य लिंग से ज्ञात होता है ॥१॥

प्रश्न—स्कन्ध कौनसे है ?

उत्तर—आगे कहे जाने वाले बन्ध को जो अणु प्राप्त हो चुके हैं वे स्कन्ध कहलाते हैं। वे तीन प्रकार के हैं—स्कन्ध, स्कन्ध देश और स्कन्ध प्रदेश। उनमें जो अनंतानंत परमाणुओं का बन्ध विशेष है वह स्कन्ध है। उस स्कन्ध का आधा स्कन्धदेश कहलाता है और स्कन्धदेश का आधा भाग स्कन्धप्रदेश कहा जाता है। इनके ही पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये भेद हैं तथा स्पर्शादि गुण युक्त शब्दादि प्रसिद्ध पर्यायें भी स्कन्ध ही हैं। चार गुण वाली पृथिवी जाति है, तीन गुण वाली जल जाति, दो गुण वाली अग्नि जाति और एक गुण वाली वायु जाति है ऐसा कथन असत्य है। भाव यह है कि नैयायिक आदि परवादियों के यहां पृथिवी आदि पृथक्-पृथक् चार जातियां मानी हैं, परमाणुओं में भी जातियां हैं। पार्थिव जाति के परमाणुओं से पृथिवी तत्त्व बनता है, जल जाति के परमाणुओं से जल तत्त्व बनता है इत्यादि। ऐसा उनका कहना है किंतु यह मान्यता प्रत्यक्ष से ही बाधित होती है, देखा जाता है कि जल बिंदु से मोती रूप

श्चतुस्त्रिद्व्येकगुणाः पार्थिवादिजातिभिन्ना इति । तत्र स्कन्धानां तावदुत्पत्तिहेतुप्रतिपादनार्थमाह—

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ।। २६ ।।

बाह्याभ्यन्तरविपरिणामकारणसन्निधाने सति संहतानां स्कन्धानां विदारणं भेदः । पृथग्भूतानामेकत्वापत्तिः संघात इति कथ्यते । भेदसंघातयोर्द्वित्वाद्द्विवचनेन भवितव्यमिति चेत् तन्न—बहुवचनस्यार्थविशेषज्ञापनार्थत्वात् । अतो भेदेन संघातो भेदसंघात इत्यस्यापि ग्रहणं सिद्धं भवति । उत्पूर्वः पदिर्जन्यर्थो द्रष्टव्यः । उत्पद्यन्ते जायन्त इति यावत् । तदपेक्षो भेदसंघातेभ्य इति हेतुनिर्देशः । भेदात्संघाताद्भेदसंघाताभ्यां च स्कन्धा उत्पद्यन्ते । तद्यथा—द्वयोः परमाण्वोः संघाताद्द्विप्रदेशः स्कन्ध

पृथिवी जल से विद्युतरूप अग्नि उत्पन्न होती है । अतः टीकाकार ने उक्त मान्यता का निरसन कर कहा है कि पृथिवी आदि सर्व स्कन्धरूप पुद्गल द्रव्य है स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है ।

अब यहां पर स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण बताते हैं—

सूत्रार्थ—स्कन्ध भेद से, संघात से और भेद संघात से उत्पन्न होते हैं ।

बाह्य और अभ्यन्तर परिणमन के कारण मिलने पर संहत स्कन्धों का विदारण होना भेद है । पृथक्भूत परमाणु या स्कन्धों का मिलना संघात है ।

शंका—भेद और संघात ये दो हैं अतः सूत्र में 'भेद संघाताभ्यां' ऐसा द्विवचन होना चाहिए ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, विशेष अर्थ का ज्ञापन कराने हेतु बहुवचन दिया है । वह विशेष अर्थ यह है कि भेद होकर संघात होना और उससे स्कन्ध उत्पन्न होना यह भी एक स्कन्ध उत्पत्ति का प्रकार है, अर्थात् कोई स्कन्ध है, उसमें से कुछ अंश का भेद–विदारण हुआ पुनः उसमें कुछ अंश का मिलना संघात हुआ इस तरह भेद और संघात दो प्रक्रिया से भी स्कन्ध उत्पन्न होता है । यह स्कन्ध उत्पत्ति का तीसरा प्रकार है उसके ग्रहण करने के लिये सूत्र में बहुवचन का प्रयोग हुआ है । उत् उपसर्ग युक्त पदि धातु उत्पन्न होने से अर्थ में उत्पद्यन्ते जायन्ते–उत्पन्न होते हैं ऐसा अर्थ जानना । उस अर्थ में 'भेद संघातेभ्यः' इस तरह हेतु निर्देश–पंचमी विभक्ति हुई है । भेद से संघात से और भेद संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं । अब इसीको बताते हैं—दो

उत्पद्यते । द्विप्रदेशस्य स्कन्धस्याणोश्च त्रयाणां चाणूनां संघातात्त्रिप्रदेशः । द्वयोर्द्विप्रदेशस्कन्धयोस्त्रिप्रदेशस्कन्धस्याणोश्चतुर्णां संघाताच्चतुःप्रदेशः स्कन्ध उत्पद्यते । एवं संख्येयानामसंख्येयानामनन्तानां च संघातात्तावत्प्रदेशः स्कन्धो जायते । एषामेव स्कन्धानां भेदाद्द्विप्रदेशपर्यन्ताः स्कन्धा उत्पद्यन्ते । एवं भेदसंघाताभ्यामेकसमयिकाभ्यां द्विप्रदेशादयः स्कन्धा उत्पद्यन्ते । अन्यतो भेदनादन्यस्य संघातेनेति । एवमुक्तानामणुस्कन्धानामविशेषेण भेदादिहेतुकोत्पत्तिप्रसङ्गे विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

भेदादणुः ॥ २७ ॥

भेदादेवाणुरुत्पद्यत इति सम्बन्धः । तर्ह्येवकारोऽत्र नियमार्थः कथं न कृत इति चेत्तन्न—सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेरेवकारावचनमब्भक्षवत् । यथा न कश्चिदपो न भक्षयतीत्यब्भक्षणे सिद्धे अब्भक्षकोऽयं देवदत्त इति वचनादप एव भक्षयतीत्यवधारणं गम्यते तथा भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्त

परमाणुओं के संघात से स्कन्ध उत्पन्न होता है । दो प्रदेश वाला स्कन्ध और एक अणु के संघात से तथा तीन अणुओं के संघात से तीन प्रदेश वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है । दो-दो प्रदेश वाले स्कन्धों के संघात से अथवा तीन प्रदेशी स्कन्ध और एक परमाणु इस प्रकार चार के संघात से चार प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है । इस तरह संख्येय असंख्येय और अनन्त परमाणुओं के संघात से उतने-उतने प्रदेशों वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है । इसी प्रकार एक ही समय में भेद संघात दोनों प्रक्रिया से दो प्रदेशी आदि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं । इसमें एक किसी अन्य अंश का तो भेद होता है और अन्य किसी अंश का संघात होकर स्कंध बनता है ।

अणु और स्कंध दोनों के ही अविशेषरूप से भेदादि द्वारा उत्पत्ति होने का प्रसंग प्राप्त होने पर विशेष प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—भेद से अणु की उत्पत्ति होती है । अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है ऐसा सम्बन्ध है ।

प्रश्न—तो फिर सूत्र में एव शब्द नियम के लिए क्यों नहीं दिया ?

उत्तर—यह अवधारण की प्रतीति तो सामर्थ्य से ही होती है, इसलिए एव शब्द नहीं दिया है । जल भक्षण के समान, जैसे कोई व्यक्ति जल नहीं खाता (पीता) हो ऐसा नहीं है सभी जल तो लेते ही हैं इस तरह जल भक्षण का नियम सिद्ध होने पर 'यह देवदत्त जल भक्षण करता है' ऐसे वाक्य से केवल जल ही भक्षण करता है ऐसा अवधारण जाना ही जाता है, ठीक इसी प्रकार 'भेद संघातेभ्यः उत्पद्यंते' इस सूत्र द्वारा

इत्यनेनैवाणोर्भेदादुत्पत्तौ सिद्धायां पुनर्वचनमवधारणार्थं भवति—भेदादेवाणुर्न संघातान्नापि भेदसंघाताभ्यामिति । संघातादेव स्कन्धानामात्मलाभे सिद्धे भेदसंघातग्रहणस्यानर्थक्यप्रसङ्गे तत्प्रयोजनप्रतिपत्त्यर्थमिदमुच्यते—

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

भेदश्च संघातश्च भेदसंघातौ तुल्यकालौ । ताभ्यां भेदसंघाताभ्याम् । चक्षुषा ग्राह्यश्चाक्षुषो दृश्य इति यावत् । अनन्तानन्तपरमाणुसमुदयनिष्पाद्योऽपि स्कन्धः कश्चिच्चाक्षुषः कश्चिच्चाचाक्षुषो भवति । तत्राचाक्षुषोऽपि कश्चिद्भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषो जायते । कात्रोपपत्तिरिति चेदुच्यते—सूक्ष्मपरिणामस्य स्कन्धस्य भेदे सौक्ष्म्यापरित्यागादचाक्षुषत्वमेव । सूक्ष्मपरिणतः पुनरपरः सत्यपि तद्भेदे संघातान्तरसंयोगात्सौक्ष्म्यपरिणामोपरमे स्थौल्योत्पत्तौ दृश्यो भवति । भिन्नकाले तु स्थूलस्कन्धस्य भेदोऽपि दृश्यत्वहेतुः प्रागेवोक्तः प्रभूनरसगृहीताल्पतमहेमवत् भेदाभावे तदुपलभ्यत्वाभावात् । न च

ही अणु की उत्पत्ति भेद से होती है यह सिद्ध था फिर भी पुनः यह सूत्र आया है वह अवधारण हेतु ही आया है । जिससे यह निर्णय होता है कि अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है, वह न संघात से होती है और न भेद संघात से होती है । स्कन्धों की उत्पत्ति संघात से होती है, अतः भेद संघात पद का ग्रहण व्यर्थ होने का प्रसंग आने पर उस पद का प्रयोजन बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—चाक्षुष स्कन्ध भेद संघात से उत्पन्न होता है ।

भेद संघात पदों में द्वन्द्व समास है । ये भेद संघात एक साथ होकर स्कन्ध बनता है । नेत्र द्वारा जो ग्राह्य–दृश्य हो उसे चाक्षुष कहते हैं । अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदाय से निष्पन्न हुआ भी कोई स्कन्ध चाक्षुष होता है और कोई स्कंध अचाक्षुष होता है । उनमें जो अचाक्षुष स्कंध है वह भेद और संघात द्वारा चाक्षुष बन जाता है । इसमें क्या उपपत्ति है सो बताते हैं—सूक्ष्म परिणाम वाले स्कंध का भेद हो जाने पर उसके सूक्ष्मता का त्याग नहीं होता अतः वह अचाक्षुष ही बना रहता है, अब वह सूक्ष्म परिणत हुआ एक अन्य रूप स्कंध माना जायगा । उसमें अन्य किसी स्कंध का संघात हुआ तथा उसने अपने सौक्ष्म्य को छोड़ दिया तब जाकर स्थूलता की उत्पत्ति हो जाने से वह स्कंध चाक्षुष या दृश्य बनता है । भिन्नकाल में यदि स्कंध का भेद होता है तो उससे भी दृश्य–चाक्षुष बनता है (क्योंकि वह पहले भी चाक्षुष ही था) इस प्रकार का भेद से होने वाले चाक्षुष स्कंध का प्रतिपादन पहले के (२६वें) सूत्र में ही कर दिया है । यदि कोई स्कंध सूक्ष्म या अचाक्षुष है और उसमें भेद नहीं किया जाता तो वह

भेदो द्रव्योत्पत्तिहेतुरेव न भवतीति युक्तं वक्तुं—संयोगवत्तत्कारणत्वदर्शनात्तदन्वयव्यतिरेकानुविधाना-त्कार्यद्रव्यस्य तथाप्रतीतेर्बाधकाभावाच्च । अत्र कश्चिदाह—धर्मादीनां द्रव्याणां विशेषलक्षणान्युक्तानि । सामान्यलक्षणं तु नोक्तम् । तदिदानीं वक्तव्यमित्यत्रोच्यते—

सद्द्रव्यलक्षणम् ।। २९ ।।

यत्सत्तद्द्रव्यलक्षणं भवति । यद्येवं प्राप्तमिदं सतः किं लक्षणमित्युच्यते—

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।। ३० ।।

उपलभ्य नहीं हो सकता, जैसे बहुत से गूढ रस में अल्पतम सुवर्ण है तो वह भेद के अभाव के कारण उपलब्ध नहीं होता ।

भेद को द्रव्य की (स्कंध की) उत्पत्ति में कारण ही नहीं माना जाता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे संयोग द्रव्योत्पत्ति का कारण देखा जाता है वैसे भेद भी कार्यद्रव्य का अन्वय व्यतिरेक रूप अनुविधान करता है अर्थात् भेद होने पर स्कंध होना और भेद न होने पर नहीं होना इस प्रकार का अनुविधान कार्य द्रव्य (स्कंध) के साथ भेद का भी पाया जाता है, क्योंकि वैसी प्रतीति होती है एवं इसमें कोई बाधा भी नहीं है । अभिप्राय यह है कि जैसे संघात से स्कन्धोत्पत्ति होती है वैसी भेद से भी स्कन्धोत्पत्ति होती है इसमें कोई बाधा नहीं है ।

शंका—धर्म आदि द्रव्यों के विशेष २ लक्षण तो कह दिये किन्तु उनका सामान्य लक्षण नहीं कहा है ? उसको अब कहना चाहिए ?

समाधान—उसीको आगे सूत्र में कहते हैं—

सूत्रार्थ—धर्मादि द्रव्यों का लक्षण सत् है । जो सत् है वह द्रव्य का लक्षण है ।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो यह बताइये कि सत् का लक्षण कौनसा है ?

उत्तर—सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—सत् का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त होना है ।

चेतनस्याऽचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमपरित्यजतो निमित्तवशाद्भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पाद इत्युच्यते—मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत् । तथा पूर्वभावविगमो व्ययनं व्यय इति कथ्यते—यथा घटोत्पत्तौ पिण्डाकृतेः । अनादिपारिणामिकस्वभावत्वेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवः । ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यं - यथा पिण्डघटाद्यवस्थासु मृदाद्यन्वयात् । उत्पादश्च व्ययश्च ध्रौव्यं चोत्पादव्ययध्रौव्याणि । तैर्युक्तं संबद्धं समाहितं वा उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति बोद्धव्यम् । ननु सर्वथा भेदे सति युक्तशब्दो लोके प्रयुज्यमानो दृष्टो मत्वर्थीयवत् । यथा गावः सन्त्यस्य गोमान्, दण्डेन युक्तो दण्डयुक्तो देवदत्त इति । तथा च सति भवत्पक्ष उत्पादादिधर्माणां त्रयाणां निराश्रयत्वात् द्रव्यस्य च निःस्वरूपत्वादभावः प्राप्नोतीति । नैष दोषः—अभेदेऽपि कथञ्चिद्भेदनयविवक्षायां

चेतन या अचेतन द्रव्य का अपने जाति को नहीं छोड़ते हुए निमित्तवश भावांतर रूप हो जाना उत्पाद कहलाता है, जैसे मिट्टी के पिंड का घट पर्यायरूप हो जाना, द्रव्य में पूर्व भाव का अभाव होना व्यय है, जैसे घट की उत्पत्ति होने पर पिण्डाकार का अभाव होता है । अनादि पारिणामिक स्वभाव से देखने पर उत्पाद व्यय का अभाव होने से जो ध्रुव रहता है वह ध्रुव है ध्रुव के भाव या कर्मको ध्रौव्य कहते हैं, जैसे मिट्टी पिंड, घट इत्यादि अवस्थाओं में मिट्टी द्रव्य अन्वयरूप से ध्रुव है, उत्पाद आदि पदों में द्वन्द्व समास करके फिर युक्त पद जोड़ना चाहिए । इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला सत् है ऐसा जानना चाहिए ।

शंका—आपने 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त' ऐसा कहा यह युक्त शब्द लोक में किसी वस्तुओं में भेद होने पर उनके मिलने में प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है, जैसे मत्वर्थीय होता है, अर्थात् जैसे गायें जिसके हैं वह गोमान्, दण्ड जिसके है अथवा दण्ड से युक्त देवदत्त है इत्यादि में युक्त शब्द मत्वर्थीय में प्रयुक्त होता है । इस तरह उत्पाद आदि से युक्त होना अर्थ सिद्ध करते हैं तो आप जैन के पक्ष में उत्पाद आदि तीनों धर्म निराश्रय होवेंगे और उससे द्रव्य निःस्वरूप हो जाने से खुद द्रव्य का अभाव सिद्ध हो जायगा । अभिप्राय यह है कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त सत् होता है ऐसा कहने पर दण्ड जैसे देवदत्त से भिन्न है वैसे उत्पाद आदि द्रव्य से भिन्न ठहरते हैं किंतु जैन के यहां उत्पाद आदि से भिन्न कोई द्रव्य सिद्ध नहीं है, जब द्रव्य नहीं है तब उत्पादादि किस आश्रय में होंगे ? तथा उत्पाद आदि द्रव्य का स्वरूप है जब वह स्वरूप नहीं रहेगा तो द्रव्य निःस्वरूप शून्य होवेगा ?

युक्तशब्दस्य लोके प्रयोगदर्शनान्मत्वर्थीयवदेव । यथात्मवानात्मा । सारवान् स्तम्भ इति मत्वर्थीयस्तथा सारयुक्तस्तम्भ इति युक्तशब्दोऽपि दृश्यते । एवमुत्पादादियुक्तं जीवादिद्रव्यं सदित्येतदपि घटामटत्येव । अथवा नायं युजिर्योग इत्यस्य युजेर्युक्तमिति शब्दः साध्यते किं तर्हि युजसमाधावित्यस्य साध्यते । युक्तं समाहितमित्यर्थः । समाधानं च तात्पर्यं तादात्म्यमिति यावत् । तत्र चोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकमित्ययमर्थः सिद्धो भवति । सच्छब्दस्य प्रशंसाद्यनेकार्थसम्भवेऽपि विवक्षातोत्रास्तित्ववचनस्य ग्रहणम् । तेन सद्द्रव्यमस्ति विद्यमानं द्रव्यमित्यर्थे भवति । तत्र च पर्यायिपर्यायिणोः कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमान्न सर्वाभावः प्रसज्यते । तथा च सति पर्यायार्थनयादेशादुत्पादव्यययुक्तं द्रव्यम् । द्रव्यार्थनयादेशाद्ध्रौव्ययुक्तमिति विभागकथनस्याविरोधादेकस्मिन्नपि समये द्रव्यस्य त्रयात्मकत्वं न विरुध्यते । सांप्रतं पूर्वोद्दिष्टस्य नित्यत्वस्य लक्षणं निर्दिशन्नाह—

समाधान—ऐसा नहीं होगा । देखिये ! अभेद में भी कथंचित् भेद नयकी विवक्षा में युक्त शब्द का प्रयोग लोक में देखा जाता है, जैसे मत्वर्थीय का प्रयोग अभेद में होता है । जैसेकि आत्मावान् आत्मा है, सारवान् स्तम्भ है इत्यादि में अभेद में भी मत्वर्थीय आया है वैसे सारयुक्त स्तम्भ है इसमें भी युक्तशब्द प्रयुक्त होता है । ठीक इसी तरह जीवादि द्रव्य उत्पाद आदि से युक्त होता है वही सत् है यह कथन भी घटित होता है ।

अथवा युक्त शब्द युजिर्योगे इस धातु से सिद्ध नहीं करते किन्तु 'युजः समाधौ' इस धातु से सिद्ध करते हैं, जिसका अर्थ होता है—युक्त-समाहित, अर्थात् समाधान यहां समाधान से तात्पर्य है तादात्म्य से । इसमें 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त' का अर्थ हुआ उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक है ।

सत् शब्द प्रशंसा आदि अनेक अर्थ में आता है किन्तु यहां विवक्षा से अस्तित्व अर्थ लिया है, 'द्रव्य सत् है' ऐसा कहने पर द्रव्य विद्यमान है यह अर्थ होता है । पर्याय और पर्यायी में कथंचित् भेद स्वोकार किया है । अतः सर्व अभाव का प्रसंग नहीं आता । इसमें पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा से द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त है, और द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा से ध्रौव्य युक्त है, इस तरह नयों के विभाग के अनुसार कथन करने में विरोध नहीं आता, तथा एक ही समय में द्रव्य का त्रयपना विरुद्ध भी नहीं पड़ता ।

पूर्व में कहे हुए नित्यत्व का लक्षण बताते हैं—

तद्भावाऽव्ययं नित्यम् ।। ३१ ।।

तदेवेदं वस्त्विति प्रत्यभिज्ञानं यस्मिन् हेतौ भवति स तद्भाव इति कथ्यते । तस्य वस्तुनो भवनं भावस्तस्य भावस्तद्भावः । येनात्मना प्राग्दृष्ट वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावस्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते । यद्यत्यन्तविनाशाभिनवप्रादुर्भावमात्रमेव स्यात्तदा स्मरणानुपपत्तेस्तदधीनो लोकव्यवहारो विरुध्यते । ततस्तद्भावेन द्रव्येणाव्ययं ध्रुवं तद्भावाव्ययं नित्यमिति निश्चीयते । सामर्थ्यादुत्पादव्ययभावात्तदनित्यमित्यप्यवगम्यते । ननु तदेव नित्यं तदेव चानित्यमिति विरुद्धमेतत् । यदि नित्यं तद्रा व्ययोदयाभावादनित्यताव्याघातः । अथानित्यमेव तर्हि स्थित्यभावान्नित्यताव्याघात इति । नैतद्विरुद्धम् । कुतः ?—

अर्पितानर्पितसिद्धेः ।। ३२ ।।

सूत्रार्थ—उसके भावका व्यय नहीं होना नित्य कहलाता है । वह ही यह वस्तु है इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान जिसके निमित्त से होता है वह उसका तद्भाव है । उस वस्तु का जो होना है वह उसका भाव है । जिस स्वरूप से वस्तु पहले देखी थी उसी स्वरूप से पुनः फिर भी होना वह उस वस्तु का भाव है जिससे कि 'वही यह है' ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है । यदि क्षणिकवादी बौद्ध के अनुसार वस्तु का सर्वथा नाश व्यय और सर्वथा नूतन की उत्पत्ति मानी जाती है, तो ऐसी वस्तु का कालांतर में स्मरण नहीं हो सकता, और स्मरण के अभाव में उससे होने वाला लोक व्यवहार भी नहीं हो सकता । अतः द्रव्य का उस भाव से जो अव्यय-ध्रुव होना है वह नित्य है ऐसा निश्चय होता है । इस नित्यत्व के लक्षण की सामर्थ्य से उत्पाद व्यय का भाव अनित्यत्व है ऐसा जाना जाता है ।

शंका—वही वस्तु नित्य है और वही अनित्य है ऐसा मानना विरुद्ध है । यदि वस्तु को नित्य मानते हैं तो उसमें उत्पाद व्यय संभव नहीं है अतः अनित्य नहीं रहता और यदि अनित्य मानते हैं तो स्थिति का अभाव होने से नित्यत्व समाप्त होता है ?

समाधान—यह विरुद्ध है अर्थात् नित्य और अनित्यत्व को एकत्र मानना विरुद्ध नहीं है । कैसे सो ही सूत्र द्वारा बताते हैं—

सूत्रार्थ—अर्पित और अनर्पित द्वारा वस्तु धर्मों की सिद्धि होती है ।

अनेकात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्य चिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितप्राधान्यमर्थरूपमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितं प्रयोजनाभावात्। सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते। अर्पितं चानर्पितं चार्पितानर्पिते। ताभ्यां सिद्धिरर्पितानर्पितसिद्धिस्तस्या हेतोः सर्वं वस्तु नित्यमनित्यं च न विरुध्यते। सर्वथैकान्त एव विरोधसद्भावात्। तद्यथा—मृत्पिण्डो रूपिद्रव्यमित्यर्पितः स्यान्नित्यस्तदर्थापरित्यागात्। अनेकधर्मपरिणामिनोऽर्थस्य धर्मान्तरविवक्षाव्यापाराद्रूपिद्रव्यात्मनाऽनर्पणान्मृत्पिण्ड इत्येवमर्पितं पुद्गलद्रव्यं स्यादनित्यं तस्य पर्यायस्याध्रुवत्वात्। तत्र यदि द्रव्यार्थिकनयविषयमात्रमेव परिगृह्येत तदा व्यवहारलोपः स्यात् तदात्मकस्यैव वस्तुनोऽसम्भवात्। यदि च पर्यायार्थिकनयगोचरमात्रमेवाभ्युपगम्यते तदापि लोकयात्रा न सिध्यति-तथाविधस्यैव वस्तुनोऽसद्भावात्। तयोरेकत्रोपसंहृतयोरेव लोकयात्रासामर्थ्यं भवति। तदुभयात्मकस्य वस्तुनः प्रसिद्धेरित्येवमर्पितानर्पितव्यवहारसिद्धे नित्यत्वानित्यत्वे विरोधाभावात्। कुतः पुनर्निरंशपरमाणूनामन्योऽन्यं बन्धो यतः स्कन्धः परमार्थसन्नित्याह—

वस्तु अनेक धर्म-गुण-स्वभाव वाली है। प्रयोजन के वश से उन अनेक धर्मों में से किसी एक धर्मकी विवक्षा द्वारा उसको प्रधान कर देना अर्पित या उपनीत कहलाता है। उससे जो विपरीत है अर्थात् जिस धर्म की विवक्षा नहीं है वह अनर्पित कहलाता है, अनर्पित प्रयोजन रहित है। अर्पित और अनर्पित द्वारा सिद्धि होती है। उसी कारण से सर्ववस्तु नित्य और अनित्यरूप मानने में विरोध नहीं आता। हां ! सर्वथा एकांत में तो विरोध आता है। आगे इसीको बतलाते हैं—जैसे मिट्टी का पिंडरूपी द्रव्य है ऐसा कथन अर्पित होने पर वस्तु (मिट्टी, रूपित्व) कथंचित् नित्य है, क्योंकि मिट्टीरूप अर्थ का कभी त्याग या अभाव नहीं होता। अनेक धर्मों में परिणमन वाली वस्तु में धर्मांतर की विवक्षा होने पर तथारूपी द्रव्यपने से अनर्पित गौणता होने पर 'मिट्टी का पिंड है' ऐसा अर्पित-प्रधान करके उस पुद्गल द्रव्य में अनित्यपना आ जाता है—कहा जाता है, क्योंकि पर्याय अध्रुव होती है। अब यदि इनमें से केवल द्रव्यार्थिकनय के विषय को ही ग्रहण किया जाता है-माना जाता है तो व्यवहार का लोप होता है, वस्तु मात्र द्रव्यात्मक ही नहीं है। तथा यदि पर्यायार्थिकनय के विषयभूत वस्तु को ही केवल स्वीकार किया जाता है अर्थात् वस्तु मात्र पर्यायरूप है ऐसा माना जाता है तो उतने मात्र से लोक यात्रा सिद्ध नहीं होती, तथा वैसी वस्तु का सद्भाव ही नहीं है। जब एक ही वस्तु में द्रव्य और पर्याय (नित्य और अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् इत्यादि) दोनों का अस्तित्व होगा तभी लोक यात्रा संभव है। इस तरह वस्तु उभयात्मक प्रसिद्ध

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

बाह्याभ्यन्तरकारणवशात्स्नेहपर्यायाविर्भावात्स्निह्यते स्मेति स्निग्धः। द्वितयहेतुवशाद्रूक्षणाद्रूक्ष इत्यभिधीयते। स्निग्धश्च रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ। तयोर्भावः स्निग्धरूक्षत्वम्। स्निग्धत्वं चिक्कणत्वलक्षणः पर्यायः। तद्विपरीतः परुषत्वपरिणामो रूक्षत्वम्। स्निग्धरूक्षत्वादिति हेतुनिर्देशस्तत्कृतो बंधो द्वचणुकादिपरिणामः कथ्यते। द्वयोः स्निग्धरूक्षयोः परमाण्वोः परस्परश्लेषलक्षणे बंधे सति द्वचणुकस्कंधो भवति। एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशः स्कन्धो योज्यः। तत्राविभागपरिच्छेदैकगुणः स्नेहः प्रथमः। एवं द्वित्रिचतुस्सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तगुणश्च स्नेहविकल्पश्च स्यात्। तथा रूक्षगुणोऽपि वेदितव्यः। तद्गुणाः परमाणवः सन्ति। यथा तोयाऽजागोमहिष्युष्ट्रीक्षीरघृतेषु स्नेहगुणः प्रकर्षाप्रकर्षभावेन वर्तते।

होती है, और उनकी सिद्धि अर्पित अनर्पित से होती है। इससे नित्यत्व अनित्यत्वको एकत्र मानने में विरोध भी नहीं आता।

प्रश्न—निरंश परमाणुओं का परस्पर में संबंध किस कारण से होता है जिससे बना स्कन्ध वास्तविक सिद्ध हो?

उत्तर—इसीको सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्निग्ध और रूक्षत्व द्वारा बंध होता है।

बाह्य और अभ्यन्तर कारणों के वश से स्नेह पर्याय आविर्भावरूप हुई थी उसे स्निग्ध कहते हैं। उन्हीं दो कारणों के वश से रूक्ष पर्याय प्रगट होने से रूक्ष कहा जाता है। स्निग्ध और रूक्ष के भावको स्निग्धरूक्षत्व कहते हैं। चिक्कणपर्याय स्निग्ध है और उससे विपरीत परुषत्व परिणाम रूक्षत्व है। 'स्निग्धरूक्षत्वाद्' ऐसा हेतु परक निर्देश (पंचमी विभक्ति) सूत्र में किया है, उस स्निग्धत्वादि के निमित्त से बंध होता है, वह द्वचणुकादि परिणामरूप कहा जाता है। दो स्निग्ध और रूक्ष वाले परमाणुओं का परस्पर में उपश्लेषरूप बंध होने पर द्वचणुक स्कन्ध पैदा होता है। इस प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशोंवाला स्कन्ध उत्पन्न होता है ऐसा लगाना चाहिए। उनमें अविभाग परिच्छेद एक गुण स्नेह प्रथम है। इस प्रकार दो, तीन, चार संख्यात असंख्यात और अनंत गुणवाला स्नेह विकल्प है। इसी तरह रूक्षगुण जानना। उन गुण वाले परमाणु होते हैं। जैसे जल, बकरी का दूध, गाय का दूध, भैंस का दूध ऊंटनी का दूध और घी में स्नेह गुण प्रकर्ष अप्रकर्षभाव से रहता है अर्थात् जल से अधिक स्नेह

पांसुकणिकाशर्करादिषु च रूक्षगुणो दृष्टस्तथा परमाणुष्वपि प्रकर्षाप्रकर्षवृत्त्या स्निग्धरूक्षगुणाः सन्तीत्यनुमानं क्रियते। सर्वपुद्गलानां स्निग्धरूक्षगुणसद्भावादविशेषेण बन्धे प्रसक्तेऽनिष्टगुणनिवृत्त्यर्थमाह—

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

स्त्रीणां पूर्वः कटीभागो जघनमित्युच्यते। ततो जघनमिव जघन्यमिति 'शाखादेर्यः' इति ये कृते सिध्यति। क उपमार्थः ? यथा शरीरावयवेषु जघनं निकृष्टं तथाऽन्योऽपि निकृष्टो जघन्य इति व्यपदिश्यते। अथवाङ्गाद्देहादित्यनेन भवार्थे ये कृतेऽस्य सिद्धिः—जघने भवो जघन्यो जघन्य इव जघन्यो निकृष्ट एवोच्यते। यद्यपि गुणशब्दोऽयं रूपादिभागोपकारादिष्वनेकेष्वर्थेषु वर्तते। तथाऽपि विवक्षावशाद्भागार्थे वर्तमानोऽत्र गृह्यते। गुणो भागोंऽश इति यावत्। जघन्यो गुणो येषां ते जघन्यगुणास्तेषां जघन्यगुणानां बन्धो नास्तीति सम्बन्धः। एतदुक्तं भवति—निकृष्टैकगुणस्य स्निग्धस्य

बकरी के दूध में, उससे अधिक गाय के दूध में इत्यादि स्नेह गुण का प्रकर्ष देखा जाता है। इससे विपरीत ऊंटनी के दूध या घी की अपेक्षा भेंस के दूध आदि में स्नेह गुणका अप्रकर्ष देखा जाता है, वैसे स्नेह गुण में तरतमता है। तथा जैसे धूलि, कण, कंकर, रेत आदि में रूक्षता का प्रकर्ष है वैसे ही परमाणुओं में स्निग्ध और रूक्ष गुण प्रकर्ष अप्रकर्ष रूप से पाये जाते हैं ऐसा अनुमान किया जाता है।

सर्व पुद्गलों में स्निग्ध और रूक्ष गुणों का सद्भाव होने से समानरूप से बंधका प्रसंग आता है इसलिए जिनमें बंध होना अनिष्ट है अर्थात् जिनमें बंध नहीं हो सकता है उनका कथन करते हैं—

सूत्रार्थ—जघन्य गुणवालों का बन्ध नहीं होता।

स्त्रियों के पूर्वकोटि भागको जघन कहते हैं उस जघन के समान जो हो वह जघन्य है। 'शाखादेर्यः' इस व्याकरण सूत्र से य प्रत्यय लाकर जघन्य शब्द बना है इसकी कौनसी उपमा है ऐसा पूछने पर कहते हैं कि जैसे शरीर के अवयवों में जघन निकृष्ट है वैसे अन्य जो भी निकृष्ट हो उसे जघन्य कहते हैं। अथवा 'अंगाद् देहात' इस व्याकरण सूत्र से भव होने अर्थ में 'य' प्रत्यय लाकर जघने भवः जघन्यः जघन्य इव जघन्यः निकृष्टः ऐसा शब्द सिद्ध किया है। गुण शब्द के रूप, भाग, उपकार आदि अनेक अर्थ होते हैं किंतु यहां पर विवक्षावश से भाग अर्थ लिया है, गुण अर्थात् भाग—अंश। जघन्य है गुण जिनके वे जघन्य गुण वाले कहलाते हैं उनके बंध नहीं होता, इस तरह सम्बन्ध करना। अर्थ यह हुआ कि निकृष्ट एक स्निग्ध गुण वाले अणुका या

रूक्षस्य वाऽणोः स्निग्धेन रूक्षेण वाऽन्येन निकृष्टैकगुणेनाधिकगुणेन वा नास्ति बन्धः । पयःसिकतादीनां स्कन्धानां जघन्यस्निग्धरूक्षत्वपरिणतानामन्योन्यं बन्धानुपलम्भस्यान्यथानुपपत्तेरिति । इदानीमजघन्यगुणानामविशेषेण बन्धप्रसङ्गनिषेधार्थमाह

गुणसाम्ये सदृशानाम् ।। ३५ ।।

गुणा भागा अंशा इति यावत् । साम्यं समत्वं तुल्यतेति यावत् । गुणैः साम्यं गुणसाम्यं, तस्मिन् गुणसाम्ये । तुल्यभागतायां सत्यामित्यर्थः सदृशानां स्निग्धजात्या रूक्षजात्या च तुल्यानामित्यर्थः । गुणसाम्यग्रहणेनैव सिद्धे सदृशग्रहणं तुल्यजातीयानामपि बन्धविधिप्रतिषेधज्ञापनार्थम् । अन्यथा पूर्वत्र क्रमपठितानामनुवर्तनात्, स्निग्धरूक्षाणामतुल्यजातीयानामेव सूत्रद्वयेऽत्र बन्धस्य प्रतिषेधः, उत्तरत्र विधिश्च स्यात् । ततोऽत्र सदृशानामिति वचनात्पूर्वत्रोत्तरत्र च स्निग्धानां स्निग्धै रूक्षाणां

निकृष्ट एक रूक्ष गुण वाले अणुका दूसरे निकृष्ट स्निग्ध या रूक्ष गुण वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता । तथा निकृष्ट स्निग्ध या रूक्ष गुणवाले परमाणु का दूसरे एक गुण अधिक वाले परमाणु के साथ बन्ध नहीं होता है । जैसे जल और रेत आदि रूप स्कंधों का जो कि जघन्य स्निग्ध रूक्षत्व से परिणत हैं उनका परस्पर में बंध नहीं होता है । इस अन्यथानुपपत्ति से परमाणुओं के भी इस तरह जघन्य गुण होने पर बंध नहीं होता यह सिद्ध हो जाता है ।

अजघन्य गुणवालों का समान रूप से बंध होने का प्रसंग आने पर जिनके बंधका निषेध है उनको बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—गुणसाम्य होने पर सदृशों का बन्ध नहीं होता ।

गुण, भाग और अंश ये एकार्थवाची शब्द हैं । साम्य, समत्व और तुल्य ये भी एकार्थवाची शब्द हैं । गुणों के द्वारा साम्य होना गुणसाम्य कहलाता है । उसमें अर्थात् समान भाग होने पर । स्निग्धजाति से या रूक्षजाति से तुल्य होना सदृश है । 'गुणसाम्य' ऐसा कहने से अर्थ सिद्ध होता है, फिर भी सदृश शब्द तुल्य जातीय परमाणुओं के बंध की विधि निषेध का ज्ञान कराने हेतु आया है । अन्यथा पूर्व सूत्र में क्रम से कहे गये (३३ सूत्र में) अतुल्य जातीय स्निग्धरूक्षों का ही केवल इन दो सूत्रों में (३४।३५वें सूत्रों में) बन्धका निषेध होता और आगे के सूत्र में बन्धकी विधि होती, अतः इस सूत्र में 'सदृशानाम्' ऐसा पद ग्रहण किया गया है । उससे पूर्व सूत्र और उत्तर सूत्र में स्निग्धोंका स्निग्धों के साथ, रूक्षोंका रूक्षों के साथ और स्निग्धोंका रूक्षों के साथ

रूक्षैः स्निग्धानां रूक्षैश्च गुणकारसाम्ये सति बन्धस्य प्रतिषेधवद्गुणवैषम्यविधिश्च सिद्धो भवति। अतो जघन्यवर्जानां गुणवैषम्यतुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां चाविशेषाद्बन्धस्य प्रसंगे इष्टार्थ-संप्रत्ययार्थमाह —

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३६ ॥

द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिको द्व्यधिकः। कः पुनरसौ चतुर्गुणः? आदिशब्दोऽत्र प्रकारवाची। प्रकारश्च द्वाभ्यामधिकता। तेन पञ्चगुणादीनां संप्रत्ययो भवति। अत्रावयवेन विग्रहः समुदायस्तु समासार्थस्तेन चतुर्गुणस्यापि ग्रहणं भवति। द्व्यधिक आदिर्येषां पञ्चगुणादीनामणूनां ते द्व्यधिकादय-स्तेषामेव गुणो गुणकारो येषां ते द्व्यधिकादिगुणास्तेषां द्व्यधिकादिगुणानाम्। तुशब्दोऽत्र प्रतिषेधं निवर्तयति, बन्धं च विशेषयति। तेन द्व्यधिकादिगुणानां तुल्यजातीयानामतुल्यजातीयानां च बध उक्तो भवति नेतरेषाम्। तद्यथा—द्विगुणस्निग्धस्य परमाणोरेकगुणस्निग्धेन द्विगुणस्निग्धेन त्रिगुणस्निग्धेन वा नास्ति सम्बन्धः। चतुर्गुणस्निग्धेन पुनरस्ति सम्बन्धः। तस्यैव पुनर्द्विगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन

गुणकार समान होने पर जैसे बंधका निषेध होता है वैसे ही गुणों की विषमता होने पर बन्धकी विधि भी सिद्ध हो जाती है।

गुणों की विषमता होने पर तुल्य जातीय हो चाहे अतुल्य जातीय हो दोनों का अविशेषपने से बंध होने का प्रसंग प्राप्त था अतः इष्ट अर्थ बतलाने हेतु अग्रिम सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ— दो अधिक गुणवालों का तो बन्ध होता है।

दो गुणों से अधिक द्व्यधिक कहलाता है। वह कौन है? चार गुणा है। आदि शब्द प्रकारवाची है प्रकार यह कि दो से अधिक होना। उससे पांच आदि गुणों की प्रतीति हो जाती है। 'अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः' इस व्याकरण के नियमा-नुसार चार गुणों का भी ग्रहण होता है। दो अधिक है आदि में जिनके ऐसे पांच आदिक गुणवाले जो परमाणु हैं वे द्व्यधिकादि कहलाते हैं, उन्हीं का गुण अर्थात् गुणकार जिनके है वे द्व्यधिकादिगुणा कहलाते हैं उनके। यहां सूत्र में 'तु' शब्द प्रतिषेध को हटाता है और बन्धका विशेष बतलाता है। उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि तुल्य जातीय होवे चाहे अतुल्यजातीय यदि दो गुण अधिक हैं तो उन परमाणुओं का बन्ध होता है, अन्योंका नहीं। इसी का खुलासा करते हैं—दो गुण स्निग्ध वाले परमाणुका एक गुण स्निग्ध के साथ, दो गुण स्निग्ध के साथ या तीन गुण स्निग्ध के साथ बंध नहीं होता है। किन्तु यदि चार गुण स्निग्ध हैं तो उनके साथ बन्ध होता। उसी दो गुण

षट्सप्ताष्टसङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तगुणस्निग्धेन बन्धो न विद्यते। एवं त्रिगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन बन्धोऽस्ति। शेषैः पूर्वोत्तरैर्न भवति। चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति सम्बन्धः। शेषैः पूर्वोत्तरैर्नास्ति। एवं शेषेष्वपि योज्यः। तथा द्विगुणरूक्षस्यैकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्धः। चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति बन्धः। तस्यैव द्विगुणरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षादिभिरुत्तरैर्नास्ति सम्बन्धः। एवं त्रिगुणरूक्षादीनामपि द्विगुणाधिकैर्बन्धो योज्यः। एवं भिन्नजातीयेष्वपि—द्विगुणस्निग्धस्यैकद्वित्रिगुणरूक्षैर्नास्ति बन्धः। चतुर्गुणरूक्षेण त्वस्ति। उत्तरैः पञ्चगुणरूक्षादिभिर्नास्ति। एवं त्रिगुणस्निग्धादीनां पञ्चगुणरूक्षादिभिरस्ति। शेषैः पूर्वोत्तरैर्नास्ति बन्ध इति योज्यः। तथा चोक्तम्—

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्य लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्य लुक्खेण उवेदि बन्धो जहण्णवज्जो विसमे समे वा ॥ इति ॥

स्निग्ध का पांच गुण स्निग्ध के साथ, या छह, सात, आठ, संख्यात, असंख्यात और अनंत स्निग्ध गुणों के साथ बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार तीन गुण स्निग्ध का पांच गुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है, शेष कम अधिक गुण वाले स्निग्ध के साथ बन्ध नहीं होता। चार गुण स्निग्ध का छह गुण स्निग्ध के साथ बंध होता है। शेष कम अधिक गुणवाले के साथ बंध नहीं होता। इसतरह शेष में लगाना चाहिए। तथा दो रूक्ष का एक, दो, तीन गुण रूक्ष के साथ बन्ध नहीं होता, चार गुण रूक्ष के साथ तो उसका बन्ध होता है। उसी द्विगुण रूक्षका पांच गुण रूक्षादि के साथ बंध नहीं होता। इसीतरह तीन गुण रूक्ष आदि का भी दो गुण अधिक के साथ बंध होता है ऐसा लगाना चाहिए। तथा भिन्नजातीय गुणवालों में भी लगाना चाहिये, जैसे कि दो गुण स्निग्ध का एक, दो, तीन गुण रूक्षों के साथ बन्ध नहीं होता किंतु चार गुण रूक्ष के साथ तो बन्ध होता है, आगे के पांच गुण आदि रूक्षों के साथ बन्ध नहीं होता। इसी तरह तीन गुण स्निग्ध आदि का पांच गुण रूक्षादि के साथ तो बन्ध होता है किन्तु शेष कम अधिक गुणवालों के साथ बंध नहीं होता ऐसा लगाना चाहिए। कहा भी है—

दो अधिक स्निग्ध का स्निग्ध के साथ बंध होता है तथा दो अधिक रूक्षका रूक्षके साथ बन्ध होता है। एवं स्निग्ध का रूक्षके साथ भी उक्त रीत्या बन्ध सम्भव है किन्तु जघन्य गुणको छोड़कर। तुल्यजातीय और अतुल्यजातीय परमाणुओं का परस्पर में बन्ध होता है केवल जघन्य को छोड़ देना तथा दो गुण अधिक होना यह बन्ध का सामान्यतया नियम है ॥१॥

अत्र समस्तुल्यजातीयो विषमोऽतुल्यजातीय उच्यते । समस्य चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्धः । विषमस्य चतुर्गुणरूक्षस्य षड्गुणस्निग्धेनास्ति बन्ध इत्यर्थः । एवमुक्तेनैव प्रकारेण परमाणूनां बन्धे सति द्व्यणुकादिस्कन्धोत्पत्तिर्वेदितव्या अन्यथा तदनुपपत्तेः । कुतोऽधिकाभ्यां गुणाभ्यामणूनां बन्धो भवेन्नान्यथेति चेद्यस्मात्—

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

बन्धे बन्धविषये इत्यर्थः । अधिकावित्यनेन प्रकृतौ गुणौ गृह्येते । परिणमयत इति परिणामौ—भावान्तरापादकाविति यावत् । यथा क्लिन्नगुडोऽधिकमधुररसः पतितानां रेण्वादीनां स्वगुणापादनात्परिणामको दृष्टस्तथाऽधिकगुणौ परमाणुषु तदूनगुणानामणूनां परिणामकौ भवत इति कृत्वा द्विगुणादिस्निग्धरूक्षस्य चतुर्गुणादिस्निग्धरूक्षः परिणामको भवतीति । ततः पूर्वावस्थापरित्यागपूर्वकं तार्तीयिकमवस्थान्तरं प्रादुर्भवतीत्येकस्कन्धत्वमुपपद्यते । इतरथा हि शुक्लकृष्णतन्तुवत्संयोगे सत्यप्यपरिणाम-

---

गाथा में जो 'सम' शब्द आया है उसका अर्थ तुल्यजातीय है तथा विषम शब्द का अर्थ अतुल्यजातीय है । समान चार गुण वाले स्निग्धका छह गुण वाले स्निग्धों के साथ बन्ध होता है । विषम चार गुण वाले रूक्षका छह गुण वाले स्निग्ध के साथ बंध होता है । यह अर्थ है । इस प्रकार से परमाणुओं के बन्ध हो जाने पर द्व्यणुक आदि स्कन्धो की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं होती ऐसा निश्चय से जानना चाहिए ।

प्रश्न—दो अधिक गुणवाले अणुओं के साथ ही क्यों बन्ध होता है, अन्य प्रकार से बन्ध क्यों नहीं होता ?

उत्तर—अब इसीको सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—बंध होने पर अधिक गुणवाले रूप परिणमन होता है । 'अधिकौ' इस पद से प्रकृत के दो गुण ग्रहण किये जाते हैं । जो परिणमन करते हैं वे पारिणामिक कहलाते हैं अर्थात् भावान्तर को प्राप्त होना पारिणामिक है । जैसे गीला गुड़ अधिक मधुर रस वाला है तो वह अपने चारों ओर पड़े हुए धूली आदि को अपने गुणरूप परिणमन करता हुआ देखा जाता है, ऐसे ही अधिक गुण परमाणुओं में उनसे हीन (कम) गुणवाले परमाणुओं का परिवर्त्तन हो जाया करता है । इसी तरह दो गुण आदि स्निग्ध या रूक्षका चार गुणवाले स्निग्ध रूक्ष के साथ बन्ध होने पर उसी स्वरूप परिणमन हो जाता है, इस तरह परिणमन होने से पूर्व अवस्था का त्याग होकर एक तीसरी अवस्था ही उत्पन्न हो जाती है, वह एक स्कन्धरूप बन जाता है । यदि ऐसा

कत्वात् सर्वं विविक्तरूपेणैवावतिष्ठेत् । दृश्यते हि संश्लेषे सति वर्णगन्धरसस्पर्शानामवस्थान्तरभावः शुक्लपीतादिसंयोगे शुकपत्रवर्णादिप्रादुर्भाववदिति । एवमुक्तविधिना बन्धे प्रतिपादिते सति पौद्गलिकं कर्मात्मिस्थमनन्तानन्तप्रदेशं कायवाङ्मनोयोगनिर्वृत्तं विस्रसोपचयोपचितानन्तप्रदेश स्निग्धरूक्षपरिणत बन्धमायातमात्मनो ज्ञानावरणादिभावेन त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयाद्यवस्थानभाक् तत्परिणामकापादितपरिणामाद्घटादिवन्न विष्वग्भवतीत्येतदप्युपपद्यत एव । इदानीं पूर्वोद्दिष्टद्रव्यलक्षणनिर्देशार्थमाह—

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ।। ३८ ।।

गुणाश्च पर्ययाश्च गुणपर्ययास्ते यस्य सन्ति तद्गुणपर्ययवदिति । अत्र गुणपर्ययेभ्यो द्रव्यस्यानन्यत्वेऽपि लक्षणादिभिः कथंचिद्भेदोपपत्तेर्मत्वर्थीय उपपद्यते । ननु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति

परिवर्त्तन न होवे तो काले और सफेद धागों के समान संयोग होने पर भी परिणमन नही होने से सर्व पृथक्-पृथक् रूप हो रह जायेंगे । किन्तु ऐसा नहीं होता । संश्लेष संबंध होने के बाद तो स्पर्श, रस, गंध और वर्णोंका अवस्थान्तर हो हो जाता है; जैसे कि सफेद और पीला आदि का संयोग होने पर तोते के पंख के समान आदि रूप वर्ण उत्पन्न होता है ।

इसतरह परमाणुओं में बंध होना स्वीकार किया है, ऐसा बंध होने से जो पौद्गलिक अनन्तानन्त प्रदेशवाला कर्म मन, वचन और काय योग द्वारा आत्मा में स्थित हुआ है, तथा विस्रसोपचय स्वरूप अनंत प्रदेशवाली कार्मण वर्गणाएं स्निग्ध रूक्ष रूप परिणत हुई बन्ध को प्राप्त होगी ये पुद्गल कर्म ज्ञानावरण आदि रूप होकर तीस कोडाकोडी सागर प्रमाणकाल तक अवस्थित रहते हैं, क्योंकि उनमें उस तरह का परिवर्त्तन हो जाने से घट आदि पदार्थ के समान वे कर्म पृथक् भाव को उतने काल तक प्राप्त नहीं होते हैं अर्थात् अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने तक आत्मा में ही अवस्थित रहते हैं आत्मा से पृथक् नहीं होते, भाव यह है कि कर्म वर्गणाओं में परस्पर में इस तरह का बंध विशेष हो जाता है कि वे कर्म स्कंध अपने नियतकाल तक अवस्थित ही रहते हैं बिखरते नहीं । यह सर्व प्रभाव परस्पर में बंधरूप परिणाम के कारण ही होता है ऐसा जानना चाहिए ।

अब इस समय पूर्व में कहे हुए द्रव्यों का लक्षण बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—द्रव्य गुण पर्याय वाला होता है । गुणपर्ययवत् पद में द्वन्द्व समास होकर अस्ति अर्थ में वन्तु (वत्) प्रत्यय आया है । इसमें गुण पर्यायों से द्रव्य अभिन्न है तो भी लक्षण आदि की अपेक्षा कथंचित् भेद होने से मत्वर्थीय वन्तु-प्रत्यय आया है ।

द्वावेवागमे नयौ प्रसिद्धौ । तृतीयस्य च गुणार्थिकस्य नयस्याभावाद्गुणाभावस्तदभावाच्च गुणपर्ययव-दिति निर्देशो नोपपद्यत इति । तदेतन्न वक्तव्यमर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशसद्भावात् । उक्तं हि तावदस्मिन्नर्हत्प्रवचनहृदये 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा' इति । अन्यत्राप्युक्तम्—

> गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविहाणं दव्ववियारोऽथ पज्जओ भणिदो ।
> ते हि अणूणं दव्वं अजुदपसिद्धं हवदि णिच्चम् ।। इति ।।

तर्हि गुणस्यापि तद्भावात्तद्विषयस्तृतीयोऽपि मूलनयः प्राप्नोतीति पूर्वोक्तो दोषस्तदवस्थ एवेति चेन्नैष दोषोऽस्ति यतो द्रव्यस्य द्वावेवात्मानौ स्तः सामान्यं विशेषश्चेति । तत्र सामान्यमुत्सर्गोऽन्वयो गुण इत्यनर्थान्तरम् । विशेषो भेदः पर्याय इत्येकार्थाः शब्दाः । तत्र सामान्यविषयो नयो द्रव्यार्थिको विशेषविषयस्तु पर्यायार्थिक उच्यते । तदुभयं पुनः समुदितमयुतसिद्धरूपं द्रव्यमिति कथ्यते । न चैवं

शंका—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ऐसे दो ही नय आगम में कहे हैं । तीसरा गुणार्थिकनय नहीं है अतः गुणोंका अभाव है और उनके अभाव से 'गुणपर्ययवत्' ऐसा निर्देश नहीं बनता ?

समाधान—ऐसा नही कहना । अर्हन्तदेव के प्रवचन हृदयादि में गुणोंका उपदेश पाया जाता है । देखिये ! इस अर्हत् प्रवचन हृदय ग्रंथ में [इसी तत्वार्थ सूत्र में] 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' ऐसा सूत्र कहा गया है । तथा अन्य ग्रन्थ में भी कहा है—गुण ऐसा कहने से द्रव्य का कथन हो जाता है और द्रव्य का विस्तार पर्याय है, इस प्रकार उन गुण और पर्यायों से युक्त द्रव्य सदा अयुत सिद्ध होता है ।।१।।

शंका—यदि गुणोंका सद्भाव है तो उसका प्रतिपादक तीसरा मूलनय होना चाहिए, इससे वहीं पूर्वोक्त दोष आता है कि शास्त्र में दो ही मूलनय कहे हैं । जब दो नय हैं तो गुणोंका सद्भाव कैसे सिद्ध हो ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करना । क्योंकि द्रव्य के दो स्वरूप हैं सामान्य और विशेष । उसमें सामान्य उत्सर्ग, अन्वय और गुण ये एकार्थवाची शब्द हैं । विशेष, भेद और पर्याय ये एकार्थवाची शब्द हैं । इनमें सामान्य विषयवाला नय द्रव्यार्थिक है । और विशेष को विषय करने वाला नय पर्यायार्थिक है । ये सामान्य और विशेष दोनों मिलकर अयुत् सिद्ध रूप द्रव्य हैं । इस तरह उनको विषय करने वाले तीसरे नयकी

तद्विषयस्तृतीयो नयो भवितुमर्हति विकलादेशत्वान्नयानाम् । तत्समुदायोऽपि प्रमाणगोचरः सकलादेशत्वात्प्रमाणस्य । अथवोत्पादव्ययध्रौव्याण्यस्माकं पर्याया उच्यन्ते । न तेभ्योऽन्ये गुणाः सन्ति । ततो गुणा एव पर्यया गुणपर्यया इति सामानाधिकरण्ये सति मत्वर्थीये च गुणपर्ययवदिति निर्देशो युज्यते । ननु यद्येवं तदर्थाभेदाद्गुणवदिति वा पर्ययवदिति वा वक्तव्यं विशेषणस्यानर्थक्यादिति । तन्न । किं कारणम् ? परमतनिराकरणार्थत्वाद्विशेषणस्य । मतान्तरे हि द्रव्यादन्ये गुणाः परिकल्पिताः । न चैवं तेषां सिद्धिः । सर्वथा भेदेनानुपपत्तेः । अतो द्रव्यस्य परिगमनं परिवर्तनं पर्यायस्तद्भेदा एव गुणा नात्यन्तं भिन्नजातीया इति मतान्तरनिवृत्त्यर्थं विशेषणं क्रियमाणं सार्थकमिति । उक्तानामेव धर्मादीनां लक्षणनिर्देशात्तद्विषय एव द्रव्यव्यपदेशाध्यवसाये प्रसक्तेऽनुक्तद्रव्यसंसूचनार्थमाह –

आवश्यकता नहीं रहती । नय विकलादेशी होते हैं । सामान्य और विशेष का समुदाय जो है वह प्रमाण का विषय है, क्योंकि प्रमाण सकलादेशी होता है । अथवा हम जैन के यहां पर उत्पाद व्यय और ध्रौव्य को पर्याय कहते हैं । इनसे पृथक् गुण नहीं होते, इस विवक्षा में गुण ही पर्याय हैं ऐसा सामानाधिकरण्य करने पर तथा मत्वर्थीय प्रत्यय वन्तु लाने पर 'गुणपर्ययवत्' ऐसा सूत्र निर्देश बन जाता है ।

शंका—गुण ही पर्याय है ऐसा अर्थ स्वीकार किया जाय तो दोनों में अर्थ भेद नहीं होने से 'गुणवत् द्रव्यं' अथवा 'पर्ययवत् द्रव्यं' इस तरह दोनों में कोई एक वाक्य रूप सूत्र ही कहना चाहिये । एक अधिक विशेषण व्यर्थ है । अर्थात् 'गुणपर्ययवत् द्रव्यम्' ऐसा न बनाकर गुण और पर्याय में से एक ही कोई पद लेना चाहिए ।

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है । परमतका निराकरण करने के लिये गुण और पर्यय दोनों विशेषण लिये हैं । मतान्तर में (नैयायिक वैशेषिक) द्रव्य से गुण पृथक् माने हैं किन्तु द्रव्य से पृथक् गुणों की सिद्धि नहीं होती । सर्वथा भेद रूप गुण यदि हैं तो ये गुण इस द्रव्य के हैं ऐसा विभाग बन ही नहीं सकता । अतः द्रव्य के परिणमन, परिवर्त्तन को पर्याय कहते हैं, उन्हीं के भेद गुण कहलाते हैं, गुण पर्याय से अत्यन्त भिन्न जातीय नहीं है । इस तरह मतान्तर का निरसन करने हेतु विशेषण दिया है इसलिये सार्थक है ।

पूर्व में कहे गये धर्मादि के लक्षण निर्देश से उसके विषय में द्रव्यसंज्ञा सिद्ध होती है अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव के ही द्रव्यसंज्ञा होने का प्रसंग प्राप्त होता है अतः जिसको अभी तक नहीं कहा गया है ऐसे द्रव्य की सूचना करते हुए सूत्र कहते हैं—

कालश्च ॥ ३९ ॥

द्रव्यमित्यनुवर्तते । ततो यथोक्तं द्रव्यलक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति च तेन लक्षणेनोपेतत्वादाकाशादिवत् कालश्च द्रव्यमित्यवगम्यते । तद्यथा—ध्रौव्यं तावत्कालस्य स्वप्रत्ययं स्वभावव्यवस्थानादस्ति । व्ययोदयौ पुनः परप्रत्ययौ, अगुरुलघुगुणवृद्धिहान्यपेक्षया स्वप्रत्ययौ च विद्येते । तथा गुणा अपि कालस्य साधारणासाधारणरूपाः सन्ति । तत्रासाधारणो वर्तनाहेतुत्वं, साधारणाश्चाचेतनत्वामूर्तत्वागुरुलघुत्वादयो गुणा विद्यन्ते । पर्यायाश्च व्ययोत्पादलक्षणा योज्याः । तस्यास्तित्वलिङ्गं सन्निवेशक्रमश्च व्याख्यातः । अत्राह - वर्तनालक्षणस्य मुख्यकालस्याऽसङ्ख्येय प्रमाणमुक्तम् । सांप्रतं परिणामादिगम्यस्य । व्यवहारकालस्य प्रमाणं वक्तव्यमित्यत आह—

सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ—काल नामका भी एक द्रव्य है । द्रव्य का प्रकरण है । ऊपर जो द्रव्य के लक्षण कहे हैं कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' तथा 'गुणपर्ययवत् द्रव्यम्' उस लक्षण से सहित होने के कारण आकाशादि के समान काल भी द्रव्य है ऐसा यहां निश्चय कराया है । इसीको बताते हैं—स्वभाव में स्थित होने से काल द्रव्य का स्वनिमित्तक ध्रौव्य सिद्ध है, उत्पाद और व्यय परनिमित्तक तथा अगुरुलघु गुणों की हानि वृद्धि की अपेक्षा स्वनिमित्तक भी सिद्ध हैं अर्थात् कालद्रव्य में स्वनिमित्तक उत्पाद व्यय और परनिमित्तक उत्पाद व्यय पाये जाते हैं अतः काल भी धर्मादि के समान एक स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध होता है । तथा साधारण और असाधारण गुण भी काल में पाये जाते हैं इसलिए काल द्रव्य सिद्ध होता है । काल में असाधारण गुण वर्त्तना नामका है । और साधारण गुण अचेतनत्व, अमूर्त्तत्व अगुरुलघुत्व आदि हैं । उत्पाद व्ययरूप पर्यायें भी काल में विद्यमान हैं । उस कालद्रव्य के अस्तित्व का लिंग तथा सन्निवेश–रहने का क्रम तो पहले ही कह दिया है । अर्थात् वर्त्तनालिंग से या 'काल' इस संज्ञारूप लिंग या हेतु से कालद्रव्य अनुमेय है तथा लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य स्थित है इस आर्षवचन से कालद्रव्य सिद्ध होता है, यह सर्व कथन पहले कर आये हैं ।

प्रश्न—वर्त्तनालक्षण वाले मुख्य कालका प्रमाण असंख्यात है ऐसा कहा है, अब परिणाम आदि से गम्य ऐसे व्यवहार कालका प्रमाण कहना चाहिए ?

उत्तर—अब इसीको कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह व्यवहारकाल अनन्त समयरूप है ।

स इत्यनेन प्रसिद्धो व्यवहारकालः प्रतिनिर्दिश्यते । सांप्रतिकस्यैकसमयिकत्वेऽप्यतीता अनागताश्च समया अन्तातीतत्वादनन्ता इति व्यपदिश्यन्ते । ततोऽनन्ताः समया यस्य सोऽनन्तसमयो व्यवहारकालो भवतीति व्याख्यायते । अथवा मुख्यस्यैव कालस्य प्रमाणावधारणार्थमेवेदं वचनम् । अनन्तपर्यायहेतुत्वादेकोऽपि कालाणुरनन्त इत्युपचर्यते । समयः पुनः परमनिरुद्धः कालांशस्तत्प्रचयविशेष आवलिकादिव्यवख्यातः । ततः स परमार्थकालः प्रत्येकमर्थपर्यायार्थादेशादनन्तसमयो भवति द्रव्यतस्तथा तस्यासङ्ख्येयत्वात् । अत्राह—गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्युक्तम् । तत्र के गुणा इत्यत्रोच्यते—

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।। ४१ ।।

द्रव्यशब्द उक्तार्थः । गुणा यत्राश्रयन्ते—आसते स आश्रय आधार इति स संज्ञायते 'अधिकरणे पुल्लिङ्गे संज्ञायां पुंसी घः प्रायेण' इति घप्रत्ययस्य विधानात् । अथवा गुणैराश्रियत इत्याश्रयः ।

'सः' शब्द से व्यवहारकाल का निर्देश किया गया है । वर्त्तमानकाल एक समय रूप है किन्तु अतीत और अनागतकाल अनंत समयवाला है, इसलिये व्यवहारकाल अनंत है ऐसा कहा है । अनंतसमय हैं जिसके वह अनंतसमय कहलाता है ऐसा बहुव्रीहि समास 'अनंतसमयः' पद में है । अथवा यह 'सोऽनंतसमयः' सूत्र मुख्य कालका प्रमाण बतलाने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, देखिये ! एक भी कालाणु अनन्त पर्यायों का हेतु–निमित्त-कारण है इसलिये कालाणु को उपचार से अनंत कहा जाता है । समय का लक्षण बताते हैं—जो परम निरुद्धरूप कालांश है उसे समय कहते हैं, समयों का समूह आवलि इत्यादि हैं इसका कथन कर आये हैं, इस तरह अनंत अर्थपर्यायों में प्रत्येक अर्थपर्याय की अपेक्षा परमार्थकाल अनन्त समयरूप होता है । द्रव्यकी अपेक्षा तो यह परमार्थकाल असंख्यात संख्या वाला है अर्थात् असंख्यात कालाणु होने से असंख्यात हैं ।

प्रश्न— गुणपर्यय वाला द्रव्य होता है ऐसा कहा किन्तु गुणका लक्षण नहीं बताया ?

उत्तर—अब उसीको बताते हैं—

सूत्रार्थ—जो द्रव्यों के आश्रय में रहते हैं एवं स्वयं निर्गुण हैं वे गुण कहलाते हैं ।

द्रव्य शब्द का अर्थ कह चुके हैं । गुण जिसमें आश्रय लेते हैं, रहते हैं वह आश्रय या आधार कहलाता है । 'अधिकरणे पुल्लिगे संज्ञायां पुंसी घः प्रायेण' इस व्याकरण सूत्र द्वारा 'घ' प्रत्यय आकर आश्रय शब्द बना है । अथवा गुणों द्वारा आश्रय लिया

कर्मसाधनोऽयं कथ्यते । द्रव्यमाश्रयो येषां ते द्रव्याश्रया द्रव्याधारा इत्यर्थः । गुणेभ्यो निष्क्रान्ता निर्गुणा इति विशेषणं परमाणुकारणद्रव्याश्रयाणां द्व्यणुकादिकार्यद्रव्याणां गुणव्यपदेशनिरासार्थमुपादीयते । द्व्यणुकादीनां हि रूपादयो गुणाः सन्तीति तन्निवृत्तिः कृता भवति । ननु तर्हि घटसंस्थानादीनां पर्यायाणामपि तदुभयलक्षणसद्भावाद्गुणत्वं प्राप्नोतीति । तन्न । किं कारणम् ? द्रव्याश्रया इत्यत्र नित्ययोगलक्षणे मत्वर्थेऽन्यपदार्थवृत्तिविधानात्पर्यायनिवृत्तेः । नित्यं द्रव्यमाश्रित्य ये वर्तन्ते ते गुणा भवन्तीति, पर्यायाः पुनः कादाचित्का इति न तेषां ग्रहणं स्यात् । तेनान्वयिनो धर्मा गुणा इत्युक्तं भवति । तद्यथा– जीवस्यास्तित्वामूर्तत्वासङ्ख्येयप्रदेशत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादयो ज्ञातृत्वद्रष्टृत्वचेतनत्वादयश्च सामान्यरूपा

जाता है इस अर्थ में कर्म साधनरूप यह आश्रय शब्द निष्पन्न हुआ है । द्रव्य है आश्रय– आधार जिनका वे 'द्रव्याश्रयाः' कहलाते हैं । गुणों से रहित निर्गुण हैं । परमाणुरूप कारण द्रव्यों के आश्रय में द्व्यणुक आदि कार्य द्रव्य रहते हैं इस दृष्टि से स्कन्ध को भी गुणपने का प्रसंग आता है अतः 'निर्गुणा' ऐसा विशेषण दिया है । अभिप्राय यह है कि जो द्रव्यों के आश्रय में रहते हैं वे गुण कहलाते हैं, गुणोंका इतना ही लक्षण किया जाय तो द्व्यणुक आदि कार्य परमाणु आदि कारण के आश्रय में रहने से उन्हें भी गुण कहने का प्रसंग आता, उस प्रसंग का निवारण करने हेतु गुण के लक्षण में 'निर्गुणा' विशेषण दिया है ।

शंका—ऐसा लक्षण भी सदोष है । देखो ! घट के संस्थान आदि के पर्यायों में भी 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' लक्षण पाया जाता है अतः उन पर्यायों को भी गुणत्व प्राप्त होता है । अर्थात् घटादिके आकार स्वरूप पर्यायें द्रव्य के आश्रय हैं एवं निर्गुण हैं अतः वे भी गुण कहलायेंगे ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना । 'द्रव्याश्रयाः' इस पद में नित्ययोग अर्थवाला मत्वर्थीय बहुव्रीहि समास किया जाता है जिससे वह लक्षण पर्याय में नहीं जाता । 'नित्यं द्रव्यं आश्रित्य ये वर्त्तन्ते ते गुणाः जो नित्य हमेशा सतत् द्रव्य का आश्रय लेकर रहते हैं वे गुण कहलाते हैं । ऐसा अर्थ करने पर यह लक्षण पर्यायों में नहीं जा सकता, क्योंकि पर्यायें द्रव्य में सतत् नहीं रहती, परिवर्त्तित हो होकर दूसरी दूसरी आती हैं अतः कादाचित्क हैं । इसीसे सिद्ध होता है कि द्रव्य में जो अन्वयी धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं ।

अब आगे कौनसे द्रव्य में कौनसे गुण पाये जाते हैं उनका वर्णन करते हैं— अस्तित्व, अमूर्त्तत्व, असंख्येय प्रदेशत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि तथा ज्ञातृत्व, द्रष्टृत्व, चेतनत्व इत्यादि जीव द्रव्य के सामान्य (तथा विशेष) गुण हैं । अचेतनत्वादि और

गुणाः। तथा पुद्गलस्याचेतनत्वादयो रूपादयश्च गुणाः। पर्यायाः पुनर्जीवस्य घटज्ञानादयो गुणविकाराः, क्रोधादयश्च द्रव्यविकाराः हीनाधिकविशेषात्मना भिद्यमानाः। पुद्गलस्य वर्णगन्धादयस्तीव्र-

---

रूपादिक पुद्गल द्रव्यके गुण हैं। घटका ज्ञान पटका ज्ञान इत्यादि ज्ञानगुण के विकार स्वरूप जीव के गुणकी पर्यायें हैं। तथा हीन अधिकपने से भेदको प्राप्त क्रोध, मान आदि द्रव्य विकार स्वरूप भी जीवकी द्रव्य पर्यायें हैं। वर्ण गन्ध आदि का तीव्र मन्द आदि भावसे परिणमन होने के कारण भेद को प्राप्त हुए गुणों के विकार स्वरूप पुद्गल द्रव्यकी गुणपर्याय होती हैं, तथा द्वयणुक आदि द्रव्यों के विकार स्वरूप पर्यायें भी पुद्गल की द्रव्य पर्यायें हैं ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार धर्म, अधर्म आदि शेष द्रव्यों के गुण एवं पर्यायें आगमानुसार घटित कर लेना चाहिए।

विशेषार्थ—छह द्रव्य हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। जीव और पुद्गल अनंतानंत प्रमाण हैं। धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक संख्या में हैं काल द्रव्य असंख्यात हैं। जीव द्रव्य के एक-एक के अपने-अपने स्वतन्त्ररूप असंख्यात असंख्यात प्रदेश होते हैं। पुद्गल द्रव्य में जो अणु-परमाणु स्वरूप पुद्गल हैं उसमें एक प्रदेश है, और जो स्कन्धरूप पुद्गल द्रव्य हैं उस स्कन्धों के अनन्त भेद हैं, कोई स्कन्ध केवल दो प्रदेशी हैं, कोई तीन प्रदेशी इत्यादि अनंत प्रदेशी एवं अनंतानंत प्रदेश प्रमाण तक पुद्गलों के प्रदेश पाये जाते हैं। धर्म तथा अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश में जो लोकाकाश है उसमें असंख्यात प्रदेश हैं और अलोकाकाश में अनन्तानन्त प्रदेश हैं। काल द्रव्य एक प्रदेशी है। सामान्य गुण छह होते हैं जो सब द्रव्यों में समानरूप से पाये जाते हैं, वे ये हैं—अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, द्रव्यत्व। चेतनत्व गुण केवल जीव द्रव्य में ही है। अचेतनत्व गुण पुद्गलादि शेष पांच द्रव्यों में विद्यमान है। अमूर्त्तत्व पुद्गल को छोड़कर शेष पांच द्रव्यों में है। मूर्त्तत्व एक पुद्गल द्रव्य में है। जीव द्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ये चार विशेष गुण हैं। पुद्गल द्रव्य में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार विशेष गुण होते हैं। धर्म द्रव्य में गति हेतुत्व, अधर्मद्रव्य में स्थिति हेतुत्व, आकाश द्रव्य में अवगाहन हेतुत्व और कालद्रव्य में वर्त्तना हेतुत्व ये विशेष गुण रहते हैं। पर्याय के दो भेद हैं अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय। एक समयवर्ती, अत्यंत सूक्ष्म, अगुरुलघु गुण निमित्तक अर्थपर्याय होती है यह वचन के अगोचर होती है यह अर्थपर्याय छहों द्रव्यों में पायी जाती है। जो स्थूल है अनेक समयवर्ती है, वचन गोचर है वह व्यंजन पर्याय है, यह जीव और पुद्गल में पायी

मन्दादिभावेन भिद्यमाना गुणविकारा, द्वयणुकादयश्च द्रव्यविकारा विशेषरूपा वेदितव्याः । एवं धर्मादीनामपि गुणाः पर्यायाश्चागमानुसारेण योज्याः । अत्राहोक्तः । परिणामशब्दोऽसकृन्न तु तस्यार्थो

जाती है । द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय ऐसे भी पर्याय के दो भेद हैं । गुण में जो परिवर्त्तन होता है वह गुणपर्याय है, द्रव्य में जो परिणमन है वह द्रव्य पर्याय है । समान जातीय द्रव्यपर्याय और असमान जातीय द्रव्यपर्याय ऐसे भी पर्याय के दो भेद होते हैं । जीव और कर्म नोकर्मरूप पुद्गल की मिली हुई पर्याय असमान जातीय द्रव्य पर्याय है, जैसे संसारी जीव में कर्म नोकर्म की एक सम्बन्धरूप अवस्था है । दो अणुओं का या अनेक अणुओं का अथवा अनेक स्कन्धों का परस्पर में बन्धरूप मिलना समान जातीय द्रव्यपर्याय है । समान जातीय द्रव्य पर्याय मात्र एक पुद्गल द्रव्य में ही है । असमानजातीय द्रव्यपर्याय जीव और पुद्गल की मिली अवस्था है । जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य ये दोनों विकारी भी होते हैं । संसारी जीव और स्कन्ध अवस्था को प्राप्त पुद्गल विकारी या अशुद्ध द्रव्य कहलाते है । परमाणु शुद्ध पुद्गल द्रव्य है । मुक्त जीव सिद्ध भगवान शुद्ध जीव द्रव्य है । जीव और पुद्गल ये अशुद्ध होने से इनकी गुण तथा पर्यायें भी अशुद्ध होती हैं । अतः इन दो द्रव्यों की अर्थ पर्यायें तथा व्यंजन पर्यायें दो जातीय हैं–स्वभाव अर्थ पर्याय, विभाव अर्थ पर्याय । स्वभाव व्यंजन पर्याय और विभाव व्यंजन पर्याय । मुक्त जीव में प्रतिक्षण अगुरुलघु गुणके निमित्त से गुणों में जो षड गुणी हानि वृद्धि होती रहती है वे स्वभाव अर्थ पर्यायें हैं । संसारी जीव में, कषाय, लेश्या तथा मतिज्ञान इत्यादि में प्रतिक्षण जो षड् गुणी वृद्धि हानिरूप तरतमता या परिणमन होते हैं वे विभाव अर्थ पर्यायें हैं । सिद्ध जीवका–चरम शरीर से किंचित कम आकार में स्थित रहना स्वभावव्यंजन पर्याय है । संसारी जीवों की चार गति आदि रूप जो पर्यायें हैं वे सब विभाव व्यंजन पर्यायें हैं । पुद्गल में जो परमाणु है उसमें प्रतिक्षण वर्णादि गुणों में परिवर्त्तन होता है वह स्वभाव गुणपर्याय है और जो अगुरुलघु गुण निमित्तक षड् हानि वृद्धिरूप है वह स्वभाव अर्थ पर्याय है । स्कन्ध में जो गुण है उनमें जो परिवर्त्तन होता है, वह विभाव गुणपर्याय है तथा अगुरु लघु निमित्तक समयवर्ती विभाव अर्थ पर्याय है । परमाणु स्वभाव व्यंजनपर्याय है । स्कन्ध विभाव व्यञ्जन पर्याय है । शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य इत्यादि पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यञ्जन पर्यायें अनेक प्रकार की हैं । इस प्रकार छह द्रव्यों का यह संक्षिप्त वर्णन है ।

वर्णितस्तस्मादुच्यतां क: परिणाम इति प्रश्ने उत्तरमाह—

तद्भाव: परिणाम: ।। ४२ ।।

अथवा गुणा द्रव्यादर्थान्तरभूता इति केषाञ्चिद्दर्शनम् । तत्किं भवत: सम्मतम् ? नेत्याह—यद्यपि कथञ्चित्संज्ञादिभेदहेत्वपेक्षया द्रव्यादन्ये गुणास्तथापि तदव्यतिरेकात् तत्परिणामाच्चाऽनन्ये भवन्ति । यद्येवं स उच्यतां क: परिणाम इति ? तन्निश्चयार्थमिदमुच्यते—तद्भाव: परिणाम इति ।

जीवादि सात तत्त्वों का कथन पहले अध्याय में आया है उनमें पुण्य और पाप दो को मिलाने से जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ऐसे नव पदार्थ होते हैं । उपर्युक्त छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं । जिस द्रव्य में बहुत प्रदेश होते हैं वे अस्तिकाय हैं । काल द्रव्य एक एक प्रदेश वाला अणुरूप ही रहता है, कभी भी कालाणुओं का परस्पर में बंध नहीं होता अत: काल अस्तिकाय नहीं है । द्रव्यों में जो विविध पर्यायें पायी जाती हैं उनके चार्ट अगले पृष्ठों में देखिये—

प्रश्न—यहां पर प्रश्न होता है कि परिणाम शब्द को बार-बार कहा गया है किन्तु उसका अर्थ नहीं बताया, अत: अब यह कहिये कि परिणाम किसे कहते हैं ?

उत्तर—अब इसीको सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—उस उस वस्तु का या द्रव्य का जो भाव है वह परिणाम कहलाता है ।

अथवा यहां पर किसी ने प्रश्न किया कि द्रव्य से गुण पृथक् भिन्न होते हैं ऐसा परवादी वैशेषिक आदि का मत है । वह मत क्या आप जैन को मान्य है ? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि वह मत हमें मान्य नहीं है । हम जैन तो संज्ञा, लक्षण आदि की अपेक्षा गुणों को द्रव्य से कथंचित् भिन्न भले ही मानते हैं किन्तु उससे अव्यतिरेकी होने से अर्थात् द्रव्य से अन्यत्र स्थित नहीं होने से तथा उसी द्रव्य का परिणाम स्वरूप होने से वे गुण अभिन्न ही होते हैं । इस तरह हम जैन का सिद्धांत है । यह सिद्धान्त निश्चित हो जाने पर प्रश्न उठा कि वह परिणाम क्या है जिसे आप द्रव्य से अभिन्न मानते हैं ? तो इसके उत्तर स्वरूप सूत्र आया कि 'तद्भाव: परिणाम:' होने को भाव

पर्यायों के भेदों का चार्ट नं० १
स्वभाव पर्याय
छहों द्रव्यों में
द्रव्य पर्याय
विभाव पर्याय
जीव और पुद्गलों में
गुण पर्याय
स्व. द्रव्य प.
धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों के प्रदेश अपने-अपने स्वभाव रूप से स्थित हैं वह उस उस द्रव्य की स्वभाव द्रव्य पर्याय है। सिद्ध जीव अपने असख्य प्रदेशों में स्थित हैं तथा पुद्गल का परमाणु एक प्रदेश में स्थित है यह क्रमशः शुद्ध जीव तथा पुद्गल की स्वभाव द्रव्य पर्याय कहलाती है।
वि. द्रव्य प.
अशुद्ध जीव की नर नारकादि पर्याय तथा पुद्गल द्रव्य की शब्द आदि स्कध एवं वर्गणादि क्रमशः जीव तथा पुद्गल की विभाव द्रव्य पर्याय है।
स्व. गुण प.
शुद्ध छहों द्रव्यों के शुद्ध गुणों की पर्यायें जैसे शुद्ध जीव की केवल ज्ञानादि तथा पुद्गल परमाणु के रूपादि गुणों का परिणमन
वि. गुण प.
अशुद्ध जीवकी मति ज्ञानादि पर्यायें तथा पुद्गल को स्कंध के रूपादि गुणों की पर्यायें।
अथवा
समान जातीय द्रव्य पर्याय
यह केवल पुद्गल द्रव्य मे है परमाणु और स्कन्ध का अथवा स्कन्ध स्कन्ध का अथवा परमाणु परमाणु का परस्पर में मिलकर पर्याय होना।
असमान जातीय द्रव्य पर्याय
जीव और पुद्गल वर्गणा कर्म नोकर्म की मिली पर्याय नर-नारकादि यह केवल जीव पुद्गल की मिली पर्याय है।

[शेष चार्ट आगे देखिये]

अथवा
अर्थ पर्याय
एक समयवर्ती सूक्ष्म वचन के अगोचर ऐसी अर्थ पर्याय है
स्व. अर्थ प.
अगुरु लघु गुण निमित्तक षड हानि वृद्धि रूप एक एक समय की पर्याय ।
वि. अर्थ प.
अशुद्ध जीव में लेश्या, कषाय मति ज्ञानादि में प्रतिसमय का परिणमन तथा पुद्गल स्कन्ध में रूपादि गुणों का प्रतिसमय का परिणमन ।
व्यञ्जन पर्याय
स्थिर स्थूल वचन गोचर ऐसी व्यञ्जन पर्याय है
स्व. व्यञ्जन पर्याय
सिद्ध अवस्था जीव की स्व. व्यं. पर्याय है तथा परमाणु पुद्गल की स्व. व्यं. पर्याय है ।
वि. व्यञ्जन पर्याय
नर नारकादि जीव की वि. व्यं. पर्यायें हैं तथा शब्द, बंधादि पुद्गल की वि. व्यं. पर्यायें हैं ।

धर्मादि चार शुद्ध द्रव्यों की पर्यायें (चार्ट नं० २)

धर्म द्रव्य	अधर्म द्रव्य	आकाश द्रव्य	काल द्रव्य
स्वभाव अर्थ पर्याय	स्वभाव अर्थ पर्याय	स्वभाव अर्थ पर्याय	स्वभाव अर्थ पर्याय
अगुरु लघु गुण निमित्त के षड् हानि वृद्धि स्वरूप प्रत्येक समय का परिणमन	अगुरु लघु गुण निमित्तक षड् हानि वृद्धि रूप प्रत्येक समय का परिणमन	अगुरु लघु गुण निमित्तक षड् स्थान पतित हानि वृद्धि रूप प्रत्येक समयवर्त्ती परिवर्तन	अगुरु लघु गुण निमित्तक षड् हानि वृद्धि रूप प्रत्येक समय का परिणमन
स्वभाव गुण पर्याय	स्वभाव गुण पर्याय	स्वभाव गुण पर्याय	स्वभाव गुण पर्याय
गति हेतुत्वादि गुणों का परिणमन	स्थिति हेतुत्व आदि गुणों का परिणमन	अवगाहना हेतुत्वादि गुणों का परिणमन	वर्त्तना हेतुत्वादि गुणों का परिणमन
स्वभाव द्रव्य पर्याय	स्वभाव द्रव्य पर्याय	स्वभाव द्रव्य पर्याय	स्वभाव द्रव्य पर्याय
लोकाकाश प्रमाण फैलकर अनादि से स्थित जो आकार है	लोकाकाश प्रमाण फैलकर अनादि से स्थित जो आकार है	समघन चतुरस्र सर्वत्र अनन्त प्रदेश प्रमाण अवस्थान	परमाणु के आकारवत् कालाणु का जो अवस्था का आकार है वह।

जीव द्रव्य की पर्यायें (चार्ट नं० ३)

पुद्गल द्रव्यों की पर्यायें (चार्ट नं० ४)
स्वभाव पर्याय
विभाव पर्याय
स्व अर्थ प.
अगुरु लघु गुण निमित्तक षड्
हानि वृद्धि रूप परिणमन
स्व. द्रव्य प.
पुद्गल की परमाणु रूप
अवस्था
वि. अर्थ पर्याय
स्कंधों में रूपादि गुणों के प्रत्येक
समय का परिणमन
वि. द्रव्य पर्याय
पुद्गल की स्कंधरूप
अवस्था
स्वभाव गुण पर्याय
परमाणुओं के रूपादि गुणों का
प्रतिसमय का परिणमन
स्वभावव्यंजन पर्याय
परमाणु
विभाव गुण पर्याय
स्कन्धों के रूपादि गुणों का
परिणमन
विभाव व्यंजन पर्याय
शब्द, बंध, स्थौल्य इत्यादि
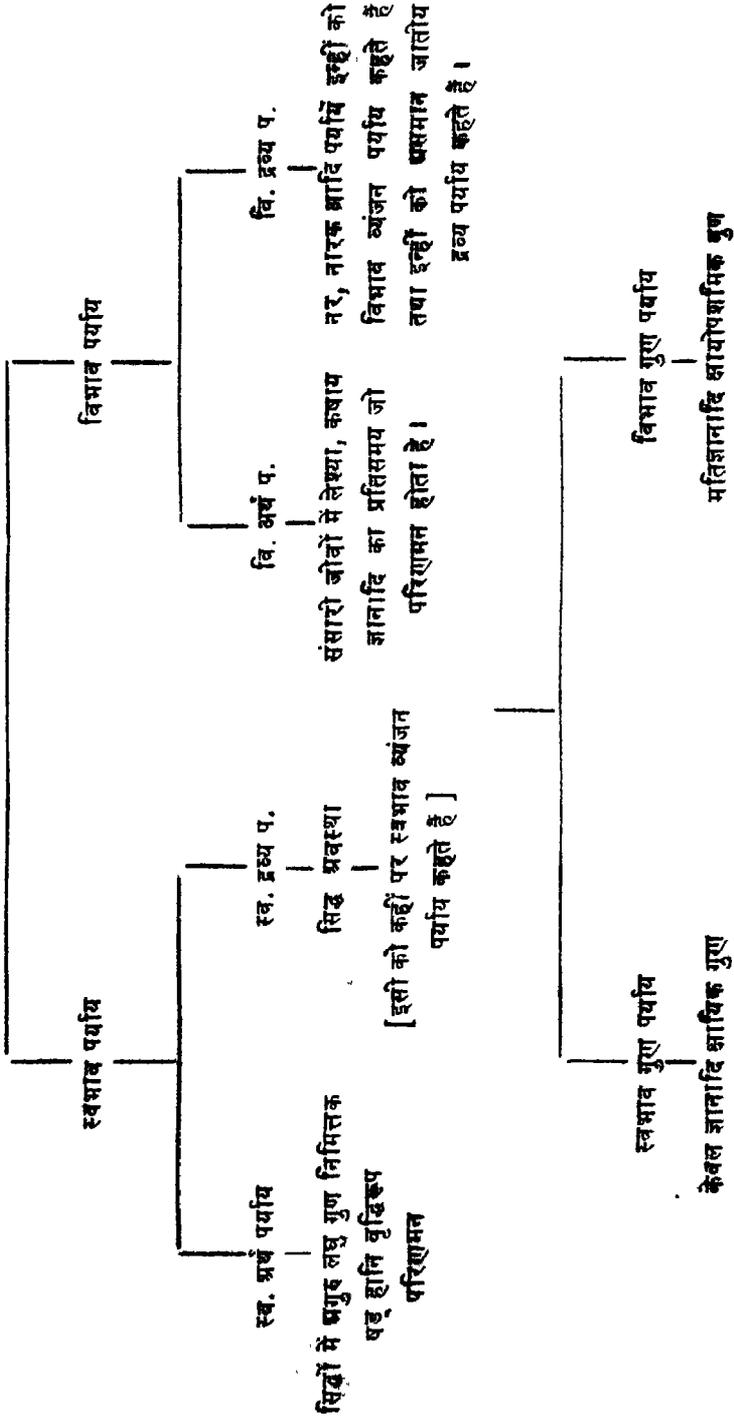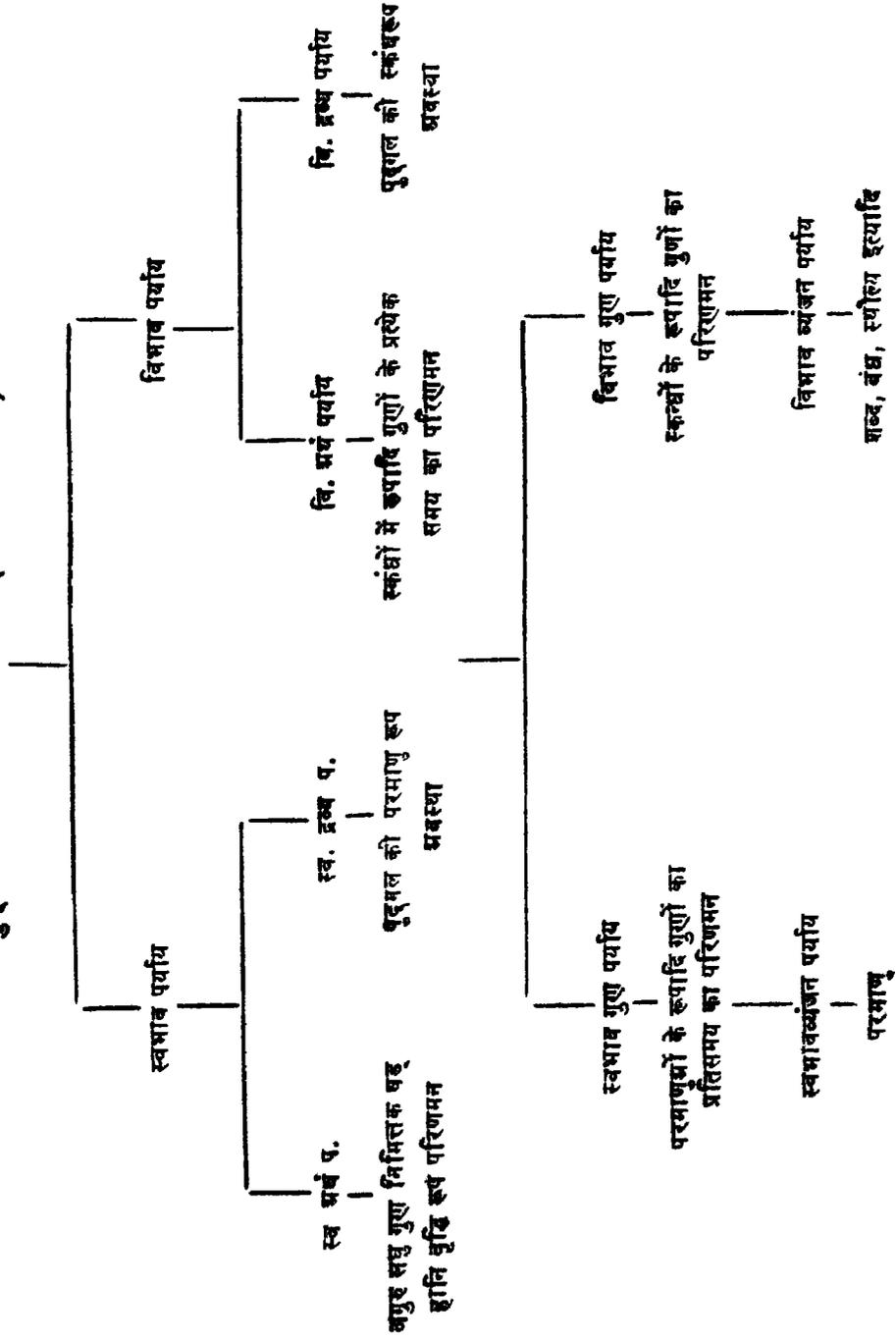
भवनं भावः। तेषां भावस्तद्भावस्तत्त्वं द्रव्यभवनमिति यावत्। परिणमनं परिगमनं परिणामः। धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावः परिणाम इति संज्ञायते। स च द्विधा भिद्यते—अनादिरादिमांश्चेति। तत्राऽनादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिस्वतुल्यकालसन्तानवर्ती सामान्यरूपः। आदिमांश्च बाह्यप्रत्ययापादितोत्पादविशेषरूपः कथ्यते। अथवा पर्यायिस्वरूपकथनार्थमिदं सूत्र युक्तमिति बोद्धव्यम्।

कहते हैं उनका होना अर्थात् द्रव्यों का होना। परिणमन-परिगमन ही परिणाम है, धर्म आदि द्रव्य जिस रूप से होते हैं वह उसका भाव परिणाम है। वह परिणाम दो प्रकार का है—आदिमान् और अनादिमान्। धर्मादि द्रव्यों का जो गति स्थिति आदि रूप उपग्रह है जो कि अपने तुल्य काल संतानवर्ती सामान्यरूप है वह अनादि परिणाम है। बाह्य कारण से होने वाले उत्पाद व्यय आदि विशेष हैं वह आदि मान परिणाम है।

अथवा 'तद्भावः परिणामः' यह सूत्र पर्यायि के स्वरूप का कथन करने हेतु आया है ऐसा जानना चाहिए।

विशेषार्थ—यहां पर 'तद्भावः परिणामः' सूत्र की टीका करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि द्रव्य या पदार्थ का उसी रूप होना परिणाम कहलाता है, वह परिणाम द्रव्य से अभिन्न है, धर्मादि द्रव्य गति आदि उपकार रूप प्रवृत्त होते हैं वह परिणाम है परिणाम का ऐसा लक्षण गुणरूप पड़ता है। तथा पर्यायि स्वरूप 'कथनार्थं इदं सूत्रं युक्तम्' ऐसा कहकर इस सूत्र को पर्यायि लक्षण रूप भी माना है अर्थात् उस द्रव्य का होना परिणाम अर्थात् पर्यायि है यह पर्यायि का लक्षण है। इस प्रकार 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' सूत्र द्वारा गुण का लक्षण और 'तद्भावः परिणामः' सूत्र से पर्यायि लक्षण श्री उमास्वामी आचार्य देव ने किया है ऐसा समझना चाहिए। 'तद्भावः परिणामः' सूत्र का पर्यायिपरक अर्थ श्लोक वार्तिककार श्री विद्यानन्दी आचार्य ने भी इसी सूत्र की टीका में 'तद्भावः परिणामोऽत्रपर्यायिः प्रतिवर्णितः' इत्यादि कारिका द्वारा किया है।

शशधरकरनिकरसतारनिस्तलतरलतलमुक्ताफलहारस्फारतारानिकुरुम्बबिम्बनिर्मलतरपरमोदार
शरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघातीन्धनसङ्घातसकलविमलकेवलालोकित-
सकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचिदचित्स्वभाव-
भावाभिधानसाधितस्वभावपरमाराध्यतममहासैद्धान्तः श्रीजिनचन्द्र-
भट्टारकस्तच्छिष्यपण्डितश्रीभास्करनन्दिविरचित-
महाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां
पञ्चमोऽध्यायस्समाप्त ।

जो चन्द्रमा की किरण समूह के समान विस्तीर्ण, तुलना रहित मोतियों के विशाल हारों के समान एवं तारा समूह के समान शुक्ल निर्मल उदार ऐसे परमौदारिक शरीर के धारक हैं, शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि की उज्ज्वल ज्वाला द्वारा जला दिया है घाती कर्म रूपी ईन्धन समूह को जिन्होंने ऐसे तथा सकल विमल केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण लोकालोक के स्वभाव को जानने वाले श्रीमान परमेश्वर जिनपति के मत को जानने में विस्त्तीर्ण बुद्धि वाले, चेतन अचेतन द्रव्यों को सिद्ध करने वाले परम आराध्य भूत महासिद्धान्त ग्रन्थों के जो ज्ञाता हैं ऐसे श्री जिनचन्द्र भट्टारक हैं उनके शिष्य पंडित श्री भास्करनंदी विरचित सुख बोधा नामवाली महा शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में पंचम अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

इदानीं व्याख्याताऽजीवपदार्थानन्तरोद्दिष्टास्रवपदार्थनिर्देशार्थं तावद्योगस्वरूपमुच्यते—

कायवाङ् मनस्कर्म योगः ॥१॥

कायादयः शब्दा व्याख्यातार्थाः। कर्मशब्दोऽत्र क्रियाशब्दवाची गृह्यतेऽन्यार्थस्यासम्भवात्। स च विवक्षावशात्कर्मादिसाधनो वेदितव्यः। वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयक्षयोपशमापेक्षेणात्मनाऽऽत्मपरिणामः, पुद्गलेन च स्वपरिणामो विपर्ययेण च निश्चयव्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म। स परिणामः कुशलमकुशलं च द्रव्यभावरूपं करोतीति कर्म। बहुलापेक्षया क्रियतेऽनेन कर्मेत्यपि भवति। साध्यसाधनभावानभिवीप्सायां स्वरूपावस्थिततत्त्वकथनात्कृतिः कर्मेत्यपि भवति। एवं शेषकारकोपपत्तिश्च

अब अजीव पदार्थ के अनन्तर कहा गया जो आस्रव पदार्थ है उसका कथन प्रारंभ होता है, उसमें भी प्रथम ही योग का स्वरूप कहते हैं—

सूत्रार्थ—काय, वचन और मनकी क्रिया को योग कहते हैं। काय आदि शब्दों का अर्थ कह आये हैं। यहां पर कर्म शब्द का अर्थ 'क्रिया' लिया है क्योंकि इसका दूसरा अर्थ यहां सम्भव नहीं है। विवक्षा के अनुसार कर्म शब्द भाव साधन कर्म साधनादि रूप सिद्ध होता है। वीर्यान्तराय तथा ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा लेकर आत्मा द्वारा जो आत्मपरिणाम किया जाता है, एवं विपर्यय पुद्गल द्वारा (विकारी पुद्गल द्वारा) जो स्व परिणाम किया जाता है वह निश्चय तथा व्यवहारनय की अपेक्षा 'कर्म' कहलाता है 'क्रियते इति कर्म' वह परिणाम कुशल और अकुशलरूप एवं द्रव्य और भावरूप है। करोति इति कर्म। व्याकरण में 'बहुलम्' सूत्र है उसकी अपेक्षा इसके द्वारा किया जाता है 'क्रियतेऽनेन इति कर्म' तथा जहां साध्य साधनभाव अनभिप्रेत है वहां स्वरूप अवस्थिततत्व का कथन होने से 'कृतिः कर्म' ऐसा भी कर्म शब्द

योज्या। तथा युज्यते युनक्ति युज्यतेऽनेन योजनमात्रं वा योग इति योगशब्दस्यापि कर्मादिसाधनसंभवो नेतव्यः। कायश्च वाक्च मनश्च कायवाङ्मनांसि। तेषां कर्म कायवाङ्मनस्कर्म। कृकमिकंसेत्यादिना सकारः। ततः कायादीनां यत्कर्म स योग इत्याख्यायते। स च चेतनात्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपो मुख्यो भावयोगः। पौद्गलिककायादिवर्गणाविशेषरूपो गौणो द्रव्ययोगश्चेति द्वैविध्यमास्कन्दति। तथा निमित्तभेदादात्मप्रदेशपरिस्पन्दाख्यो योगस्त्रिधाऽपि भिद्यते—काययोगो वाग्योगो मनोयोगश्चेति। तद्यथा—वीर्यान्तरायक्षयोपशमसद्भावे सत्यौदारिकादिसप्तविधकायवर्गणान्यतमालम्बनापेक्षयात्मप्रदेशपरिस्पन्दः काययोगः। शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः। अभ्यन्तरवीर्यान्तराय नो इंद्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसन्निधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालम्बने च सति मनःपरिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः। क्षायिकोऽपि त्रिविध-

---

सिद्ध होता है इसी तरह शेष कारकों में भी लगाना चाहिए। तथा 'युज्यते, युनक्ति, युज्यते अनेन योजन मात्रं वा योगः' इस तरह योग शब्द भी कर्मादि साधन से सिद्ध करना चाहिए। काय आदि पदों में द्वन्द्व समास गर्भित तत्पुरुष समास है। 'कृकमिकंस' इत्यादि व्याकरण सूत्र से 'मनः कर्म मनस्कर्म' ऐसा विसर्ग का सकार हुआ है।

काय आदि का जो कर्म (क्रिया है) वह योग है। चेतन आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदरूप जो भाव योग है वह मुख्य योग है। पौद्गलिक काय आदि वर्गणा परिस्पंद स्वरूप जो द्रव्य योग है वह गौण योग है। इसप्रकार योग दो प्रकार का है। निमित्त के भेद से आत्मा के प्रदेशों में हलन चलन होता है उसकी अपेक्षा योग के तीन भेद होते हैं–काययोग, वचनयोग और मनोयोग। आगे इनका स्वरूप बताते हैं— वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की काय वर्गणाओं का अवलंबन लेकर आत्मप्रदेशों में जो स्पंदन होता है वह काययोग कहलाता है। शरीर नाम कर्म के उदय होने पर वचन वर्गणा का अवलंबन होने पर तथा वीर्यांतराय एवं मति अक्षरावरण आदि कर्मों के क्षयोपशम हो जाने पर अभ्यन्तर में वचनलब्धि की निकटता से वचन परिणाम के अभिमुख आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंदन होता है वह वचनयोग है। अंतरंग में वीर्यांतराय तथा नो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम होने से मनोलब्धि की निकटता होती है उससे तथा बाह्य निमित्तभूत मनोवर्गणा का अवलंबन मिलने पर मनपरिणाम के संमुख आत्मा के प्रदेशों में स्पंदन होना मनोयोग है। सयोग केवली भगवान के वीर्यांतराय आदि कर्मोंका क्षय हो चुका है अतः उनका योग क्षायिक

वर्गणालम्बनापेक्षः प्रदेशपरिस्पन्दो योगः सयोगकेवलिनोऽस्ति । तदालम्बनाभावादयोगकेवलिसिद्धानां योगाभावः । इदानीमुक्तलक्षणस्य योगस्यैवास्रवव्यपदेशनिर्देशार्थमाह—

स आस्रवः ॥ २ ॥

स इति तच्छब्देन योगो निर्दिश्यते । आत्मनः कर्मास्रवत्यनेनेत्यास्रवः । स एव—त्रिविधवर्गणालम्बन एव योगः कर्मागमनकारणत्वादास्रवव्यपदेशमर्हति । न सर्वो योगः, पृथक्सूत्रकरणस्य सामर्थ्यात् । अन्यथा हि कायवाङ्मनस्कर्मयोग आस्रव इति तच्छब्दाऽकरणाल्लाघवार्थमेकसूत्रेऽपि कृते स्वेष्टं सिध्यति । तेन केवलिसमुद्घातकाले सयोगकेवलिनो दण्डकवाटप्रतरलोकपूरणव्यापारलक्षणो योगः

है । तीन प्रकार की वर्गणा–मनोवर्गणा, वचनवर्गणा तथा कायवर्गणा का आलंबन लेकर होने से वह तीन प्रकार का है । इन तीनों ही वर्गणाओं का अवलंबन अयोग केवली के तथा सिद्धों के नही होता अतः इनके योग नहीं पाया जाता ।

अब उक्त लक्षण वाला जो योग है वही आस्रव नाम पाता है ऐसा सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह योग आस्रव कहलाता है ।

'स' शब्द से योगका ग्रहण किया है । जिससे आत्मा के कर्म आता है वह आस्रव है । तीन प्रकार की वर्गणाओं का आलंबन लेकर जो योग होता है तथा जो कर्म के आगमन का कारण है उसकी ही आस्रव संज्ञा है । सभी योगों को आस्रव नहीं कहते । 'कायवाङ् मनस्कर्म योगः और स आस्रवः' इन दो सूत्रों को पृथक्-पृथक् करने से ज्ञात होता है कि सभी योग आस्रवरूप नहीं हैं । यदि ऐसा अर्थ इष्ट नहीं होता तो 'कायवाङ्मनस्कर्म आस्रवः' ऐसा एक सूत्र बनता, और स शब्द नही रहने से सूत्र लाघव होता है एवं इष्ट अर्थ भी सिद्ध हो जाता । सभी योग आस्रव रूप नहीं हैं इसका अर्थ बताते हैं कि सयोग केवली जब केवली समुद्घात करते हैं तब दण्ड, कपाट प्रतर और लोकपूरण रूप आत्मप्रदेशों का फैलना होता है उस क्रिया स्वरूप जो योग है वह कर्म बंधका कारण नहीं है ।

प्रश्न—तो फिर सयोगी जिनके उस केवली समुद्घात अवस्था में कर्म बंधका कारण (अर्थात् ईर्यापथ आस्रवरूप एक समय वाला साता कर्म के बंधका कारण) कौन होता है ?

कर्मबन्धहेतुर्न भवति। किं तर्हि—कायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दस्तत्र बन्धस्य हेतुरस्तीत्ययमर्थः सिद्धो भवति। ननु मिथ्यादर्शनादीनामपि कर्मागमद्वारत्वात् कथमिहावचनमिति चेन्मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायाणां योगेऽन्तर्भावादिहाऽपृथग्वचनमिति ब्रूमः। योगस्य पुनरिह वचनं सयोगकेवलिपर्यन्तगुणस्थानव्यापकत्वाद्बोद्धव्यं मिथ्यादर्शनादीनां तदभावात्। अत्राह—कीदृशस्य कर्मणः कीदृगयमागमनहेतुरित्याह—

उत्तर—कायवर्गणा का आलंबन लेकर जो आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द हुआ है, उस स्वरूप जो योग है वह उक्त केवली के उस समय बन्धका कारण होता है।

विशेषार्थ—यहां पर ग्रंथ टीकाकार ने एक विशेष बात कह दी है कि सयोगी जिन जब केवली समुद्घात करते हैं उस समय अपने आत्मप्रदेशों को क्रमशः दण्ड के आकार, कपाट के आकार, प्रतराकार और लोक पूरणरूप करते हैं यह क्रिया भी योग स्वरूप है किन्तु इस क्रिया रूप (परिस्पंदन) योग से कर्म बन्ध (अर्थात् ईर्यापथ आस्रव से साता वेदनीय कर्म का एक समयवाला बंध) नहीं होता है। ऐसा कहने पर प्रश्न होता है कि फिर उक्त कर्मबन्ध किस कारण से होता है तो उसका उत्तर दिया कि उक्त समुद्घात के समय कायवर्गणा का आलंबन लेकर आत्मप्रदेशों में जो परिस्पंदन होता है वह योग अर्थात् औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग तथा कार्मण काययोग ये तीन योग सातावेदनीय कर्मबन्ध को कराते हैं।

शंका—मिथ्यादर्शन अविरति आदि भी कर्मों के आगमन के द्वार हैं उनको यहां आस्रव प्रकरण में क्यों नहीं कहा ?

समाधान—हमने यहां पर मिथ्यादर्शन, अविरति प्रमाद और कषायों को योग में अन्तर्भूत किया है, इसलिये अभिन्नरूप से एक योग को ही लिया है अन्य मिथ्यात्वादि को नहीं। तथा योग तो सयोगकेवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानों में रहता है मध्यमें इसका अभाव नहीं होता अतः सर्वत्र व्यापक होने की दृष्टि से मिथ्यात्व आदि का इसी में अन्तर्मान करके एक योगको ही आस्रव रूप कह दिया है। मिथ्यादर्शन आदि बन्धके कारण तो ऐसे सर्वत्र व्यापक नही हैं, अर्थात् मिथ्यादर्शन सिर्फ प्रथम गुणस्थान में रहता है, अविरति चौथे पांचवें गुणस्थान तक प्रमाद छट्ठे तक और कषाय दसवें गुण स्थान तक होती है किन्तु योग इन सबमें साथ रहता है अतः उसीको आस्रव कह दिया है।

शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य ॥ ३ ॥

विशुद्धिपरिणामहेतुकस्त्रिविधोऽपि कायादियोगः शुभ इति कथ्यते। तत्राऽहिंसाऽस्तेयब्रह्मचर्यादिः शुभः काययोगः। सत्यहितमितभाषणादिः शुभो वाग्योगः। अर्हदादिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोग इति। सक्लेशपरिणामहेतुकस्त्रिविधोऽपि कायादियोगोऽशुभ इत्युच्यते। तत्र प्राणातिपाताऽदत्तादानमैथुनप्रयोगादिरशुभः काययोगः। अनृतभाषणपरुषासभ्यवचनादिरशुभो वाग्योगः। वधचिन्तनेर्षासूयादिरशुभो मनोयोग इति। एतेन शुभाशुभपरिणामनिवृत्तत्वाद्योगस्य शुभाशुभत्वम्। न तु शुभाशुभकर्मपुद्गलकारणत्वेनेति प्रतिपादितं भवति। आगमान्तरेऽपि शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणाद्यशुभकर्मबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात्। कर्मणः स्वातन्त्र्यविवक्षायां पुनात्यात्मानं प्रीणयतीति पुण्यम्। पारतन्त्र्यविवक्षाया पूयते आत्माऽनेनेति वा पुण्यमिति निरुच्यते। तत्सद्वेद्याद्युत्तरत्र वक्ष्यते।

प्रश्न—कैसे कर्मका कैसा योग आस्रव कराता है ?

उत्तर—इसीको अग्रिम सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—शुभयोग पुण्यका और अशुभ योग पापका आस्रव है। विशुद्ध परिणाम का जो कारण है ऐसा तीन प्रकार का भी कायादि योग शुभ कहलाता है। उनमें अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य इत्यादि रूप शुभ काय योग है। सत्य, हित, मित भाषण आदि शुभ वचन योग है। अर्हन्त देव तथा गुरु आदि की भक्ति रूप भाव होना तप में रुचि होना, श्रुत के विनयरूप विचार इत्यादि शुभ मनोयोग कहलाता है। जो संक्लेश परिणाम का कारण है ऐसा तीनों प्रकार का भी कायादि योग अशुभ है। उनमें जो हिंसा, चोरी, मैथुन प्रयोग आदि स्वरूप अशुभ काय योग है। झूठ बोलना, तथा कठोर असभ्य वचन बोलना इत्यादि अशुभ वचन योग कहलाता है। किसी के वधका चिंतन करना, ईर्षा असूयादि के भाव होना इत्यादि अशुभ मनोयोग है। इस तरह शुभ अशुभ परिणाम से जो बना है वह योगका शुभ अशुभत्व है ऐसा समझना चाहिए अर्थात् शुभ परिणाम से जो होता है वह शुभयोग है तथा अशुभ परिणाम से जो होता है वह अशुभ योग है। शुभकर्म पुद्गल का कारण होने से शुभयोग और अशुभ कर्म पुद्गल का कारण होने से अशुभ योग है ऐसा अर्थ नहीं समझना। इसमें भी हेतु यह है कि आगम में भी कहा है कि शुभयोग भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्म बंधका कारण होता है।

कर्म की स्वातन्त्र्य विवक्षा में जो आत्माको पवित्र करे वह पुण्य है। पारतन्त्र्य विवक्षा में 'पूयते आत्मा अनेन इति पुण्यम्' ऐसी पुण्य शब्दकी निरुक्ति जानना चाहिए।

पुण्यस्य प्रतिद्वन्द्विरूपं पापमिति विज्ञायते। पाति रक्षत्यात्मानमस्मात् शुभपरिणामादिति पापं मतम्। तदसद्वेद्याद्युत्तरत्र वक्ष्यते। ततः शुभ एव योगः पुण्यस्याऽशुभ एव पापस्येत्येवं नियमः सुखदुःखविपाक-निमित्तत्वेन प्रधानभूतानुभागबन्धं प्रति योज्यो नान्यथेति बोद्धव्यम्। तत्रोत्कृष्टविशुद्धिपरिणामनिमित्तः सर्वशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः। उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामनिमित्तः सर्वाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभाग-बन्धः। उत्कृष्टः शुभपरिणामोऽशुभजघन्यानुभागबन्धहेतुत्वेऽपि भूयसः शुभस्य हेतुरिति कृत्वा शुभः

वह पुण्य साता वेदनीय इत्यादि कर्म है, इसका कथन आगे करने वाले हैं। पुण्य के प्रतिद्वन्द्वीरूप पाप होता है, 'पाति रक्षति आत्मानं अस्मात् शुभपरिणामात् इति पापम्' अर्थात् जो आत्मा को इस शुभ परिणाम से बचावे वह पाप कर्म है। पाप कर्म असाता वेदनीय इत्यादि कर्म हैं इसका वर्णन भी आगे करेंगे। इससे ऐसा जानना कि शुभ ही योग पुण्य का कारण है तथा अशुभ ही योग पाप का कारण है। सुख दुःख रूप विपाक का निमित्त स्वरूप जो अनुभाग बन्ध है, उस अनुभाग बन्ध के प्रति योग को लगाना चाहिए, अन्य प्रकार से नहीं। उनमें जो उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम है उसके निमित्त से सर्व शुभ कर्म प्रकृतियों में उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध होता है। तथा जो उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम है उसके निमित्त से सर्व अशुभ-पाप प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध पड़ता है। यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम पाप कर्म के जघन्य अनुभाग बन्ध का कारण है तो भी बहुत अधिक रूप से पुण्य कर्म का अनुभाग कराने से शुभ परिणाम पुण्यका निमित्त है ऐसा कहा गया है। इसी तरह अशुभ योग के विषय में भी लगा लेना, अर्थात् अशुभ परिणाम से यद्यपि किंचित् जघन्यपने से पुण्य कर्मका अनुभाग पड़ता है किन्तु बहुत अधिक रूप से पाप कर्मका अनुभाग कराने से उसको अशुभ कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति या कोई पदार्थ है उससे थोड़ासा अपकार भी होता है किन्तु अधिकतर बहुतसा उपकार करता है तो उस व्यक्ति को हम उपकारी मानते हैं वैसे योग के विषय में समझना।

कहा भी है—तीव्र विशुद्ध परिणाम शुभकर्म प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग बन्ध कराते हैं तथा तीव्र संक्लेश परिणाम अशुभ कर्म प्रकृतियों में तीव्र अनुभाग बन्ध कराते हैं और इससे विपरीत जघन्य अनुभाग बन्ध का हेतु है। अर्थात् सातावेदनीयादि शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध विशुद्ध परिणामों से होता है और असातावेदनीयादि अशुभ-पाप कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बंध संक्लेश परिणामों से होता है, इनसे विपरीत परिणामों से जघन्य अनुभाग बन्ध होता है, अर्थात् शुभ प्रकृतियों का संक्लेश

पुण्यस्येत्युच्यते । यथाल्पापकारहेतुरपि बहूपकारसद्भावादुपकारक इति कथ्यते । एवमशुभः पापस्येत्यपि । उक्तं च—

सुभपयडीणविसोधी तिव्वं असुहाण सङ्किलेसेण ।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं ।। इति ।।

कीदृशोरात्मनोः कयोः कर्मणोरास्रव इत्याह—

सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।। ४ ।।

प्रकृतास्रवस्यानन्त्येऽपि सकषायाकषाययोरात्मनोः स्वामिनोर्द्वैविध्यादास्रवस्याप्यत्र द्वैविध्यं वेदितव्यम् । क्रोधादिपरिणामः कषति हिनस्त्यात्मानमिति कषाय उच्यते । अथवा यथा कषायः क्वाथाख्यो नैयग्रोधादिः श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात्कषाय इव कषाय इत्युच्यते । सह कषायेण वर्तत इत्यात्मा सकषायः । न विद्यते कषायोऽस्येत्यकषायः । सकषायश्चाकषायश्च सकषायाकषायौ । तयोः सकषायाकषाययोरित्यनेन स्वामिनिर्देशः । कर्मभिः समन्तादात्मनः पराभवोऽ-

---

परिणामों से और अशुभ प्रकृतियों का विशुद्ध परिणामों से जघन्य अनुभाग बंध होता है । इसप्रकार सभी कर्म प्रकृतियों का अनुभाग बंध जानना ।।१।। (कर्मकाण्ड गो० गाथा १६३)

प्रश्न— किस प्रकार के आत्मा के कौनसे कर्मका आस्रव होता है ।

उत्तर—इसी को सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—कषाय सहित और कषाय रहित आत्मा का योग क्रम से सांपरायिक और ईर्यापथ कर्म के आस्रवरूप है ।

प्रकृत आस्रव के अनन्त भेद संभव हैं तथापि कषाय युक्त आत्मा और कषाय रहित आत्मा इस तरह स्वामी के दो भेद होने से आस्रव को भी यहां दो प्रकार का कहा है । क्रोधादि परिणाम को कषाय कहते हैं, जो आत्मा का घात करता है वह कषाय है । अथवा जैसे न्यग्रोध-वड पीपल आदि वृक्षों की छाल का काढ़ा वस्त्रादि में रंग का गाढ सम्बन्ध का कारण होने से 'कषाय' कहलाता है वैसे आत्मा के क्रोधादि परिणाम कर्म बन्धके हेतु होने से कषाय कहे जाते हैं । कषाय युक्त जीव सकषाय है और जिनके कषाय नहीं हैं वे अकषाय हैं । सकषायादि पदों में द्वन्द्व समास करके षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त हुई है । सब ओर से आत्मा का जो कर्म द्वारा पराभव करे वह संपराय

भिभवः सपरायः संसार इति वा कथ्यते । स संपरायः प्रयोजनमस्येति सांपरायिकं कर्म । ईरणमीर्या—गतिरिति यावत् । सा ईर्या द्वारं–पन्था यस्य तदीर्यापथं कर्म । सांपरायिकं च ईर्यापथं च सांपरायिकेर्यापथे । तयोः सांपरायिकेर्यापथयोः । अत्र यथासङ्ख्यमभिसंबधः क्रियते । सकषायस्यात्मनो मिथ्यादृष्ट्यादेः सूक्ष्मसांपरायान्तस्य सांपरायिकस्य कर्मण आस्रवो भवति । अकषायस्योपशान्तकषायादेरीर्यापथस्य कर्मण आस्रवो भवतीति । कषायासम्भवे संसारफलस्य कर्मणः प्राप्त्ययोगादीर्यापथस्यास्रवणं प्रकृतिप्रदेशबन्धफलस्येति प्रत्येयम् । कषायसद्भावे तु स्थित्यनुभागबन्धफलस्य कर्मण आस्रवणं भवति । कषायोदयस्य तन्नान्तरीयकत्वादिति च बोद्धव्यम् । तत्र सांपरायिकास्रवस्य भेदानाह—

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः पूर्वस्य भेदाः ।।५।।

इन्द्रियाणि च कषायाश्चाव्रतानि च क्रियाश्चेन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः । पञ्चभिरधिका विंशतिः पञ्चविंशतिः । पञ्च च चत्वारश्च पञ्च च पञ्चविंशतिश्च पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिः । सा सङ्ख्या येषां भेदानां ते पञ्चचतुःपञ्चपञ्चविंशतिसङ्ख्याः । पूर्वस्येत्यनेनातीतसूत्रे ईर्यापथास्रवात्प्रा-

---

संसार है, वह संपराय जिसका प्रयोजन या कर्म है वह सांपरायिक कहलाता है, इस प्रकार सांपरायिक शब्दका निरुक्ति अर्थ है। गतिको ईर्या कहते हैं, वह ईर्या जिसका द्वार–पथ है वह ईर्यापथ कर्म है, इसतरह ईर्यापथ शब्दका निरुक्तिपरक अर्थ है। ईर्यापथादि पदों में भी द्वन्द्व समास है। यहां क्रम से सम्बन्ध करना चाहिए। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान तक सांपरायिक कर्मका आसृव होता है। और उपशांत कषाय आदि गुणस्थानवर्त्ती अकषायी जीवों के ईर्यापथ कर्मका आसृव होता है। कषाय का अभाव होने पर संसाररूप फलको देने वाले कर्म नहीं आते, वहां तो ईर्यापथ का आसृव होता है जिसका कि फल मात्र प्रकृति बंध और प्रदेशबन्ध है। हां जब तक कषाय है तब तक स्थिति और अनुभाग बंधरूप फल वाले कर्मका आसृव होता है। कषाय के उदय के अन्तर्गत ही स्थिति और अनुभाग बन्ध है अर्थात् कषायोदय के बिना स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध नही होते ऐसा जानना चाहिए।

सांपरायिक आसृव के भेद कहते हैं—

सूत्रार्थ—पांच इंद्रियां, चार कषाय, पांच अव्रत और पच्चीस कषाय ये सांपरायिक आसृव के भेद हैं।

इंद्रिय आदि पदों में द्वन्द्वसमास है। पंच आदि पदों में द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास किया गया है। 'पूर्वस्य' इस पदसे अतीत सूत्र में ईर्यापथ आसृवके पहले जो सांपरायिक

गुद्दिष्टस्य सांपरायिकास्रवस्यात्र संग्रहः। परस्परतो भिद्यन्ते विशिष्यन्त इति भेदाः प्रकारा इत्यर्थः। अत्रेन्द्रियादीनां पञ्चादिभिर्यथासङ्ख्यमभिसम्बन्धो द्रष्टव्यो व्याख्यानात्। पञ्चेन्द्रियाणि, चत्वारः कषायाः, पञ्चाव्रतानि, पञ्चविंशतिः क्रिया इति। तत्र पञ्चेन्द्रियाणि स्पर्शना दीन्युक्तानि। क्रोधादयः कषायाश्चत्वारः प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पा वक्ष्यन्ते। हिंसादीनि पञ्चाव्रतानि च वक्ष्यन्ते। पञ्चविंशतिक्रियास्त्वत्रोच्यन्ते—सम्यक्त्वमिथ्यात्वप्रयोगसमाधानेर्यापथक्रियाः पञ्च। तत्र चैत्यगुरुप्रवचनपूजनादिलक्षणसम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया सम्यक्त्वक्रिया। अन्यदेवतास्तवनादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका प्रवृत्तिर्मिथ्यात्वक्रिया। कायादिभिः परगमनादिप्रयोजकत्वं प्रयोगक्रिया। संयतस्य सतोऽप्रयत्नपरोपकरणादिग्रहणं समाधान.क्रया। ईर्यापथकर्महेतुरीर्यापथक्रियेति पञ्चैताः। प्रदोषकायाधिकरणपरितापप्राणानिपातक्रियाः पञ्च। तत्र क्रोधावेशाच्चेतसः प्रदुष्टत्वं प्रदोषक्रिया। तत. कायोद्यमः कार्यक्रिया। हिंसोपकरणाधिकृतिरधिकरणक्रिया। परदुःखकरणं परितापक्रिया। आयुरिन्द्रियबलप्राणानां वियोगकरण प्राणातिपातक्रिया। एताः पञ्च। दर्शनस्पर्शनप्रत्ययसमन्तानुपाताऽनाभोगक्रियाः पञ्च।

आस्रव कहा था उसका ग्रहण होता है। जो परस्पर में भेदको प्राप्त होते हैं–विशिष्ट होते हैं उन्हें भेद कहते हैं। यहां इन्द्रिय आदि का पांच आदि संख्या के साथ सम्बन्ध व्याख्यान से कर लेना चाहिए। अर्थात् इन्द्रियां पांच हैं, कषाय चार हैं, अव्रत पांच हैं और क्रिया पच्चीस हैं। उनमें स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों को पहले कह दिया है। क्रोधादि कषाय चार हैं तथा उनमें क्रोध, मान आदि प्रत्येक के अनंतानुबन्धी आदि चार भेद होते हैं, इनको आगे कहने वाले हैं। हिंसादि पांच अव्रतों का कथन आगे करेंगे। पच्चीस क्रिया यहां पर कहते हैं—सम्यक्त्व क्रिया, मिथ्यात्व क्रिया, प्रयोग क्रिया, समाधान क्रिया और ईर्यापथ क्रिया ये पांच हैं। इनमें चैत्य, गुरु, प्रवचन आदि की पूजा आदर करना इत्यादि रूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली क्रिया को सम्यक्त्व क्रिया कहते हैं। अन्य कुदेव आदि के स्तवन आदि क्रियाको मिथ्यात्व क्रिया कहते हैं। शरीर आदि से परको गमनादि क्रिया में प्रयुक्त करना प्रयोग क्रिया है। संयमी साधु है और वह यत्नाचार बिना परके उपकरण आदि या अपने उपकरण आदि को ग्रहण करता है वह समाधान क्रिया है। ईर्यापथ सम्बन्धी क्रिया ईर्यापथ क्रिया है। ये पांच हुई। प्रदोष, काय, अधिकरण, परिताप और प्राणातिपात ये पांच क्रियायें हैं। उनमें क्रोध के आवेश से मन कलुषित होना प्रदोष क्रिया है। कलुषित मन से कायका उद्यम होना काय क्रिया है। हिंसा के उपकरण रखना–ग्रहण करना अधिकरण क्रिया है। परको दुःख देना परिताप क्रिया है। आयु, इन्द्रिय बल और श्वास-प्राणोंका नाश करना प्राणातिपात क्रिया है। ये पांच हैं। दर्शन, स्पर्शन, प्रत्यय, समन्तानुपात और अनाभोग

साभिलाषं मनोज्ञरूपदर्शनं दर्शनक्रिया। तथा मनोज्ञस्पृष्टव्यस्पर्शनं स्पर्शनक्रिया। अपूर्वहिंसादिप्रत्ययकरणं प्रत्ययक्रिया। स्त्र्यादिसहिते देशेऽन्तर्मलोत्सर्गकरणं समन्तानुपातक्रिया। अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया। ता एताः पञ्च। स्वहस्तनिसर्गविदारणाज्ञाव्यापादनाऽनाकाङ्क्षाक्रियाः पञ्च। तत्र परकरणीयस्य स्वहस्ते करणं स्वहस्तक्रिया। पापप्रवृत्तावभ्यनुज्ञानं निसर्गक्रिया। पराचरितप्रच्छन्नदोषप्रकाशनं विदारणक्रिया। जिनेन्द्राज्ञां स्वयमनुष्ठातुमसमर्थस्यान्यथार्थसमर्थनेन तद्व्यापादनमाज्ञाव्यापादनक्रिया। प्रमादालस्याभ्यां प्रवचनोपदिष्टविधिकर्तव्यतानादरोऽनाकांक्षाक्रिया। एताः पञ्च। आरम्भपरिग्रहमायामिथ्यादर्शनाऽप्रत्याख्यानक्रियाः पञ्च। छेदनाद्यारम्भणमारम्भक्रिया। परिग्रहाऽविनाशार्था क्रिया परिग्रहक्रिया। ज्ञानदर्शनादिषु निकृतिर्वञ्चनं मायाक्रिया। पर मिथ्यादर्शनक्रियाकरणकारणाविष्टं प्रशसादिभिर्दृढयति साधु करोषीति सा मिथ्यादर्शनक्रिया। संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिप्रत्याख्यानक्रिया। एताः पच। एवं यथोक्ताः पञ्चविंशतिरपि क्रिया इन्द्रियकषायाव्रतेभ्यः पृथक्कथिताः, कार्यकारणतया कथञ्चिद्भेदसद्भावात्। प्रवृत्तिरूपा हि क्रियास्तद्धेतुपरिणाम-

---

ये पांच क्रियायें हैं। उनमें अभिलाषा से सुन्दर रूप देखना दर्शन क्रिया है। सुन्दर वस्तु को स्पर्श करना स्पर्शन क्रिया है। नये-नये हिंसादि के कारण जुटाना प्रत्यय क्रिया है। स्त्री पशु आदि के स्थान पर मल मूत्रको करना समन्तानुपात क्रिया है। बिना सोधे बिना देखे भूमि पर सोना बैठना आदि अनाभोग क्रिया है। ये पांच हुई। स्वहस्त, निसर्ग, विदारण, आज्ञाव्यापादन और अनाकांक्षा ये पांच क्रियायें हैं। उनमें जो कार्य परके द्वारा करने योग्य हैं उनको अपने हाथ से करना स्वहस्त क्रिया है। दूसरा कोई पाप प्रवृत्ति कर रहा है उसकी अनुमोदना करना निसर्ग क्रिया है। परके द्वारा किया गया गुप्त दोष प्रकट करना विदारण क्रिया है। अपन खुद जिनेन्द्र देव की आज्ञा का पालन करने में असमर्थ हैं अतः दूसरों को भी विपरीत अर्थ बतलाकर विपरीत कार्य कराना आज्ञाव्यापादन क्रिया है। प्रमाद और आलस्य के कारण शास्त्र में कहे हुए विधान को करने में अनादर होना अनाकांक्ष क्रिया है। ये पांच हुई। आरम्भ, परिग्रह, माया, मिथ्यादर्शन और अप्रत्याख्यान ये पांच क्रियायें हैं। छेदन, भेदन आरम्भ आदि रूप आरम्भ क्रिया है। परिग्रह का नाश न हो इस हेतु से जो क्रिया होती है वह परिग्रह क्रिया है। ज्ञान दर्शन आदि के विषय में ठगना माया क्रिया है। दूसरा कोई व्यक्ति मिथ्यात्व क्रियाको कर रहा है उसको देखकर प्रशंसा आदि से तुम अच्छा कार्य कर रहे हो ऐसा कहकर दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है। संयम घाती कषाय के उदय से त्याग के परिणाम नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है। ये पांच हुई। ये पच्चीस क्रियायें इन्द्रिय अव्रत और कषायों से पृथक् कही गयी हैं, क्योंकि कार्य कारण की अपेक्षा इनमें

रूपाणि पंचेन्द्रियकषायाव्रतानि संक्षेपात्तु न योगाद्भिद्यन्ते । तदेवमिन्द्रियादीनि साम्परायिकस्य कर्मण आस्रवद्वाराण्युक्तानि । सांप्रतं सत्यपि प्रत्यात्मसम्भवे तेषां परिणामेभ्योऽनन्तविकल्पेभ्यो विशेषं प्रदर्शयन्नाह—

तीव्रमन्दज्ञाताऽज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।।६।।

बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परिणामस्तीव्रनात् स्थूलभावात्तीव्र इत्युच्यते । अनुदीरण-प्रत्ययसन्निधानादुत्पद्यमानोऽनुद्रिक्तपरिणामो मन्दनाद्गमनान्मन्द इति कथ्यते । हिनस्मीत्यसति परिणामे प्राणव्यपरोपणे जाते सति मया व्यापादित इति ज्ञायते स्मेति ज्ञातमात्र ज्ञातम् । अथवाऽयं प्राणी हन्तव्य इति ज्ञात्वा प्रवृत्तिर्ज्ञातमित्युच्यते । तद्विपरीतमज्ञातम् । तच्च प्रमादान्मदाद्वा प्रव्रज्यादिष्वनवबुध्य प्रवृत्तिरुच्यते । भावोऽत्र परिस्पन्दरूपः कायादिक्रियालक्षणः परिणाम उच्यते । स च तीव्रादीनां विशेषकः सम्बन्धिभेदाद्भिद्यमानोऽनेकरूपो भवति । प्रयोजनानि पुरुषाणां यत्राऽधिक्रियन्ते

कथंचित् भेद है । क्रिया में प्रवृत्तिरूप हैं कार्यरूप हैं और उनके हेतुभूत इन्द्रिय, कषाय एवं अव्रत हैं अर्थात् क्रिया कार्य है और उनका कारण इन्द्रियां आदि हैं । ये सर्व मिल कर संक्षेपदृष्टि से योग स्वरूप हैं, उससे भिन्न नहीं हैं । इस तरह इन्द्रियां आदिक सांपरायिक कर्मके आस्रव के द्वार हैं ।

अब यह बताते हैं कि प्रत्येक आत्मा में उन आस्रवों के परिणाम अनंत प्रकार के हैं फिर भी उनकी कुछ विशेषता है उसका सूत्र द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य इनकी विशेषता से उन आस्रवों में विशेषता आती है ।

बाह्य और अभ्यन्तर कारण के मिलने से उद्रिक्त परिणाम, तीव्र–स्थूलभाव होना तीव्रभाव कहलाता है । उक्त कारणों के प्रगट न होने से अनुद्रिक्त परिणाम मंद भाव कहा जाता है । 'मैं मारता हूं' इसप्रकार के परिणाम नहीं होने पर प्राण व्यपरोपण हो जाने पर मेरे द्वारा यह घाता गया इस तरह पश्चात् जानने में आना ज्ञातभाव है, अथवा यह प्राणी मारने योग्य है ऐसा पहले जानकर उसमें प्रवृत्त होना ज्ञातभाव है । इससे विपरीतभाव अज्ञातभाव कहलाता है । इस तरह ज्ञात अज्ञात भावरूप प्रवृत्ति प्रमाद से या गर्व से अपनी दीक्षा आदि का लक्ष्य नहीं होने से हो जाती है । शरीर आदि की क्रिया युक्त परिस्पंदरूप परिणामको 'भाव' कहते हैं, तीव्र आदिका विशेषक है, सम्बन्धी के भेद से इसके अनेक भेद होते हैं । जहां पर पुरुषों के प्रयोजन प्रस्तुत किये

प्रस्तूयन्ते तदधिकरणं द्रव्यमित्यर्थः। द्रव्यस्य शक्तिविशेषः सामर्थ्यं वीर्यमिति निश्चीयते। तीव्रश्च मन्दश्च ज्ञातश्चाज्ञातश्च तीव्रमन्दज्ञाताऽज्ञातास्ते च ते भावाश्च तीव्रमन्दज्ञाताऽज्ञातभावाः। ते चाधिकरणं च वीर्यं च तानि। तेभ्यः। तस्यास्रवस्य विशेषो भेदस्तद्विशेषः। एतदुक्तं भवति—तीव्रादिविशेषेभ्य इन्द्रियाद्यास्रवाणां विशेषः सिध्यति। कार्यभेदस्य कारणभेदपूर्वकत्वादिति। तदेवं संसारिभेदसिद्धेर्जगद्वैचित्र्यसिद्धिरप्युपपन्ना भवति। तत्र भेदप्रतिपादनद्वारेणानिर्ज्ञाताधिकरणस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥७॥

व्याख्याातलक्षणा जीवाऽजीवाः। तेषां पुनर्वचनमधिकरणविशेषज्ञापनार्थम्। जीवाश्चाजीवाश्च जीवाऽजीवाः। मूलपदार्थयोर्द्वित्वाज्जीवश्चाजीवश्च जीवाऽजीवाविति द्विवचनं प्राप्नोतीति चेत्तन्न-

---

जाते हैं वह अधिकरण है अर्थात् द्रव्य है। द्रव्य की सामर्थ्य वीर्य कहलाता है। तीव्र आदि पदों में द्वन्द्व समास होकर पुनः तत्पुरुष समास हुआ है। तीव्र आदि भावों की विशेषता से इन्द्रिय आदि आस्रवों में विशेषता आती है, क्योंकि कार्यों में जो भेद पड़ता है वह कारणों के भेद से ही पड़ता है। इन आस्रव भावों में विभिन्नता होने के कारण संसारी जीवों के नर नारक आदि अनेक-अनेक भेद होते हैं और उन अनेक भेदों के कारण जगत् की नाना विचित्रता भी सिद्ध हो जाती है। अभिप्राय यह हुआ कि आस्रव के भेद से कर्म बन्ध नाना प्रकार का होता है, कर्मों का उदय नाना रूप आने से संसारी जीव त्रस स्थावर, सैनी-असैनी, स्त्री-पुरुष, षट्काय, कुल योनि, अवगाहना नारकी, देव मानव इत्यादि अनेक भेद वाले होते हैं उनके कर्मोंके नाना विपाक भोगना ऊर्ध्वलोक आदि स्थानों पर होता है इससे जगत् की नाना प्रकार की पर्वत, द्वीप, सागर, बिल, विमान आदि रचनायें स्वतः सिद्ध होती हैं।

आस्रवों के भेदों में जो अधिकरण है उसका स्वरूप अभी ज्ञात नहीं है अतः उसको सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—अधिकरण दो प्रकार का है जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण। जीव अजीव का लक्षण कह आये हैं उनका पुनः नाम अधिकरण को बतलाने हेतु आया है। 'जीवाजीवाः' पद में द्वन्द्व समास है।

शंका—मूल पदार्थ दो हैं अतः जीवश्च अजीवश्च जीवाजीवौ ऐसा द्विवचन होना चाहिए ?

पर्यायाणामधिकरणत्वात् । नात्र जोवाऽजीवसामान्यमधिकरणत्वं बिभर्ति, किं तर्हि—पर्याया हिंसाद्युपकरणभावमापद्यमाना: । येन केनचित्पर्यायेण विशिष्टं द्रव्यमधिकरणं स्यादिति व्याख्यायते । तत: पर्यायव्यक्तीनां बहुत्वाद्बहुवचननिर्देशो युक्त: । आस्रवोऽत्र प्रकृतस्तस्येहार्थवशात् षष्ठयन्ततया परिणामोपपत्तेर्जीवाऽजीवा अधिकरणमास्रवस्येत्यभिसम्बन्धो वेदितव्य: । तत्र जीवाऽधिकरणभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह —

आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषै-स्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकश: ।।८।।

आदौ भवमाद्यं प्रथमं जीवाधिकरणमित्यर्थ: । प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवत: प्रयत्नावेश: संरम्भणं संरम्भ इत्युच्यते । साध्याया: क्रियाया: साधनानां समभ्यासीकरणं समाहार: । समारम्भणं समारम्भ इति कथ्यते । प्रवर्तनं प्रक्रमणमारम्भणमारम्भ इत्याख्यायते । योगशब्दो व्याख्यातार्थ: । स्वतन्त्रेणात्मना क्रियते स्मेति कृतं प्रादुर्भावितमित्युच्यते । परस्य प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमापद्यमानं कार्यते

समाधान—ऐसा नहीं है, यहां पर्यायें अधिकरणरूप स्वीकार की गयी हैं । जीव और अजीव सामान्य के अधिकरण नहीं बनाया, किन्तु पर्यायें हिंसादि के उपकरण भावको प्राप्त होती हैं, अर्थात् आस्रव का अधिकरण जीवादि की पर्यायें हैं, जिस किसी पर्याय से युक्त द्रव्य अधिकरण होता है, इसलिए पर्यायें बहुतसी होने के कारण सूत्र में बहुवचन प्रयुक्त हुआ है । यहां पर आस्रव का प्रकरण है उसका अर्थवश से षष्ठी विभक्तिरूप परिणमन कर जीव और अजीव अधिकरण 'आस्रवके' होते हैं ऐसा संबंध जोड़ना चाहिए ।

अब जीवाधिकरण के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—पहले जीवाधिकरण के भेद इस प्रकार हैं—तीन भेद संरंभ, समारंभ और आरम्भ ये हैं । तीन योग हैं । कृत, कारित, अनुमत ये तीन हैं । चार कषाय हैं, इनको परस्पर में मिलाने पर १०८ भेद होते हैं । आद्य अर्थात् पहला जीवाधिकरण । प्राण घात आदि में प्रमादी जीव के जो प्रयत्न होता है वह संरंभ है । करने योग्य कार्य के साधन जुटाना समारंभ है । प्रवर्त्तन, प्रक्रमण आरंभण और आरम्भ ये सब एकार्थवाची हैं, अर्थात् प्रारंभ करनेको आरम्भ कहते हैं । योग शब्दका अर्थ कह चुके हैं । स्वयं स्वतन्त्र होकर अपने द्वारा जो किया गया वह 'कृत' है । परकी अपेक्षा लेकर जिस कार्यको सिद्ध किया गया वह कारित है । परके द्वारा किया गया अथवा कराया

स्मेति कारितमिति संज्ञायते । परेण यत्कृतं कारितं वाभ्युपगम्यते तदनुमन्यते स्मेत्यनुमतमिति कथ्यते । अभिहितलक्षणाः कषायाः क्रोधादयः । विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः । विशिष्टिर्वा विशेषः । संरम्भश्च समारम्भश्चारम्भश्च योगश्च कृतश्च कारितश्चानुमतश्च कषायाश्च संरम्भसमारम्भारम्भ-योगकृतकारितानुमतकषायास्तैः सरम्भादिविशेषैराद्य जीवाधिकरणं भिद्यत इति वाक्यशेषः । त्रिस्त्रि-स्त्रिश्चतुरित्येते त्रयस्त्रिशब्दश्चतुःशब्दश्च सुजन्तास्त्रीन्वारांस्त्रिः । चतुरो वारांश्चतुरिति सङ्ख्याया अभ्यावृत्तौ कृत्वसुचिति वर्तमाने द्वित्रिचतुर्भ्यः सुजित्यनेन सुच्प्रत्ययः । त्रिश्च त्रिश्च त्रिश्च चत्वारश्च ते । तैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुर्भिरिति एतेषां सरम्भादिभिर्यथाक्रममभिसम्बन्धः क्रियते । संरम्भसमारम्भा-रम्भास्त्रयः । योगास्त्रयः । कृतकारिताऽनुमतास्त्रयः । कषायाश्चत्वार इति । एतेषां गणनाभ्यावृत्तिः सुचा द्योत्यते । एकमेकं नयेदिति विगृह्य सङ्ख्यैकाद्वीप्सायामित्यनेन शसि कृते एकश इति सिध्यति । स च वीप्सार्थद्योतनः । एकैकं त्र्यादीन्भेदान्नयेदित्यर्थ । संरम्भादित्रयमिदं वस्त्वादौ निर्दिष्टं तद्भेद-हेतुत्वादितरेषां योगादीनामानुपूर्व्यवचनं पूर्वापरविशेषणत्वात्कृतम् । तस्मात्क्रोधादिचतुष्टयकृतकारि-ताऽनुमतभेदात्कायादियोगानां संरम्भसमारम्भारम्भा विशेष्याः प्रत्येक षट्त्रिंशद्विकल्पा भवन्ति । तत्र

गया कार्य है उसकी अनुमोदना करना अनुमत है । क्रोधादि कषायों का कथन हो गया है । जिसके द्वारा एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से विशिष्ट (भिन्न) किया जाय वह विशेष कहलाता है । संरंभ आदि पदों में द्वन्द्व समास जानना, इन संरंभ आदि विशेषों से जीवाधिकरण के भेद होते हैं ऐसा वाक्य जोड़ना । 'त्रि स्त्रि स्त्रि श्चतुः' इस तरह तीन बार त्रि शब्द और एक चतुः शब्द ये सुजन्त हैं, त्रीन् वारान् त्रिः, चतुरो वारान् 'चतुः' इसप्रकार 'संख्याया अभ्यावृत्तौ कृत्वसुच्' इस व्याकरण के नियमानुसार कृत्व सुच् प्रत्यय का प्रसंग था किन्तु 'द्वित्रि चतुर्भ्यः सुच्' इस सूत्र से सुच् प्रत्यय हुआ है । त्रि आदि पदों में द्वन्द्व समास है । त्रि आदि संख्या पदोंका संरंभ आदि के साथ क्रमसे सम्बन्ध किया गया है । भाव यह हुआ कि संरंभ, समारंभ आरम्भ ये तीन हैं । योग तीन हैं । कृतकारित अनुमत ये तीन हैं । कषाय चार हैं । इनकी गणनाभ्यावृत्ति सुच् प्रत्यय से प्रगट होती है । एक-एक में लगाना 'एकमेकं नयेत्' ऐसा विग्रह कर 'संख्यैकात् वीप्सायाम्' इससे शस् प्रत्यय आने पर 'एकशः' शब्द बनता है यह वीप्सा अर्थको प्रगट करता है, अर्थात् एक-एक के तीन आदि भेद लगाना चाहिए । संरंभ आदि तीन पहले कहे, क्योंकि उनके भेदसे इतर जो योगादिक हैं उनमें भेद होता है, योग आदि का क्रमसे नाम पूर्वापर विशेषण होने से लिया है । तात्पर्य यह है कि क्रोधादि चार और कृत आदि तीन के भेद से कायादि योगों के संरंभ समारंभ और आरंभ से विशिष्ट सबंध करने पर प्रत्येक के छत्तीस

संरम्भस्तावत् क्रोधकृतकायसंरम्भो मानकृतकायसंरम्भो मायाकृतकायसंरम्भो लोभकृतकायसंरम्भः। क्रोधकारितकायसंरम्भो मानकारितकायसंरम्भो मायाकारितकायसरम्भो लोभकारितकायसंरम्भः। क्रोधानुमतकायसरम्भो मानानुमतकायसंरम्भो मायानुमतकायसंरम्भो लोभानुमतकायसंरम्भश्चेति द्वादशधा संरम्भः। एवं समारम्भारम्भावपि प्रत्येकं द्वादशधा। एते सम्पिण्डिताः कायविकल्पाः षट्त्रिंशत्। उक्तं च—

संरम्भो द्वादशधा क्रोधादिकृतादिकायसंयोगात्।
आरम्भसमारम्भौ तथैव भेदास्तु षट्त्रिंशत् ।। इति ।।

तथा वाङ्मानसयोरपि प्रत्येकं षट्त्रिंशत्। एते सर्वे सम्पिण्डिता जीवाधिकरणास्रवभेदा अष्टोत्तरशतसङ्ख्या भवन्ति। चशब्दोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनषोडशकषायभेद-कृताऽन्तर्भेदसमुच्चयार्थः। तेन द्वात्रिंशदुत्तरचतुःशतगणनास्तद्विकल्पा हिंसापेक्षया वेदितव्याः। तद्वदनृताद्यपेक्षयापि योज्याः। इदानीमजीवाधिकरणप्रतिपत्त्यर्थमाह—

छत्तीस भेद होते हैं। आगे संरंभ के भेद बताते हैं—क्रोधकृतकायसंरंभ, मानकृत कायसंरंभ, मायाकृतकायसंरंभ, लोभकृतकायसंरंभ। क्रोधकारितकायसंरंभ, मानकारित कायसंरंभ, मायाकारितकायसंरंभ, लोभकारितकायसंरंभ। क्रोधानुमतकायसंरंभ, माना-नुमतकायसंरंभ, मायानुमतकायसंरंभ, लोभानुमतकायसंरंभ। ये बारह भेद संरंभ के हुए, ऐसे समारम्भ और आरम्भ के बारह-बारह भेद करना, सब मिलकर काय संबंधी भेद छत्तीस होंगे। कहा भी है—

क्रोधादि, कृतादि और कायादि के संयोग से संरंभ बारह प्रकार का हो जाता है तथा समारंभ आरम्भ भी इसी तरह बारह-बारह भेद युक्त हैं, इस प्रकार ये छत्तीस भेद होते हैं ।।१।। जैसे ये काय सम्बन्धी छत्तीस भेद हुए, वैसे वचन और मनसम्बन्धी भेद भी छत्तीस-छत्तीस हैं। ये सब मिलकर जीवाधिकरण आस्रवों के एकसौ आठ भेद होते हैं। सूत्र में च शब्द आया है उससे अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन संबंधी क्रोधादि कषायों के सोलह भेदोंके निमित्त से होने वाले अन्तर्भेदों का समुच्चय होता है। वे भेद चारसौ बत्तीस हैं, ये सब हिंसाकी अपेक्षा समझना, इसी प्रकार असत्य, चोरी आदि की अपेक्षा चारसौ बत्तीस, चारसौ बत्तीस भेद से अनेक भेद जीवाधिकरण आस्रव के जानने चाहिए।

अब अजीवाधिकरण का प्रतिपादन करते हैं—

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥

निर्वर्तनादीनां शब्दानां कर्मसाधनानामर्थः कथ्यते। निर्वर्त्यत इति निर्वर्तना निष्पादना। निक्षिप्यत इति निक्षेपः संस्थापना। संयुज्यत इति संयोगो मिश्रीकृतम्। निसृज्यत इति निसर्गः प्रवर्तनमिति। अथवा भावसाधना एते निर्वर्तन निर्वर्तना। निक्षिप्तिर्निक्षेपः। संयुक्तिः संयोगः। निसृष्टिर्निसर्ग इति। निर्वर्तना च निक्षेपश्च संयोगश्च निसर्गश्च निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गाः। द्वौ च चत्वारश्च द्वौ च त्रयश्च द्विचतुर्द्वित्रयः। ते भेदा येषां ते द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः। परमुत्तरमजीवाधिकरणमित्यर्थः। यदा निर्वर्तनादयः शब्दा कर्मसाधनास्तैरिहानुवर्तमानस्याधिकरणशब्दस्य सामानाधिकरण्येन संबधः—निर्वर्तनैवाधिकरणमित्यादि। यदा तु भावसाधनास्तदा वैयधिकरण्येन निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गलक्षणा भावाः परमजीवाधिकरण विशिष्यन्तीत्यध्याह्रियमाणक्रियापदापेक्षया परशब्दस्य कर्मनिर्देशो व्याख्यायते। पूर्वसूत्रे आद्यमिति वचनादत्र सामर्थ्यात्तत्परत्वप्राप्तौ पुनः परवचनमनर्थकमिति चेत्तन्न

सूत्रार्थ—दो निर्वर्त्तना के भेद, चार प्रकार निक्षेप, संयोग दो प्रकार का और निसर्ग तीन प्रकार का, इस तरह अजीवाधिकरण के भेद होते हैं।

निर्वर्त्तना आदि शब्दों का कर्मसाधनरूप अर्थ कहते हैं—'निर्वर्त्यते इति निर्वर्त्तना' अर्थात् निष्पादना 'निक्षिप्यते इति निक्षेपः' स्थापना को निक्षेप कहते हैं। 'संयुज्यते इति संयोगः' मिलाने को संयोग कहते हैं। 'निसृज्यते इति निसर्गः' प्रवर्त्तन को निसर्ग कहते हैं। अथवा ये भाव साधन शब्द हैं—निर्वर्तनं निर्वर्तना। निक्षिप्तः निक्षेपः। संयुक्तिः संयोगः। निसृष्टिः निसर्गः ऐसी निरुक्ति है। प्रथम ही निर्वर्तना आदि पदोंका द्वन्द्व समास करना, पुनः द्वि आदि संख्या वाचक पदोंका द्वन्द्व समास करके बहुव्रीहि समास द्वारा भेद शब्दको जोड़ना चाहिए। 'परं' शब्द से अजीवाधिकरण के ये भेद हैं ऐसा अर्थ समझना। निर्वर्तना आदि शब्दोंको कर्मसाधनरूप जब मानते हैं तब यहां वर्त्तमान अधिकरण शब्दके साथ उनका सामानाधिकरण होता है जैसे निर्वर्तना रूप अधिकरण है, निक्षेपरूप अधिकरण है इत्यादि। तथा जब ये निर्वर्तना आदि शब्द भावसाधनरूप होते हैं तब विशिष्यन्ति क्रिया का अध्याहार करके निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग लक्षणरूप भाव अजीवाधिकरण को विशिष्ट करते हैं ऐसा वैयाधिकरण–भिन्न अधिकरणरूप से अधिकरण शब्दका संबंध करना चाहिए। विशिष्यन्ति क्रिया के अध्याहार करने से 'परम्' ऐसा सूत्रोक्त कर्म निर्देश (द्वितीय विभक्ति) सफल होता है।

अन्यार्थत्वादस्य । संरम्भादिभ्योऽन्यानि निर्वर्तनादीनीत्येतस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थोऽयं परशब्दः कृतः । इतरथा हि निर्वर्तनादीनामप्यात्मपरिणामसद्भावाज्जीवाधिकरणविकल्प एवेति विज्ञायते । तत्र मूलोत्तरभेदान्निर्वर्तनाद्वेधा—मूलनिर्वर्तना कायवाङ्मनःप्राणापानरूपा । उत्तरनिर्वर्तना काष्ठपुस्तचित्र-कर्मभेदा । निक्षेपश्चतुर्धा भिद्यते—अप्रत्यवेक्षादुःप्रमार्जनसहसाऽनाभोगभेदात् । संयोगो द्वेधा—भक्त-पानसंयोग उपकरणसंयोगश्चेति । निसर्गस्त्रेधा—कायवाङ्मनोभेदात् । एतैर्निर्वर्तनादिभिरजीवास्रवस्य

शंका—पूर्व सूत्र में 'आद्यं' शब्द आया है उसी सामर्थ्य से यहां पर पर शब्दका अर्थ स्वतः हो जाता है, इसलिये इस सूत्र में पर शब्द का प्रयोग व्यर्थ है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना । यहां, पर शब्द का दूसरा ही अर्थ लिया है, देखिये ! संरंभ आदि पहले कहे गये जो जीवाधिकरण हैं उनसे ये निर्वर्तना आदि भेद अजीव अधिकरणरूप पृथक् ही हैं, इसप्रकार का अर्थ यहां पर शब्द द्वारा सूचित किया है । यदि पर शब्द को वहां नहीं लेते तो निर्वर्तना आदि आत्म परिणामरूप भी सम्भव होने से वे सब जीवाधिकरण के ही भेद माने जाते ।

निर्वर्तना के दो भेद हैं, मूल निर्वर्तना, उत्तर निर्वर्तना । मूल निर्वर्तना शरीर, वचन, मन और प्राणापानरूप हैं । उत्तर निर्वर्तना काष्ठ, कागज चित्र आदि के रचना स्वरूप है । अर्थात् पांच शरीर, वचन, मन और उच्छ्वास निश्वास की रचना को मूल निर्वर्तना कहते हैं । तथा लकड़ी के कागज इत्यादि के चित्र या खिलौने बनाना आदि उत्तर निर्वर्तना कहलाती है । निक्षेप चार प्रकार का है, अप्रत्यवेक्षा, दुःप्रमार्जन, सहसा और अनाभोग । बिना देखे वस्तु को रखना अप्रत्यवेक्षा निक्षेप है । बिना सोधे वस्तु रखना या अच्छी तरह सोधन नहीं करके वस्तुको रखना दुःप्रमार्जन निक्षेप है । अकस्मात् शीघ्रता से वस्तुको रखना सहसा निक्षेप है । बिना देखे किन्तु शोधन कर (मार्जन कर) वस्तुको रखना अनाभोग निक्षेप कहलाता है ।

संयोग दो प्रकार का है भक्तपान संयोग और उपकरण संयोग ।

निसर्ग तीन प्रकार का है कायनिसर्ग, वचननिसर्ग और मनोनिसर्ग ।

इन निर्वर्तना आदि के द्वारा अजीव आस्रवका प्रवर्त्तन होता है अतः इन्हें आस्रव का अधिकरण कहते हैं ।

प्रवर्तनादास्रवाधिकरणत्वमेषामवसीयते । एवं सामान्यतः साम्परायिकास्रवभुक्त्वाऽधुना ज्ञानदर्शनावरणकर्मणोरास्रवं विशेषेणाह—

तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

मत्यादिज्ञानपञ्चकस्य कीर्तने कृते कस्यचिदब्रुवतोऽन्तः प्रदुष्टत्वं प्रदोषः । यत्किञ्चित्परनिमित्तमभिसन्धाय नास्ति न वेद्मीत्यादिज्ञानस्य व्यपलपनं वंचनं निह्नवः । कुतश्चित्कारणात्स्वयमभ्यस्तस्य दानार्हस्यापि ज्ञानस्य योग्यायाऽप्रदानं मात्सर्यम् । कलुषेणात्मना ज्ञानस्य व्यवच्छेदकरणमन्तरायः । वाक्कायाभ्यां परप्रकाशज्ञानस्य वर्जनमासादनम् । प्रशस्तज्ञानस्य दूषणोद्भावनमुपघातः । आसादनोपघातयोर्भेदाभाव इति चेन्न—कथञ्चिद्भेदोपपत्तेः । सतो हि ज्ञानस्य विनयप्रकाशनादिगुणकीर्तनाऽननुष्ठानमासादनमुच्यते । उपघातस्तु ज्ञानमज्ञानमेवेति ज्ञाननाशाभिप्रायप्रत्ययमनयोर्भेदः । तदित्यनेनाऽप्रकृतयोरपि ज्ञानदर्शनयोः प्रतिनिर्देशो ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रव इति वचनसामर्थ्यात् ।

इन्द्रिय कषाय आदि रूप सांपरायिक आस्रव सामान्यतः कहा था, अब विशेषरूप से उक्त आस्रव का कथन करेंगे, उसमें प्रथम ही ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मोंके आस्रव को बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके आस्रव हैं । मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानोंका किसी के द्वारा कथन किये जाने पर उसकी अनुमोदना प्रशंसा आदि नहीं करना, उस वक्त मौन इसलिये रह जाना कि उसके प्रति मनमें कलुषता है, इसतरह की प्रवृत्ति को प्रदोष कहते हैं । जिस किसी निमित्त से ठगने के अभिप्राय से 'मैं नहीं जानता' इत्यादि रूप ज्ञानका अपलाप करना निह्नव है । स्वयं अभ्यस्त है देने योग्य ज्ञान है किन्तु किसी कारणवश योग्य व्यक्ति के लिये भी ज्ञान नहीं देना मात्सर्य है । कलुषित मनसे ज्ञानका विच्छेद करना अन्तराय है । परके द्वारा ज्ञान प्रकाशित होने पर उसको वचन और शरीर से मना करना आसादन है । प्रशस्त ज्ञानमें दोष प्रगट करना उपघात है ।

शंका—आसादन और उपघात में कोई भेद नहीं है ?

समाधान—ऐसा नहीं है कथंचित् भेद है । विद्यमान ज्ञानका विनय नहीं करना, उसको प्रगट नहीं करना, प्रशंसा नहीं करना इत्यादि तो आसादन है और ज्ञानको अज्ञानरूप ही कर देना, ज्ञानके नाशका अभिप्राय होना उपघात है इसतरह इन दोनों में भेद है । अप्रकृत भी ज्ञानदर्शन का निर्देश 'तत्' शब्द द्वारा किया गया है, क्योंकि 'ज्ञान दर्शनावरणयोः' इस पदकी सामर्थ्य से उक्त अर्थ प्रतीत हो जाता है । भाव यह

प्रदोषश्च निह्नवश्च मात्सर्यं चान्तरायश्चासादनं चोपघातश्च प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायाऽऽसादनोपघाताः। तयोः प्रदोषादयस्तत्प्रदोषादयः। आस्रव इति वर्तते। ततो यथा ज्ञानविषयाः प्रदोषादयो ज्ञानावरणस्यास्रवास्तथा दर्शनविषया दर्शनावरणस्यास्रवा भवन्ति। तथा ज्ञानदर्शनवत्सु पुरुषेषु तत्साधनेषु च पुस्तकादिषु प्रदोषादयस्तत्प्रदोषादिग्रहणेनैव गृह्यन्ते तन्निमित्तत्वादिति बोद्धव्यम्। असद्वेद्यास्रवप्रदर्शनार्थमाह—

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

अनिष्टसंयोगेष्टवियोगाऽनिष्टनिष्ठुरश्रवणादिबाह्यसाधनापेक्षादसद्वेद्यकर्मोदयादुत्पद्यमानः पीडालक्षणः परिणामो दुःखमित्युच्यते। अनुग्राहकस्य बान्धवादेः सम्बन्धविच्छेदे तद्गताशयस्य चिंताखेद-

---

है कि 'तत्' उस ज्ञान और दर्शनका प्रदोष, निह्नव आदि करने से ज्ञानावरणकर्म और दर्शनावरणकर्म का आस्रव होता है। तत् शब्द से ज्ञानदर्शन गुण लिये हैं उनमें दोष लगाना, उनको छिपाना, उनको नष्ट करना इत्यादि से ज्ञानावरण दर्शनावरणकर्म का आस्रव बंध होता है।

प्रदोष आदि पदोंका द्वन्द्व समास करके पुनः तत् शब्दके साथ तत्पुरुष समास करना चाहिए। आस्रव का प्रकरण है, उससे जो ज्ञानविषयक प्रदोष आदि किये जाते हैं। उनसे ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है और दर्शनविषयक जो प्रदोष आदि किये जाते हैं उनसे दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है। तथा ज्ञानवान दर्शनवान पुरुषों में एवं ज्ञानदर्शन के साधनभूत पुस्तक आदि के विषयों में प्रदोष करना निह्नवादि करना यह सर्व ही ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मके आस्रव हैं, इनका ग्रहण भी तत्प्रदोष आदि से हो जाता है। क्योंकि वे भी ज्ञानावरणादि के कारण हैं।

असातावेदनीय कर्मके आस्रव बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवनको खुद करना या दूसरों से कराना अथवा दोनों करना असातावेदनीय कर्मका आस्रव है।

अनिष्ट संयोग होने से, इष्ट का वियोग होने से, अनिष्ट और कठोर शब्द सुनने से इत्यादि बाह्य कारणों की अपेक्षा लेकर असाता वेदनीय कर्मके उदय से उत्पन्न हुआ जो पीड़ा रूप परिणाम है उसे दुःख कहते हैं। अनुग्रह करने वाले बन्धु आदि जनों का संबंध छूट जाने पर उनका स्मरण आदि से उन्हीं में जिनका चित्त जा रहा है ऐसे पुरुष के जो चिंता खेदरूप परिणाम होता है विकलता आती है मोहकर्म के उदय के

लक्षणः परिणामो वैक्लव्यविशेषो मोहकर्मविशेषोदयापेक्षः शोक इति कथ्यते । परिभवपरुषवचन-श्रवणादिनिमित्तापेक्षया कलुषान्तःकरणस्य तीव्रपरिणामस्ताप इत्यभिधीयते । परितापनिमित्तेनाश्रु-पातेन प्रचुरविलापेनाङ्गविकारादिना चाभिव्यक्तं क्रन्दनं प्रत्येतव्यम् । आयुरिन्द्रियबलप्राणानां परस्परतो वियोगकरणं वध इत्यवधार्यते । सङ्क्लेशपरिणामालम्बनं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनु-कम्पाप्रचुरं परिदेवनमिति परिभाष्यते । यद्यपि दुःखजातीयत्वाच्छोकादीनां दुःखग्रहणादेव ग्रहणं सिद्धं, तथापि दुःखविषयास्रवाऽसङ्ख्येयलोकभेदसम्भवात् दुःखमित्युक्ते विशेषाऽनिर्ज्ञानात्कतिपयविशेष-दर्शनेन तद्विवेकप्रतिपत्त्यर्थं शोकाद्युपादानं क्रियते । गौरित्युक्ते विशेषाऽनिर्ज्ञाने तत्प्रतिपादनार्थं खण्ड-मुण्डशुक्लकृष्णादिविशेषणोपादानवत् । दुःखं च शोकश्च तापश्च क्रन्दनं च वधश्च परिदेवनं च दुःखशोकतापक्रन्दनवधपरिदेवनानि । आत्मा स्वदेहस्थचेतनपर्यायः । सोऽपि पिण्डात्मैवोच्यते । तस्यैव दुःखादिसद्भावात् । तयोर्द्वयमुभयमुच्यते । आत्मा च परश्चोभयं च तान्यात्मपरोभयानि । तेषु तिष्ठन्ती-त्यात्मपरोभयस्थानि । असदप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यं द्रव्यकर्मोच्यते । तान्येतानि दुःखादीन्यात्मस्थानि

कारण जो होता है वह शोक कहलाता है । तिरस्कार होने से, कठोर वचन सुनना इत्यादि निमित्त से कलुषित मनवाले व्यक्ति के तीव्र परिणाम होते हैं वह ताप है । परिताप के कारण अश्रु गिराना, प्रचुर विलाप करना अंग में विकार इत्यादि से प्रगट रूप रोना क्रन्दन है । आयु इन्द्रिय, बल और श्वासोच्छ्वास का परस्पर में वियोग करना वध है । जिसमें संक्लेश परिणामका अवलंबन है, अपने और परके अनुग्रह की अभिलाषा युक्त है, जिसके सुनने से दूसरों को दया आ जाय ऐसा रुदन करना परिदेवन कहलाता है । यद्यपि शोक आदिक सब दुःख जातीय होने से दुःख ग्रहण से उनका ग्रहण हो जाता है तथापि दुःख विषयक आस्रव असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं इसलिये 'दुःख' कहने मात्र से विशेष ज्ञान नहीं हो पाता, कुछ-कुछ विशेषता दिखलाने से तत् संबंधी बोध हो जाता है अतः शोक, ताप आदि दुःख भेदों को ग्रहण किया है । जैसे गाय ऐसा कहने पर विशेष निश्चय नहीं हो पाता अतः उसका प्रतिपादन करने हेतु खण्डी गाय या खण्ड बैल है तथा यह मुण्डी है, काली है सफेद है इत्यादि विशेषणों का ग्रहण किया जाता है । दुःख आदि पदों में द्वन्द्व समास हुआ है । अपने शरीर में स्थित जो चेतन पर्याय है वह आत्मा है शरीर और आत्मा मिलकर संसारी जीव की पर्याय होती है, और इस तरह शरीर तथा आत्माकी मिली जो पर्याय है उस रूप आत्माके ही दुःख आदि परिणाम संभव हैं । अपने से अन्यको पर कहा है, तथा उन दोनों को उभय कहते हैं । आत्मा, पर और उभय इस तरह ये तीन हुए । उनमें जो स्थित हैं वे 'आत्मापरोभयस्थानि' हैं । असत् अप्रशस्तको कहते हैं, अप्रशस्त जिसका वेदन है वह

परस्थान्युभयस्थानि चात्मनोऽसद्वेद्यकर्मणो दुःखफलस्यास्रवा भवन्ति सङ्क्लेशाङ्गत्वात् । असङ्क्लेशाङ्गानां तु तेषां सर्वथा तदनास्रवत्वाद्बलोत्पाटोपवासादिवत् । सद्वेद्यास्रवभेदमाह—

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

आयुर्नामकर्मोदयवशात्तासु तासु योनिषु भवन्तीति भूतानि, सर्वे प्राणिन इत्यर्थः । व्रतान्यहिंसादीनि वक्ष्यन्ते । व्रतानि विद्यन्ते येषां ते व्रतिनः । ते च द्विविधा—अभिमुक्तगृहाभिलाषा. संयताः,

---

असद्वेद्य है अर्थात् असातावेदनीय द्रव्य कर्म । ये दुःख आदिक अपने में किये गये हों, परमें किये गये हों एवं उभय में किये गये हों, ये सर्व ही आत्माको दुःख फल वाले असाता वेदनीय कर्मका आस्रव कराते हैं, क्योंकि संक्लेशों के कारण हैं । जो दुःख रूप भाव संक्लेश हेतु नहीं हैं वे आस्रव के कारण नहीं होते अथवा संक्लेश रहित दुःख परिणाम से आस्रव नहीं होता, ऐसा जानना चाहिए, जैसे केशलोंच उपवास आदि क्रिया से दुःख होता है किन्तु संक्लेश नहीं होने के कारण वह दुःख आस्रव नहीं कराता । भाव यह है कि जैसे कोई वैद्य है चिकित्सक है और साधु पुरुष के फोडा, व्रण आदि को जबरन दबाकर पीप निकालता है, अथवा कोई शल्य चिकित्सक, चीरा फाड़ी भी करता है उस क्रिया में दुःख या पीड़ा अवश्य होती है किन्तु इतने मात्र से वैद्यादिको पापास्रव नहीं होता, क्योंकि उसके संक्लेशभाव दूसरों को पीड़ा पहुंचाने के भाव नहीं हैं अपितु पीड़ा नष्ट करने के भाव हैं उस असंक्लेशरूप भाव के कारण उसको आस्रव नहीं आता, अथवा कोई आचार्यादिक उपवासादिका अनुष्ठान शिष्यादि से कराते हैं उसमें शिष्यादि को दुःख भी होता है किन्तु क्लेश नहीं होने के कारण उन आचार्यादि को पापास्रव नहीं होता, अतः निश्चित होता है कि संक्लेश का जो कारण है वह दुःख परिणाम असाता कर्मका आस्रव कराता है ।

अब सातावेदनीय कर्मका आस्रव बताते हैं—

सूत्रार्थ—प्राणियों पर तथा व्रतियों पर अनुकम्पा करना, दान देना, सराग संयम, योग, क्षमा और शौच ये सातावेदनीय कर्मके आस्रव हैं ।

आयुकर्म के उदय के वश से उन उन योनियों में जो होते हैं वे भूत' कहलाते हैं अर्थात् सभी प्राणियों की भूत संज्ञा है । अहिंसादिक व्रत हैं इनका लक्षण आगे कहेंगे । जिनके व्रत हैं वे व्रती कहलाते हैं व्रती दो प्रकार के हैं घरकी अभिलाषा से जो

गृहिणश्च देशसंयता इति । अनुकम्पनमनुकम्पा दया करुणेति यावत् । भूतानि च व्रतिनश्च भूतव्रतिनस्तेष्वनुकम्पा । आत्मीयस्य वस्तुनः परानुग्रहबुद्धयाऽतिसर्जनं दानमिति कथ्यते । पूर्वोपात्तकर्मोदयवशादक्षीणाशयः सरागः साम्परायिकनिवारण प्रत्यागूर्णमनाः । सह प्रशस्तेन रागेण वर्तते स सराग इति कथ्यते । प्राणिष्वेकेन्द्रियादिषु चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु चाऽशुभप्रवृत्तेर्विरतिः सयम इति निगद्यते । सरागस्य संयमः सरागो वा संयमः सरागसंयमः । आदिशब्देन संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपसां सङ्ग्रहः । सरागसंयम आदिर्येषां ते सरागसंयमादयः । निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः समाधिः सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थः । दण्डभावनिवृत्त्यर्थं च तस्य ग्रहणं क्रियते । भूतव्रत्यनुकम्पादानं च सरागसंयमादयश्च भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादयस्तेषां योगो भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः । शुभपरिणामभावनाबलात् क्रोधादिनिवृत्तिः क्षमा क्षान्तिरित्यर्थः । स्वद्रव्यात्यागपरद्रव्यापहरणसान्नयासिकनिह्नवादीनां लोभप्रकाराणामुपरमः शौचमिति निश्चीयते । निर्लोभः पुमान् शुचिस्तस्य भावः कर्म वा शौचमिति व्युत्पत्तेः । इतिशब्दात्प्रकारवाचिनोऽर्हदादिपूजाबालवृद्धतपस्विवैयावृत्योद्योगार्जव-

---

मुक्त हो चुके हैं ऐसे संयत साधु और देशव्रती गृहस्थ अनुकम्पा, दया, करुणा ये सब एकार्थवाची शब्द हैं । भूत और व्रतियों में अनुकम्पा करना । अपने पदार्थ का परका अनुग्रह करने के लिए त्याग कर देना 'दान' कहलाता है । पूर्वके उपार्जित कर्मके वश से अभी जिनका राग नष्ट नहीं हुआ किन्तु उस रागादि कषायों को रोकने में जो लगे हुए हैं ऐसे साधुको सराग कहते हैं, प्रशस्त राग के साथ जो रहता है वह सराग है ऐसा शब्दार्थ है । एकेन्द्रिय आदि जोवों में और चक्षु आदि इन्द्रियों में जो अशुभ प्रवृत्ति है उससे विरक्त होना संयम है, सराग का संयम सराग संयम कहलाता है, आदि शब्द से संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बाल तपका ग्रहण हो जाता है । सराग संयम है आदि में जिनके वे सराग संयमादि हैं । निर्दोष क्रिया के अनुष्ठान को योग कहते हैं, अर्थात् समाधि–भली प्रकार से सावधानीपूर्वक उपयोग की प्रवृत्ति होना । योग, समाधि और सम्यक् प्रणिधान ये एकार्थवाची शब्द हैं । दूषण की निवृत्ति के लिये योग का ग्रहण किया है अथवा काय मन आदि की उद्दण्ड भावकी निवृत्ति के लिए योग शब्द लिया है । सम्पूर्ण प्राणिगण तथा व्रतियों में अनुकम्पा करना, दान देना और सराग संयमादि पालना, इन भूत, व्रती, अनुकम्पा, दान, सराग संयमादि का योग सातावेदनीय का आस्रव है । शुभ परिणाम के बल से क्रोधादि का त्याग क्षमा या क्षान्ति कहलाती है । अपने द्रव्यका त्याग नहीं करना परके द्रव्यका अपहरण करना, धरोहर को हड़पना इत्यादि लोभ के प्रकार हैं, इन लोभों से दूर होना 'शौच' है । निर्लोभी पुरुष 'शुचि' कहलाता है, शुचिका भाव या कर्म शौच है इसप्रकार शौच शब्दकी निष्पत्ति है ।

विनयप्रदानादीनां ग्रहणम् । व्यक्त्यर्थत्वसमासाऽकरणाच्च । भूतग्रहणादेव सिद्धेर्व्रतिग्रहणं तद्विषयानुकम्पाप्राधान्यख्यापनार्थम् । सत्प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यं सुखफलं कर्मोच्यते । तस्यैते भूतव्रत्यनुकम्पादिविशेषा आस्रवा विशुध्यङ्गत्वे सति भवन्त्यन्यथा तद्भावविरोधात्तेषामसद्वेद्यास्रववत् । तदुक्तम्—

> विशुद्धिसङ्क्लेशाङ्गं चेत्स्वपरस्थ सुखासुखम् ।
> पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः ।। इति ।।

मोहविशेषस्यास्रवमाह—

'इति' शब्द प्रकार वाची है, उससे अर्हत आदि की पूजा करना, बाल, वृद्ध, तपस्वी जनों की वैयावृत्य करना, परिणाम में ऋजुता होना, विनय और प्रदान आदिका ग्रहण होता है। तथा सूत्र में भूत व्रत्यनुकम्पादि पद और क्षान्ति इत्यादि पद पृथक्-पृथक् रख हैं उन पदोंका समास नहीं किया है उससे अर्हतपूजा आदि जो सातावेदनीय के आस्रव हैं उनका भी ग्रहण हो जाता है।

यद्यपि भूत शब्दके ग्रहण से अर्थ सिद्ध होता है तथापि व्रती शब्दका ग्रहण व्रतियों की अनुकम्पा प्रधान है इस बातको बतलाने के लिये किया गया है। प्रशस्त वेद्य सत् वेद्य है सुख जिसका फल है ऐसा कर्म सत् वेद्य–सातावेदनीय कर्म कहलाता है। उस सातावेदनीय कर्मके ये भूतव्रती अनुकम्पा आदि विशेष आस्रव विशुद्धि का अंग होने पर होते हैं अन्यथा नहीं ऐसा जानना क्योंकि बिना विशुद्धि के इनका सातावेदनीय के आस्रव के साथ विरोध आता है, जैसे असाता के आस्रव। अर्थात् विशुद्धि के अभाव में जैसे असाता वेदनीय कर्मका आस्रव होता है वैसे ही भूत अनुकम्पा आदि करते हुए भी यदि परिणामों में विशुद्धि नही है तो उससे सातावेदनीय का आस्रव नहीं होगा।

आप्तमीमांसा में स्वामी समंतभद्र कहते हैं कि—अपना अथवा परका सुख दुःख विशुद्धि तथा संक्लेश का अंग है–तत्कारण-कार्य वा स्वभावरूप है–तो वह सुख दुःख यथाक्रम पुण्य पापके आस्रव-बंधका हेतु है, और यदि विशुद्धि तथा संक्लेश दोनों में से किसी का भी अंग-कारण कार्य स्वभाव रूप नहीं है तो हे भगवन्! आपके मतमें वह व्यर्थ कहा है–उसका कोई फल नहीं है।

भावार्थ—सुख और दुःख दोनों ही, चाहे अपने को हो या दूसरों को। ये दोनों ही कथंचित् पुण्यरूप आस्रव बंधके कारण हैं, विशुद्धि का अंग (विशुद्धि का कारण या कार्य या स्वभावरूप) होने से, तथा ये दोनों कथंचित् पापरूप आस्रव बंधके कारण हैं,

केवलिश्रुतसंघधर्मदेवाऽवर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

चक्षुरादिकरणक्रमकुड्यादिव्यवधानातीतनिरावरणज्ञानोपेता अर्हन्तः केवलिन इति व्यपदिश्यन्ते। तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतं व्याख्यातम्। सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयभावनापराणां चतुर्विधानां श्रमणानां गणः संघ इति प्रोच्यते। एकस्याऽसंघत्वं प्राप्नोतीति चेतन्न। किं कारणम्? अनेकव्रतगुणसंहननादेकस्याऽपि संघत्वसिद्धेः। तथा चोक्तम्—

संघो गुणसंघादो कम्माणविमोइदो हवदि संघो।
दंसणणाणचरित्ते सवादिन्तो हवदि संघो॥ इति॥

संक्लेश के अंग होने से, यहां पर संक्लेश का अर्थ आर्त्त रौद्र स्वरूप परिणाम है। और विशुद्धि का अर्थ संक्लेश का अभाव है। जो मन वचन और कायकी प्रवृत्ति विशुद्धि का कारण है, या कार्य है या विशुद्धि स्वभाव रूप है वह सर्व ही सातावेदनीय का आस्रव स्वरूप है। और जो संक्लेश का कारण है, या संक्लेश का कार्य है या संक्लेश स्वरूप है वह सर्व ही असाता वेदनीय कर्मका आस्रव है। ऐसा समझना चाहिए।

मोहकर्म के आस्रव को कहते हैं—

सूत्रार्थ—केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवका अवर्णवाद दर्शनमोहका आस्रव है।

जिनका ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं होता, जिसमें क्रमत्व नहीं है, भित्ति आदि के व्यवधान से भी जो रहित है अर्थात् जिस ज्ञान में रुकावट सम्भव नहीं है ऐसे निरावरण केवलज्ञानसे युक्त अर्हत देव केवली कहलाते हैं। उन केवली के द्वारा कहा हुआ तथा बुद्धि आदि के अतिशय ऋद्धित्व के धारक गणधर द्वारा जो निश्चित किया गया है उसको श्रुत कहते हैं। श्रुतका वर्णन पहले किया है। सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की भावना में तत्पर चतुर्विध साधुओं का गण संघ कहलाता है।

शंका—चार प्रकार के साधुओं के समुदाय को संघ कहते हैं तो एक साधुको असंघपना आ जायगा?

समाधान—ऐसा नहीं है। एक साधु में भी अनेक व्रत और गुणोंका समूह रहता ही है अतः एक के भी संघपना सिद्ध होता है। कहा भी है—

गुणों के संघात को संघ कहते हैं संघ कर्मोंका विमोचक है। दर्शनज्ञान और चारित्र का समुदाय होने से एक साधु को भी संघ कहते हैं॥१॥ जिन प्रवचन में कहा

अहिंसादिलक्षणो जिनप्रवचने निर्दिष्टो धर्म इत्युच्यते । देवाश्चतुर्णिकाया व्याख्याताः । गुणवत्सु चान्तःकालुष्यसद्भावादसद्भूतदोषोद्भावनमवर्णवदनमवर्णवाद इति वर्ण्यते । केवलिनश्च श्रुत च संघश्च धर्मश्च देवाश्च तेषामवर्णवादः केवल्याद्यवर्णवादः । दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धान व्याख्यातम् । दर्शनं मोहयति प्रतिबध्नातीति दर्शनमोहः । दर्शनस्य मोहनं वा दर्शनमोहः कर्मविशेष उच्यते । तत्र केवलिनामवर्णवादः कवलाहारित्वाद्यभिधानम् । श्रुतस्य मांसभक्षणाद्यवद्यतावचनं, संघस्य शूद्रत्वाऽशुचित्वाद्याविर्भावनं, धर्मस्य निर्गुणत्वाद्यभिधानं, देवानां सुरामांसोपसेवनाद्याघोषणमवर्णवादः । स सर्वोऽपि दर्शनमोहस्य प्रत्येकमास्रवो भवति सङ्क्लेशहेतुत्वात् । अधुना चारित्रमोहास्रवमाह—

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

कषायो निरुक्तः । पूर्वोपात्तस्य द्रव्यकर्मणो द्रव्यादिनिमित्तवशात्फलप्राप्तिः परिपाक उदय इत्यभिधीयते । कषायस्योदयः कषायोदयस्तस्मात्कषायोदयात् । तीव्रपरिणामशब्दो व्याख्यातार्थः ।

गया अहिंसा आदि लक्षण वाला धर्म है । देव चार प्रकार के होते हैं इनका वर्णन हो चुका है । मनके अन्दर कलुष परिणाम होने से गुणवान पुरुषों में असत् दोषको प्रगट करना अर्थात् दोष नहीं है तो भी सदोष बतलाना 'अवर्णवाद' कहलाता है । केवली आदि पदों में द्वन्द्व गर्भित तत्पुरुष समास है । तत्त्वार्थ श्रद्धान को दर्शन कहते हैं, इसका कथन कर चुके हैं । 'दर्शनम् मोहयति प्रति बध्नाति इति दर्शनमोहः' दर्शन को जो मोहित करे वह दर्शन मोह कर्म है । अथवा दर्शन का जो मोह है दर्शन मोह है । केवली भगवान कवलाहार करते हैं इत्यादि कहना, केवली का अवर्णवाद है । शास्त्र में मांस भक्षण कहा है इत्यादि कहना श्रुतका अवर्णवाद है । संघ के साधु शूद्रके समान हैं अशुचि हैं इत्यादि कहना संघका अवर्णवाद है । धर्म तो निर्गुण है इत्यादि रूप से कहना धर्मका अवर्णवाद है । देव मदिरा पीते हैं इत्यादि कहना देव का अवर्णवाद है । यह सर्व ही एक-एक भी अवर्णवाद दर्शन मोहनीय कर्मका आस्रव है । क्योंकि ये संक्लेश परिणाम स्वरूप हैं ।

अब चारित्र मोह कर्मका आस्रव कहते हैं—

सूत्रार्थ—कषाय के उदय से तीव्र परिणाम होना चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव है ।

कषाय का अर्थ कह चुके हैं । पूर्व के उपार्जित द्रव्य कर्मका द्रव्य क्षेत्र आदि के निमित्त से फल प्राप्त होना पकना उदय कहलाता है । कषाय के उदय को कषायोदय

तीव्रश्चासौ परिणामश्च तीव्रपरिणामः। चारित्रमुक्तलक्षणम्। तन्मोहयतीति चारित्रमोहः। चारित्रस्य मोहनं वा चारित्रमोहः। तस्य चारित्रमोहस्य। कषायोदयनिमित्तो यस्तीव्रपरिणामः स आस्रव इति विज्ञेयः। स चावान्तरभेदापेक्षयाऽनेकधा। तद्यथा—स्वपरकषायोत्पादनतपस्विजनवृत्तदूषणसङ्क्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादिः कषायवेदनीयस्यास्रवः। सद्धर्मोत्प्रहसनदीनाभिहासबहुविप्रलापोपहासशीलतादिर्हास्यवेदनीयस्य। विचित्रक्रीडनपरता व्रतशीलाऽरुच्यादी रतिवेदनीयस्य। पराऽरतिप्रादुर्भावनरतिविनाशनपापशीलसंसर्गादिररतिवेदनीयस्य। स्वशोकाऽऽमोदशोचनपरदुःखाविष्करणशोकप्लुताभिनन्दनादिः शोकवेदनीयस्य। स्वभयपरिणामपरभयोत्पादननिर्दयत्वत्रासनादिर्भयवेदनीयस्य। सद्धर्मापन्नचतुर्वर्णविशिष्टवर्गकुलक्रियाचारप्रवणजुगुप्सापरिवादशीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य। प्रकृष्टक्रोधपरिणामातिमानितेर्ष्याव्यापाराऽलीकाभिधायिताऽतिसन्धानपरत्वप्रवृद्धरागपरांगनागमनादरवामलोचनाभावाभिष्वङ्गतादिः स्त्रीवेदनीयस्य। स्तोकक्रोधानुत्सिक्तत्वस्वदारसन्तोषादिः पुंवेदनीयस्य। प्रचुरकषायगुह्य-

---

कहते हैं, तीव्र परिणाम शब्दका अर्थ कह दिया है। तीव्र परिणाम पद में कर्मधारय समास है। चारित्र का लक्षण कह आये हैं (प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र की टीका में) उस चारित्र को जो मोहित करे अथवा चारित्र का जो मोह है उसे चारित्र कहते हैं। कषाय के उदय के निमित्त से जो तीव्र परिणाम होता है वह चारित्र मोहनीय कर्मका आसृव है। इसके अन्तर भेद अनेक हैं। आगे इसीको कहते हैं—अपने को और दूसरों को कषाय उत्पन्न कराना, तपस्वी जनों के आचरण में दूषण लगाना, संक्लिष्ट परिणाम से लिंग और व्रतोंका धारण करना इत्यादि कषाय कर्मके आसृव हैं। धर्मात्मा की हंसी करना, दीन की हंसी करना, बहुत बोलना, हंसने की आदत इत्यादि हास्यकर्म के आसृव हैं। विचित्र विचित्र क्रीड़ा करने में तत्पर होना, व्रत और शील में अरुचि इत्यादि रति कर्मके आसृव हैं। दूसरों को अरति पैदा करना, रतिका नाश, पाप करने वालों की संगति इत्यादि अरति कर्मके आसृव हैं। अपने शोक को अच्छा मानना दूसरों को दुःख उत्पन्न कराना, शोक करने वालों की प्रशंसा करना इत्यादि शोक कर्मके आसृव हैं। खुद भय करना, दूसरों को भय उत्पन्न कराना, निर्दयता, त्रास देना इत्यादि भय कर्मके आसृव हैं। धर्मात्मा, चतुर्वर्ण, विशिष्ट वर्ग, कुल आदि के क्रिया और आचार में तत्पर पुरुषों से ग्लानि करना, अपवाद करने का स्वभाव इत्यादि जुगुप्सा कर्मके आसृव हैं। अत्यन्त क्रोध परिणाम अति गर्व, ईर्ष्या, असत्य भाषण, अतिसंधान परता अर्थात् छल कपट प्रपञ्च में तत्परता, बढ़ता राग, परायी स्त्री के यहां जाने में आदर, स्त्री जैसे हावभाव करना इत्यादि स्त्री वेद के आसृव हैं। अल्प क्रोध, उद्रेक या

न्द्रियव्यपरोपणपरांगनावस्कन्दनादिर्नपुंसकवेदनीयस्यास्रव इति। इदानीं मोहानन्तरोद्दिष्टस्यायुश्चतुष्टयस्यास्रवो वक्तव्यस्तत्र चाद्यस्य तावन्नियतकालपरिपाकस्यायुषः कारणप्रदर्शनार्थमिदमुच्यते—

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

बहुशब्दस्य सङ्ख्यावाचिनो वैपुल्यवाचिनश्च ग्रहणं विशेषाऽनभिधानात्। आरम्भो हिंसनशीलानां कर्मोच्यते। परिग्रहो ममेदमिति सङ्कल्पः। आरम्भाश्च परिग्रहाश्चारम्भपरिग्रहाः। बहव आरम्भपरिग्रहा यस्य पुंसः स बह्वारम्भपरिग्रहः। अथवा आरम्भश्च परिग्रहश्चारम्भपरिग्रहौ, बहू आरम्भपरिग्रहौ यस्य स तथोक्तस्तस्य भावो बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुष आस्रवो भवतीति संक्षेपः। तद्विस्तरस्तु हिंसादिक्रूरकर्माऽनवरतप्रवर्तनपरस्वहरणविषयातिगृद्धिकृष्णलेश्याभिजातरौद्रध्यानमरणकालतादिलक्षणो विज्ञेयः। इदानीं तैर्यग्योनस्यायुष आस्रवमाह—

माया तैर्यग्योनस्य ॥ १६ ॥

कौतुक कम होना, स्वस्त्री में सन्तोष इत्यादि पुरुष वेद के आस्रव हैं। अधिक कषाय, दूसरों के गुप्त इंद्रिय का नाश करना, परस्त्री सेवन इत्यादि नपुंसक वेदके आस्रव हैं।

अब मोहनीय कर्मके अनन्तर कहा गया जो चार प्रकार का आयुकर्म है उसका आस्रव कहते हैं, उनमें जो नियतकाल में विपाक वाली है ऐसी पहली नरकायुका आस्रव बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—बहुत आरम्भ बहुत परिग्रह नरक आयुका आस्रव है।

बहु शब्दका संख्या अर्थ और विपुल अर्थ ऐसे दोनों अर्थ ग्रहण करना, इनमें कोई विशेष अर्थ भेद नहीं है। हिंसा शील व्यक्ति की क्रिया आरम्भ कहलाता है। यह मेरा है ऐसा संकल्प परिग्रह कहलाता है। आरम्भ और परिग्रह पद में द्वन्द्व समास करना फिर बहुत हैं आरम्भ परिग्रह जिसके ऐसा बहुव्रीहि समास करना, पुनः त्व प्रत्यय करना, इस तरह बहुत आरम्भ और परिग्रह नरकायुका आस्रव ऐसा संक्षेप कथन है। विस्तार से कहते हैं—हिंसादि क्रूर कार्यों को सतत् करना, पराया धन चुराना, विषयों में अत्यंत आसक्ति, कृष्ण लेश्या से उत्पन्न हुए रौद्र ध्यान से मरण करना अर्थात् मरते समय रौद्रध्यान होना इत्यादि नरकायु के आस्रव हैं।

अब तिर्यंच आयुके आस्रव कहते हैं—

चारित्रमोहकर्मोदयाविर्भूत आत्मनः कुटिलस्वभावो माया निकृतिर्वञ्चनेति च व्यपदिश्यते। तैर्यग्योना उक्तलक्षणास्तेषामिदं तैर्यग्योनम्। तस्य तैर्यग्योनस्यायुषो माया हेतुर्भवतीति संक्षेपः। तत्प्रपञ्चस्तु मिथ्यात्वोपेतधर्मदेशना निःशीलताऽतिसन्धानप्रियता नीलकपोतलेश्याभिजातार्तध्यान-मरणकालतादिलक्षणः। सांप्रतं मानुषस्यायुषो हेतुमाह—

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥ १७ ॥

अल्पः स्तोक इत्यर्थः। आरम्भश्च परिग्रहश्चारम्भपरिग्रहौ। अल्पावारम्भपरिग्रहौ यस्य सोऽल्पारम्भपरिग्रहस्तस्य भावोऽल्पारम्भपरिग्रहत्वम्। मानुषाणामिदमायुर्मानुषम्। तस्याल्पारम्भ-परिग्रहत्वं हेतुर्भवतीति संक्षेपः। तद्व्यासस्तु—मिथ्यादर्शनाऽलिङ्गितमिति विनीतस्वभावता प्रकृति-भद्रता प्राञ्जलव्यवहारता तनुकषायता कपोतपीतलेश्योपश्लेषधर्मध्यानमरणकालतादिलक्षणः। अपरोऽपि मानुषस्यायुष आस्रवोऽस्तीति तं प्रतिपादयन्नाह—

सूत्रार्थ—मायाचार से तिर्यंच आयुका आस्रव होता है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुए आत्माका कुटिल भाव माया कहलाती है, माया निकृति, वंचना ये एकार्थवाची शब्द हैं। तिर्यंच योनि वालों का लक्षण कह दिया है, उस तिर्यंच आयु का आस्रव माया है। यह संक्षेप कथन है। विस्तार से मिथ्यात्व भरा उपदेश देना, शील नहीं पालना, अतिसंधान प्रियता, नील लेश्या से उत्पन्न हुए आर्त्त ध्यान से मरण इत्यादि तिर्यंच आयुके आस्रव हैं।

अब मनुष्य आयुके आस्रव को कहते हैं—

सूत्रार्थ—अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह मनुष्य आयु का आस्रव है।

अल्प अर्थात् स्तोक-थोड़ा। आरम्भ और परिग्रह पदों का द्वन्द्व समास कर फिर बहुव्रीहि समास करना। अल्प है आरम्भ परिग्रह आस्रव जिसके ऐसा समास करना चाहिए। मनुष्य की आयुका आस्रव अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह है। यह संक्षेप कथन हुआ। विस्तार पूर्वक कहते हैं—मिथ्यादर्शन में बुद्धि का होना, विनीत स्वभाव, स्वभाव से कोमलता, सरल व्यवहार, मन्दकषाय, कपोत लेश्या से युक्त परिणाम, धर्म ध्यानपूर्वक मरण इत्यादि मनुष्य आयु के आस्रव हैं।

दूसरा भी मनुष्य आयुका आस्रव बताते हैं—

स्वभावमार्दवं च ॥ १८ ॥

स्वभाव प्रकृतिः परोपदेशाऽनपेक्षतेत्यर्थः। मृदुर्निरहङ्कारो मानकषायरहितः पुमानुच्यते। मृदोर्भावः कर्म वा मार्दवम्। स्वभावेन मार्दवं स्वभावमार्दवम्। तदपि मानुषायुषो हेतुर्भवति। ननु पूर्वत्र व्याख्यातमेवेदं पुनर्ग्रहणमनर्थकम्। सूत्रे नोपात्तमिति कृत्वा पुनरिदमुच्यते। तर्ह्येको योगः कर्तव्यः—अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं च मानुषस्येति। सत्यमुत्तरार्थं पृथग्योगकरणं दैवस्याप्यायुषः स्वभावमार्दवमास्रवो यथा स्यादिति। किं प्रागुक्तं द्वितयमेव मानुषस्यास्रवा ? नेत्युच्यते—

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥ १९ ॥

शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतानि वक्ष्यमाणानि। तेभ्यो निष्क्रान्तो निःशीलव्रतस्तस्य भावो निःशीलव्रतत्वम्। चशब्दोऽधिकृतस्याऽल्पारम्भपरिग्रहत्वस्य समुच्चयार्थः। ततो न केवलं निःशीलव्रतत्वं

सूत्रार्थ—स्वभाव से मृदुता होना भी मनुष्य आयुका आस्रव है।

स्वभाव अर्थात् प्रकृति, परके उपदेश के बिना ही कोमलता होना स्वभाव मार्दव कहलाता है। अहंकार रहित मान कषाय रहित पुरुष को मृदु कहते हैं। मृदु के भाव या कर्मको मार्दव कहते हैं। स्वभाव से मृदुता होना भी मनुष्य आयुका आस्रव है।

शंका—पूर्व सूत्र में यह कह दिया है यहां व्यर्थ ही पुनः इस आस्रव को क्यों कहा जा रहा है ?

समाधान—पूर्व सूत्र में स्वभाव मार्दवको नहीं लिया था अतः यह सूत्र आया है।

शंका—तो फिर दोनों का एक ही सूत्र बनाना चाहिए—'अल्पारम्भ परिग्रहत्वं स्वभाव मार्दवं च मानुषस्य' ऐसा सूत्र रचते ?

समाधान—ठीक है। किन्तु आगे के सूत्र के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए पृथक् सूत्र रचा है अर्थात् स्वभाव मार्दवरूप भाव देव आयुका भी आस्रव है, ऐसा अर्थ सिद्ध करने के लिये पृथक् सूत्र रचे हैं।

प्रश्न—ये कहे हुए दो ही आस्रव मानुष आयु के होते हैं या अन्य भी ?

उत्तर—इसी का समाधान सूत्र द्वारा करते हैं—

सूत्रार्थ—शील और व्रतका कथन आगे करेंगे, उनसे जो रहित है वह निःशील व्रत है उसका भाव निःशीलव्रतत्व है। च शब्द से अधिकृत अल्प आरम्भ परिग्रह का

मानुषस्यास्रवः, किं तर्ह्यल्पारम्भपरिग्रहत्व चेत्यर्थः सिद्धो भवति । सर्वेषां ग्रहणं प्रागुक्तनारकतैर्यग्योनमानुषायुषां संग्रहार्थम् । अथ मतमेतत्—पृथक्करणादेवातिक्रान्तायुस्त्रयसंग्रहः सिध्यति । यदि मानुषायुरास्रव एवाभीष्ट. स्यात्तदा तत्रैव क्रियेत । तस्मात्सर्वेषां ग्रहणमनर्थकमिति । तन्न । किं कारणम् ? भोगभूमिजापेक्षया देवायुषोऽपि संग्रहार्थत्वात् । भोगभूमिजानां प्राणिनां यन्नि शीलव्रतत्वं तद्दैवस्यायुष आस्रवो भवतीत्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं सर्वेषामित्युच्यत इत्यर्थः । इदानीं देवायुरास्रवमाह—

सरागसंयमसंयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

सरागसंयमः सरागचारित्रमुक्तम् । संयमाऽसंयमोऽपि विरताऽविरतपरिणामो व्याख्यातः । स्वेच्छामन्तरेण कर्मनिर्जरणमकामनिर्जरा । बालस्याऽज्ञस्य तपःक्लेशो बालतपो मिथ्याज्ञानपूर्वकमा-

---

समुच्चय होता है । उससे यह सिद्ध होता है कि केवल निःशील व्रतत्व ही मनुष्यायुका आस्रव नहीं है अपितु अल्प आरम्भ परिग्रह भी है । 'सर्वेषाम्' पद से पहले कहे हुए नारक, तिर्यंच और मनुष्य के आयुका संग्रह हो जाता है ।

शंका—इस सूत्रको पृथक् बनाने से ही ज्ञात होता है कि पहले के तीनों आयुका संग्रह करना है । यदि केवल मनुष्य आयुका आस्रव ही लेना इष्ट होता तो मनुष्य आयु के सूत्रमें ही इसका उल्लेख करते, इसलिए उक्त अर्थ अर्थात् नरक आदि आयुके आस्रव सिद्ध करने के लिए यह सूत्र आया है ऐसा सिद्ध होने से 'सर्वेषाम्' पद तो व्यर्थ ही ठहरता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है । 'सर्वेषाम्' पद तो भोगभूमिज जीवों की अपेक्षा देवायुका आस्रव भी निःशीलव्रतत्व से होता है । इस तरह के अर्थ का संग्रह करने हेतु अर्थात् चारों आयु के संग्रह हेतु 'सर्वेषाम्' पदका ग्रहण हुआ है । भोगभूमिज जीवों के जो निःशीलव्रतत्व है उससे देवायु का आस्रव होता है, इस अर्थको बतलाने के लिए उक्त पद प्रयुक्त हुआ है ।

अब देवायु के आस्रव को सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बालतप ये देव आयुके आस्रव हैं ।

सराग चारित्रको सराग संयम कहते हैं, इसका कथन हो चुका है । संयमासंयम विरताविरत परिणाम है इसका वर्णन भी किया है । अपनी इच्छा के बिना कर्मोंकी निर्जरा हो जाना अकाम निर्जरा है । अज्ञके तपक्लेश को बालतप कहते हैं अर्थात्

चरणमिति यावत् । सरागसंयमश्च संयमाऽसंयमश्चाकामनिर्जरा च बालतपश्च सरागसंयमसंयमाऽसंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि । देवानामिदं दैवमायुस्तस्य संयमादयः शुभपरिणामा आस्रवहेतवो भवन्तीति संक्षेपः । विस्तरस्तु कल्याणमित्रसम्बन्धायतनोपसेवासद्धर्मश्रवणगौरवदर्शनाऽनवद्यप्रोषधोपवासतपोभावनाबहुश्रुतागमपरत्वकषायनिग्रहपात्रदानपीतपद्मलेश्यापरिणामधर्मध्यानमरणादिलक्षणः सौधर्माद्यायुषः । अव्यक्तसामायिकविराधितसम्यग्दर्शनता भवनाद्यायुषो महर्द्धिकमानुषस्य वा पञ्चाणुव्रतधारिणः । अविराधितसम्यग्दर्शनास्तिर्यङ्मनुष्याः सौधर्मादिष्वच्युतावसानेषूत्पद्यन्ते । विनिपतितसम्यक्त्वास्तु भवनादिषु । अनधिगतजीवाऽजीवा बालतपसोऽनुपलब्धतत्त्वस्वभावा अज्ञानकृतसंयमाः सङ्क्लेशभावविशेषात्केचिद्भवनवासिव्यन्तरादिषु सहस्रारपर्यन्तेषु मनुष्यतिर्यक्ष्वपि च । अकामनिर्जराः क्षुत्तृष्णानिरोधब्रह्मचर्यभूशय्यामलधारिणः परितापादिभिः परिखेदितमूर्तयश्चारकनिरोधबन्धनबद्धा दीर्घकालरोगिणोऽसङ्क्लिष्टास्तरुगिरिशिखरपातिनोऽनशनज्वलनप्रवेशनविषभक्षणधर्मबुद्धयो व्यन्तर-

---

मिथ्याज्ञानपूर्वक आचरण करना बालतप है । सराग संयम आदि पदों में द्वन्द्व समास जानना । ये सराग संयमादिक देवायुकर्म के आस्रव हैं यह संक्षेप से कथन हुआ । विस्तार से कहते हैं—आत्मकल्याण में सहायक मित्र का समागम होना, जिन मन्दिर आदि आयतनों की सेवा करना, सद्धर्म का सुनना, गौरव दर्शन, निर्दोष प्रोषधोपवास करना, तपोभावना, बहुश्रुतत्व, आगम में तत्परता, कषाय निग्रह, पात्रदान, पीत पद्म लेश्या से युक्त धर्म्यध्यानपूर्वक मरण होना इत्यादि सौधर्म आदि स्वर्गों के देवायु के आस्रव जानने । पञ्च अणुव्रतों का धारक यदि अव्यक्त सामायिक करता है, सम्यग्दर्शन की विराधना करता है तो वह भवनत्रिककी देवायु का आस्रव करता है अथवा महा-वैभवशाली मनुष्यायु का आस्रव करता है । जिन्होंने सम्यग्दर्शन की विराधना नहीं की है ऐसे मनुष्य और तिर्यंच सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं और जो सम्यक्त्व से च्युत होते हैं तो भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं । जो व्यक्ति जीव अजीव तत्त्वों को नहीं जानते, बालतप करते हैं, तत्त्व से अनभिज्ञ हैं, अज्ञान से संयम पालते हैं वे संक्लेश भाव से कोई तो भवनवासी या व्यन्तर होते हैं, कोई सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं अथवा मनुष्य तिर्यञ्चों में भी उत्पन्न होते हैं । भूख प्यासको सहना, ब्रह्मचर्य पालना, पृथिवी पर सोना, मलको धारणा, परिताप सहना इत्यादि क्रियाओं से खेदित शरीर वाले तथा बेड़ी जेल आदि में डाले गये हैं, अथवा कारागृह में रहने के कारण उपर्युक्त भूख, प्यास, भू शय्या, ब्रह्मचर्य आदि का अनिच्छा से पालन कर रहे हैं, तथा जो दीर्घकाल से रोगी हैं तो भी क्लेश नहीं करते, यह धर्म क्रिया है ऐसा समझकर वृक्ष से पर्वत से गिरकर मरते हैं, उपवास कर, अग्नि में प्रविष्ट होकर, विष

मानुषतिर्यक्षु । निःशीलव्रताः सानुकम्पहृदया जलराजितुल्यरोषा भोगभूमिसमुत्पन्नाश्च व्यन्तरादिषु जन्म प्रतिपद्यन्ते । अपरमपि दैवस्यायुष आस्रवमाह—

सम्यक्त्वं च ॥ २१ ॥

उक्तलक्षणं सम्यक्त्वं देवस्यायुष आस्रवो भवतीति सम्बन्धः क्रियते । चशब्दः पूर्वोक्तसमुच्चयार्थः । अविशेषाभिधानेऽप्यत्र सौधर्मादिविशेषगतिर्भवति पृथग्योगकरणसामर्थ्यात् । यद्येवं तर्हि पूर्वसूत्रे य उक्त आस्रवविधिः सोऽविशेषेण प्राप्नोतीति, ततश्च सरागसंयमसंयमाऽसंयमावपि भवनवास्याद्यायुष आस्रवौ प्राप्नुत इति । नैष दोषोऽत एव तन्नियमसिद्धेः । यत एव सम्यक्त्वं सौधर्मादिष्विति नियम्यते तत एव तयोरपि ससम्यक्त्वयोर्नियमसिद्धिः । नासति सम्यक्त्वे सरागसंयमसंयमाऽसंयमव्यपदेश इति । इदानीमशुभनामास्रवमाह—

खाकर मरते हैं वे व्यन्तर, मनुष्य या तिर्यञ्च होते हैं । जो शील और व्रतों से तो रहित हैं किन्तु दयाशील हैं जल रेखा के समान जिनकी कषाय अल्प है वे व्यन्तर आदि में उत्पन्न होते हैं तथा भोग भूमिज जीव भी जो सम्यक्त्व रहित हैं वे व्यन्तर आदि में उत्पन्न होते हैं ।

और भी देवायु का आस्रव बताते हैं—

सूत्रार्थ—सम्यग्दर्शन भी देवायु का आस्रव है ।

सम्यक्त्व का लक्षण कह दिया है, उससे देवायु का आसृव होता है ऐसा सम्बन्ध करना, च शब्द पूर्वोक्त समुच्चय के लिये है । सामान्य से देवायु का आसृव करने पर भी पृथक् सूत्र करने से सिद्ध होता है कि सम्यक्त्व सौधर्म आदि वैमानिक देवायु का आसृव है ।

शंका—यदि ऐसी बात है तो पूर्व सूत्र में जो आसृव विधि कही वह समानरूप से प्राप्त होती है, और इस तरह तो सरागसंयम और संयमासंयम भी भवनवासी आदि आयु का आसृव सिद्ध होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, इसीसे वह नियम सिद्ध होता है, अर्थात् जिस कारण से यह नियम बनाया है कि सम्यक्त्व सौधर्मादि वैमानिक देवायुका आसृव है उसी नियम से सरागसंयम और संयमासंयम भी वैमानिक देवायु के आसृव हैं ऐसा सिद्ध होता है । सम्यक्त्व के अभाव में सरागसंयम और संयमासंयम यह नाम ही नहीं बनता ।

अब अशुभ नामकर्म के आसृव बताते हैं—

योगवक्रता विसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ।।२२।।

उक्तलक्षणाः कायादियोगास्तेषां वक्रता आत्मगता कुटिलवृत्तिर्योगवक्रतेत्युच्यते । आत्मान्तरेऽपि तत्प्रयोजकत्वं विसंवादनम् । अभ्युदयनिःश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं कायवाङ्मनोभिर्विसंवादयतिमैवं कार्षीस्त्वमेवं कुर्विति कुटिलतया प्रवर्तमानमित्यर्थः । चशब्दोऽनुक्तस्यैवंविधस्य परिणामस्य समुच्चयार्थः । स च मिथ्यादर्शनपिशुनाऽस्थिरचित्तताकूटमानतुलाकरणपरनिन्दात्मप्रशंसादिः । स एष सर्वोऽप्रशस्तस्यनामकर्मण आस्रवः प्रत्येतव्यः । सांप्रतं शुभनामास्रवमाह—

तद्विपरीतं शुभस्य ।। २३ ।।

तच्छब्देन पूर्वोक्तं योगवक्रतादिकं परामृश्यते । तस्माद्विपरीतं तद्विपरीतम् । कायावाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादनं चोच्यते । तथा पूर्वत्र चशब्दसमुच्चितस्य विपरीतधार्मिकदर्शनसम्भ्रमसद्भावोपनयनसंसरण—भीरुताप्रमादवर्जनाऽसंभेदचरितादिकं गृह्यते । तदेतत्सर्वं प्रशस्तस्य नामकर्मण आस्रवो

सूत्रार्थ—योगों की कुटिलता और विसंवाद ये अशुभ नामकर्म के आस्रव हैं ।

मनोयोग वचनयोग और काययोग का लक्षण कह आये हैं, उनकी कुटिलता अर्थात् अपने योगों में कुटिलता होना । अन्य व्यक्ति में भी उस कुटिलता से प्रवर्त्तन कराना विसंवादन कहलाता है । इसीको बताते हैं—अभ्युदय और निःश्रेयस साधक क्रियाओं में कोई व्यक्ति प्रवृत्ति कर रहा है । उसको मन वचन काय द्वारा विवाद में डालना कि ऐसा मत करो ऐसी क्रिया ठीक नहीं इस तरह (मेरा जैसा) आचरण करो । ऐसा कुटिल भाव से प्रवृत्त होना विसंवाद कहलाता है । इस तरह के अनुक्त परिणाम के समुच्चय के लिए च शब्द आया है । वे अनुक्त परिणाम कौन से हैं सो बताते हैं—मिथ्यादर्शन, चुगली, अस्थिर चित्त, झूंठे माप तौल रखना, परकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करना इत्यादि सर्व ही अशुभ नामकर्म के आस्रव जानने चाहिए ।

अब शुभ नामकर्म के आस्रव कहते हैं—

सूत्रार्थ—उससे विपरीत भाव शुभ नाम कर्मके आस्रव हैं । 'तत्' शब्द से पूर्वोक्त योग वक्रता और विसंवाद का ग्रहण होता है । उससे विपरीत अर्थात् मन, वचन और काय की सरलता होना तथा अविसंवाद–विसंवाद नहीं करना शुभ नाम कर्मका आस्रव है । पूर्व सूत्र के च शब्द का अध्याहार करना, जिससे अन्य भी शुभ नाम कर्मके आस्रवों का ग्रहण होता है, वह इस प्रकार है—धर्मात्मा पुरुषों को देखकर प्रसन्न होना, उनके प्रति सद्भाव करना उनको आदरपूर्वक अपने स्थान में लाना, पञ्चपरावर्त्तन

वेदितव्यः। शुभाऽशुभत्वं च नामकर्मणः शुभाऽशुभकार्यदर्शनादनुमेयम्। तत्कार्यानेकत्वाच्च तदनेकं प्रत्येतव्यम्। इदानीं शुभतमतीर्थंकरत्वनामास्रवमाह—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकाऽपरि-हाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥२४॥

दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं प्रागुक्तम्। तस्य विशुद्धिः सर्वातिचारविनिर्मुक्तिरुच्यते। दर्शनस्य विशुद्धिर्दर्शनविशुद्धिः तस्या अष्टावङ्गानि भवन्ति। निःशङ्कितत्वं, निःकांक्षता, विचिकित्साविरहः, अमूढदृष्टिता, उपबृंहणं, स्थितीकरणं, वात्सल्यं, प्रभावन चेति। तत्रेहलोकपरलोकव्याधिमरणाऽसंयमाऽरक्षणाकस्मिकसप्तविधभयविनिर्मुक्तता, अर्हदुपदिष्टे वा प्रवचने किमिदं स्याद्वा नवेति शङ्काविरहो निःशङ्कितत्वम्। उभयलोकविषयोपभोगाकांक्षानिवृत्तिः कुदृष्ट्यन्तराकांक्षानिरासो वा निःकांक्षता।

संसार से भयभीत रहना, प्रमादको छोड़ देना, अखण्ड चारित्र पालन इत्यादि शुभ नाम कर्मके आस्रव हैं। शुभ नाम और अशुभ नाम कर्मका शुभत्व अशुभत्व उनके कार्य से जाना जाता है। नाम कर्मके कार्य अनेक प्रकार के हैं अतः नामकर्म भी अनेक प्रकार का सिद्ध होता है।

इस समय सर्वाधिक शुभ तीर्थंकर नाम कर्मका आस्रव बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—दर्शनविशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शील और व्रतों में अतिचार नहीं लगाना, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, संवेग, शक्ति के अनुसार त्याग और तप करना, साधु समाधि, वैयावृत्य करना, अर्हद् भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति आवश्यकों की हानि नहीं करना, मार्ग की प्रभावना और प्रवचन वात्सल्य ये सोलह भावनायें शुभ तीर्थंकर नाम कर्मके आस्रव हैं।

तत्त्वार्थ श्रद्धान को दर्शन कहते हैं, संपूर्ण अतिचारों से रहित होना दर्शन की विशुद्धि है। उसके आठ अंग होते हैं—निःशंकितत्व, निःकांक्षता, निर्विचिकित्सा, अमूढ-दृष्टिता, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। निःशंकित अंगको कहते हैं—इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरणभय, असंयमभय, अरक्षणभय, और अकस्मात् भय इन सात भयों से रहित होना, अर्हन्त द्वारा उपदिष्ट प्रवचन में क्या यह है अथवा नहीं है ? ऐसी शंका नहीं करना निःशंकितत्व अंग है। इस लोक संबंधी और परलोक सम्बन्धी विषय भोगों की कांक्षा नहीं करना अथवा मिथ्यामत की कांक्षा नहीं करना

शरीराद्यशुचिस्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासङ्कल्पापनयः, अर्हत्प्रवचने वा इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदं सर्वमुपपन्नमित्यशुभभावनाविरहो निर्विचिकित्सता। बहुविधेषु दुर्नयदर्शनवर्त्मसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्त्यभावं संवीक्ष्य परीक्षाचक्षुषा व्यवसाय्य विरहितमोहता अमूढदृष्टिता। उत्तमक्षमादिभावनयात्मनो धर्मवृद्धिकरणमुपबृंहणम्। कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंशकारणेषूपस्थितेष्वात्मनो धर्मप्रच्यवनपरिपालनं स्थितीकरणम्। जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता वात्सल्यम्। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयप्रभावेनात्मनः प्रकाशनं प्रभावनमिति कथ्यते। ज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयस्तेन संपन्नता युक्तता विनयसम्पन्नता। अहिंसादीनि व्रतानि, तत्प्रतिपालनार्थानि क्रोधवर्जनादीनि शीलानि। शीलानि च व्रतानि च शीलव्रतानि। तेषु निरवद्या वृत्तिः कायवाङ्मनसां शीलव्रतेष्वनतिचार इति निगद्यते। अभीक्ष्णमनवरतमित्यर्थः। मत्यादिविकल्पं परोक्षप्रत्यक्षलक्षणं ज्ञानं तस्य भावनायामुपयुक्ततोपयोगः। ज्ञानस्योपयोगो ज्ञानोपयोगः। संसारदुःखाद्भीरुता संवेगः। ज्ञानोपयोगश्च संवेगश्च ज्ञानोपयोगसंवेगौ।

निःकांक्षा अंग है। शरीर आदि पदार्थ अशुचि हैं ऐसा जानकर उनमें जो शुचिता का मिथ्याभ्रम था उसको दूर करना अथवा 'अर्हन्तमत में यह (केशलोचादि) कार्य घोर कष्टप्रद हैं यदि ऐसे कार्य नहीं होवे तो अन्य सर्व ठीक है' इत्यादि अशुभ भावना नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है। तत्त्वके समान भासने वाले खोटे मतोंके मार्ग में युक्ति का अभाव देखकर परीक्षारूपी नेत्र द्वारा निश्चय करके मूढता त्याग देना अमूढदृष्टि अंग है। उत्तम क्षमा आदि के द्वारा अपने आत्म धर्मकी वृद्धि करना उपबृंहण है। धर्म के नाशक कषायका उदय आदि कारणों के मिलने पर अपने आत्माको धर्म से च्युत नहीं होने देना स्थितिकरण अंग है। जिन प्रणीत धर्मरूप अमृत में सदा अनुराग रखना वात्सल्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय के प्रभाव से अपने आत्माका प्रकाशन करना प्रभावना अंग है। ज्ञानादिगुण और ज्ञानी आदि जनों में आदर करना अथवा कषायों से निवृत्त होना विनय है उस विनय से युक्त होना विनय सम्पन्नता कहलाती है। अहिंसा आदि व्रत हैं, और उन व्रतोंको पालन करने के लिये क्रोधादिका त्याग करना शील कहलाता है, शील और व्रतों में मन वचन कायकी निर्दोष प्रवृत्ति का होना शीलव्रतेष्वनतिचार है। अनवरत को अभीक्ष्ण कहते हैं, मतिज्ञान आदि भेद वाला परोक्ष और प्रत्यक्षरूप ज्ञान है उसकी भावना में सदा उपयोग लगाना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग कहलाता है। ज्ञानका उपयोग ज्ञानोपयोग है। संसार के दुःखों से भय होना संवेग है। ज्ञानोपयोग और संवेग पदोंमें पहले द्वन्द्व समास करना, फिर अभीक्ष्ण शब्द के साथ उनका कर्म धारय समास करना,

अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगसंवेगावभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ । स्वशक्त्यनुरूपेण शक्तितः । परप्रीतिकराहारा-भयज्ञानप्रदानं त्यागः । मार्गाऽविरुद्धकायक्लेशाऽनुष्ठानं तपः । त्यागश्च तपश्च त्यागतपसी । साधोर्मुनि-जनस्य समाधानं साधुसमाधिः—मुनिगणस्य तपसः कुतश्चिद्विघ्ने समुत्थिते तत्सन्धारणमित्यर्थः । साधुजनस्य दुःखे समुत्पन्ने निरवद्येन विधिना तदपहरणं बहूपकारं वैयापृत्यं, तस्य करणमनुष्ठानं वैयापृत्यकरणम् । अर्हन्तः केवलज्ञानदिव्यलोचना वर्ण्यन्ते । आचार्याः पञ्चाचारसम्पन्नाः श्रुतज्ञान-चक्षुषः परहितसम्पादनातत्पराः प्रोच्यन्ते । बहुश्रुताः स्वपरसमयविस्तरनिश्चयज्ञाः कथ्यन्ते । प्रवचनं परमागमः । भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिरुच्यते । अर्हन्तश्चाचार्याश्च बहुश्रुताश्च प्रवचनं चार्हदा-चार्यबहुश्रुतप्रवचनानि । तेषु भक्तिरर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिः । अवश्यकर्तव्यान्यावश्यकानि क्रियाविशेषाः षड्भवन्ति । सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चेति । तत्र सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं चित्तस्यैकत्वेन ज्ञाने प्रणिधानम् । चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थ-करपुण्यगुणानुकीर्तनं कथ्यते । वन्दना त्रिशुद्धिद्वयासना चतुःशिरोनतिर्द्वादशावर्तना । समस्तातीतदोष-

---

उससे अर्थ यह होता है कि सतत् ज्ञानोपयोग में और संवेग में जुट जाना लगे रहना । शक्ति के अनुसार को शक्तितः कहते हैं । परको प्रीतिकारक ऐसा आहार, अभय और ज्ञानको देना त्याग कहा जाता है । मार्ग के अविरुद्धरूप कायक्लेश करना तप है, अपनी शक्ति के अनुसार त्याग और तप करना 'शक्तितस्त्यागतपसी' है । मुनिजन को समाधान करना साधु समाधि है अर्थात् मुनियों के तप में किसी कारण से विघ्न उपस्थित होने पर उसको दूर करना, मुनियों को सहायक बनना साधु समाधि है । साधुओं के दुःख उत्पन्न होने पर निर्दोष विधि से उस दुःखको दूर करना वह बहुउपकारी वैयापृत्य है उसका अनुष्ठान वैयापृत्यकरण है । केवलज्ञानरूप दिव्य नेत्रों के धारक अर्हन्त देव कहे जाते हैं, पञ्चाचार परायण परके हित में तत्पर श्रुतज्ञानरूपी नेत्रों के धारक आचार्य होते हैं । स्वसमय और परसमय के विस्तार को जानने वाले बहुश्रुत कहलाते हैं । परमागम को प्रवचन कहते हैं । भावों की विशुद्धि युक्त अनुरागको भक्ति कहते हैं, अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन में भक्ति होना अर्हन्तभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्ति कहलाती है । अवश्य ही करने योग्य जो क्रिया विशेष होते हैं वे आवश्यक कहे जाते हैं । वे छह हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग । सर्व सावद्य योगका त्यागरूप लक्षण वाला ऐसा चित्तका एकपने से ज्ञान में लगना सामायिक है । तीर्थंकरों के पवित्र गुणोंका अनुकीर्त्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है । मन वचन कायकी शुद्धि, दो बार आसन (बैठना) चार शिरोनति बारह आवर्त्त रूप क्रियायें जिसमें होती हैं वह वन्दना है ।

निवर्तनं प्रतिक्रमणम् । अनागतदोषापोहनं । प्रत्याख्यानम् । परिमितकालविषया शरीरममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्ग इति । अपरिहाणिरपरित्यजनं यथाकालं प्रवर्तनमित्यर्थः। आवश्यकानामपरिहाणिरावश्यकापरिहाणिः । ज्ञानतपोजिनपूजाविधिना मार्गस्य धर्मस्य प्रभावनं प्रकाशनं मार्गप्रभावना । प्रकृष्टं वचनं

विशेषार्थ—यहां पर वन्दना का स्वरूप सूत्ररूप से संक्षिप्त कहा है, इसका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—वन्दना को ही देव वन्दना कहते हैं, यह तीनों सन्ध्याओं में जो सामायिक की जाती है उसका अंगभूत है । प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल ये इसके काल हैं । सूर्योदय होने के पूर्व में, मध्याह्न में और सूर्यास्त के अनन्तर साधुजन (व्रतीजन भी) सामायिक करते हैं उसमें सर्वप्रथम सर्व पाप क्रियाओं का त्याग, मन वचन कायकी शुद्धि करना चाहिए फिर पडिक्कमामि...इत्यादि ईर्यापथ शुद्धि करें, सामायिक स्वीकार कर चैत्यभक्ति की विज्ञापना कर चत्तारि मंगलादि दंडक बोलकर कायोत्सर्ग करें फिर थोस्सामि दण्डक बोलें फिर चैत्यभक्ति बोलें, इसमें चैत्यभक्ति की विज्ञापना करते समय बैठकर गवासन से नमस्कार करते हैं यह एक आसन या बैठना हुआ, फिर चत्तारि दण्डक के प्रारम्भ में तीन आवर्त (हाथ जोड़कर विशिष्ट रीति से तीन बार घुमाना) और एक शिरोनति (शिरको झुकाना) होती है। पुनः उसी चत्तारिदण्डक के अन्त में तीन आवर्त्त एक शिरोनति होती है। फिर कायोत्सर्ग करना (सत्तावीस श्वासोच्छ्वास में नौ बार णमोकार मन्त्र जपना) अनंतर गवासन से बैठकर नमस्कार करना यह दूसरी बार आसन हुआ । पुनः थोस्सामि दंडक के प्रारम्भ में तीन आवर्त और एक शिरोनति तथा दण्डक के अन्त में तीन आवर्त एक शिरोनति करना फिर 'जयति भगवान्' इत्यादि चैत्यभक्ति बोलना, इसप्रकार एक भक्ति सम्बन्धी क्रिया में दो बार आसन चार बार शिरोनति और बारह आवर्त होते हैं। ऐसे ही पञ्चगुरु भक्ति में होते हैं क्योंकि देव वन्दना में दो भक्तियां होती हैं और अंत में लघु समाधि भक्ति होती है, इस क्रिया के अनन्तर आत्मध्यान चिन्तन करें। इस तरह यह देववन्दना या सामायिक विधि है । तीनों कालों में यही क्रम है ।

अतीत दोषों से हटना या अतीत दोषों को दूर करना प्रतिक्रमण है । आगामी दोषों का त्याग प्रत्याख्यान है । परिमित कालपर्यन्त शरीर के ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है । यथासमय प्रवर्त्तन करने को अपरिहाणि कहते हैं आवश्यक क्रियाओं की अपरिहाणि को आवश्यक अपरिहाणि कहते हैं । ज्ञान, तप, जिनपूजा आदि से धर्म मार्गका प्रकाशन करना मार्गप्रभावना है । प्रकृष्ट है वचन जिसके उसे 'प्रवचन' कहते हैं

यस्यासौ प्रवचनः सधर्मो जैनवर्ग इत्यर्थः। तस्मिन् प्रवचने वत्सलत्वं—वत्से धेनुवत्स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वं धर्मलक्षणम्। तीर्थं करोतीति तीर्थकरो भगवान् परमदेवोर्हन्प्रोच्यते। तस्य भावस्तीर्थकरत्वम्। तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि समस्तानि व्यस्तानि वा दर्शनविशुद्धिसहितानि तीर्थकरत्वस्य नाम्नस्त्रिजगदाधिपत्यफलस्यास्रवकारणानि भवन्ति। तत एव दर्शनविशुद्धिः प्रथममुपात्ता प्राधान्यख्यापनार्थं, तदभावे तदनुपपत्तेः। इदानीं गोत्रास्रवे वक्तव्ये सति नीचैर्गोत्रस्य तावदास्रव विधानार्थमाह—

परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

परश्चात्मा च परात्मानौ। तथ्यस्यातथ्यस्य वा दोषस्योद्भावन प्रतीच्छा निन्देत्युच्यते। सद्भूतस्यासद्भूतस्य वा गुणस्योद्भावनं प्रत्यभिप्रायः प्रशसेति व्यपदिश्यते। निन्दा च प्रशंसा च निन्दाप्रशंसे। परात्मनोर्निन्दाप्रशंसे परात्मनिन्दाप्रशंसे। अत्र यथासङ्ख्यमभिसम्बन्धो द्रष्टव्यः—परनिन्दा आत्मप्रशंसेति। सन्विद्यमानोऽसन्नविद्यमानः। संश्चासंश्च सदसन्तौ। सदसन्तौ च तौ गुणौ

अर्थात् धर्मात्मा जैन समुदायको प्रवचन कहते हैं, उसमें वत्सलत्व करना, जैसे बछड़े पर गाय स्नेह करती है वैसे धर्मात्माओं पर स्नेह वात्सल्य धर्मका लक्षण है। तीर्थ को करने वाले तीर्थंकर हैं भगवान परमदेव अर्हन्त तीर्थंकर होते हैं। तीर्थंकर के भावको तीर्थंकरत्व कहते हैं। भले प्रकार से भावित की गयी ये जो सोलह भावनायें हैं वे दर्शनविशुद्धि युक्त समस्तरूप या व्यस्तरूप तीर्थंकरत्व नामकर्म के आसृव हैं। जिस तीर्थंकरत्व नामकर्म का फल तीन लोकों का आधिपत्य स्वामित्व स्वरूप है। इन सोलह भावनाओं में दर्शन विशुद्धि भावना प्रमुख है उसी कारण इसको सूत्रमें सर्व प्रथम लिया है जिससे प्रधानता स्पष्ट हो। यदि दर्शन विशुद्धि भावना नहीं है तो तीर्थंकर नाम कर्मका आसृव नहीं होता।

अब गोत्रकर्म का आसृव कहना चाहिए, इसमें पहले नीच गोत्रका आसृव बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—पर और आत्मा को परात्मा कहते हैं।

तथ्य और अतथ्य अर्थात् वास्तविक अथवा अवास्तविक दोषको प्रगट करने की इच्छा निन्दा कहलाती है, सद् विद्यमान या अविद्यमान गुणको प्रगट करने का अभिप्राय प्रशसा है। निन्दा और प्रशंसा अर्थात् परकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करना 'परात्म-निन्दा प्रशंसे' है यहां क्रम से सम्बन्ध करना–परकी निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना। सत् विद्यमान असत् अविद्यमान। सत् और असत् पदों में द्वन्द्व समास है, पुनः

च सदसद्गुणौ। प्रतिबन्धकहेतुसन्निधाने सत्वनाविर्भावितं छादनमित्यवसीयते। प्रतिबंधकस्य हेतोरभावे सति प्रकाशितवृत्तिता उद्भावनमित्याख्यायते। छादनं चोद्भावनं च च्छादनोद्भावने। सदसद्गुणयोश्छादनोद्भावने सदसद्गुणच्छादनोद्भावने। अत्रापि यथासङ्ख्यमभिसम्बन्धः—सद्गुणच्छादनमसद्गुणोद्भावनमिति। चशब्दोऽनुक्तद्विस्तरसमुच्चयार्थः। नीचैरित्ययं शब्दोऽधिकरणप्रधानो निकृष्टवाची द्रष्टव्यः। गूयते शब्द्यते तदिति गोत्रम्। नीचैःस्थाने येनात्मा क्रियते तन्नीचैर्गोत्रं कर्मोच्यते। तस्यास्रवकारणान्येतानि परनिन्दादीनि वेदितव्यानि। उच्चैर्गोत्रस्यास्रवमाह—

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

प्रत्यासत्तेस्तदित्यनेन नीचैर्गोत्रास्रवः प्रतिनिर्दिश्यते। विपर्ययोऽन्यथावृत्तिः। तस्य विपर्ययस्तद्विपर्ययः कः पुनरसौ? आत्मनिन्दा परप्रशंसा सद्गुणोद्भावनमसद्गुणच्छादनं चेति। गुणोत्कृष्टेषु

गुण शब्द के साथ कर्मधारय समास हुआ है। प्रतिबन्धक हेतु के होने पर प्रगट नहीं होने देना छादन है। प्रतिबन्धक हेतु के अभाव होने पर प्रगट करना उद्भावन है। छादन और उद्भावन में द्वन्द्व समास कर फिर 'सदसद्गुणयोः छादनोद्भावने सदसद्गुण च्छादनोद्भावने' ऐसा तत्पुरुष समास करना। यहां भी यथासंख्य सम्बन्ध है—सद्गुणों का छादन करना और असत् गुणों को प्रगट करना अर्थात् अपने में गुण नहीं है तो भी प्रगट करना और दूसरे में गुण मौजूद है तो भी प्रगट नहीं करना, इससे नीच गोत्र का आस्रव होता है। च शब्द सूत्र में जो नहीं कहे हैं उन आस्रवों को ग्रहण करने के लिये आया है। 'नीचैः' यह शब्द अधिकरण प्रधान निकृष्टवाची है। 'गूयते तद् गोत्रम्' यह गोत्र शब्द की निरुक्ति है। जिसके द्वारा आत्मा नीचे स्थान में किया जाता है वह नीचगोत्र कर्म है। उस नीच गोत्र कर्मके आस्रव के कारण ये परनिन्दा आदि है ऐसा समझना चाहिए।

उच्च गोत्र के आस्रव कहते हैं—

सूत्रार्थ—नीच गोत्र के जो आस्रव कहे थे उससे विपरीत भाव उच्च गोत्र के आस्रव हैं, तथा नीचवृत्ति—नम्रवृत्ति होना और उत्सेक नहीं होना ये उच्चगोत्र कर्मके आस्रव हैं।

निकट होने से तद् शब्द द्वारा नीच गोत्र कर्मके आस्रव का निर्देश किया है। अन्यथावृत्ति को विपर्यय कहते हैं। वह विपर्यय कौनसा है सो बताते हैं—अपनी निन्दा और परकी प्रशंसा करना सद्गुण को प्रगट करना और असद् गुणका छादन करना

विनयेनावनतिर्नीचैर्वर्तनं नीचैर्वृत्तिरित्याख्यायते। विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदविरहोऽनहङ्कार उत्सेकाभावोऽनुत्सेक इत्युच्यते। नीचैर्वृत्तिश्चानुत्सेकश्च नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ। चशब्दोऽनुक्तवृद्धिस्तरसमुच्चयार्थः। उत्तरस्य नीचैर्गोत्रात्परस्योच्चैर्गोत्रस्येत्यर्थः। उच्चैःशब्दोऽप्यधिकरणप्रधानः। उच्चैःस्थाने आत्मा क्रियते येन तदुच्चैर्गोत्रं कर्मोच्यते। तस्यात्मनिन्दादीन्यास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि। सम्प्रत्यन्तरायकर्मास्रवं निर्दिशन्नाह—

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ २७ ॥

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां विहननं विघ्न इति व्यपदिश्यते। अत्र 'स्थास्नापाव्यधिहनेयुध्यर्थे' इति घञर्थे कविधानम्। विघ्नस्य करणं—कृतिर्विघ्नकरणमन्तरायाख्यस्य कर्मण आस्रवो वेदितव्यः। क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्येत्यत इति करणस्य प्रकारार्थस्यानुवृत्तेश्च सर्वत्रानुक्तार्थसम्प्रत्ययो भवति। एवमुक्तेनास्रवविधिना यत्स्वयमुपात्तं ज्ञानावरणाद्यष्टविधं कर्म तन्निमित्तवशादात्मा संसारविकार-

---

उच्च गोत्र कर्मका आस्रव है। गुणों से उत्कृष्ट जनों में विनय से झुकना, नीचैर्वृत्ति कही जाती है। अपने में विज्ञान आदि की अपेक्षा उत्कृष्टता है तो भी उनका अहंकार नहीं करना—उत्सेक नहीं होना अनुत्सेक कहलाता है अर्थात् अहंकार को उत्सेक कहते हैं और अहंकार का अभाव अनुत्सेक है। च शब्द अनुक्त समुच्चय के लिये है। उत्तर का अर्थ उच्चैर्गोत्र है। उच्चैः शब्द भी अधिकरण प्रधान है। उस उच्चगोत्र के आस्रव अपनी निन्दा करना, परकी प्रशंसा करना, नम्रवृत्ति और अनुत्सेक आदि हैं यह अर्थ हुआ।

अब अन्तराय कर्मके आस्रव को कहते हैं—

सूत्रार्थ—विघ्न करना अन्तराय कर्मका आस्रव है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य का घात करना विघ्न कहलाता है। यहां 'स्थास्नापाव्यधिहनेयुध्यर्थे' इस व्याकरण के सूत्र से घञ् अर्थ में क प्रत्यय आकर वि उपसर्ग युक्त हन् धातु से 'विघ्न' शब्द बना है। विघ्न करने से अन्तराय कर्मका आस्रव होता है ऐसा जानना चाहिए। 'क्षान्तिः शौच मिति' इत्यादि साता वेदनीय कर्म के आस्रव बताते समय सूत्र में 'इति' शब्द प्रकार अर्थ में आया था उसकी अनुवृत्ति अग्रिम सर्व सूत्रों में पायी जाती है, उससे जिन आस्रवों के नाम नहीं कहे हैं उनका समुच्चय या बोध हो जाता है। इस प्रकार कही गयी आस्रव विधि से जो स्वयं उपात्त ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म हैं उनके निमित्त से आत्मा संसार के विकार का अनुभव

मनुभवति । यथा शौण्डः स्वरुचिविशेषान्मदमोहविभ्रमकरीं मदिरां पीत्वा तत्परिपाकवशादनेकविकार-मास्कन्दति यथा वा रोगपीडितोऽपथ्यभोजनजनितं वातादिविकारमाप्नोतीति । सर्वस्य च ज्ञानप्रदोषा-देरास्रवकारणस्य ज्ञानावरणादिकर्मागमनस्य च तत्फलस्य च सद्भावः सर्वज्ञवीतरागप्रणीतादागमाद्-दृष्टेष्टाविरुद्धादवबोद्धव्यः। स्यान्मतं ते—ये तत्प्रदोषनिह्नवादयो ज्ञानावरणादीनामास्रवाः प्रतिनियता उक्तास्ते सर्वेषां कर्मणामास्रवा भवन्ति, ज्ञानावरणे हि बध्यमाने युगपदितरेषामपि कर्मणां बन्धस्यागमे इष्टत्वात् । तस्मादास्रवनियमोऽनुपपन्न इति । अत्रोच्यते—यद्यपि तत्प्रदोषादिभिर्ज्ञानावरणादीनां

करता है । जैसे मदिरा पेयी पुरुष अपनी रुचि से मद मोह विभ्रम को करने वाली मदिरा को पीकर उसके परिपाकवश अनेक विकारों को प्राप्त होता है । अथवा जैसे रोग पीड़ित पुरुष अपथ्य भोजन के निमित्त से उत्पन्न हुए वात आदि विकार को प्राप्त होता है वैसे ही इन कर्मों को स्वयं ही बांधकर उनके उदयकाल में यह मोही संसारी प्राणी अनेक प्रकार के कष्ट, दुःख, वेदना, आपत्तियों को भोगता है ऐसा समझना चाहिए ।

ज्ञानके प्रदोष आदि करना इत्यादि रूप जो आस्रवों के कारण ऊपर बताये हैं जो ज्ञानावरण आदि कर्मों के आगमन कराते हैं उन सबका सद्भाव तथा उन कर्मों के फलों का सद्भाव सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत आगम से जाना जाता है क्योंकि उक्त आगम में प्रत्यक्ष परोक्षरूप से कोई बाधा नहीं आती ।

शंका—आपने जो तत्प्रदोष निन्हव इत्यादि को ज्ञानावरणादि के प्रतिनियतरूप से आस्रव कहे हैं वे सर्व ही आस्रव सम्पूर्ण कर्मोंके आस्रव होते हैं, देखिये ! ज्ञानावरण कर्म जब बँधता है उस वक्त एक साथ अन्य दर्शनावरण वेदनीय आदि कर्म भी बंधते हैं इसलिए अमुक आस्रव अमुक कर्मको बाँधता है ऐसा नियम घटित नहीं होता है ?

समाधान—ठीक कहा । किन्तु तत् प्रदोष आदि के द्वारा ज्ञानावरणादि सभी कर्मोंके प्रदेश आदि बन्ध होने में नियम नहीं है, तथापि अनुभाग बन्ध होने में नियम है उस अनुभाग विशेष की दृष्टि से प्रदोष निन्हव आदिका विभाग होकर पृथक्-पृथक् कारणों से कर्मका विशिष्ट अनुभाग होता है ऐसा जानना चाहिए । इसको प्रायः कह दिया है ।

सर्वासां प्रकृतीनां प्रदेशादिबन्धनियमो नास्ति । तथाप्यनुभागविशेषनियमहेतुत्वेन तत्प्रदोषनिह्नवादयः प्रविभज्यन्त इत्युक्तप्रायम् ॥

विशेषार्थ—इस तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय में ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों के पृथक्-पृथक् आस्रव बतलाये हैं, ज्ञानावरण कर्म तथा दर्शनावरण कर्मके प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य आदि हैं। वेदनीय में साता के जीव दया इत्यादि हैं, असाता वेदनीय के दुःख शोक इत्यादि, मोहनीय के अवर्णवाद, तीव्र कषायादिक हैं। चारों आयुकर्म के पृथक्-पृथक् बहुत आरंभादि, मायाचार, अल्पारंभादि और सरागसंयम इत्यादि आस्रव हैं। नामकर्म में शुभनाम के सरलता कलह नहीं करना इत्यादि हैं और अशुभ नाम कर्मके कुटिलता विसंवाद इत्यादि हैं। गोत्र में नीचगोत्र के अपनी प्रशंसा परायी निन्दा इत्यादि हैं उच्चगोत्र के परकी प्रशंसा और अपनी निन्दा इत्यादि हैं। अन्तराय कर्मके आस्रव दानादि में विघ्न-बाधा करना है। इस कथन पर प्रश्न होता है कि सिद्धांत में एक समय में एक जीव के एक साथ सात या आठ मूल कर्म प्रकृति बन्धती हैं, तो एक प्रदोष या निह्नव या दुःख आदिक एक-एक ज्ञानावरण आदि कर्मोंका कारण कहां रहा ? उससे सभी कर्म बन्धे ? प्रश्न बिलकुल ठीक है किन्तु यह सर्व ही आस्रवों का प्रकरण अनुभाग बन्धकी अपेक्षा से किया गया है। बन्धके चार भेद हैं—प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध। इनमें प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध मनोयोग आदि योगों से होते हैं। स्थिति बन्ध कषाय से होता है। अनुभाग बन्ध भी कषाय से होता है किन्तु कषायों के असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं। ये प्रदोष आदि, दुःख, शोक आदि सभी भाव कषायों के अन्तर्गत ही हैं। यहां तक सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मके आस्रवभूत सरागसंयम, विनय, अल्प परिग्रहत्व इत्यादि भाव भी प्रशस्त राग रूप होने से कषाय स्वरूप हैं। अब इसमें रहस्य या सिद्धांत यह निकलता है कि सात या आठ मूल कर्म प्रकृतियां बँध रही हैं निश्चित बँध रही हैं जिस समय प्रदोष रूप जीव का भाव हुआ उस समय ज्ञानावरण कर्म में सर्वाधिक अनुभाग पड़ेगा और दूसरे कर्मोंमें अल्प अनुभाग पड़ेगा। जिस वक्त अवर्णवादरूप भाव है एवं क्रिया चल रही है उस वक्त उस जीव के दर्शनमोह-मिथ्यात्वका तीव्र-अधिक अनुभाग पड़ेगा तथा दूसरे कर्मोंमें कम अनुभाग होगा। इस प्रकार सर्वत्र लगाना चाहिए। इसतरह इस अध्याय में कहे गये पृथक् आस्रवोंका कथन भली भांति सिद्ध होता है।

शशधरकरनिकरसतारनिस्तलतरलतलमुक्ताफलहारस्फारतारानिकुरम्बबिम्बनिर्मलतरपरमौदार
शरीरशुक्लध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघातीन्धनसङ्घातसकलविमलकेवलालोकित-
सकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिर्विदचित्स्वभाव-
भावाभिधानसाधितस्वभावपरमाराध्यतममहासिद्धान्तः श्रीजिनचन्द्र-
भट्टारकस्तच्छिष्यपण्डितश्रीभास्करनन्दिविरचित-
महाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां
षष्ठोऽध्यायस्समाप्तः ।

जो चन्द्रमा को किरण समूह के समान विस्तीर्ण, तुलना रहित मोतियों के विशाल हारों के समान एवं तारा समूह के समान शुक्ल निर्मल उदार ऐसे परमौदारिक शरीर के धारक हैं, शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि की उज्ज्वल ज्वाला द्वारा जला दिया है घाती कर्म रूपी ईन्धन समूह को जिन्होंने ऐसे तथा सकल विमल केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण लोकालोक के स्वभाव को जानने वाले श्रीमान परमेश्वर जिनपति के मत को जानने में विस्तीर्ण बुद्धि वाले, चेतन अचेतन द्रव्यों को सिद्ध करने वाले परम आराध्य भूत महासिद्धान्त ग्रन्थों के जो ज्ञाता हैं ऐसे श्री जिनचन्द्र भट्टारक हैं उनके शिष्य पंडित श्री भास्करनंदी विरचित सुख बोधा नामवाली महा शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में षष्ठ अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ सप्तमोऽध्यायः

व्रतिष्वनुकम्पा शुभस्य कर्मण आस्रवो भवतीत्युक्तं प्राक्। ते च व्रतिनो व्रतेन युक्ता भवन्ति। तच्च व्रतं किमित्याह—

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥ १ ॥

हिंसा चानृतं च स्तेयं चाब्रह्म च परिग्रहश्च हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहा वक्ष्यमाणलक्षणास्तेभ्यो हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यः। विरतिर्विशुद्धिपरिणामकृता निवृत्तिर्व्रतं भवति। क्रोधाद्यावेशवशात्सा न व्रतं स्यादित्यर्थः। हिंसादीनां परिणामानामध्रुवत्वात्कथमपादानत्वमिति चेत्सत्यं बुद्ध्यपाये तेषां ध्रुवत्वविवक्षोपपत्तेरपादानत्वमुपपद्यते। धर्माद्विरमतीत्यादिवत्। अहिंसाव्रतं सर्वेषु

व्रतियों में अनुकम्पा करना शुभ कर्मका आस्रव है ऐसा पहले कहा है। व्रती व्रतयुक्त होते हैं। अतः वह व्रत क्या है ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—हिंसा, झूंठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहों से विरक्त होना व्रत है।

हिंसा आदि पदों में द्वन्द्व समास है। विशुद्ध परिणाम के निमित्त से जो विरक्तता होती है वह 'व्रत' कहलाता है। अर्थात् क्रोध, मान आदि कषाय के आवेश में आकर जो विरक्ति उदासीनता (नफरत) होती है वह व्रत नहीं, किन्तु विशुद्ध (शांत) भावकी वजह से जो पाप कार्यों से विरक्ति होती है वह व्रत कहलाता है।

प्रश्न—हिंसा असत्य इत्यादि परिणाम अध्रुव हैं अतः उनसे अपादान कारक (पञ्चमी विभक्ति) कैसे हो सकता है?

उत्तर—प्रश्न ठीक किया है किन्तु बुद्धि से अपाय होना मानकर हिंसादि परिणामों को ध्रुव समझकर उस अपेक्षा से ध्रुव विवक्षा बनती है और हिंसा आदि पदको अपादान विभक्ति सिद्ध होती है। जैसे धर्मसे विरक्त होता है इस वाक्य से 'धर्मात्' (पञ्चमी विभक्ति) अपादान कारक होता है, धर्मपरिणाम भी अध्रुव हैं किन्तु बुद्धि ध्रुव होने से धर्मबुद्धि से विरक्त होता है।

व्रतेषु प्रधानमिति कृत्वा तदादौ प्रोच्यते। सत्यादीनां तु सस्यवृतिपरिक्षेपवत्तत्परिपालनार्थत्वाद-प्राधान्यम्। हिंसादिभिर्विरतेः प्रत्येकमभिसंबन्धाद्बहुत्वं प्राप्नोतीति चेत् सत्यं किंतु विरमणसामान्यस्य विवक्षितत्वादेकत्वं न्याय्यं, यथा गुडतिलौदनादीनां पाक इत्यत्र भेदाऽविवक्षया पाकस्यैकत्वम्। अत एव बहुवचनमपि न कृतम्। स्यान्मतं ते—संवरत्वेन संयमाख्यो धर्मो वक्ष्यते, संयम एव च व्रतमिति पृथगिहोपादानमनर्थकमिति। तन्न युक्तिमत्—निवृत्तिरूपो हि संवरः। निवृत्तिप्रवृत्तिरूपं च व्रतम्। हिंसा-

---

भावार्थ—व्याकरण सूत्र के अनुसार ध्रुव पदार्थ से हटने निवृत्त होने अर्थ में प्रायः अपादानकारक (पञ्चमी विभक्ति) होती है। यहां पर सूत्र में हिंसा 'नृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः' ऐसा अपादानकारक का प्रयोग है हिंसा से विरक्त होना अर्थात् हटना ऐसा अर्थ है इसमें शंका होती है कि हिंसादिपरिणाम ध्रुव तो हैं नहीं तो पंचमी विभक्ति कैसे सम्भव है? इसका उत्तर ग्रंथकार ने दिया है कि हिंसादि परिणाम भले ही अध्रुव हों किन्तु बुद्धि तो ध्रुव है, कोई भव्य प्राणी बुद्धि में सोचता है कि यह हिंसादिक इस लोक परलोक में दुःखदायक हैं इत्यादि, ऐसी बुद्धि में बात लेकर विरक्त होता है इस तरह बुद्धिको ध्रुव मानकर हिंसादि पद में अपादानकारक बनता है इसमें व्याकरण के नियमानुसार भी कोई दोष नहीं है।

अहिंसा व्रत सर्व व्रतों में प्रधान है अतः उसको आदि में लिया है (हिंसा से विरती होना अर्थात् अहिंसा व्रत पालना) सत्य आदि व्रत तो अहिंसा के परिपालनार्थ हैं, जैसे धान्यकी परिपालना–रक्षा हेतु खेत में बाड़ होती है।

शंका—हिंसादि पांच पापों से प्रत्येक से बिरत होना है अतः विरति शब्द बहुवचनान्त होना चाहिए। विरतिः ऐसा एक वचन करना ठीक नहीं है?

समाधान—ठीक है, किन्तु विरमण सामान्य की अपेक्षा एक वचन न्याय्य है, जैसे 'गुडतिलौदनादीनां पाकः' इस वाक्य में 'पाकः' ऐसा एक वचन किया है, क्योंकि इसमें भेदविवक्षा नहीं होने से एक वचन न्याय्य है। इसी तरह यहां पर सूत्र में भी बहुवचन नहीं किया है।

शंका—आगे संवररूप से संयम नामका धर्म कहेंगे जो संयम होता है वह व्रतरूप होता ही है, अतः यहां (सातवें अध्यायमें) उसका पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है?

समाधान—यह कथन अयुक्त है। देखिये! संवर तो निवृत्तिरूप होता है किंतु व्रत तो निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों रूप होता है। हिंसादिक पाप परिणामों से तो

दिभ्यः पापपरिणामेभ्यो निवृत्तिरहिंसादिषु च पुण्यपरिणामेषु प्रवृत्तिरिति गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वा-त्त्वात्रास्रवाधिकारे व्रतं पृथगुक्तमिति नास्ति दोषः। रात्रिभोजनवर्जनाख्यं तु षष्ठमणुव्रतमालोकित-पानभोजनभावनारूपमग्रे वक्ष्यते। हिंसादिविरमणभेदेन पञ्चविधव्रतमुक्तम्। इदानीं तस्य द्वैविध्यं कथं चित्प्रतिपादयन्नाह—

देशसर्वतोऽणुमहती ।। २ ।।

कुतश्चिदवयवाद्दिश्यते कथ्यत इति देशः—प्रदेश-एकदेश इत्यर्थः। सरति गच्छत्यशेषानवयवा-निति सर्वः सम्पूर्ण इत्यनर्थान्तरम्। देशश्च सर्वश्च देशसर्वौ। देशसर्वाभ्यां देशसर्वतः। अणु सूक्ष्म-मित्यर्थः। महद्बृहदित्युच्यते। अणु च महच्चाणुमहती। व्रतापेक्षया नपुंसकलिङ्गनिर्देशः। विरति-रित्यनुवर्तते। ततो हिंसादिभ्यो देशेन विरतिरणुव्रतं, सर्वतो विरतिर्महद्व्रतमिति यथासंख्यमभि-

---

निवृत्ति होती है और पुण्य परिणाम स्वरूप अहिंसादि में प्रवृत्ति होती है इसतरह व्रतों में उभयपना है, यह व्रत गुप्ति आदि जो संवर हैं उनके लिये परिकर्म—सहाय स्वरूप हैं। इसलिए यहां पर आस्रव अधिकार में व्रतको पृथक्‌रूप से कहा गया है, इसमें कोई दोष नहीं है।

रात्रि भोजन त्यागरूप छठा अणुव्रत भी माना जाता है किन्तु उसको आलोकित पान भोजन नामकी भावना रूप स्वीकार कर आगे कहा जायगा। हिंसादि पांच पापों से विरतिरूप होने से व्रत भी पांच प्रकार का होता है।

अब उस व्रतके दो प्रकार कैसे होते हैं यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—एक देशव्रत अणुव्रत कहलाता है और सर्व देशव्रत महाव्रत कहलाता है, अर्थात् हिंसादि से एक देश विरक्त होना अणुव्रत है और उनसे सर्वदेश विरक्ति होना महाव्रत है।

किसी अवयव से जो कहा जाता है वह देश प्रदेश या एक देश है। यह 'देश' शब्दकी निरुक्ति है। 'सरति अशेषान् अवयवान् इति सर्वः' यह सर्व शब्दकी निरुक्ति है। सर्व सम्पूर्ण एकार्थवाची शब्द है। देश और सर्व में द्वन्द्व समास करके तस् प्रत्यय किया है। अणुका अर्थ सूक्ष्म है और महत् का अर्थ बृहत्—बड़ा है अणुमहती ऐसा व्रतकी अपेक्षा नपुंसक लिंग निर्देश किया है। विरति का प्रकरण है ही उससे हिंसादि से देशरूप से विरत होना अणुव्रत है और सर्व देशरूप से विरत होना महाव्रत है ऐसा क्रम से सम्बन्ध करना चाहिए।

सम्बन्धः । व्रतदृढत्वार्थं हेतुविशेषमाह—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

तस्य पञ्चविधस्य व्रतस्य स्थैर्यं तत्स्थैर्यम् । तत्स्थैर्याय तत्स्थैर्यार्थम् । विशिष्टेनात्मना भाव्यन्तेऽनुष्ठीयन्ते ता इति भावनाः परिणामा इत्यर्थः । पञ्चप्रकारस्य व्रतस्य स्थैर्यनिमित्तं प्रत्येकं पञ्चपञ्च भावना वेदितव्याः । यद्येवमाद्यस्याऽहिंसाव्रतस्य कास्ता इत्यत्रोच्यते—

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४॥

वाक्च मनश्च वाङ्मनसी । गुप्तिर्वक्ष्यमाणरूपा । सा सम्बन्धिभेदाद्भिद्यते । वाङ्मनसोर्गुप्ती वाङ्मनोगुप्ती । ईर्या चाऽऽदाननिक्षेपणं चेर्याऽऽदाननिक्षेपणे । ते च ते समिती च ईर्याऽऽदाननिक्षेपणसमिती । आलोक्यते स्मालोकितम् । पानं च भोजनं च पानभोजनम् । आलोकितं च तत्पानभोजनं चाऽऽलोकितपानभोजनम् । एतदुक्तं भवति—वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिरादाननिक्षेपणसमितिरा-

---

व्रतोंको दृढ़ करने वाले कारण बताते हैं—

सूत्रार्थ—उन व्रतोंको दृढ़ करने के लिए पांच पांच भावनायें होतीं हैं ।

उन पांच व्रतोंको स्थिर करने हेतु पांच पांच भावनायें हैं, विशिष्ट आत्मा द्वारा भायी जाती हैं, अनुष्ठानरूप की जाती हैं, वे भावना अर्थात् परिणाम हैं । पांच प्रकार के व्रत हैं और उनको स्थिरता हेतु पांच पांच भावना हैं ऐसा समझना चाहिए ।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो पहले अहिंसाव्रत की भावनायें कौनसी हैं यह बताइये ?

समाधान—आगे इसीको बताते हैं—

सूत्रार्थ—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये पांच भावनायें अहिंसा व्रत की हैं ।

वचन और मन पदों में द्वन्द्व समास करना । गुप्तिका लक्षण आगे कहेंगे । उसके सम्बन्धी के भेद से भेद होते हैं, अर्थात् वचन और मनसम्बन्धी गुप्ति । ईर्या और आदान निक्षेपण पदों में द्वन्द्व समास है फिर समिति शब्दके साथ कर्मधारय समास है । जो देखा जा चुका है वह आलोकित है । यहां भी पान और भोजन पदोंका द्वन्द्व करके आलोकित शब्दके साथ कर्मधारय समास हुआ है । अभिप्राय यह हुआ कि वचनगुप्ति,

लोकितपानभोजनसमित्येतान्यहिंसापरिपालनार्थं भाव्यमानानि विशुद्धात्मना भावनाः पञ्च भवन्तीति। सङ्क्लेशाङ्गानां तु परवञ्चनतत्परपरुषवाग्गुप्त्यादीनां भावनात्वायोगात्। सत्यव्रतभावनाप्रतिपादनार्थमाह—

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥५॥

क्रोधश्च लोभश्च भीरुत्वं च हास्यं च क्रोधलोभभीरुत्वहास्यानि। तेषां प्रत्याख्यानानि निराकरणानि क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानानि। अनुकूलवचनं विचार्य भणनं वा निरवद्यं वचनमनुवीचिभाषणमित्युच्यते। एतानि क्रोधप्रत्याख्यानादीनि पूर्ववद्भाव्यमानानि पञ्च भावनाः सत्यव्रतस्य विज्ञेयाः। इदानीं तृतीयव्रतस्य भावनाः प्रोच्यन्ते—

शून्याऽगारविमोचितावासपरोपरोधाऽकरणभैक्षशुद्धिसधर्माऽविसंवादाः पंच ॥६॥

मनोगुप्ति, ईर्यासमिति आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन ये अहिंसा व्रतके परिपालनार्थ विशुद्ध आत्मा द्वारा भावित की गई भावनायें पांच होती हैं। किंतु जो संक्लेश का कारण है परको ठगने हेतु अर्थात् अपनी सत्यता दिखाने हेतु कठोर वचन आदि नहीं बोलना इत्यादि रूप वचन गुप्ति आदि करते हैं तो उनमें भावनापना नहीं है ऐसा जानना चाहिए।

सत्यव्रत की भावना बताते हैं—

सूत्रार्थ—क्रोध त्याग, लोभ त्याग, भय त्याग, हास्य त्याग तथा अनुवीचि भाषण ये पांच सत्यव्रत की भावनायें हैं। क्रोध, लोभ, भीरुत्व और हास्य पदों में द्वन्द्व समास करके प्रत्याख्यान शब्दके साथ तत्पुरुष समास करना। अनुकूल वचन, विचारकर वचन बोलना, निर्दोष वचन बोलना अनुवीचि भाषण कहलाता है। ये क्रोध त्याग इत्यादि भावना यदि पहले बताये गये क्रम से अर्थात् ठगना अपनी विशेषता दिखाना इत्यादि उद्देश्य से भायी जाती हैं तो भावना नहीं कहलायेगी, यदि विशुद्ध परिणाम सहित है तो सत्यव्रत की पांच भावना कही जायगी ऐसा समझना चाहिए।

अब तृतीय व्रतकी भावनाओं को कहते हैं—

सूत्रार्थ—शून्य घर में वास, विमोचित घर में वास, परको नहीं रोकना, भिक्षा शुद्धि और साधर्मीजनों में विसंवाद नहीं करना ये अचौर्य व्रतकी पांच भावनायें हैं।

शून्यानि च तान्यगाराणि च शून्याऽगाराणि—गिरिगुहातरुकोटरादीनीत्यर्थः। विमोचितानि परैस्त्यक्तान्युद्वासग्रामादिगृहाण्युच्यन्ते। तेषूभयेष्वावसनमवस्थानमावासः। शून्याऽगाराणि च विमोचितानि च शून्याऽगारविमोचितानि। तेष्वावासः शून्याऽगारविमोचितावासः। परेऽन्ये। तेषामुपरोधस्याऽकरणं परोपरोधाऽकरणम्। भिक्षया आगतं भैक्षम्। तस्याऽऽचारशास्त्रमार्गेण शुद्धिर्निर्दोषता भैक्षशुद्धिः। समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः। विसंवादनं विसंवादः। पुस्तकादिषु तवेदमाहोस्विन्ममेदमिति विवाद इत्यर्थः। न विसंवादोऽविसंवादः। सधर्मभिरविसंवादः सधर्माऽविसंवादः। शून्याऽगाराणि च विमोचितावासश्च परोपरोधाऽकरणं च भैक्षशुद्धिश्च सधर्माविसंवादश्च शून्यागारविमोचितावास परोपरोधाऽकरणभैक्षशुद्धिसधर्माविसंवादाः। एते भाव्यमाना अस्तेयव्रतस्थैर्यसिद्धिहेतवः पञ्चभावना भवन्ति। तेषां चौर्यपरिणामनिवर्तनसामर्थ्यसद्भावात्परमनिस्पृहतोपपत्तेः। अथेदानीं ब्रह्मचर्यव्रतस्य भावनाः प्रतिपादनार्थमाह—

स्त्रीरागकथाश्रवणमनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरताऽनुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीर-संस्कारत्यागाः पंच ॥ ७ ॥

शून्य और अगार पदमें कर्मधारय समास है। गिरि, गुहा, वृक्षका कोटर इत्यादि शून्यागार कहलाते हैं। परके द्वारा छोड़े गये घर एवं उजड़े गांवों के घर विमोचित कहलाते हैं, उन दोनों प्रकार के अगारों में रहना शून्यागार विमोचितावास कहलाता है। दूसरों को पर कहते हैं उनको रुकावट नहीं करना 'परोपरोधाकरण' है। भिक्षा से जो आया-मिला वह भैक्ष है, उस भैक्षकी शुद्धि अर्थात् आचार ग्रन्थ के अनुसार शुद्ध निर्दोष भोजन लेना भैक्ष शुद्धि है। जिनका समान धर्म है वे सधर्मा हैं। पुस्तक आदि पदार्थों में यह तुम्हारा है अथवा यह मेरा है ऐसा साधर्मी के साथ विसंवाद नहीं करना, सधर्माऽविसंवाद है। शून्यागार आदि में द्वन्द्व समास है। अस्तेय व्रतकी स्थिरता के लिये ये पांच भावना भानी चाहिए। क्योंकि ये पांचों भावनाएं चोरी स्वरूप परिणामों को दूर करने की सामर्थ्य रखती हैं तथा परम निस्पृहता उत्पन्न कराती हैं।

अब चौथे ब्रह्मचर्य व्रतकी भावनाओं को कहते हैं—

सूत्रार्थ—स्त्री में राग बढ़ाने वाली कथाको सुनने का त्याग उनके मनोहर अंगों को देखने का त्याग पहले के भोगे भोगको स्मरण नहीं करना, गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग और अपने शरीर के संस्कार का त्याग करना ये पांच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनायें हैं।

स्त्रियो योषितः। रागोऽत्राऽप्रशस्तप्रीतिरूपः। तमन्तरेणाऽपि धर्मकथायाः स्त्रीकथाश्रवणस्य सद्भावाद्रागविशेषणं प्रयुज्यमानं सार्थकम्। मनोहराङ्गनिरीक्षणादिषु तस्याऽवश्यंभावित्वात्सामर्थ्य-लब्धेः। कथनं कथा। कथायाः श्रवणं कथाश्रवणम्। रागेण कथाश्रवणं रागकथाश्रवणम्। मनोहराणि मनःप्रीतिकराण्यङ्गानि शरीरावयवाः। मनोहराणि च तान्यङ्गानि च मनोहरांगानि। तेषां निरीक्षणं मनोहरांगनिरीक्षणम्। पूर्वस्मिन्काले गृहस्थावस्थायां रतं क्रीडितं पूर्वरतम्। रागकथाश्रवणादीनां त्रयाणामितरेतरयोगे द्वन्द्वः। ततः स्त्रीणां रागकथाश्रवणादीनि स्त्रीरागकथाश्रवणमनोहरांगनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरणानि। वृष्याः शरीरबलपुष्टीन्द्रियविकारकारिणः। इष्टा वाञ्छिता हृदयाह्लादविधायिन इत्यर्थः। रसाः खंडगुडशर्करादधिदुग्धघृततैलादयः। इष्टाश्च ते रसाश्चेष्टरसाः। वृष्याश्च ते इष्टरसाश्च वृष्येष्टरसाः। स्वमात्मीयमित्यर्थः। स्वं च तच्छरीरं च स्वशरीरम्। तस्य संस्कारः स्नानोद्वर्तनादिः स्वशरीरसंस्कारः। पुनः सर्वेषां कृतद्वन्द्वानां त्यागशब्देन प्रत्येकसम्बन्धे तेन सह तत्पुरुषः कर्तव्यः। एतदुक्तं भवति–स्त्रीरागकथाश्रवणं च स्त्रीमनोहरांगनिरीक्षण च स्त्रीपूर्वरतानुस्मरणं च वृष्येष्टरसाश्च स्वशरीरसंस्कारश्च तेषां त्यागाः पञ्च भावनाः पूर्ववद्ब्रह्मचर्यव्रतस्य भवन्तीति। पञ्चमव्रतस्य भावनासंसूचनार्थमाह—

अप्रशस्त रागको यहां राग कहा है। धर्म कथा–पुराण आदि में स्त्री कथा सुनना होता है किन्तु वहां पर स्त्री सम्बन्धी राग नहीं रहता, इसी अर्थको स्पष्ट करने हेतु 'राग' विशेषण लिया है। मनोहर अंगोंका देखना इत्यादि में भी राग विशेषण जुड़ता है सामर्थ्य से ही यह ज्ञात होता है। रागपूर्वक स्त्री की कथा सुनना स्त्री राग कथा श्रवण कहलाता है। मनोहरांग निरीक्षण पदमें कर्मधारय समास कर फिर तत्पुरुष समास करना। पूर्व में गृहस्थ अवस्था में जो रति क्रीडा की थी उसको पूर्वरत कहते हैं। राग कथा श्रवण आदि तीनों का पहले इतरेतर द्वन्द्व करना पुनः स्त्री शब्दको तत्पुरुष समास से जोड़ना। शरीर में बलदायक और इन्द्रियों को विकृत करने वाला रस 'वृष्य' कहलाता है। हृदय में आह्लाद करने वाला रस 'इष्ट' कहा जाता है। खाण्ड, गुड़, शक्कर, दही, दूध, घी और तेल इत्यादि रस कहलाते हैं। 'वृष्येष्टरस' पदोंमें कर्मधारय समास है। अपने शरीर को स्वशरीर कहते हैं। उसका स्नान उबटन आदि करना संस्कार कहलाता है। द्वन्द्व समासान्त इन सभी पदों के साथ त्याग शब्द जुड़ता है, इसके लिए तत्पुरुष समास करना। अर्थ यह हुआ कि स्त्री राग कथा श्रवण स्त्री के मनोहर अंगों का निरीक्षण, स्त्री के पूर्वरत का स्मरण, वृष्येष्ट रस और स्वशरीर संस्कार इन सबका त्याग करने रूप पांच भावना पूर्ववत् ब्रह्मचर्य व्रतकी हैं।

पांचवें व्रतकी भावनाओं की सूचना करते हैं—

मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।।८।।

मनोज्ञा इष्टाः । अमनोज्ञा अनिष्टाः । इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पंचोक्तानि । विषयाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तद्ग्राह्या अर्थाः । तेऽपि पंचोक्ताः । रागः प्रीतिः । द्वेषोऽप्रीतिः । रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ । इंद्रियाणां विषया इन्द्रियविषयाः । मनोज्ञाश्चाऽमनोज्ञाश्च मनोज्ञाऽमनोज्ञाः । ते च ते इन्द्रियविषयाश्च मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयाः । तेषु रागद्वेषौ मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषौ । तयोर्वर्जनानि मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि । अयमर्थः– मनोज्ञेऽमनोज्ञे च स्पर्शनस्यार्थे स्पर्शे रागद्वेषयोर्वर्जनं, रसनस्य च रसे रागद्वेषवर्जनं, घ्राणस्य च गन्धे रागद्वेषवर्जनं, चक्षुषश्च वर्णे रागद्वेषवर्जनं, श्रोत्रस्य च शब्दे स्वविषये रागद्वेषवर्जनम् । तानीमानि पञ्चाऽऽकिञ्चन्यव्रतस्य भावना भवन्तीति सर्वाश्चैताः समुदिताः पञ्चविंशतिः प्रत्येतव्याः । तथा व्रतदृढिमार्थं तद्विपक्षेष्वपि भावनास्वरूपमाह—

सूत्रार्थ—पञ्चेन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग और उन्हीं के अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना ये परिग्रह त्याग व्रतकी पांच भावना हैं ।

इष्टको मनोज्ञ कहते हैं, और अनिष्ट को अमनोज्ञ कहते हैं । स्पर्शन रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इंद्रियां पहले कही थी । विषय भी पांच हैं स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द इनका कथन पहले हो चुका है । रागद्वेष पदमें द्वन्द्व समास है तथा मनोज्ञ अमनोज्ञ में भी द्वन्द्व समास है । मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्वरूप स्पर्शादि विषयों में राग द्वेष का त्याग करना परिग्रह त्याग व्रतकी पांच भावनायें हैं । इसका स्पष्टीकरण करते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय के मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श विषय में क्रमशः राग और द्वेष नहीं करना । रसनेन्द्रिय के मनोज्ञ अमनोज्ञ रस विषय में राग द्वेष नहीं करना, घ्राणेन्द्रिय के मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध विषय में राग द्वेष नहीं करना, चक्षु-रिन्द्रिय के मनोज्ञ अमनोज्ञ रूप विषय में राग द्वेष नहीं करना और कर्णेन्द्रिय के मनोज्ञ अमनोज्ञ शब्द विषय में राग द्वेष नहीं करना ये सब मिलकर पांच भावनायें पांचवें परिग्रह त्याग व्रतकी जाननी चाहिए । पांचों व्रतोंकी कुल भावनायें पच्चीस होती हैं ।

तथा व्रत दृढ़ता के लिये व्रतों के विपक्षी जो हिंसादि हैं उनके विषय में जो भावना की जाती है उसको बताते हैं—

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥

हिंसादीनि पञ्चाऽव्रतान्युक्तानि । इहास्मिन्भवे अमुत्रापरस्मिन्भवे इत्यर्थः । चकार उक्त-समुच्चयार्थ एव । अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियासाधनानां नाशकोऽनर्थोऽपाय इत्युच्यते । अथवा इहलौकिकादिसप्तविधं भयमपाय इति कथ्यते । अवद्यं गर्ह्यं निन्द्यमिति यावत् । दर्शनमवलोकन-मुच्यते । अपायश्चावद्यं चाऽपायावद्ये । तयोर्दर्शनमपायावद्यदर्शनमिहामुत्र च हिंसादिषु भावयितव्यम् । कथमिति चेदुच्यते–हिंसायां तावत् हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयः । सतताऽनुबद्धवैरश्च भवति । इहैव च वधबन्धक्लेशादीनि प्रतिलभते । प्रेत्य चाशुभां गतिमश्नुते । गर्हितश्च भवतीति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान् । तथा अनृतवादी अश्रद्धेयो भवति । इहैव च जिह्वाछेदनादीन्प्रतिलभते । मिथ्याभ्याख्यान-दुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनान्यवाप्नोति । प्रेत्य चाशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीत्यनृत-वचनाद्विरतिः श्रेयसी । तथा स्तेनः परद्रव्यहरणासक्तमतिः सर्वस्योद्वेजनीयो भवति । इहैव चाऽभिघात-

---

सूत्रार्थ—हिंसादि पापोंके विषयों में विचार करना चाहिए कि ये सर्व ही पाप–अव्रतरूप परिणाम इस लोक में और परलोक में अपायकारक हैं तथा अवद्य दोषकारक हैं । हिंसादि पांच अव्रत कहे हैं । इस भव और परभव को 'इह अमुत्र' कहते हैं चकार उक्त समुच्चय के लिए ही है । अभ्युदय और निःश्रेयस अर्थ के जो साधनभूत क्रियायें हैं उनका नाश करने वाले को अनर्थ या अपाय कहते हैं । अथवा इहलोक भय इत्यादि सात प्रकार के भयोंको अपाय कहते हैं । अवद्य, निन्द्य और गर्ह्य ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं । अवलोकन को दर्शन कहते हैं । अपाय और अवद्यको देखना अर्थात् हिंसादि पाप इस लोक में और परलोक में अपाय और अवद्य करने वाले हैं ऐसा विचार करना चाहिए । हिंसादिक कैसे अपाय करते हैं सो बताते हैं, सर्व प्रथम हिंसा के विषय में कहते हैं—हिंसा करने वाला व्यक्ति सतत डरता रहता है घबराता रहता है, उसका जीवों के साथ हमेशा वैर होता है । इसी भव में वध, बन्धन क्लेश, कष्ट, दुःखों को पाता है तथा परलोक में अशुभगति में जाता है । हिंसक व्यक्ति की लोक सदा निन्दा भी करते हैं, ऐसा विचार कर हिंसा से विरत होना श्रेयस्कर है । तथा झूंठ बोलने वाला व्यक्ति विश्वास पात्र कभी नहीं होता, इसी लोक में जिह्वाच्छेद आदि को प्राप्त होता है । जिसके साथ झूंठा व्यवहार किया है वे पुरुष उससे दुःखी होते हैं और उससे गाढ वैर करने लग जाते हैं और इस मिथ्याभाषी को बड़ा भारी कष्ट देते हैं । झूंठ बोलने वाला परलोक में नीच गति में जाता है । और यहां पर निंदित होता है इस तरह विचार कर असत्य से दूर रहना कल्याणकारी है । पराये धनका चुराने वाला चोर सभी के लिए उद्वेगकारी होता है, इसी लोक में मारना,

वधबन्धनहस्तपादकर्णनासोत्तरोष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादीन्प्रतिलभते । प्रेत्य चाऽशुभां गतिं गर्हितश्च भवतीति स्तेयादुपरमः श्रेयान् । तथाऽब्रह्मचारी मदविभ्रमोद्भ्रमितचित्तो वनगज इव वासितावंचितो विवशो वधबन्धपरिक्लेशादीननुभवति । मोहाभिभूतत्वाच्च कार्याऽकार्याऽनभिज्ञो न किञ्चिदकुशलं नाचरति । पराङ्गनालिङ्गनासङ्गकृतरतिश्च इहैव वैरानुबन्धिनो लिङ्गच्छेदनवधबन्धनसर्वस्वहरणादी-नपायान्प्राप्नोति । प्रेत्य चाऽशुभां गतिमश्नुते । गर्हितश्च भवतीत्यतो विरतिरात्महिता । तथा परिग्रह-वान् शकुनिरिव गृहीतमांसखण्डोऽन्येषां तदर्थिनां पतत्रिणामिहैव तस्करादीनामभिभवनीयो भवति । तदर्जनरक्षणप्रक्षयकृतांश्च दोषान्बहूनवाप्नोति । न चास्य तृप्तिर्भवतीन्धनैरिवाग्नेः । लोभाभिभूत-त्वाच्च कार्याऽकार्याऽनपेक्षो भवति । प्रेत्य चाऽशुभां गतिमास्कन्दति । लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवतीति

पीटना, वध, बन्धन, हाथ पैर और नाक कानका तथा ओंठका काटना, छेदना, भेदना सब लुट जाना इत्यादि बड़े भारी कष्टों को चोर भोगता है । परलोक में कुगति को प्राप्त करता है और इस लोक में निंदित होता है इसलिये चोरी कर्म से सदा दूर रहना हितकारक है । तथा अब्रह्मचारी मद विभ्रम से व्याकुल रहता है, वनके हाथी के समान नकली हथिनी से ठगाया गया गर्त में गिरकर वध, बन्धन, परिक्लेशों को सहता है । जो मोह से अभिभूत है वह कार्य और अकार्य को नहीं जान पाता, अतः कुछ भी ऐसा कुकर्म नहीं है जिसको कि वह अब्रह्मचारी न करे वह सर्व ही खोटे कार्यको कर डालता है । परायी स्त्री के सेवन में आसक्त व्यक्ति यहीं पर जिसकी स्त्रीको भोगा गया है वह पुरुष इससे बड़ा भारी वैर करके उसके लिंगको छेद देता है, मार देता है, बांध देता है राजा उसके सारे धनको लूट लेता है इत्यादि अनेक अपायोंको परस्त्री सेवी प्राप्त करता है और परलोक में नीच गति में जाता है, इसकी सर्व लोक निन्दा करते हैं, अतः अब्रह्म से दूर होना ही कल्याणकारी है । परिग्रहधारी पुरुष चोर आदि के द्वारा कष्टको प्राप्त करता है, जैसेकि मुख में मांस की डली लिया हुआ पक्षी दूसरे मांस लोभी पक्षियों द्वारा नोचा जाना गिरा देना इत्यादि कष्टों को पाता है । वैसे परिग्रहधारी की दशा होती है । तथा धनके उपार्जन में उसके रक्षण में और नष्ट हो जाने पर बहुत भारी मानसिक आदि पीड़ायें भोगनी पड़ती हैं, धनसे धनिक को कभी तृप्ति भी नहीं होती, जैसे इंधनों से अग्नि तृप्त नहीं होती । धनके लोभ से अभिभूत प्राणी कार्य अकार्य को नहीं सोचता कुछ भी कर डालता है । मरकर कुगति में जाता है, वहां सब उसकी निन्दा करते हैं कि यह बड़ा लोभी है, इसलिये परिग्रह से विरक्त होना आत्मा के लिए हितकारक है ।

तद्विरमणं श्रेय इति । एवं ह्यस्य हिंसादिष्विहापायममुत्र चाऽवद्यं पश्यतस्ततो विरतिरप्युपपद्यते अहिंसा तु तद्दृढत्वसिद्धेरप्रतिबाधिता स्यात् । पुनरपि हिंसादिषु भावनान्तरमाह—

दुःखमेव वा ॥ १० ॥

हिंसादयो दुःखमेवेति भावनीयम् । ननु दुःखमसद्वेद्योदयकृतपरिताप उच्यते । हिंसादयश्च क्रियाविशेषास्तत्कथं ते दुःखमेवेति व्यपदेशमर्हन्तीति । अत्रोच्यते— हिंसादयो दुःखमेवेति व्यपदिश्यन्ते कारणे कार्योपचारादन्नप्राणवत् । यथाऽन्नं वै प्राणा इति प्राणकारणेऽन्ने प्राणोपचारस्तथा दुःखकारणेषु हिंसादिषु दुःखोपचारो वेदितव्यः । कारणकारणे वा कार्योपचारो धनप्राणवत् । यथा द्रविणहेतुकमन्नपानमन्नपानहेतुकाः प्राणा इति प्राणकारणकारणे द्रविणे प्राणोपचारः—

यदेतद्द्रविणं नाम प्राणा एते बहिश्चराः ।
स तस्य हरते प्राणान्यो यस्य हरते धनम् ॥ इति ॥

इस प्रकार जो भी भव्यात्मा इन पापों के विषय में अपाय और अवद्यको देखता रहता है सोचता रहता है वह पाप क्रिया से दूर हो जाता है ।

अहिंसा भावना तो व्रत दृढ़ता करती है, वह बाधाकारक नहीं होती ।

पुनः हिंसादि पापों के विषय में भावना बताते हैं—

सूत्रार्थ— ये हिंसादि पाप स्वयं दुःख ही हैं ऐसा विचार करना चाहिये ।

हिंसादिक दुःख स्वरूप ही हैं ऐसा चिन्तवन करना चाहिए ।

शंका—असाता वेदनीय कर्मके उदय से जो परिताप होता है उसे दुःख कहते हैं और ये हिंसादिक तो क्रियारूप हैं इसलिये इन हिंसादि क्रियाविशेषों को 'दुःख ही है' ऐसा नाम देना ठीक नहीं है ?

समाधान—हिंसादिको जो दुःख रूप कहा है वह कारण में कार्य का उपचार करके कहा है, जैसे अन्नको प्राण कह देते हैं, अर्थात् जैसे अन्न ही प्राण है ऐसा प्राणों के कारणभूत अन्नमें प्राणकार्य का उपचार करते हैं, वैसे हिंसादिक दुःखके कारण हैं उनको दुःख कह देते हैं । अथवा कारण के कारण में भी कार्यका उपचार करते हैं जैसे धन ही प्राण है धन तो अन्नादि का कारण और अन्न प्राणका कारण है ऐसे प्राण के कारण के कारणभूत धन में प्राणका उपचार करते हैं । कहा है कि—यह जो धन है वह जीवों का बाहरी प्राण है जो पुरुष धनका अपहरण करता है वह उसके प्राणोंका ही अपहरण करता है ॥१॥

तथा हिंसादयोऽसद्वेद्यकर्मणः कारणमसद्वेद्यकर्म च दुःखस्य कारणमिति दुःखकारणकारणेषु हिंसादिषु दुःखमेवेत्युपचारः क्रियते । तदेतद्दुःखमेवेति भावनं हिंसादिष्वात्मवत्परत्रावगन्तव्यम् । तद्यथा—ममाप्रियं यथा वधपरिपीडनं तथा सर्वसत्त्वानाम् । यथा मम मिथ्याऽऽख्यानकटुकपरुषादीनि वचांसि श्रुण्वतोऽतितीव्रदुःखमभूतपूर्वमुत्पद्यते एवं सर्वजीवानाम् । यथा च ममेष्टद्रव्यवियोगे व्यसनमपूर्वमुपजायते तथा सर्वभूतानाम् । यथा च मम कान्ताजनपरिभवे परकृते सति मानसी पीडाऽतितीव्रा जायते तथेतरेषामपि प्राणिनाम् । यथा च मम परिग्रहेष्वप्राप्तेषु प्राप्तविनष्टेषु च कांक्षारक्षाशोकोद्भवं दुःखमुपजायते तथा सर्वप्राणिनामिति हिंसादिभ्यो व्युपरमः परमहितः । ननु वरांगनामृदुसुभगगात्रसंश्लेषणाद्रतिसुखमपि जायते तत्कथं दुःखमेवेत्येवकारोपादानं नियमार्थमुपपद्यत इति । तदेतन्न युक्तं–वेदनाप्रतीकारत्वान्मोहिनां दुःखस्यापि सुखाभिमानात् कच्छूकण्डूयनवत् । व्रतदृढत्वार्थमेवाऽपरभावनाः प्राह—

तथा हिंसादिक क्रियायें असातावेदनीय कर्मके कारण हैं, असातावेदनीय दुःखका कारण है, इस तरह दुःख के कारण के कारण हिंसादि सिद्ध होते हैं उनमें 'दुःख ही है' ऐसा उपचार किया जाता है । हिंसादि में यह दुःख ही है ऐसी भावना अपने में करना चाहिए तथा पर जीवों के विषय में भी ऐसा ही विचार करना चाहिए । आगे इसीको बतलाते हैं—मारना, पीटना इत्यादि हिंसा कर्म जैसे मुझे अप्रिय हैं बुरे लगते हैं वैसे सभी जीवोंको लगते हैं । जैसे झूंठ, कठोर, कडवे वचनों को सुनने से मुझे अति तीव्र कभी नहीं हुआ ऐसा दुःख होता है, ठीक इसी तरह सब जीवोंको उक्त वचनों से दुःख होता है । जैसे मेरा इष्ट धन नष्ट होने पर मुझे बड़ा भारी अपूर्व कष्ट का अनुभव होता है, वैसे सब जीवों को होता है । जैसे मेरी स्त्री का कोई तिरस्कार करे बुरी निगाह से उसे देखे, उनका सेवन करना चाहे या कर लेवे तो मुझे अत्यधिक मानसिक पीड़ा होती है, वैसे सब जीवों को होती है । जैसे मुझे धनादि परिग्रह प्राप्त नहीं होता या प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है तो वाञ्छा, रक्षा और शोक से उत्पन्न हुआ बड़ा भारी दुःख होता है, वैसे सर्व प्राणियों को होता है अतः हिंसादि से दूर रहना उनका त्याग करना परम हित है ।

शंका—श्रेष्ठ सुन्दर स्त्रियों के कोमल शरीर के आलिंगनादि से रति सुख होता है तो फिर आपने अब्रह्म को दुःख स्वरूप ही है ऐसा एवकार देकर नियम क्यों बनाया ? अर्थात् अब्रह्मादि कहीं सुखरूप भी है सर्वथा दुःख ही नहीं है अतः 'दुःखमेव' ऐसा एव शब्द का ग्रहण नहीं करना चाहिए ?

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाऽधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु ।।११।।

स्वकायवाङ्मनोभिः कृतकारिताऽनुमतिविशेषैः परेषां दुःखाऽनुत्पत्तावभिलाषो मित्रस्य भावः कर्म वा मैत्रीति कथ्यते । वदनप्रसादेन नयनप्रह्लादनेन रोमाञ्चोद्भवेन तुल्याऽभीक्ष्णसञ्ज्ञासङ्कीर्तनादिभिश्चाभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रकर्षेण मोदः प्रमोद इति निगद्यते । शारीरमानसदुःखाभ्यर्दितानां दीनानां प्राणिनामनुग्रहात्मकः परिणामः करुणस्य भावः कर्म वा कारुण्यमिति कथ्यते । रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यमित्युच्यते । रागद्वेषाभावान्मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थस्तस्य भावः कर्म वा माध्यस्थ्यमिति व्युत्पत्तेः । अनादिनाऽष्टविधकर्मबन्धसन्तानेन तीव्रदुःखयोनिषु चतसृषु नरकादिगतिषु सीदन्तीति सत्त्वाः प्राणिन उच्यन्ते । सम्यग्दर्शनज्ञानादयो गुणास्तैरधिकाः प्रकृष्टा गुणाधिका इति विज्ञायन्ते । असद्वेद्योदयापादितशारीरमानसदुःखसन्तापात् क्लिश्यन्त इति क्लिश्यमानाः । तत्त्वार्थो-

---

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं । वह जो अब्रह्म संबंधी सुख आपने बताया वह वेदना का प्रतीकार मात्र है, मोही जीव तो दुःखको भी सुख मान लेते हैं जैसे खाज को खुजाने से होता तो दुःख है किन्तु उसको सुख मान लेते हैं ।

व्रत दृढ़ करने के लिये दूसरी भावनायें और बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—मैत्री भावना सब जीवों के प्रति करना चाहिए । प्रमोद भावना गुणी जनों में, दुःखी जीवों में कारुण्य और अविनीत में मध्यस्थ भावना भानी चाहिए, अपने मन, वचन और काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से दूसरों को दुःख नहीं होवे इस प्रकार अभिलाषा होना मित्र भाव है मित्र का भाव या कर्म मैत्री कहलाती है । मुखकी प्रसन्नता, नेत्र का आह्लाद रोमाञ्च आना, हमेशा नाम लेना प्रशंसा करना इत्यादि द्वारा अन्दर का भक्ति राग जो प्रगट होता है वह प्रकृष्ट मोद प्रमोद कहलाता है । शारीरिक और मानसिक दुःखों से जो पीड़ित हैं ऐसे दीन प्राणियों का अनुग्रह करने का जो परिणाम है वह करुणा है, करुणा का भाव या कर्म कारुण्य कहलाता है, राग द्वेष पूर्वक जो पक्षपात होता वह नहीं होना माध्यस्थ्य है । रागद्वेष के अभाव से मध्य में रहता है वह मध्यस्थ है उसके भाव या कर्मको माध्यस्थ्य कहते हैं । अनादिकाल से ही आठ प्रकार के कर्म बंधकी सन्तान से तीव्र दुःखदायक चार नरकादि गतियों में जो दुःखी होते हैं वे 'सत्त्व' हैं सीदन्ति इति सत्त्वाः । अर्थात् प्राणी मात्रको सत्त्व कहते हैं । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान इत्यादि गुण हैं उनसे जो अधिक हैं वे गुणाधिक कहलाते हैं । उत्कृष्ट महान् गुणों के धारकों को गुणाधिक जानना चाहिए । असाता वेदनीय कर्मके उदय से शारीरिक और मानसिक दुःखसन्ताप से जो क्लेश भोगते हैं

पदेशश्रवणग्रहणाभ्यां विनीयन्ते पात्रीक्रियन्त इति विनेयाः । न विनेया अविनेया । एतेषु सत्त्वादिषु मैत्र्यादीनि यथाक्रमं भाव्यमानानि भावनाः परमप्रशमहेतवो भवन्ति । मैत्री सत्त्वेषु, प्रमोदो गुणाधिकेषु, कारुण्यं क्लिश्यमानेषु, माध्यस्थ्यमविनयेषु भावनीयमिति । पुनर्भावनार्थमाह—

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

जगत्कायशब्दावुक्तार्थौ । स्वेनात्मना भवनं स्वभावोऽसाधारणो धर्म इत्यर्थः । जगच्च कायश्च जगत्कायौ । जगत्काययोः स्वभावौ जगत्कायस्वभावौ । सवेजनं संवेगः ससारभीरुतेत्यर्थः । चारित्रमोहोदयाभावे तस्योपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा शब्दादिभ्यो विरञ्जनं विरागः । विगतो रागोऽस्येति वा विरागो विरागस्य भावः कर्म वा वैराग्यम् । संवेगश्च वैराग्यं च संवेगवैराग्ये । सवेगवैराग्याभ्यां सवेगवैराग्यार्थम् । जगत्कायस्वभावौ भावयितव्यौ । तद्यथा—जगत्स्वभावस्तावत् आदिमदनादिपरिणामद्रव्यसमुदायरूपस्तालवृक्षसंस्थानोऽनादिनिधनः । अत्र जीवाश्चतसृषु गतिषु नानाविधदुःखं भोजं

उन्हें क्लिश्यमान कहते हैं । तत्त्वार्थ के उपदेश का श्रवण और ग्रहण द्वारा जो विनीत—पात्र किये जाते हैं वे विनेय हैं जो विनेय नहीं हैं वह अविनेय हैं । इन सत्त्व गुणाधिक आदि में मैत्री आदि भावनायें क्रम से भावित होकर परम शान्त भावका कारण होती हैं । सत्त्वों में मैत्री, गुणाधिक में प्रमोद, क्लिश्यमान प्राणियों पर कारुण्य और अविनीत में माध्यस्थ्य भावना भानी चाहिए ।

पुनः भावना को कहते हैं—

सूत्रार्थ—जगत् और शरीर के स्वभाव का चिंतन संवेग वैराग्य के लिये करना चाहिए ।

जगत् और काय शब्द का अर्थ कह चुके हैं । अपने रूप से होना स्वभाव कहलाता है, असाधारण धर्म स्वभाव है । जगत् और कायके स्वभावका विचार करना । संसार भीरुता को संवेग कहते हैं । चारित्र मोहकर्म के उदय के अभाव होने पर अथवा उपशम या क्षयोपशम हो जाने पर शब्दादि इन्द्रिय विषयों से विरत होना विराग है, अथवा जिसका राग निकल गया है वह विराग है उसको भाव या कर्म वैराग्य कहते हैं । संवेग और वैराग्य पदों में द्वन्द्व समास है । जगत् और कायके स्वभाव का विचार संवेग और वैराग्य होने के लिए करना चाहिए । वह कैसे करें सो बताते हैं—यह जगत् आदिमान और अनादिमान स्वभाव वाले (गुणों की अपेक्षा अनादि और पर्याय की अपेक्षा आदिमान) द्रव्यों के समुदाय स्वरूप है अर्थात् छह द्रव्योंका (जीव पुद्गल धर्म,

भोजं परिभ्रमन्ति । न चाऽत्र किंचिन्नियतमस्ति जलबुद्बुदोपमं जीवितं विद्युन्मेघादिविकारचपला भोगसम्पद इत्येवमादिर्भावनीयः । कायस्वभावश्चानित्यता दुःखहेतुत्वं निःसारत्वमशुचित्वमित्येवमादिर्भावनीयः । एवं ह्यस्य जगत्स्वभाव चिन्तनात्संसारात्परमसंवेगो जायते । कायस्वभावचिन्तनाद्विषयरागनिवृत्तिरूपं परमवैराग्यमुपजायते । सर्वाश्चैता भावनाः स्याद्वादिन एव यथासम्भवं व्रतदार्ढ्यं प्रकुर्वाणाः सगच्छन्ते, न क्षणिकाद्येकान्ते तत्त्वतो भाव्यभावकभावानुपपत्तेः । कल्पनामात्रात्तदुपपत्तौ तु स्वार्थक्रियासिद्धेरभावात् । तत्र हिंसास्वरूपमाह—

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

अधर्म, आकाश और काल) समुदाय ही लोक है, यह ताड़ वृक्ष के समान आकार वाला है और अनादि निधन है । इस लोक में–जगत में चारों गतियों में जीव नाना प्रकार के दुःखों को भोग भोग करके परिभ्रमण कर रहे हैं । इस जगत में कुछ भी नियत नहीं है जीवन जलके बुलबुले के समान है, बिजली मेघ आदि के समान भोग सम्पदायें चंचल हैं । इस प्रकार जगत के विषय में चिन्तन करना चाहिए । यह शरीर अनित्य है दुःख का कारण है निःसार है, अशुचि है ऐसा शरीर के स्वभाव का विचार करना चाहिए । इस तरह जगत् के स्वभाव का विचार करने से संसार से परम संवेग उत्पन्न होता है । शरीर के स्वभाव का विचार करने से विषय से निवृत्तिरूप परम वैराग्य पैदा होता है ।

ये सर्व ही भावनाएं स्याद्वादी के मत में यथासंभव व्रतोंको दृढ़ करने के लिए भायी जा सकती हैं, अन्य दर्शन वाले क्षणिकवादी इत्यादि के मतमें ये भावनाएं सम्भव नहीं हैं, क्योंकि क्षणिक मतमें भाव्य भावक भाव ही नहीं बनता अर्थात् यह भाव्य वस्तु है और यह भावना करने वाला है, अमुक व्यक्ति ने ऐसी भावना भायी ऐसा बनता ही नही क्योंकि भावना भाने वाला तो क्षण में नष्ट हो जाता है । इसी तरह आत्मादिको सर्वथा नित्य मानने वाले सांख्यादि के यहां भी भावना भाना शक्य नहीं, क्योंकि कूटस्थ (सर्वथा) नित्य ऐसे आत्मा में भावना का परिवर्त्तन होना रूप अनित्यता आ नहीं सकती है । यदि कल्पना मात्र में भावना है ऐसा कहे या माने तो उससे स्वार्थ क्रिया सिद्धि (स्वर्ग मोक्षकी) नहीं हो सकती ।

अब हिंसा का लक्षण बताते हैं—

सूत्रार्थ—प्रमाद के योग से प्राणोंका घात करना हिंसा है ।

इन्द्रियाणां प्रचारविशेषमनवधार्य प्रवर्तते यः स प्रमत्त.। अथवा चतसृभिर्विकथाभिः कषाय-चतुष्टयेन पञ्चभिरिन्द्रियैर्निद्राप्रणयाभ्यां चेति पञ्चदशभिः प्रमादैः परिणतो यः सः प्रमत्त इति कथ्यते। योजनं योगः सम्बन्ध इत्यर्थः। प्रमत्तेन योगः प्रमत्तयोगस्तस्मात्प्रमत्तयोगात्। नन्वेवं यद्यत्राऽद्रव्यं प्रमत्तशब्देनोच्यते तर्हि द्रव्यप्राधान्ये तेन सम्बन्धाऽप्रतीतेर्भावप्रधानो निर्देशः कर्तव्यः प्रमत्तत्व-योगादिति। सत्यमेवमात्मपरिणाम एव कर्तृत्वेन निर्दिश्यते। प्रमाद्यति स्मेति प्रमत्तः परिणामस्तेन योगस्तस्मात्प्रमत्तयोगादिति। अथवा कायवाङ्मनस्कर्म योग इत्युच्यते। प्रमत्तस्याऽऽत्मनो योगः प्रमत्तयोगस्तस्मात्प्रमत्तयोगादिति हेतुनिर्देशः। प्रमत्तयोगाद्धेतो. प्राणव्यपरोपणं हिंसा भवतीति। प्राणा इंद्रियादयो दशोक्तास्तेषां यथासम्भवं व्यपरोपणं वियोगकरणं प्राणव्यपरोपणम्। सा हिंसा प्राणिनो दुःखहेतुत्वादधर्महेतुः। स्यान्मतं – अन्यः शरीरी प्राणेभ्योऽतस्तत्पूर्वक दु खमस्य न युज्यत इति।

इन्द्रियों के प्रचार विशेष न जानकर जो प्रवर्त्तन करता है वह प्रमत्त कहलाता है। अथवा चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रियां, निद्रा और प्रणय इस प्रकार पंद्रह प्रमादों से युक्त को **प्रमत्त** कहते हैं। सम्बन्ध को योग कहते हैं। प्रमत्त योग पद में तत्पुरुष समास है।

शंका—यदि यहां अद्रव्यको प्रमत्त शब्द से कहते हैं तो द्रव्य प्रधानता में उसके संबंध की प्रतीति नहीं होती अतः भाव प्रधान 'प्रमत्तत्व योगात्' ऐसा निर्देश करना चाहिए ?

समाधान—ठीक कहा, हमने यहां आत्मपरिणाम को ही कर्तृत्वरूप से कहा है 'प्रमाद्यति स्म इति प्रमत्तः' जो प्रमाद युक्त परिणाम हुआ था उसको प्रमत्त कहते हैं, उससे जो योग हुआ वह प्रमत्त योग है। अथवा मन, वचन और कायकी क्रियाको योग कहते हैं, प्रमत्त आत्माके योगको प्रमत्त योग कहते हैं, 'उससे' ऐसा हेतु निर्देश किया है। अभिप्राय यह है कि प्रमत्त शब्द से प्रमाद युक्त भाव-परिणाम की विवक्षा भी हो सकती है और प्रमादवान् आत्मा की विवक्षा भी। इस तरह भाव और द्रव्य प्रधानता से निर्देश कर सकते हैं, अर्थ यह होता है कि आत्मा के प्रमाद युक्त परिणाम से जो योग होता है उसके द्वारा जो प्राणोंका नाश होता है वह हिंसा है, अथवा प्रमादी आत्मा से जो योग होता है उससे जो प्राणोंका घात होता है वह हिंसा है ऐसा समझना चाहिए। इंद्रिय आदि दस प्राण हैं उनका यथा सम्भव व्यपरोपण–नाश करना प्राणव्यपरोपण कहलाता है वह हिंसा है, यह प्राणियों को दुःख देने वाली होने से अधर्मका हेतु है।

तन्न । कुतः ? सत्यप्यन्यत्वे पुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात् । किच, यद्यपि शरीरिशरीरयोर्लक्षण-भेदान्नानात्वं, तथापि बन्धं प्रत्येकत्वात्तद्वियोगपूर्वकदुःखोत्पत्तेरधर्मसिद्धिः । ये तु निष्क्रियत्वनित्यत्व-शुद्धत्वसर्वगतत्वादिभिरेकान्तेनात्मानं मन्यन्ते तेषां शरीरेण सह बन्धाऽभावाद्दुःखादीनामनुत्पत्तिर्भवेत् । एवं च सति प्रमत्तयोगाऽभावे प्राणव्यपरोपणमात्रं द्रव्यभावप्राणव्यपरोपणाभावे च प्रमत्तयोगमात्रं न हिंसेति ज्ञापनार्थं प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणमित्येतदुभयं विशेषणं कृतमिति बोद्धव्यम् । ननु सूक्ष्म-स्थूलजन्तुभिर्निरन्तरं पूर्णे लोके कथं जैनतपस्विनामहिंसाव्रतमवतिष्ठते ? तथा चोक्तम्—

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च ।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः ।। इति ।।

शंका—शरीरधारी जीव तो प्राणों से पृथक् है अतः प्राणोंके वियोग से होने वाला दुःख उसके नहीं हो सकता ?

समाधान—ऐसा नहीं है । देखिये ! पुत्र मित्र कलत्रादि आत्मा से पृथक हैं तो भी उनके वियोग में आत्माको संताप होता है, जब अत्यन्त पृथक् पदार्थ के वियोग में दुःख होता है तो अत्यन्त निकट ऐसे प्राणों के वियोग होने पर दुःख कैसे नहीं होगा ? दूसरी बात यह है कि यद्यपि शरीरधारी जीव और शरीर इनमें लक्षण भेद होने से नानापना–पृथक्पना है किन्तु बंधकी अपेक्षा ये एकत्व प्राप्त हुए हैं अर्थात् दूध और पानी के समान ये दोनों सम्बन्ध को प्राप्त हुए हैं अतः प्राणोंका शरीर का घात होने पर शरीरधारी जीवको दुःख होता है और उससे अधर्म होता है । जो परवादीगण आत्माको सर्वथा निष्क्रिय, नित्य, शुद्ध, सर्वगत इत्यादि स्वरूप मानते हैं उनके मतकी अपेक्षा ऐसे आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध ही नहीं हो सकता अतः दुःखादिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । प्रमत्त योग न हो तो केवल प्राण व्यपरोपण मात्र से हिंसा नहीं मानी जाती । तथा द्रव्य भाव प्राणों का घात नहीं होने पर केवल प्रमत्त योग से हिंसा नहीं मानी जाती अर्थात् अकेले प्रमाद योग से हिंसा नहीं होती और अकेले प्राण घात होने से भी हिंसा नहीं मानी जाती, प्रमत्तयोग और प्राण व्यपरोपण दोनों होवे तब हिंसा दोष माना जाता है, इसी बातको बतलाने के लिये 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' ऐसा निर्दोष लक्षण किया है ।

शंका—संपूर्ण लोक सूक्ष्म स्थूल जीवों द्वारा निरन्तर भरा हुआ है, ऐसे लोक में जैन साधुओं के अहिंसा व्रत कैसे पल सकता है ? कहा भी है—जल में जीव हैं, स्थल

नायमुपालम्भोऽस्ति । कुत इति चेत्—भिक्षोर्ज्ञानध्यानपरायणस्य प्रमत्तयोगाऽभावात् । सूक्ष्माणां च पीडनासम्भवात् । स्थूलानां परिहर्तुं शक्यत्वाच्च । तथा चोक्तम्—

सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः ।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः ।।
हिंस्यन्तां प्राणिनो मा वा न हिंसा बाह्यवस्तुनः ।
हिंसापरिणतो जीवो हिंसेत्येष विनिश्चयः ।।
अहिंसकोऽपि भूतानां हिंसको यः प्रमाद्यति ।
हिंसकोऽपि च भूतानामप्रमाद्यन्न हिंसकः ।।
स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ।।
प्रमादः सकषायत्वं सा हिंसा संसृतेः पदम् ।
तस्मात्प्रमादमुक्तानां न हिंसाऽस्ति मनागपि ।।

में जीव हैं और आकाश में भी जीव हैं इस तरह जीवोंके समूह से व्याप्त लोकमें रहता हुआ साधु अहिंसक कैसे हो सकता है ? ।।१।।

समाधान—यह दोषारोपण ठीक नहीं है । कैसे सो बताते हैं—जैन साधु हमेशा ज्ञान ध्यान में तत्पर रहते हैं उनके प्रमत्त योग नहीं होता । दूसरी बात यह है कि जो सूक्ष्म जीव होते हैं उनका घात नहीं होता । जो स्थूल जीव हैं उनका बचाव कर सकते हैं । कहा भी है—सूक्ष्म जीव तो पीड़ित नहीं किये जा सकते और जो स्थूल जीव हैं उनमें शक्यों को रक्षण करते ही हैं अतः संयमी साधुके कौनसी हिंसा होगी ? अर्थात् साधु के द्वारा हिंसा नहीं होती ।।१।। बाहर में जीवों का घात होवे अथवा न होवे किन्तु हिंसा का परिणाम है तो वह जीव हिंसक है ।।२।। जो प्रमाद करता है वह जीवों का अहिंसक होकर भी हिंसक कहलायेगा और जो प्रमाद नहीं करता है वह जीवोंका घातक होकर भी हिंसक नहीं माना जाता ।।३।। प्रमादवान आत्मा पहले अपने द्वारा अपना घात अवश्य करता है पीछे अन्य प्राणीका घात होवे या न होवे ।।४।। कषाय युक्त परिणाम होना प्रमाद है वह हिंसा कहलाती है और वही संसार का कारण है, इसलिये जो प्रमाद नहीं करते प्रमाद से रहित हैं उनके किञ्चित भी हिंसा नहीं मानी गयी है । ।।५।। जिनशासन में मुनि उपधिका त्यागी हो चाहे उपधि सहित

उपधेस्त्याजको वाऽपि सोपधिर्वा मुनिर्यदि ।
अप्रमत्तः स मोक्षार्हो नेतरो जिनशासने ।। इति ।।

ननु साधूक्तं भवता प्राणव्यपरोपणं हिंसेति, परं तु प्राणानामेव परस्परतो वियोगे हिंसा, न कश्चित्प्राणी विद्यत इति चेत्—तन्न युक्तं वक्तुम् । कुतः ? प्राणिनः कर्तुरभावे प्राणाभावप्रसङ्गात् । इह हि कुशलाकुशलात्मककर्मपूर्वकाः प्राणास्तच्च कर्माऽसति कर्तर्यात्मनि न सम्भवतीति प्राणाभावः स्यात् । अतः प्राणसद्भाव एव प्राणिनोऽस्तित्वं गमयति—सन्दंशकादिकरणसद्भावेऽयस्कारससिद्धिवत् । इदानीं हिंसानन्तरोद्दिष्टाऽनृतलक्षणमाह —

असदभिधानमनृतम् ।। १४ ।।

सच्छब्दोऽयं प्रशस्तवाची । न सदसदप्रशस्तमिति यावत् । अभिधानशब्दोऽयं करणादिसाधनः । अभिधीयतेऽनेन अभिधा वाऽभिधानम् । असतोऽर्थस्याऽभिधानमसदभिधानम् । ऋत सत्यार्थे वर्तते ।

होवे किन्तु यदि वह प्रमाद रहित अप्रमत्त है तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं कर सकता अर्थात् प्रमत्त मुनि मोक्षको प्राप्त नहीं करता ।।६।।

शंका—आपने ठीक कहा कि प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है, किन्तु प्राणों का ही परस्परमें वियोग करना हिंसा है, क्योंकि प्राणों का धारक कोई प्राणी नहीं है ? अर्थात् प्राण है प्राणी नहीं है ?

समाधान—यह कहना ठीक नही है, क्योंकि कर्तास्वरूप प्राणी–जीव के अभाव में प्राण नहीं रह सकते हैं । देखिये ! पुण्य और पापरूप कर्मके कारण प्राण होते हैं, वे कर्म यदि कर्त्ता आत्मा न हो तो हो ही नहीं सकते, इस तरह प्राणोंका अभाव हो जाने का प्रसंग आता है । अतः प्राणों का जो सद्भाव दिखायी दे रहा है वही प्राणीके अस्तित्वको सिद्ध करता है । जैसे संडासी आदि उपकरण के सद्भाव में अयस्कार आदि का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

अब हिंसाके अनन्तर जो झूठ कहा है उसका लक्षण बताते हैं—

सूत्रार्थ—असत् भाषण झूंठ कहालाता है ।

सत् शब्द प्रशंसावाची है, जो सत् नहीं है वह असत् अर्थात् अप्रशस्त । अभिधान शब्द करण आदि साधनों से निष्पन्न होता है—'अभिधीयतेऽनेन अभिधा वा अभिधानं' असत् अर्थ का कथन करना असत् अभिधान है । ऋत शब्द सत्यार्थ का वाचक है ।

सत्यं तु तदेव स्याद्यत्सत्सु विचारकेषु साधुवचनम् । न ऋतमनृतम् । किं पुनरप्रशस्तमिति चेदुच्यते— यत्प्राणिपीडाकरं विद्यमानार्थविषयं यच्चाऽविद्यमानार्थविषयं तत्सर्वमप्रशस्तमित्युच्यते । तदेवाऽसदभिधानमनृतमित्यभिधीयते । अत एव मिथ्यानृतमिति लाघवार्थं सूत्रं न कृतम् । एवं हि क्रियमाणे मिथ्या-शब्दस्य विपरीतार्थवाचित्वात्कृतनिह्नवेऽभूतोद्भावने च यदभिधानम्, यच्च नास्त्यात्मा, नास्ति परलोक इति, श्यामाकतण्डुलमात्र आत्मा, अंगुष्ठपर्वमात्रः, सर्वगतो, निष्क्रिय इति वाऽभिधान तदेवाऽनृतं स्यात् । यत्तु विद्यमानाऽर्थविषयं परप्राणिपीडाकरं तन्न स्यात् । असदिति पुनरुच्यमानेऽप्रशस्तार्थं यत्तत्सर्वमनृत संगृहीत भवति । ननु हेयानुष्ठानाद्यनुवदनमप्यप्रशस्ताभिधानं, तदप्यसत्यं प्राप्नोतीति चेत्तन्न—प्रमत्त-

---

सत्य वह कहलाता है जो सत् विचारकों में साधु वचन कहता । जो ऋत नहीं है वह अनृत है । वह अप्रशस्त वचन क्या है कौनसा है ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि–जो प्राणियोंको पीड़ाकारक है वह वचन चाहे विद्यमान अर्थको कह रहा हो चाहे अविद्यमान अर्थको कह रहा हो वह सर्व अप्रशस्त वचन है उस वचन को 'असदभिधानमनृतम्' कहते हैं । इसी अर्थको स्पष्ट करने हेतु 'मिथ्यानृतम्' ऐसा लघु सूत्र नहीं बनाया है, मिथ्या शब्द विपरीत अर्थका वाचक है, उसका प्रयोग निह्नव करना, असत् बातको प्रगट करना, आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है इत्यादि असत् कहना, श्यामाकतंडुल– सावाका चावल जितना छोटा आत्मा है, अथवा अंगूठे बराबर आत्मा है । अथवा आत्मा सर्वगत और निष्क्रिय है, इत्यादि जो विपरीत कथन है वचन है वह तो असत्य ठहरेगा किन्तु विद्यमान होते हुए भी जो प्राणियों को पीड़ा देने वाला है वह वचन असत्य नहीं ठहरेगा, असत् ऐसा कहने से जितने भी अप्रशस्त वचन हैं उन सबका संग्रह हो जाता है ।

शंका—यह हेय है, यह अनुष्ठान करने योग्य है इत्यादि कहना भी अप्रशस्त वचन है क्योंकि ऐसा वचन तो जो हेयका अनुष्ठान करता है उसको अप्रिय-पीड़ाकारक लगता है, अतः जो प्राणि पीड़ाकारक हो वह असत् वचन है ऐसा लक्षण करने से हेय आदि के प्रतिपादक वचन असत्य के कोटि में चले जाते हैं ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए ! देखिये ! यहां 'प्रमत्तयोगात्' पदका अध्याहार है, प्रमाद के योग से अर्थात् दूसरों को दुःखी करने के दृष्टि से यदि हेय आदि वचन कहे जाते हैं तो वह असत् है किन्तु जो अप्रमत्त है दूसरों को दुःखी करना या ठगने का जिसका भाव नहीं है उस अप्रमत्त पुरुष के 'यह कार्य त्याज्य है

योगादित्यनुवृत्तेः । अप्रमत्तस्य हेयमिदमनुष्ठानादिकमित्यप्रशस्तमपि स्वरूपं वदतः सत्यवचनत्वोपपत्तेः । अथाऽनृतानन्तरमुद्दिष्टं यत्स्तेयं तस्य किं लक्षणमित्यत आह—

अदत्ताऽऽदानं स्तेयम् ॥ १५ ॥

दीयते स्म दत्तं—परेण समर्पितमित्यर्थः । न दत्तमदत्तम् । आदानं हस्तादिभिर्ग्रहणमुच्यते । अदत्तस्याऽऽदानमदत्ताऽऽदानं स्तेयमिति वेदितव्यम् । ननु यद्यविशेषेणाऽदत्तस्याऽऽदानं स्तेयमित्युच्यते तर्हि कर्मादिकमप्यन्येनाऽदत्तमाददानस्य स्तेयं प्राप्नोतीति चेन्नैष दोषः—येषु मणिमुक्ताहिरण्यादिषु दानाऽऽदानयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिसम्भवस्तेष्वेव स्तेयव्यवहारोपपत्तेः । तेन कर्मणि नोकर्मणि च नास्ति स्तेयप्रसङ्गः । एतच्चाऽदत्तग्रहणसामर्थ्यादवगम्यते । यदि हि कर्म नोकर्माऽऽदानमपि स्तेयं स्यात्तदानी-

---

इसे छोड़ना चाहिए' इस क्रिया का अनुष्ठान आत्म कल्याण में बाधक है, इत्यादि रूप से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले वचन सत्य ही हैं ।

अब अनृतके अनन्तर कहा गया जो स्तेय है उसका लक्षण क्या है सो बताते हैं—

सूत्रार्थ—बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना स्तेय-चोरी है । परके द्वारा जो दिया गया है वह 'दत्त' कहलाता है । जो दत्त नहीं है वह अदत्त है, आदान अर्थात् हाथ आदि से लेना । अदत्त का ग्रहण करना चोरी है ।

शंका—यदि बिना दी वस्तु का ग्रहण चोरी है ऐसा अविशेषरूप से माना जायगा तो कर्म आदि भी किसी के द्वारा दिये नहीं जाते उसका ग्रहण होता ही रहता है फिर उसे अदत्तादान होने से चोरी कहना होगा ? अर्थात् कर्मका ग्रहण भी चोरी की कोटि में चला जायगा ?

समाधान—यह शंका निर्मूल है । जो मणि मोती, सुवर्ण आदि पदार्थ हैं जिनमें लेन देन का व्यवहार चलता है ऐसे पदार्थों में चोरी नामका व्यवहार बनता है, अर्थात् जिन पदार्थों को हाथ आदि से उठाकर रखना किसी को देना इत्यादि प्रवृत्ति हो सकती है उनको यदि बिना दिये बिना पूछे ग्रहण करते है तो चोरी कहलाती है । इस तरह का लेना देना कर्म नोकर्म पदार्थ में सम्भव ही नहीं है अतः उनके ग्रहण अर्थात् कर्मबंध होने में चोरी नहीं होती है, यह बात तो 'अदत्तादानम्' इस विशेषण के सामर्थ्य से ही जानी जाती है । यदि कर्म नोकर्म के ग्रहण को भी चोरी कहा जाता तो 'अदत्तादान'

मदत्ताऽऽदानमित्येतद्विशेषणमयुक्तं स्यात् । दानार्हस्य प्रसक्तस्य न दत्तमदत्तमिति प्रतिषेधोपपत्तेः । न च कर्मादिर्हस्तादिभिर्ग्रहणविसर्गयोग्यतास्ति तस्य सूक्ष्मत्वात् । अथ मतमेतत्—शब्दादिविषयरथ्याद्वारादीन्यदत्तान्याददानस्य भिक्षोस्तेयं प्राप्नोतीति । तन्न युक्तं वक्तुम् । कुतः ? तस्याऽप्रमत्तत्वात् । यत्नवतो ह्यप्रमत्तस्य ज्ञानिनः शास्त्रदृष्ट्या शब्दादिविषयरथ्याद्वाराद्यादानेऽपि विरतस्य न स्तेयप्रसिद्धिः—सामान्यतो मुक्तत्वाद्दत्तमेव वा तत्सर्वम् । तथा ह्ययं भिक्षुः पिहितद्वारादिषु न प्रविशति । अथाऽब्रह्म किं लक्षणमित्यत्रोच्यते—

मैथुनमब्रह्म ॥ १६ ॥

स्त्रीपुंसयोर्युगलं मिथुनमित्युच्यते । तस्य मिथुनस्य कर्म मैथुनम् । नन्वेवं स्त्रीप्रव्रजितपुरुषयोर्नमस्काराद्यामेवने मैथुनं प्रसज्यत इति चेत्, अत्रोच्यते—न सर्वं स्त्रीपुंसमिथुनविषयं कर्म मैथुनं

विशेषण व्यर्थ ठहरता । दूसरी बात यह भी है कर्मादिक वस्तुएं हाथ आदि से ग्रहण करने या छोड़ने योग्य नही हैं वे तो सूक्ष्म हैं ।

शंका—ठीक है ! फिर भी साधुजनों से शब्द आदि पदार्थ कर्ण द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, नगर ग्राम आदि के द्वारों में प्रवेश आदि किया जाता है उसमें चोरीका दोष होगा क्योंकि ये सब 'अदत्तादान' बिना दिये ग्रहण में आते हैं ?

समाधान—ऐसा नही कह सकते । क्योंकि इसमें प्रमत्तपना नहीं है । प्रयत्नशील ज्ञानवान अप्रमत्त साधुजन शास्त्र दृष्टि से शब्दादि विषय एवं गलीमें प्रवेश आदि ग्रहण करते हुए भी उस विरक्त के चोरी का दोष प्राप्त नहीं होता । क्योंकि पहली बात तो यह है कि उनके प्रमादका योग नहीं है, दूसरी बात ये शब्दादि पदार्थ सामान्यतः सभी के लिए मुक्त रहते हैं इसलिये वे दिये हुए माने जाते हैं । तथा साधुजन ढके हुए द्वारों को खोलकर प्रवेश नहीं करते हैं जो गली गोपुर आदि के द्वार खुले हैं उनमें प्रवेश करते हैं अतः कोई दोष नहीं है ।

अब अब्रह्मका लक्षण क्या है ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—मैथुन सेवन को अब्रह्म कहते हैं । स्त्री पुरुष के युगलको मिथुन कहते हैं उस मिथुन की क्रिया को मैथुन कहते हैं ।

शंका—यदि ऐसा अब्रह्मका लक्षण करते हैं तो दीक्षित हुए स्त्री पुरुषों में नमस्कार आदि क्रिया में मैथुनका प्रसंग आ जायेगा ?

प्रोच्यते। किं तर्हिचारित्रमोहोदये सति स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे सति सुखमुपलिप्समानयो रागपरिणामो यः स मैथुनव्यपदेशभाग्भवति। ननु नायं शब्दार्थ इति चेत्, सत्यमेवमेतत्, तथापि प्रसिद्धिवशादर्थाध्यवसायसम्भव इतीष्टार्थो गृह्यते। अत एव यथा स्त्रीपुंसयोश्चारित्रमोहोदये वेदना-पीडितयोः कर्म मैथुनं तथैकस्यापि चारित्रमोहोदयोद्रिक्तरागस्य हस्तपादपुद्गलसंघट्टनादिरब्रह्म सेवमा-नस्य मैथुनमिति व्यपदेशमर्हति। न चकस्मिन्नुपचारान्मैथुनव्यपदेश इति वक्तव्यं–स्पर्शवद्द्रव्यसंयोग-पूर्वकस्पर्शाभिमानमुख्यसुखाऽविशेषात् द्वयोरिवैकस्यापि मैथुनशब्दलाभस्य मुख्यत्वात्। अहिंसादयो

समाधान—नहीं आयेगा। क्योंकि स्त्री पुरुष के सभी क्रिया को मैथुन नहीं कहते हैं किन्तु चारित्र मोहनीय कर्म (वेदके) के उदय होने पर स्त्री और पुरुष का परस्पर में शरीर के उपश्लेष आलिंगनरूप जो क्रिया होती है जिसमें कि दोनों को रति सुखकी अभिलाषा रहती है वह क्रिया मैथुन कहलाती है जो अत्यन्त गाढ रागरूप परिणाम है।

प्रश्न—मैथुन शब्दका ऐसा अर्थ तो नहीं निकलता उसका तो इतना ही अर्थ है कि युगल की–स्त्री पुरुष की क्रिया मैथुन ?

उत्तर—ठीक कहा। तथापि प्रसिद्धि के वश से अर्थ का निश्चय होता है। इस न्याय से मैथुन का उक्त अर्थ लिया गया है। इस तरह का अर्थ इष्ट होने पर निम्न-लिखित बात भी सिद्ध होती है। जैसे चारित्र मोह कर्मके उदय होने पर काम वासना से पीड़ित स्त्री पुरुषों में जो क्रिया होती है वह मैथुन है वैसे ही काम से पीड़ित कोई अकेला ही स्त्री या पुरुष है चारित्रमोह का तीव्र उदय जिसके आ रहा है ऐसा व्यक्ति हाथ पैर पुद्गल का संघट्टन आदि करता है वह अब्रह्म का सेवन करता है उसकी वह क्रिया मैथुन कहलाती है ऐसा समझना चाहिए।

प्रश्न—यह तो औपचारिक मैथुन है ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, स्पर्श वाले पदार्थ के संयोग से स्पर्श का अभिमान जिसमें प्रमुख है ऐसा जो सुख होता है वह सुख उभयत्र समान है, जैसे स्त्री और पुरुष के शरीर के संयोग से उन दोनों को स्पर्श सुखका अनुभव होता है वैसे एक व्यक्ति के अपने शरीर के अवयवों का परस्पर संयोग–संघट्ट होने से रति सुखका अनुभव होता है अतः एक को भी मिथुन और उसकी क्रियाको मुख्यता से मैथुन कहना उचित ही है, यह कथन औपचारिक मात्र नहीं है।

गुणा यस्मिन्परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद्ब्रह्मेत्युच्यते । न ब्रह्माऽब्रह्म । ततः प्रमत्तयोगाद्यत् स्त्रीपुरुषविषयं पुरुषद्वयविषयं वा मैथुनं तदब्रह्मेति व्यपदिश्यते । अथ परिग्रहस्य किं लक्षणमित्याह—

मूर्छा परिग्रहः ।। १७ ।।

मूर्छनं मूर्छा । यद्यपि मूर्छेयं मोहसामान्ये वर्तते, तथापि सामान्यरूपा विशेषेष्ववतिष्ठन्त इति कृत्वा नात्र वातपित्तश्लेष्मणामन्यतमस्य दोषस्य प्रकोपादुपजायमानो विकारो मूर्छा गृह्यते; किं तर्हि बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्तादीनां चेतनाऽचेतनानामभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जन-संस्कारादिलक्षणा व्यापृतिर्मूर्छेति कथ्यते । सैव परिग्रहणं परिग्रहः सङ्ग इत्यर्थः । अथ मतमेतन्ममेद-मिति सङ्कल्पस्याध्यात्मिकत्वात्प्राधान्यमतस्तस्यैव परिग्रहत्व स्यान्न पुनर्बाह्यस्येति । सत्यमेवं, तथापि-

---

अहिंसा आदि गुण जिसके परिपालन में बढ़ते हैं वह 'ब्रह्म' कहलाता है, जो ब्रह्म नहीं वह अब्रह्म है । प्रमाद के योग से स्त्री पुरुष के विषयक या दो पुरुष के विषयक जो कर्म है वह मैथुन अब्रह्म कहलाता है ।

अब परिग्रह का लक्षण बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं ।

यद्यपि यह मूर्च्छा शब्द सामान्य मोह अर्थ में आता है तथापि 'सामान्य विशेषों में रहता है' इस नियम के अनुसार यहां पर वात पित्त श्लेष्मरूप दोषों में से कोई दोष कुपित होने पर विकार पैदा होता है–बेहोशी आती है–या पागलपना होता है उस मूर्च्छा को नहीं लिया गया है किन्तु बाह्य गो, भैंस, मणि, मोती आदि चेतन अचेतन पदार्थ और अभ्यन्तर के जो राग आदिक हैं उन उपधियों का संरक्षण, अर्जन संस्कार इत्यादि रूप जो लगन या आसक्ति होतो है उसे मूर्च्छा कहा है उसीको परिग्रह और सङ्ग कहते हैं ।

शंका—'यह मेरा है' इसप्रकार का संकल्प अभ्यन्तर आत्मा में होता है, प्रधानता से यही मूर्च्छा होने से उसीके परिग्रहपना है बाह्य मणि मोती आदिको परिग्रहपना सम्भव नहीं है ?

समाधान—ठीक कहा, बाह्य मणि आदि पदार्थ मूर्च्छाका कारण होने से उनको मूर्च्छा ऐसा उपचार से कहा जाता है । इस तरह मणि आदिको ग्रहण किया जाता है

मूर्छाकारणत्वाद्बाह्योऽपि मूर्छेत्युपचर्यते । ततस्तस्यापि परिगृह्यमाणत्वात्परिग्रहत्वम् । यथाऽन्नं वै प्राणा इति प्राणकारणेऽन्ने प्राणव्यपदेशोपचार इति । ननु ज्ञानदर्शनचारित्रेष्वपि ममेदमिति सङ्कल्पः परिग्रहः प्राप्नोतीति चेत्तन्न, प्रमत्तयोगाधिकारात् । ततो ज्ञानदर्शनचारित्रवतोऽप्रमत्तस्य मोहाभावान्मूर्छा नास्तीति निष्परिग्रहत्वं सिद्धम् । किं चाऽहेयत्वात्तेषां ज्ञानादीनामात्मस्वभावानतिवृत्तेरपरिग्रहत्वम् । रागादयस्तु कर्मोदयतन्त्रा इत्यनात्मस्वभावत्वाद्धेयाः । अतस्तेषु सङ्कल्पः परिग्रह इति युज्यते । परिग्रहमूलाश्च सर्वदोषानुषङ्गाः । ममेदमिति हि सङ्कल्पे सति संरक्षणादयो जायन्ते । तत्र च हिंसावश्यभाविनी । तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रतियतते । तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकाराः । इहाप्यनुपरतव्यसनमहार्णवावगाहनं भवति । अत्राह—किमभिहितहिंसादिविरतिमात्रयोगादेव व्रती भवत्याहोस्विद्विशेषान्तरादित्यत्रोच्यते—

अतः उनके भी परिग्रहपना सिद्ध होता है । जैसे 'अन्न ही प्राण है' ऐसे कथन में प्राण के कारणभूत अन्न में प्राण का उपचार होता है ।

शंका—ज्ञान दर्शन और चारित्र में भी 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प होता है उनके भी परिग्रहपना प्राप्त होता है ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है । यहां प्रमत्त योगका अनुवर्त्तन चल रहा है इसलिये ज्ञानदर्शन चारित्रधारी अप्रमत्त साधु के मोहके अभाव होने से मूर्च्छा नहीं है अतः वे निष्परिग्रही सिद्ध होते हैं । दूसरी बात यह है कि ज्ञानदर्शनादिक तो आत्मा के स्वभाव होने से अहेय है–छोड़ने योग्य नहीं है । अतः वे अपरिग्रह स्वरूप हैं । रागादिक जो विकार हैं वे कर्मके उदयके अधीन हैं आत्माके स्वभाव नहीं होने से हेय हैं अतः उनमें 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प करना परिग्रह कहलाता है । परिग्रह के कारण ही सर्व दोष उत्पन्न होते हैं । क्योंकि यह मेरा है ऐसा विचार होने पर ही उनकी रक्षा करना, अर्जन करना इत्यादि क्रियायें की जाती हैं उनसे हिंसा अवश्य होती है, परिग्रह के लिए व्यक्ति झूंठ बोलता है, चोरी करता है और मैथुन कार्य में भी प्रवृत्त होता है, इन खोटे कार्यों से नरकायु आदि कर्मका बन्ध होकर जीव नरकादि में महान दुःख भोगता है । इस लोक में भी सतत कष्टों के महासागर में डूबा रहता है । इस तरह ये सर्व दोष परिग्रह के कारण होते हैं ।

प्रश्न—हिंसादि पापों से विरक्त होने मात्र से व्रती होता है अथवा दूसरी ओर भी कुछ विशेषता होती है ?

उत्तर—अब इसीको सूत्र द्वारा कहते हैं—

निःशल्यो व्रती ।। १८ ।।

विविधवेदनाशलाकादिभिः प्राणिगणं शृणाति हिनस्तीति शल्यम् । ननु लोके काण्डादिकं शल्यमिति रूढ, न तु मायादिकमिति चेत्सत्यमुपचारात्तस्यापि शल्यव्यपदेशोपपत्तेः । यथा हि शरीरानुप्रवेशि काण्डादिप्रहरणं शरीरिणो बाधाकरं शल्यं, तथा कर्मोदयविकारोऽपि शारीरमानसबाधाहेतुत्वाच्छल्यमिव शल्यमित्युच्यते । तच्च त्रिविधं—मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् । माया निकृतिर्वञ्चनेत्यनर्थान्तरम् । विषयभोगाकांक्षा निधानमुक्तम् । मिथ्यादर्शनमप्यतत्त्वश्रद्धानमुक्तम् । एतस्मात्त्रिविधाच्छल्यान्निष्क्रान्तो निःशल्यः । स एव पञ्चतयव्रतयोगाद्व्रतीति विवक्षितः । सशल्यस्य पुनः सत्स्वपि व्रतेषु व्रतित्वानुपपत्तेः । यथा बहुक्षीरघृतो यो देवदत्तः स एव गोमानिति व्यपदिश्यते । बहुक्षीरघृताभावे तु सतीष्वपि गोषु न गोमानिति । सोऽयमधिकृतो व्रती द्वेधा भवतीत्याह—

सूत्रार्थ—जो शल्यों से रहित है वह व्रती होता है । विविध वेदनारूपी शलाकाओं से जो जीवों को कष्ट देता है वह शल्य कहलाता है 'शृणाति इति शल्यं' ।

प्रश्न— लोक में काण्ड-काटा आदिको शल्य कहने की रूढि है, मायादि को तो कोई शल्य-काटा नहीं कहता है ?

उत्तर—ठीक है । किन्तु यहां पर उपचार से मायादिको शल्य कहा है, क्योंकि जैसे कण्टक काण्डादि शरीर में घुसकर जीवों को बाधा पहुंचाते हैं अतः शल्य कहलाते हैं, वैसे ही कर्मोदयरूप कारण से उत्पन्न हुए मायादि विकार भी शारीरिक और मानसिक बाधा के कारण होने से शल्य कहलाते हैं । यह शल्य तीन प्रकार का है—माया, निदान और मिथ्यात्व । माया, विकृति और वञ्चना ये सब एकार्थवाची शब्द हैं । विषय भोगोंकी वाञ्छा होना निदान है । अतत्त्व श्रद्धानको मिथ्यात्व कहते हैं । इन तीन शल्यों से जो निष्क्रान्त-रहित है वह निःशल्य है । वही निःशल्य पुरुष पञ्च प्रकार के व्रतों के योग से व्रती होता है ऐसा अर्थ समझना । जो शल्य युक्त है उसके व्रतों के होने पर भी व्रती संज्ञा नहीं होती । जैसे जो देवदत्त बहुत से दूध तथा घी आदि रखता है वही गोमान् कहलाता है, यदि उस देवदत्त के दूध और घी नहीं हैं तो गायों के रहते हुए भी गोमान् नहीं कहलाता है ।

जो यह व्रती है वह दो प्रकार का होता है ऐसा अगले सूत्र द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

अगार्यनगारश्च ॥ १९ ॥

प्रतिश्रयार्थिभिर्जनैरंगद्यते गम्यते तदित्यगारं वेश्मेत्यर्थः। अगारमस्यास्तीत्यगारी। न विद्यतेऽगारमस्येत्यनगारः। स्यान्मतं ते—शून्यागारदेवकुलाद्यावासस्य मुनेरगारित्वं प्राप्तमनिवृत्तविषयतृष्णस्य कुतश्चित्कारणाद्गृहं विमुच्य वने वसतोऽनगारत्वं चेति नियमो न सिध्यतीति। तन्न युक्तम्। कुतः? भावागारस्य विवक्षितत्वात्—चारित्रमोहोदये सत्यगारसम्बन्धं प्रत्यनिवृत्तिपरिणामोऽगारमित्युच्यते। स यस्यास्त्यसौ वने वसन्नप्यगारीति व्यपदेशमर्हति। तदभावादनगार इति च भवतीत्यदोषः। ननु गृहस्थस्य व्रतकारणसाकल्याभावाद्व्रतित्वं न प्राप्नोतीति चेतन्न—नैगमादिनयवशात्तदुपपत्तेः राजादिव्यपदेशवत्। यथा द्वात्रिंशज्जनपदसहस्राधिपतिः सार्वभौमश्च यो न भवति एकजनपदपतिस्तदर्धेश्वरो

सूत्रार्थ— अगारी और अनगार ऐसे व्रती के दो भेद होते हैं।

आश्रय के इच्छुक पुरुषों द्वारा जो प्राप्त किया जाता है, स्वीकार किया जाता है वह अगार अर्थात् घर है। अगार जिसके है वह अगारी है, और जिसके अगार नहीं होता वह अनगार है।

शंका—सूने मकान, देवकुल आदि स्थानों पर निवास करने वाले मुनि के भी ऐसा लक्षण करने से अगारीपने का प्रसंग आता है। तथा जिसकी विषय तृष्णा नष्ट नहीं हुई है ऐसा कोई पुरुष किसी कारणवश घरको छोड़कर वनमें रहता है उसके अनगारत्व प्राप्त होगा। इस तरह अगारी अनगारपने का कोई नियम सिद्ध नहीं होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, यहां पर भाव अगार की विवक्षा ली गयी है, चारित्रमोहनीय कर्मके उदय होने पर घरके सम्बन्ध के प्रति जो भाव है वह जिसके दूर नहीं हुआ है वह भाव अगार है, ऐसा भावागार जिसके है वह व्यक्ति वनमें रहता हुआ भी अगारी ही कहलाता है। जिस पुरुष के वैसा भावागार नहीं है वह अनगार है, इस तरह कोई दोष नहीं है।

शंका—गृहस्थके व्रतोंकी पूर्णता नहीं होती अतः वह व्रती नहीं कहा जा सकता ?

समाधान—ऐसा नहीं है, नैगम आदि नयोंकी अपेक्षा गृहस्थ के व्रती संज्ञा बन जाती है, जैसे राजा आदि संज्ञा बनती है, अर्थात् जो बत्तीस हजार देशों का स्वामी सार्वभौम चक्रवर्ती राजा नहीं है, केवल एक देशका अथवा आधे देशका स्वामी है तो

वा सोऽपि राजेति व्यपदिश्यते। यथा वा गृहापवरकादिनगरैकदेशनिवास्यपि नगरावास इति शब्द्यते, तथाऽष्टादशशीलसहस्रचतुरशीतिगुणशतसहस्रधरत्वादनगारः सम्पूर्णव्रत इति कथ्यते। तदभावात्संयतासंयतोऽप्यणुव्रतधरत्वान्नैगमसंग्रहव्यवहारनयविवक्षया व्रतीति व्यपदिश्यते। एवमगार्यनगारश्चेति द्वेधा भवतीति वेदितव्यः। अत्राह—हिंसादीनामन्यतमस्माद्यः प्रतिनिवृत्तः स खल्वगारी व्रती भवति? नैवम्। किं तर्हि? पञ्चतय्या अपि विरतेर्वैकल्येन विवक्षित इत्युच्यते—

अणुव्रतोऽगारी ॥ २० ॥

अणुशब्दः सूक्ष्मवचनः। अणूनि व्रतान्यस्य सोऽणुव्रतोऽगारीत्युच्यते। कुतोऽस्य व्रतानामणुत्वमिति चेत्सत्यं सर्वसावद्यनिवृत्त्यसम्भवात्। कुतस्तर्ह्यसौ निवृत्त इत्युच्यते? द्वीन्द्रियादिजङ्गमप्राणि-

---

उसे भी राजा कहते हैं, अथवा नगर का एक भाग और उसका भी एक हिस्से स्वरूप घरके भी कोठड़ी में रहने वाले व्यक्तिको कह देते हैं कि यह नगर निवासी है उसी प्रकार अठारह हजार शीलका और चौरासी लाख उत्तर गुणोंका धारक होने पर अनगार पूर्णव्रती कहलाता है, इन सब व्रतोंका संयमासंयम पालक के अभाव है तो भी अणुव्रतों को धारण करने वाला होने से उसको नैगम, संग्रह और व्यवहार नयोंकी अपेक्षा व्रती कहते हैं। इस प्रकार अनगार और अगारी ऐसे दो प्रकार के व्रती जानने चाहिये।

प्रश्न—हिंसादि पांच पापों में से किसी एक पाप से जो विरत है वह अगारी क्या व्रती कहलाता है?

उत्तर—नहीं कहलाता, किन्तु जो पांचों पापों से एक देश विरत होता है वह व्रती होता है। आगे इसीको सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—अणुव्रतों का धारक अगारी होता है।

अणु शब्द सूक्ष्मका वाचक है, सूक्ष्म-अणु है व्रत जिनके वह अगारी अणुव्रती कहा जाता है।

प्रश्न—इसके व्रतों को अणुपना क्यों है?

उत्तर—सर्व सावद्य का त्याग नहीं होने के कारण गृहस्थ के व्रतोंको अणु-सूक्ष्म व्रत कहते हैं।

प्रश्न—किस सावद्य से यह गृहस्थ विरक्त होता है?

वधादित्रसानिवृत्तोऽगारीत्याद्यमणुव्रतम् । स्नेहद्वेषमोहवशाद्यदसत्याभिधानं ततो निवृत्तादरो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम् । अन्यपीडाकरं पार्थिवभयादिवशादवश्यं परित्यक्तमपि यददत्तं ततो निवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम् । उपात्ताऽनुपात्ताऽन्याङ्गनासङ्गाद्विरतरतिर्विरताविरत इति चतुर्थमणुव्रतम् । धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात्कृतपरिच्छेदो गृहीति पंचममणुव्रतं भवति । स्थूलतरविरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्यापरमपि विशेषमाह—

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-
परिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ।।२१।।

आकाशप्रदेशपंक्तिर्दिगित्युच्यते । आदित्यादिगत्योदयास्तमनपरिच्छिन्नया विभक्तस्तद्भेदः । प्राग्दिग्दक्षिणाप्रतीच्युत्तरोर्ध्वमधोविदिशश्चेति । ग्रामनगरगृहापवरकादीनामवधृतपरिमाणानां प्रदेशो

उत्तर—द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों के वध-हिंसा से मन वचन काय द्वारा निवृत्त होता है यह अगारी का पहला अहिंसाणु वृत कहलाता है, स्नेह, द्वेष और मोहके वश से जो असत्य वचन बोले जाते हैं उन वचनों से जो निवृत्त होता है वह गृहस्थ का दूसरा सत्याणु वृत है । जिस वस्तु को लेने से दूसरों को पीड़ा होती है, राजा के भय आदि से जिसको अवश्य छोड़ना पड़ता है ऐसी परायी वस्तु के ग्रहण करने से जो व्यक्ति सदा दूर रहता है वह श्रावक तीसरे अचौर्याणु वृत का धारक कहा जाता है । किसी के द्वारा गृहीत हो चाहे अगृहीत हो दोनों ही प्रकार की अन्य की स्त्री से विरक्त होना श्रावक का चौथा ब्रह्मचर्याणुवृत है । धन, धान्य, खेत आदि पदार्थों का अपने इच्छानुसार प्रमाण करना पांचवां परिग्रह परिमाण नामका अणुवृत है ।

इस तरह जिसने स्थूल विरतिको स्वीकार किया है ऐसे श्रावक के और भी जो विशेष होते हैं वे बताते हैं—

सूत्रार्थ—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोगप्रमाण और अतिथि संविभाग इन सात व्रतों से संपन्न भी श्रावक होता है ।

आकाश प्रदेशों की पंक्ति को दिग्-दिशा कहते हैं, सूर्य आदि के गमन से तथा उनके उदय तथा अस्त के निमित्त से उस दिशा में विभाग (भेद) होते हैं, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊर्ध्व, अध और चार विदिशायें ये दिशा के दस भेद हैं । ग्राम, नगर, गृह, कोठड़ी आदि से जिसका निश्चित प्रमाण होता है वह प्रदेश देश कहा जाता है ।

देश इत्युच्यते। असत्युपकारे पापादानहेतुः पदार्थोऽनर्थ इत्युच्यते। न विद्यतेऽर्थ उपकारलक्षणं प्रयोजनं यस्यासावनर्थ इति व्युत्पत्तेः। स च दण्ड इव दण्डः पीडाहेतुत्वात्। ततोऽनर्थश्चासौ दण्डश्चानर्थदण्ड इत्यवधार्यते। विरमणं विरतिर्निवृत्तिरित्यर्थः। दिक्च देशश्चानर्थदण्डश्च दिग्देशानर्थदण्डास्तेभ्यो विरतिर्दिग्देशानर्थदण्डविरतिः। विरतिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। दिग्विरतिर्देशविरतिरनर्थदण्ड-विरतिरिति। समयन समयः। प्रतिनियतकायवाङ्मनस्कर्मपर्यायार्थप्रतिनिवृत्तत्वादात्मनो द्रव्यार्थेनैक-त्वेन गमनमित्यर्थः। समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम्। प्रोषधशब्दः पर्ववाची। शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाण्युपेत्यास्मिन्वसतीत्युपवासः। अशन-पानभक्ष्यलेह्यलक्षणश्चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यतेऽनुभूयत इत्युपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिरुच्यते। सकृद्भुक्त्वा परित्यज्य पुनरपि भुज्यत इति परिभोग आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानवाहनादिरभिधीयते। परिमाणमियत्तावधारण-मित्यर्थः। उपभोगश्च परिभोगश्चोपभोगपरिभोगौ। तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम्।

जिस क्रिया में उपकार-लाभ नहीं हो और पापोंका आस्रव हो ऐसा पदार्थ या क्रिया अनर्थ कहलाता है। नहीं है अर्थ उपकार रूप प्रयोजन जिसके वह अनर्थ है इस तरह अनर्थ शब्दकी व्युत्पत्ति है। दण्डके समान पीड़ादायक को दण्ड कहते हैं। अनर्थ दण्ड पदों में कर्मधारय समास है। विरमण, विरति और निवृत्ति ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। दिग्देशानर्थ दण्ड पदों में द्वन्द्व समास है पुनः तत्पुरुष समास द्वारा विरति पद जोड़ा है। विरति शब्दको प्रत्येक के साथ जोड़ना-दिग्विरति देशविरति और अनर्थ दण्ड विरति। समयन को समय कहते हैं—मन, वचन, कायकी क्रियाको नियमित करके आत्मा का पर्यायार्थ के प्रति तो निवृत्त होना और द्रव्यार्थरूप से एकत्व को प्राप्त करना समय कहलाता है, समय ही सामायिक है अथवा समय जिसका प्रयोजन है वह सामायिक है। प्रोषध शब्द पर्ववाची है। पांचों ही इन्द्रियां शब्दादि विषयों को ग्रहण करने में उत्सुकता से रहित होकर अपनी आत्मा में आकर ठहर जाती हैं वह उपवास कहलाता है। भाव यह है कि अशन, पान, भक्ष्य और लेह्य स्वरूप चार प्रकार के आहारों का त्याग करना प्रोषधोपवास है, प्रोषध—पर्वके दिन में उपवास करना प्रोषधोपवास है। आत्मसात् कर जो भोगा जाता है, अनुभव किया जाता है उपभोग है, भोजन, पान, गन्ध मालादि उपभोग है। एक बार भोगकर छोड़कर पुनः जिसको भोगा जा सके वे पदार्थ परिभोग कहलाते हैं, आच्छादन, प्रावरण, (बिछोना, ओढ़ना) अलंकार, शयन, आसन, गृह, यान, वाहनादि परिभोग पदार्थ हैं। इतनेपन का निश्चय करना परिमाण है। उपभोग और परिभोग पदार्थों का प्रमाण करना उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत

संयममविनाशयन्नतति गच्छतीत्यतिथिः । अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः—अनियतकालागमन इत्यर्थः । संविभजनं संविभागः । अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः । सामायिकं च प्रोषधोपवासश्च उपभोगपरिभोगपरिमाणं चातिथिसंविभागश्च सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागाः । दिग्देशानर्थदण्डविरतिश्च सामायिकादयश्च दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागाः । त एव व्रतानि तैः सम्पन्नो युक्तो दिग्विरत्यादिसम्पन्नः । व्रतशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । दिग्विरतिव्रतं देशविरतिव्रतमनर्थदण्डविरतिव्रतमित्येतानि त्रीणि गुणव्रतानि । सामायिकव्रतं प्रोषधोपवासव्रतमुपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतमतिथिसंविभागव्रतमित्येतानि चत्वारि शिक्षाव्रतानि । समुदितानि चैतानि दिग्विरत्यादीनि सप्ताहिंसादिपञ्चाणुव्रतपरिरक्षणार्थानि श्रावकस्य शीलाभिधानानि सम्भवन्ति । तत्र दुष्परिहरैः क्षुद्रजन्तुभिराकुला दिशोऽतस्तन्निवृत्तिः कर्तव्या । तासां परिमाणं च योजनादिभिः पर्वतादिभिः प्रसिद्धाऽभिज्ञानैः कर्तव्यम् । सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमिताद्दिगवधेर्बहिर्न गमिष्यामीति । ततो बहिर्हिंसादिपरिणामनिवृत्तेः परप्रेरितस्यापि मणिरत्नादिसंप्राप्तितृष्णाप्राकाम्यनिरोधसम्भवाच्च दिग्विरतिः श्रेयसी । मनोवाक्काययोगैः कृतकारि-

---

कहलाता है । संयम की रक्षा करते हुए जो गमन करता है वह अतिथि है, अथवा इसकी तिथि नहीं है वह अतिथि है अर्थात् जिनका आने का काल निश्चित नहीं है ऐसे साधु को अतिथि कहते हैं । अतिथि के लिये संविभाग करना अतिथि संविभागव्रत है । सामायिक आदि पदों में द्वन्द्व समास हुआ है । पुनः दिग् दिशा आदि पदों के साथ उनका द्वन्द्व समास हुआ है । इन व्रतों से जो सम्पन्न है वह दिग्देशादि व्रतों से सम्पन्न श्रावक कहा जाता है । व्रत शब्द प्रत्येक के साथ जुड़ा है । दिग्विरति व्रत, देशविरति व्रत और अनर्थ दण्ड विरति व्रत ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं । सामायिक व्रत, प्रोषधोपवास व्रत, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत और अतिथि संविभाग व्रत ये चार शिक्षाव्रत हैं । सब मिलकर सात हैं ये अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों की रक्षा करते हैं अतः श्रावक के शील कहलाते हैं । दिशायें क्षुद्र जीवों से व्याप्त होती हैं इसलिये दिशाओं का प्रमाण किया जाता है । वह प्रमाण योजनादि से, पर्वत नदी आदि प्रसिद्ध चिह्न विशेषों से करना चाहिए । दिशाओं की मर्यादा करने वाला व्यक्ति उस अपनी मर्यादा के बाहर बहुत से प्रयोजन होने पर भी गमन नहीं करूंगा । इस प्रकार कृत संकल्प रहता है, उससे मर्यादा के बाहर होने वाली हिंसा से उसके परिणाम दूर रहते हैं, यदि उसको कोई प्रेरणा भी देवे कि अमुक देश में मणि रत्न आदि की तुमको प्राप्ति हो जायगी तो भी वह मर्यादा से बाहर तृष्णा कांक्षा को रोक देता है, इस तरह दिशा से विरति अर्थात् दिशाओं में गमनागमन का प्रमाण कल्याणकारी है । दिग्व्रत का पालन करने

तानुमतविकल्पैर्हिंसादिसर्वसावद्यनिवृत्तिसद्भावार्दाहसाद्यणुव्रतधारणोप्यस्यमहाव्रतत्वमवसेयम् । तथैव देशनिवृत्तिः कार्या । मदीयस्य गृहान्तरस्य तटाकस्य वा मध्यस्थं मुक्त्वा देशान्तरं न गमिष्यामीति । तन्निवृत्तौ पूर्ववत्प्रयोजनं वेदितव्यम् । महाव्रतत्वं च बहिर्व्यवस्थाप्यम् । कथमनयोर्विशेष इति चेदुच्यते– दिग्विरतिः सार्वकालिकी । देशविरतिश्च यथाशक्ति कालनियमेनेति । अनर्थदण्डः पञ्चधा भिद्यते । कुतः ? अपध्यानपापोपदेशप्रमादाचरितहिंसोपकरणप्रदानाऽशुभश्रुतिभेदात् । तत्र जयपराजयवधबंधांगच्छेदस्वहरणादिकं कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम् । क्लेशतिर्यग्वणिज्यावधकारम्भादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः । तद्यथा—अस्मिन् देशे दासा दास्यश्च सुलभाः सन्ति । तान् देशान्तरं नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भवतीति क्लेशवणिज्या । गोमहिष्यादीनमुत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते भूरिवित्तलाभो भवतीति तिर्यग्वणिज्या । वागुरिकसौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति प्रतिपादनं वधकोपदेशः । आरम्भकेभ्यः कृषिबलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारम्भकोपदेश इत्येवं प्रकारं पापसयुक्तं वचनं

वाले पुरुष के अपनी मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में कृतकारित, अनुमत, मन, वचन और काय इन नौ कोटियों से हिंसादि सर्व पापों का त्याग हो जाता है अतः अणुव्रती होते हुए भी उस व्रती श्रावक के महाव्रतपना आ जाता है । दिग्व्रत के समान देश निवृत्ति करनी चाहिए । मेरे गृह से लेकर तालाब तक के बीच के स्थान को छोड़कर अन्य जगह मैं नहीं जावूंगा, इत्यादिरूप से इसमें नियम होता है इससे मर्यादा के बाहर उसके सर्व पापोंका त्याग हो जाता है और इस दृष्टि से महाव्रतत्व भी बन जाता है ।

प्रश्न—दिग्व्रत और देशव्रत में क्या भेद है ?

उत्तर— दिग्विरति व्रत में सार्वकालिक नियम होता है और देशव्रत में यथाशक्ति कालकी मर्यादा लेकर नियम होता है अर्थात् मैं जीवनपर्यंत अमुक अमुक पर्वतादि तक ही जावूंगा इससे आगे कभी नहीं जावूंगा । इस प्रकार हमेशा के लिए सब दिशाओं का नियम लेना दिग्विरति व्रत है और चार दिन आदि कालकी मर्यादा से गमनागमन का नियम लेना देशव्रत है ।

अनर्थ दण्ड पांच प्रकार का है— अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसा के उपकरण देना और अशुभ श्रवण । जय पराजय विचार, मारन, बांधना, अङ्ग छेदना, धनका हर जाना इत्यादि विषयों का मनसे चिन्तन करना अपध्यान है । क्लेश–कष्टकारक व्यापार पशु आदि का व्यापार आरम्भ वधादिकारक पापयुक्त वचनों को कहना

पापोपदेश इत्याख्यायते । प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाऽग्निविध्यापनवातप्रतिघातवनस्पतिच्छेदनाद्यकर्म प्रमादाचरितमिति कथ्यते । दण्डपाशबिडालश्वविषशस्त्राग्निरज्जुकशादीनि हिंसासाधनानि । तेषां समर्पणं हिंसोपकरणप्रदानमित्युच्यते । रागादिप्रवर्धितो दुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरिति । एतस्मादनर्थदण्डाद्विरतिः कार्या । पूर्वयोर्दिग्देशयोरुत्तरयोश्चोपभोगपरिभोगयोरवधृतपरिमाणयोरनर्थकं चंक्रमणादिकं विषयोपसेवनं च निष्प्रयोजनं न कर्तव्यमित्यतिरेकनिवृत्तिज्ञापनार्थं मध्येऽनर्थदण्डवचनं कृतमिति बोद्धव्यम् । प्रतिनियतदेशकाले सामायिके स्थितस्य महाव्रतत्व पूर्ववद्वेदितव्यम् । स्यान्मतं ते – सामायिके सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणे स्थितस्य श्रावकस्यापि संयमित्वं

पापोपदेश है, जैसे—इस देश में दास दासी सुलभ हैं, उनको दूसरे देश में ले जाकर बेचेंगे तो बहुत धनका लाभ होगा, ऐसा कहना सिखाना क्लेश वाणिज्य पापोपदेश कहलाता है । गाय, भैंस आदिको यहां से ले जाकर दूसरे देश में बेचेंगे तो बहुत धन का लाभ होगा ऐसा वचन कहना तिर्यग्वाणिज्य पापोपदेश है । जाल आदिके द्वारा जो शूकरको पकड़ते हैं जो पक्षियों को पकड़ते हैं ऐसे सौकरिक, शाकुनिक आदि नीच पुरुषों को कहना कि हिरण, शूकर पक्षी आदि अमुक देश वनादि में हैं सो यह वधकोपदेश है । आरंभ करने वाले किसान आदि को कहना कि जमीन को ऐसे जोतना, पानी की ऐसी सिंचाई करना, भूमिको ऐसे जलाना, ऐसी हवा करना, बनस्पति घास आदि को ऐसे काटना, इसतरह आरम्भकारक उपदेश देना भी आरम्भक पापोपदेश कहलाता है । प्रयोजन के बिना वृक्ष का छेदना, पृथिवी खोदना, जोतना, सुरंग लगाना, सिंचाई करवाना, अग्नि लगाना, वायु संचार और वनस्पति को काटना प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है । दण्डा, जाल, बिल्ली, कुत्ता आदि का विष, शस्त्र, अग्नि, रस्सी इत्यादि जो हिंसा के साधन हैं उनको किसी को देना हिंसा उपकरण प्रदान कहलाता है । रागादि को बढ़ाने वाली दुष्ट कथा को सुनना, उसकी शिक्षा देना इत्यादि कार्य में लगन होना अशुभ श्रुति है, इन अनर्थ दण्डों से विरक्त होना चाहिए । सूत्र में दिग्व्रत और देशव्रत सबसे पहले कहा है बीच में अनर्थदण्ड व्रत कहा है, उसको उपभोग परिभोग प्रमाण व्रतके पहले रखा है, इससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि व्यर्थका इधर-उधर घूमना, व्यर्थका कार्य करना, व्यर्थ विषय सेवन इत्यादि निष्प्रयोजन कार्यको नहीं करना चाहिए, सर्वत्र अतिरेक से दूर रहना चाहिए ।

प्रतिनियत देश और काल में सामायिक करने वाले के महाव्रतपना आता है ऐसा पहले के समान समझ लेना चाहिए अर्थात् सामायिक में जितने काल तक श्रावक स्थित

प्राप्नोतीति । तन्न युक्तं-तस्य संयमघातिकर्मोदयसद्भावात् । संयमाभावे संयतत्वाघटनात् । तर्ह्यस्य महाव्रतत्वं नोपपद्यत इति चेतन्न—उपचारतस्तदुपपत्तेः । यद्यप्यभ्यन्तरसंयमघातिकर्मोदयापादितमन्दविरतिपरिणामोऽस्ति, तथापि बाह्येषु हिंसादिषु सर्वेष्वनासक्तबुद्धिरिति कृत्वा श्रावको महाव्रतीत्युपचर्यते—यथा राजकुले सर्वगतश्चैत्र इति । एवं च सत्यभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिण एकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालनादसंयतभावस्याप्युपरिग्रैवेयकविमानवासितोपपन्ना भवति । स्वशरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिविरहितः । शुचाववकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनाहितान्तःकरणः सन्नुपवसेन्निरारम्भः श्रावकः । भोगपरिमाणं

रहता है उतने काल तक सावद्यका पूर्णतया त्याग हो जाने से वह श्रावक महाव्रती जैसा हो जाता है ।

शंका—फिर तो सामायिक में स्थित श्रावक के संयमीपना प्राप्त होगा ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना । श्रावकके संयमघाती (प्रत्याख्यानावरण कषायका) कर्मका उदय है । संयमके अभाव में संयमीपना बन नहीं सकता ।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो उनके महाव्रतपना नहीं मानना चाहिए ।

उत्तर—उनके महाव्रतपना उपचार से माना जाता है, यद्यपि अन्तरंग में संयमघाती कर्मके उदय से मन्दविरति परिणाम है तथापि बाहर में हिंसादि सर्व पापों में उस वक्त वह आसक्त नहीं है अनासक्त बुद्धिवाला है इस दृष्टि से श्रावक को महाव्रती उपचार से कहते हैं । जैसे राजकुल में चैत्र सर्वत्र जाता है ऐसा कहते हैं, इसमें यद्यपि चैत्रनामा पुरुष अन्तःपुर आदि स्थानों में से किसी जगह नहीं भी जाता किन्तु रुकावट नहीं होने से कह देते हैं कि यह राजकुल में सर्वत्र जाता है । वैसे ही संयमघाती कर्मोदय से पूर्ण संयम नहीं है किन्तु हिंसादि में उस वक्त विरत होने से महाव्रती है ऐसा कहा जाता है । जो अभव्य निर्ग्रन्थ लिंगधारी है ग्यारह अंगोंका पाठी है महाव्रतों का पालन भी करता है किन्तु उसके संयमभाव नहीं है फिर भी सामायिक व्रतके प्रभाव से उपरिम ग्रैवेयक विमान में उत्पत्ति होना बनता है ।

पवित्र स्थान पर, साधुके निवास में, चैत्यालय में अथवा अपने प्रोषधोपवास गृह में धर्मकथा को सुनना, सुनाना, चिन्तन इत्यादि में मन लगाते हुए आरंभरहित हुआ श्रावक उपवास करता है, इस तरह प्रोषधोपवास को करने की विधि है । भोगों का

पञ्चविधं प्रत्येतव्यम् । त्रसघातप्रमादबहुवधाऽनिष्टाऽनुपसेव्यविषयभेदात् । तत्र मधुमांसं सदा परिहर्तव्यम् त्रसघातं प्रति निवृत्तचेतसा मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसम्मोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहायानुष्ठेयम् । केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि । शृङ्गवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि । एतेषामुपसेवने बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान् । यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोन्यदनिष्टमित्यनिष्टत्तो निवर्तनं कर्तव्यमभिसन्धिनियमाभावे व्रतानुपपत्तेः । इष्टानामपि विचित्रवस्तुविकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्यादीनां परित्यागः कार्यो यावज्जीवितम् । अथ शक्तिर्नास्ति तर्हि कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूपनिवर्तनं कार्यम् । अतिथिसंविभागश्चतुर्धा भिद्यते । कुतः ? भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात् । मोक्षार्थमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धाय शुद्धचेतसा निरवद्या भिक्षा देया । धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपबृंहणानि दातव्यानि । औषधमपि

परिमाण पांच प्रकार का जानना चाहिये, त्रसघात, प्रमाद, बहुघात, अनिष्ट और अनुपसेव्य । इसीको बताते हैं—मधु और मांसका जीवन पर्यन्त के लिये त्याग करना त्रसघात वर्जन है । अर्थात् भोगों के परिमाण का पहला भेद वह है जिसमें त्रसघात होता है ऐसे पदार्थ का त्याग करना होता है । कार्य अकार्य के विवेक को नष्ट करने वाला मद्य-शराब प्रमादकारी है उसका त्याग करना चाहिए । केतकी के पुष्प, अर्जुन के पुष्प इत्यादि पुष्प बहुत जीवों के स्थान हैं तथा शृंगबेर मूलक—कन्द मूल, गीली हल्दी, निंब के पुष्प, अनन्तकायादि जो पदार्थ हैं उनका सेवन करने से बहुत जीवों का घात होता है और फल थोड़ा है अतः उसका त्याग श्रेयस्कर है । यान, वाहन, आभरण आदि पदार्थों में मेरा इतने से प्रयोजन है मुझे इतने इष्ट है अन्य अनिष्ट है इस प्रकार विचार कर अनिष्ट का त्याग करना चाहिए । अभिप्राय पूर्वक जब तक वस्तु का त्याग नहीं किया जाता तब तक वह व्रत नहीं कहलाता है । जो इष्ट प्रयोजनभूत पदार्थ हैं उनमें भी विचित्र वस्तु, विकृत विकार पैदा करने वाला वेष या अलंकार आदि हैं वे अनुपसेव्य हैं उन पदार्थोका त्याग जीवन पर्यन्त के लिए कर देना चाहिए । यदि ऐसी शक्ति नहीं है तो कालकी मर्यादा लेकर वस्तुओं का प्रमाण कर शक्ति के अनुसार त्याग करना चाहिए ।

अतिथि संविभाग व्रत चार प्रकार का है भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय । मोक्ष में उद्यत हुए संयम में परायण, रत्नत्रय से शुद्ध ऐसे अतिथि मुनिको निर्दोष भिक्षा-आहार देना चाहिए । सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को बढ़ाने वाले धर्म के

योग्यमुपयोजनीयम् । प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति । चशब्दो वक्ष्यमाणगृहस्थधर्म-समुच्चयार्थः । कः पुनरसौ ?

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

आयुरिन्द्रियबलसंक्षयो मरणम् । अन्तग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थम् । मरणमेवान्तो मरणान्तः । मरणान्तः प्रयोजनमस्या मरणान्ते भवा वेति मारणान्तिकी । सच्छब्दः प्रशस्तवाची । लिखेर्ण्यन्तस्य युचि प्रत्यये सति तनूकरणेऽर्थे लेखनेति सिध्यति । ततः कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखनेति समासार्थः कथ्यते । जोषितेति जुषि प्रीतिसेवनयोरिति तृन्नन्तस्यार्थद्वये सिद्धिः । ततो मारणान्तिकीं सल्लेखनां महत्या प्रीत्या स्वयमेव सेविता गृहीति सम्बन्धः क्रियते । ननु सल्लेखनामास्थितस्य स्वाभिसन्धिपूर्वकायुरादिनिवृत्तेरात्मवधः

उपकरण देना चाहिए । योग्य शुद्ध प्रासुक औषध देना चाहिए । परम धर्मश्रद्धा से प्रतिश्रय-आश्रय देना चाहिए । इस प्रकार ये चार दान देने चाहिए । सूत्र में च शब्द आगे कहे जाने वाले गृहस्थ धर्मका समुच्चय करने के लिए आया है ।

अब वह धर्म कौनसा है सो बताते हैं—

सूत्रार्थ—मरण के अन्त में होने वाली सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करना चाहिए ।

आयु, इंद्रिय और बलका नाश हो जाना मरण है । उस भवका मरण होना मरणान्त है, मरणान्त है प्रयोजन जिसका अथवा मरणान्त में जो होवे वह मारणान्तिकी कहलाती है । सत् शब्द प्रशंसावाची है, लिख धातु कृश करने अर्थ में है उसके आगे चुरादिगण में युच् प्रत्यय आने पर लेखना शब्द बनता है । बाह्य में शरीर का और अभ्यन्तर में कषायों का और उनके कारणों का क्रम से कम करना सम्यग्लेखना सल्लेखना कहलाती है । यह सल्लेखना शब्द का अर्थ है । जुषि धातु प्रीति और सेवन अर्थ में आता है । उन दोनों अर्थों में जुष धातु से तृन् प्रत्यय आकर 'जोषिता' शब्द निष्पन्न होता है । इससे यह फलितार्थ होता है कि मरणके अन्त में होने वाली सल्लेखना को गृहस्थ को बड़ी प्रीतिपूर्वक स्वेच्छा से सेवन करना चाहिए ।

शंका—सल्लेखना करने वाला व्यक्ति अभिप्रायपूर्वक अपनी आयु आदि प्राणों का त्याग करता है अतः यह आत्मवध कहलायेगा ?

प्राप्नोतीति चेतन्न—अप्रमत्तत्वात् । प्रमत्तयोगाद्धि प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्युक्तं; न चावश्यम्भाविनि मरणेऽस्य सल्लेखनां कुर्वतो रागद्वेषमोहयोगोऽस्ति येनात्मवधदोषः सम्भाव्यते । रागाद्याविष्टस्य तु विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवत्येव । उक्तं च—

रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये ।
तेहिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणेजि णिद्दिट्ठा ।। इति ।।

किं च—मरणस्य स्वयमनिष्टत्वात् । यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसञ्चयपरस्य गृहविनाशोऽनिष्टस्तद्विनाशकारणे चोपस्थिते यथाशक्ति परिहरति, दुष्परिहरे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते । एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसञ्चये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति । तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति, दुष्परिहरे च यथा स्वगुणविनाशो

समाधान—ऐसा नहीं है, सल्लेखना अप्रमत्त-सावधानीपूर्वक की जाती है, प्रमाद के योग से जो प्राणों का घात किया जाता है वह हिंसा है ऐसा अभी कह आये हैं, अतः जहां प्रमाद योग नहीं है वह घात या वध नहीं कहलाता । मरण तो अवश्य होने वाला है उस वक्त सल्लेखना को करने वाले व्यक्ति के राग द्वेष मोह का योग तो होता नहीं जिससे कि आत्म वध का दोष लगे, अर्थात् राग द्वेषादि नही होने से सल्लेखना विधि में आत्म वध का दोष नहीं आता । जो व्यक्ति राग द्वेष से युक्त है और विष शस्त्र आदि उपकरण के प्रयोग से अपना घात करता है उसके अवश्य ही आत्मवध होता है । कहा भी है—शास्त्र में रागादि की उत्पत्ति नहीं होने को अहिंसा कहते हैं और उन्हीं रागादि की उत्पत्ति होना हिंसा है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ।।१।।

दूसरी बात यह है कि मरण तो स्वयं अनिष्ट है, जैसे व्यापारी अनेक प्रकार के लेने देने के उपयोगी वस्तुओं के सञ्चय करने में तत्पर रहता है, उसका घट उक्त वस्तुओं से भरा होता है, उस घट का नाश व्यापारी को कभी भी इष्ट नहीं है, यदि कदाचित् गृह नाश का प्रसंग उपस्थित होता है तब वह पुरुष उसका परिहार करता है, यदि नाश के कारणों का परिहार नहीं होता तब पण्य-क्रय विक्रय की वस्तुओं का या रुपयों का नाश जैसे न हो वैसा प्रयत्न करता है । ठीक इसी प्रकार गृहस्थ भी व्रत शीलरूप पण्य वस्तुओं के सञ्चय करने में तत्पर रहता है उन व्रतादि का आधार जो शरीर है उसका नाश नहीं चाहता, किन्तु जब व्रतादि का नाश होने का प्रसंग उपस्थित होता है तब स्वगुणों का नाश न हो इस तरीके से प्रयत्न करता है, नाश के कारण का

न भवति तथा प्रयतत इति कथमात्मवधो भवेत् ? स्यान्मतं ते—पूर्वसूत्रेण सहैक एव योगः कर्तव्यो लघ्वर्थ इति । सत्यमेतत्, किं तु सप्ततयशीलवतः कदाचित्कस्य चिदेव गृहिणः सल्लेखनाभिमुख्यं भवति, न सर्वस्येति ज्ञापनार्थं पृथग्योगकरणम् । अथवा नायं सल्लेखनाविधिः श्रावकस्यैव दिग्विरत्यादिशीलवतः, किं तर्हि संयतस्यापीत्यविशेषज्ञापनार्थं पृथगुपदेशः कृतः । अत्राह-व्रतिना सम्यग्दृष्टिना भवितव्यमित्युक्तम् । तस्य च सम्यग्दर्शनस्योभयं प्रति साधारणाः केऽतिचारा इत्याह—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ॥२३॥

निःशङ्कितत्वादयो व्याख्याता दर्शनविशुद्धिरित्यत्र । तत्प्रतिपक्षे शङ्कादयो वेदितव्याः । प्रशंसासंस्तवयोः कुतो विशेष इति चेद्वाङ्मानसविषयभेदादिति ब्रूमः । मिथ्यादृष्टेर्मनसा ज्ञानचारित्र-

---

परिहार नहीं हुआ तो व्रतादि गुणोंका नाश तो होने ही नहीं देता, इस प्रकार की विधि को आत्म वध कैसे कह सकते हैं ? नहीं कह सकते ।

प्रश्न—सल्लेखना भी यदि श्रावक का व्रत है तो उसको पूर्व सूत्र के साथ जोड़ कर एक सूत्र बनाना चाहिये था ?

उत्तर—ठीक कहा ! किन्तु सात शीलोंका पालन करने वाले गृहस्थों में किसी किसी के कदाचित् सल्लेखना करने के भाव होते हैं सब गृहस्थों के ऐसे भाव नहीं हो पाते, इस बातको स्पष्ट करने हेतु पृथक् सूत्र रचा है । अथवा यह सल्लेखना विधि केवल दिग्व्रतादि के पालने वाले श्रावक के ही नहीं होती अपितु संयमी साधुजनों के भी होती है, इस अर्थको बतलाने के लिये पृथक् सूत्र रचा है ।

प्रश्न—व्रती पुरुष सम्यग्दृष्टि होना चाहिए ऐसा आपने पहले कहा था । उस सम्यग्दर्शन के दोनों अनगार और अगारी व्रतियों के समान रूप से जो अतीचार या दोष होते हैं वे कौन-कौन से हैं ?

उत्तर—अब इसीको सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि संस्तव ये पांच अतिचार सम्यग्दर्शन के होते हैं ।

दर्शनविशुद्धि भावना के कथन में निःशंकितत्वादि गुणों को कह दिया है । उन गुणों के प्रतिपक्षभूत शंका आदि अतिचार हैं ।

प्रश्न—प्रशंसा और संस्तव में क्या विशेषता है ?

गुणसम्भावना प्रशंसा । वाचा तत्प्रकाशनं संस्तव इत्ययमनयोर्भेदः । तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणाद्दर्शनमोहोदयादतिचरणमतिचारोऽतिक्रमोऽपवाद इति चोच्यते । त एते शङ्कादयः पञ्च तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणस्य सम्यग्दर्शनस्य तद्वतो वाऽतिचारा वेदितव्याः । स्यान्मतं-सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गं निःशङ्कितत्वादिलक्षणमुक्तम् । तस्याऽतिचारैरपि तावद्भिरेव भवितव्यमित्यष्टावतिचारा निर्देष्टव्या इति । तत्रैवान्तर्भावाद्व्रतशीलानां पञ्चपञ्चाऽतिचारान्विवक्षुणाऽऽचार्येण प्रशंसासंस्तवयोरितरानन्तर्भाव्य सम्यग्दृष्टेरपि पञ्चैवातिचारा उक्ता इति न प्रोक्तदोषः । इदानीं गृहिव्रतशीलातिक्रमसङ्ख्यानिर्देशार्थमाह—

व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥२४॥

व्रतानि च शीलानि च व्रतशीलानि व्याख्यातलक्षणानि तेषु व्रतशीलेषु । नन्वभिसन्धिपूर्वको नियमो व्रतमिति कृत्वा दिग्विरत्यादीनां व्रतग्रहणेन लब्धत्वाच्छीलग्रहणमनर्थकमिति चेत्तन्न-व्रतपरि-

---

उत्तर—वचन और मन: संबंधी भेद है, देखिये ! मनके द्वारा मिथ्यादृष्टि के ज्ञान, चारित्र की सम्भावना करना प्रशंसा है और वचन के द्वारा मिथ्यादृष्टि के गुणों को प्रगट करना संस्तव है, यही दोनों में भेद है । तत्त्वार्थ के अश्रद्धानरूप दर्शन मोहके उदय से अतिचरण होना अतिचार अतिक्रम या अपवाद कहलाता है । ये शंका आदि पांच अतिचार तत्त्वार्थ श्रद्धान स्वरूप सम्यक्त्व के या सम्यक्त्वधारी जीवके होते हैं ऐसा समझना चाहिए ।

शंका—सम्यग्दर्शन नि:शंकितत्व आदि आठ अंग वाला होता है ऐसा कहा गया है, उस सम्यक्त्व के अतिचार भी उतने होने चाहिए इसलिये आठ अतिचारों का प्रतिपादन करना चाहिए ?

समाधान—आठ अतिचारों को उन्हीं पांच में गर्भित किया गया है, क्योंकि व्रत और शीलों के पांच-पांच अतिचारों को कहने की विवक्षा रखने वाले आचार्य ने प्रशंसा और संस्तव में इतर अतिचारों को गर्भित कर सम्यग्दृष्टि के भी पांच ही अतिचार बतलाये हैं अत: उक्त दोष नहीं आता है ।

अब गृहस्थों के व्रत और शीलों के अतिचारों की संख्या बताते हैं—

सूत्रार्थ—व्रत और शीलों के क्रमश: पांच-पांच अतिचार होते हैं ।

व्रत और शील पदों में द्वन्द्व समास है । व्रतादिका व्याख्यान कर दिया है ।

शंका—अभिप्राय पूर्वक नियम लेना व्रत है ऐसा व्रत का लक्षण है, दिग्विरति इत्यादि व्रत ही हैं । व्रत शब्द के ग्रहण से सबका ग्रहण हो जाता है अत: शील शब्दका ग्रहण सूत्र में व्यर्थ ही किया गया है ?

रक्षणं शीलमित्यस्यार्थस्य द्योतनार्थं शीलग्रहणं कृतम्। तेन दिग्विरत्यादीनि शीलानीति प्रागुक्तमुपपन्नं भवति। यद्यपीदं सूत्रमविशेषेणोक्तं, तथापि वक्ष्यमाणबन्धनवधच्छेदादिवचनसामर्थ्यादत्र गृहिव्रतशील-संप्रत्ययो भवति। तर्हि बन्धवधच्छेदादयो गृहस्थस्यैव सम्भवन्ति, नाऽनगारस्येति। पञ्चपञ्चेत्येत-द्वीप्सायां द्वित्ववचनम्। यो यः क्रमो यथाक्रमं—क्रमस्यानतिवृत्त्येत्यर्थः। अतिचारग्रहणमनुवर्तते। ततो वक्ष्यमाणा अतिचाराः। पञ्चस्वेष्वणुव्रतेषु सप्तसु शीलेषु सूत्रोक्तक्रमानतिक्रमेण पञ्चपञ्च-भवन्तीति सिद्धम्। अत्राह—यद्येवं तस्मादुच्यतां तावदाद्यस्याऽहिंसाणुव्रतस्य केऽतिचारा येभ्योऽयं निवृत्तो निरपवादो भवतीत्यत्रोच्यते—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणाऽन्नपाननिरोधाः ॥२५॥

समाधान—ऐसा नहीं है। व्रतके रक्षण करने वाले को शील कहते हैं। इस तरह का अर्थ स्पष्ट करने हेतु शील शब्दका ग्रहण किया है। इसीसे दिग्विरति आदि शील हैं ऐसा पहले का कथन व्यवस्थित हो जाता है। यद्यपि यह सूत्र सामान्य से कहा गया है कि व्रत शीलों के पांच-पांच अतिचार होते हैं, इसमें यह विशेष नहीं बताया कि किस व्रती के ये अतिचार हैं, किन्तु अगले सूत्र में बन्धन वध छेद इत्यादि शब्द द्वारा अतिचार कहेंगे, उन शब्दों की सामर्थ्य से ही यहां पर ये अतिचार गृहस्थ के व्रत शीलों के हैं ऐसा बोध हो जाता है। क्योंकि ये बन्धन वध छेद इत्यादि रूप क्रियायें गृहस्थ के ही सम्भव हैं अनगार के नहीं। वीप्सा अर्थ में पञ्च पञ्च ऐसा दो बार शब्द प्रयोग हुआ है। जिसका जो क्रम है उसका उल्लंघन न करने को यथा क्रम कहते हैं। अतिचार शब्दका अनुवर्त्तन चल रहा है, उससे आगे कहे जाने वाले अतिचार हैं ऐसा बोध होता है। पांच अणुव्रत और सात शीलों में सूत्रोक्त क्रम से पांच-पांच अतिचार होते हैं ऐसा सिद्ध होता है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो पहले अहिंसा अणुव्रत के कौन-कौन से अतिचार हैं जिन अतिचारों से निवृत्त हुआ यह गृहस्थ निर्दोष कहलाता है?

उत्तर—अब इसीको सूत्र द्वारा बताते हैं—

सूत्रार्थ—बन्ध, वध, छेद, अतिभार का आरोपण और अन्नपान का निरोध ये पांच अतिचार अहिंसाणुवृत के हैं।

अभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्धहेतुः कीलकादिषु रज्वादिभिर्व्यतिषङ्गो बन्धनं बन्ध इत्युच्यते। दण्डकशावेत्रादिभिः प्राणिनामभिहननं वध इति गृह्यते, न तु प्राणव्यपरोपणं—ततः प्रागेवास्य विनिवृत्तत्वात्। कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदनं छेद इतिकथ्यते। न्याय्याद्भारादतिरिक्तस्य भारस्य वाहनमतिलोभाद्गवादीनामति भारारोपणमिति गम्यते। अन्नं च पानं चान्नपाने तयोर्निरोध. गवादीनां कुतश्चित्कारणात्क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमित्यर्थः। एते पञ्चाऽहिंसाणुव्रतस्यातिचारा भवन्तीत्येवमवसेयम्। सत्याणुव्रतस्यातिचारानाह—

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥

अभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेष्वन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमतिसन्धापनं वा मिथ्योपदेश इत्युच्यते। रहस्येकान्ते स्त्रीपुंसाभ्यामनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य यत्प्रकाशनं तद्रहोभ्याख्यानमिति वेदितव्यम्। कूटो व्यलीक इत्यर्थः। लेखनं लिख्यत इति वा लेखः, कूटश्चासौ लेखश्च कूटलेखस्तस्य

अपने इष्ट स्थान पर जाने में जो उत्सुक है उसको रोकने के लिये कीला खूंटी आदि में रस्सी आदि से बांध देना बन्ध कहलाता है। दण्ड, कोड़ा, बेंत आदि से प्राणियों को पीटना वध है, यहां पर वध शब्द से प्राणघात अर्थ नहीं लेना, क्योंकि ऐसे प्राणी घातका तो उसने पहले ही त्याग कर दिया है। कान, नाक इत्यादि अवयवों को काटना छेद है। न्याय भार से अधिक भार लादना अर्थात् बैल, भैंसा, घोड़ा आदि पशुओं पर अत्यंत लोभवश शक्ति से ज्यादा भार डाल देना अधिक बोझा लादना अतिभारारोपण कहलाता है। अन्न और पानीका निरोध करना अर्थात् गाय, बैल, घोड़ा आदि को भूख प्यास की बाधा किसी कारणवश देना अन्नपान निरोध नामका अतिचार कहा जाता है। ये पांच अहिंसाणुव्रत के अतिचार हैं ऐसा जानना चाहिए।

सत्याणुव्रत के अतिचार बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूट लेखक्रिया, न्यासापहार और साकार मन्त्र भेद ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

अभ्युदय और निःश्रेयस सम्बन्धी क्रिया विशेषों में दूसरों को विपरीत प्रवर्त्तन कराने वाले वचन या ठगने के वचन बोलना मिथ्योपदेश है। गुप्त एकांत स्थान पर स्त्री पुरुष द्वारा की गयी क्रिया विशेष को जो प्रगट किया जाता है उसको रहोभ्याख्यान कहते हैं। असत्य को कूट कहते हैं, लेखनको लेख कहते हैं कूट और लेख पदका

करणमनुष्ठानं कूटलेखक्रिया। अन्येनानुक्तं यत्किञ्चित्परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति वञ्चनानिमित्तं पत्रादौ लेखनमिति तात्पर्यार्थः। न्यस्यत इति न्यासो निक्षेपस्तस्यापहरणं न्यासापहारः। कोऽर्थः? हिरण्यादिद्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यानस्याल्पसंख्यानमादधानस्यैवमित्यनुज्ञावचनमित्ययमर्थः। मन्त्रस्य भेदनं मन्त्रभेदः। सहाऽऽकारेण वर्तते साकारः। साकारश्चासौ मन्त्रभेदश्च साकारमन्त्रभेदः। अस्यापि कोऽर्थः? अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूविक्षेपादिभिः पराभिप्रायमुपलभ्य तदाविष्करणमसूयादिनिमित्तमित्ययमर्थः। त एते सत्याणुव्रतस्य पञ्चातिक्रमा वेदितव्याः। अचौर्याणुव्रतस्याऽतिचारानाह—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥

कर्मधारय समास करना। कूट लेख क्रिया-झूंठे लेख लिखना अर्थात् अन्य ने कुछ कहा नहीं है फिर उसके ईशारे आदि किसी प्रयोग से अभिप्राय से कुछ भी समझकर उसने ऐसा कहा है या किया है इत्यादिरूप से ठगने हेतु पत्र आदि में लिख देना कूट लेख क्रिया कहलाती है। रखने को न्यास कहते हैं, अर्थात् निक्षेप-रखी वस्तु को न्यास कहते हैं, उसका अपहरण करना, अर्थात् सुवर्ण आदि द्रव्यको रखकर कोई उसकी संख्या को भूल गया है वह पुरुष अल्प संख्या को स्मरण कर उतना ही वापस लेता है तो उसको उतना ही देना, शेष को जान बूझकर लोभवश नहीं देना न्यासापहार है अभिप्राय यह है कि किसी ने किसी व्यक्ति के पास कुछ धनादि को धरोहर रूप से रखा या कोई चीज रखकर कर्जा लिया समय पर वह भूल गया कि कितना द्रव्य रखा था उससे थोड़ा ही द्रव्य मांगता है तो उसको उतना ही देना पूरा याद नहीं दिलाना न्यासापहार अतिचार है। मन्त्र का भेद मन्त्र भेद कहलाता है। आकार सहित को साकार कहते हैं। मन्त्र भेद और साकार पद में कर्मधारय समास है, इसका अर्थ है कि अर्थ प्रकरण से शरीर के विकार से, भ्रू के चलाने आदि से दूसरों के अभिप्राय को समझकर ईर्षा वश उसको प्रगट करना साकार मन्त्र भेद नामका अतिचार है। ये सब मिलकर सत्याणुव्रत के पांच अतिचार होते हैं।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—स्तेन प्रयोग, स्तेनप्रयोग से लाया हुआ धन ग्रहण करना, राज्य के विरुद्ध अतिक्रम करना, कम अधिक माप तौल करना और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच

स्तेनश्चोरः । प्रयोजनं प्रयोगः । प्रयुज्यते येन यस्मिन्यस्माद्वा प्रयोगः । स्तेनस्य प्रयोगः स्तेन-प्रयोगः । अस्य तात्पर्यार्थः कथ्यते—मुष्णन्तं पुरुषं स्वयमेव वा प्रयुङ्क्तेऽन्येन वा प्रयोजयति प्रयुक्तमनु-मन्यते वा यत् स स्तेनप्रयोग इति । तेन चोरेणाहृतमानीतं यद्द्रव्यं चेतनमचेतनं वा तत्तदाहृतम् । तदाहृतस्यादानं ग्रहणं तदाहृतादानम् । अस्यायमर्थः—अप्रयुक्तेनाऽननुमतेन च चोरेणानीतस्य वस्तुनो ग्रहणं तदाहृतादानं भवतीति । विरुद्धं परचक्राक्रान्तमित्यर्थः । राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम् । विरुद्धं च तद्राज्यं च विरुद्धराज्यम् । उचितन्यायादन्येन प्रकारेण द्रव्यस्यादानं ग्रहणमतिक्रमणमतिक्रमो विलंघनमित्यर्थः । विरुद्धराज्यस्यातिक्रमो विरुद्धराज्यातिक्रमः । विरुद्धराज्ये ह्यल्पमूल्यलभ्यानि महार्घाणि द्रव्याणीत्यतिलोभाभिभूतस्यातिक्रमणबुद्धिर्जायते । प्रस्थादिकं मानं, तुलादिकमुन्मानम् । मानं चोन्मानं च मानोन्माने । हीनं चाधिकं च हीनाधिके । हीनाधिके मानोन्माने यत्र कर्मणि तद्धीनाधिकमानोन्मानम् । न्यूनेनान्यस्मै देयमभ्यधिकेन स्वयं ग्राह्यमित्येवमादिकूटप्रस्थादिप्रयोग इत्यर्थः ।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं । स्तेन चोर को कहते हैं । जिसके द्वारा अथवा जिसमें स्तेन का प्रयोग होता है वह स्तेन प्रयोग है, इसका तात्पर्य यह है कि चोरी करने वाले पुरुष को चोरी में लगाना, अथवा दूसरे को कहकर चौर्य क्रम में नियुक्त करवाना, अथवा कोई चोरी कर रहा है उसकी अनुमोदना करना यह सर्व क्रिया स्तेन प्रयोग कहलाती है । उस चोर के द्वारा चुराकर लाया गया जो चेतन अचेतन द्रव्य है उसको ग्रहण करना नदाहृता दान है । इसका स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है—चोर को चोरी करने में प्रयुक्त नहीं किया उसको अनुमोदन भी नहीं दिया है किन्तु चोर के द्वारा लायी गयी वस्तु को ग्रहण करना तदाहृतादान अतिचार है । पर चक्र से आक्रान्त को विरुद्ध कहते हैं, राजा के भाव या कर्मको राज्य कहते हैं । विरुद्ध राज्य पद में कर्मधारय समास है । उचित न्याय को छोड़कर अन्य प्रकार से द्रव्यको ग्रहण करना विरुद्ध राज्यातिक्रम है । (अतिक्रम का अर्थ उल्लंघन करना है) विरुद्ध राज्यातिक्रम अर्थात् विरुद्ध राज्य में (दूसरे राजा के राज्य में) महा कीमती द्रव्य थोड़ी कीमत में मिल जाते हैं उन द्रव्यों को अति लोभ के कारण राज्य कानून का भंग कर लाने की बुद्धि होती है, उन द्रव्यों को जो क्रम भंग करके लाते हैं वह विरुद्ध राज्यातिक्रम कहलाता है । (छिपाकर एक देश से दूसरे देश में वस्तुओं का निर्यात करना इत्यादि) प्रस्थ (सेर या किलो) आदि को मान कहते हैं और तुला आदि को उन्मान कहते हैं । मान और उन्मान पदों में तथा हीनाधिक पदों में द्वन्द्व समास है । हीन अधिक है मान उन्मान जिस क्रिया में उसे हीनाधिक मानोन्मान कहते हैं । भाव यह है कि कम माप तौल से तो दूसरे को देना और अधिक माप तोल से स्वयं लेना इत्यादि खोटे प्रस्थादिका प्रयोग करना

सदृशानि कृत्रिममणिमुक्तादिद्रव्याणि प्रतिरूपकाणीत्युच्यन्ते। तैर्वञ्चनापूर्वकं व्यवहरणं प्रतिरूपकव्यवहारः। एतेषु च पापपरपीडाराजभयादयो दोषा लोके प्रतीताः। त इमे पञ्चाऽदत्तादानाऽणुव्रतस्याऽतिचारा बोद्धव्याः। संप्रति स्वदारसन्तोषाणुव्रतस्यातिचारानाह—

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडा कामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥

सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चाविर्भावाद्विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्युच्यते। परस्य विवाहः परविवाहस्तस्य करणं परविवाहकरणम्। चारित्रमोहस्त्रीवेदाद्युदयप्रकर्षात्परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी। ततः कुत्सिता इत्वरी इत्वरिका। अत्र कुत्सायां कः। या एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता स्वीकृतेत्युच्यते। या पुनर्गणिकात्वेन पुंश्चलीत्वेन वा परपुरुषगमनशीला स्वामिविरहिता साऽपरिगृहीतेति कथ्यते। परिगृहीता चापरिगृहीता च परिगृहीतापरिगृहीते। इत्वरिके च ते परिगृहीतापरिगृहीते च इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीते। तयोर्गमनमित्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनमिति निरुच्यते।

हीनाधिक मानोन्मान नामका अतिचार है। सदृश-समान कृत्रिम मणि मोती आदि द्रव्यों को प्रतिरूपक कहते हैं। उनके द्वारा ठगने के अभिप्राय से व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार अतिचार है। अर्थात् नकली पदार्थों को असली कहकर बेचना आदि। इन पांचों क्रियाओं में दूसरे जीवों को पीड़ा होती है, अपने को पाप लगता है राजा का भय भी होता है इत्यादि दोष प्रत्यक्ष ही लोक में प्रतीत होते हैं। ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतिचार जानने चाहिये।

अब स्वदार सन्तोष अणुव्रत के अतिचारों को कहते हैं—

सूत्रार्थ—परका विवाह करना, परिगृहीत इत्वरिकागमन, अपरिगृहीत इत्वरिकागमन, अनंगक्रीडा और कामतीव्राभिनिवेश ये पांच स्वदार सन्तोष व्रतके अतिचार हैं।

साता वेदनीय और चारित्र मोह के उदय होने पर कन्या का वरण करना विवाह है। परके विवाह को परविवाहकरण कहते हैं। चारित्रमोह के भेद स्वरूप स्त्री वेद के तीव्र उदय से परपुरुष के पास जो जाती है उस स्त्रीको इत्वरी कहते हैं, कुत्सित इत्वरी इत्वरिका है, इसमें कुत्सा (खराब) अर्थ में क प्रत्यय आया है। जो एक पुरुष पति वाली है स्वीकृत है वह परिगृहीता है और जो वेश्या या व्यभिचारिणीरूप से परपुरुष के पास जाती है स्वामी रहित है वह स्त्री अपरिगृहीता कहलाती है। परिगृहीता अपरिगृहीता में द्वन्द्व करके पुनः इत्वरिका पद के साथ कर्मधारय समास करना। तथा

मेढ़्ं योनिश्चोचितमङ्गम् । ततोऽन्यानि गुदमुखादीन्यनङ्गानि । तेषु क्रीडनं रमणमनङ्गक्रीडेति परिभाष्यते । कामोऽनङ्गः प्रसिद्धः । तीव्रः प्रवृद्धोऽभिनिवेशः परिणाम इति कथ्यते । तीव्रश्चासावभिनिवेशश्च तीव्राभिनिवेशोऽनुपरतवृत्त्यादिः । कामस्य तीव्राभिनिवेशः कामतीव्राभिनिवेशः । पुनः परविवाहकरणादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्ववृत्तिः । त इमे पञ्च स्वदारसन्तोषाणुव्रतस्यातिचारा वेदितव्याः । ननु दीक्षितातिबालातैर्यग्योन्यादिषु परिहर्तव्यासु वृत्तिरप्यतिचारोऽस्ति, ततस्तत्संग्रहः व्रतो भवतीति चेत्—कामतीव्राभिनिवेशात्तत्संग्रह इति ब्रूमः । अत्र पूर्वोक्त एव दोषो राजभयलोकापवादादिर्बोद्धव्यः । परिग्रहविरमणाणुव्रतस्याऽतिचाराऽवबोधनार्थमाह—

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।।२९।।

क्षेत्रं सस्योत्पत्त्यधिष्ठानम् । वास्तु गृहम् । हिरण्यं रूप्यादिकं व्यवहारतन्त्रम् । सुवर्णं प्रतीतम् । धनं गवादि । धान्यं व्रीह्यादि । दासीदासं भृत्यस्त्रीपुंसवर्गः । कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि

तत्पुरुष समास द्वारा गमन शब्द जोड़ना । मेढ़्-पुरुष का लिंग और स्त्री की योनि उचित अंग है, उनसे अन्य गुदा मुख इत्यादि अनंग हैं उनमें रमण अनंग क्रीडा कहलाती है । अनंग का अर्थ काम प्रसिद्ध ही है । प्रवृद्ध परिणाम तीव्र अभिनिवेश है अर्थात् सतत् कामेच्छा । काम तीव्राभिनिवेश में तत्पुरुष समास है । फिर परविवाह करण आदि पदों में इतरेतर द्वन्द्व समास है । ये स्वदार सन्तोष व्रत के पांच अतिचार हैं ।

शंका—दीक्षित स्त्री, अति बाला, तिर्यंचनी इत्यादि त्याज्य स्त्रियों में गमन प्रवृत्तिरूप अतिचार माना गया है उसका संग्रह भी इन अतिचारों में होना चाहिए ?

समाधान—हमने उस अतिचार को कामतीव्राभिनिवेश नामके अतिचार में अन्तर्भूत किया है । उपर्युक्त अतिचारों में पूर्ववत् राजभय, लोकोपवाद इत्यादि दोष आते हैं ऐसा समझना चाहिए ।

परिग्रह प्रमाण अणुव्रत के अतिचार बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—खेत गृह, चांदी सोना, धन धान्य, दासी दास और कुप्य पदार्थों के प्रमाण का अतिक्रमण कर जाना परिग्रह प्रमाण अणुव्रत के पांच अतिचार हैं ।

धान्यों के उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र कहते हैं । वास्तु घर है हिरण्य चांदी आदि लेन देन के व्यवहार का कारणभूत जो द्रव्य है । वह हिरण्य है । सुवर्ण प्रसिद्ध ही है । गाय आदि को धन कहा जाता है । चावल आदि को धान्य कहते हैं । दासीदास अर्थात्

प्रोच्यते । क्षेत्रं च वास्तु च क्षेत्रवास्तु । हिरण्यं च सुवर्णं च हिरण्यसुवर्णम् । धनं च धान्यं च धनधान्यम् । दासी च दासश्च दासीदासम् । क्षेत्रवास्तु च हिरण्यसुवर्णं च धनधान्यं च दासीदासं च कुप्यं च क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यानि । एतावानेव परिग्रहो मम नातोऽन्य इति परिच्छित्ति: प्रमाणम् । अतिलोभवशादतिरेकोऽतिक्रम: । प्रमाणस्याऽतिक्रम: प्रमाणातिक्रम: । एतस्य क्षेत्रवास्त्वादिभि: प्रत्येकमभिसम्बन्धत्वात्पञ्चविधत्वं बोद्धव्यम् । क्षेत्रवास्त्वादीनां प्रमाणातिक्रमा: क्षेत्रवास्त्वादिप्रमाणातिक्रमा: । ते पञ्च परिग्रहविरतेरणुव्रतस्यातिचारा बोद्धव्या: । इदानीं दिग्विरमणशीलस्याऽतिचारानाह—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।।३०।।

परिमितस्य दिगवधे: प्रमादमोहव्यासङ्गादिभिरतिलंघनं व्यतिक्रम इत्युच्यते । ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च तानि । तेषां व्यतिक्रमा ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमा: । सम्बन्धिनां त्रैविध्याद्व्यतिक्रमस्यापि त्रैविध्यम् । ऊर्ध्वव्यतिक्रमोऽधोव्यतिक्रमस्तिर्यग्व्यतिक्रमश्चेति । तत्र पर्वततरुभूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वा-

---

स्त्री पुरुष रूप सेवक जन । रेशमी, कपास, कौशेप चन्दनादि को कुप्य कहते हैं । क्षेत्र और वास्तु, हिरण्य और सुवर्ण, धन और धान्य, दासी और दास इस तरह दो-दो पदों का द्वन्द्व करके फिर कुप्य पदके साथ द्वन्द्व समास किया है । इन पदार्थों में से मुझे इतने ही प्रयोजनीभूत हैं इनसे अधिक नहीं इस प्रकार प्रमाण करते हैं पुन: अतिलोभ के वश में होकर उक्त प्रमाण का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम कहलाता है । क्षेत्र वास्तु इत्यादि प्रत्येक युगल के साथ प्रमाणातिक्रम शब्द जुड़ता है और इससे क्षेत्र वास्तु आदि के पांच प्रमाणाति क्रम बन जाते हैं ये परिग्रह प्रमाण अणुव्रत के पांच अतिचार जानने चाहिए ।

अब दिग्विरति शील के अतिचारों को कहते हैं—

सूत्रार्थ—ऊर्ध्व अतिक्रम, अधो अतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्र वृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पांच दिग्व्रत के अतिचार जानने ।

मर्यादित दिशा के सीमा का प्रमाद मोह व्यासंग आदि के कारण उल्लंघन करना व्यतिक्रम है । ऊर्ध्व अध: और तिर्यग इन तीनों का उल्लंघन करना क्रमश: तीन व्यतिक्रम–अतिचार हैं । संबंधी तीन होने से अतिचार भी तीन हुए ऊर्ध्व व्यतिक्रम, अधो व्यतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम । पर्वत, वृक्ष, भूमि आदि के चढ़ने में ऊर्ध्व व्यतिक्रम होता है । कूप में उतरने आदि में अधो व्यतिक्रम होता है और भूमि के बिल, पर्वत के

तिक्रमो भवति । कूपावतरणादेरधोदिगवधेरतिवृत्तिर्वेदितव्या । भूमिबिलगिरिदरीप्रवेशादेस्तिर्यगतिचारो द्रष्टव्यः । क्षेत्रस्य वर्धनं वृद्धिराधिक्यं क्षेत्रवृद्धिः । या दिक् पूर्वं योजनादिभिः परिच्छिन्ना न तु क्षेत्रवास्त्वादिवत्परिग्रहबुद्धया स्वीकृता, तस्याः पूर्वप्रमाणाल्लोभवशेनाधिकाकांक्षणमित्यर्थः । एकस्याः स्मृतेरन्या स्मृतिः स्मृत्यन्तरम् । तस्याधानं मनस्यारोपणं स्मृत्यन्तराधानं पूर्वकृतदिक्परिमाणाऽननुस्मरणमित्यर्थः । ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमाश्च क्षेत्रवृद्धिश्च स्मृत्यन्तराधानं च ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि । त एते ऊर्ध्वातिक्रमादयः पञ्च दिग्विरमणगुणव्रतस्याऽतिचारा भवन्ति । देशविरतिशीलातिक्रमावधारणार्थमाह—

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

स्वयं सङ्कल्पिताध्यारूढक्षेत्रादन्यत्र कर्तव्यस्यात्रानयेति यदाज्ञापनं तदानयनमित्याख्यायते । परिच्छिन्नदेशाद्बहिः स्वयमगत्वा त्वमेवं कुर्विति स्वाभिप्रेतव्यापारसाधनायान्यस्य प्रेष्यस्य कर्मकरस्य प्रयोजनं प्रेष्यप्रयोग इति निरुच्यते । संकल्पिते देशे स्थितस्य ततो बहिःस्थिता-व्यापारकरान्पुरुषानुद्दिश्य

दर्रों आदि में प्रवेश करते समय तिर्यग्व्यतिक्रम होता है । क्षेत्र की वृद्धि करना क्षेत्र वृद्धि अतिचार है । पहले योजन आदि के द्वारा जो दिशा की मर्यादा की थी उसमें क्षेत्र वास्तु आदि के समान परिग्रह बुद्धि नही रहती है, वह जो मर्यादा की थी, लोभवश उससे अधिक की कांक्षा रखना क्षेत्रवृद्धि अतिचार है । एक स्मृति में दूसरी स्मृति होना स्मृत्यन्तर है उसका आधान मनका उसमें लगना स्मृत्यन्तराधान है, अर्थात् पहले के किये हुए दिशाओं के जो प्रमाण थे उनको भूल जाना । इसप्रकार ऊर्ध्व अधः और तिर्यग् दिशाओं का व्यतिक्रमरूप तीन अतिचार तथा क्षेत्र वृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पांच दिग्विरति वृत के अतिचार हैं ।

देश वृत के अतिचारों को कहते हैं—

सूत्रार्थ—आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गल का क्षेपण ये पांच देशवृत के अतिचार हैं । स्वयं तो संकल्प किया है कि इस क्षेत्र से बाहर नहीं जावूंगा किन्तु कार्यवश उक्त क्षेत्र से बाहर दूसरे को यहां उस वस्तु को लावो ऐसा कहना आनयन कहा जाता है । नियमित देश से बाहर स्वयं न जाकर तुम वहां जाकर इस तरह काम करना ऐसा अपने इष्ट व्यापार सिद्ध करने हेतु नौकर को भेजना प्रेष्य प्रयोग कहलाता है । अपने नियम लिये हुए स्थान पर स्थित होकर वहां से जो बाहर के स्थान में स्थित पुरुष हैं उन कर्मचारियों को उद्देश्य करके खांसना आदि शब्द द्वारा

शूत्कृतादिशब्दस्यानुपातनं शब्दानुपात इति कथ्यते । तथा स्वशरीरप्रदर्शनं रूपानुपातः । शब्दश्च रूपं च शब्दरूपे । तयोरनुपातौ शब्दरूपानुपातौ । लोष्टादेः पुद्गलस्य क्षेपणं पुद्गलक्षेपः । आनयनं च प्रेष्यप्रयोगश्च शब्दरूपानुपातौ च पुद्गलक्षेपश्च आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः । एते देशविरमणस्य गुणव्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति । कथमिहातिक्रम इति चेदुच्यते—यस्मात्स्वयमनतिक्रामन्परेणातिक्रमयति ततोऽतिक्रम इति व्यपदिश्यते । यदि हि स्वयमतिक्रमेत तदाऽव्रतत्वमेवास्य स्यात् । संप्रत्यनर्थदण्डविरमणशीलस्यातिचारानाह—

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

रागोद्रेकात्सप्रहसनाशिष्टवाक्प्रयोगः कन्दर्पः । स एव परत्र दुष्टकायकर्मयुक्तः कौत्कुच्यम् । धाष्ट्र्यप्रायमबद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यम् । असमीक्ष्यकार्यस्याधिक्येन करणमसमीक्ष्याधिकरणम् । तत् त्रेधा व्यवतिष्ठतेमनोवाक्कायविषयभेदात् । तत्र मानसं परानर्थककाव्यादिचिन्तनम् । वाग्गतं निष्प्रयो-

---

इशारा करना शब्दानुपात है और अपने शरीर को दिखाकर कार्य कराना रूपानुपात है । इस तरह शब्द और रूपका अनुपात करना । लोष्ट आदि को फेंकना पुद्गल क्षेप है । आनयन आदि पदों में द्वन्द्व समास जानना चाहिए । इस प्रकार आनयन आदि ये पांच देश विरमण गुणव्रत के अतिचार हैं ।

प्रश्न—इनको अतिक्रम किस प्रकार कहते हैं ?

उत्तर—जिस कारण से यह व्यक्ति स्वयं इष्ट कार्यको मर्यादा के बाहर होने से नहीं करता मर्यादा का अतिक्रमण नही करता किन्तु परके द्वारा उसका उल्लंघन कराता है अतः व्यतिक्रम कहलाता है । यदि स्वयं करेगा तो उसके अव्रतपना होगा ।

अब अनर्थदण्ड विरमण नामके शील के अतिचार बताते हैं—

सूत्रार्थ—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्य अधिकरण और उपभोग परिभोग का आनर्थक्य ये पांच अनर्थदण्ड विरति के अतिचार हैं ।

रागके उद्रेक से ह्रास मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प है । परके प्रति शरीर की खोटी चेष्टा पूर्वक उक्त ह्रास वचन कहना कौत्कुच्य है । धृष्टता से सम्बन्ध रहित बहुत बकवास करना मौखर्य है । बिना सोचे व्यर्थ के बहुत से कार्य करना असमीक्ष्याधिकरण है । वह मन, वचन और कायके भेद से तीन प्रकार का है । परके व्यर्थ के काव्यादि का चिन्तन करना मानस असमीक्ष्याधिकरण है । व्यर्थ की कथायें कहना वचन असमीक्ष्याधिकरण है और परको पीड़ादायक जो कुछ भी शरीर द्वारा व्यर्थ की चेष्टा

जनकथाख्यानम् । परपीडाप्रधानं यत्किञ्चन वक्तृत्वं कायिकं च प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्तेतरपत्रपुष्पफलच्छेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात्, अग्निविषक्षारादिप्रदानं चारभेतेत्येवमादि, तदेतत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणं बोद्धव्यम् । अत्र सुप्सुपेत्यनेन मयूरव्यंसकादयश्चेत्यनेन वा वृत्तिः । यस्य यावतार्थेन योग्येनैवोपभोगपरिभोगौ प्रकल्प्येते तस्य तावानर्थ इत्युच्यते । ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं भवति । उपभोगश्च परिभोगश्चोपभोगपरिभोगौ । तयोरानर्थक्यमुपभोगपरिभोगानर्थक्यम् । कन्दर्पश्च कौत्कुच्यं च मौखर्यं चाऽसमीक्ष्याधिकरणं चोपभोगपरिभोगानर्थक्यं च कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि । त एते पञ्चानर्थदण्डविरतेर्गुणव्रतस्यातिचारा वेदितव्याः । इदानीं सामायिकशिक्षाव्रतस्यातिचारानाह—

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

कायवाङ्मनस्कर्म योग इत्यत्र योगशब्दार्थस्त्रिविध उक्तः । प्रणिधानं प्रयोगः परिणाम इत्यनर्थान्तरम् । क्रोधादिपरिणामवशाद्दुष्टं प्रणिधानं दुष्प्रणिधानम् । अन्यथा वा प्रणिधानं प्रयोजनं दुष्प्रणिधानम् । तत्कायादिभेदात्त्रिविधम् । कायदुष्प्रणिधानम् । वाग्दुष्प्रणिधानम् । मनोदुष्प्रणिधानं

करना कायिक असमीक्ष्याधिकरण है, तथा पीड़ादायक वचन, प्रयोजन के बिना गमन, बैठना, ठहरना, सचित्त अचित्त पत्र पुष्प फल का छेदना, भेदना, कूटना, फेंकना इत्यादि कार्य करना, अग्नि, विष, क्षार आदि को देना इत्यादि जो कार्य हैं वे सर्व ही असमीक्ष्याधिकरण नामका अतिचार है । असमीक्ष्याधिकरण शब्द 'सुप्सुपा' इस व्याकरण के सूत्र से अथवा 'मयूर व्यंसकादयः' इस सूत्र से निष्पन्न हुआ है । जिस व्यक्ति के जितने योग्य उपभोग परिभोग पदार्थों से कार्य चलता है वह उतना 'अर्थ' है और उससे अधिक अन्य अन्य पदार्थ रखना आनर्थक्य है । उपभोग और परिभोग पदका द्वन्द्व समास करके आनर्थक्य पदको तत्पुरुष समास से जोड़ना । पुनः कन्दर्प आदि पदोंका द्वन्द्व समास करना । ये पांच अनर्थ दण्ड विरति नामके गुणव्रतके अतिचार जानने चाहिए ।

अब सामायिक शिक्षा व्रत के अतिचार कहते हैं—

सूत्रार्थ—मन, वचन और काय योग की खोटी प्रवृत्ति, अनादर और स्मृति अनुपस्थान ये पांच सामायिक व्रत के अतिचार हैं । 'काय वाङ्मनस्कर्म योगः' इस सूत्र में योग शब्द का अर्थ और उसके तीन भेद कहे हैं । प्रणिधान, प्रयोग और परिणाम ये सब एकार्थवाची शब्द हैं । क्रोध आदि के आवेश से दुष्ट प्रणिधान होना दुष्प्रणिधान कहलाता है । अथवा विपरीत प्रणिधान को दुष्प्रणिधान कहते हैं । वह कायादि के भेद से तीन प्रकार का है । काय दुष्प्रणिधान, वचन दुष्प्रणिधान और मनः दुष्प्रणिधान ।

चेति । तत्र शरीरावयवानामनिभृतमवस्थानं कायगतम् । वर्णसंस्काराभावार्थागमकत्वं चापलादि वाग्गतम् । मनसोऽनर्पितत्वं मानसं चान्यथाप्रणिधानम् । योगानां दुष्प्रणिधानानि योगदुष्प्रणिधानानि । इति कर्तव्यं प्रत्यसाकल्याद्यथाकथंचित्प्रवृत्तिरनुत्साहोऽनादर इति कथ्यते । अनैकाग्र्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थानमित्याख्यायते । स्यान्मत ते—मनोदुष्प्रणिधानरूपत्वात्स्मृत्यनुपस्थानस्य पृथगुपादानमनर्थकमिति । तन्न । किं कारणम् ? तत्राऽन्याऽचिन्तनात् । मनोदुष्प्रणिधाने ह्यन्यत्किञ्चिदचिन्तयतश्चिन्तयत एव वा विषये क्रोधाद्यावेश औदासीन्येन वावस्थानं मनसोऽस्ति । इह पुनः परिस्पन्दनाच्चिन्ताया ऐकाग्र्येणानवस्थानमिति महाननयोर्भेदः । योगदुष्प्रणिधानानि चानादरश्च स्मृत्यनुपस्थानं च योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि । त एते पञ्च सामायिकशीलस्यातिक्रमा बोद्धव्याः । प्रोषधोपवासशिक्षाव्रतस्यातिचारानाह—

अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

शरीर के अवयवों को संवृत नहीं रखना कायदुष्प्रणिधान है । वर्ण का उच्चारण ठीक नहीं करना, अर्थ बिना समझे पढ़ना, चपलता से उच्चारणादि वचन दुष्प्रणिधान है । मनको स्थिर नहीं रखना इत्यादि मनः दुष्प्रणिधान है । योग दुष्प्रणिधान पद में तत्पुरुष समास करना । सामायिक सम्बन्धी कर्त्तव्य में पूर्णता नहीं करना जैसी चाहे वैसी प्रवृत्ति करना इत्यादिरूप अनुत्साह को अनादर कहते हैं । मनकी एकाग्रता नहीं होना स्मृतिअनुपस्थान है ।

शंका—स्मृति अनुपस्थान तो मनःदुष्प्रणिधान स्वरूप ही है अतः इसका पृथक्रूप से ग्रहण व्यर्थ है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, उसमें अन्य का अचिंतन है, अन्य जो कुछ भी चिंतन करते हुए अथवा नहीं करते हुए विषय में क्रोधादि का आवेश आना या उदासीन रहना मनोदुष्प्रणिधान कहलाता है और विचार बार-बार बदलने से एकाग्रता नहीं होना स्मृति अनुपस्थान है इस तरह इन दोनों में महान भेद है । योग दुष्प्रणिधान आदि तीन पदों में द्वन्द्व समास है । ये पांच सामायिक शीलके अतिचार समझने चाहिये ।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचारों को बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—बिना देखे, बिना शोधे स्थान पर उत्सर्ग करना, बिना देखे बिना शोधे स्थान से किसी वस्तु का ग्रहण करना, बिना देखे बिना शोधे स्थान पर संस्तर आदि का बिछाना, अनादर और स्मृति अनुपस्थान ये पांच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार हैं ।

जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्ष्यते चक्षुषाऽवलोक्यते स्मेति प्रत्यवेक्षितम् । न प्रत्यवेक्षितमप्रत्यवेक्षितम् । मृदुनोपकरणेन प्रमार्ज्यते प्रतिलिप्यते स्मेति प्रमार्जितम् । न प्रमार्जितमप्रमार्जितम् । मूत्रपुरीषादेरुत्सर्जनं निक्षेपणमुत्सर्गः । पूजोपकरणादेर्ग्रहणमादानम् । प्रावरणादिः सस्तरस्तस्योपक्रमणं प्रारम्भः संस्तरोपक्रमणम् । क्षुदभ्यर्दितत्वात्स्वावश्यकेऽनुत्साहोऽनादर इत्युच्यते । स्मृत्यनुपस्थानं व्याख्यातम् । उत्सर्गश्चादानं च संस्तरोपक्रमणं चोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानि । अप्रत्यवेक्षितं चाप्रमार्जितं चाप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जिते स्थाने । तयोरुत्सर्गादानसस्तरोपक्रमणान्यप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानि । तानि चानादरश्च स्मृत्यनुपस्थानं चेति । पुनर्विग्रहे द्वन्द्ववृत्तिः त एते पञ्च प्रोषधोपवासशीलस्यातिचारा भवन्ति । तृतीयशिक्षाव्रतस्यातिचारानाह—

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ।।३५।।

चित्तं ज्ञानम् । तेन सह वर्तत इति सचित्तः । चेतनावद्द्रव्यमित्यर्थः । तेनैव प्रस्तुतेन चित्तवता सम्बध्यते उपश्लिष्यते यस्म सम्बन्ध इत्याख्यायते । तेनैव सचित्तद्रव्येणाविभागवता सम्मिश्र्यते

जीव है अथवा नहीं है इस प्रकार नेत्र द्वारा जिसको देखा है वह प्रत्यवेक्षित है जो ऐसा नहीं है वह अप्रत्यवेक्षित कहलाता है। मृदु उपकरण द्वारा जो मार्जित शोधित हो चुका है वह प्रमार्जित है, जो ऐसा नहीं है वह अप्रमार्जित है । मूत्र पुरीष आदि का विसर्जन उत्सर्ग कहलाता है । पूजा के उपकरण आदि का ग्रहण आदान है । प्रावरण—चटाई या चादर आदि संस्तर कहलाता है । संस्तर का प्रारम्भ संस्तरोपक्रमण है । भूख से पीड़ित होने से अपनी आवश्यक क्रियाओं में उत्साह नहीं होना अनादर है । स्मृति अनुपस्थान का अर्थ कह चुके हैं । उत्सर्ग आदि पदों में द्वन्द्व समास है पुनः अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित का द्वन्द्व करके उनका उत्सर्ग आदि के साथ तत्पुरुष समास हुआ है और अनादर तथा स्मृति अनुपस्थान पदों को द्वन्द्व करके पूर्वके साथ जोड़ा है । ये पांच प्रोषधोपवास शील के अतिचार होते हैं ।

तीसरे शिक्षा व्रतके अतिचारों को कहते हैं—

सूत्रार्थ—सचित्ताहार, सचित्त सम्बन्ध आहार, सचित्त सम्मिश्र आहार, अभिषव आहार और दुःपक्व आहार ये पांच उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं । ज्ञानको चित्त कहते हैं उसके साथ जो रहता है वह सचित्त है अर्थात् चेतन युक्त द्रव्य सचित्त कहलाता है । उस सचित्त से सम्बन्ध उपश्लेष होना सचित्त सम्बन्ध है । उसी सचित्त द्रव्य के साथ विभाग रहित मिल जाना सचित्त सम्मिश्र है, सचित्त

व्यतिकीर्यत इति सम्मिश्रः। अत एव सचित्तसम्बन्धे संसर्गमात्रं विवक्षितम्। सम्मिश्रे तु सूक्ष्मजन्तुव्याकुलीकरणमित्यनयोर्महान्भेदोऽवसेयः। सचित्तादिषु प्रवृत्तिः कथं स्यादितिचेत्प्रमादसम्मोहाभ्यामिति ब्रूमः। सौवीरादिको द्रवो वृष्यो वा द्रव्यविशेषोऽभिषव इत्यभिधीयते। सान्तस्तण्डुलभावेनातिविक्लेदनेन वा दुष्टपक्वो दुःपक्वोऽसम्यक्पक्व इत्यर्थः। अनयोश्चाभ्यवहारे को दोष इति चेदुच्यते—इंद्रियमदवृद्धिसचित्तप्रयोगवातादिप्रकोपासयमादिस्तदभ्यवहारे दोषः स्यात्। आह्रियतेऽभ्यवह्रियत इत्याहारोऽशनादिः। स च सचित्तादिसम्बन्धभेदात्पञ्चधा। सचित्तश्च सम्बन्धश्च सम्मिश्रश्चाभिषवश्च दुःपक्वश्च सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाः। ते च ते आहाराश्चेति पुनः कर्मधारयः। त एते पञ्चोपभोगपरिभोगसङ्ख्यानशीलस्यातिचारा बोद्धव्याः। अतिथिसंविभागशिक्षाव्रतातिचारप्रदर्शनार्थमाह—

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।।३६।।

सम्बन्ध में संसर्ग मात्र विवक्षित होता है और सचित्त सम्मिश्र में सूक्ष्म जन्तु बिलकुल व्याप्त रहते हैं यही इनमें महान् भेद है।

शंका—व्रतीकी सचित्त आदि वस्तुओं में प्रवृत्ति किस प्रकार सम्भव है ?

समाधान—प्रमाद और मोह के कारण व्रती सचित्तादि में प्रवृत्ति करता है।

सौवीर आदि द्रव अथवा वृष्य (गरिष्ठ) को अभिषव कहते हैं। चावल पकने में जो अंदर से कच्चे रहते हैं या अधिक पक जाते हैं उसको दुष्ट पक्व–दुःपक्व कहते हैं।

प्रश्न—इन दोनों प्रकार की वस्तुओं के खाने में क्या दोष है ?

उत्तर—इंद्रियों में मद की वृद्धि होती है तथा सचित्त के खाने से वातादि का प्रकोप होता है, उससे असंयम होता है। इस प्रकार अभिषव और दुःपक्व पदार्थों के खाने से दोष उत्पन्न होते हैं। जो ग्रहण किया जाता है वह अशन आदि आहार है। उस आहार के सचित्त आदि के सम्बन्ध से पांच भेद होते हैं। सचित्त आदि पदों में द्वन्द्व करके पुनः आहार शब्द कर्मधारय समास करके जोड़ना। ये पांच उपभोग परिभोग प्रमाण नामके शील के अतिचार होते है।

अतिथि संविभाग शिक्षा व्रत के अतिचार बताते हैं—

सूत्रार्थ—सचित्त पर रखना, सचित्त से ढ़कना, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अतिथि संविभाग व्रतके अतिचार होते हैं।

सचित्तो व्याख्यातस्तस्मिन्सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपणमतिथिदेयाहारनिधानं निक्षेपः। अपिधानमावरणम्। तत्प्रकरणवशात्सचित्तेनैव सम्बध्यते—सचित्तापिधानमिति। परेण दात्रा व्यपदेशः परव्यपदेशः। अन्यत्र दातारः सन्तीति वा दीयमानोऽप्ययमन्यस्येति वा अर्पणमिति तात्पर्यार्थः। प्रयच्छतोप्यादरमन्तरेण दानं मात्सर्यमिति कथ्यते। कालस्य भोजनदानार्हस्यातिक्रमणं कालातिक्रमः। अनगाराणामयोग्ये काले भोजनमित्यर्थः। सचित्तनिक्षेपादीनामितरेतरयोगे द्वन्द्ववृत्तिः। त एते पञ्चाऽतिथिसंविभागशीलस्य दोषा भवन्ति। आह सप्तानामपि शीलानामतिचारा उक्ताः। इदानीं सल्लेखनायास्ते वक्तव्या इत्यत आह—

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥३७॥

जीवितं च मरणं च जीवितमरणम्। तस्याशंसा अभिलाषो जीवितमरणाशंसा। अवश्यहेयत्वे शरीरावस्थानाऽऽदरो जीविताशंसा। शरीरमिदमवश्य हेयं, जलबुद्बुदवदनित्यं, अस्यावस्थानं कथं

सचित्त शब्दका अर्थ कह चुके हैं। उस सचित्त पद्म पत्र आदि में अतिथि को देने योग्य पदार्थ को रखना सचित्त निक्षेप कहलाता है। अपिधान आवरण को कहते हैं। प्रकरणवश उसका सचित्त के साथ ही सम्बन्ध होता है उसे सचित्तापिधान कहते हैं। परदाता से दान दिलाना पर व्यपदेश है। अन्यत्र दातार हैं ऐसा कहना अथवा देय पदार्थ को अन्य को देना कि तुम देवो, इस तरह पर के द्वारा दान दिलाना पर-व्यपदेश कहलाता है। दानको देते हुए आदर भाव नहीं रखना मात्सर्य है। भोजन वेला का अतिक्रम करना कालातिक्रम है। अर्थात् साधुओं को अयोग्य काल में आहार देना कालातिक्रम कहलाता है। सचित्त निक्षेप आदि पदों में इतरेतर द्वन्द्व समास है। ये पांच अतिथि संविभाग शीलके अतिचार हैं।

प्रश्न—सात शीलों के अतिचार तो कह दिये। अब सल्लेखना के अतिचार कहने चाहिये?

उत्तर—अब इसी को कहते हैं—

सूत्रार्थ—जीने की इच्छा, मरने की इच्छा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पांच सल्लेखना के अतिचार होते हैं।

जीवित और मरण की आशंसा-अभिलाषा करना जीविताशंसा और मरणाशंसा कहलाती है। जो अवश्य नष्ट होने वाला है ऐसे शरीर की स्थिति की वांछा करना जीविताशंसा है। यह अवश्य त्याज्य है, जल के बुलबुले के समान अनित्य है, ऐसे

स्यादित्यादरो जीविताशंसा प्रत्येतव्या। रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्त-प्रणिधानं मरणाशंसेति व्यपदिश्यते। मित्रेषु सुहृत्सु अनुरागः सम्भ्रमो मित्रानुरागः। स च पूर्वसुकृत-सहपांसुक्रीडनाद्यनुस्मरणाद्भवति। एवं मया भुक्तं शयितं सुक्रीडितमित्येवमादिप्रीतिविशेषं प्रति चिन्ताप्रबन्धः सुखानुबन्ध इत्यभिधीयते। भोगाकांक्षायां नियतं चित्तं दीयते तस्मिंस्तेनेति वा निदान-मित्याख्यायते। जीवितमरणाशंसा च मित्रानुरागश्च सुखानुबन्धश्च निदानं चेति विग्रहेण द्वन्द्ववृत्तिः। त एते पञ्च सल्लेखनायाः क्रमव्यतिक्रमाः प्रत्येतव्याः। एवं सम्यग्दर्शनाऽणुव्रतशीलसल्लेखनानां यथोक्तशुद्धिप्रतिबन्धिनः सप्ततिरतिचाराः प्रयत्नतः परिहर्तव्याः। शक्तितस्त्यागो दानमित्युक्तमत-स्तत्स्वरूपमाह—

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

स्वस्य परस्य चोपकारोऽनुग्रह इत्युच्यते। स्वोपकारः पुण्यसञ्चयरूपः। परोपकारः सम्यग्-ज्ञानादिवृद्धिलक्षणः। अनुग्रहायानुग्रहार्थम्। आत्मात्मीयज्ञातिधनपर्यायवाचित्वेऽपि स्वशब्दस्य धन-

---

शरीर का अवस्थान (कुछ काल तक) किस प्रकार हो जाय इस तरह शरीर के प्रति कुछ आदर सा हो जाना जीविताशंसा कही जाती है। रोग या उपद्रव से आकुल होकर जीने में संक्लेश उत्पन्न होने से मरण के प्रति चित्त लग जाना कि मरण आ जाय तो भला इत्यादि स्वरूप मरणाशंसा कहलाती है। मित्रों में अनुराग आना मित्रानुराग है, मित्रों के साथ पहले बचपन में धूल आदि में क्रीड़ा की थी इत्यादि रूप स्मरण आ जाना मित्रानुराग नामका अतिचार है। मैंने इस तरह पहले भोगा था, शयन किया था, ऐसा खेला था इसप्रकार की प्रीति विशेष में मनका लग जाना सुखानुबन्ध है। भोगाकांक्षा में नियत रूप से चित्त का देना निदान है। जीविताशंसा आदि पदों में द्वन्द्व समास है। ये पांच सल्लेखना के अतिचार जानने चाहिए।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन, पांच अणुव्रत और सात शीलों के कुल मिलाकर सत्तर अतिचार होते हैं ये सर्व अतिचार मनकी शुद्धि को रोकने वाले हैं, इन अतिचारों का बड़े प्रयत्न से त्याग करना आवश्यक है। 'शक्तितस्त्यागो दानम्' ऐसा पहले कहा था।

अब उस दान का स्वरूप कहते हैं—

सूत्रार्थ—अनुग्रह के लिए धनका त्याग करना दान है, स्व और परका उपकार होना अनुग्रह है, अपना उपकार तो पुण्य सञ्चय होना रूप है, और परका उपकार सम्यग्दर्शन आदि की वृद्धि होना है। उस अनुग्रह के लिये। स्व शब्द के आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति और धन इतने अर्थ हैं इनमें से यहां धन अर्थ को लिया है। अतिसर्ग

पर्यायवाचिनो ग्रहणमिहाभिप्रेतम् । अतिसर्गस्त्यागः समर्पणमित्यनर्थान्तरम् । ततोऽनुग्रहार्थं यः स्वस्यातिसर्गस्तद्दानमितीष्यते । तद्विपरीतलक्षणस्य दानत्वानुपपत्तेरन्यथातिप्रसङ्गात् । अत्राह—यदुक्तं भवता दानं तत्किमविशिष्टं फलमाहोस्विदस्ति कश्चित्प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।। ३९ ।।

विधिर्दानविधानक्रम उच्यते । स च संक्षेपेण नवविधः—प्रतिग्रहोच्चदेशस्थापनपादप्रक्षालनार्चनप्रणमनमनोवाक्कायशुद्धित्रयाशनशुद्धिभेदात् । द्रव्यं पात्राय दीयमानं योग्यमाहारौषधशास्त्रप्रतिश्रयभेदाच्चतुर्विधम् । दाता दायकः पुरुषः । स च समासतः सप्तविध उच्यते—श्रद्धाता भक्तिमांस्तुष्टिमान्विज्ञान्यलुब्धः क्षमावान् सत्त्वाधिकश्चेति । आहारादिद्रव्यं यस्मै दीयते तत्पात्रम् । तच्चोत्तममध्यमजघन्यभेदात्त्रिविधम् । तत्रोत्तमपात्रं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रगुणत्रययुक्तो महर्षिरुच्यते । मध्यमपात्रं

त्याग को कहते हैं, त्याग, समर्पण ये इसके पर्यायवाची शब्द हैं । अनुग्रह के लिये अपने धनका त्याग करना दान है ऐसा अर्थ है । इससे विपरीत भाव या क्रिया होवे तो वह दान नहीं कहलाता, अर्थात् अपना परका जिसमें उपकार न हो वह दान नहीं है ऐसा समझना चाहिए । दानका यही लक्षण है अन्यथा लक्षण करने में अति प्रसंग होगा ।

प्रश्न— यह जो आपने दान का स्वरूप कहा है, इसका फल क्या समानरूप से होता है या कुछ विशेषता होती है ?

उत्तर—अब इसीको सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

सूत्रार्थ— विधि विशेष, द्रव्य विशेष, दाता विशेष और पात्र विशेष से दान में विशेषता आती है ।

दानके विधान के क्रमको 'विधि' कहते हैं । वह विधि संक्षेप से नौ प्रकार की है—प्रतिग्रह (पड़गाहन) उच्चदेश स्थापन अर्थात् उच्चस्थान पर–पाटे आदि पर बैठाना, पादप्रक्षालन, पूजन, नमस्कार, मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि और भोजन शुद्धि । पात्र के लिये (साधुजनों के लिये) जो वस्तु दी जाती है वह द्रव्य या पदार्थ आहार, औषध, शास्त्र और प्रतिश्रयरूप चार प्रकार का है । यह द्रव्य है । दायक या दाता दान देने वाले पुरुष को कहते हैं । दाता संक्षेप से सात प्रकार का है—श्रद्धावान, भक्तिमान्, तुष्टियुक्त, विविज्ञ, अलोभी, क्षमावान और सत्त्वाधिक । आहार आदि द्रव्य जिसको देते हैं वह पात्र कहलाता है, उसके तीन भेद हैं—उत्तमपात्र, मध्यमपात्र और जघन्यपात्र । उनमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन गुणों से जो युक्त हैं वे महर्षि

सम्यग्दर्शनज्ञानदेशसंयमसंयुत एकादशगुणस्थानवर्ती श्रावक: कथ्यते। जघन्यपात्रं तु सम्यग्दर्शनज्ञान-गुणद्वयान्वितोऽसंयतसम्यग्दृष्टिरुच्यते। कुपात्रमप्यागमान्तरे प्रतिपादितमस्ति। तत्तु जिनागमोक्तव्रत-शीलतपोयुक्तं सम्यग्दर्शनादिगुणविरहितम्। तस्यापि दानं दत्तं पुण्यं जायते। सम्यक्त्वव्रतशीलतपो-भावनावर्जितं पुनरनवरतपापशीलं नैव पात्रं भवति। तस्मिन्दत्तं न पुण्याय कल्पते। परस्परतो विशिष्यते विशिष्टिर्वा विशेष:। स च गुणकृतो भेद उच्यते। तस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धो भवति। विधिविशेषो द्रव्यविशेषो दातृविशेष: पात्रविशेष इति। विधिश्च द्रव्यं च दाता च पात्रं च विधिद्रव्य-दातृपात्राणि। तेषां विशेषो विधिद्रव्यदातृपात्रविशेष इति समासश्च विज्ञेय:। तत्र विधिविशेष: प्रतिग्रहादिष्वादरानादरकृतो वेदितव्य:। दीयमानेऽन्नादौ प्रतिग्रहीतुस्तप:स्वाध्यायपरिणामविवृद्धि-हेतुत्वादिर्द्रव्यविशेष इति भाष्यते। क्षमाऽनसूयादियुक्तत्वरूपो दातृविशेष उक्त:। मोक्षकारणसम्यग्-दर्शनादिगुणयोगित्वस्वभाव: पात्रविशेषोऽपि प्रतिपादितो बोद्धव्य:। ततश्च विध्यादिविशेषाद्धेतोस्तस्य

मुनि महाराज उत्तम पात्र हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान और एक देश संयम युक्त ग्यारह प्रतिमा तक प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक मध्यम पात्र है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान इन दो गुणों से युक्त असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। आगमान्तर में कुपात्र भी बतलाया है, जिनेन्द्र द्वारा कहे गये आगम में जो व्रत शील और तप हैं उनका पालन करता है किन्तु सम्यग्दर्शन रहित है उसको कुपात्र कहते हैं। उसके दान देने से भी पुण्य होता है। जो व्यक्ति सम्यक्त्व, व्रत, तप से रहित है और सतत पाप शील है ऐसा व्यक्ति पात्र नहीं होता। ऐसे व्यक्तिको दान देने से पुण्य नहीं होता। परस्पर में जो विशिष्ट होता है वह विशेष कहलाता है। वह विशेष गुणों के निमित्त से होता है। विशेष शब्द प्रत्येक के साथ जोड़ना चाहिए–विधि विशेष, द्रव्य विशेष, दाता विशेष और पात्र विशेष। सूत्रोक्त विधि आदि पदों में द्वन्द्व समास है पुन: विशेष शब्द तत्पुरुष समास द्वारा जोड़ा है। विधि विशेष क्या है सो बताते हैं—प्रतिग्रह-पड़गाहन आदि क्रिया में आदर होना विधि विशेष है और अनादर करना विधि की कमी कहलायेगी। जो आहारादि साधु को दिया जा रहा है उस आहारादि से साधु जनों के तप स्वाध्याय और परिणाम विशुद्धि होना द्रव्यविशेष कहलाता है। दान देने वाले दाता में क्षमा होना, ईर्ष्या नहीं होना इत्यादि दाता की विशेषता है। मोक्षके कारण स्वरूप सम्यग्दर्शन आदि गुणों से युक्त होना पात्र विशेष कहलाता है। इन विधि आदि विशेषों के निमित्त से दान के फल में विशेषता आती है, जिस प्रकार पृथिवी-खेत अच्छा होना, ऊसर नहीं होना, जल आदि का होना इत्यादि कारण विशेषों के होने पर नाना प्रकार धान्य बीजों की बहुत-बहुत उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार विधि अच्छी होने से

दानफलस्य विशेषोऽवसेयो यथा क्षित्यादिकारणविशेषसन्निपाते सति नानाविधबीजफलविशेष इति। अत्र कश्चिदाह—उक्तं भवता मध्यमपात्रमेकादशगुणस्थानवर्ती श्रावक इति। तत्र न ज्ञायन्ते कानि तान्येकादशगुणस्थानानि यद्भेदाच्छ्रावकभेद इत्यतस्तद्भेदक्रम उच्यते—दर्शनित्वं व्रतित्वं सामायिकत्वं प्रोषधित्वं सचित्तविरतत्वं रात्रिभक्तत्वं ब्रह्मचारित्वमारम्भविरतत्वं परिग्रहविरतत्वमनुमतिविरतत्व-मुद्दिष्टविरतत्वं चेतान्येकादशगुणस्थानानि भवन्त्येतेषु वर्तमानाः श्रावकाश्चैकादशप्रकारा जायन्ते। तथा चोक्तम्—

दंसणवदसामायियपोसहसच्चित्तराइभत्ते य।
बह्मारम्भपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥ इति ॥

तत्र सम्यग्दर्शनयुक्तो द्यूतादिव्यसनसप्तकोदुम्बरादिफलपञ्चकविरतश्च दर्शनश्रावकः प्रथमः स्यात्। तत्र द्यूतं मांसं सुरा वेश्या पापर्द्धिश्चौर्यं परदारसेवा चेत्येतानि सप्तव्यसनानि पापात्मके पुंसि सदा भवन्ति। उदुम्बरीकाकोदुम्बरीन्यग्रोधाश्वत्थप्लक्षाणां फलपञ्चकं च स्थूलबहुजीवयोनिस्थानं

दाता क्षमादि युक्त होने से, निर्दोष प्रासुक द्रव्य आहार होने से एवं पात्र-साधुजनों में सम्यग्दर्शन आदि की विशेषता होने से महान फल प्राप्त होता है–पुण्य सञ्चय अभ्युदयादि की प्राप्ति होती है।

शंका—आपने अभी कहा था कि श्रावक के ग्यारह स्थान होते हैं, उसमें यह ज्ञात नहीं हुआ है कि वे ग्यारह स्थान कौन से हैं जिनके भेद से श्रावक के भेद होते हैं?

समाधान—उनके भेदों का क्रम बताते हैं—दर्शनित्व, व्रतित्व, सामायिकत्व, प्रोषधित्व, सचित्त विरतित्व, रात्रिभक्तत्यागत्व, ब्रह्मचारित्व, आरम्भविरतत्व, परिग्रह-विरतत्व, अनुमतिविरतत्व और उद्दिष्ट विरतत्व। ये गुणोंको बढ़ाने वाले ग्यारह स्थान हैं। इनमें प्रवृत्तमान श्रावक भी ग्यारह भेद वाले हो जाते हैं। कहा भी है—

देशविरत के ये ग्यारह भेद हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तविरत, रात्रिभक्तविरत, ब्रह्मचर्य, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत। उनमें सम्यग्दर्शन युक्त द्यूत आदि सात व्यसन और उदंबर आदि पांच फलों से विरक्त श्रावक पहली दर्शन प्रतिमा वाला होता है। द्यूत, मांस, शराब, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री सेवा ये सात व्यसन पापी पुरुष में होते हैं। उदम्बरी, काकोदुम्बरी, बड़, अश्वत्थ और पीपल के फल बहुत बहुत जीवों के योनिस्थान हैं उनका दर्शनधारी

दर्शनश्रावकेन त्याज्यम् । स एवाणुव्रतनियमसंयुक्तः केनचिच्छिक्षाव्रतनियमेनापि सम्पन्नो व्रतश्रावक इति द्वितीयः ख्यायते । स एवोक्तलक्षणसामायिकनियमान्वितस्तु सामायिकगुणश्रावक इति तृतीयः कथ्यते । स एव पुनर्यथाशक्ति प्रोषधोपवासनियमरतश्चतुर्थः प्रोषधीति व्यपदिश्यते । तथा चोक्तम्—

पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्मासि चत्वारि तानि च ।
पूजाक्रियाव्रताधिक्याद्धर्मकर्मात्र बृंहयेत् ।।
रसत्यागैकभुक्तयैकस्थानोपवसनक्रियाः ।
यथाशक्ति विधेयाः स्युः पर्वसन्धौ च पर्वणि ।। इति ।।

स एव श्रावको यदि हरितं पत्रफलादिकमप्रासुकं वर्जयेत्तदा सचित्तविरतनामा पञ्चमो भवति । तदप्युक्तम्—

जं वज्जिज्जदि हरिद तय पत्तपवालकन्दफलबीयं ।
अप्पासुगं च सलिलं सच्चित्तनिव्वित्ति तट्ठाणम् ।। इति ।।

स एव पुनर्यदि मनोवाक्कायैर्दिवामैथुनविरतः स्यात्तदा षष्ठो रात्रिभक्तश्रावक इति परिभाष्यते । यदि पुनः पूर्वोक्तगुणयुक्त एव श्रावको रात्रौ दिवा च मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतैर्मैथुनं

श्रावकों को त्याग करना चाहिए । उपर्युक्त दर्शन गुण युक्त तथा अणुव्रतों से युक्त और किसी शिक्षा व्रत से युक्त श्रावक व्रत नामकी दूसरी प्रतिमा वाला होता है । उन्हीं गुणों के साथ सामायिक नियम युक्त होता है तो वह श्रावक सामायिक प्रतिमाधारी तृतीय स्थानवर्ती होता है । उसीके साथ यथाशक्ति प्रोषधोपवास में रत चौथा प्रोषध नियमधारी है । कहा है कि—पर्वोंको प्रोषध कहते हैं, पर्व एक मास में चार होते हैं । इन चार पर्वों के दिनों में (एक मासकी दो अष्टमी, दो चतुर्दशी में) पूजाक्रिया, व्रत, नियम आदि धर्म कर्म अधिक बढ़ाने चाहिए । रस त्याग, एक भुक्ति, एक स्थान और उपवास इस प्रकार इन क्रियाओं में से यथाशक्ति नियम क्रिया पर्व सन्धि और पर्व में करना चाहिए ।।१।।२।।

वही श्रावक यदि हरे पत्ते फल आदि अप्रासुक वस्तुओं को छोड़ देता है तो वह सचित्त विरत नामा पञ्चम स्थान वाला होता है । उसके विषय में भी कहा है—जो हरे पत्ते प्रवाल, कन्द, फल और बीजों को छोड़ देता है तथा अप्रासुकजल को छोड़ता है वह सचित्त त्याग नाम वाली पञ्चम प्रतिमा को प्राप्त करता है ।।१।। वही श्रावक यदि मन वचन और काय से दिन में मैथुन का त्याग करता है तो रात्रिभक्तविरत नामकी छट्ठी प्रतिमा वाला कहलाता है । यदि उन्हीं पूर्वोक्त गुणों से युक्त श्रावक रात्रि

सर्वथा वर्जयेत्, स्त्रीकथादिनिवृत्तश्च स्यात्तदा स ब्रह्मचारीति सप्तमो निगद्यते। यदि च बहु स्तोकं वा गृहारम्भ वर्जयेत्तदा स आरम्भनिवृत्तमतिरष्टमः श्रावको भण्यते। परिमितं स्वप्रयोजनधर्मसाधन-वस्त्रोपकरणादिकं मूर्छारहितं मुक्त्वा शेषं परिग्रहं यो वर्जयेत्स परिग्रहविरत इति नवमः श्रावको भवति। स एव यदि पृष्टोऽपृष्टो वा निजैः परैर्वा गृहकार्येऽनुमतिं न कुर्यात्तदाऽनुमतिविरत इति दशमः श्रावको निगद्यते। उद्दिष्टपिण्डविरतिलक्षणत्वैकादशे गुणस्थाने उत्कृष्टश्रावको द्विविधो भवति। तत्रैकस्तावदेक-वस्त्रधारी स्वकेशानामपनयन कर्तर्या क्षुरेण वा कारयेत्। स्थानाऽऽसनशयनादिषु च प्रयतात्मा मृदुनो-पकरणेन प्रतिलिखति। पाणिपात्रे भाजने वा समुपविष्टः सन्नेकवारं भुक्ते। पर्वसु चोपवासं नियम-तश्चतुर्विधं कुरुते। गृहीतसुपात्रश्चर्यायां प्रविष्टश्च प्रांगणे स्थित्वा धर्मलाभ सकृदुच्चार्य भिक्षां याचते। अथवा विशिष्टशक्तिश्चेद्भिक्षार्थी गृहान्तरेषु परिभ्रमन्मौनेन स्वकायमात्रं प्रदर्शयेत्। अन्तराले यदि केनचिद्भोजनाय विधृतो भवेत्तदा स्वपात्रगतं भुक्त्वा शेषं तदीय भुञ्जीत। न चेदेव तर्हि परिभ्राम्यो-

---

में और दिन में मन वचन और काय से तथा कृत कारित अनुमोदना से मैथुन का सर्वथा त्याग कर देता है, स्त्री कथा आदि से निवृत्त होता है तो वह ब्रह्मचारी इस नाम वाली सातवीं प्रतिमा वाला बन जाता है। जब वही श्रावक बहुत तथा अल्प गृह सम्बन्धी आरम्भ को छोड़ देता है तब वह आरम्भ विरत नामा आठवां स्थान पाता है। अपने प्रयोजनभूत वस्त्रादि तथा धर्म के साधनभूत उपकरण को बिना लालसा के रखता है और शेष सर्व परिग्रह को त्याग देता है वह श्रावक परिग्रह विरत नाम वाला नौवीं प्रतिमाधारी होता है। वही श्रावक अपने व्यक्ति द्वारा या परव्यक्ति द्वारा पूछे जाने पर या नहीं पूछे जाने पर भी घर सम्बन्धी कार्यों में अनुमति नही देता है वह अनुमति विरत नामा दशम स्थान को प्राप्त करता है। उद्दिष्ट आहार का त्यागी ग्यारहवी प्रतिमाधारी श्रावक के दो भेद हैं। उनमें एक भेद का वर्णन करते हैं—जो एक वस्त्र धारक है, अपने केशों को कैंची या छुरी से हटाता है, स्थान आसन शयनादि में प्रयत्नपूर्वक मृदु उपकर द्वारा मार्जन कर बैठना आदि क्रियायें करता है, हाथ में अथवा बर्तन में बैठकर एक बार भोजन करता है। पर्वके दिनों में चार प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास नियम से करता है। पात्र लेकर चर्या के लिये जाता है गृहस्थ के आंगन में खड़े होकर धर्म लाभ ऐसा एक बार कहकर भिक्षा की याचना करता है, अथवा यदि विशिष्ट शक्ति है तो वह भिक्षार्थी गृहान्तरों में मौन से घूमता है केवल शरीर को दिखाता है यदि बीच में किसी ने भोजन के लिये रोका तो अपने पात्र में जो मध्य के घरों में मिला था उस अन्नको पहले खाता है पुनः उस घरका भी खाता है। अथवा ऐसा नहीं करता है तो परिभ्रमण कर उदर भरने लायक भोजन को लेकर

दरपूरणमात्रभैक्षमादाय क्वचिद्धरीतक्यादिचूर्णविध्वस्तं प्रासुकं जलं याचयित्वा यत्नेन शोधयित्वा च भुञ्जीत। ततः पात्रं प्रक्षाल्य गुरुसमीपं गच्छेत्। अथवा यतिजनपृष्ठतश्चर्यायां प्रविश्य भुक्त्वा गुरुसमीपे चतुर्विधं प्रत्याख्यानं च गृहीत्वा सर्वमालोच्य यदेवं प्रथमोऽयमुत्कृष्टः श्रावक उक्तः। द्वितीयोऽप्येवमेव भवेत्। विशेषस्त्वयं यदुत कौपीनमात्रपरिग्रहो नियमेन वालोत्पाटनकारी पिञ्छप्रतिलेखनधारी पाणिपुटभिक्षाहारी स्यात्। दिनप्रतिमा वीरचर्या त्रिकालयोगेषु सिद्धान्तरहस्यग्रंथाध्ययने च देशसंयतानामधिकारो नास्ति। एवमेकादशगुणस्थाने उद्दिष्टविरतो द्विप्रकारः श्रावको बोद्धव्यः। एवमुक्तेष्वेकादशगुणस्थानेषु मध्ये प्रथममपि गुणस्थानं रात्रौ भोजनं कुर्वतो न व्यवतिष्ठत इति रात्रौ भोजनवर्जनं श्रेयः। रात्रौ हि चर्माऽस्थिकीटदर्दुरभुजंगकेशादयोऽशनमध्ये पतिता न दृश्यन्ते। दीपोद्योते च क्रियमाणे दृष्टिरागमोहिताश्चतुरिन्द्रिया भाजने निपतन्ति। तस्मादिहात्मविनाशं परत्र च पापवशेनाशुभां गतिं परिहरता रात्रिभोजनं च परिहर्तव्यम्। सामान्यतः श्रावकाणां चर्मास्थिरुधिरपूयमांसादयः

किसी घर में हरड आदि से प्रासुक हुए जल की याचना करके प्रयत्न से अन्नका शोधन कर भोजन करता है, फिर पात्रको धोकर मांजकर गुरु के निकट जाता है। अथवा मुनिजनों के आहार के लिए निकलने पर उनके पीछे चर्या कर भोजन करता है पुनः गुरु के निकट आकर चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करता है आहार में कुछ दोष लगा हो तो उसकी आलोचना करता है। इसप्रकार की विधि करने वाला उद्दिष्ट प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक का प्रथम भेद है। दूसरा भेद भी इस तरह ही है कुछ विशेषता है सो बताते हैं—यह द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक केवल लंगोट रखता है नियम से केशलोंच करता है पिच्छी लेता है हाथ में भोजन करता है चर्या से आहार लेता है। देशव्रती श्रावकों को दिन में प्रतिमायोग लेना वर्जित है तथा वीर चर्या, अभ्रावकाश आदि तीन योग, सिद्धान्त ग्रंथ, प्रायश्चित्त ग्रंथ का अध्ययन इन सर्व कार्यों को करने का अधिकार देश संयमी को नहीं है। इसप्रकार ग्यारहवें स्थान में उद्दिष्ट त्यागी उत्कृष्ट श्रावक के दो भेद जानने चाहिये। इन ग्यारह स्थानों में से जो पहला स्थान है उसका धारक श्रावक रात्रि भोजन नहीं कर सकता अतः रात्रि भोजन त्याग श्रेयस्कर है। क्योंकि रात्रि में चर्म, अस्थि, कीड़े, मेंढ़क, सर्प, केश इत्यादि पदार्थ भोजन में गिर जाय तो दिखायी नहीं देते हैं। यदि दीपक का प्रकाश किया जाय तो नेत्र के विषय में लंपट हुए चतुरिन्द्रिय जीव बर्त्तन में गिर जाते हैं, उससे इस लोक में तो अपना नाश हुआ, और परलोक में पाप के कारण अशुभगति होगी ऐसा निश्चय कर इन दोषों का परिहार अर्थात् नीच गति में गमनादिका परिहार करने के लिये रात्री भोजन छोड़

सप्तैवान्तरायाश्चागमान्तरोक्ताः सन्ति । विशेषतस्तु काकाऽमेध्यादयो द्वात्रिंशत् नखकेशादयो बहु-प्रकाराश्च केषाञ्चिदुत्कृष्टश्रावकाणां भोजनविघ्ना भवन्ति । तेषु चैकादशस्वाद्याः षट्छ्रावका बहुसावद्या जघन्याः । तदुत्तरास्त्रयोऽल्पसावद्या मध्यमाः । अनुमत्युद्दिष्टविरतास्तु द्विप्रकारा अप्यतिनिरस्तसावद्यत्वादुत्कृष्टा इत्यलमतिविस्तरसकथया ।

शशधरकरनिकरसतारनिस्तलतरलतलमुक्ताफलहारस्फारतारानिकुरम्बबिम्बनिर्मलतरपरमोदार
शरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघातीन्धनमङ्क्षातसकलविमलकेवलालोकित-
सकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचिदचित्स्वभावभावाभि-
धानसाधितस्वभावपरमाराध्यतममहासैद्धान्तः श्रीजिनचन्द्रभट्टारकस्तच्छिष्यपण्डित-
श्रीभास्करनन्दिविरचितमहाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधाया सप्तमोऽध्यायस्समाप्त ।

देना चाहिए । आगमान्तर में सामान्य से श्रावकों के लिये सात अन्तराय बतलाये हैं वे इस प्रकार हैं—चर्म, अस्थि, रक्त, पीप, मांस इत्यादि । विशेष को अपेक्षा से काक मेध्य आदि बत्तीस अन्तराय, नख केश आदि चौदह मल दोष हैं इत्यादि बहुत से दोष हैं, इनका किन्ही उत्कृष्ट श्रावकों को भी त्याग करना चाहिए अर्थात् इन दोषों के आने पर भोजन छोड़ देना चाहिए । अभिप्राय यह है कि जो क्षुल्लक और ऐलक रूप उत्कृष्ट श्रावक है जो कि चर्या विधि से आहार को जाते हैं उन्हें मुनिके समान बत्तीस अन्तराय, सोलह उद्गमादि दोषों को टालकर आहार करना चाहिए ।

इन ग्यारह स्थान वाले श्रावकों में जो आदि के छह स्थान वाले श्रावक हैं, वे बहुसावद्ययुक्त होने से जघन्य श्रावक कहे जाते हैं । सातवें स्थान से लेकर नौवें स्थान तक के श्रावक मध्यम कहलाते हैं, क्योंकि अल्पसावद्ययुक्त हैं । अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत श्रावक ये दोनों भी सावद्य के त्यागी होने से उत्कृष्ट कहलाते हैं । अब इस विषय को समाप्त करते हैं ।

जो चन्द्रमा को किरण समूह के समान विस्तीर्ण, तुलना रहित मोतियों के विशाल हारों के समान एवं तारा समूह के समान शुक्ल निर्मल उदार ऐसे परमौदारिक शरीर के धारक हैं, शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि की उज्ज्वल ज्वाला द्वारा जला दिया है घाती कर्म रूपी ईन्धन समूह को जिन्होंने ऐसे तथा सकल विमल केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण लोकालोक के स्वभाव को जानने वाले श्रीमान परमेश्वर जिनपति के मत को जानने में विस्त्तीर्ण बुद्धि वाले, चेतन अचेतन द्रव्यों को सिद्ध करने वाले परम आराध्य भूत महासिद्धान्त ग्रन्थों के जो ज्ञाता हैं ऐसे श्री जिनचन्द्र भट्टारक हैं उनके शिष्य पंडित श्री भास्करनंदी विरचित सुख बोधा नामवाली महा शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में सातवां अध्याय पूर्ण हुआ ।

*

अथ अष्टमोऽध्यायः

एवमध्यायद्वयेनास्रवपदार्थोऽशुभः शुभश्च व्याख्यातः । इदानीमवसरप्राप्तं बन्धं व्याचक्ष्महे । तस्य च मोक्षवत्कारणव्यतिरेकानुपपत्तेः कार्यात्पूर्वकालभावित्वाच्च कारणस्येति कारणोपन्यास एव तावत्क्रियते—

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥

क्व पुनरेते मिथ्यादर्शनादयः सप्रपञ्चा उक्ता इति चेदुच्यते—आस्रवविधाने पञ्चविंशतिः क्रिया उक्ताः । तास्वन्तर्भूतं मिथ्यादर्शनं तावदुक्तं मिथ्यादर्शनक्रियेति । यत्र विरतिर्व्याख्याता तत्प्रतिपक्षभूताऽविरतिरपि तत्रैव वर्णिता । आज्ञाव्यापादनाऽनाकांक्षाक्रिययोरन्तर्भूतः प्रमादः बोद्धव्यः । स च प्रमादः कुशलकर्मस्वनादर उच्यते । कषायाः क्रोधादयोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पा इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रिया इत्यत्रैवोक्ताः । योगश्च कायादिविकल्पः क्व उक्तः ? कायवाङ्मन-

---

इसप्रकार दो अध्यायों में शुभास्रव पदार्थ और अशुभास्रव पदार्थ कहा है । अब बन्ध पदार्थ का अवसर है उसका कथन प्रारम्भ करते हैं । जैसे मोक्ष कारण के बिना नहीं होता, वैसे बन्ध भी कारण के बिना नहीं होता, तथा कार्य के पहले कारण होता है, इस न्याय से बन्ध रूप कार्य का कारण सर्व प्रथम बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके कारण हैं ।

प्रश्न—ये मिथ्यादर्शनादि सविस्तर कहां पर कहे गये हैं ?

उत्तर—आस्रव का कथन करते समय पच्चीस क्रियायें कही थीं । उन क्रियाओं में अन्तर्भूत मिथ्यादर्शन स्वरूप मिथ्यादर्शन क्रिया बताई थी । जहां पर विरति का कथन किया था वहीं पर उसके प्रतिपक्षभूत अविरति का वर्णन भी कर लिया था । आज्ञाव्यापादन और अनाकांक्षा क्रिया में प्रमाद गर्भित होता है । कुशल क्रिया में अनादर होना प्रमाद है । अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायों में प्रत्येक के क्रोधादि चार चार भेद हैं । 'इन्द्रियकषायाऽव्रतक्रिया' इत्यादि सूत्र में कषायों का वर्णन हुआ है । योग के काययोग इत्यादि भेद हैं ।

स्कर्म योग इत्यत्र । मिथ्यादर्शनं द्वेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? नैसर्गिकपरोपदेशनिमित्तभेदात् । तत्र निसर्गः स्वभाव उक्तः । निसर्गाज्जातं नैसर्गिकम् । परोपदेशमन्तरेणान्तरङ्गमिथ्यात्वकर्मोदयवशाद्यदाविर्भवति तत्त्वार्थाऽश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकमित्यर्थः । यत्परोपदेशनिमित्तं मिथ्यादर्शनं तच्चतुर्विधम्—क्रियावाद्यक्रियावाद्यज्ञानिकवैनयिकमतविकल्पात् । तत्र चतुरशीतिः क्रियावादा इति कौत्कलकण्ठविद्धिकौशिकादिमतभेदात् । अशीतिशतमक्रियावादानां मरीचिकुमारोलूककपिलगार्ग्यव्याघ्रभूत्यादिमतविकल्पात् । अज्ञानिकवादाः सप्तषष्ठिसङ्ख्याः शाकल्यवाष्कलकुन्थुमिशात्यमुग्रीप्रभृतिदर्शनभेदात् । वैनयिकास्तु द्वात्रिंशत्सङ्ख्या भवन्ति । कुतः ? वशिष्टपराशरजतुकर्णवाल्मीकिप्रभृतिमतभेदात् । त एते मिथ्योपदेशभेदाः समुदितास्त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्युत्तराणि भवन्ति । एवं परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पा अन्ये च सङ्ख्येयास्तज्ज्ञैर्योज्याः । परिणामविकल्पादसङ्ख्येयाश्च भवन्ति । अनुभागभेदादनन्तपरिमाणश्च जायन्ते । यन्नैसर्गिकमिथ्यादर्शनं तदप्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञि-

---

प्रश्न—इनका कथन कहां पर है ?

उत्तर—'कायवाङ्मनस्कर्म योगः' इस सूत्र में योग का कथन पूर्व में ही हो चुका है । मिथ्यादर्शन के दो भेद हैं—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक । स्वभाव को निसर्ग कहते हैं । निसर्ग से जो होवे वह नैसर्गिक कहलाता है । अर्थात् परके उपदेश के बिना अंतरंग में मिथ्यात्वकर्म के उदय से जो प्रगट होता है ऐसा तत्त्वार्थ का अश्रद्धा लक्षण वाला जो मिथ्यात्व है वह नैसर्गिक कहा जाता है । तथा जो परके उपदेश से होने वाला मिथ्यात्व है उसके चार भेद हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानिक और वैनयिक । उनमें क्रियावादी के चौरासी भेद हैं, कौत्कल, कण्ठविधि, कौशिक आदि के मतों की अपेक्षा उक्त भेद होते हैं । अक्रियावादी के अस्सी भेद हैं, मरीचिकुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति आदि के मतों के निमित्त से ये भेद होते हैं । अज्ञानिकवाद सड़सठ हैं, शाकल्य, बाष्कल, कुन्थुमि, शात्यमुग्री इत्यादि के मतों के निमित्त से ये भेद होते है । वैनयिक के बत्तीस भेद हैं, वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि इत्यादि के मतों के निमित्त से ये भेद होते हैं । ये सब मिथ्या मत मिलकर तीनसौ त्रेसठ होते हैं । (इन तीनसौ त्रेसठ मतों का सुन्दर विवेचन कर्मकांड में अवलोकनीय है) इस प्रकार परके उपदेश के निमित्त से होने वाले मिथ्यादर्शन के ये भेद जानने तथा अन्य भी संख्यात भेद मिथ्यात्व के स्वरूप को जानने वाले पुरुषों द्वारा लगा लेने चाहिए । परिणामों की अपेक्षा मिथ्यात्व के असंख्येय भेद हैं और अनुभाग के निमित्त से होने वाले परिणामों की अपेक्षा अनन्त भेद भी होते हैं । जो नैसर्गिक

तिर्यङ् म्लेच्छशबरपुलिन्दादिपरिग्रहादनेकविधं भवति । अथवा पञ्चविधं मिथ्यादर्शनमवगन्तव्यम् । एकान्तमिथ्यादर्शनं विपरीतमिथ्यादर्शनं संशयमिथ्यादर्शनं वैनयिकमिथ्यादर्शनमज्ञानिकमिथ्यादर्शनं चेति । तत्रेदमेवेत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः । पुरुष एवेदं सर्वमिति वा नित्य एव वाऽनित्य एव वेत्यादिरेकान्तः । सग्रन्थोपि सन्निर्ग्रन्थः केवल्यपि कवलाहारी स्त्री च सिध्यतीत्येवमादिर्विपर्ययः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः किं स्याद्वा न वेत्युभयपक्षपरामर्शः संशयः । सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकत्वम् । हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम् । अविरतिर्द्वादशविधा भवति । कुतः ? पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायचक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शन नो इन्द्रियेषु हननाऽसयमनाऽविरतिभेदात् । अनन्तानुबन्ध्यादिविकल्पाः क्रोधादयः षोडशकषाया हास्यादयो नव नोकषाया अपि कषायग्रहणेनैवात्र संगृहीता ईषद्भेदस्याभेदत्वादिति पञ्चविंशतिः कषायाः । सत्योऽसत्यः सत्याऽ-

---

मिथ्यादर्शन है उसके भी बहुत से भेद सम्भव हैं । आगे इन्हीं को बताते हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय संज्ञी–असंज्ञी–तिर्यंच, म्लेच्छ, शबर, पुलिन्द इत्यादि जीवों द्वारा ग्रहण किये जाने की अपेक्षा नैसर्गिक मिथ्यात्व के अनेक भेद हैं ।

दूसरे प्रकार से मिथ्यात्व के पांच भेद हैं–एकान्त मिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, संशय मिथ्यादर्शन, वैनयिक मिथ्यादर्शन और अज्ञानिक मिथ्यादर्शन । एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप–यही है, ऐसा ही है, इसप्रकार धर्म और धर्मी के विषय में अभिप्राय होना एकान्त मिथ्यात्व है । अथवा यह सर्व जगत् पुरुष ही है, सर्व वस्तु नित्य ही है अनित्य ही है इत्यादि भाव एकान्त मिथ्यात्व है । विपरीत मिथ्यात्व–सग्रन्थ होकर भी निग्रन्थ है केवली जिन कवलाहारी होते हैं, स्त्री मोक्ष जाती है इत्यादि अभिप्राय होना विपरीत मिथ्यात्व है । सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र मोक्षमार्ग है अथवा नहीं है इत्यादि उभय पक्षको ग्रहण करना संशयमिथ्यात्व है । सर्व देवता, सर्व समय–सर्व मतों को समान मानना, विनय करना वैनयिक मिथ्यात्व है । हित और अहित की परीक्षा से रहित होना अज्ञानिक मिथ्यात्व है ।

अविरति बारह प्रकार की है—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसों का घात करना तथा चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्शनेन्द्रिय एवं नो इन्द्रिय-मनको नियमित नहीं करना । अनन्तानुबन्धी आदि क्रोधादि कषायों के सोलह भेद एवं हास्यादि नव नोकषायों का ग्रहण कषाय शब्द से हो जाता है । क्योंकि ईषद् कषाय (हास्यादि) का क्रोधादिकषाय से अभेद होने से कषायों के कुल भेद पच्चीस होते हैं ।

सत्योऽसत्यमृषा चेति चत्वारो मनोयोगाः। तथा चत्वारो वाग्योगाः। औदारिक औदारिकमिश्रो वैक्रियिको वैक्रियिकमिश्र. कार्मणश्चेति पञ्च काययोगा इति त्रयोदशविकल्पो योगः। आहारककाययोगाहारकमिश्रकाययोगयोः प्रमत्तसंयते उदयसम्भवात्। पञ्चदशापि योगा भवन्ति। भावकायविनयेर्यापथभैक्षशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्यशुद्धिलक्षणाष्टविधसंयमोत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यादिविषयाऽनुत्साहभेदादनेकविधः प्रमादोऽवसेयः। स्यान्मतं ते-प्रमादस्याप्यविरतिरूपत्वात् पृथगुपादानमनर्थकमिति। तन्न—अविरत्यभावेऽपि प्रमत्तसंयतस्य विकथाकषायेन्द्रियनिद्राप्रणयलक्षणपञ्चदशप्रमाददर्शनात्कथञ्चिद्भेदोपपत्तेः। तर्हि कषायाविरत्योरुभयोरपि हिंसापरिणामरूपत्वाद्भेदाभावोस्त्विति चेत्तन्न—कार्यकारणभावेन भेदोपपत्तेः। कारणभूता हि कषायाः कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरतेरर्थान्तरभूता इति नास्ति दोषः। मिथ्यादर्शनं चाविरतिश्च प्रमादश्च कषायश्च

सत्यमनोयोग, असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग और असत्यमृषामनोयोग ये चार मनोयोग हैं। तथा वचनयोग भी चार हैं। औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र और कार्मण इसप्रकार काययोग पांच प्रकार का है। प्रमत्त संयत गुणस्थान में आहारक काय और आहारक मिश्रकाय योग ये दो योग होते हैं, उससे कुल योग पंद्रह भी हैं।

भावशुद्धि, विनयशुद्धि, कायशुद्धि, ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, शयनासनशुद्धि, प्रतिष्ठापनशुद्धि और वाक्यशुद्धि ये आठ शुद्धियां हैं इनके निमित्त से संयम आठ प्रकार का हो जाता है। तथा उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म हैं इन सबके प्रति उत्साहित नहीं होना प्रमाद कहलाता है इनकी अपेक्षा प्रमाद भी अनेक प्रकार का है।

प्रश्न—प्रमाद अविरतिरूप है अतः उसका पृथक् ग्रहण व्यर्थ है ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना। अविरति के अभाव होने पर भी प्रमत्त संयत के चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रियां, निद्रा और प्रणय स्वरूप पंद्रह प्रमाद पाये जाते हैं अतः अविरति और प्रमाद में कथंचित् भेद माना गया है।

प्रश्न—तो फिर कषाय और अविरति इन दोनों में हिंसा परिणाम समान होने से अभेद मानना चाहिए ?

उत्तर—यह भी ठीक नहीं है, यहां कार्य कारण रूप भेद पाया जाता है, अर्थात् कारण कषाय है और कार्यात्मक हिंसादि अविरति है इस दृष्टि से दोनों में अर्थान्तरत्व होने से कषाय और अविरतिको पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है अतः कोई दोष नहीं है।

योगश्च मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः। बन्धो वक्ष्यमाणलक्षणः। हेतुशब्दः कारणवाची। बन्धस्य हेतवो बन्धहेतव इति विग्रहः कार्यः। मिथ्यादर्शनादिवचनाद्विपर्ययमात्रादविद्यातृष्णामात्राद्वा बन्ध इति निरस्तम्। बन्धहेतव इति वचनादहेतुकबन्धनिवृत्तिर्बन्धाभावनिवृत्तिश्च कृता भवति। मिथ्यादर्शनवचनात्तत्सहचारिणो मिथ्याज्ञानस्याप्यत्र बन्धहेतुत्वमवगन्तव्यम्। न च मिथ्यादर्शनज्ञानयोरैक्यमेवेति वक्तु शक्यं—तत्त्वाऽश्रद्धानाऽनवबोधलक्षणभेदाद्भेदोपपत्तेः। ननु सम्यग्दर्शनादीनां मोक्षहेतूनां त्रैविध्यात्तद्विपरीतरूपा बन्धहेतवोऽपि त्रय एव युक्ता इति चेत्सत्यमुक्तं किंतु प्रयोजनापेक्षया पञ्च कथिताः। प्रयोजनश्च गुणस्थानभेदेन बन्धहेतुविकल्पयोजनं बोद्धव्यम्। तेनाद्ये मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने पञ्चापि बन्धहेतवः सन्ति। सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्ट्यसयतसम्यग्दृष्टिष्वविरत्यादयश्चत्वारः प्रत्ययाः सन्ति। तत्र मिथ्यादर्शनस्याभावात्सम्यङ्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तस्यांशेन सतोप्य-

---

मिथ्यादर्शन आदि पदों में द्वन्द्व समास जानना। बंधका लक्षण आगे कहेंगे। हेतु शब्द कारणवाची है। बन्धस्य हेतवः बन्धहेतवः ऐसा समास है। ये मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के कारण हैं ऐसा निश्चय होने पर बन्धके विषय में परवादी लोगों ने जो कारण कहे हैं उनका खण्डन हो जाता है, उनके यहां पर किसी ने विपर्यय से बन्ध माना है तो किसी ने अविद्या तृष्णा से बन्ध माना है। 'बन्ध हेतवः' इस वाक्य से परवादी की जो मान्यता है कि बन्धका कोई हेतु नहीं है बंध स्वतः ही होता है, अथवा कोई मानता है कि जीवों के बन्ध नहीं होता वे सदा कर्मों से मुक्त ही हैं इत्यादि। सो ये सब मान्यताएं बन्ध के हेतु बतलाकर खण्डित की गई हैं। मिथ्यादर्शन के ग्रहण से उसका सहचारी मिथ्याज्ञान का भी यहां ग्रहण किया है वह भी बन्धका हेतु है। मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान ये दोनों एक ही हैं ऐसा भी नहीं कहना, इनमें लक्षण भेद हैं—तत्त्वों का अश्रद्धान मिथ्यात्व कहलाता है और अनवबोध–तत्त्वबोध नहीं होना मिथ्याज्ञान है, इस तरह लक्षण भेद से इनमें भेद है।

शंका—मोक्ष के हेतु तीन माने हैं उनसे विपरीत बन्ध के हेतु भी तीन ही मानने चाहिए ?

समाधान—ठीक कहा ! किन्तु प्रयोजन की अपेक्षा पांच कहे हैं। यहां पर प्रयोजन यह है कि गुणस्थानों के भेदों की अपेक्षा बन्ध हेतु के भेद करना। अब इसी को बतलाते हैं—पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पांचों बन्ध हेतु होते हैं। सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों में अविरति आदि चार बन्ध हेतु हैं। सम्यग्मिथ्यात्वनामा तीसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का अंश

विवक्षितत्वाच्च । संयतासंयतस्याऽविरतिर्विरतिमिश्रा प्रमादकषाययोगाश्च बन्धस्य हेतवो भवन्ति । प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगाः । अप्रमत्ताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणसूक्ष्मसाम्परायाणां चतुर्णां द्वौ कषाययोगौ । उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेक एव योगः । अयोगकेवली अबन्धहेतुः । पञ्च मिथ्यादर्शनादिविकल्पानां प्रत्येक बन्धहेतुत्वमवगन्तव्यम् । सर्वेषां मिथ्यादर्शनानामविरतिभेदानां च हिंसादीनामेकस्मिन्नात्मनि युगपदसम्भवात् । ततः सिद्धमेतन्मिथ्यादर्शनादयः कथंचित्समस्ता व्यस्ताश्च बन्धहेतवो भवन्तीति । तत्र कषायपर्यन्ताः स्थित्यनुभागबन्धहेतव । योगस्तु प्रकृतिप्रदेश-बन्धहेतुरवसेयः । योगा एव कर्मास्रवत्वेनोक्ता बन्धहेतवो युक्ता मिथ्यादर्शनादीनां तद्विकल्पत्वादित्यप्यनेनापास्तं, पञ्चविधबन्धकारणनिर्देशस्य यथोक्तप्रयोजनापेक्षितत्वात् । तथा मिथ्यादर्शनादयो द्रव्यभाव-

---

होने पर भी उसकी विवक्षा नहीं करके मिथ्यादर्शन का अभाव माना है । संयतासंयत नामके पांचवें गुणस्थान में अविरति और विरति मिश्ररूप है तथा प्रमाद कषाय और योग ये बन्ध हेतु पाये जाते हैं । (प्रमत्त संयत में प्रमाद कषाय और योग ये बन्ध हेतु हैं । अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसांपराय इन चार गुणस्थानों में कषाय और योग ये दो बन्ध हेतु हैं । उपशांत कषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली के एक योग ही बन्ध हेतु है । अयोग केवली बन्ध हेतु से रहित हैं । मिथ्यादर्शन आदि जो पांच बन्ध हेतु कहे हैं इनमें एक-एक में बन्धका हेतुपना पाया जाता है तथा इनके जो उत्तर भेद हैं उनमें भी प्रत्येक में बन्ध हेतुत्व है । क्योंकि एक साथ एक आत्मा में सभी मिथ्यादर्शनों के भेद हिंसादि सभी अविरतियां सम्भव नहीं हैं । उससे निश्चित होता है कि मिथ्यादर्शनादि समस्त रूप से बन्ध हेतु हैं तथा व्यस्त रूप से भी बन्ध हेतु होते हैं । उनमें भी मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद और कषाय ये तो स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध इन दोनों बन्धों के हेतु हैं तथा योग प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध इन दो बन्धों का हेतु है ।

'कायवाङ्मनस्कर्म योगः स आस्रवः' इस प्रकार पहले योग को आस्रवरूप कहा था अतः योग ही बन्ध हेतु है, मिथ्यादर्शनादि तो उसी के विकल्प हैं ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि पांच प्रकार के बन्ध के कारण बतलाने में प्रयोजन है ऐसा अभी समझा दिया है अर्थात् गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धके कारण बताना है अतः बन्धके कारण पांच बतलाये गए हैं तथा परवादी की मान्यता का निरसन करने के लिए भी पांच बन्ध हेतु कहे हैं ।

रूपाः परस्परं हेतुहेतुमद्भावेनानादिसन्तत्या जीवस्य बोद्धव्याः। तत्र द्रव्यरूपाः पुद्गलद्रव्यविकाराः। भावरूपास्तु चेतनद्रव्यविकारा इति विज्ञेयाः। तत्र च ये स्वसंवेदिता भावमिथ्यादर्शना दयस्ते द्रव्य-मिथ्यादर्शनादिबन्धस्य हेतवो ज्ञापका भवन्ति। तेषां द्रव्यमिथ्यात्वादिकर्मबन्धमन्तरेणानुपपत्तेर्द्रव्य-मिथ्यात्वादिकर्मबन्धभावोऽपि भावमिथ्यात्वादीनामुत्पत्तौ। अन्यथा मुक्तात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गः स्यात्। एवं च सति द्रव्यमिथ्यात्वादयोऽस्वसंवेदिताः कारका एव हेतवो भावमिथ्यात्वादिबन्धस्येति भावमिथ्या-त्वादयो हेतवः कारकाश्च द्रव्यमिथ्यात्वादीनामिति च परस्परं हेतुहेतुमद्भावो विजातीयानां कथितो भवति। तथा सजातीयानां च स बोद्धव्यः। पूर्वपूर्वमिथ्यादर्शनादीनां द्रव्यभावात्मनां तथाविधोत्तरो-त्तरमिथ्यात्वादिहेतुत्वेन सुप्रतीतत्वादित्यलमतिविस्तरेण। इदानीं बन्धप्रतिपत्त्यर्थमाह—

मिथ्यादर्शन आदिक द्रव्य रूप और भावरूप हैं। ये द्रव्यरूप मिथ्यात्व आदि और भावरूप मिथ्यात्व आदि परस्पर में कारण कार्यरूप से अनादि सन्तानपन से जीवके होते हैं, अर्थात् भाव मिथ्यात्व से द्रव्य मिथ्यात्व उत्पन्न होता है और द्रव्यमिथ्यात्व के उदय से पुनः भाव मिथ्यात्व उत्पन्न होता है यह कारण कार्य की परम्परा जीव में अनादिकाल से चली आ रही है। इसीतरह अविरति, प्रमाद आदिके विषय में समझना। उनमें जो द्रव्यरूप मिथ्यात्व आदि हैं वे पुद्गल द्रव्यके विकार हैं और जो भावरूप मिथ्यात्वादि हैं वे चेतन द्रव्य के विकार हैं ऐसा जानना चाहिए। उनमें जो स्वसंवेदित भाव मिथ्यादर्शनादि हैं वे द्रव्य मिथ्यादर्शनादि के बन्धके ज्ञायक हेतु हैं, क्योंकि द्रव्य मिथ्यात्व आदि कर्म बन्ध के बिना वे भाव मिथ्यात्वादि नहीं हो सकते हैं और द्रव्य मिथ्यात्वादि जो कर्म बन्ध हैं वह भी भाव मिथ्यात्व आदि के उत्पत्ति में हेतु हैं, इस तरह परस्पर में हेतु हेतुमद्भाव पाया जाता है। यदि इनमें परस्पर में हेतु हेतुमद्भाव नहीं माना जाय तो मुक्त जीवों के भी बन्धका प्रसंग आयेगा। भाव मिथ्यात्वादि बन्धके द्रव्यमिथ्यात्वादिक अस्वसंवेदित कारक हेतु हैं और द्रव्यमिथ्यात्व आदि बन्धके भावमिथ्यात्वादिकारक हेतु हैं। इस प्रकार इन विजातियों का परस्पर में हेतु हेतुमद्भाव कहा गया है। तथा सजातियों का भी परस्पर में हेतु हेतुमद्भाव जानना चाहिए, क्योंकि पूर्व पूर्वके द्रव्य भाव मिथ्यादर्शनादिक उत्तर-उत्तर द्रव्य भाव मिथ्यादर्शनादि के कारण हुआ करते हैं, यह बात सुप्रतीत ही है। अब इस विषय का विवेचन समाप्त करते हैं।

अब बन्धकी प्रतिपत्ति के लिये कहते हैं—

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।।२।।

कषायो निरुक्तः क्रोधादिः । सह कषायेण वर्तत इति सकषाय आत्मा । तस्य भावः सकषायत्वम् । तस्मात्सकषायत्वात् । ननु बन्धहेतुविधाने कषायग्रहणस्योक्तत्वादत्र पौनरुक्त्यं प्राप्नोतीति चेत्तन्न वक्तव्यमन्यार्थत्वात्कषायानुवादस्य । यथा जठराग्न्याशयानुरूपमभ्यवहरणं तथा कषायेषु सत्सु तीव्रमन्दमध्यमकषायपरिणामानुरूपस्थित्यनुभवने भवत इत्येतस्य विशेषस्य प्रतिपादनार्थं कषायग्रहणं पुनरनूद्यते । अत्र जीवनमायुःप्राणलक्षणम् । तेनाऽविनिर्मुक्तोऽयमात्मा कर्मादत्ते न तु विनिर्मुक्तः । नापि प्रधानं कर्मादत्ते । न च तत्सकषायमाकाशादिकं वा तस्याऽचेतनत्वादित्येतस्यार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थं जीवाभिधानं कृतं, अनादिसम्बन्धत्वज्ञापनार्थं च । कर्मणो योग्यात् ज्ञानावरणादिपर्यायरूपेण परिण-

---

सूत्रार्थ—सकषायपना होने से जीव कर्मके योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है वह बन्ध कहलाता है । क्रोधादि कषाय कह चुके हैं । कषाय से सहित आत्माको सकषाय कहते हैं । भाव अर्थ में त्व प्रत्यय आकर सकषायत्व शब्द बना है ।

शंका— उस सकषायत्व से बन्ध के हेतु के कथन में कषाय का ग्रहण हो गया है अतः यहां कहना पुनरुक्त दोष होगा ?

समाधान— ऐसा नहीं कहना, कषाय का पुनः ग्रहण अन्य अर्थ को सूचित करता है । जैसे–जठर की अग्नि के अनुसार खाया हुआ भोजन पचता है अर्थात् पेटकी अग्नि यदि तीव्र-तेज है तो खाया हुआ भोजन अच्छी तरह पच जाता है, और यदि उक्त अग्नि मन्द है या मध्यम है तो उसी तरह भोजन पचता है, ठीक इसी प्रकार कषायों के होने पर उनके तीव्र मन्द मध्यम कषाय परिणामों के अनुसार स्थिति और अनुभाग होते हैं, इस विशेषता का प्रतिपादन करने के लिये कषाय शब्द का पुनः ग्रहण हुआ है ।

यहां आयुप्राण को जीवन कहा है और उस जीवन से युक्त जो आत्मा है वही कर्मों को ग्रहण करता है, जो उक्त जीवन से रहित है, वह आत्मा कर्म ग्रहण नहीं करता ऐसा जानना । जैन मत प्रधान को (सांख्य मतमें आत्माको सर्वथा शुद्ध माना है उसको बन्ध नहीं होता किन्तु प्रधान नामके जड़ तत्त्वको ही बन्ध होता है ऐसा उनके यहां माना है) कर्मको ग्रहण करने वाला नहीं मानता अर्थात् कर्मको आत्मा ही ग्रहण करता है न कि जड़ प्रधान । क्योंकि कषाययुक्तपना-कषायभाव उस जड़ प्रधान के संभव नहीं है, न आकाशादि के कषायभाव सम्भव है, क्योंकि ये अचेतन हैं । इस बातको स्पष्ट करने के लिये सूत्र में 'जीवः' शब्द लिया है तथा अनादि सम्बन्धपना बतलाने

मनशक्तिसमर्थानित्यर्थः । कर्मयोग्यानिति लघुनिर्देशात्सिद्धे कर्मणो योग्यानिति पृथग्विभक्त्युच्चारणं वाक्यद्वयज्ञापनार्थं क्रियते । तद्यथा—कर्मणो जीवः सकषायो भवतीत्येकं वाक्यम् । अस्यायमर्थः—कर्मण इति हेतुनिर्देशः । ततः कर्मणो हेतोः पौद्गलिकात्सकषायो जीवो भवति, न स्वभावतस्ततोऽन्यापेक्षस्य कषायस्य न सातत्यं, येन मुक्त्यभावः स्यात् । द्वितीयं वाक्यं—कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्त इति । अस्याप्ययमर्थः—अर्थवशाद्विभक्तिपरिणाम इति पूर्वं कर्मण इति हेतुनिर्देशः । इह सम्बन्धनिर्देशः सम्पद्यते । सम्बन्धः सन् जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते सकषायत्वादिति कर्मयोग्यपुद्गलादाना-त्प्रागपि यस्मात्सम्बन्धः संसारी तस्मात्तस्य तदादानं न विरुध्यते । अन्यथाऽस्याधुना सकषायत्वस्याप्य-नुपपत्तेः । एवं च न संसारी शुद्धस्वभावोऽनादिकर्मबन्धसहितस्याऽशुद्धरूपतोपपत्तेः । पुद्गलग्रहणं कर्मणः

के लिये भी जीव शब्द को ग्रहण किया है । कर्म के योग्य अर्थात् ज्ञानावरण आदि पर्याय रूप से परिणमन की सामर्थ्य से युक्त 'कर्मयोग्यात्' ऐसा लघु निर्देश हो सकता था किन्तु 'कर्मणो योग्यान्' ऐसा पृथक विभक्ति वाला निर्देश किया है वह दो वाक्यों को बतलाने हेतु किया है । आगे इसीको कहते हैं—कर्म से जीव कषाय सहित होता है यह एक वाक्य है, इसका अर्थ यह है कि कर्मणः कर्म से यह हेतु निर्देश है, उस कर्मरूप पौद्गलिक हेतु से जीव कषाययुक्त होता है, अपने आप स्वभाव से कषाययुक्त नहीं होता, इससे यह अर्थ फलित होता है कि कषाय परकी अपेक्षा से होती है, इसलिये सतत नहीं पायी जाती, यदि सतत पायी जाय तो जीव कभी मुक्त नहीं होगा । भाव यह है कि कषाय आत्मा का ज्ञान दर्शन जैसा स्वभाव नहीं है इसलिये अनादिकाल से प्रवाहरूप से आत्मा में रहते हुए भी उसका नाश हो जाता है और आत्मा कर्म से मुक्त होकर सुखी हो जाता है । दूसरा वाक्य यह है कि कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, इसका भी यह अर्थ है कि अर्थ के निमित्त से विभक्ति बदल जाती है इस नियमानुसार पहले तो 'कर्मणः' का अर्थ पञ्चमी विभक्ति वाला पद था और इस दूसरे वाक्य में 'कर्मणः' पदको षष्ठी विभक्ति वाला स्वीकार करते हैं, सम्बन्ध होकर जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। सकषायत्व होने से, कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने के पहले भी जिस कारण से संसार था उस कारण से उसके कर्म ग्रहण विरुद्ध नहीं पड़ता है । यदि पहले उस आत्मा के सकषायत्व नहीं होता तो अभी भी सकषायत्व नहीं बनता । इससे निश्चित है कि संसारी जीव शुद्ध स्वभाव वाले नहीं हैं, क्योंकि अनादिकाल से ही कर्म बन्ध युक्त होने से उनमें अशुद्धता आयी हुई है । सूत्र में पुद्गलान् ऐसा पद आया है इससे कर्म पुद्गल द्रव्यात्मक है ऐसा सिद्ध होता है । इसलिये परवादी का कथन निरस्त होता

पुद्गलात्मकत्वख्यापनार्थम् । तेनाऽदृष्टोऽनात्मगुण इति निवेदितं भवति । यदि ह्यात्मगुण एव कर्म स्यात्तदा तस्याप्यमूर्तत्वं भवेत्तथा च सति यथाकाशममूर्ति दिगादीनां नानुग्राहकमुपघातकं च तथैवामूर्ति कर्मामूर्तेरात्मनोऽनुग्रहोपघातयोर्हेतुर्न स्यादित्यनिष्टमापद्येत । आदत्त इति वचनं सकषायत्वाज्जीवो बन्धमनुभवतीति यत्प्रतिज्ञातं तस्योपसंहारार्थं वेदितव्यम् । अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात्तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते । यथा च भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामोऽवसेयः । सवचनमन्यनिवृत्त्यर्थं–स एष एवोक्तलक्षणो बन्धो नान्योऽस्तीति । तेन गुणगुणिबन्धो निर्वर्तितो भवति । यदि हि गुणगुणिबन्धः स्यात्तदा मुक्त्यभावः प्रसज्येत–गुणस्वभावापरित्यागाद्गुणिनः । स्वभावपरित्यागे

है कि अदृष्ट नामा आत्मा का गुण है वही पुण्य पाप कर्म रूप है इत्यादि । वास्तव में यदि कर्म आत्मा का गुण होता तो उसके अमूर्त्तपना आ जाता और कर्मको अमूर्त्त स्वीकार करने पर जैसे आकाश अमूर्त्त होने से दिशादि का अनुग्राहक या उपघातक नहीं बनता, वैसे अमूर्त्त कर्म अमूर्त्त आत्मा के अनुग्राहक और उपघातक नहीं बन सकता था, इस तरह अनिष्ट-अमान्य बात सिद्ध हो जाने का प्रसंग आता । 'आदत्ते' इस पद से सकषायत्व होने से जीव बन्धका अनुभव करता है ऐसी जो पहले प्रतिज्ञा की थी (अर्थात् निश्चित किया था) उस कथन के उपसंहार के लिये 'आदत्ते' पद दिया है । फलितार्थ यह हुआ कि मिथ्यादर्शनादि के आवेश से आर्द्र हुए आत्मा के सब ओर से योग विशेष के कारण सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाह को प्राप्त ऐसे अनन्तानंत प्रदेश वाले पुद्गलों का जो कि कर्मरूप होने योग्य हैं उनका आत्माके साथ अविभाग स्वरूप उपश्लेष हो जाना बन्ध है । जैसे बर्त्तन में रखे गये अनेक प्रकार के रस, बीज, पुष्प और फल मदिरारूप परिणमन कर जाते हैं, वैसे आत्मा में स्थित पुद्गल भी योग और कषाय के कारण कर्मरूप से परिणमन कर जाते हैं । 'स बन्धः' इसमें स शब्द आया है उससे उक्त लक्षण वाला ही बन्ध है अन्य कोई नहीं है ऐसा सिद्ध नहीं होता है ।

इस कथन से गुण और गुणीका बन्ध मानने वाला सिद्धान्त निरस्त हो जाता है, यदि गुण और गुणीका बन्ध माना जाय तो कभी भी मुक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि गुण तो गुणीका स्वभाव होता है और जो स्वभाव होता है उसका कभी त्याग या अभाव नहीं हो सकता, यदि कदाचित हटात् स्वभाव का त्याग या नाश माना जाय तो

च गुणिनोप्यभाव इत्युभयाभावान्मुक्त्यभावः स्यात् । बन्धशब्दः करणादिसाधनो द्रष्टव्यः । तत्र करण-साधनस्तावद्बध्यते आत्मा येनासौ बन्धो मिथ्यादर्शनादिः । ननु बन्धहेतुरुक्तः । कथं बन्धो भवितुमर्हतीति चेत्सत्यमेतत्किं त्वभिनवद्रव्यकर्मादाननिमित्तत्वात् बन्धहेतुरपि सन्पूर्वोपात्तकर्महेतुकत्वात्कार्यतामास्कन्दन् तदनुविधानादात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणात्करणव्यपदेशमर्हतीति । तदनेनात्मना बध्यते आत्मसात्क्रियतेऽसौ बन्ध इति कर्मसाधनत्वमुपपद्यते । ज्ञानदर्शनाऽव्याबाधाऽनामाऽगोत्राऽनन्तरायत्वलक्षणं पुरुषसामर्थ्यं प्रतिबध्नाति यः स बन्ध इति कर्तृसाधनत्वमपि चोपपन्नम् । तथा बन्धनं बन्ध इति भावसाधनो बन्धशब्दो विज्ञेयः । ननु भावसाधनपक्षे अस्य कर्मभिः सामानाधिकरण्यं नोपपद्यते—ज्ञानावरणं बन्ध इत्यादि । नैष दोषस्तदव्यतिरेकात्—भावस्य भाववताऽभिधानं युज्यते यथा ज्ञानमेवात्मेति ।

गुणी का भी अभाव–नाश होगा, इस तरह गुण और गुणी दोनों का अभाव होने पर मुक्तिका अभाव हो जाता है ।

बन्ध शब्द करण आदि साधन से सिद्ध होता है, करण साधन–'बध्यते आत्मा येन असौ बन्धः मिथ्यादर्शनादिः' जिसके द्वारा आत्मा बन्धता है वह बन्ध अर्थात् मिथ्यादर्शनादि बन्ध है ।

प्रश्न— अभी आपने मिथ्यादर्शनादि को बन्धका कारण कहा था और अब उसे ही बन्ध कह रहे हैं यह कैसे सम्भव है ?

उत्तर—ठीक कहा, किन्तु नवीन द्रव्य कर्मों के ग्रहण में निमित्त होने से मिथ्यात्वादि बन्ध हेतु भी होते हैं और पूर्व के उपार्जित कर्म के उदय से होने के निमित्त से कार्यता प्राप्त करते हैं, पुनः आगामी कर्मों के लिए कारण बनते हैं इसतरह आत्माको परतन्त्र करने से करण साधन निर्देश बनता है । 'अनेन आत्मना बध्यते आत्मसात्क्रियते असौ बन्धः' ऐसा कर्मसाधनरूप बन्ध शब्द निष्पन्न होता है । अथवा ज्ञान, दर्शन, अव्याबाधत्व, अनाम, अगोत्र और अनन्तराय लक्षण वाला आत्मा का जो सामर्थ्य है नोट— (यहां पर मूल में अवगाहनत्व और सम्यक्त्व ये दो शब्द छूट गये ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि ज्ञानावरणादि आठ कर्म ज्ञानादि आठ गुण या सामर्थ्य को नष्ट करते हैं, उनमें से यहां छह ही आये हैं दो छूट गये हैं) उसको जो रोक देता है बांध देता है वह बंध कहलाता है, यह कर्तृसाधन हुआ । 'बन्धनं बन्धः' ऐसा भावसाधन रूप भी बंध शब्द बनता है ।

शंका—बंध शब्दको भाव साधनरूप मानते हैं तो इस शब्दका कर्मों के साथ सामानाधिकरण्य नहीं बनेगा, 'ज्ञानावरणं बंधः' इस तरह कैसे कहेंगे ? अर्थात् भाव

एवमितरसाधनयोजना च यथासम्भवं तज्ज्ञैः कर्तव्या । तस्य च बन्धस्योपचयापचयौ भवतः कर्मविव्ययोपलम्भाद्व्रीहिकोष्ठागारवत् । यथा कोष्ठागारे व्रीहीणां केषांचिन्निर्गमनादपरेषां च प्रवेशनादुपचयापचयौ दृष्टौ, तथाऽनादिकार्मणकोष्ठागारस्य केषांचित्कर्मणां भोगादन्येषां चादानादपचयोपचयौ भवत इत्यर्थः । इदानीं कर्मयोग्यपुद्गलप्रकारानाह—

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ।। ३ ।।

प्रकृतिशब्दोऽपादाने व्युत्पाद्यते । प्रक्रियतेऽर्थाऽनवगमादिकार्यं यस्या ज्ञानावरणादेरसौ प्रकृतिः । स्थित्यनुभवौ भावसाधनौ—स्थानं स्थितिः, अनुभवनमनुभव इति । प्रदेशशब्दः कर्मसाधनः । प्रदिश्यतेऽसाविति प्रदेशः । उक्ता निरुक्तिः । प्रकृत्यादीनामिदानीमर्थः कथ्यते—तत्र प्रकृतिः स्वभाव इत्यर्थः ।

साधन तो भावरूप पड़ता है और कर्म द्रव्यरूप पड़ता है अतः इनमें सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है । वह उससे अभिन्न है अर्थात् भाववान द्रव्य से भाव अभिन्न होता है इसलिए सामानाधिकरण्य बनता है । शब्दकी निरुक्ति करने में निपुण पुरुषों द्वारा बन्ध शब्दकी अन्य प्रकार से भी साधन योजना करनी चाहिए । उस बंधका उपचय और अपचय होता रहता है क्योंकि कर्मों में आय और व्यय देखा जाता है, जैसे कोठा या गोदाम में चावल का उपचय अपचय–बढ़ना और घटना होता रहता है, अर्थात् कोठे में से कितने ही चावलों को निकाला जाता है और कितने हो चावलों को कोठे में रखा जाता है । ठीक इसीतरह अनादिकाल से कर्मरूपी कोठार में कितने ही कर्मोंको भोगने से और कितने ही कर्मोंको ग्रहण करने से, उनकी वृद्धि हानि होती रहती है ।

अब कर्म योग्य पुद्गल के प्रकार बताते हैं—

सूत्रार्थ— प्रकृति, स्थिति, अनुभव और प्रदेश ये उस बंधके प्रकार हैं ।

प्रकृति शब्द अपादान अर्थ में व्युत्पन्न किया गया है, 'प्रक्रियते अर्थानिवगमादिकार्यं यस्या ज्ञानावरणादेः असौ प्रकृतिः' अर्थका अनवबोध (नहीं जानना) रूप कार्य जिससे किया जाता है वह ज्ञानावरणादि प्रकृति कहलाती है । यहां पर 'यस्याः' जिससे ऐसा अपादान कारक प्रयुक्त हुआ है । स्थिति और अनुभव शब्द भावसाधन में निष्पन्न हैं । 'स्थानं स्थितिः, अनुभवनम् अनुभवः' ऐसी निष्पत्ति है । प्रदेश शब्द कर्म साधन है– 'प्रदिश्यते असौ प्रदेशः' इस तरह प्रकृति आदि शब्दों की निरुक्ति कही । अब इन शब्दों

यथा निम्बस्य प्रकृतिस्तिक्तता । गुडस्य प्रकृतिर्मधुरता । तथा ज्ञानावरणस्य प्रकृतिरर्थाऽनवगमो ज्ञान-प्रतिहननस्वभावो वा दर्शनावरणस्य प्रकृतिरर्थाऽनालोचनं दर्शनप्रच्छादनशीलता वा । वेद्यस्य सद-सल्लक्षणस्य प्रकृतिः सुखदुःखसंवेदनम् । दर्शनमोहस्य प्रकृतिस्तत्त्वार्थाऽश्रद्धानम् । चारित्रमोहस्य प्रकृतिसंयमः । आयुषः प्रकृतिर्भवधारणम् । नाम्नः प्रकृतिर्नारकादिनामकरणम् । गोत्रस्य प्रकृतिरुच्चै-र्नीचैःस्थानसंशब्दनम् । अन्तरायस्य प्रकृतिर्दानादिविघ्नकरणं वेदितव्यम् । तत्स्वभावाऽप्रच्युतिः स्थितिः । यथाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां माधुर्यस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिस्तथा ज्ञानावरणादीनामर्था-ऽनवगमादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिरित्युच्यते । तद्रसविशेषोऽनुभवः । यथैवाऽजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्रमन्दादिभावेन रसविशेषस्तथैव कर्मपुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभव इति कथ्यते । कर्मभाव-परिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेश इति व्यपदिश्यते । प्रकृतिश्च स्थितिश्चानु-भवश्च प्रदेशश्च प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशाः । तच्छब्देन बन्धस्य प्रतिनिर्देशः । विधिशब्दः प्रकारवाची । बन्धस्य विधयो बन्धविधयः । त एते प्रकृत्यादयश्चत्वारो बन्धप्रकारा इति समुदायार्थः । तत्र प्रकृति-

---

का अर्थ कहते हैं–स्वभाव को प्रकृति कहते हैं, जैसे निंब की प्रकृति कड़वापन है, गुड़ की प्रकृति मीठापन है वैसे ज्ञानावरण की प्रकृति पदार्थ का बोध नहीं होने देना है अथवा ज्ञानका घात करना है । दर्शनावरण की प्रकृति पदार्थ को देखने नहीं देना अथवा दर्शन को ढ़कना है । साता असाता कर्मकी प्रकृति सुख दुःखका वेदन कराना है । दर्शनमोह कर्मकी प्रकृति तत्वार्थ का श्रद्धान नहीं होने देना है । चारित्रमोह की प्रकृति असंयम है । आयुकी प्रकृति भवको धारण करना है । नामकी प्रकृति नारकादि नाम करना है । गोत्र की प्रकृति उच्च नीच स्थान से कहना है । और अन्तराय की प्रकृति दानादि में विघ्न करना है ।

उस स्वभाव की च्युति–नाश नहीं होना स्थिति है । जैसे बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में मधुरता स्वभाव की अच्युति है । वैसे ज्ञानावरण आदि में पदार्थों को नहीं जानना इत्यादि रूप जो स्वभाव है वह नष्ट नहीं होना स्थिति कहलाती है । उन ज्ञानावरण आदि के प्रकृति का जो रस है वह अनुभव है, जैसे–बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध में तीव्र मन्द आदि रूप रस विशेष रहता है, वैसे कर्म पुद्गलों में अपने में होने वाला सामर्थ्यविशेष रहता है वह अनुभव कहलाता है । कर्मभाव से परिणत पुद्गल स्कन्धों का परमाणु के माप से अवधारण करना (गणना करना) प्रदेश है । प्रकृति आदि पदों में द्वन्द्व समास है । तत् शब्द बन्धका निर्देश करता है । विधि शब्द प्रकार वाची है, बन्धकी विधि बन्ध विधि ऐसा तत्पुरुष समास हुआ है । ये प्रकृति आदि बंधके

प्रदेशबन्धौ योगनिमित्तौ। स्थित्यनुभवबन्धौ कषायहेतुकावित्युक्तौ। तत्र प्रकृतिबन्धो द्वेधा विभज्यते—मूलप्रकृतिबन्ध उत्तरप्रकृतिबन्धश्चेति। यद्येव मूलप्रकृतिबन्धस्य के प्रकारा इत्यत्रोच्यते—

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥

आदौ भव आद्यो मूलप्रकृतिबन्ध इत्यर्थः। नन्वाद्यशब्दस्य ज्ञानावरणादिभि. सामानाधिकरण्यसद्भावात्। बहुवचननिर्देशः प्राप्नोतीति चेत्सत्यमेवमेतत्किंतु द्रव्यार्थिकनयविशेषस्य सामान्यस्यार्पणादेकः प्रकृतिबन्ध इत्याद्यशब्दादेकवचननिर्देशः कृतः। तद्भेदास्तु ज्ञानावरणादयः पर्यायार्थिकनयविषयभूताः प्राधान्येन विवक्षिता इति तेभ्यो बहुवचनप्रयोगः। दृश्यते हि लोके सत्यपि सामानाधिकरण्ये वचनभेदः। यथा प्रमाणं श्रोतारो, गावो धनमिति। ज्ञानावरणादयः शब्दाः कर्त्रादिषु साधनेषु यथा-

---

चार प्रकार हैं ऐसा समुदायार्थ है। प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध योग से होते हैं और स्थिति एवं अनुभव कषाय से होते हैं। प्रकृति बन्ध के दो भेद हैं–मूल प्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृति बन्ध।

प्रश्न—यदि ऐसे भेद हैं तो मूलप्रकृति बन्धके कौन प्रकार हैं ?

उत्तर—अब उन्हीं प्रकारों को सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—पहले मूल प्रकृति बन्धके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ भेद या प्रकार हैं।

आदि में जो हुआ वह आद्य है अर्थात् मूलप्रकृति बन्ध।

शंका—आद्य शब्दका ज्ञानावरण आदि शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य संभव है अतः आद्य शब्दका बहुवचन में प्रयोग होना चाहिए।

समाधान—सत्य है, किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सामान्यतः प्रकृति बन्ध एक है इस दृष्टि से आद्य शब्द एक वचन में आया है। उसके भेद ज्ञानावरण इत्यादि हैं वे पर्यायार्थिकनय के विषयभूत हैं उनको प्रधानता से विवक्षित कर उन शब्दों का बहुवचन से प्रयोग किया है। लोक में भी देखा जाता है कि सामान्याधिकरण्य होने पर भी वचन भेद–एकवचन, बहुवचन इत्यादि भेद पाया जाता है, जैसे—प्रमाणं श्रोतारः, गावो धनम्, श्रोतागण प्रमाण है, गायें धन हैं। इन वाक्यों में प्रमाण शब्द एक वचन वाला है श्रोता शब्द बहुवचन वाला है, गायें शब्द बहुवचनान्त है और धन

सम्भवं साधयितव्याः । तद्यथा—यत्स्वतन्त्रमावृणोति प्रच्छादयति ज्ञानं दर्शनं च येन वोपकरणेनाव्रियते तदावरणं कर्मोच्यते । तच्च द्वेधा—आवरणशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् । ज्ञानावरणं दर्शनावरणं चेति करणाधिकरणयोर्युटो विधानात् । कथं कर्तरीति चेद्युट्ट्या बहुलमिति वचनात् । वेदयति वेद्यतेऽनुभूयत इति वा वेदनीयम् । श्रद्धानं चारित्रं च यो मोहयति विलोपयति मुह्यतेनेनेति वा स मोहः कर्मविशेषः । कथं ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीयं वेदनीयं मोहनीयमिति च रूपमिति चेद्बहुलापेक्षया कर्तर्यनीयस्य विधानात् । एत्यनेन गच्छति नारकादिभवमित्यायुः । जनेरुसीति वर्तमाने एतेर्णिच्चेत्युसिः । नमयत्यात्मानं नारकादिभावेन नम्यतेऽनेनेति वा नाम । उणादिषु निपातितोऽयं शब्दः । उच्चैर्नीचैश्च

शब्द एक वचनान्त, फिर भी इनमें सामानाधिकरण है। इसीप्रकार आद्यो पद एक वचनान्त है और ज्ञानावरणादि पद बहुवचनान्त है तो भी उनमें सामानाधिकरण स्वीकार किया गया है । ज्ञानावरण आदि शब्द यथा सम्भव कर्त्ता आदि साधनों में सिद्ध करने चाहिए । अब उसीको बतलाते हैं–जो स्वतंत्ररूप से ज्ञान और दर्शन का आवरण करता है, उनको ढ़क देता है, अथवा जिस उपकरण द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कर्म है । वह आवरण दो प्रकार का है, क्योंकि आवरण शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है ज्ञानावरण और दर्शनावरण । आवरण शब्द 'करण और अधिकरण में युट् प्रत्यय आता है' इस व्याकरण के नियमानुसार आ उपसर्ग वृ धातु और युट् प्रत्यय से 'आवरण' बना है ।

प्रश्न—करण और अधिकरण में युट् आता है तो कर्त्ता अर्थ में युट् प्रत्यय कैसे आयेगा ? आपने तो कर्त्ता अर्थ में भी आवरण शब्द निष्पन्न किया है ?

उत्तर—'युट् ट्या बहुलम्' इस व्याकरण सूत्र से कर्तरिसाधन या कर्त्ता अर्थ में युट् प्रत्यय लाया है । जो वेदन या अनुभवन कराता है वह वेदनीय है । श्रद्धान और चारित्र को जो मोहित करता है–लुप्त करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोह है, मोह कर्म है ।

प्रश्न—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय ये शब्द कैसे बने हैं ?

उत्तर—व्याकरण में बहुल की अपेक्षा रहती है उससे कर्त्ता अर्थ में 'अनीय' प्रत्यय से ज्ञानावरणीय इत्यादि शब्द बने हैं । जिसके द्वारा नारकादि भव में आता है वह आयु है । 'जनेरुसीति' इस व्याकरण सूत्र से 'इण् गतौ' धातु से 'एतेर्णिच्' इस सूत्र द्वारा 'उस्' प्रत्यय आकर आयुस् शब्द बना है । जो आत्माको नारकादि भाव से नमाता

गूयते शब्द्यतेनेनेति गोत्रम् । दातृदेयादीनामन्तरं मध्यमेति ईयते वाऽनेनेत्यन्तरायः । यथा चान्नादेरभ्यवह्रियमाणस्यानेकविकारसमर्थवातपित्तश्लेष्मखलरसभावेन परिणामविभागो भवति तथैकेनात्मपरिणामेनादीयमानाः पुद्गलाः प्रवेशकाल एवावरणानुभवनमोहापादनभवधारणनानाजातिनामगोत्रव्यवच्छेदकरणसामर्थ्यं विश्वरूपेणात्मनि सन्निधानं प्रतिपद्यन्ते । ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने । तयोरावरणे ज्ञानदर्शनावरणे । ततो ज्ञानदर्शनावरणादिशब्दानामितरेतरयोगे द्वन्द्वः करणीयः । एवं ज्ञानावरणादयोऽन्तरायान्ता आद्यो मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधो वेदितव्यः । इदानीमुत्तरप्रकृतिबन्धभेदकथनार्थमाह—

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपंचभेदो यथाक्रमम् ।।५।।

पञ्च च नव च द्वौ चाष्टाविंशतिश्च चत्वारश्च द्विचत्वारिंशच्च द्वौ च पञ्च च पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्च । ते भेदा यस्य स भवति पञ्चनवद्व्यष्टाविंशति चतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेद इति द्वन्द्वगर्भोऽन्यपदार्थनिर्देशोऽत्र द्रष्टव्यः । कथमत्रान्यपदार्थ-

---

है अथवा जिसके द्वारा नमाया जाता है वह 'नाम' है, नाम शब्द उणादिगण में निपात से बना है । उच्च और नीच शब्द से जो कहलाता है वह गोत्र है । दाता और देय आदि के अन्तराल में–मध्य में जो आता है वह अन्तराय है । जिस प्रकार खाये गये अन्नादि का अनेक विकार करने में समर्थ ऐसे वात, पित्त, कफ, खल और रस भाव से परिणमन विभाग या भेद होता है, उसी प्रकार आत्मा के परिणाम के द्वारा ग्रहण किये पुद्गल प्रवेश करते समय ही आवरण, अनुभवन, मोहापादन, भवधारण, नाना जातियों के नामकरण, गोत्र और विघ्नकरण की सामर्थ्य युक्त अनेक रूप से आत्मा के सन्निधान को प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् अनेक रूप से परिणमन कर जाते हैं । ज्ञान और दर्शन शब्दोंका द्वन्द्व करके आवरण शब्दके साथ तत्पुरुष समास हुआ है, फिर सबका इतरेतर द्वन्द्व समास हुआ है । इस तरह ज्ञानावरण से लेकर अन्तराय पर्यन्त आदि के मूल प्रकृति बन्धके आठ प्रकार जानना चाहिए ।

अब उत्तर प्रकृति बन्धके भेद कहते हैं—

सूत्रार्थ—उत्तर प्रकृति बन्ध यथाक्रम से पांच, नौ, दो, अट्ठावीस, चार, बियालीस, दो और पांच भेद वाला है ।

पञ्च आदि पदों का द्वन्द्व समास करके फिर बहुब्रीहि समास द्वारा भेद शब्द जोड़ना चाहिए ।

प्रश्न—यहां पर अन्य पदार्थत्व से उत्तर प्रकृत्ति बन्ध के ग्रहण हेतु द्वितीय शब्द क्यों नहीं लिया ?

त्वेनोत्तरप्रकृतिबन्धस्य ग्रहणं द्वितीयशब्दः स्यादिति चेत् परिशेषादिति ब्रूमः। आद्यो मूलप्रकृतिबन्धः पूर्वं व्याख्यातस्ततः परिशेषादुत्तरप्रकृतिबन्ध एवायं संप्रतीयत इत्यदोषः। भेदशब्दश्च प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयः—पञ्चभेदो नवभेद इत्यादि.। क्रमस्यानतिक्रमेण यथाक्रमं यथानुपूर्वमित्यर्थः। ततो ज्ञानावरणं पञ्चभेदम्। दर्शनावरणं नवभेदम्। वेदनीयं द्विभेदम्। मोहनीयमष्टाविंशतिभेदम्। आयुश्चतुर्भेदम्। नाम द्विचत्वारिंशद्भेदम्। गोत्रं द्विभेदम्। अन्तरायः पञ्चभेद इति यथाक्रमं सम्बन्धोऽवसेयः। यद्येवं केषां ज्ञानानामावरणं पञ्चभेद इत्याह—

मतिश्रुताऽवधिमनःपर्ययकेवलानाम् ॥ ६ ॥

मतिश्च श्रुतं चावधिश्च मनःपर्ययश्च केवलं च मतिश्रुताऽवधिमनःपर्ययकेवलानि व्याख्यातलक्षणानि। तेषां मतिश्रुताऽवधिमनःपर्ययकेवलानां ज्ञानानामावार्याणां पञ्चविधत्वादावरणमपि पञ्चविधं प्रत्येतव्यं। ननु लघ्वर्थं मत्यादीनामिति निर्देशो युक्त इति चेन्न—पञ्चानामपि प्रत्येकमावरणैः

उत्तर—परिशेष न्याय से द्वितीय का ग्रहण स्वतः होता है, पहला मूल प्रकृति बंध पूर्व सूत्र में कहा ही है उससे परिशेष से यह उत्तर प्रकृति बन्ध ही है ऐसा प्रतीत होने से कोई दोष नहीं आता। भेद शब्द प्रत्येक के साथ जोड़ना, पंच भेद, नौ भेद इत्यादि। क्रम का उल्लंघन न करके यथाक्रम यथानुपूर्वी ऐसा यथाक्रम शब्द का अर्थ है। उससे फलित होता है कि ज्ञानावरण पांच भेद वाला है, दर्शनावरण नौ भेद वाला, वेदनीय दो भेद वाला, मोहनीय अट्ठावीस भेद वाला, आयु चार भेद वाला, नाम बियालीस भेद वाला, गोत्र दो भेद वाला और अन्तराय पांच भेद वाला है।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो किन ज्ञानों के आवरण पांच भेद वाले हैं ?

उत्तर—इसीका सूत्र द्वारा वर्णन करते हैं—

सूत्रार्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इन पांच ज्ञानों के आवरण करने वाले पांच ज्ञानावरण कर्म हैं।

मति इत्यादि पदों में द्वन्द्व समास है। इन पांचों ज्ञानों के लक्षण पहले बता चुके हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पांच ज्ञान आवार्य हैं अतः आवरण भी पांच हैं ऐसा जानना चाहिए।

शंका—सूत्र लघु बनाने के लिये 'मत्यादीनाम्' ऐसा सूत्र करना चाहिए ?

सम्बन्धार्थत्वात्प्रतिपदं पाठकरणस्य मतेरावरणं श्रुतस्यावरणमित्यादि। इतरथा हि–मत्यादीनामित्युच्यमाने तेषामेकमावरणमिति संप्रत्ययः स्यात्। ननु पञ्चज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतय इति प्रागुक्तम्। मत्यादीनि ज्ञानानि च पञ्चोक्तानि। ततस्तद्वचनादेव सङ्ख्यासम्प्रत्ययोभविष्यतीति चेत्तन्न-प्रत्येकमावरणपञ्चत्वप्रसङ्गात्। तद्वचनाद्धि मत्यादीनां प्रत्येकं पञ्चावरणानीत्यप्यनिष्टं प्रसज्येत। प्रतिपदग्रहणे पुनः सति सामर्थ्यादिष्टार्थसंप्रत्ययः शक्यते कर्तुम्। अत्र कश्चिदाह–मनःपर्ययज्ञानगमनशक्तिः केवलज्ञानप्राप्तिसामर्थ्यं चाऽभव्यस्यास्ति वा नवेति। यद्यस्ति तर्हि तस्याभव्यत्वं नोपपद्येत। अथ नास्ति तदुभयसामर्थ्याभावात्तदावरणद्वयकल्पना व्यर्थेति। तत्रोच्यते–नैष दोषोस्त्यार्हतानामुभयनयसद्भावात्। द्रव्यार्थादेशात्सतोर्मनःपर्ययकेवलज्ञानयोरावरणम्। पर्यायार्थादेशादसतोरिति। ननु यदि द्रव्यार्था-

---

समाधान—ऐसा नहीं कहना, पांचों में प्रत्येक का आवरण के साथ सम्बन्ध जोड़ना है, प्रतिपद में पाठ करना अर्थात् 'मतेरावरणं श्रुतस्यावरणम्' इत्यादि सम्बन्ध करना इष्ट है, अन्यथा 'मत्यादीनाम्' ऐसा सूत्र रचते तो उन सब ज्ञानों का एक आवरण है ऐसा अनिष्ट अर्थ होता।

शंका—ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतियां पांच हैं ऐसा कहा है, मति आदि पांच ज्ञान भी कह चुके हैं। उससे ही संख्या का बोध हो जाता है अर्थात् यहां पांचों ज्ञानों के नाम नहीं लेने पर भी उनकी संख्या का बोध हो जाता है अतः 'मत्यादीनाम्' ऐसा सूत्र बनाने पर भी अर्थ फलित होगा।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, वैसा सूत्र रचने पर मति आदि के एक-एक के पांच-पांच आवरण होते हैं ऐसा अनिष्ट अर्थ होता है और मति आदि पांच नाम लेने से सामर्थ्यवश इष्ट अर्थ की प्रतीति करना शक्य हो जाता है।

शंका—मनःपर्यय ज्ञान गमन की शक्ति और केवलज्ञान प्राप्ति की शक्ति अभव्य जीवों के है या नहीं, यदि है तो उनके अभव्यपना नहीं रहता, और वह शक्ति नहीं है तो उन दोनों ज्ञानों की शक्तियां नहीं होने के कारण अभव्य के इन दोनों ज्ञानों के आवरण मानना व्यर्थ है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है। अर्हन्त देव के मतमें दो नय माने गये हैं, द्रव्यार्थिक नय से सत् स्वरूप मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के आवरण आते हैं। और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा असत्रूप ज्ञानों के आवरण आते हैं। (प्रगटता नहीं होने के कारण उक्त ज्ञान असत्रूप है) ऐसा समझना चाहिए।

देशान्मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं वास्त्यभव्यस्य तर्हि भव्यत्वमस्य प्राप्नोतीति चेत्स्यादेवं यदि सम्यग्ज्ञान-दर्शनचारित्रशक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वं कल्प्यते। न चैवम्। कथं तर्हि सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावा-भावाभ्यां भव्याभव्यत्वविकल्पः? कनकेतरपाषाणवत्-यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यतीति कनक-पाषाणमित्युच्यते, तदभावादन्धपाषाणमिति। तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो यः स भव्यस्त-द्विपरीतोऽभव्य इत्युच्यते। अत्राह—केषां दर्शनानामावरणं काश्च दर्शनावरणं भवन्तीत्यत्रोच्यते—

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥

आत्मनो रूपपरिच्छेदने उपकरणभूतमिन्द्रियं चक्षुरिति व्याख्यातम्। तत्पर्युदासप्रतिषेधाद-चक्षुरपि स्पर्शाद्यर्थग्रहणे उपकरणमेव स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रिय नो इन्द्रियाख्य पञ्चप्रकारमुक्तम्।

शंका—द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टि से अभव्य के मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान है तो उस जीव के भव्यपना आ जायेगा?

समाधान—ऐसी बात तब होती जब सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र की शक्ति का सद्भाव होने से भव्यत्व और उस शक्ति के अभाव से अभव्यत्व स्वीकार किया जाय, किंतु ऐसा स्वीकार नही किया गया है।

प्रश्न—फिर किस प्रकार स्वीकार किया है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन आदि की प्रगटता जिसके होगी वह भव्यत्व युक्त है और जिसके वह प्रगटता नहीं होगी वह अभव्यत्व है, जैसे–कनक पाषाण और अन्ध पाषाण, अर्थात् जो सुवर्णभाव की प्रगटता को प्राप्त करेगा वह सुवर्ण पाषाण है और जो सुवर्ण भाव की प्रगटता को प्राप्त नहीं करेगा वह अन्धपाषाण कहा जाता है, ठीक इसी तरह सम्यक्त्व आदि पर्याय की अभिव्यक्ति के जो योग्य है वह भव्य है और उक्त पर्याय की अभिव्यक्ति जिसके नहीं होगी वह अभव्य है।

प्रश्न—किन दर्शनों का आवरण है और कौन दर्शनावरण प्रकृतियां हैं?

उत्तर—इसीका सूत्र द्वारा प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन का आवरण होता है तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पांच निद्रायें हैं इस तरह ये दर्शनावरण की प्रकृतियां हैं।

आत्मा के रूप देखने की जो उपकरणभूत इन्द्रिय होती है वह चक्षु कहलाती है इसका व्याख्यान हो चुका है। उसके पर्युदास प्रतिषेधरूप अचक्षु भी स्पर्श आदि अर्थ

अवधिकेवलं चेति दर्शनज्ञानद्वयं कथितम् । चक्षुश्चाचक्षुश्चावधिश्च केवलं च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानि । तेषां चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानाम् । अत्र दर्शनावरणाभिसम्बन्धाद्भेदनिर्देशो वेदितव्यः । चक्षुर्दर्शनावरणमचक्षुर्दर्शनावरणमवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणमिति । मदखेदक्लमापनयनार्थो यः स्वापः स निद्रेत्युच्यते । निपूर्वस्य द्रातेः कुत्साक्रियस्य निद्राशब्दस्य निष्पत्तिः । यत्सन्निधानादात्मा निद्रायते कुत्स्यते सा निद्रा । द्रायतेर्वा स्वप्नक्रियस्य निद्रेति सिध्यति । तस्या निद्रायाः पुनःपुनर्वृत्तिर्निद्रानिद्रेत्युच्यते । या क्रियात्मानं प्रचलयति सा प्रचलेति व्यपदिश्यते । सा पुनः शोकश्रममदादिप्रभवा विनि-

---

को ग्रहण करने में उपकरणभूत है, उस अचक्षु के स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय और नो इन्द्रिय-मन ऐसे पांच प्रकार कहे हैं ।

विशेषार्थ—'न चक्षुःइति अचक्षुः' ऐसा यहां अचक्षु पद में नञ् समास हुआ है । यहां समास में जो नकार है वह निषेध या अभाव का द्योतक है, अभाव दो प्रकार का है । पर्युदास प्रतिषेध अभाव और प्रसज्य प्रतिषेध अभाव । भावान्तर स्वभाव वाला पर्युदास प्रतिषेध अभाव है अर्थात् अमुक का निषेध या अभाव है तो अन्य किसी भाव का सद्भाव है ऐसा इस पद का अर्थ होता है, और सर्वथा अभावरूप प्रसज्य प्रतिषेध होता है । यहां 'न चक्षुः इति अचक्षुः' इसमें चक्षु इन्द्रियपने का तो निषेध या अभाव हुआ किन्तु अन्य इन्द्रियपने का अभाव नहीं हुआ है अतः टीकाकार ने कहा कि पर्युदास प्रतिषेधरूप अचक्षु है, अस्तु । इन दोनों अभावों का विशद विवेचन प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि न्याय ग्रंथों में पाया जाता है ।

अवधिज्ञान और अवधिदर्शन तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन का कथन भी पहले किया है । चक्षु आदि चार पदों में द्वन्द्व समास है । इनमें दर्शनावरण शब्द का सम्बन्ध करके भेद बनाना चाहिए, अर्थात् चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण इस तरह प्रकृतियों के नाम हैं ।

मद, खेद, श्रम को दूर करने के लिए जो सोया जाता है वह निद्रा है । निःउपसर्ग सहित कुत्सा अर्थ में द्रा धातु से निद्रा शब्द बना है । जिसके सन्निधान से आत्मा निद्रित होता है–कुत्सित अवस्था को प्राप्त होता है वह निद्रा है, अथवा सामान्यतः स्वप्न क्रिया–शयन क्रियार्थक द्रा धातु से निद्रा शब्द निष्पन्न होता है । उस निद्रा की पुनः पुनः वृत्ति होना निद्रानिद्रा है । जो आत्मा को प्रचलित करती है उस क्रिया को प्रचला कहते हैं । वह शोक, श्रम और मद आदि के निमित्त से होती है, इस निद्रा

वृत्तेन्द्रियव्यापारस्यान्तःप्रीतिलवमात्रहेतुरासीनस्यापि नेत्रगात्रक्रिया सूचिता । सैव प्रचला पुनःपुनरावर्तमाना प्रचलाप्रचलेति व्यपदेशमर्हति । यत्सन्निधानाद्रौद्रकर्मकरणं बहुकर्मकरणं च भवति सा स्त्यानगृद्धिः । कथमिति चेदुच्यते–स्त्यायतेरनेकार्थत्वात्स्वप्नार्थ इह गृह्यते । गृद्धेरपि दीप्तिरर्थः । स्त्याने स्वप्ने गृध्यति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं च बहु च कर्म करोति सा स्त्यानगृद्धिरिति संज्ञायते । निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचलेति वीप्सायामाभीक्ष्ण्ये वा द्वित्वनिर्देशः । तत्र निद्रादिकर्मणः सद्वेद्यस्य चोदयान्निद्रादिपरिणामसिद्धिर्भवति । कथमत्र सद्वेद्योदय इति चेत् शोकक्लमादिविगमदर्शनात् । असद्वेद्यस्य च मन्दोदयसद्भावोऽवगन्तव्यः । निद्रा च निद्रानिद्रा च प्रचला च प्रचलाप्रचला च स्त्यानगृद्धिश्च निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धय इत्यत्रानुवर्तमानेन दर्शनावरणेनाभेदेनाभिसम्बन्धः कृतः । अत्रैकस्यापि दर्शनावरणस्य चक्षुरादिभिर्भेदेन निद्रादिभिरभेदेन च सम्बन्धो न विरुध्यते । विवक्षावशेन

अवस्था में आत्मा देखना इत्यादि इन्द्रियों के व्यापार से रहित हो जाता है, तथा इसमें अन्तरंग में कुछ प्रीति का भास होता है, यह निद्रा बैठे बैठे भी आ जाती है और नेत्र तथा गात्र शरीर की क्रिया युक्त होती है अर्थात् इस निद्रा में नेत्र खोलना बंद करना शरीर का हिलना आदि क्रिया होती हैं। वही प्रचला पुनः पुनः आना प्रचलाप्रचला है। जिसके उदय से आत्मा रौद्रकर्म करता है या बहुतसा कार्य कर लेता है वह स्त्यानगृद्धि है। इसका शब्द और अर्थ किस तरह है ऐसा प्रश्न होने पर बतलाते हैं–स्त्याय धातुके अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से यहां स्वप्न शयन अर्थ ग्रहण किया है, गृद्धि का अर्थ दीप्ति है, 'स्त्याने-स्वप्ने गृध्यति दीप्यते यदुदयादात्मा रौद्रं च बहु कर्म च करोति सा स्त्यानगृद्धिः' स्वप्न में नींद में भी दीप्त रहता है अर्थात् जिस कर्म के उदय से आत्मा शयन अवस्था में कठोर भयंकर कार्य करता है या बहुतसा कार्य करता है वह स्त्यानगृद्धि है। निद्रानिद्रा और प्रचलाप्रचला पद में वीप्सार्थ या अभीक्षा अर्थ में द्वित्व हुआ है। उसमें निद्रादि कर्म के तथा साता वेदनीय कर्म के उदय से निद्रादि परिणामों की सिद्धि होती है।

प्रश्न—इस में साता वेदनीय का उदय किस प्रकार निमित्त होता है ?

उत्तर—निद्रा पूर्ण होने पर शोक, खेद, श्रम आदि नष्ट हो जाते हैं अतः इसमें साता का उदय माना है। अथवा असाता वेदनीय का मन्द उदय उसमें कारण है ऐसा समझना चाहिए। निद्रा आदि पदों में द्वन्द्व समास है। इनका दर्शनावरण के साथ अभेद से सम्बन्ध किया है। यहां एक दर्शनावरण का चक्षु आदि के साथ भेद से संबंध करना और निद्रा आदि पदों के साथ अभेद से सम्बन्ध करना विरुद्ध नहीं है, विवक्षा

तथोपपत्तेः। ततश्चक्षुरादिदर्शनानां चतुर्णामावरणं चतुर्भेदम्। निद्रादयश्च दर्शनावरणानि पञ्चेति नवधा दर्शनावरणं बोद्धव्यम्। इदानीं वेदनीयस्योत्तरप्रकृतिभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

सदसद्वेद्ये ॥ ८ ॥

यस्योदयादनुग्राहकद्रव्यसम्बन्धापेक्षाद्देवादिगतिषु प्राणिनां शारीरमानसानेकविधसुखपरिणामो भवति तत्सद्वेद्यम्। प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यम्। यत्फलं दुःखमनेकविधं कायिकं मानसं चातिदुस्सहं नरकादिषु गतिषु जन्मजरामरणवधबन्धादिनिमित्तं प्राणिनां भवति तदसद्वेद्यम्। अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यम्। सद्वेद्यं चासद्वेद्यं च सदसद्वेद्ये। ते वेदनीयस्य भेदौ भवतः। अथ मोहनीयस्याष्टाविंशतिप्रभेदस्य किमाख्याः प्रकारा इत्यत्र ब्रूमः—

दर्शनचारित्रमोहनीयाऽकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडश भेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्व-तदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानु-बन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ॥९॥

वश ऐसा सम्बन्ध बन जाता है। उनमें चक्षु आदि चार दर्शनों का आवरण चार ही भेदवाला है। तथा निद्रा आदि दर्शनावरण पांच भेदवाला है, सब मिलकर नौ प्रकार का दर्शनावरण कर्म जानना चाहिए।

अब वेदनीय कर्म के उत्तर प्रकृति भेद बताते हैं—

सूत्रार्थ—वेदनीय कर्म के दो भेद हैं साता वेदनीय और असाता वेदनीय।

जिसके उदय से अनुग्राहक द्रव्यों के सम्बन्ध की अपेक्षा लेकर देवादि गतियों में जीवों को शारीरिक और मानसिक अनेक प्रकार के सुख परिणाम होते हैं वह साता वेदनीय कर्म है, प्रशस्त वेद्य को साता या सत् वेद्य-वेदनीय कहते हैं। नरकादि गतियों में जिसका फल अनेक प्रकार का शारीरिक और मानसिक अत्यन्त दुःसह दुःख रूप है, जिसके निमित्त से जीवों को जन्म, जरा, मरण, वध, बन्ध इत्यादि कष्ट होते हैं वह असाता वेदनीय कर्म है। अप्रशस्त वेद्यको असाता वेदनीय कहते हैं। ये दो भेद वेदनीय कर्म के जानने चाहिए।

प्रश्न—मोहनीय कर्म अट्ठावीस भेद वाला है उसके क्या नाम हैं? अथवा कौन से प्रकार हैं?

उत्तर—इसीको सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय ऐसे मोहनीय के दो भेद हैं। पुनः चारित्र मोहनीय के अकषायवेदनीय और कषायवेदनीय प्रकार हैं, दर्शनमोहनीय के तीन

दर्शनमत्र तत्त्वार्थश्रद्धानं गृह्यते नाऽवलोकनं तदावरणस्योक्तत्वात् । चारित्रं वक्ष्यमाणलक्षण-भेदम् । दर्शनं च चारित्रं च दर्शनचारित्रे । तयोर्मोहनीये दर्शनचारित्रमोहनीये । न कषायोऽकषायः । अत्र कषायप्रतिषेधादकषायः । ईषत्कषायो नोकषाय इति चोच्यते ईषदर्थे नञः प्रयोगात् । अकषायश्च कषायश्चाकषायकषायौ प्रोक्तलक्षणौ । वेद्यतेऽस्मादनेनेति वा वेदनीयम् । अकषायकषाययोर्वेदनीये अकषायकषायवेदनीये । दर्शनचारित्रमोहनीये चाऽकषायकषायवेदनीये च दर्शनचारित्रमोहनीयाऽकषाय-कषायवेदनीयानि । तान्याख्याः संज्ञा येषां ते तथोक्ताः । मोहनीयप्रकारास्ते किंभेदा इत्युच्यते-त्रिद्विन-वषोडशभेदा इति । त्रयश्च द्वौ च नव च षोडश च त्रिद्विनवषोडश । ते एव भेदा येषां ते तथोक्ताः । तत्र दर्शनमोहनीयादिभिश्चतुर्भिस्त्रयादिभेदानां चतुर्णां यथासंख्येनाभिसम्बन्धः क्रियते । दर्शनमोहनीयं त्रिभेदम् । चारित्रमोहनीय द्विभेदम् । अकषायवेदनीयं नवभेदम् । कषायवेदनीय षोडशभेदमिति । तत्र के दर्शनमोहनीयस्य त्रयो भेदा इत्याह—सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानीति बन्ध प्रत्येकमपि दर्शनमोहनीयं

भेद और चारित्रमोहनीय के प्रथम दो भेद करना पुनः एक के नौ और दूसरे के सोलह भेद करना, उनके नाम–दर्शनमोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व हैं । अकषाय वेदनीय के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नाम हैं । कषाय वेदनीय के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन में से प्रत्येक के क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे चार चार भेद होने से सब सोलह भेद हो जाते हैं । इस तरह कुल अट्ठावीस भेद मोहनीय कर्म के कहे गये हैं ।

यहां पर दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धान लिया है देखना अर्थ नहीं लिया है क्योंकि दर्शन का आवरण पहले कह दिया है उसका यहां प्रसंग नहीं है । चारित्र का लक्षण और भेद आगे कहेंगे । दर्शन चारित्र पद में द्वन्द्व समास है । 'न कषायः अकषायः' इसमें कषाय के निषेध से अकषाय बना है, इसको ईषत्कषाय और नोकषाय भी कहते हैं । इसमें ईषत् किञ्चित् अर्थ में नञ् समास हुआ है । कषाय और अकषाय का लक्षण कहां दिया है । वेदा जाता है इससे या इसके द्वारा वह वेदनीय है, यह वेदनीय शब्द कषाय और अकषाय के साथ जोड़ना । दर्शनचारित्र मोह इत्यादि पदों का द्वन्द्व समास कर आख्या शब्द के साथ बहुव्रीहि समास करना । ये मोहनीय के जो भेद हैं वे तीन, दो, नौ और सोलह हैं, त्रि आदि संख्या पदों में द्वन्द्व समास करना, इन संख्याओं का यथाक्रम से सम्बन्ध करना अर्थात् तीन भेद वाला दर्शन मोहनीय है, चारित्रमोहनीय दो भेदवाला, अकषाय वेदनीय नौ भेदवाला और कषाय वेदनीय सोलह भेदवाला है ।

प्रश्न—दर्शनमोहनीय के तीन भेद कौन से हैं ?

सत्कर्मापेक्षया त्रैविध्यमास्कन्दति–सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं तदुभयं चेति। तत्र यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्ग-पराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धान निरुत्सुको हिताहितविभागाऽसमर्थो मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवति तन्मिथ्यात्व-कर्मोच्यते। तदेव शुभपरिणामविशुद्धस्वरसं सत् सम्यक्त्वाख्यां लभते। तच्चौदासीन्येनावस्थितं सदात्मानं श्रद्धानं न निरुणद्धि। तद्वेदयमानः पुरुषो वेदकसम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते। तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात् क्षीणाऽक्षीणमदशक्तिकोद्रववदर्धशुद्धस्वरसं सत् तदुभयमित्याख्यायते—सम्यङ्मिथ्या-त्वमिति यावत्। तदुभयादुभयपरिणामपरिणत आत्मा सम्यङ्मिथ्यादृष्टिरित्यभिधीयते। चारित्रमोह-नीयस्य द्वौ भेदौ कावित्याह—अकषायकषायाविति। अकषाय ईषत्कषाय इत्यर्थः। अकषायश्च कषाय-श्चाकषायकषायाविति विग्रहः। तत्राकषायवेदनीयस्य नवभेदा हास्यादय उच्यन्ते—वेद्यतेऽनुभूयते यः स वेदो लिङ्गमिति यावत्। स स्त्र्यादिविशेषणभेदत्त्रेधा—स्त्री च पुमांश्च नपुंसकं च स्त्रीपुंनपुंस-

---

उत्तर—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। यह दर्शनमोहनीय कर्म बन्ध की अपेक्षा एक है किन्तु सत्ता की अपेक्षा उक्त तीन भेद वाला हो जाता है। जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से पराङ्मुख रहता है, तत्त्वार्थश्रद्धान में उत्सुक नहीं हो पाता, जिसको हित अहित का भेद भी ज्ञात नहीं है जिसके उदय से मिथ्या-दृष्टि संज्ञा होती है वह मिथ्यात्व कर्म है। उसी मिथ्यात्व कर्मका रस जब शुभ परिणाम द्वारा कम हो जाता है तब उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते हैं। यह कर्म उदासीनता से आत्मा में उदित होने पर भी आत्माके श्रद्धान को नहीं रोकता है। इस सम्यक्त्व कर्म का वेदन करने वाला पुरुष सम्यग्दृष्टि कहलाता है। वही मिथ्यात्व कर्म प्रक्षालन विशेष से क्षीण अक्षीण मद शक्ति वाले कोदों धान्य के समान आधी विशुद्धिरूप अपने रसको धारण करता है तब उसको सम्यग्मिथ्यात्व कहते हैं। दो तरह के–सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिले परिणाम से परिणत होने से आत्मा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता है।

प्रश्न—चारित्रमोहनीय के दो भेद कौन से हैं ?

उत्तर—अकषाय और कषाय। ईषत् कषाय को अकषाय कहते हैं। अकषाय वेदनीय के हास्यादि नौ भेद हैं। अब उनका कथन करते हैं—जो वेदा जाय वह वेद है, वेद और लिंग एकार्थ वाची हैं। स्त्री आदि विशेषण से वेद के तीन भेद होते हैं। स्त्री आदि तीन पदों का द्वन्द्व करके पुनः कर्मधारय समास से वेद शब्द जोड़ा है। हास्यादि पदों में द्वन्द्व समास है। जिसके उदय से आत्मा के हास्य का परिणाम उत्पन्न होता है वह हास्य द्रव्यकर्म है। जिसके उदय से आत्माके देश आदि में उत्सुकता उत्पन्न होती है

कानि । स्त्रीपुंनपुंसकानि च तानि वेदाश्च ते स्त्रीपुंनपुंसकवेदाः । हास्यं च रतिश्चारतिश्च शोकश्च भयं च जुगुप्सा च स्त्रीपुंनपुंसकवेदाश्चेति विग्रहः । तत्र यस्योदयादात्मनो हास्यपरिणामाविर्भावो जायते तद्धास्यं द्रव्यकर्माख्यायते । यस्य विपाकाद्देशादिष्वौत्सुक्यमात्मनो भवति तद्रतिसंज्ञं द्रव्यकर्मो-च्यते । अरतिस्तद्विपरीतलक्षणा बोद्धव्या । यस्योदयाच्छोचनपर्यायः प्रभवत्यात्मनस्तच्छोकाख्यं कर्म कथ्यते । यस्योदयाज्जन्तोरुद्वेगस्तद्भयं सप्तविधमुक्तम् । यदुदयादात्मीयदोषसंवरणं भवति तज्जुगुप्साख्यं द्रव्यकर्म । यस्योदयात् स्त्रैणान्भावान्मार्दवक्लैव्यमदनावेशनेत्रविभ्रमास्फालनसुखपुंस्कामनादीन्प्रति-पद्यते स स्त्रीवेदः । यदा च तस्योद्भूतवृत्तित्वं तदेतरयोः पुंनपुंसकयोः सत्कर्मद्रव्यावस्थानापेक्षया न्यग्भावो बोद्धव्यः । ननु लोके प्रख्यातं योनिमृदुस्तनादिकं स्त्रीवेदस्य लिङ्गमिति चेत्तन्न—तस्य नाम-कर्मोदयकार्यत्वात् । अतः पुंसोऽपि स्त्रीवेदोदयः कदाचिद्योषितोऽपि पुंवेदोदयोऽपि स्यादाभ्यन्तर-

---

वह रति नामका द्रव्य कर्म है । इससे विपरीत अरति कर्म है । जिसके उदय से आत्मा के शोक पर्याय होती है वह शोक कर्म है । जिसके उदय से जीवको उद्वेग होता है वह भय कर्म है । भय सात प्रकार का पहले कह दिया है । जिसके उदय से यह जीव अपने दोषों को ढ़कता है वह जुगुप्सा नामका द्रव्य कर्म है । जिसके उदय से स्त्री सम्बन्धी मार्दव, भयभीतता, कामावेश, नेत्र मटकाना, पुरुष को चाहना इत्यादि भाव प्रगट होते हैं वह स्त्री वेद कर्म है । जिस समय इस वेद की उद्भूत वृत्ति होती है उस वक्त इतर नपुंसक और पुरुष वेद की सत्ता में द्रव्य कर्मरूप स्थिति होकर गौणता रहती है ।

शंका—लोक में स्त्री वेद का लिंग–चिन्ह तो योनि मृदुस्तनादि होना प्रसिद्ध है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, उक्त लिंग तो नाम कर्म के उदय से होने वाला कार्य है । इसलिये किसी पुरुष के स्त्री वेद का उदय होता है और कदाचित् किसी स्त्री के भी पुरुष वेद का उदय रहता है क्योंकि वेद कर्म अभ्यन्तर विशेष है । अर्थात् जीव में स्त्री सम्बन्धी, पुरुष सम्बन्धी और नपुंसक सम्बन्धी भाव पैदा करना वेद कर्मका कार्य है । शरीर में योनि मेहनादि चिन्ह-लिंग तो नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं । कोई पुरुष है और उसके स्त्री वेद का उदय है तथा कोई स्त्री है और उसके पुरुष वेद का उदय है ऐसा सम्भव है किन्तु जो जन्म से समान या विषम वेद उदय में आया है वही मरणपर्यन्त रहेगा, ऐसा नहीं होता है कि एक ही जीव के उसी एक पर्याय में वेद बदलता हो, वेद तो एक ही अन्त तक रहेगा । केवल द्रव्य वेद जो पुरुषाकार आदि है और भाव वेद जो स्त्री सम्बन्धी भाव है उनमें विषमता संभव है, यह विषमता भी

विशेषात् । यस्तु शरीराकारः स नामकर्मनिर्वर्तितः । एतेन पुंनपुंसकवेदौ व्याख्यातौ । यस्योदयादात्मा पौंस्कान्भावानास्कन्दति स पुंवेदः । यस्योदयान्नापुंसकान्भावानात्मा प्रतिपद्यते स नपुंसकवेद इत्याख्यायते । अथ कषायवेदनीयस्य षोडशभेदाः कथ्यन्ते कषायास्तावच्चत्वारः—क्रोधश्च मानश्च माया च लोभश्च क्रोधमानमायालोभा इति । तत्र स्वपरोपघातनिरनुग्रहापादितक्रौर्यपरिणामोऽमर्षः क्रोधः । स चतु –प्रकारः–पर्वतपृथिवीवालुकोदकराजितुल्यत्वात् । जात्याद्युत्सेकावष्टम्भात्पराऽप्रणतिरूपो मानः । सोऽपि शैलस्तम्भास्थिदारुलतासमानत्वाच्चतुर्विधः । परातिसन्धानायोपहितकौटिल्यप्रायः परिणामो माया । सा च प्रत्यासन्नवंशपर्वोपचितमूलमेषशृङ्गगोमूत्रिकाऽवलेखनीसदृशत्वाच्चतुर्विधा । अनुग्रहप्रवणद्रव्याद्यभिकांक्षावेशो लोभः । स च क्रिमिरागकज्जलकर्दमहरिद्रारागसदृशत्वाच्चतुर्विधः । एकशः प्रत्येकमित्यर्थः । ते क्रोधमानमायालोभाः प्रत्येकं चतुरवस्था भवन्ति । अनन्तानुबन्धिनश्चाप्रत्याख्यानाश्च प्रत्याख्यानाश्च संज्वलनाश्च अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलना इति । तत्राऽनन्तसंसार-

---

केवल कर्म भूमि के मनुष्य तिर्यंचों में है । देव नारकी तथा भोग भूमि के मनुष्य तिर्यंचों में द्रव्य भाव वेद समान ही होते हैं ।

शरीर के आकार नामकर्म द्वारा रचित होते हैं । स्त्री वेद के समान पुरुष वेद और नपुंसक वेद का व्याख्यान समझना चाहिए, अर्थात् जिसके उदय से जीव पुरुष सम्बन्धी भावों को प्राप्त करता है वह पुरुष वेद है, जिसके उदय से आत्मा नपुंसक भावको पाता है वह नपुंसक वेद है ।

अब कषायवेदनीय के सोलह भेद बतलाते हैं—कषाय चार हैं क्रोध, मान, माया और लोभ । जो स्व और परका घातक है अनुग्रह रहित भाव है, क्रूर परिणाम पैदा करता है ऐसा जो आमर्ष है वह क्रोध है । क्रोध चार प्रकार का है–पर्वत रेखा समान, पृथिवी रेखा समान, वालु रेखा समान और जल रेखा समान । जाति, कुल, रूप इत्यादि के निमित्त से परको नहीं झुकने के जो परिणाम है वह मान है, इसके भी चार भेद हैं–शैलस्तंभ समान, अस्थि समान, दारु–लकड़ी समान और लता समान । परको ठगने हेतु जो कुटिलता होती है वह माया है । वह चार प्रकार की है प्रत्यासन्न बांस.. की जड़ के समान, मेंढे के सींग के समान, गोमूत्र के समान और अवलेखनी (खुरूपा) के समान । अनुग्रह में प्रवण ऐसे द्रव्य आदि की वाञ्छारूप लोभ है इसके भी चार भेद हैं–क्रिमि रंग समान, काजल समान, कीचड़ समान और हल्दी के समान । इन क्रोध, मान, माया और लोभ के प्रत्येक की चार अवस्थायें होती हैं । अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन । अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यात्व को

कारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम् । तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः कथ्यन्ते । तेषामुदयकालोऽन्तर्मुहूर्तः । तज्जनितवासनाकालस्तु सङ्ख्येयासङ्ख्येयाऽनन्तभवाः । ईषत्प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानं—देशसंयम इति यावत् । तदावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभा उच्यन्ते । तदुदयाद्देशविरतिं स्वल्पामप्यात्मा कर्तुं न शक्नोति । तेषामप्युदयकालोन्तर्मुहूर्तः । तज्जनितवासनाकालस्तु षण्मासाः । प्रत्याख्यानं स्थूलसूक्ष्मप्राणिघातपरिहरणं—संयम इति यावत् । तत्समस्तमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभा निरुच्यन्ते । तदुदयादात्मा कृत्स्नां विरतिं कर्तुं न शक्नोति । तेषामप्युदयकालोऽन्तर्मुहूर्तः । तज्जनितसंस्कारकालः पुनरुत्कर्षेणैकपक्षप्रमाणः । समेकीभावे वर्तते । संयमेन सहावस्थानादेकीभूता ज्वलन्ति दीप्यन्ते संयमो वा ज्वलत्येतेषु सत्स्वपीति सज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः । तेषामुदयकालो भावनाकालश्च जघन्यत उत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तः । तथा चोक्तम्—

> अन्तोमुहुत्तपक्खं छम्मासं सङ्खमसङ्खमणन्तभवा ।
> सञ्जलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ।। इति ।।

अनन्त कहते हैं, उस अनन्त को जो बांधता है वह अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय है । इनका उदयकाल अन्तर्मुहूर्त्त है (यह अन्तर्मुहूर्त्त काल क्रोध से मान, मान से माया इत्यादिरूप परिवर्त्तन की अपेक्षा कहा है, ऐसे तो अनन्तानुबंधी आदि कषायें अपने-अपने गुणस्थानों के काल प्रमाण बहुत समय तक रहती हैं)

उस उदय से उत्पन्न हुआ वासनाकाल तो संख्यातभव असंख्यातभव और अनंतभव है । ईषत प्रत्याख्यान को अप्रत्याख्यान या देश संयम कहते हैं, उसको जो आवृत करे वे अप्रत्याखयानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ हैं । इस कषाय के उदय से आत्मा अल्प भी देश विरति को ग्रहण नहीं कर सकता । इसका उदयकाल भी अन्तर्मुहूर्त्त है, और उससे उत्पन्न हुआ वासनाकाल छह मासका है । स्थूल और सूक्ष्म जीवों का घात नहीं करना प्रत्याख्यान कहलाता है, उसीको संयम कहते हैं, उस समस्त संयम को जो आवृत करे वे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ हैं । उस कषाय के उदय से आत्मा पूर्ण विरति को नहीं कर पाता । उनका उदयकाल भी अन्तर्मुहूर्त्त है और उससे उत्पन्न हुआ संस्कार उत्कर्ष से पंद्रह दिन का है । 'सम्' उपसर्ग एकोभाव अर्थ में है, संयम के साथ एक होकर जलता है अथवा जिनके उदय में संयम दीप्त रहता है वे संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय हैं । उनका उदयकाल और भावनाकाल दोनों ही अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है । कहा भी है—संज्वलन आदि कषायोंका वासनाकाल क्रमशः अन्तर्मुहूर्त्त, पक्ष, छहमास तथा संख्यात, असंख्यात और अनन्त भव प्रमाण है ।। १ ।।

उदयकालं प्रत्यप्युक्तं—कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो भाववेदा आजन्म आमरणादिति । त एते समुदिताः षोडशकषाया भवन्ति । आह—व्याख्यातमष्टाविंशत्युत्तरप्रकृतिभेदं मोहनीयम् । अथायुषश्चतुर्विधस्य को नामनिर्देश इत्यत्रोच्यते—

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।। १० ।।

नरकादिषु भवसम्बन्धेनायुषो व्यपदेशो भवति । नरकेषु भवं नारकमायुः । तिर्यग्योनिषु भवं तैर्यग्योनम् । मनुष्येषु भवं मानुषम् । देवेषु भवं दैवमिति । नारकं च तैर्यग्योनं च मानुषं च दैवं च नारकतैर्यग्योनमानुषदैवान्यायूंषीति सम्बन्धः । यद्भावाभावयोर्जीवितमरणं भवत्यात्मनस्तदायुः प्रधानं कारणं न पुनरन्नादि जीवितमरणस्य निमित्तं तस्यायुरुपग्राहकत्वाद्देवनारकेष्वन्नाद्यभावाच्च । तत्र

(उदयकालं प्रत्यप्युक्तं–कषायवत् नान्तर्मुहूर्त्तस्थायिनो भाववेदा–(भावभेदा) आजन्म आमरणादिति ऐसा संस्कृत टीका का पाठ है जो इस स्थान पर असंगत प्रतीत होता है, यह पाठ वेद के कथन में होना चाहिए था, जो कुछ हो । इस पाठ में 'भाव भेदा' पद अशुद्ध है इस स्थान पर 'भाववेदा' पाठ सुधार कर रखा है । इस पाठांश का अर्थ इस प्रकार है—उदयकाल के प्रति भी कह दिया है, भाव वेदों का उदयकाल क्रोधादि कषायों के उदयकाल के समान अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण नहीं है किन्तु भाव वेदों का उदय तो जन्म से लेकर मरण तक स्थायी रहता है)

इस तरह सब कषाय सोलह होती हैं ।

प्रश्न—अट्ठावीस भेद वाले मोहनीय कर्मका व्याख्यान हो गया । अब चार प्रकार की आयु के कौनसे नाम हैं यह बताओ ?

उत्तर—इसीको सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ये चार आयुकर्म के भेद हैं ।

नरकादि में भव के सम्बन्ध से आयु की संज्ञा होती है, नरक में होने वाली आयु नारक है । तिर्यंच योनि में होने वाला तिर्यग्योन कहलाता है, मनुष्य में होने वाला मानुष है और देवों में होने वाला देव कहा जाता है । नारकादि पदों में द्वन्द्व समास है । आयु शब्द का सम्बन्ध कर लेना चाहिए । जिसके सद्भाव में आत्मा का जीवन और जिसके अभाव में मरण होता है वह आयु कर्म है । अर्थात् जीवन का प्रधान कारण आयु है, अन्नादिका सद्भाव और अभाव जीवन मरण का प्रधान कारण नहीं है । अन्न पानादिक तो उस आयु के अनुग्राहक मात्र होते हैं तथा देव और नारकी के

नरकेषु तीव्रशीतोष्णवेदनाकरेषु यन्निमित्तं दीर्घजीवनं भवति तन्नारकायुः। क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंसमशकादिविविधवेदनाविधेयीकृतेषु तिर्यक्षु यस्योदयाद्वसनं भवति तत्तैर्यग्योनमायुरवगन्तव्यम्। शारीरेण मानसेन च सुखदुःखेन समाकुलेषु मनुष्येषु यस्योदयाज्जन्म भवति तन्मानुषमायुरवसेयम्। शारीरेण मानसेन च सुखेन प्रायः समाविष्टेषु देवेषु यस्योदयाज्जन्म भवति तद्दैवमायुरवबोद्धव्यम्। इदानीं व्याख्यातं चतुर्विधायुषोऽनन्तरमुद्दिष्टं यन्नामकर्म तस्योत्तरप्रकृतिसङ्कीर्तनार्थमाह—

गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्याऽगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशः कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥

यस्य द्रव्यकर्मण उदयवशादात्मा भवान्तरं प्रत्यभिमुखो व्रज्यामास्कन्दति सा गतिरित्युच्यते। गम्यत इति गतिरिति व्युत्पत्तावपि रूढिवशात्कस्मिंश्चिद्गतिविशेषे वर्तते गोशब्दवत्। इतरथा हि

अन्नादि के अभाव में भी जीवन देखा जाता है इसलिये अन्नादि आयु के प्रधान कारण नहीं माने जाते। तीव्र शीत और उष्ण वेदनाओं के खानि स्वरूप नरकों में जिसके निमित्त से दीर्घ जीवन होता है वह नरकायु कर्म है। भूख, प्यास, शीत, उष्ण, दंश-मशक आदि विविध वेदनाओं के स्थान स्वरूप तिर्यंचों में जिसके उदय से रहना पड़ता है वह तिर्यंच आयुकर्म है। शारीरिक मानसिक सुख और दुःखों से व्याप्त मनुष्यों में जिसके उदय से जन्म होता है वह मानुष आयु कर्म है। शारीरिक और मानसिक सुखों से प्रायः भरपूर भरे हुए देवों में जिसके उदय से जन्म होता है वह देवायु कर्म है।

चार प्रकार की आयु का कथन हो चुका। उसके अनन्तर कहा गया जो नाम कर्म है उसके उत्तर प्रकृति भेद बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशकीर्ति तथा इनसे इतर अर्थात् प्रत्येक शरीर से लेकर यशःकीर्त्ति प्रकृति तक प्रतिपक्षी कर्म भी हैं, जैसे—साधारण, स्थावर, दुर्भग, दुःखर, अशुभ, बादर, अपर्याप्त, अस्थिर, अनादेय और अयशः कीर्ति। तथा अन्तिम तीर्थंकर प्रकृति ये सर्व भेद नाम कर्म के जानने।

जिस द्रव्यकर्म के उदय से आत्मा भवान्तर के प्रति अभिमुख होकर गमन करता है वह गति कर्म है 'गम्यते इति गतिः' ऐसी व्युत्पत्ति करने पर भी रूढ़िवश किसी

यदात्मा न गच्छति तदाऽगतिर्भवेत् । सत्कर्मावस्थायां च गतिव्यपदेशो न स्यात् । एवमन्यत्रापि । सा चतुर्विधा—नरकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्चेति । यन्निमित्त आत्मनो नारकभावस्तन्नरकगतिनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् । तासु नरकादिगतिष्वव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतार्थात्मा जातिरित्या-

---

विशेष गति के अर्थ में यह गति शब्द आया है । जैसे गो शब्द बनता है । यदि गति शब्द का अर्थ गमन करना किया जाय तो जिस समय आत्मा गमन क्रिया नहीं करता है उस समय उसको अगति–गतिरहित मानना पड़ेगा तथा जब भक्ति कर्म सत्तामें रहता है उस वक्त भी आत्मा को अगति मानना होगा । ऐसे ही अन्य शब्दों में लगाना ।

विशेषार्थ—यहां पर गति शब्द की निरूक्ति की है कि–'गम्यते इति गतिः' जिसके उदय से गमन किया जाय वह गति है ऐसा गम धातु से क्ति प्रत्यय आकर गति शब्द निष्पन्न हुआ । यह शब्द गोशब्द के समान रूढिवश बना है । जैसे गाय चले चाहे न चले किन्तु रूढिवश उसे गच्छति इति गौः कहा जाता है, वैसे आत्मा गमन करे चाहे न करे गति नाम कर्म के उदय से उसको गतियुक्त माना जाता है । सामान्यतः गतिका उदय सर्व संसारी जीवों के सदा पाया जाता है, गति कर्म के उदय से रहित कोई संसारी जीव नहीं है, हां गतिकर्म का परिवर्त्तन अवश्य होता है, मनुष्य में मनुष्य गति का उदय है, मनुष्य मरता है तो अन्य देवादि यथा योग्य गति का उदय चालू हो जाता है इत्यादि । यहां विशेष यह कहना है कि 'इतरथा हि यदात्मा न गच्छति तदाऽगतिर्भवेत् । सत्कर्मावस्थायां च गति व्यपदेशो न स्यात्' ऐसा संस्कृत टीका में वाक्य है, जिसका अर्थ होता है कि यदि गति नामकर्म का अर्थ या कार्य गमन करते हैं तो जिस समय आत्मा गमन क्रिया नहीं करता उस वक्त उसको अगति-गतिरहित मानना पड़ेगा, जो कि सिद्धांत विरुद्ध है, इसका कारण ऊपर कह ही दिया है । तथा गति कर्म सत्ता अवस्था में जब रहता है उस वक्त गति संज्ञा नहीं होगी, यह इतना वाक्यार्थ विचारणीय है, क्योंकि गति कर्म केवल सत्ता में ही रहे कोई भी गति उदय में नहीं आवे ऐसा संसार अवस्था में होता ही नहीं, हां यह तो होता है कि जिस गति में आत्मा वर्त्तमान में है केवल वही एक गति उदय में रहती है शेष तीन गतियां सत्तारूप रहती हैं, उनका गमनरूप फल नहीं है तो भी उन्हें गति ही कहते हैं । इस दृष्टि से कहा कि सत्ता में स्थित गति कर्मकी भी गति संज्ञा है । अतः गमन करावे चाहे न करावे तो भी गति कर्मको गति ही कहते हैं, अस्तु । गति चार प्रकार की है—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति । जिसके उदय से आत्माके नारक भाव प्राप्त होता है वह नरकगति नाम कर्म है । इस तरह शेष गतियों में लगाना चाहिए ।

ख्यायते । तन्निमित्तं द्रव्यकर्म जातिनाम । तत्पञ्चविधं–एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रिय-जातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, पञ्चेन्द्रियजातिनाम चेति । यस्योदयादात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् । यस्योदयादात्मनः शरीरनिर्वृत्तिर्भवति तच्छरीरनाम । तत्पञ्चविधमौदारिकशरीरनाम, वैक्रियिकशरीरनाम, आहारकशरीरनाम, तैजसशरीरनाम, कार्मण-शरीरनाम चेति । तेषां व्युत्पत्त्यादिविशेषो व्याख्यातः । यस्योदयाच्छिरउरःपृष्ठबाहूदरनलकपाणिपादा-नामष्टानामङ्गानां तद्भेदानां च ललाटनासिकादीनामुपाङ्गानां विविको भवति तदङ्गोपांगं नाम । तत्त्रिविधमौदारिकशरीरांगोपांगनाम, वैक्रियिकशरीरांगोपांगनाम, आहारकशरीरांगोपांगनाम चेति । अंगोपांगानां यन्निमित्ता परिनिष्पत्तिर्भवतितन्निर्माणं नाम कर्मोच्यते । तद्द्विविधं—स्थाननिर्माणं प्रमाणनिर्माणं चेति । तज्जातिनामकर्मोदयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयति निर्मीयतेऽ-नेनेति हि निर्माणम् । शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योन्यप्रदेशसश्लेषणं यतो भवति तद्बन्धनं पञ्चविधं विज्ञायते । तस्याभावे शरीरप्रदेशानां दारुनिचयवदसंपर्कः स्यात् । यस्योदयादौ-

---

उन नरकादि गतियों में अव्यभिचारी सादृश्य से एकीकृत स्वरूप जाति है, उसका निमित्त द्रव्यकर्म जाति नाम है । अर्थात् जिसके उदय के निमित्त से जीवों में अविरोधी सादृश्य पाया जाता है वह जाति नामकी प्रकृति है इसके पांच भेद हैं—एकेन्द्रियजाति नाम, द्वीन्द्रियजाति नाम, त्रीन्द्रियजाति नाम, चतुरिन्द्रियजाति नाम और पञ्चेन्द्रिय-जाति नाम । जिसके उदय से आत्मा एकेन्द्रिय नाम से कहा जाता है वह एकेन्द्रियजाति नाम कर्म है । इसी तरह शेष जातियों में लगाना । जिसके उदय से आत्मा के शरीर रचना होती है वह शरीर नाम कर्म है, वह पांच प्रकार का है—औदारिक शरीर नाम, वैक्रियिक शरीर नाम, आहारक शरीर नाम, तैजस शरीर नाम और कार्मण शरीर नाम । इन शरीरों के व्युत्पत्ति अर्थ पहले कह चुके हैं । जिसके उदय से शिर, उर, पृष्ठ, बाहु, उदर, नलक, हाथ और पैर इन आठ अंगों का तथा इनके प्रभेद स्वरूप ललाट नासिका आदि उपांगों का विवेक होता है वह अंगोपांग नाम कर्म है । उसके तीन प्रकार हैं—औदारिक शरीर अंगोपांग, वैक्रियिक शरीर अंगोपांग और आहारक शरीर अंगोपांग । जिसके निमित्त से अंगोपांगों की निष्पत्ति होती है वह निर्माण नाम कर्म है । वह दो प्रकार का है, स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण । उस उस जाति नाम कर्म के उदय की अपेक्षा लेकर तदनुसार चक्षु आदि के स्थान और प्रमाण जिसके द्वारा रचे जाते हैं वह निर्माण कर्म है । शरीर नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए जो पुद्गल हैं उनके प्रदेशों का जिसके उदय से परस्पर में संश्लेष होता है वह बन्धन नाम कर्म है । उसके पांच भेद औदारिक शरीर बन्धन इत्यादि हैं । यदि यह कर्म नहीं होता तो

दारिकादिशरीराणां पञ्चानां विवरविरहितान्योन्यप्रदेशानुप्रवेशेनैकत्वापादनं भवति तत्संघातनाम पञ्चविधम् । यस्योदयादौदारिकादिशरीराकृतिनिर्वृत्तिर्भवति तत्संस्थाननाम प्रत्येतव्यम् । तत् षोढा प्रविभज्यते—समचतुरश्रसंस्थाननाम, न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम, स्वातिसंस्थाननाम, कुब्जसंस्थाननाम, वामनसंस्थाननाम, हुण्डसंस्थाननाम चेति । तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसन्निवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वर्तितसमस्थितचक्रवदवस्थानकरं समचतुरश्रसंस्थाननाम । नाभेरुपरिष्टाद्भूयसो देहसन्निवेशस्याधस्ताच्चाल्पीयसो जनकं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननाम न्यग्रोधाकारसमताप्रापितान्वर्थात् । तद्विपरीतसन्निवेशकरं स्वातिसंस्थाननाम वल्मीकतुल्याकारं । पृष्ठप्रदेशभाविबहुपुद्गलप्रचयविशेषलक्षणस्य निर्वर्तकं कुब्जसंस्थाननाम । सर्वाङ्गोपांगह्रस्वव्यवस्थाविशेषकारणं वामनसंस्थाननाम । सर्वांगोपांगानां हुण्डसंस्थितत्वात् हुण्डसंस्थाननाम । यस्योदयादस्थिबन्धनविशेषो भवति तत्संहननं नाम । तदपि षड्विधं—वज्रर्षभनाराचसंहनननाम, वज्रनाराचसंहनननाम, नाराचसंहनननाम, अर्ध-

---

शरीर के प्रदेश लकड़ियों के ढेर के समान पृथक-पृथक ही रहते । जिसके उदय से औदारिक आदि पांच शरीरों के प्रदेशों में से अपने अपने शरीर के प्रदेश परस्पर में अन्योन्य प्रवेश स्वरूप तथा छिद्र रहित एकत्व सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं वह संघात नाम कर्म है, यह भी पांच प्रकार का है । जिसके उदय से औदारिक आदि शरीरों के आकार की रचना होती है वह संस्थान नाम कर्म है । उसके छह भेद हैं—समचतुरस्र संस्थान नाम, न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नाम, स्वाति संस्थान नाम, कुब्जक संस्थान नाम, वामन संस्थान नाम और हुण्डक संस्थान नाम । जिसके उदय से ऊपर, नीचे मध्य में समविभाग से शरीर के अवयवों का सन्निवेश व्यवस्थित होता है, जैसे कि कुशल शिल्पि द्वारा रचित समस्थित चक्र होता है, इस तरह सुन्दर आकार को करने वाला समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म है । नाभि के ऊपर के भाग में शरीर का मोटा होना और नाभि के नीचे का भाग छोटा होना जिसके उदय से होता है वह न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नाम है । न्यग्रोध–वट वृक्ष के समान आकार रूप होने से इसका अन्वर्थ नाम है । उससे विपरीत आकार को करने वाला स्वाति संस्थान नाम है । स्वाति वल्मीक–वामी को कहते हैं जैसे वामी का आकार नीचे मोटा और ऊपर पतला रहता है वैसे जो शरीर रहता है वह स्वाति संस्थान कहलाता है । जिसके उदय से पीठ पर बहुत पुद्गल प्रदेश होते हैं वह कुब्जक संस्थान है । जिससे उदय से सर्व अंगोपांग ह्रस्व–छोटे होते हैं वह वामन संस्थान नाम कर्म है । जिसके उदय से सारे अंगोपांग हुण्ड के समान होते हैं वह हुण्डक संस्थान है । जिसके उदय से अस्थियों का बन्धन विशेष होता है वह संहनन कर्म है, वह भी छह प्रकार का है वज्रवृषभनाराच संहनन

नाराचसंहनननाम, कीलिकासंहनननाम, असंप्राप्तसृपाटिकासंहनननाम चेति । तत्र वज्राकारोभयास्थिसन्धि प्रत्येकं मध्ये सवलयबन्धनं सनाराचं सुसंहतं वज्रर्षभनाराचसंहननम् । तदेव वलयबन्धनविरहितं वज्रनाराचसंहननमिति बोद्धव्यम् । तदेवोभयवज्राकारबन्धनव्यपेतमवलयबन्धनं सनाराचं नाराचसंहननमित्यवसेयम् । तदेवैकपार्श्वे सनाराचमितरत्रानाराचमर्धनाराचसंहननमित्यवगन्तव्यम् । तदुभयमन्ते सकीलं कीलिकासंहननमिति विज्ञेयम् । अन्तरप्राप्तपरस्परास्थिसन्धिकं बहिःसिरास्नायुमांसघटितमसंप्राप्तसृपाटिकासंहननमित्याख्यायते । यस्योदयाच्छरीरे स्पर्शप्रादुर्भावस्तत् स्पर्शनाम । तदष्टविधं—कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम, उष्णनाम चेति । यन्निमित्तो देहे रसविकल्पस्तद्रसनाम । तत्पञ्चविधं—तिक्तनाम, कटुकनाम, कषायनाम, आम्लनाम, मधुरनाम चेति । यस्योदयादंगे गन्धाविर्भावस्तद्गन्धनाम द्विविधं—सुरभिगन्धनाम, असुरभिगन्धनाम चेति । यद्धेतुकोऽङ्गे वर्णविभागस्तद्वर्णनाम पञ्चविधं–कृष्णवर्णनाम, नीलवर्णनाम, रक्तवर्णनाम, हरिद्रावर्ण-

---

नाम, वज्रनाराच संहनन नाम, नाराच संहनन नाम, अर्धनाराच संहनन नाम, कीलकसंहनन नाम और असंप्राप्तसृपाटिका संहनन नाम । दोनों अस्थि सन्धियां वज्राकार होना प्रत्येक के मध्य में वलय, बन्धन और नाराच सुसंहत होना जिस कर्म के उदय से होता है वह वज्रवृषभनाराच संहनन नाम कर्म है । जिस कर्म के उदय से दोनों अस्थियां वज्राकार होती हैं किन्तु वलय बन्धन नहीं होते वह वज्रनाराच संहनन है । जिसके उदय से दोनों अस्थियां वज्राकार नहीं होती, वलय बन्धन भी नहीं होती किन्तु नाराच युक्त (कील सहित) शरीर होता है वह नाराच संहनन है । जिसके उदय से शरीर एक पार्श्व में तो नाराच होता है और एक पार्श्व में नाराच नहीं होता वह अर्धनाराच संहनन है । जिसके उदय से शरीर कील युक्त होता है वह कीलक संहनन है । जिसके उदय से अस्थियां परस्पर में सन्धिरहित होती हैं केवल बाहर से सिरा, स्नायु मांस से घटित होती हैं वह असंप्राप्त सृपाटिका संहनन है । जिसके उदय से शरीर में स्पर्श उत्पन्न होता है वह स्पर्श नाम कर्म है, उसके आठ भेद हैं—कर्कशनाम, मृदुनाम, गुरुनाम, लघुनाम, स्निग्धनाम, रूक्षनाम, शीतनाम और उष्णनाम । जिसके निमित्त से शरीर में रस होता है वह रस नाम कर्म है । उसके पांच भेद हैं–तिक्तनाम, कटुकनाम, कषायनाम, आम्लनाम, मधुरनाम । जिसके उदय से शरीर में गन्ध प्रगट होती है वह गन्ध नाम कर्म है, उसके दो भेद हैं–सुरभिगन्ध, असुरभिगन्ध । जिसके उदय से शरीर में वर्ण होता है वह वर्ण नाम कर्म है, उसके पांच भेद हैं—कृष्णवर्ण नाम, नील वर्ण नाम, रक्त वर्ण नाम, हरिद्रा वर्ण नाम, शुक्ल वर्ण नाम ।

नाम, शुक्लवर्णनाम चेति । अचेतनेषु कर्मोदयाभावात्कथं स्पर्शादय इति चेदुच्यते अणुस्कन्धरूपेषु पुद्गलेषु ये स्पर्शादयस्ते तत्स्वभावपरिणामा वेदितव्याः । न तु विभावपरिणामाः कर्मकृतास्तत्र कर्मण एवाभावादिति । पूर्वशरीराकाराऽविनाशो यस्योदयाद्भवति तदानुपूर्व्यं नाम । तच्चतुर्विधं—नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम, देवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम चेति । यदा छिन्नायुर्मनुष्यस्तिर्यग्वा पूर्वेण शरीरेण वियुज्यते तदैव नरकभवं प्रत्यभिमुखस्य तस्य यत्पूर्वशरीरसंस्थानाऽनिवृत्तिकारणमपूर्वशरीरप्रदेशप्रापणसामर्थ्योपेतं च विग्रहगतावुदेति तन्नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम । एवं शेषेष्वपि योज्यम् । न चैतन्निर्माणनामकर्मसाध्यं फलमिति वक्तव्यं-पूर्वायुरुच्छेदसमकाल एव पूर्वशरीरनिवृत्तौ निर्माणनामोदयनिवृत्तेः । आनुपूर्व्योदयकालो विग्रहगतौ जघन्येनैकसमय उत्कर्षेण त्रयः समयाः । ऋजुगतौ तु पूर्वशरीराकारविनाशे सत्युत्तरशरीरयोग्यपुद्गलग्रहणं निर्माणनामकर्मोदयस्य व्यापारः । यस्योदयादयःपिण्डवद्गुरुत्वान्नाधःपतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं

प्रश्न— शरीर अचेतन है उसमें कर्मोदय का अभाव होने से स्पर्शादि कैसे होंगे ?

उत्तर—अणु स्कन्धरूप पुद्गलों में जो स्पर्शादिक होते हैं वे उन्हीं के स्वभावरूप होते हैं, वे पुदगल के स्पर्शादिक विभावरूप नहीं हैं न कर्मकृत हैं, पुद्गल में तो कर्मोदय है नहीं । जिसके उदय से पूर्व शरीर का आकार नष्ट नहीं होता वह आनुपूर्वी नाम कर्म है । वह चार प्रकार का है नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम, तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वीनाम, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम । जैसे जब मनुष्य या तिर्यच जीव अपनी आयु समाप्त होने पर पूर्व शरीर से पृथक होता है उसी समय नरक भवके सम्मुख होने वाले उस जीवके जो पूर्व शरीर का आकार बना रहता है और नये शरीर के प्रदेशों को प्राप्त करने की सामर्थ्य होती है तथा जो विग्रहगति में मात्र उदय में आता है वह नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी नाम है । ऐसे ही शेष तीन आनुपूर्वी में लगाना । पूर्व शरीर का आकार बना रखना निर्माण नाम कर्मका कार्य है ऐसा कोई कहे तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वकी आयु समाप्त होते ही पूर्व शरीर नष्ट होता है और उसके साथ ही निर्माण नाम कर्म का उदय भी समाप्त होता है । इस आनुपूर्वी का उदय काल विग्रहगति में जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से तीन समय है । ऋजुगति में तो पूर्व शरीर के आकार का नाश होते ही उत्तर शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण होता है, और उसमें निर्माण नाम कर्म के उदयका व्यापार होता है । जिस कर्मके उदय से शरीर युक्त जीव लोह पिण्ड के समान भारी होकर नीचे नहीं गिरता है और आक के रूई के समान हलका होकर ऊपर नहीं उड़ता है वह अगुरुलघु

गच्छति सशरीरो जीवस्तदगुरुलघुनामकर्मोच्यते । मुक्तात्मनां तु कर्मकृतागुरुलघुत्वाभावेऽपि स्वाभाविकं तदाविर्भवति । धर्मादीनामजीवानां गुरुलघुत्वमिति चेन्नाऽनादिपारिणामिकाऽगुरुलघुत्वगुणयोगादिति ब्रूम: । यस्योदयात्स्वयं कृतोद्बन्धनमरुत्पतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम । यस्योदयात्फलकादिसन्निधानेऽपि परप्रयुक्तशस्त्राद्याघातो भवति तत्परघातनाम । आतपति येनातपनमातपतीति वातपस्तस्य निर्वर्तकं कर्मातपनाम । तदादित्ये वर्तते । उद्योत्यते येनोद्योतनं वा उद्योतस्तन्निमित्तं कर्मोद्योतनाम । तच्चन्द्रखद्योतादिषु वर्तते । उच्छ्वसनमुच्छ्वास: प्राणापानकर्म । तद्धेतुकं भवति तदुच्छ्वासनाम । विहाय आकाशं तत्र गतिर्विहायोगतिस्तस्या निर्वर्तकं कर्म विहायोगतिनाम । तद्द्विविधं प्रशस्ताप्रशस्तविकल्पात् । वरवृषभगजादिप्रशस्तगतिकारणं प्रशस्तविहायोगतिनाम । उष्ट्रखराद्यप्रशस्तगतिनिमित्तमप्रशस्तविहायोगतिनाम । सिद्धजीवपुद्गलानां तु या विहायोगति: सा स्वाभाविकी, न तु

नाम कर्म है । मुक्त जीवों में कर्मकृत अगुरुलघुत्व नहीं है उनके तो स्वाभाविक अगुरुलघुत्व गुण प्रगट होता है ।

प्रश्न—धर्म अधर्म आदि अजीव पदार्थों के अगुरुलघुत्व का कारण कर्मादिक नहीं है अत: उनके गुरुलघुत्व मानना पड़ेगा ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, धर्मादि द्रव्यों में तो अनादि पारिणामिक अगुरुलघुत्व गुण पाया जाता है उसीसे उनमें अगुरु अलघुपना सिद्ध होता है । जिस कर्मके उदय से अपने द्वारा किये गये बन्धन, वायु, पर्वत से गिरना इत्यादि निमित्त से स्वयं का घात होता है वह उपघात नाम कर्म है । जिसके उदय से ढाल आदि के रहते हुए भी परके द्वारा किये गये शस्त्रों के आघात हो जाते हैं वह परघात नाम कर्म है । जो तपता है, जिसके द्वारा तपना होता है अथवा तपना मात्र आतप है इस आतप का जो कारण है वह आतप नाम कर्म है । इस कर्म का उदय सूर्य के विमान में है । जिसके द्वारा प्रकाशित किया जाता है अथवा प्रकाश मात्रको उद्योत कहते हैं, प्रकाश का जो निमित्त है वह उद्योत नाम कर्म है, इसका उदय चन्द्रविमान, जुगनू आदि में होता है । श्वास को उच्छ्वास कहते है जिसके निमित्त से श्वासोच्छ्वास होता है वह उच्छ्वास नाम कर्म है । विहाय आकाश को कहते हैं उसमें जो गति को करता है वह विहायोगति नाम कर्म है उसके दो भेद हैं, प्रशस्त और अप्रशस्त । श्रेष्ठ बैल, हाथी आदि की प्रशस्त गति का (गमन, चाल का) कारण प्रशस्त विहायोगति नाम कर्म है, और ऊंट, गधा इत्यादि के अप्रशस्त गमन का कारण अप्रशस्त विहायोगति है । सिद्ध जीव और पुद्गल द्रव्यों की जो विहायोगति है वह स्वाभाविक है, कर्मजा नहीं है ।

कर्मजा । ननु च विहायोगतिनामकर्मोदयः पक्ष्यादिष्वेव प्राप्नोति न मनुष्यादिषु विहायसि गत्याभावादिति चेत्तन्न—सर्वेषामवगाहनशक्तियोगाद्विहायस्येव गतिसद्भावात् । शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येकशरीरनाम । एकमेकमात्मानं प्रति प्रत्येकंशरीरं प्रत्येकशरीरनाम । बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम । तदुदयवशवर्तिनो जीवाः कथ्यन्ते—यदैवैकस्य जीवस्याहारशरीरेन्द्रियप्राणापानपर्याप्तिचतुष्टयनिर्वृत्तिर्भवति तदैवानन्तानामाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिर्जायते । यदा चैको जायते तदैवानन्ता जायन्ते । यदैवैको म्रियते तदैवानन्तानां मरणं भवति । यदा चैकस्य प्राणापानग्रहणविसर्गस्तदैवानन्ताः प्राणापानग्रहणविसर्गं कुर्वन्ति । यद्येक आहारादिनाऽनुगृह्यते तदैवानन्तास्तेनानुगृह्यन्ते । यद्येकोऽग्निविषादिनोपहन्यते तदैवानन्तानामुपघातो जायत इति । यस्योदयाद्द्वीन्द्रियादिषु प्राणिषु जङ्गमेषु जन्म लभते तत्त्रसनामोच्यते । एकेन्द्रियेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायेषु प्रादुर्भावो यन्निमित्तो भवति तत्स्थावरनामकर्मोच्यते । यदु-

---

शंका—विहायोगति नाम कर्मका उदय पक्षी आदि में होना चाहिए न कि मनुष्यादि में, क्योंकि उनका विहायस–आकाश में गमन नहीं होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, सभी में अवगाहन शक्ति होने से आकाश में ही गमन होता है अतः उनके विहायोगति नाम कर्म सिद्ध होता है। शरीर नाम कर्म के उदय से रचा हुआ जो शरीर है वह एक आत्मा के उपयोग का कारण जिसके निमित्त से बनता है वह प्रत्येक शरीर नाम कर्म है । एक एक आत्मा के प्रति जो होवे वह प्रत्येक है इस तरह प्रत्येक शब्द की निष्पत्ति है । जिसके निमित्त से एक ही शरीर बहुत से जीवों के उपभोग्य बनता है वह साधारण शरीर नाम कर्म है । उस साधारण शरीर नाम कर्म के उदय वाले जीवों का कथन करते हैं—जिस समय एक जीव के आहार, शरीर, इन्द्रिय और प्राणापान ये चार पर्याप्तियां पूर्ण होती हैं उसी समय अनन्त जीवों की आहारादि पर्याप्तियां पूर्ण होती हैं और जिस समय एक जीव उत्पन्न होता है उसी वक्त अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं । जिस समय एक जीव मरता है उसी समय अनन्त जीव मरते हैं । जिस समय एक जीव श्वास का ग्रहण और विसर्जन करता है उसी वक्त अनन्त जीव श्वासोंका ग्रहण और विसर्जन करते हैं । यदि एक आहारादि से अनुगृहीत होता है तो उसी वक्त उसी आहारादि से अनन्त जीव अनुगृहीत हो जाते हैं तथा जब एक जीव विष, अग्नि आदि से घाता जाता है उसी वक्त अनन्त जीवों का घात हो जाता है । इस प्रकार साधारण नाम कर्म वाले जीवों की स्थिति होती है । जिसके उदय से द्वीन्द्रियादि जंगम प्राणियों में जन्म होता है वह त्रस नाम कर्म है । पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायवाले एकेन्द्रियों में जिसके निमित्त से जन्म होता है

दयाद्रूपवानरूपो वा परेषां प्रीतिं जनयति तत्सुभगनाम। रूपादिगुणोपेतोऽपि सन् यस्योदयादन्येषाम-प्रीतिहेतुर्भवति तद्दुर्भगनाम। मनोज्ञस्वरनिर्वर्तनं यन्निमित्तमुपजायते प्राणिनस्तत्सुस्वरनाम। यत्तद्वि-परीतफलममनोज्ञस्वरनिर्वर्तनकरं तद्दु:स्वरनाम। यदुदयाद्दृष्ट: श्रुतो वा रमणीयो भवत्यात्मा तच्छु-भनाम। तद्विपरीतफलं द्रष्टु: श्रोतुश्चाऽरमणीयकरं यत्तदशुभनाम। यस्योदयादन्यजीवानुग्रहोपघाताऽ-योग्यसूक्ष्मशरीरनिर्वृत्तिर्भवति तत्सूक्ष्मनाम। अन्यबाधानिमित्तं स्थूलशरीरं यतो भवति तद्बादरनाम। यस्योदयादाहारादिभिरात्माऽन्तर्मुहूर्तं पर्याप्ति प्राप्नाति तत्पर्याप्तिनाम। तत्षड्विधमाहारपर्याप्तिनाम शरीरपर्याप्तिनामेन्द्रियपर्याप्तिनाम प्राणापानपर्याप्तिनाम भाषापर्याप्तिनाम मन:पर्याप्तिनाम चेति। ननु च प्राणापानकर्मोदये वायोर्निष्क्रमणप्रवेशनात्मकं फलमुच्छ्वासकर्मोदयेऽपि तदेवेति नास्त्यनयो-र्विशेष इति चेन्नैवमैन्द्रियकातीन्द्रियभेदात्तद्विशेषोपपत्ते:। तथाहि—शीतोष्णसम्बन्धजनितदु:खस्य

वह स्थावर नाम कर्म है। जिसके उदय से जीव रूपवान होवे चाहे कुरूप होवे किन्तु परको प्रीति पैदा कराता है वह सुभग नाम कर्म है। रूपादि गुण युक्त होने पर भी जिसके उदय से दूसरों को अप्रीति स्वरूप लगता है वह दुर्भग नाम कर्म है। जिसके निमित्त से जीवके मनोज्ञ स्वर बनता है वह सुस्वर नाम कर्म है। जिसके निमित्त से उससे विपरीत अमनोज्ञ स्वर बनता है वह दु:स्वर नाम कर्म है। जिसके उदय से आत्मा देखने में या सुनने में रमणीय प्रतीत होता है वह शुभ नाम कर्म है। उससे विपरीत देखने और सुनने वालों को जिसके निमित्त से असुन्दर लगे वह कर्म अशुभ नाम कर्म है। जिसके उदय से अन्य जीवों का अनुग्रह या घात नहीं होवे वह सूक्ष्म शरीर का रचने वाला सूक्ष्म नाम कर्म है। जिसके निमित्त से अन्य को बाधाकारक स्थूल शरीर बने वह बादर नाम कर्म है। जिसके उदय से आहारादि द्वारा आत्मा अन्तर्मुहूर्त में पर्याप्ति को प्राप्त करता है वह पर्याप्ति नाम कर्म है, इसके छह भेद हैं आहार पर्याप्ति नाम, शरीरपर्याप्ति नाम, इन्द्रियपर्याप्ति नाम, प्राणापानपर्याप्ति नाम, भाषापर्याप्ति नाम, मन:पर्याप्ति नाम।

शंका—प्राणापान कर्म के उदय होने पर वायु का निकलना और प्रवेश करना रूप फल होता है और उच्छ्वास नाम कर्मके उदय का भी वही फल है, इस तरह इन दोनों में कोई विशेषता नहीं है?

समाधान—ऐसा नहीं है, ऐन्द्रियक और अतीन्द्रिय के भेद से उनमें विशेषता होती है, आगे इसी का खुलासा करते हैं–शीत और उष्ण के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए

पञ्चेन्द्रियस्य यावुच्छ्वासनिःश्वासौ दीर्घनादौ श्रोत्रस्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षौ तावुच्छ्वासनामोदयजौ बोद्धव्यौ। यौ तु प्राणापानपर्याप्तिनामोदयकृतौ तौ सर्वसंसारिणां श्रोत्रस्पर्शनानुपलभ्यत्वादतीन्द्रियाविति विज्ञेयौ। यस्योदयात्षडपि पर्याप्तीः पर्यापयितुमात्मा समर्थो न भवति तदपर्याप्तिनाम। यस्योदयाद्दुष्करोपवासादितपश्चरणेप्यङ्गोपाङ्गानां स्थिरत्वं जायते तत् स्थिरनाम। यस्योदयादीषदुपवासादिकरणे स्वल्पशीतोष्णादिसम्बन्धाद्वाऽङ्गोपांगानि कृशीभवन्ति तदस्थिरनाम। यस्योदयात्प्रभोपेतं शरीरं दृष्टीष्टमुपजायते तदादेयनाम। निष्प्रभं शरीरं यस्योदयादापद्यते तदनादेयनाम। ननु तैजसं नाम सूक्ष्मशरीरमस्ति, तन्निमित्ता शरीरप्रभा भवत्रि। न पुनरादेयकर्मनिमित्तेति चेत्तन्नतैजसस्य सर्वेषां साधारणत्वात्सर्वसंसारिजीवशरीरप्रभाविशेषप्रसङ्गात्। तस्मादादेयनामकर्मोदयनिमित्ता प्रभेति युक्तम्।

दुःख से जो युक्त हैं ऐसे पञ्चेन्द्रिय के दीर्घ नाद वाले, कर्ण तथा स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जो प्रत्यक्ष होते हैं ऐसे जो उच्छ्वास निःश्वास होते हैं वे तो उच्छ्वास नाम कर्म के उदय से होते हैं, और जो प्राणापान पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से होने वाले उच्छ्वास निःश्वास हैं वे सभी संसारी जीवों के होते हैं ये कर्ण तथा स्पर्शन से ज्ञात नहीं होने से अतीन्द्रिय हैं, ऐसा इन दोनों में विशेष है (उच्छ्वास नाम कर्मका उदय एकेन्द्रिय आदि जीवों के भी होता है) जिसके उदय से छह पर्याप्तियां पूर्ण करने को आत्मा समर्थ नहीं होता वह अपर्याप्ति नाम कर्म है। जिसके उदय से दुष्कर उपवास आदि तपश्चरण करने पर भी अंगोपांग स्थिर रहते हैं वह स्थिर नाम कर्म है। जिसके उदय से अल्प उपवास आदि करने पर अथवा अल्प शीत या उष्ण के सम्बन्ध से अंगोपांगकृश हो जाते है वह अस्थिर नाम कर्म है। जिसके उदय से नेत्रको प्रिय ऐसा कान्ति वाला शरीर होता है वह आदेय नाम कर्म है। जिसके उदय से कान्ति रहित शरीर होता है वह अनादेय नाम कर्म है।

प्रश्न—तैजस नामका सूक्ष्म शरीर है उसके निमित्त से शरीर में प्रभा होती है आदेय नाम कर्म के कारण प्रभा नहीं होती ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, तैजस शरीर सभी के साधारण रूप से पाया जाता है, यदि तैजस शरीर के कारण प्रभा युक्त शरीर होता है ऐसा कहा जाय तो सभी संसारी जीवों के शरीरों की प्रभायें समान होने का प्रसंग आता है, किन्तु समान प्रभा नही होती; इसलिये सिद्ध होता है कि शरीर की कान्ति का कारण तैजस शरीर नहीं है।

पुण्यगुणानां ख्यापनं यस्योदयाद्भवति तद्यशस्कीर्तिनाम प्रत्येतव्यम् । अत्र यशोनाम गुणः । कीर्तनं संशब्दनं कीर्तिः । यशसः कीर्तिर्यशस्कीर्तिरिति कथ्यते । पापगुणख्यापनकारणमयशस्कीर्तिनाम वेदितव्यम् । यस्योदयादार्हन्त्यमचिन्त्यविभूतिविशेषयुक्तमुपजायते तत्तीर्थंकरत्वनामकर्म प्रतिपत्तव्यम् । स्यान्मतं ते–यथा तीर्थंकरत्वनामकर्मोच्यते तथा गणधरत्वादिनामोपसङ्ख्यानमपि कर्तव्यं, गणधरचक्रधरवासुदेवबलदेवा अपि हि विशिष्टर्द्धियुक्ता इति । तन्न वक्तव्यं—गणधरत्वादिनामन्यहेतुकत्वात्तथा हि—गणधरत्वं तावच्छ्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षनिमित्तम् । चक्रधरत्वादीनि चोच्चैर्गोत्रविशेषहेतुकानीत्यदोषः । तर्हि तदेवोच्चैर्गोत्रं तीर्थंकरत्वस्यापि निमित्तमस्तु, किं तीर्थंकरत्वनाम्नेति चेत्तन्न—तीर्थप्रवर्तनफलत्वात्तस्य । यद्धि तीर्थप्रवर्तनलक्षणं फलं तीर्थकरनाम्न इष्यते तन्नोच्चैर्गोत्रोदयादवाप्यते—

जिसके उदय से पुण्य गुणों की प्रसिद्धि होवे वह यशस्कीर्त्ति नाम कर्म है । यहां यश नामका गुण और उसकी कीर्त्ति अर्थात् संशब्दन कथन होना यशस्कीर्त्ति है । यश की कीर्त्ति यशस्कीर्त्ति ऐसा समास है । पाप गुणके ख्यापन–कथन में जो कारण पड़ता है वह अयशस्कीर्त्ति नाम कर्म है । जिसके उदय से आर्हन्त्य पद जो कि अचिन्त्य विभूति का कारण है ऐसा तीर्थंकर पद प्राप्त होता है वह तीर्थंकर नाम कर्म है ।

शंका—जैसे तीर्थंकरत्व नामका कर्म बताया वैसे गणधरत्वादि नामके कर्मों की भी गणना करनी चाहिए । क्योंकि गणधर, चक्रधर, वासुदेव, बलदेव ये पुरुष भी विशिष्ट ऋद्धि सम्पन्न होते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं करना चाहिए । गणधरत्व आदि पदके हेतु दूसरे माने गये हैं, देखिये ! श्रुतज्ञानावरण कर्मके अत्यन्त उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर गणधरत्व प्रगट होता है । चक्रधर, वासुदेव और बलदेवादि पदोंका कारण तो विशिष्ट उच्चगोत्र का उदय है, इस तरह कोई दोष नहीं है ।

प्रश्न—यदि चक्रधरत्वादि कारण उच्च गोत्र हैं तो तीर्थंकरत्व कारण भी वही होवे, फिर इस तीर्थंकर नाम कर्मको क्यों माना जाय ?

उत्तर—ऐसा नहीं है । तीर्थंकरत्व कर्मका फल तो तीर्थ प्रवर्त्तन कराना है । तीर्थ प्रवर्त्तनरूप जो फल है वह तीर्थंकर नाम कर्म से ही होता है वह फल उच्च गोत्र कर्मके उदय से प्राप्त नहीं होता । यदि होता हो तो चक्रधरादि में भी होना था ? किंतु उनमें ऐसा तीर्थ प्रवर्त्तनरूप फल उपलब्ध नहीं है ।

चक्रधरादिषु तदनुपलब्धेः। अत्र सूत्रे पूर्वं गत्यादयो विहायोगत्यन्ता यतः प्रतिपक्षविरहिताः प्रत्येक-शरीरादयस्तु सेतरग्रहणेन विशेषयितुमिष्टास्ततस्तेषामेकवाक्यभावो न कृतः। तीर्थंकरत्वस्य तर्हि किमर्थं पृथक्करणमिति चेत्प्रधानत्वात्तस्येति ब्रूमहे। तीर्थकरत्वं हि सर्वेषु शुभकर्मसु प्रधानभूतम्। ततस्तस्य पृथग्ग्रहणं क्रियते। किं च प्रत्यासन्ननिष्ठस्य तीर्थकरत्वस्योदयो जायते। ततस्तस्यान्त्यत्वात्पृथग्ग्रहण न्याय्यम्। अत्र गत्यादिविहायोगत्यन्तानां शब्दानामितरेतरयोगे वृत्तिर्द्रष्टव्या। तथा प्रत्येकशरीरादि-यशस्कीर्त्यन्तानामितरेतरयोगद्वन्द्ववृत्तीनां सेतरग्रहणेन विशेषणभूतेन सह कर्मधारयः। सहेतरैः प्रतिपक्ष-भूतैर्वर्तन्त इति सेतराणि प्रत्येकशरीरादीनि प्रोच्यन्ते। अत्र पिण्डाऽपिण्डप्रकृतिसामान्यापेक्षया द्विचत्वा-रिंशद्भेदं नाम कर्मोक्तम्। गत्यादिपिण्डप्रकृतिभेदापेक्षया तु सर्वं त्रिनवतिभेदं बोद्धव्यम्। तत्र पिण्ड-प्रकृतयः प्रतिनियतानेकभेदसमुदयरूपाश्चतुर्दशैव रूढाः। गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गबन्धनसघातसंस्थान-संहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यविहायोगतिसञ्ज्ञिकाः। शेषास्त्वपिण्डरूपा अष्टाविंशतिरीरिताः। सम्प्रति

यहां पर सूत्र में पहले गति से लेकर विहायोगति तक जो कर्म प्रकृतियां हैं वे प्रतिपक्ष रहित हैं, और प्रत्येक शरीरादिक जो कर्म प्रकृतियां हैं वे सेतर शब्द ग्रहण से विशेषित करना है, अतः उनका एक वाक्य नही बनाया है।

प्रश्न—तो फिर तीर्थंकरत्व पदको पृथक् क्यों किया है?

उत्तर—उसकी प्रधानता बतलाने के लिए पृथक् पद किया है, क्योंकि सर्व ही शुभप्रकृतियों में तीर्थकरत्व प्रधानभूत है, अतः उसका पृथक् ग्रहण हुआ है। दूसरी बात यह भी है कि प्रत्यासन्न निष्ठ के अत्यन्त निकटतम है मुक्ति जिनके उनके तीर्थंकरत्व का उदय आता है, अतः यह अन्त्य-चरम देही के होने के कारण उसको पृथक् ग्रहण करना युक्त ही है। यहां गति से होकर विहायोगति तक के शब्दों का इतरेतर द्वन्द्व समास हुआ है, तथा प्रत्येक शरीर से लेकर यशस्कीर्त्ति तक के पदों में भी इतरेतर द्वन्द्व समास करके विशेषणभूत सेतर शब्दके साथ कर्मधारय समास हुआ है। इतर अर्थात् प्रतिपक्षभूत के साथ जो रहती हैं वे सेतर हैं अर्थात् प्रत्येक शरीर आदि को सेतर कहा है। यहां पर पिण्ड प्रकृति और अपिण्ड प्रकृति इस तरह कुल मिलाकर बियालीस भेद नाम कर्म के कहे गये हैं। गति आदि पिण्डरूप प्रकृतियों के भेद कर देने पर नाम कर्म तिरानवें भेद वाला होता है, प्रतिनियत अनेक भेदस्वरूप जो प्रकृतियां होती हैं उन्हें पिण्ड प्रकृतियां कहते हैं वे चौदह हैं—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी और विहायोगति। शेष अट्ठावीस प्रकृतियां अपिण्डरूप हैं।

नामानन्तरोद्देशभाजो गोत्रस्य प्रकृतिभेदं व्याचिख्यासुराह—

उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥

गोत्रं द्विविधं द्रष्टव्यमुच्चैर्नीचैरिति विशेषणादुच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति। तत्र लोकपूजितेषु कुलेषु प्रथितमाहात्म्येष्विक्ष्वाकूग्रकुरुहरिजातिप्रभृतिषु जन्म यस्योदयाद्भवति तदुच्चैर्गोत्रमवसेयम्। गर्हितेषु दरिद्रप्रतिज्ञातदुःखाकुलेषु कुलेषु यत्कृतं प्राणिनां जन्म तन्नीचैर्गोत्रं प्रत्येतव्यम्। इदानीं गोत्रानन्तरमुद्दिष्टस्यान्तरायस्य प्रकारसंज्ञासङ्कीर्तनार्थमाह—

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥ १३ ॥

अन्तराय इति वर्तते। तदपेक्षयाऽर्थभेदनिर्देशः क्रियते। दानं च लाभश्च भोगश्चोपभोगश्च वीर्यं च दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि। तेषां दानलाभभोगोपभोगवीर्याणामन्तराय इति। एवं च स तैः प्रत्येकमभिसम्बध्यमानः पञ्चविधो जायते। दानान्तरायो लाभान्तरायो भोगान्तराय उपभोगान्तरायो वीर्यान्तराय इति। दानादिपरिणामव्याघातहेतुत्वात्कर्मविशेषस्यान्तरायव्यपदेशो भवति। तस्योदयाद्धि

अब नामकर्म के अनन्तर गोत्र कर्मके प्रकृति भेद कहने के इच्छुक आचार्य सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—गोत्र के दो भेद हैं–उच्च गोत्र और नीच गोत्र। गोत्र कर्म दो प्रकार का है, उच्च और नीच विशेषण से दो भेद प्राप्त होते हैं। उसमें जिस कर्मके उदय से लोक पूजित, प्रसिद्ध माहात्म्य वाले इक्ष्वाकुवंश, उग्रवंश, कुरुवंश, हरिवंश इत्यादि कुलों में जन्म होता है वह उच्च गोत्र कहलाता है। और दरिद्र, प्रतिज्ञात, दुःखाकुलित और गर्हित कुलों में जिसके उदय से जन्म होता है वह नीच गोत्र है।

अब गोत्र के अनन्तर कहा गया जो अन्तराय कर्म है उसके भेदों के नाम बतलाने हेतु सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पांच भेद अन्तराय कर्मके जानने।

अन्तराय कर्मका कथन है, उस अपेक्षा से अर्थ भेद किया जाता है, दानादि पदों में द्वन्द्व समास करना। इन दानादि शब्दों में प्रत्येक के साथ अन्तराय शब्द जोड़ने से अन्तराय पांच भेद वाला हो जाता है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। दानादि परिणामों में बाधा का कारण होने से कर्म विशेष की अन्तराय संज्ञा होती है, उसके उदय से इष्ट कारणों की पूर्णता होने पर भी

दृष्टकारणसाकल्येऽपि दातुकामोऽपि न प्रयच्छति। लब्धुकामोऽपि न लभते। भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते। उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते। उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते। त एव पञ्चान्तरायव्यपदेशा वेदितव्याः। ननु भोगोपभोगयोः सुखानुभवननिमित्तत्वाऽभेदाद्विशेषो नास्तीति चेत्तन्न—गन्धादिशयनादिभेदतस्तद्भेदसिद्धेः। गन्धमाल्यशिरःस्नानान्नपानादिषु हि भोगव्यवहारः। शयनासनाङ्गनाहस्त्यश्वरथादिषूपभोगव्यपदेशः। ता एता ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनां यथोत्तरप्रकृतयो निर्दिष्टास्तथोत्तरोत्तरप्रकृतयोऽपि सन्तीति ताभिरात्मनो बन्धः प्रकृतिबन्धो व्याख्यातः। अतः परं स्थितिबन्धं व्याख्यास्यामः। तत्रासामेव प्रकृतीनामनेकभेदानां यथास्वमविजीर्णानां यावन्तं कालमवस्थानं स्वाश्रयविनाशाभावात्तस्मिन् स्थितिबन्धविवक्षा भवति। सा स्थितिरुभयथा प्रकृष्टा जघन्या च। तत्र प्रकृष्टात्प्रणि-

---

व्यक्ति देने की इच्छा होते हुए भी दान दे नहीं सकता, लाभ की इच्छा होते हुए भी मिल नहीं पाता, भोगने की इच्छा होते हुए भी भोग नहीं पाता, उपभोग की वाञ्छा रहते हुए भी उपभोग कर नहीं पाता और उत्साह की वाञ्छा करते हुए भी उत्साह नहीं हो पाता। वे ही पांच अन्तराय संज्ञा वाले कर्म होते हैं।

शंका—भोग और उपभोग में सुखानुभवन होने की अपेक्षा कोई भेद नहीं है अत: ये दोनों एक रूप होवे ?

समाधान—ऐसा नहीं है। गन्धादि पदार्थ और शयनादि पदार्थों के भेद से उनमें भेद पाया जाता है, गन्ध, माला, शिरस्नान, अन्नपानादि पदार्थों में भोग शब्द का व्यवहार होता है, और शयन, आसन, स्त्री, हाथी, घोड़ा, रथादि पदार्थों में उपभोग शब्द का व्यवहार होता है।

इस प्रकार ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृतियां और उनकी उत्तर कर्म प्रकृतियां कही, जैसे उत्तर प्रकृतियां मूल प्रकृतियों के भेद स्वरूप हैं वैसे उत्तर प्रकृतियों के भी उत्तरोत्तर भेद होते हैं ऐसा समझना चाहिए। इस तरह प्रकृति बन्धका व्याख्यान पूर्ण हुआ। अब आगे स्थिति बन्धका व्याख्यान करेंगे। उनमें अनेक भेद वाली वे प्रकृतियां जीर्ण नहीं होकर जितने काल तक अपने आश्रव का विनाश नहीं होने से अवस्थित रहती हैं उनमें स्थिति बन्धकी विवक्षा होती है अर्थात् बन्धी हुई कर्म प्रकृतियां आत्मा में स्थित रहना स्थिति बन्ध कहलाता है, उत्तर प्रकृतियों का आश्रय मूल प्रकृतियां हैं, मूल प्रकृति रहने तक उत्तर प्रकृतियों का आश्रय नष्ट नहीं होता अत: स्वाश्रय विनाश नहीं होने तक इनका अवस्थान आत्मा में पाया जाता है यही स्थिति बन्ध है। यह जो स्थिति है अर्थात् कर्मोंका आत्मा के साथ रहने का काल है वह दो प्रकार का है जघन्य

धानात्प्रकृष्टा, निकृष्टात्प्रणिधानाज्जघन्या स्यात्। तत्र यासां कर्मप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः समाना सम्भवति तन्निर्देशार्थमाह—

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिः ॥१४॥

आदित इति वचनं मध्येऽन्ते वा तिसृणां ग्रहणं मा भूदित्येवमर्थम्। आदौ आदितः तस्प्रकरणे आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानमिति तसप्रत्ययः। तिसृणामिति वचनं प्रकृतिसङ्ख्यावधारणार्थम्। मूलप्रकृति-क्रममुल्लंघ्यान्तरायस्य चेति सान्त्यं वचनं समानस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं क्रियते। का पुनरसौ समानस्थितिः? त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः। उक्तपरिमाणं सागरोपमम्। कोटीनां कोटयः कोटीकोटयः। सागरोपमाणां कोटीकोटयः सागरोपमकोटीकोटयः। त्रिंशच्च ताः सागरोपमकोटीकोटयश्च त्रिंशत्सागरोपम कोटीकोटयः। पराग्रहणं जघन्यस्थितिनिवृत्त्यर्थम्। परा उत्कृष्टेत्यर्थः। सा पुनर्मिथ्यादृष्टेः संज्ञिनः पंचेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्यज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिर्भवति।

और उत्कृष्ट। प्रकृष्ट प्रणिधान-परिणाम से उत्कृष्ट स्थिति होती है और निकृष्ट प्रणिधान से जघन्य स्थिति होती है (कषाय की तीव्रता से उत्कृष्ट स्थिति बंध होता है और कषाय की मन्दता से जघन्य स्थिति बन्ध होता है)

अब जिन कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति समान है उनका निर्देश करते हैं—

सूत्रार्थ—आदि की तीन मूल कर्म प्रकृतियां-ज्ञानावरण-दर्शनावरण और वेदनीय तथा अन्तराय इन चार मूल कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडीसागर प्रमाण है।

सूत्र में 'आदितः' पद आया है उससे मध्य या अन्त की प्रकृति नहीं लेना यह अर्थ फलित होता है 'आदौ-आदितः' व्याकरण के तस् प्रत्यय के प्रकरण में 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इस सूत्र से सप्तमी अर्थ में भी तस् प्रत्यय आने का विधान है उससे यहां तस् प्रत्यय आकर आदितः पद निष्पन्न हुआ है। तिसृणां पद प्रकृति की संख्या का अवधारण करने हेतु आया है। मूल प्रकृतियों का जो क्रम है उसका उल्लंघन कर अन्तिम अन्तराय का वचन समान स्थिति को बतलाने के लिये लिया गया है, वह समान स्थिति कौनसी है? तो कहते हैं कि तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है। सागरोपम का माप पहले बता चुके हैं। सागरोपम आदि पदों में तत्पुरुष समास है। पुनः त्रिंशत् पदके साथ कर्मधारय समास हुआ है। परा शब्द से जघन्यस्थिति की निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् यह स्थिति उत्कृष्ट है, जघन्य नहीं है। यह उत्कृष्ट स्थिति मिथ्यादृष्टि संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके होती है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीव ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है।

इतरेषामेकेन्द्रियादीनामागमानुसारेण योज्या । तद्यथा—एकेन्द्रियपर्याप्तकस्यैकसागरोपमसप्तभागास्त्रयः । द्वीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चविंशतिसागरोपमसप्तभागास्त्रयः । त्रीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चाशत्सागरोपमसप्तभागास्त्रयः । चतुरिन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमशतसप्तभागास्त्रयः । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रसप्तभागास्त्रयः । संज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तकस्यान्तःसागरोपमकोटीकोटयः । एकेन्द्रियाऽपर्याप्तकस्य त एव भागाः पल्योपमस्यासङ्ख्येयभागोनाः । द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तकाऽसंज्ञिनां त एव भागाः पल्योपमासङ्ख्येयभागोना वेदितव्याः । इदानीं मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिनिर्णयार्थमाह—

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

मोहनीयस्य कर्मणः सप्ततिः सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिरित्यभिसम्बध्यते । इयमपि परा स्थितिर्मिथ्यादृष्टेः संज्ञिनः पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्यावगन्तव्या । इतरेषामेकेन्द्रियादीनां तु यथा-

---

इतर जो एकेन्द्रिय आदि जीव हैं उनकी आगमानुसार लगाना चाहिए । इसीको आगे बताते हैं—एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के उक्त ज्ञानावरण आदि चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण है, द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के पच्चीस सागरोपम के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण है, त्रीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के पचास सागरोपम के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण है, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक जीव के सौ सागर के सात भागों में से तीन भाग है, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवके एक हजार सागर के सात भागों में से तीन भाग है । यह सब तो पर्याप्तक जीव की स्थिति का कथन हुआ । संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक जीव की उक्त कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति अन्तः कोटाकोटी सागर प्रमाण है । एकेन्द्रिय में जो पर्याप्तक की स्थिति कही है उसमें पल्य का असंख्यात भाग कम करने पर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक की स्थिति होती है । इसी प्रकार द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के अपर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति अपने अपने पर्याप्तक की जो स्थिति है उसमें पल्य का असंख्यातवां भाग कम करते जाने से प्राप्त होती है ।

अब मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति को बताते हैं—

सूत्रार्थ—मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है ।

मोहनीय कर्म की सत्तर सागरोपम कोटाकोटी प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति है ऐसा सम्बन्ध किया जाता है । यह स्थिति भी मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव की जाननी चाहिए । इतर एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों की मोहनीय की

गमं योज्या पर्याप्तकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणाम् । तद्यथा—पर्याप्तकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामेकपञ्चविंशति-पञ्चाशच्छतसागरोपमाणि यथासङ्ख्यम् । अपर्याप्तकैकेन्द्रियस्य पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागोना सैव स्थितिः । द्वीन्द्रियादीनामपि सैव पल्योपमासङ्ख्येयभागोना । पर्याप्तकाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य सागरोपम-सहस्रम् । तस्यैवापर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रं पल्योपमसङ्ख्येयभागोनम् । अपर्याप्तकसंज्ञिनोऽन्तःसाग-रोपमकोटीकोटयः परा स्थितिरवसेया । सम्प्रति नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

विंशतिर्नामगोत्रयोः ।। १६ ।।

नाम च गोत्रं च नामगोत्रे । तयोर्नामगोत्रयोर्विंशतिः सागरोपमकोटीकोटयः परा स्थितिर्भवति । इयमप्युत्कृष्टा संज्ञिपंचेन्द्रियपर्याप्तकस्यावबोद्धव्या । इतरेषामागमतो निर्णयः । तद्यथा—एकेन्द्रियपर्याप्त-कस्यैकसागरोपमसप्तभागौ द्वौ । द्वीन्द्रियपर्याप्तकस्य पञ्चविंशतिसागरोपमसप्तभागौ द्वौ । त्रीन्द्रिय-पर्याप्तकस्य पञ्चाशत्सागरोपमसप्तभागौ द्वौ । चतुरिन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमशतसप्तभागौ द्वौ ।

उत्कृष्ट स्थिति आगम के अनुसार लगाना चाहिए । जैसे—पर्याप्तक एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों की मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से एक सागर, पच्चीस सागर, पचास सागर और सौ सागर प्रमाण है, अपर्याप्तक एकेन्द्रिय की स्थिति जो पर्याप्तक के बतायी है उसमें पल्यका असंख्यातवां भाग कम करना । द्वीन्द्रियादि अपर्याप्तकों की भी जो अपने अपने पर्याप्तकों की स्थिति है उनमें से पल्य का असंख्यातवां भाग कम करने से प्राप्त होती है । पर्याप्तक असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के एक हजार सागर प्रमाण स्थिति है तथा अपर्याप्तक पञ्चेन्द्रिय के हजार सागर में पल्य का असंख्यातवां भाग कम करना । जो अपर्याप्तक संज्ञी जीव है उसके अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति जाननी चाहिए ।

अब नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्रार्थ—नाम कर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस सागर कोटाकोटी है ।

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर प्रमाण होती है । यह भी उत्कृष्ट स्थिति संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक की जाननी चाहिए । इतर जीवों की आगम से जाननी चाहिए । इसीको कहते हैं—एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव की उक्त स्थिति एक सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण है । द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के पच्चीस सागर के सात भागों में से दो भाग है । त्रीन्द्रिय पर्याप्तक के पचास सागर के सात भागों में से

असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य सागरोपमसहस्रसप्तभागौ द्वौ । संज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तकस्यान्तः-सागरोपमकोटीकोटयः । एकेन्द्रियाऽपर्याप्तकस्य तावेव भागौ पल्योपमासंख्येयभागोनौ । द्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियाऽपर्याप्तकाऽसंज्ञिनां सैव स्थितिः पल्योपमसंख्येयभागोना विज्ञेया । आहायुषः कोत्कृष्टा स्थितिरित्यत्रोच्यते —

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

पुनः सागरोपमग्रहणं कोटीकोटिनिवृत्त्यर्थम् । परा स्थितिरित्यनुवर्तत एव । तत आयुःकर्मण उत्कृष्टा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपरिमाणा संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्यैव भवतीति बोद्धव्यम् । इतरेषां यथागमम् । तद्यथा—असंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य पल्योपमस्य सङ्ख्येयभागाः । शेषाणा-मुत्कृष्टा पूर्वकोटी विज्ञेया । अष्टानामपि कर्मप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिर्व्याख्याता । अधुना तासामेव जघन्या स्थितिर्वक्तव्या । तत्र समानजघन्यस्थितिप्रकृतिपञ्चकमवस्थाप्यानुपूर्व्योल्लंघनेन प्रकृतित्रयस्य

दो भाग है । चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक के सौ सागर के सात भागों में से दो भाग है । असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक के हजार सागर के सात भागों में से दो भाग है । संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक के अन्तःकोटाकोटीसागर है । एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के जो स्थिति पर्याप्तक की कही है उसमें पल्य का असंख्यातवां भाग कम करना । द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्तक जीवों के अपने अपने पर्याप्तक के जो स्थिति बतायी है उसमें पल्य का असंख्यातवां भाग कम करते जाने से प्राप्त होती है ।

प्रश्न—आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति कौनसी है ?

उत्तर—इसी को सूत्र में कहते हैं—

सूत्रार्थ—आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर है । सूत्र में सागरोपम शब्द पुनः ग्रहण किया है वह कोटाकोटी की निवृत्ति के लिये है । उत्कृष्ट स्थिति का प्रकरण है । उसमें संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर की है ऐसा जाना जाता है । इतर जीवों के आयु कर्म की स्थिति आगमानुसार समझना चाहिए । उसीको बतलाते हैं—असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के आयु कर्म की स्थिति पल्य के संख्यात भाग प्रमाण है । शेष जीवों के आयु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पूर्व कोटी का है ।

इस प्रकार आठों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का व्याख्यान किया । अब उन्हीं कर्मों की जघन्य स्थिति कहना योग्य है । उनमें पांच कर्मों की जघन्य स्थिति समान है उनको

जघन्यस्थितिप्रतिपत्त्यर्थं सूत्रद्वयमुपक्रम्यते लघ्वर्थम्—

अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य ॥ १८ ॥

सूक्ष्मसाम्पराय इति वाक्यशेषः। अथानुपूर्व्यविशेषात्यये सति मोहायुर्व्यवहितयोरन्ययोः का जघन्या स्थितिरित्युच्यते—

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

अत्रापि सूक्ष्मसाम्पराय इति वाक्यशेषः। मुहूर्ता इत्यनुवर्तते। अपरा स्थितिरिति च। ततो द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्ता जघन्या स्थितिः सूक्ष्मसाम्पराये वेदितव्या। अथान्यासां पूर्वमवस्थापितपञ्चकर्मप्रकृतीनां का जघन्या स्थितिरित्याह—

पृथक् रखकर क्रम का उल्लंघन करके तीन कर्मों की जघन्य स्थिति का प्रतिपादन थोड़े में दो सूत्रों द्वारा करते हैं—

सूत्रार्थ—वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त है, 'सूक्ष्म सांपराय में' इस प्रकार शेष वाक्य है, अर्थात् वेदनीय कर्म (साता वेदनीय की) का जघन्य स्थिति बंध सूक्ष्मसाम्पराय नामके दसवें गुणस्थान में होता है।

प्रश्न—कर्मों की आनुपूर्वी क्रम का उल्लंघन हुआ है अतः मोहनीय और आयु के व्यवधान के अनन्तर जो अन्य दो कर्म हैं उनकी जघन्य स्थिति कौनसी है सो बताओ ?

उत्तर—इसी को सूत्र द्वारा बताते हैं—

सूत्रार्थ—नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त है। यहां पर भी सूक्ष्म-साम्पराय वाक्य शेष है। मुहूर्त्त शब्द का अनुवर्त्तन तथा अपरास्थिति का अनुवर्त्तन करना, उससे यह ज्ञात होता है कि बारह मुहूर्त्त वेदनीय की और नाम गोत्र की आठ मुहूर्त्त जघन्य स्थिति सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान में होती है।

प्रश्न—पहले अवस्थापित की गयी पांच कर्म प्रकृतियों की जघन्य स्थिति कौनसी है ?

उत्तर—अब उन्हीं को बतलाते हैं—

शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ।। २० ।।

अन्तर्गतो मुहूर्तो यस्याः सा अन्तर्मुहूर्ता अपरा स्थितिरवशिष्टानां ज्ञानावरणादीनामवगन्तव्या। तत्र ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां सूक्ष्मसाम्पराये मोहनीयस्यानिवृत्तिबादरसाम्पराये आयुष संख्येय-वर्षायुष्षु तिर्यक्षु मनुष्येषु च जघन्या स्थितिर्यथासम्भवं व्याख्येया। आहोभयी ज्ञानावरणादीनामभिहिता स्थितिः। अथाऽनुभवः किंलक्षणो भवतीत्याह—

विपाकोऽनुभवः ।। २१ ।।

ज्ञानावरणादीनां कर्मप्रकृतीनामनुग्रहोपघातात्मिकानां पूर्वास्रवतीव्रमन्दभावनिमित्तो विशिष्टः पाको विपाकः। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाकः। स एवानुभवोऽनुभाग इति च व्याख्यायते। तत्र शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृती-नामनुभवः प्रकृष्टो भवत्यशुभप्रकृतीनां तु निकृष्टः। अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावादशुभप्रकृतीनां

सूत्रार्थ—शेष कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है। मुहूर्त्त के अंतर्गत जो हो उसे अन्तर्मुहूर्त्त कहते हैं, अवशिष्ट ज्ञानावरण आदि की जघन्य स्थिति अन्त-र्मुहूर्त्तप्रमाण होती है। उनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय की जघन्य स्थिति सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में बंधती है। मोहनीय की अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में बंधती है। आयु की जघन्य स्थिति संख्यात वर्षायुष्क मनुष्य और तिर्यंचों में बन्धती है। इस तरह यथासम्भव लगाना चाहिए।

प्रश्न—ज्ञानावरण आदि कर्मों की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति को बता दिया। अब यह बताइये कि अनुभव किसे कहते हैं?

उत्तर—इसी को सूत्र द्वारा बताते हैं—

सूत्रार्थ—विपाक को अनुभव कहते हैं।

अनुग्रह और उपघात करने वाली ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों का पहले जो तीव्र मन्द भावों के निमित्त से आस्रव हुआ था उनका विशिष्ट पाक होना विपाक कहलाता है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण वाले निमित्तों के भेदों से उत्पन्न हुआ विश्वरूप नानाविध पाक है वह विपाक है। उसी के अनुभव और अनुभाग ये नामान्तर हैं। उनमें शुभपरिणामों के प्रकर्ष होने से शुभ प्रकृतियों में प्रकृष्ट अनुभव होता है, और अशुभप्रकृतियों में निकृष्ट (हीन-थोड़ा) अनुभव होता है। तथा अशुभ

प्रकृष्टोऽनुभवः। शुभप्रकृतीनां तु निकृष्टो भवति। स एवं प्रत्ययवशादुपात्तोऽनुभवो द्विधा प्रवर्तते— स्वमुखेन परमुखेन च। सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः। उत्तरप्रकृतीनां तु तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवत्यायुर्दर्शनचारित्रमोहवर्जानाम्। न हि नारकायुर्मुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमुखेन चारित्रमोहो वा दर्शनमुखेन विपच्यते। कथमयमनुभवः प्रतीयत इत्याह—

स यथानाम ॥ २२ ॥

स इत्यनेनानुभवः प्रतिनिर्दिश्यते। नामशब्देन ज्ञानावरणं मतिज्ञानावरणमित्यादि सर्वकर्मप्रकृतीनां सामान्यविशेषसंज्ञाः प्रोच्यन्ते। नाम्नामनतिक्रमेण यथानाम। ज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाभावः। दर्शनावरणस्य फलं दर्शनशक्त्युपरोध इत्येवमाद्यन्वर्थसंज्ञानिर्देशात्सर्वासां कर्मप्रकृतीनां सविकल्पानामनुभवः संप्रतीयत इति तात्पर्यार्थः। आह यदि विपाकोऽनुभवः प्रतिज्ञायते तदा तत्कर्मानुभूतं सत्किमा-

---

परिणामों के प्रकर्ष होने पर अशुभ प्रकृतियों में उत्कृष्ट अनुभव पड़ता है, और शुभ प्रकृतियों में हीन पड़ता है। इस तरह कारणवश प्राप्त हुआ जो अनुभव है वह दो प्रकार से फलता है—स्वमुख से और परमुख से। सभी मूल प्रकृतियों का अनुभव नियम से स्वमुख से प्राप्त होता है। और उत्तर प्रकृतियों में जो समान जातीय प्रकृतियां हैं उनका परमुख से भी फल प्राप्त होता है या अनुभव प्राप्त होता है। इनमें चार आयु और मोहनीय कर्मको छोड़ देना, क्योंकि नारक आयुरूप से मनुष्य आयु या तिर्यंच आयु फल नहीं देती है, वह तो अपने रूप से ही फल देती है, ऐसे सर्व आयु के विषय में समझना। इसी तरह दर्शनमोहकर्म चारित्रमोहरूप से या चारित्रमोह दर्शनमोहरूप से फल नहीं देता है।

प्रश्न—यह अनुभव किस प्रकार प्रतीत होता है ?

उत्तर—इसको सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—वह अनुभव यथानामानुसार होता है। स शब्द से अनुभव का निर्देश किया है। नाम शब्द से ज्ञानावरण, मति ज्ञानावरण इत्यादि सर्व कर्मों की प्रकृतियों की सामान्य विशेष संज्ञा कही गयी है। नामका अतिक्रमण न करके जो हो वह यथानाम है। ज्ञानका अभाव होना ज्ञानावरण कर्म का फल है, दर्शनावरण का फल दर्शन शक्ति को रोकना है। इस तरह सर्व ही कर्म प्रकृतियों के एवं उनके भेदों के अन्वर्थ नाम हैं अतः नाम से उनका अनुभव प्रतीति में आता है।

वरणवदवतिष्ठते आहोस्विन्निष्पीडितसारं प्रच्यवत इत्यत्रोच्यते—

ततश्च निर्जरा ॥ २३ ॥

तत इत्यनुभवाद्धेतोरित्यर्थ । चशब्दस्तपसा निर्जरा चेति वक्ष्यमाणनिमित्तान्तरसमुच्चयार्थः । स्वोपात्तकर्मनिर्जरणं निर्जरादेशतः कर्मसंक्षय इत्यर्थः । ततोऽनुभवात्तपसा च निर्जराया जायमानत्वाद्विपाकजाऽविपाकजत्वसद्भावाद्द्वैविद्ध्यमुपदर्शितं बोद्धव्यम् । तत्र चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघूर्णिते संसारमहार्णवे चिरं परिभ्रमतो जीवस्य शुभाशुभस्य कर्मण औदयिकभावोदीरितस्य क्रमेण विपाककालप्राप्तस्यानुभवोदयावलीस्रोतोनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य स्थितिक्षयादुदयागतपरिभुक्तस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा निर्जरा विज्ञेया । यत्तु कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णं

शंका—विपाक को अनुभव कहते हैं ऐसा लक्षण यदि किया जाता है तो जिसका फल अनुभूत हो चुका है वह कर्म आवरण (वस्त्रादि) के समान स्थित रहता है या जिसका सार समाप्त हो गया है ऐसा वह नष्ट ही हो जाता है ?

समाधान—इसीको सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—फल देने के बाद उस कर्म की निर्जरा हो जाती है ।

सूत्रोक्त 'ततः' शब्द अनुभव का सूचक है अर्थात् अनुभव से । च शब्द 'तपसा निर्जरा च' ऐसे आगे कहे जाने वाले सूत्रोक्त निमित्त का समुच्चय करने के लिये है । अपने द्वारा प्राप्त किये गये जो कर्म हैं उनकी निर्जरा होना अर्थात् एक देश से कर्मका क्षय होना निर्जरा कहलाती है । इसतरह अनुभव से और तप से निर्जरा होती है इसीलिये उसके दो भेद विपाकजा और अविपाकजा होते हैं ऐसा समझना चाहिए । अब यहां पर दोनों निर्जराओं का वर्णन करते हैं, सर्व प्रथम विपाकजा निर्जरा को कहते हैं—चारों गतियों से युक्त अनेक जाति विशेषों से व्याप्त इस संसाररूप महासागर में चिरकाल से घूमते हुए इस जीव के शुभाशुभ कर्मके औदायिक भाव से उदीरित हुए कर्मका जो कि विपाककाल को प्राप्त हो चुका है तथा जिसने अनुभव के उदयावली के प्रवाह में प्रविष्ट होकर फल देना प्रारम्भ कर दिया है स्थिति क्षय से जो उदय में आकर भोगा जा चुका है उस कर्म की जो निवृत्ति (हटना) होना है वह विपाकजा निर्जरा है ऐसा जानना चाहिये । तथा जिस कर्म का अभी उदयकाल प्राप्त नहीं हुआ है उसको औपक्रमिक क्रिया विशेष की सामर्थ्य से अनुदीर्ण को जबरदस्ती उदीर्ण करके

बलादुदीर्योदयावलीं प्रवेश्य वेद्यते—आम्रपनसादिविपाकवदसावविपाकजा निर्जराऽवगन्तव्या। ननु यथोद्देशस्तथा निर्देशो भवतीति सवरात्परत्र निर्जराया: पाठो युक्त इति पुनर्लाघवार्थमिह पाठस्य। तत्र हि पाठे क्रियमाणे विपाकोऽनुभव इति पुनरनुवादे गौरवमासज्येत। ततोऽत्राऽनुभवफलत्वेन तत्र तप:-फलत्वेन च निर्जरा विज्ञातव्येति। ता: पुन: कर्मप्रकृतयो द्विविधा—घातिका अघातिकाश्चेति। तत्र ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायाख्या अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणजीवस्वरूपघातिनीत्वात् घातिका:। इतरास्तु नामगोत्रवेद्यायुराख्या अघातिकास्तासामात्मस्वरूपाघातिनीत्वात्। ननु कथमेतन्नामादीनां कर्मत्वं पारतन्त्र्यं जीवं स्वीकुर्वन्ति स परतन्त्रीक्रियते वा यैस्तानि कर्माणि जीवेन वा मिथ्यादर्शनादि-परिणामै: क्रियन्त इति कर्माणीत्युक्तत्वात्। तच्चोक्तयुक्त्या नास्तीति चेन्न—तेषामपि सिद्धत्वलक्षण-

---

उदयावली में प्रवेश कराके भोगा जाता है वह अविपाकजा निर्जरा है जैसे–आम, पनस आदि फलों को जबरन पकाया जाता है। वैसी अविपाकजा निर्जरा है।

शंका—जैसे उद्देश होता है वैसा निर्देश करना होता है, इस न्याय के अनुसार संवर के बाद निर्जरा का कथन करना चाहिए।

समाधान—सूत्र लाघव के लिये यहां पर निर्जरा का पाठ रखा है। यदि संवर के अनंतर आगे निर्जरा का कथन करते तो पुन: विपाकोनुभव: ऐसा पाठ रचना पड़ता और उससे सूत्र गौरव का (अधिक सूत्र रचने का) प्रसंग आता है। इसी कारण से सूत्रकार आचार्य देव ने यहां पर तो अनुभव के फल के द्वारा होने वाली निर्जरा का कथन किया है और वहां पर तपके फलपने से होने वाली निर्जरा का कथन किया है ऐसा समझना चाहिए। उन कर्म प्रकृतियों के दो भेद हैं, घाती कर्म और अघाती कर्म। उनमें ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिया कर्म हैं। ये प्रकृतियां क्रमश: अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य का घात करती हैं इसलिये ये घातिया कहलाती हैं। इतर नाम, गोत्र वेदनीय और आयु ये चार अघातिया कर्म प्रकृतियां हैं। ये सामान्य स्वरूप के घातक नहीं होने से अघातिया हैं।

शंका—नाम आदि जो अघाती कर्म हैं उनके कर्मपना किस प्रकार सम्भव है, क्योंकि जो जीवको परतन्त्र करे या जिसके द्वारा परतन्त्र किया जाता है वे कर्म कहलाते हैं। अथवा जीव मिथ्यादर्शनादि परिणामों के द्वारा जिसको करता है, जीव के द्वारा जो किये जाते हैं वे कर्म हैं। इस तरह कर्म शब्दका अर्थ है। यह अर्थ नामादि अघाति कर्मों में घटित नहीं होता, क्योंकि नामादि कर्म जीवको परतन्त्र नहीं करते यह उनके अघातीपने की युक्ति से ही सिद्ध होता है।

जीवस्वरूपप्रतिबन्धित्वात्पारतन्त्र्यकरणलक्षणकर्मत्वोपपत्तेः। कथमेवं तेषामघातिकर्मत्वमिति चेत् जीवन्मुक्तिलक्षणपरमार्हन्त्यलक्ष्मीघातित्वाभावादिति ब्रूमः। घातिकाश्च कर्मप्रकृतयो द्विविधाः—सर्वघातिका देशघातिकाश्चेति। तत्र केवलज्ञानावरण-निद्रानिद्रा-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धि निद्रा-प्रचला केवलदर्शनावरणद्वादशकषायमिथ्यादर्शनमोहाख्या विंशतिप्रकृतयः सर्वघातिकाः। मत्यादिज्ञानावरणचतुष्कचक्षुरादिदर्शनावरणत्रयान्तरायपञ्चकसञ्ज्वलननोकषायसंज्ञिका देशघातिकाः। तथायमपरोऽपि विशेषो द्रष्टव्यः—शरीरनामादयः स्पर्शान्ता अगुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतप्रत्येकशरीरसाधारणशरीरस्थिरास्थिरशुभाशुभनिर्माणसमाख्याश्च पुद्गलविपाकप्रदाः। आनुपूर्व्यनाम क्षेत्रविपाककरम्। आयुर्भवधारणफलम्। अवशिष्टाः प्रकृतयो जीवविपाकहेतवः इति उक्तोनुभागबन्धः। संप्रति प्रदेशबन्धो

समाधान—ऐसा नही है। नामादि अघाति कर्म भी सिद्धत्व लक्षण वाले जीव के स्वरूप को रोकते हैं अतः पारतन्त्र्यकरण लक्षण वाला कर्मपना उनमें पाया जाता है।

शंका—तो फिर उन्हें अघाती क्यों कहते हैं ?

समाधान—जीवन मुक्ति लक्षण वाले परम आर्हन्त्य लक्ष्मी का घात नहीं करने से उन्हे अघाती कहते हैं। घातिया कर्म प्रकृतियां दो प्रकार की हैं, सर्वघाती और देश घाती। केवलज्ञानावरण, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, केवलदर्शनावरण, बारह कषाय और मिथ्यादर्शनमोह ये बीस प्रकृतियां सर्वघाती हैं। मत्यादि चार ज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण आदि तीन, पांच अन्तराय, संज्वलन चार और नव नोकषाय ये देशघातिया प्रकृतियां हैं। तथा कर्मों में एक अन्य विशेषता भी होती है, उसीको बताते हैं—शरीर नाम कर्म से लेकर स्पर्शन तक प्रकृतियां तथा अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर अस्थिर, शुभ अशुभ, निर्माण ये प्रकृतियां पुद्गल विपाकप्रद कहलाती हैं। आनुपूर्वी नाम कर्म क्षेत्र विपाकी है, आयुकर्म भव विपाकी है। और शेष सर्व कर्म प्रकृतियां जीव विपाक संज्ञक हैं। इस प्रकार अनुभागबन्ध का कथन किया।

विशेषार्थ—इस सूत्र में कर्मका फल भोगने के बाद उसका क्या होता है यह बतलाया है। फल देने के अनन्तर वह कर्म झड़ जाता है, आत्मा में ठहरता नहीं है यह बताया है। इसको निर्जरा कहते हैं। निर्जरा दो प्रकार की है, एक यथा समय उदय में आकर कर्मका अभाव होना अर्थात् आत्मा से कर्म पृथक् होकर अकर्म भावको प्राप्त होना। तथा जिस कर्मका अभी उदय का समय नहीं आया है उसका तपश्चरण

वक्तव्य: । तस्मिश्च वक्तव्ये सतीमे निर्देष्टव्या: किंहेतव: ? कदा ? कुत: ? किंस्वभावा: ? कस्मिन् ? किंपरिमाणाश्चेति । तदर्थमिदं क्रमेण परिगृहीतप्रश्नापेक्षभेदं सूत्रं प्रणीयते—

द्वारा असमय में ही नष्ट हो जाना निर्जरा है, पहली निर्जरा का नाम विपाकजा है दूसरी का नाम अविपाकजा है । असंख्यगुण श्रेणि निर्जरा और अवस्थित निर्जरा ऐसे भी दो भेद निर्जरा के हैं । करणपरिणाम द्वारा या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के अनन्तर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त इत्यादिरूप आगे ग्यारह या दस स्थान बतायेंगे । उस समय प्रतिसमय असंख्यात गुणी असंख्यात गुणीरूप कर्म प्रदेशों का झड़ जाना असंख्यात गुण श्रेणि निर्जरा है, इससे विपरीत लक्षण वाली अवस्थित निर्जरा है । अकाम निर्जरा और सकाम निर्जरा ऐसे भी दो भेद हैं । बिना इच्छा के भूख प्यास आदि को शांत भाव से सहन करते समय मिथ्यादृष्टि के कुछ निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है, इसमें संकल्पपूर्वक कुछ व्रत नियम, तपश्चरण आदि के भाव नहीं हैं केवल कष्ट को शांति से सहनारूप परिणाम है इसलिये इसे अकाम निर्जरा कहते हैं । सकाम निर्जरा इससे विपरीत स्वरूप है । सविपाकजा अविपाकजा या गुण श्रेणि इत्यादि निर्जरा का विशेष वर्णन लब्धिसार आदि ग्रन्थों में अवलोकनीय है ।

निर्जरा के अनन्तर टीकाकार ने कर्म प्रकृतियों के घातिया अघातिया इत्यादि भेद किये हैं, इनका भी कुछ विवेचन करते हैं–चार कर्म घातिया हैं, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इनके उत्तर भेद–ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नौ, मोहनीय के अट्ठावीस और अन्तराय के पांच कुल मिलाकर सैंतालीस घातिया कर्म प्रकृतियां हैं । इसमें देशघाति छब्बीस और सर्वघाति इक्कीस हैं । केवलज्ञानावरण को छोड़कर चार मतिज्ञानावरण आदि, चक्षुदर्शनावरण आदि तीन, पांच अन्तराय की, मोहनीय में संज्वलन कषाय चार, नौ नोकषाय और एक सम्यक्त्व प्रकृति इस तरह कुल छब्बीस कर्म प्रकृतियां हैं । टीकाकार ने सम्यक्त्व प्रकृति को नहीं गिनाया है वह बन्ध की अपेक्षा से नहीं गिनाया है, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति का बन्ध नहीं होता केवल उदय और सत्ता होती है । सर्वघाती प्रकृतियां–केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, पांच निद्रायें, मोहनीय में अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषाय, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) ये इक्कीस प्रकृतियां सर्वघाती हैं, मूल में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की गणना नहीं की है उसका कारण भी पहले के समान बन्धकी अपेक्षा से है अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति भी बन्ध योग्य नहीं है केवल उदय और सत्तारूप है । पुद्गलविपाकी, जीव-

नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।।२४।।

नाम्नः प्रत्यया नामप्रत्ययाः । सर्वाः प्रकृतयो नामेत्युच्यन्ते स यथानामेति वचनात् । अनेन हेतुभाव उक्तः । सर्वेषु भवेषु सर्वतः । अनेन कालोपादान कृतम् । एकैकस्य हि जीवस्यातिक्रान्ता अनंता भवाः । आगामिनः सङ्ख्येया असङ्ख्येया अनंता वा भवन्ति । योगविशेषान्निमित्तात्कर्मभावेन

विपाकी, क्षेत्रविपाकी और भवविपाकी ऐसे चार भेद भी प्रकृतियों में होते हैं–पुद्गलविपाकी प्रकृतियां बासठ हैं–पांच औदारिकादि शरीर, पांच बन्धन, पांच संघात, तीन अंगोपांग, निर्माण स्पर्श की आठ, रस की पांच, गन्ध की दो, वर्ण की पांच, छह संस्थान, छह संहनन, अगुरु लघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ और अशुभ । जीव विपाकी कर्म प्रकृतियां अठत्तर हैं—घातिया कर्मों की संपूर्ण प्रकृतियां सैंतालीस, वेदनीय की दो, गोत्र की दो, नामकर्म की सत्तावीस हैं—चार गति, पांच जाति, प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो विहायोगति, त्रस, स्थावर, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, अयशस्कीर्ति, यशकीर्ति, तीर्थंकर, उच्छ्वास, बादर और सूक्ष्म । क्षेत्रविपाकी कर्म प्रकृति चार आनुपूर्वी हैं । भव विपाकी चार आयु हैं ।

अब प्रदेश बन्ध कथन करने योग्य है, उसके कथन में ये विषय कहते हैं कि प्रदेश का हेतु क्या है, प्रदेश बन्ध कब होता है, किस कारण से होता है और किस स्वभाव वाला है, किसमें तथा कितने प्रमाण में है । इन प्रश्नों का क्रम लेकर उत्तर स्वरूप सूत्र का अवतार होता है—

सूत्रार्थ—कर्म प्रकृतियों के कारणभूत, प्रतिसमय योगविशेष से सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्म प्रदेशों में सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, यह प्रदेश बन्ध है ।

'नाम प्रत्ययाः' पद में तत्पुरुष समास है । 'स यथानाम' इस सूत्र के अनुसार सभी प्रकृतियां नाम कहलाती है । इस पद से हेतुभाव कहा । 'सर्वेषु भवेषु इति सर्वतः' सभी भवों में प्रदेश बन्ध होता है इससे प्रदेश बन्ध का काल बताया । एक एक जीवके अतीत भव अनन्त हैं, आगामी भव किसी के संख्यात, किसी के असंख्यात और किसी के

पुद्गला आधीयन्त इत्यनेन निमित्तविशेषनिर्देशः कृतो भवति । सूक्ष्मादिग्रहणं ग्रहणयोग्यपुद्गलस्वभावानुवर्णनार्थम् । ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः सूक्ष्मा न स्थूला इति । एकक्षेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम् । स्थिता इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थं स्थिता एव न गच्छन्त इति । सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमाधारनिर्देशान्नैकप्रदेशादिषु कर्मप्रदेशा वर्तन्ते किं तर्हि ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्च सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु व्याप्य स्थिता इति । अनन्तानन्तप्रदेशवचनं परिमाणान्तरव्यपोहार्थं न सङ्ख्येया न चासंख्येया नाप्यनन्ता इति । ते खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणाः सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशा घनांगुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः । एकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्णपञ्चरसद्विगन्धचतुःस्पर्शभावा अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्या योगवशादात्मनात्मसात्क्रियन्त इति स एव प्रदेशबन्धः कथ्यते । तत्प्रसिद्धिः पुनस्तदनुरूपकार्यान्यथानुपपत्तेः । पुण्यपापास्रववचनसामर्थ्यात्पुण्यपापबन्धावगतौ सत्यां पुण्यकर्मप्रकृतिप्रतिपत्त्यर्थं तावदाह—

अनन्त हैं। योगविशेष से अर्थात् योग के निमित्त से प्रदेश बन्ध होता है इससे प्रदेश बंध का कारण बताया। सूक्ष्म और एक क्षेत्रावगाह स्थित ये विशेषण कर्म योग्य पुद्गलों का स्वभाव बतलाने के लिये दिये हैं। अर्थात् ग्रहण योग्य पुद्गल सूक्ष्म होते हैं स्थूल नहीं, एक क्षेत्रावगाह स्वरूप हैं, अर्थात् क्षेत्रान्तर के पुद्गल प्रदेश ग्रहण में नहीं आते हैं, वे प्रदेश स्थित हैं अर्थात् क्रियान्तर रहित हैं। सर्व आत्म प्रदेशों में आगत कर्म पुद्गल व्याप्त होते हैं इसको बताने हेतु 'सर्वात्म प्रदेशेषु' ऐसा कहा है, अर्थात् इससे आधार बताया है कि आत्मा के एक प्रदेश आदि में कर्म प्रदेश स्थित नहीं होते किन्तु ऊपर नीचे तिरछे रूप से सर्व आत्म प्रदेशों में व्याप्त होकर स्थित होते हैं। ये आगत प्रदेश संख्यात या असंख्यात नहीं हैं किन्तु अनन्तानन्त हैं इसको बताने हेतु 'अनन्तानन्तप्रदेशाः' पदको ग्रहण किया है। वे कर्म प्रदेश (पुद्गल स्कन्ध) अभव्य जीवों से अनन्त गुणे हैं और सिद्ध जीवों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं। घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में अवगाह वाले हैं। एक, दो, तीन, चार इत्यादि संख्यात और असंख्यात समय तक अवस्थित रहते हैं। उन प्रदेशों में पांच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श (स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण) रहते हैं। आठ प्रकार के कर्म प्रकृति के योग्य होते हैं। इनका योग द्वारा आत्मसात् करना प्रदेश बन्ध कहलाता है। इस प्रदेश बन्ध की सिद्धि तो उसके अनुरूप कार्य को देखकर हो जाती है।

पुण्यास्रव और पापास्रव को छठे अध्याय में कहा है उसके सामर्थ्य से बंध के भी पुण्य बन्ध और पाप बन्ध ऐसे दो भेद जाने जाते हैं, उनमें अब पुण्य कर्मकी प्रकृतियों की प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते हैं—

सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।। २५ ।।

सुखफलं सद्वेद्यम् । शुभमायुस्त्रिविधं नारकायुर्वर्जितम् । शुभनाम शुभफलं सप्तत्रिंशद्विकल्पम् । तद्यथा—मनुष्यदेवगती पञ्चेन्द्रियजातिः पञ्च शरीराणि त्रीण्यङ्गोपाङ्गानि समचतुरश्रसंस्थानवज्रर्षभनाराचसहननप्रशस्तस्पर्शरसगन्धवर्णा मनुष्यदेवगत्यानुपूर्व्ये अगुरुलघुपरघातोच्छ्वासातपोद्योतप्रशस्तविहायोगनयस्त्रसबादरपर्याप्तिप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशस्कीर्तयो निर्माणं तीर्थकरनाम चेति । शुभमेकमुच्चैर्गोत्रं संप्रतिपत्तव्यम् । एता द्विचत्वारिंशत्प्रकृतयः पुण्यसंज्ञा वेदितव्याः । इदानीं पापबन्धमाह—

अतोऽन्यत्पापम् ।। २६ ।।

उक्तात्पुण्यादवशिष्टं पापं द्व्यशीतिभेदं मूलोत्तरप्रकृतिगणनादवगन्तव्यम् । तद्यथा—ज्ञानावरणस्य प्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणस्य नव, मोहनीयस्य साध्यपदः षड्विंशतिः, पञ्चान्तरायस्य, नरकगतितिर्यग्गती, चतस्रो जातयः, पंच संस्थानानि, पच संहननानि, अप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शाः,

---

सूत्रार्थ—साता वेदनीय, शुभआयु, शुभनाम और शुभगोत्र ये पुण्य प्रकृतियाँ हैं ।

सुख रूप फल वाला साता वेदनीय कर्म है । शुभ आयु तीन हैं—नारकायु को छोड़कर मनुष्यायु, तिर्यंचायु और देवायु । शुभरूप फल वाला शुभ नाम कर्म है, उसके सैंतीस भेद हैं—मनुष्यगति, देवगति, पञ्चेन्द्रियगति, पाँच शरीर, तीन अंगोपाँग, समचतुरस्र संस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगनि, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्त्ति, निर्माण और तीर्थंकरत्व, एक उच्च गोत्र । ये सब मिलकर बियालीस पुण्य प्रकृतियाँ जाननी चाहिए ।

अब पाप प्रकृतियों को कहते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्वोक्त पुण्यप्रकृतियों से जो अन्य प्रकृतियां हैं वे पापरूप हैं ।

उक्त पुण्य कर्म से अवशिष्ट पाप कर्म हैं उसके बियासी भेद हैं मूलोत्तर प्रकृति के गणना करने से वे भेद हो जाते हैं, उसीको बताते हैं—ज्ञानावरण की प्रकृति पांच हैं, दर्शनावरण की नौ, मोहनीय की साध्य पद अर्थात् बन्ध योग्य प्रकृतियां छब्बीस हैं । पांच अन्तराय की तथा नाम कर्म में नरकगति, तिर्यंचगति, चार एकेन्द्रियादि जातियां, ममचतुरस्र को छोड़कर पांच संस्थान तथा वज्रवृषभनाराच को छोड़कर पांच संहनन,

नरकगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्यद्वयमुपघाताप्रशस्तविहायोगतिस्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तिसाधारणशरीराऽस्थिराऽशुभदुर्भगदु:स्वराऽनादेयाऽयशस्कीर्तयश्चेति नामप्रकृतयश्चतुस्त्रिंशत् । असद्वेद्यं नरकायुर्नीचैर्गोत्रमित्येवं व्याख्यात: सप्रपंचो बन्धपदार्थोऽवधिमन:पर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्तदुपदिष्टागमादनुमेय: ।।

शशधरकरनिकरसतारनिस्तलतरलतलमुक्ताफलहारस्फारतारानिकुरुम्बबिम्बनिर्मलतरपरमोदार शरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघातीन्धनसङ्घातसकलविमलकेवलालोकित-सकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचिदचित्स्वभावभावाभि-धानसाधितस्वभावपरमाराध्यतममहासिद्धान्त: श्रीजिनचन्द्रभट्टारकस्तच्छिष्यपण्डित-श्रीभास्करनन्दिविरचितमहाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां अष्टमोऽध्यायस्समाप्त ।

अप्रशस्त स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्त्ति इस तरह नाम कर्मकी चौतीस प्रकृतियां अशुभ हैं, तथा असाता वेदनीय, नरकायु और नीच गोत्र, ये सब बियासी होती हैं । इस प्रकार विस्तृतरूप से बंध पदार्थ का व्याख्यान किया है । यह बंधपदार्थ अवधिज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जाना जाता है, और इन अवधिज्ञान आदि के धारक ज्ञानियों द्वारा कहे गये आगम द्वारा अनुमेय होता है, अर्थात् बंध पदार्थ को प्रत्यक्ष ज्ञानी प्रत्यक्षरूप से जानते हैं और श्रुतज्ञानी आगम द्वारा तथा अनुमान द्वारा परोक्षरूप से जानते हैं ।

जो चन्द्रमा को किरण समूह के समान विस्तीर्ण, तुलना रहित मोतियों के विशाल हारों के समान एवं तारा समूह के समान शुक्ल निर्मल उदार ऐसे परमौदारिक शरीर के धारक हैं, शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि की उज्ज्वल ज्वाला द्वारा जला दिया है घाती कर्म रूपी ईन्धन समूह को जिन्होंने ऐसे तथा सकल विमल केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण लोकालोक के स्वभाव को जानने वाले श्रीमान परमेश्वर जिनपति के मत को जानने में विस्तीर्ण बुद्धि वाले, चेतन अचेतन द्रव्यों को सिद्ध करने वाले परम आराध्य भूत महासिद्धान्त ग्रन्थों के जो ज्ञाता हैं ऐसे श्री जिनचन्द्र भट्टारक हैं उनके शिष्य पंडित श्री भास्करनंदी विरचित सुख बोधा नामवाली महा शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में आठवां अध्याय पूर्ण हुआ ।

अथ नवमोऽध्यायः

बन्धपदार्थो निर्दिष्टः । सांप्रतं तदनन्तरोद्देशभाजः संवरस्य निर्देशः प्राप्तकाल इत्यत आह—

आस्रवनिरोधः संवरः ॥ १ ॥

द्रव्यभावरूप आस्रवो द्विधोक्तः । संव्रियते येनार्थोऽसौ संवरः । तत्र संसारनिमित्तक्रियानिवृत्तिर्भावसंवरः । तन्निमित्तनत्पूर्वककर्मपुद्गलाऽऽदानविच्छेदो द्रव्यसंवरः । इदं तावद्विचार्यते—कस्मिन् गुणस्थाने कस्य संवर इत्यत्रोच्यते—मिथ्यादर्शनकर्मोदयवशीकृत आत्मा मिथ्यादृष्टिः । तत्र मिथ्यादर्शनप्राधान्येन यत्कर्मास्रवति तन्निरोधाच्छेषे सासादनसम्यग्दृष्ट्यादौ तत्संवरो भवति । किं पुनस्तन्मिथ्यात्वम् नपुंसकवेदनरकायुर्नरकगत्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिहुण्डसंस्थानाऽसंप्राप्तसृपाटिकासंहनननरकगतिप्रायो-

---

बन्ध पदार्थ का कथन किया, अब उसके अनन्तर कहा गया जो संवर पदार्थ है उसके कथन का अवसर है अतः उसके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ--आस्रव का रुकना या रोकना संवर कहलाता है । आस्रव के दो भेद द्रव्य भावरूप से कहे थे, जिसके द्वारा वे आस्रव रोके जाते हैं वह संवर है । उसमें संसार के कारणभूत जो क्रियायें हैं उनसे निवृत्त होना भाव संवर है तथा उस संसार के हेतुभूत क्रिया से जो कर्मों का आस्रव हो रहा था उन कर्म पुद्गलों का ग्रहण रुक जाना द्रव्य संवर है ।

प्रश्न—सर्व प्रथम विचार करना है कि किस गुणस्थान में किसका संवर होता है ?

उत्तर—अब इसीको कहते हैं–मिथ्यात्व कर्म के उदय से युक्त आतमा मिथ्यादृष्टि कहलाता है उस मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यादर्शन की प्रधानता से जो कर्म आता है वह मिथ्यात्व के निरोध होने पर शेष सासादन सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में रुक जाता है, वह कौनसा है तो मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय आदि चार जातियां, हुण्डसंस्थान, असंप्राप्त सृपाटिका संहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर,

ग्यानुपूर्व्याऽऽतपस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणसंज्ञकषोडशप्रकृतिलक्षणम् । असंयमस्त्रिविधः—अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानोदयविकल्पात् । तत्प्रत्ययस्य कर्मणस्तदभावे संवरोऽवसेयः । तद्यथा—निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्ध्यनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभस्त्रीवेदतिर्यगायुस्तिर्यग्गतिचतुःसंस्थानचतुःसंहननतिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्योद्योताऽप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगदुस्स्वरानादेयनीचैर्गोत्रसंज्ञकानां पंचविंशतिप्रकृतीनामनन्तानुबन्धिकषायोदयकृताऽसंयमप्रधानास्रवाणामेकेन्द्रियादयः सासादनसम्यग्दृष्टयन्ता बन्धकाः । तदभावे तासामुत्तरत्र संवरः । अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभमनुष्यायुर्मनुष्यगत्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गवज्रर्षभनाराचसंहननमनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यनाम्नां दशानां प्रकृतीनामप्रत्याख्यानकषायोदयकृताऽसंयमहेतूनामेकेन्द्रियादयोऽसंयतसम्यग्दृष्टयन्ता बन्धकाः । तदभावादूर्ध्वं तासां संवरः । सम्यङ्मिथ्यात्वगुणेनायुर्न बध्यते । प्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभानां चतसृणां प्रकृतीनां प्रत्याख्यानकषायोदयकारणाऽसंयमास्रवाणामेकेन्द्रियप्रभृतयः संयताऽसंयताऽवसाना बन्धकाः । तदभावादुपरिष्टात्तासां संवरः । प्रमादोपनीतस्य तद्भावे तस्य निरोधः । प्रमादेनोपनीतस्य कर्मणः प्रमत्तसंयता-

---

अपर्याप्त, साधारण ये सोलह प्रकृतियां पहले गुणस्थान में व्युच्छिन्न होती हैं । असयम तीन प्रकार का है—अनन्तानुबन्धी के उदय से जनित, अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जनित और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जनित । उस उस असंयमरूप कारण से होने वाला कर्म उस उस असंयम के अभाव में रुक जाता है । जैसे—निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्री वेद, तिर्यंचायु, तिर्यंचगति, बीच के चार संस्थान, चार संहनन, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्त-विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीच गोत्र ये पच्चीस प्रकृतियां अनंतानुबंधी कषायों के उदय से उत्पन्न हुए असंयम के कारण एकेन्द्रिय से लेकर सासादन गुणस्थान तक बन्धती हैं, और उस असंयम के अभाव होने पर आगे उन प्रकृतियों का संवर हो जाता है । अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, उसका अंगोपांग, वज्रवृषभनाराच संहनन, मनुष्यगत्यानुपूर्वी ये दस प्रकृतियां अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से उत्पन्न हुए असंयम के कारण एकेन्द्रिय से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि नामके चौथे गुणस्थान तक बन्धती है और उस असंयम के अभाव होने पर आगे उनका संवर हो जाता है। सम्यग्मिथ्यात्वरूप मिश्र परिणाम से आयु नहीं बंधती। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कर्म प्रकृतियां प्रत्याख्यान कषाय के उदय से उत्पन्न हुए असंयम के कारण एकेन्द्रिय से लेकर संयतासंयत नामके पांचवें गुणस्थान तक बन्धती हैं और उसके अभाव होने पर आगे उन प्रकृतियों का संवर हो जाता है । प्रमाद के कारण बंधे हुए कर्म प्रमाद के अभाव होने पर रुक जाते हैं अर्थात्

दूर्ध्वं तदभावान्निरोधः प्रत्येतव्यः। किं पुनस्तत्? असद्वेद्याऽरतिशोकाऽस्थिराऽशुभाऽयशस्कीर्त्तिविकल्पम्। देवायुर्बन्धारम्भस्य प्रमाद एव हेतुरप्रमादोऽपि तत्प्रत्यासन्नः। तत ऊर्ध्वं तस्य संवरः। कषाय एवास्रवो यस्य कर्मणो न प्रमादादिस्तस्य तन्निरोधे निरासोऽवसेयः स च कषाय- प्रमादविरहितस्तीव्रमन्दजघन्य-भावेन त्रिषु गुणस्थानेषु व्यवस्थितः। तत्राऽपूर्वकरणस्यादौ सङ्ख्येयभागेद्वे कर्मप्रकृती निद्राप्रचले बध्येते। तत ऊर्ध्वं सङ्ख्येयभागे त्रिंशत्प्रकृतयो देवगतिपञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणशरीरसमचतुर-श्रसंस्थान वैक्रियिकाहारकांगोपांगवर्णरसगन्धस्पर्शदेवगतिप्रायोग्यानुपूर्व्याऽगुरुलघूपघातपरघातोच्छ्वास-प्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकशरीरस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्माणतीर्थंकराख्या बध्यन्ते। तस्यैव चरमसमये चतस्रः प्रकृतयो हास्यरतिभयजुगुप्सासंज्ञा बन्धमुपयान्ति। ता एतास्तीव्रकषायास्रवाः।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान से आगे उन कर्मोंका संवर होता है, वे कर्म कौन से हैं ऐसा पूछो तो बताते हैं कि–असाता वेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशस्कीर्त्ति। देवायु के बन्ध का प्रारम्भ प्रमाद के कारण होता है तथा उसका निकटवर्ती सप्तम गुणस्थान वाला अप्रमत्तसंयत भी देवायु को बांधता है। उसके आगे उस कर्म का संवर होता है। जिन कर्मो के आस्रव कषाय ही है प्रमाद आदि नहीं हैं, उनका कषाय के निरोध होने पर संवर होता है, प्रमाद रहित कषाय तीव्र मन्द और जघन्य भाव से तीन गुणस्थानों में व्यवस्थित है, उनमें भी अपूर्वकरण नामके गुणस्थान में संख्यात भाग तक निद्रा प्रचला बंधती है, उससे आगे संख्यातवें भाग तक तीस प्रकृतियां बन्धती हैं देवगति, पञ्चेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक और आहारक अंगोपांग, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण, और तीर्थंकर। उसी गुणस्थान के चरम समय तक चार प्रकृतियां हास्य, रति, भय और जुगुप्सा बन्धती हैं। ये सब तीव्र कषाय निमित्तक हैं, इस कषाय के अभाव में कहे गये अपने अपने भागों के आगे उन उन प्रकृतियों का संवर हो जाता है (यहां पर कषाय के तीन भेद करके आठवें नौवें और दसवें गुणस्थान में क्रमशः उनका अस्तित्व बताया है अर्थात् आठवें अपूर्वकरण में तीव्र कषाय, नौवें में मन्द और दसवें में जघन्य कषाय बतायी है, ये सर्व कषाय संज्वलन रूप मात्र हैं तथा आगे आगे अत्यन्त मन्दरूप हैं फिर भी उनको यहां तीव्र मन्द और जघन्य नाम से कहा है वह केवल दसवें से नौवें में और नौवें से आठवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय की आंशिक अधिकता बताने हेतु कहा है। वास्तव में श्रेणि में कषाय

तदभावान्निर्दिष्टाद्भागादूर्ध्वं संव्रियन्ते । अनिवृत्तिबादरसाम्परायस्यादिसमयादारभ्य सङ्ख्येयेषु भागेषु पुंवेदक्रोधसंज्वलनौ बध्येते । तत ऊर्ध्वं शेषेषु सङ्ख्येयेषु भागेषु मानसंज्वलनमायासंज्वलनौ बन्धमुपगच्छतः । तस्यैव चरमसमये लोभसंज्वलनो बन्धमेति । ता एताः प्रकृतयो मध्यमकषायास्रवाः । तदभावे निर्दिष्टस्य भागस्योपरिष्टात्संवरमाप्नुवन्ति । पञ्चानां ज्ञानावरणानां चतुर्णां दर्शनावरणानां यशस्कीर्तेरुच्चैर्गोत्रस्य पञ्चानामान्तरायाणां च मन्दकषायास्रवाणां सूक्ष्मसाम्परायो बन्धकः । तदभावादुत्तरत्र तेषां संवरः । केवलेनैव योगेन सद्वेद्यस्योपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगानां बन्धो भवति । तदभावादयोगकेवलिनस्तस्य संवरो भवति । उक्तः संवरः । तद्धेतुप्रतिपत्त्यर्थमाह—

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ॥२॥

अत्यन्त हीन अनुभाग युक्त एवं अबुद्धिपूर्वक होती है) अनिवृत्ति बादर साम्पराय गुणस्थान के प्रारम्भ से लेकर संख्येय भाग तक पुरुषवेद और संज्वलन क्रोध बन्धता है, उससे आगे संख्यात भागों तक मान और माया संज्वलन बंधता है। उसी के चरम समय पर्यंत लोभ संज्वलन बंधता है, ये पांच प्रकृतियां मध्यम कषाय निमित्तक हैं, इस कषाय के अभाव में आगे आगे के बताये गये भागों में उस उसका संवर होता जाता है। अनिवृत्तिकरण नामके नौवें गुणस्थान के बंधकी व्युच्छित्ति की अपेक्षा पांच भाग हैं पहले भाग में पुरुषवेद व्युच्छिन्न होता है आगे क्रमशः क्रोध, मान, माया और लोभ व्युच्छिन्न होता है। पांच ज्ञानावरण, पांच अंतराय, चार दर्शनावरण, यशस्कीर्त्ति और उच्चगोत्र ये सोलह प्रकृतियां मंद-जघन्य कषाय के कारण आस्रवित होती हैं। इनका बंधक सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान वाला है, (अर्थात् ये दसवें गुणस्थान तक बंधती हैं) जघन्य कषाय के अभाव होने पर इन प्रकृतियों का संवर हो जाता है। केवल योग मात्र से साता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है (ईर्यापथ आस्रव होता है) योग रूप आस्रव ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान वाले उपशांतकषाय, क्षीणकषाय और सयोगी तक है। योग के अभाव में अयोगकेवली के उसका संवर हो जाता है। इस प्रकार संवर कहा।

अब संवर का हेतु कौन है यह बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र द्वारा होता है।

यत: संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्ति: । प्राणिपीडापरिहारार्थं सम्यगयन समिति: । इष्टे स्थाने धत्त इति धर्म: । शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा । क्षुधादिजनितवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं परिषह्यत इति परीषह: । तस्य जय: परीषहजय: । चारित्रशब्द आदिसूत्रे व्याख्यातार्थ: । गुप्त्यादयो वक्ष्यमाणलक्षणास्तेषां गुप्त्यादीनां संवरक्रियाया साधकतमत्वात्करणसाधनत्वम् । संवरोऽधिकृतोऽपि स इति तच्छब्देन परामृश्यते, गुप्त्यादिभि: साक्षात्सम्बन्धार्थ: । किं प्रयोजनमिति चेदवधारणार्थमिति ब्रूम: । स एष संवरो गुप्त्यादिभिरेव भवति नान्येनोपायेनेति । तेन तीर्थाभिषेकदीक्षा शीर्षोपहारदेवताराधनादयो निर्वर्तिता भवन्ति । रागद्वेषमोहोपात्तस्य कर्मणोऽन्यथा निवर्तयितुमशक्यत्वात् । संवरहेतुविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

संसार के कारणों से जिसके द्वारा आत्मा का गोपनरक्षण होता है वह गुप्ति है । प्राणियों के पीड़ा का परिहार करने हेतु भली प्रकार से गमन करना–प्रयत्न करना समिति है । जो इष्ट स्थान में धर देता है वह धर्म है । शरीरादि के स्वभावों का चिंतन करना अनुप्रेक्षा है । क्षुधा आदि से उत्पन्न हुई वेदना को कर्मों की निर्जरा के लिये सहन करना परीषह है, परीषह का जय परीषह जय कहलाता है । चारित्र शब्द का पहले अध्याय के प्रथम सूत्र में व्याख्यान कर चुके हैं । गुप्ति आदि का लक्षण आगे कहने वाले हैं, संवररूप क्रिया के लिये ये गुप्ति आदिक साधकतम कारण होते हैं अत: सूत्र में इनका करण निर्देश (तृतीया विभक्ति) किया है । संवर का अधिकार है तो भी 'स' शब्द द्वारा उसका उल्लेख संवर का गुप्ति आदि के साथ साक्षात् सम्बन्ध बतलाने के लिये किया है ।

प्रश्न—'स' ऐसा सूत्र में उल्लेख करने का क्या विशेष प्रयोजन है ?

उत्तर—अवधारण का प्रयोजन है, अर्थात् गुप्ति के द्वारा ही संवर होता है, अन्य किसी उपायों से संवर नहीं होता ऐसा निश्चय कराने हेतु 'स' शब्द दिया है । इस तरह अवधारण करने से, अन्य परवादी जो तीर्थाभिषेक (गंगादि में नहाना) दीक्षा, शीर्षोपहार (तीर्थ में शिर मुण्डन करना या मस्तक काटकर देवी को भेंट चढ़ाना) देवता की आराधना आदि से कर्म नाश होना मानते हैं उनका खण्डन हो जाता है, क्योंकि राग, द्वेष और मोह द्वारा उपार्जित किये गये कर्म गुप्ति आदि को छोड़कर अन्य उपायों से नष्ट नहीं हो सकते हैं ।

आगे संवर का विशेष हेतु बताते हैं—

तपसा निर्जरा च ।। ३ ।।

तपो धर्मान्तर्भूतमपि पृथगुच्यते उभयसाधनत्वख्यापनार्थं संवरं प्रति प्राधान्यप्रतिपादनार्थं च । ननु च तपोऽभ्युदयाङ्गमिष्टं देवेन्द्रादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वाभ्युपगमात् । तत्कथं निर्जरांगं स्यादिति । नैष दोष-एकस्यानेककार्यदर्शनादग्निवत् । यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्मसाद्भावादिप्रयोजन उपलभ्यते, तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोधः ? संवरहेतुष्वादावुद्दिष्टाया गुप्तेः स्वरूपप्रतिपादनार्थं तावदाह—

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ।। ४ ।।

योगो व्याख्यातः 'कायवाङ्मनस्कर्म योगः' इत्यत्र । तस्य स्वेच्छाप्रवृत्तिनिवर्तनं निग्रहः । विषयसुखाभिलाषार्थप्रवृत्तिनिषेधार्थं सम्यग्विशेषणम् । तस्मात्सम्यग्विशेषणविशिष्टात् सङ्क्लेशाऽ-

---

सूत्रार्थ—तप के द्वारा निर्जरा और संवर होता है । यद्यपि तप दश धर्मों के अन्तर्गत है फिर भी यहां पृथक ग्रहण किया है उससे तप दोनों का–संवर और निर्जरा का साधन है यह सिद्ध होता है तथा संवर का तो प्रधान साधन है ऐसा सिद्ध होता है ।

शंका—तपश्चरण अभ्युदय–स्वर्ग का साधन माना गया है, क्योंकि यह देवेन्द्र आदि स्थानों को प्राप्त करने का हेतु है, अतः तपको निर्जरा का कारण कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, एक कारण अनेक कार्यों को करते हुए देखा जाता है, जैसे–अग्नि एक होकर भी विक्लेदन–पकाना, भस्म करना इत्यादि अनेक कार्यों को करती है, वैसे तपश्चरण अभ्युदय और कर्मक्षय दोनों का हेतु है, दोनों कार्यों को अकेला ही कर लेता है । इसमें क्या विरोध है ? कुछ भी नहीं ।

संवर के कारणों में पहली कही गयी जो गुप्ति है उसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—मन, वचन और काय योगों का भली प्रकार से निग्रह करना गुप्ति है।

'कायवाङ्मनस्कर्म योगः' इस सूत्र में पहले योग का कथन किया जा चुका है । उस योग की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का निग्रह करना गुप्ति है। विषय सुख की अभिलाषा से योग का निग्रह करना गुप्ति नहीं है, इस बात को बतलाने हेतु सम्यग् विशेषण दिया है । उस सम्यग् विशेषण से विशिष्ट, जिसमें संक्लेश उत्पन्न नहीं होता ऐसा काय

प्रादुर्भावपरात्कायादियोगनिरोधे सति तन्निमित्तं कर्म नास्रवतीति संवरप्रसिद्धिरवगन्तव्या । सा त्रितयी–कायगुप्तिर्वाग्गुप्तिर्मनोगुप्तिरिति । तत्राऽशक्तस्य मुनेर्निरवद्यवृत्तिख्यापनार्थमाह—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

सम्यगिति वर्तते । तेनेर्यादयो विशेष्यन्ते-सम्यगीर्या सम्यग्भाषा सम्यगेषणा सम्यगादाननिक्षेपः सम्यगुत्सर्ग इति । ता एताः पञ्च समितयो विदितजीवस्थानादिविधेर्मुनीन्द्रस्य प्राणिपीडापरिहारा-भ्युपाया वेदितव्याः । तथा प्रवर्तमानस्याऽसंयमपरिणामनिमित्तकर्मास्रवाऽभावात्संवरो भवतीति । तृतीयसंवरहेतोर्धर्मस्य भेदप्रतिपादनार्थमाह—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

आदि योगों का निरोध करने पर उन योगों के निमित्त से आने वाला कर्म रुक जाता है, नहीं आता है और इस तरह संवर सिद्ध होता है ऐसा समझना चाहिये । गुप्ति के तीन भेद हैं–कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति ।

उक्त गुप्तियों के पालन में जो मुनि असमर्थ हैं, उनके लिये निर्दोष चर्या का कथन करते हैं—

सूत्रार्थ— ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति और उत्सर्गसमिति ये पांच समितियां होती हैं । सम्यग् शब्द का प्रकरण है, उसको ईर्या आदि के साथ जोड़ना–सम्यगीर्या, सम्यग्भाषा, सम्यगेषणा, सम्यगादाननिक्षेप और सम्यगुत्सर्ग । जिनने जीव स्थान आदि को भली प्रकार से जान लिया है ऐसे मुनिजनों की प्राणि पीड़ा का परिहार करने वाली उपाय स्वरूप ये पांच समितियां कही गयी हैं । समिति के अनुसार प्रवृत्ति करने वाले साधु के असंयम परिणाम के निमित्त से आने वाला जो कर्म है वह नहीं आता, इस तरह उनके संवर होता है ।

संवर का तीसरा कारण जो धर्म है उसके भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस धर्म हैं ।

शंका—यहां पर दस धर्म का कथन किसलिये किया है ?

किमर्थमिदमुच्यत इति चेदत्रोच्यते—आद्यं तावत्प्रवृत्तिनिग्रहार्थम् । तत्राऽसमर्थानां प्रवृत्त्युपाय-प्रदर्शनार्थं द्वितीयम् । इदं पुनर्दशविधधर्माख्यानं प्रवर्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं वेदितव्यम् । शरीर-स्थितिहेतुमार्गणार्थं परकुलान्युपव्रजतो भिक्षोर्दुर्जनाक्रोशप्रहसनावज्ञाताडनशरीरव्यापादनादीनां सन्नि-धानेऽपि कालुष्यानुत्पत्तिः क्षमा । जात्यादिकृतमदावेशवशादभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणम् । योगस्यावक्रतार्जवम् । प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः शौचम् । सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्य-मित्युच्यते । अथैतद्भाषासमितावन्तर्भवतीति चेन्नैष दोषः समितौ प्रवर्तमानो मुनिः साधुष्वसाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितं च ब्रूयादन्यथा रागानर्थदण्डदोषः स्यादिति वाक्समित्यर्थः । इह पुनः सन्तः प्रव्रजितास्तद्भक्ता वा तेषु साधुषु सत्सु ज्ञानचारित्रशिक्षणादिषु बह्वपि कर्तव्यमित्यनुज्ञायते ।

समाधान—बतलाते हैं–देखिये ! पहला संवर का भेद जो गुप्ति है वह प्रवृत्ति को दूर करने के लिए है, उस गुप्ति के पालन में जो साधु असमर्थ है उसको प्रवृत्ति का उपाय दिखाने के लिये दूसरा पद अर्थात् समिति का कथन किया गया है और यह तीसरा पद जो दस प्रकार का धर्म स्वरूप है, वह जो भी समितिरूप प्रवृत्ति करना उसमें प्रमाद नहीं होने देना, इस बात को समझाने हेतु इस तीसरे स्थान पर धर्म का वर्णन किया है । शरीर की स्थिति के लिये परकुल में–परघर में जाते हुए साधुजनों को दुर्जन लोग गाली देते हैं, हंसी उड़ाते हैं, अवज्ञा करते हैं, मारते हैं, शरीर का व्यापादन करते हैं, इत्यादि किये जाने पर भी साधु के मनमें क्षोभ संताप कलुषता नहीं होना क्षमा कहलाती है । जाति, कुल इत्यादि के निमित्त से जो मद–गर्व होता है उसको नहीं होने देना मार्दव है, अर्थात् मान का त्याग करना मार्दव धर्म है । मनो योग आदि में कुटिलता नहीं होना आर्जव है, प्रकर्ष लोभ का त्याग करना शौच है । प्रशस्तजनों में साधु वचन–श्रेष्ठ वचन कहना सत्य है ।

शंका—इस सत्य धर्म का भाषा समिति में अन्तर्भाव होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, भाषा आदि समिति में प्रवृत्ति करने वाला यति साधुजन और असाधुजन इन दोनों में भाषा व्यवहार करता है अर्थात् बोलता है, किंतु हित और मित बोलता है, यदि अधिक बोलता है तो राग आदि रूप अनर्थ दण्ड का दोष आता है, इस तरह हित मित बोलने वाले साधु के भाषा समिति होती है । तथा इस सत्य धर्म का पालन करने वाला मुनि सन्त पुरुषों के साथ दीक्षित साधुजनों के साथ एवं साधुजनों के जो भक्त पुरुष हैं उनके साथ दर्शन, ज्ञान और चारित्र का

धर्मोपबृंहणार्थं समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहारः संयमः। कर्मक्षयार्थमागमाविरोधेन तप्यत इति तपः। तदुत्तरत्र वक्ष्यमाणद्वादशविकल्पमवसेयम्। संयमयोग्यज्ञानादिप्रदानं परिग्रहनिवृत्तिर्वा त्यागः। उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहनं नैर्मल्यं वाकिंचन्यम्। अब्रह्मनिवृत्तिर्निरतिचारब्रह्मचर्यम्। प्रत्येकमुत्तमविशेषणं क्षमादीनां दृष्टप्रयोजनापेक्षक्षमादेस्तदाभासत्वज्ञापनार्थम्। तान्येतानि दशापि धर्म इत्याख्यायते। अनुप्रेक्षानिर्देशार्थमाह—

अनित्याशरणसंसारैकत्वाऽन्यत्वाऽशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधि-दुर्लभधर्मस्वाख्यातत्वाऽनुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

शिक्षण देने के लिये बहुत भी बोलता है। इस प्रकार भाषा समिति और सत्य धर्म इन दोनों में अन्तर है, भाषा समिति का पालक अल्प बोलता है और सत्य धर्म का पालक बहुत बोलता है किन्तु सत्पुरुषों के साथ ही केवल बोलता है अन्य के साथ नहीं।

धर्मों को बढ़ाने हेतु समिति में प्रवृत्त यति के जो प्राणी पीड़ा का परिहार और इन्द्रिय निरोध किया जाता है वह उनका संयम धर्म है। कर्मों का क्षय करने हेतु जो तपा जाता है वह तप है। उसके आगे कहे जाने वाले बारह भेद हैं। संयम के योग्य ज्ञानादि के उपकरणों को प्रदान करना त्याग कहलाता है अथवा परिग्रह की निवृत्ति त्याग है। प्राप्त हुए निकटवर्ती शरीर आदि का संस्कार नहीं करना अथवा निर्मलता (मनकी निर्मलता) आकिञ्चन्य धर्म है। अब्रह्म से दूर रहना या निरतिचार ब्रह्मचर्य पालना ब्रह्मचर्य धर्म है। क्षमा आदि प्रत्येक धर्म के साथ उत्तम विशेषण जोड़ना। यह विशेषण इस बात का द्योतक है कि यदि ख्याति आदि के लिये क्षमा आदि को धारण किया जाता है तो वह क्षमादि धर्म नहीं कहलाता है वह झूठी या नकली क्षमा आदि कहलायेगी ऐसे क्षमा आदि आभासों से कर्मों का संवर भी नहीं होगा।

इस तरह क्षमा आदि दस के दस 'धर्म' इस नाम से कहे जाते हैं।

अब अनुप्रेक्षा का कथन करते हैं—

सूत्रार्थ—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन विषयों में बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा कहलाती है।

शरीरेन्द्रियविषयभोगादेर्भंगुरत्वमनित्यत्वम् । संसारदुःखोपद्रुतस्य शरणाभावोऽशरणत्वम् । स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः । दुःखानुभवनं प्रत्यसहायत्वमेकत्वम् । शरीरादपि जीवस्य व्यतिरेकोऽन्यत्वम् । शरीरस्याऽशुचिकारणकार्यस्वभावत्वमशुचित्वम् । आस्रवसंवरनिर्जरालोकाः पूर्वमेवोक्तार्थाः । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां ज्ञप्तिरनुष्ठानं च बोधिः । तद्योग्यत्रसभावादिकृच्छ्रप्राप्तिर्बोधिदुर्लभत्वम् । सर्वज्ञवीतरागैर्धर्मस्य शोभनाख्यानं धर्मस्वाख्यातत्वम् । एतेषां प्रत्येकमनुचिन्तनं भावनमनुप्रेक्षा द्वादश भवन्ति । परीषहजयप्रतिपत्त्यर्थमाह—

मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ॥८॥

शरीर, इन्द्रियां, विषय भोग आदि पदार्थ नष्ट होने वाले हैं इत्यादि रूप से विचार करना अनित्य अनुप्रेक्षा है । संसारी प्राणी संसार के दुःखों से पीड़ित हैं उनका कोई भी शरणभूत नहीं है इत्यादि चिन्तन करना अशरण भावना है । अपने कर्म के निमित्त से आत्मा के भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है । दुःखों के अनुभव करने में मैं अकेला हूं, दूसरा कोई सहायक नहीं है ऐसी भावना करना एकत्वानुप्रेक्षा है । इस जीव का शरीर से भी पृथक्पना है इत्यादि विचारना अन्यत्व भावना है । शरीर स्वयं अशुचि है अशुचि से ही इसका निर्माण हुआ तथा अशुचि को पैदा करता है इत्यादिरूप शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना अशुचि भावना है । आस्रव, संवर, निर्जरा और लोक शब्दों का अर्थ या लक्षण पहले कहा गया है । सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की ज्ञप्ति होना अनुष्ठान करना बोधि कही जाती है । उस रत्नत्रय की प्राप्ति जिस पर्याय में मिलती है उनके योग्य त्रस, पर्याप्तकत्व आदि स्वभावों की प्राप्ति बड़ी कठिनाई से होती है इत्यादि विचार करना बोधि दुर्लभ भावना है । सर्वज्ञ वीतराग द्वारा धर्म का अत्यन्त शोभन व्याख्यान हुआ है इत्यादि विचारना धर्म भावना है, इसको धर्म स्वाख्यातत्त्व कहा है, 'सु-शोभनं आख्यातत्त्वं–स्वाख्यातत्त्वं, धर्मस्य स्वाख्यातत्त्वं धर्म स्वाख्यातत्त्वं 'ऐसी धर्मस्वाख्यातत्त्व पद का समास्तर्थ है । इस तरह एक-एक विषय के चिन्तन से ये सब बारह अनुप्रेक्षायें हो जाती हैं ।

परीषह जय को बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—मार्ग से च्युत न होने के लिये और निर्जरा के लिये परीषह सहन करनी चाहिए ।

संवरस्य प्रकृतत्वात्तेन मार्गो विशेष्यते । संवरो मार्ग इति । तदच्यवनार्थं निर्जरार्थं च परिसोढव्याः परीषहाः । क्षुत्पिपासादिसहनं कुर्वन्तो जिनोपदिष्टान्मार्गादप्रच्यवमानास्तन्मार्गपरिक्रमणपरिचयेन कर्मागमद्वारं संवृण्वन्त औपक्रमिकं कर्मफलमनुभवन्तः क्रमेण निर्जीर्णकर्माणो मोक्षमवाप्नुवन्ति । तत्स्वरूपसङ्ख्यासंप्रतिपत्त्यर्थमाह—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ॥९॥

क्षुधादयो वेदनाविशेषा द्वाविंशतिः । तेषां सहनं मोक्षार्थिना कर्तव्यम् । एतेषां परीषहाणां जयाः संवरहेतवः प्रतिपत्तव्याः । कर्मसाधनाश्चैते परीषहाः । तज्जयानां संवरहेतुत्वेन निर्देशात् । प्रतिज्ञातसंयमपरिरक्षणार्थं चाधिकाया अतिक्षुधः सहनं क्षुज्जयः । तथा पिपासायाः शीतस्योष्णस्य

संवर का प्रकरण है, उससे मार्ग विशेषित होता है, संवर का जो मार्ग है उस मार्ग से अच्यवन हेतु और निर्जरा हेतु परीषह सहनीय होती है । जो मुनिजन क्षुधा तृषा आदि को सहन करते हुए जिनोपदिष्ट मार्ग में चलते हैं वे उससे च्युत नहीं होते हैं और इस तरह उस मार्ग पर चलने का परिचय होने से कर्मों के आगमन का द्वार रोकते हैं तथा औपक्रमिक रूप से—उदीरणा रूप से कर्मों के फलों को भोगकर क्रम से कर्मों की निर्जरा कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।

परीषहों का स्वरूप तथा संख्या की प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बावीस परीषह होती हैं ।

क्षुधादि की वेदनायें बावीस हैं उनका सहना मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को अवश्य करना चाहिए । इन परीषहों पर विजय प्राप्त करने से संवर होता है । क्षुधा परीषह आदि जो शब्द या पद हैं वे कर्म साधन हैं क्योंकि परीषहों का जय संवर का हेतु कहा गया है ।

प्रतिज्ञा किये गये संयम की रक्षा हेतु अत्यधिक क्षुधा का सहना क्षुधा परीषह जय है । इसी प्रकार संयम रक्षा हेतु प्यास की वेदना सहना पिपासा परीषह जय है । शीत को सहना रति परीषह जय है । उष्ण को सहना उष्ण परीषह जय है ।

दंशमशकस्य नाग्न्यस्याऽरतेः सविभ्रमविशालायाः स्त्रियश्चर्याया निपद्यायाः शय्याया आक्रोशस्य वधस्य याचनस्याऽलाभस्य रोगस्य तृणस्पर्शस्य मलस्य सत्कारपुरस्काराग्रहस्य प्रज्ञावलेपस्याऽज्ञानस्याऽदर्शनस्य च प्रव्रज्याद्यनर्थकत्वाऽसमाधानलक्षणस्य सहनं जयो निश्चेतव्यः। एवं परीषहानसङ्कल्प्योपस्थितान्सहमानस्याऽसङ्क्लिष्टचेतसो रागादिपरिणामास्रवनिरोधान्महासंवरो जायते। कश्चिदाह—'किमिमे परीषहाः सर्वे संसारमहाटवीमतिक्रमितुमभ्युद्यतमभिद्रवन्त्युत कश्चिदस्ति प्रतिविशेष ?'

दंशमशक के काटने की पीड़ा सहना दंशमशक परीषह जय है। नग्नता सम्बन्धी लज्जा आदि को सहना नाग्न्य परीषह जय है। किसी द्रव्य क्षेत्रादि में जो अरति होती है उसको सहना अरति परीषह जय है। विभ्रम हाव भाव वाली स्त्री द्वारा की गयी बाधा को सहना, भावों में मलीनता नहीं आने देना स्त्री परीषह जय है। विहार गमनागमन में जो नंगे पैरों में पीड़ा होती है उसे सहना चर्या परीषह जय है। एक आसन से बैठना कठोर विषम भूमि पर बैठना आदि से होने वाली पीड़ा सहना निषद्या परीषह जय है। शयन में एक करवट से सोना, विषम भूमि पर सोना इत्यादि से होने वाली पीड़ा सहना शय्या परीषह जय है। गाली के वचन सहना आक्रोश परीषह जय है। मारपीट बन्धन और घात को सहना बंध परीषह जय है। याचना नहीं करने से जो बाधा होती है उसको सहना याचना परीषह जय है। आहार आदि का लाभ नहीं होने पर उसे सहना अलाभ परिपह जय है। रोग की वेदना सहना रोग परीषह जय है। तृण, काँटे आदि का कठोर स्पर्श सहना तृण स्पर्श परीषह जय है। शरीर में मैल जम जाता है उसकी बाधा को सहना मल परीषह जय है। सत्कार पुरस्कार के नहीं करने पर उसको सहना सत्कार पुरस्कार परीषह जय है। ज्ञान का गर्व नहीं करना प्रज्ञा परीषह जय है। अज्ञान–कम ज्ञान होने से जो तिरस्कार आदि होता है या अपने आप अज्ञान का जो दुःख होता है उसे सहना अज्ञान परीषह जय है। यह प्रव्रज्या व्यर्थ है इत्यादि असमाधानकारक भाव या अश्रद्धा रूप भाव नहीं होने देना अदर्शन परीषह जय है। इस प्रकार जो बिना संकल्प के स्वतः ही उत्पन्न होने वाले हैं ऐसे इन परीषहों को जो मुनि असंक्लिष्ट मन से सहता है उसके राग आदि भावास्रवों का निरोध होने से महान् संवर होता है।

प्रश्न—संसाररूपी महान भयंकर वन से जो निकलना चाहता है ऐसे मुनि के ये सभी परीषह होती हैं अथवा इनमें कुछ विशेषता है ?

इत्यत्रोच्यते—अमी व्याख्यातलक्षणाः क्षुधादयश्चारित्रान्तराणि प्रति भाज्याः, नियमेन पुनरनयोः प्रत्येतव्याः—

सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥ १० ॥

सूक्ष्मसाम्परायस्य च्छद्मस्थवीतरागस्य च क्षुधादयश्चतुर्दशैव परीषहा इति नियमादन्येषामसम्भवः। ननु च्छद्मस्थवीतरागस्य निर्मोहत्वात्तत्र चतुर्दशेति नियमोऽस्तु—मोहनिमित्तनाग्न्याऽरतिनिषद्याक्रोशस्त्रीयाचनासत्कारपुरस्काराऽदर्शनपरीषहाष्टकाभावात्। सूक्ष्मसाम्पराये तु कथम्? मोहसद्भावादिति चेत्तन्न—सूक्ष्ममोहस्य सन्मात्रत्वादकिञ्चित्करत्वात् स्वकार्यपरीषहजननाऽसमर्थत्वात्। तत एव परीषहाभावो मोहसहायस्य वेदनीयस्य क्षुधादिजनितृत्वप्रसिद्धेरिति चेन्न—शक्तिरूपेण

उत्तर—ये जो कही गयी क्षुधा आदि परीषह हैं वे चारित्रों की अपेक्षा भजनीय हैं, अर्थात् अमुक अमुक चारित्र वाले की अमुक अमुक परीषह होती है ऐसा नियम है। इस विषय में दो स्थान विशेषों में परीषहों का नियम बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—सूक्ष्म साम्पराय में और छद्मस्थ वीतराग में चौदह परीषह होती हैं।

सूक्ष्म साम्पराय नामके दसवें गुणस्थान में तथा छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान में चौदह ही परीपह होती हैं ऐसा नियम होने से अन्य परीषहों का अभाव सिद्ध हो जाता है।

शंका—वीतराग छद्मस्थ निर्मोह–मोह रहित होते हैं अतः उनमें चौदह का नियम बन जाता है, क्योंकि उनमें मोह के निमित्त से होने वाली नाग्न्य, अरति, निषद्या, आक्रोश, स्त्री, याचना, सत्कार पुरस्कार और अदर्शन ये आठ परीषह नहीं होती हैं। किन्तु सूक्ष्म साम्पराय में मोह का सद्भाव होने से चौदह परीपह का नियम कैसे सम्भव है?

समाधान—ऐसा नहीं है। सूक्ष्म साम्पराय में मोह अत्यन्त सूक्ष्म है, वह तो अस्तित्व मात्र रूप है अतः अकिञ्चित्कर होने से अपने कार्य रूप उक्त परीषह को उत्पन्न करने में असमर्थ है।

शंका—यदि ऐसी बात है तो इन सूक्ष्म साम्परायादि में परीषहों का अभाव ही मानना चाहिए? क्योंकि वेदनीय कर्म भी मोहनीय की सहायता से क्षुधा आदि परीषहों को उत्पन्न करता है, यहां पर जब मोहनीय कार्यकारी नहीं रहा तब वेदनीय भी अपने क्षुधादि कार्य को नहीं कर सकता?

तदभिधानात् । सर्वार्थसिद्धस्य सप्तमपृथिवीगमनवत् । व्यक्तिरूपेण तु तदभाव एवानयोरिति सर्वमनवद्यम् । समाविर्भूतकेवलज्ञाने कियन्तः सम्भाव्यन्त इत्याह—

एकादश जिने ॥ ११ ॥

निरस्तघातिकर्मचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादशपरीषहाः सन्ति । ज्ञानावरणान्तरायमोहाभावात्तन्निमित्तैकादशपरीषहाभावात् । तर्हि जिनेन्द्रे क्षुधादयोऽपि मा भूवन्मोहरहितस्य वेदनीयस्य तत्र सतोऽपि क्षुधादिजननासमर्थत्वात् । तच्चाप्रसिद्धोदासीनपुरुषवत् । सत्यमेवैतदुपचारेण

समाधान—यह कथन ठीक नहीं । शक्तिरूप से परीषहों का उक्त स्थानों में विधान किया है, जैसे–सर्वार्थसिद्धि विमान के देव सातवें नरक तक गमन की शक्ति वाले होते हैं, ऐसा आगम में कथन है, यह कथन केवल उनकी शक्तिमात्र का द्योतक है, वे देव कभी भी नरक तक गमनागमन नहीं करते । ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म साम्पराय आदि में चौदह परीषहों का अस्तित्व मात्र है, व्यक्तिरूप से तो वहां पर परीषहों का अभाव ही है ऐसा स्याद्वाद समझना चाहिये, इससे सर्व कथन निर्दोष सिद्ध होता है ।

प्रश्न—जिनके केवलज्ञान प्रगट हो गया है उन केवलीजिन के कितने परीषह होते हैं ?

उत्तर—इसीको अगले सूत्र में कहते हैं—

सूत्रार्थ—जिनेन्द्र देव के ग्यारह परीषह होती हैं ।

चार घातियां कर्मों का नाश करने वाले केवलीजिन के वेदनीय कर्म मौजूद रहता है अतः उसके आश्रय से होने वाली ग्यारह परीषह जिनेन्द्र के होती हैं । ज्ञानावरण, अन्तराय और मोहनीय का यहां अभाव हो चुका है अतः उन कर्मों के निमित्त से होने वाली ग्यारह परीषह इनके समाप्त होती हैं ।

शंका—यदि ऐसी बात है तो जिनेन्द्र देव के क्षुधा आदि परीषह भी नहीं होनी चाहिए ? क्योंकि मोहनीय रहित अकेला वेदनीय कर्म रहते हुए भी क्षुधादि को उत्पन्न करने में असमर्थ ही है । जैसे–अप्रसिद्ध उदासीन पुरुष असमर्थ रहता है वैसे वेदनीय कर्म मोह के अभाव में क्षुधादि कार्य में असमर्थ है ?

नत्र तेषामभिधानात् । सकलार्थसाक्षात्कारिणोऽमनस्कस्य चिन्तानिरोधाभावेपि ध्यानाभिधानवत् । किं तदुपचारनिमित्तमिति चेत्परीषहसामग्र्येकदेशवेदनीय इति ब्रूमहे । सर्वे व्यक्तिरूपेण क्व सम्भवन्तीत्याह—

बादरसाम्पराये सर्वे ॥ १२ ॥

साम्परायः कषायः । बादरः सम्परायो यस्य स बादरसाम्परायः । नेदं गुणस्थानविशेषग्रहणं किं तर्ह्यर्थनिर्देशः । तेन प्रमत्तादीनां संयतानां ग्रहणम् । तेषु ह्यक्षीणाश्रयत्वात्सर्वे सम्भवन्तीति । कस्मिन्पुनश्चारित्रे तेषां सम्भवः ? सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसंयमेष्वन्यतमे सर्वेषां

समाधान—ठीक कहा ! जिनेन्द्र में जो ग्यारह परीषह कही हैं वे उपचार से कही हैं । जैसे सम्पूर्ण पदार्थों को साक्षात् जानने देखने वाले मन रहित जिनेन्द्र के चिन्ता निरोध का अभाव होने पर भी उपचार से ध्यान को मानते हैं, अर्थात् केवली-जिनके जैसे शुक्ल ध्यान उपचार से माना है वैसे ही परीषह भी उपचार से मानी हैं ।

प्रश्न—उपचार से मानने में हेतु क्या है ?

उत्तर—एक देश वेदनीय रूप परीषहों की सामग्री अर्थात् कारण मौजूद होने से केवली में परीषह का उपचार किया जाता है ।

प्रश्न—सभी परीषह व्यक्तरूप से किनके कहां पर सम्भव हैं ?

उत्तर—इसी को अगले सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—बादर साम्पराय में सभी परीषह होती हैं ।

साम्पराय कषाय को कहते हैं । बादर है साम्पराय जिसके वह बादर साम्पराय कहा जाता है । यह गुणस्थान विशेष का निर्देष नहीं है, किन्तु अर्थ निर्देश है, उससे प्रमत्त संयत आदि का ग्रहण होता है । इन प्रमत्तादि में परीषहों के कारणभूत आश्रय का सद्भाव है अतः वहां सभी परीषह होती हैं ।

प्रश्न—किस चारित्र में सभी परीषह होती हैं ?

उत्तर—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि इन तीन चारित्र धारकों में से प्रत्येक के सभी परीषह होती हैं ।

सम्भवः । अत्राह—गृहीतमेव परीषहाणां स्थानविशेषावधारणमिदं तु न विद्मः—कस्याः प्रकृतेः कि कार्यमित्यत्रोच्यते—

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ।। १३ ।।

प्रज्ञा चाऽज्ञानं च ज्ञानावरणे सति सम्भवः । प्रज्ञा कथं ज्ञानावरणे ? तस्यास्तदभाव एव भावादिति चेत्तन्न—अवध्याद्यन्यकेवलज्ञानावरणसद्भावे सति प्रज्ञायाः सम्भवात् । सा मोहादिति

प्रश्न—परीषहों का सद्भाव जिनके पाया जाता है उन स्थान विशेषों को तो ज्ञात कर लिया किन्तु यह ज्ञात नहीं किया कि किस कर्म प्रकृति के निमित्त से कौनसी परीषह होती है ?

उत्तर— अब इसी को बताते हैं—

सूत्रार्थ— ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती है ।

प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरण कर्म के होने पर सम्भव है ।

प्रश्न— प्रज्ञा ज्ञानावरण के सद्भाव में कैसे सम्भव है ? क्योंकि प्रज्ञा तो ज्ञानावरण के अभाव में होती है ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना । यहां अवधिज्ञानावरण से लेकर केवलज्ञानावरण तक ज्ञानावरण का सद्भाव है, उसके सद्भाव में क्षायोपशमिकी प्रज्ञा संभव है । अभिप्राय यह है कि यहां पर प्रज्ञा शब्द से क्षायिकज्ञान नहीं लेकर क्षायोपशमिक ज्ञान लिया है अतः शंकाकार की जो शंका थी कि प्रज्ञा तो ज्ञानावरण के अभाव में होती है उसे ज्ञानावरण के सद्भाव में कैसे माना जाय । सो यह शंका क्षायोपशमिकी प्रज्ञा लेने से दूर हो जाती है । अवधिज्ञानावरण आदि के सद्भाव होने पर क्षयोपशम प्रज्ञा स्वरूप ज्ञान वाले व्यक्ति को मद होता है कि मैं महाप्राज्ञ हूं, मेरे समान कोई दूसरा ज्ञानी नहीं है इत्यादि ।

शंका—यदि क्षयोपशमरूप प्रज्ञा को लेना है और उस प्रज्ञा से मैं बड़ा ज्ञानी हूं ऐसा मद उत्पन्न होता है ऐसा माना जाय तो ठीक नहीं है क्योंकि मैं ज्ञानी हूं ऐसा मद तो मोह से होता है ।

चेन्न—मोहभेदानां परिगणितत्वात्। प्रज्ञा मोहनीयाऽसत्वाद्भवति। पुनरपरयोः परीषहयोः प्रकृतिविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥

दर्शनमोहे सत्यदर्शनं तत्त्वार्थाऽश्रद्धानं न पुनरवध्यादिदर्शनाभावः। तस्याऽज्ञानपरीषहेऽन्तर्भावात्, तदविनाभावित्वेन स्थितत्वात्, तस्य दर्शनमोहनिमित्तत्वाच्च। तथान्तरायभावे सत्यलाभः। सामर्थ्याल्लाभान्तराय इति गम्यते। कार्यविशेषस्य कारणविशेषादेव भावात्। आह—यद्याद्ये मोहनीयभेदे एकः परीषहः अथ द्वितीयस्मिन् कति सम्भवन्तीत्यत्रोच्यते—

समाधान—मैं महाप्राज्ञ हूं ऐसा भाव मोह से नहीं होता मोह से होने वाले परीषह भेदों को पृथक् गिनाया है। मैं महाप्राज्ञ हूं इस प्रकार का भाव तो प्रमत्त संवर्तादि के भी पाया जाता है अतः प्रज्ञा परीषह को मोह जनित नहीं मान सकते। (यहां पर मूल में कुछ पाठ त्रुटित प्रतीत होता है।)

अन्य दो परीषहों की कारणभूत प्रकृति विशेष को बताते हैं—

सूत्रार्थ—दर्शनमोह के उदय से अदर्शन परीषह होती है और अन्तराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होती है।

दर्शनमोह के उदय होने पर तत्त्वार्थ का अश्रद्धानरूप अदर्शन परीषह होती है। यहां पर अदर्शन शब्द से अवधिदर्शन आदि दर्शन का अभाव नहीं लेना, अवधिदर्शन आदि के अभावरूप जो अदर्शन है उसका अज्ञान परीषह में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि अज्ञान और अदर्शन का अविनाभाव है। अर्थात् जहां अल्पज्ञानरूप अज्ञान है वहां अल्पदर्शनरूप अदर्शन भी अवश्य होता है। किन्तु यहां पर दर्शनमोह के निमित्त से होने वाला अश्रद्धारूप अदर्शन लिया है। तथा अन्तराय के सद्भाव में अलाभ परीषह होती है। अन्तराय शब्द से यहां सामर्थ्य से लाभान्तराय लेना क्योंकि विशेष कारण से ही विशेष कार्य का सद्भाव ज्ञात होता है, अथवा कारण विशेष से ही कार्य विशेष होता है।

प्रश्न—यदि आदि के दर्शनमोह के निमित्त से एक परीषह होती है तो दूसरे चारित्र मोह के निमित्त से कितनी परीषह सम्भव है ?

उत्तर—इसी को बताने हेतु आगे सूत्र कहते हैं—

चारित्रमोहे नाग्न्याऽरतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥१५॥

जुगुप्सायां मोहविशेषे नाग्न्यबाधा। अरतावरतिपरीषहः। पुंवेदे स्त्रीबाधा। प्रत्याख्यान-कषाये निषद्यापरीषहः। क्रोधे चाक्रोशः। लोभे याचना। माने सत्कारपुरस्काराभिनिवेश इति चारित्र-मोहसामान्याभिधानेऽपि सामर्थ्याद्विशेषावगमः। अवशिष्टपरीषहप्रकृतिविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥

उक्ता एकादशपरीषहास्तेभ्योऽन्ये शेषा वेदनीये सति सम्भवन्तीति वाक्यशेषः। के पुनस्त इति चेदुच्यते क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलपरीषहा इति परिगणनम्। सर्वत्र चासाधारणकारणत्वं परीषहाणां विज्ञेयमन्यथोक्तप्रतिनियमाभावात्। एकस्मिन्नात्मनि युगपत्कियन्तः

सूत्रार्थ—चारित्र मोहनीय के उदय से नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश याचना और सत्कार पुरस्कार ये सात परीषह होती हैं। जुगुप्सा नामके मोह कर्म के उदय से नाग्न्य परीषह होती है। अरति कर्म के उदय से अरति परीषह, पुरुष वेद के उदय से स्त्री परीषह, प्रत्याख्यान कषाय (सामान्य कषाय) के उदय में निषद्या परीषह, क्रोध के उदय में आक्रोश, लोभ के उदय में याचना और मान के उदय में सत्कार पुरस्कार परीषह होती है। 'चारित्र मोहे' ऐसा सूत्र में सामान्यरूप उल्लेख होने पर भी उस मोह के प्रभेद विशेष के उदय आने पर वह वह परीषह होती है ऐसा सामर्थ्य से ज्ञात हो जाता है। (यहां पर टीका में 'प्रत्याख्यानकषाये निषद्या परीषहः' यह वाक्य विचारणीय है, क्योंकि परीषह सामान्यतः बादर कषाय वाले सभी गुणस्थानों में होती है, इस दृष्टि से अनन्तानुबन्धी आदि सभी कषायों के उदय में निषद्या परीषह सम्भव है।)

शेष परीषहों के कारणभूत जो कर्म प्रकृति है उसका प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—शेष परीषह वेदनीय के उदय से होती हैं।

ग्यारह परीषहों के कारण कह दिये हैं, उनसे शेष जो परीषह हैं उनका कारण वेदनीय का उदय है। वे शेष परीषह कौनसी हैं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशका, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृण स्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह असाता वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती हैं। पूर्वोक्त जो भी कर्मोदयरूप कारण परीषहों के बतलाये हैं वे असाधारण कारण हैं ऐसा समझना चाहिए, अन्यथा उक्त नियम नहीं बनता।

सम्भवन्ति परीषहा इत्याह—

एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकान्नविंशतेः ।।१७।।

एकस्मिन्नात्मनि युगपदेको वा द्वौ वा त्र्यादयो वा भाज्या विकल्प्याः । आ कुतः ? ऐकान्न-विंशतेः । आङोऽभिविध्यर्थत्वादेकान्नविंशतिसम्प्रत्ययो विंशतिरेकान्ने ति चेत् शीतोष्णयोरेकः । शय्या निषद्याचर्याणामन्यतम एव भवति । प्रज्ञाऽज्ञानयोर्विरोधादष्टादशप्रसङ्ग इति चेदुच्यते—श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञापरीषहः । अवध्याद्यपेक्षयाऽज्ञानपरीषहसहनमिति नास्ति विरोधः । चारित्रप्रतिपत्त्यर्थमाह—

प्रश्न—एक आत्मा में एक साथ कितनी परीषह संभव हैं ?

उत्तर—इसीको सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—एक को आदि लेकर उन्नीस तक परीषह एक आत्मा में एक साथ होती हैं ।

एक आत्मा में एक साथ एक परीषह अथवा दो अथवा तीन आदि परीषह भजनीय है कहां तक विकल्प है तो उन्नीस तक है ऐसा समझना चाहिए । आङ् शब्द अभिविधि अर्थ में है अतः उन्नीस संख्या का भी ग्रहण हो जाता है । विंशति में एक कम एकान्नविंशति है । शीत और उष्ण परीषहों में से एक, निषद्या, चर्या और शय्या में से कोई एक इस तरह तीन कम होने से उन्नीस परीषह एक साथ हो सकती हैं ।

शंका—प्रज्ञा और अज्ञान में विरोध होने से एक साथ अठारह परीषह हो सकती हैं, उन्नीस नहीं ?

समाधान—ऐसा नहीं है, एक साथ उन्नीस हो सकती हैं क्योंकि प्रज्ञा परीषह तो श्रुतज्ञानकी अपेक्षा से है और अज्ञान परीषह अवधि ज्ञानादि की अपेक्षा से है अतः कोई विरोध नहीं है । अभिप्राय यह है कि मैं महाप्राज्ञ हूं ऐसा प्रज्ञा का–बुद्धि का मद विशेष श्रुतज्ञान प्राप्त होने से हो जाता है तथा उसी व्यक्ति के अवधिज्ञान आदि नहीं होने से मैं अल्प बुद्धि वाला हूं मुझे लोग मानते नहीं इत्यादि रूप अज्ञान भाव होता है, इस तरह ये दोनों परीषह एक साथ होने में विरोध नहीं आता है ।

आगे चारित्र के भेद बतलाते हैं—

**सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराय-
यथाख्यातमिति चारित्रम् ।। १८ ।।**

सामायिकं सर्वसावद्यनिवृत्तिः सार्वकालिकी । नियतकालिकी तु श्रावकाणां शिक्षाव्रतशील-कथनकाल एवोक्ता । प्रमादकृताऽनर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना, विकल्पनिवृत्तिर्वा । प्राणिपीडापरिहारेण विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिश्चारित्रे तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम् । सूक्ष्मकषायं सूक्ष्मसाम्परायिकम् । अनादिमोहस्य संसारिणोऽवस्थान्तरे मोहोपशमक्षयकाल एवाख्यातमथाख्यातम् । तदेव यथाख्यातमित्युच्यते यथास्थितात्मस्वभावत्वात् । इतिशब्देन परिसमाप्तिवाचिना निःश्रेयसकारण-पर्यन्तता यथाख्यातस्य गम्यते । तदेतत्पञ्चविधं चारित्रं प्रतिपत्तव्यम् । एव गुप्त्यादिभिः प्रतिपादितै-

---

सूत्रार्थ—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय **और** यथाख्यात ये पांच चारित्र होते हैं ।

सर्वकाल में सम्पूर्ण सावद्य का त्याग सामायिक चारित्र है । नियतकाल के लिये जो सावद्य के त्यागरूप सामायिक होता है वह श्रावकों के होता है उसका कथन शिक्षाव्रतरूप शीलों के वर्णन करते समय ही कर दिया है । प्रमाद के निमित्त से व्यर्थ के कार्य या व्रतों के लोप होने पर या व्रतों में दोष होने पर भली प्रकार से उसको दूर करना छेदोपस्थापना चारित्र है, अथवा विकल्पों को दूर करना छेदोपस्थापना चारित्र है । जिस चारित्र में प्राणियों की पीड़ा का परिहार करके विशिष्ट शुद्धि प्राप्त होती है वह परिहार विशुद्धि चारित्र है । सूक्ष्म कषाय जहां पर है वह सूक्ष्म साम्पराय चारित्र है । अनादि मोह से युक्त संसारी जीवों के मोह रहित अवस्था अभी तक नहीं हुई है जब मोह का उपशम (उपशान्त मोह) या क्षय हो जाता है (क्षीण मोह) तब अवस्थान्तर होता है, इसलिये 'अथ–अनन्तर' ही अर्थात् मोह के उपशम या क्षय होने पर ही आख्यात–प्रसिद्ध होता है इसलिये अथ–आख्यात इति अथाख्यात चारित्र कहलाता है अथाख्यात को यथाख्यात कहते हैं । अथवा यथा आत्म स्वभाव है तथा प्रसिद्धि–प्रगट हुआ अतः यथाख्यात नाम वाला यह चारित्र होता है । यहां पर इति शब्द परिसमाप्ति वाची है निःश्रेयसका–मोक्षका यह अन्तिम कारण है, अर्थात् यथा-ख्यात चारित्र की प्राप्ति के अनन्तर ही मोक्ष होता है । इस तरह पांच प्रकार का चारित्र जानना चाहिए ।

रास्रवनिरोधः संवरः सिद्धयति । तत्र गुप्त्यसमर्थस्य समितिषु वृत्तिस्तासु च वर्तमानस्य धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजयाश्चारित्रं च यथासम्भवं विज्ञेयम् । धर्मान्तर्भूतः संयम एव चारित्रं नान्यदिति चेत्सत्यं प्रधाननिःश्रेयसकारणत्वख्यापनार्थं पुनस्तस्य पृथग्वचनम् । तपसा संवरो निर्जरा चेत्युक्तम् । तद्द्विविधम्—बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र बाह्य विभागतो व्याचष्टे—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसङ्ख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

दृष्टफलानपेक्षमन्तरङ्गतपःसिद्धयर्थमभोजनमनशनम् । तदवधृतकालमनवधृतकालं च । संयम-प्रजागरणाद्यर्थमेव हीनोदरत्वमावमौदर्यम् । एकागाररथ्यार्धग्रामादिसंकल्पैः कायचेष्टा वृत्तिपरिसङ्ख्या-

---

इस प्रकार इन कही गयी गुप्ति आदि के द्वारा आस्रव का निरोध रूप संवर सिद्ध होता है । उनमें जो साधु गुप्ति के पालन में असमर्थ है वह समितियों में प्रवृत्ति करता है, उन समितियों में प्रवर्त्तन करता हुआ दस धर्म, बारह भावना, परीषह जय और चारित्र इनको यथासम्भव धारण करता है ऐसा जानना चाहिए ।

प्रश्न—दस धर्मों में संयम आया है उसी में चारित्र अन्तर्भूत है, चारित्र अन्य कुछ नही संयम ही है ?

उत्तर—ठीक ही है, किन्तु यहां पर मोक्षका प्रधान कारणत्व बतलाने हेतु चारित्र को पृथक सूत्र में कहा है । तप से संवर और निर्जरा होती है । ऐसा पहले कहा है, वह जो तप है उसके दो प्रकार हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप ।

उनमें पहले बाह्य तप का कथन करते हैं—

सूत्रार्थ—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप है ।

इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा नहीं करके अन्तरङ्ग तप की सिद्धि के लिये भोजन नहीं करना अनशन है । यह अवधृतकाल और अनवधृतकाल से दो प्रकार का है । अर्थात् एक दिन से लेकर छह मास तक काल की मर्यादा लेकर जो उपवास किये जाते हैं वे सब अवधृतकाल अनशन तप है और जिसमें काल की सीमा नहीं है सल्लेखना के समय यावज्जीव तक चतुराहार का त्याग करना अनवधृतकाल अनशन तप है । संयम सिद्धि हेतु, निद्रा विजय हेतु इत्यादि कारणों से ही केवल भूख से कम खाना अवमौदर्य है ।

नम् । घृतादिरसपरित्यजनं रसपरित्यागः । योषिदाद्यसम्पृक्तं शय्यासनं विविक्तशय्यासनम् । स्वयंकृतस्थानमौनातपनादिक्लेशः कायक्लेशः । एते षडपि भेदा बाह्यमस्मदादिकरणग्राह्यं तपः कर्मनिर्दहनसमर्थमवबोद्धव्यम् । तथाभ्यन्तरं तपः प्राह—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

एतानि प्रायश्चित्तादीन्युत्तरमाभ्यन्तरं तपः स्वयं संवेद्यत्वाद्बाह्यद्रव्याऽनपेक्षत्वादन्यतीर्थिकाऽगम्यत्वाच्च । तद्भेदप्रतिपादनार्थमाह—

नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

टीका में एव शब्द है उससे यह बताया है कि संयम आदि प्रशस्त निमित्त से किया गया ऊनोदर ही तप है किन्तु क्रोध आदि के अशुभ निमित्त से ऊनोदर करना तप नहीं है । एक घर तक जावूंगा वहां आहार मिला तो लूंगा वरना नहीं, ऐसे एक गली तक आधे गांव तक इत्यादि गांव का नियम, दाता का नियम, विधि विशेष का नियम लेकर तदनुसार आहार मिले तो लेना अन्यथा नहीं लेना वृत्तिपरिसंख्यान तप है । घी आदि रस का त्याग रस परित्याग तप है । स्त्री पशु आदि से रहित स्थान पर शयनासन करना विविक्त शय्यासन तप है । स्वयंकृत स्थान मौन, आतप योग इत्यादि से काय का क्लेश सहना कायक्लेश तप है । ये छह तप हम जैसों को ज्ञात होते हैं इन्द्रिय गम्य हैं अतः इन्हें बाह्य तप कहते हैं, ये कर्मों को नष्ट करने में समर्थ हैं ऐसा समझना चाहिए ।

अब अभ्यन्तर तप का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप के प्रकार हैं ।

इन प्रायश्चित्त आदि को अभ्यन्तर–अन्तरङ्ग तप कहते हैं, क्योंकि ये अन्य को गम्य न होकर स्वयं को गम्य है, इसमें बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं होती तथा यह अन्य मतावलम्बी को अगम्य है अतः अभ्यन्तर कहलाता है ।

इन्हीं के प्रकारों का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—प्रायश्चित्त आदि तपों के क्रम से नौ, चार, दस, पांच और दो भेद होते हैं ध्यान को छोड़कर ।

नवभेदं प्रायश्चित्तं, चतुर्भेदो विनयः, दशभेदं वैयापृत्यं, पञ्चभेदः स्वाध्यायः, द्विभेदो व्युत्सर्ग इति यथाक्रमं यथासङ्ख्येन सम्बन्धोऽवधारणीयः प्राग्ध्यानादिति वचनात्। तत्र प्रायश्चित्तभेदानाह—

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ॥२२॥

तत्र गुरवे स्वयंकृतवर्तमानप्रमादनिवेदनं निर्दोषमालोचनम्। मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्तप्रतिक्रियमतीतदोषनिराकरणं प्रतिक्रमणं। ते एवालोचनप्रतिक्रमणे तदुभयम्। संसक्तोपकरणादिविभाजनं विवेकः। कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः। अनशनादिलक्षणं तपः। दिवसपक्षादिनाप्रव्रज्याहापन छेदः। पक्षादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः। पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना। एवं प्रतिज्ञातव्रते चित्तदाढर्याराधनं लोकचित्तरञ्जनं प्रायश्चित्तं नवभेदं प्रत्येतव्यं। विनयप्रकारानाह—

प्रायश्चित्त नौ भेद वाला है, विनय के चार भेद हैं, वैयापृत्य दस प्रकार का है, पांच प्रकार का स्वाध्याय है और दो तरह का व्युत्सर्ग है ऐसा संख्या का क्रम जानना चाहिए, यह नौ आदि भेद ध्यान के पहले के तपों के हैं इस बात को बतलाने हेतु 'प्राग्ध्यानात्' ऐसा सूत्र में पद आया है।

उनमें प्रायश्चित्त के नौ भेद बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभव, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना ये प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं।

अपने द्वारा प्रमाद वश किये गये दोषों को गुरु के समक्ष निष्कपट भाव से कह देना आलोचना कहलाती है। मेरे दोष मिथ्या हों इस प्रकार से व्यक्तरीत्या अतीत दोष को दूर करना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना तदुभव है। संसक्त उपकरण आदि का विभाग करना विवेक नामका प्रायश्चित्त है। कायोत्सर्गादि करना व्युत्सर्ग है। अनशनादि तप है। दिवस पक्ष आदि से दीक्षा को कम करना छेद है। पंद्रह दिन, मास आदि की गणना से संघ से दूर कर देना परिहार है। पुनः दीक्षा देना उपस्थापना है। ये सब प्रायश्चित्त अपने ग्रहण किये हुए व्रतों में मनकी दृढ़ता बनी रहने के लिए तथा लोगों के प्रसन्नता हेतु किये जाते हैं, दिये जाते हैं।

विशेषार्थ—साधुजनों के व्रतों में कोई दोष आने पर उस दोष को दूर कर प्रायश्चित्त लिया जाता है, जैसा दोष (छोटा या बड़ा) होता है तदनुसार प्रायश्चित्त गुरु जन देते हैं, आलोचना आदि आगे आगे के भेद विशिष्ट विशिष्ट दोष होने पर होते हैं, आलोचना, प्रतिक्रमण और तदुभव ये तीन सामान्यरूप प्रायश्चित्त सामान्य दोषों के

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥२३॥

सम्यग्दर्शनादिगुणेषु तद्वत्सु च नीचैर्वृत्तिर्विनय इत्याख्यायते। तेनाधिकृतेनात्राभिसम्बन्धः क्रियते ज्ञानविनयो दर्शनविनयश्चारित्रविनय उपचारविनयश्चेति। सबहुमानमोक्षार्थज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः। शंकादिदोषविरहिततत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनविनयः। तत्त्वतश्चारित्रसमाहितचित्तता चारित्रविनयः। प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः। परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोभिरञ्जलिक्रियागुणसङ्कीर्तनानुस्मरणादिकं करणीयम्। वैयापृत्यभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह—

लगने पर आचार्य द्वारा दिये जाते हैं। विवेक आदि प्रायश्चित्त बड़े दोष होने पर दिये जाते हैं। इस प्रायश्चित्त विधि से अपने स्वयं के व्रतों में दृढ़ता होती है, स्वयं की आराधना सिद्ध होती है तथा लोक में भी इससे प्रसन्नता होती है, अर्थात् अमुक साधु ने दोष किया था किन्तु उसने दोष को छोड़ दिया तथा आचार्य से कहकर प्रायश्चित्त लिया यह निष्कपट है, इसकी व्रत संयम में आस्था है इत्यादि रूप से जनता को प्रसन्नता होती है। यदि साधु प्रकट रूप से सदोष है और अपना दोष छोड़ता नहीं है प्रायश्चित्त नहीं लेता है तो जनता में उसके प्रति ग्लानि रहती है तथा धर्म में आस्था भी कम हो जाती है।

विनय के प्रकार बताते हैं—

सूत्रार्थ—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय ये चार विनय तप के भेद हैं।

सम्यग्दर्शन आदि गुणों में और गुणवानों में 'नीचैः वृत्ति' नम्रता होना विनय कहलाता है। विनय का अधिकार है अतः सूत्र में कथित ज्ञान आदि के साथ विनय शब्द जोड़ना चाहिए। ज्ञानविनय, दर्शनविनय इत्यादि। बड़े आदर के साथ मोक्ष के लिये ज्ञानको ग्रहण करना, उसका अभ्यास करना, स्मरण करना इत्यादि ज्ञानविनय है। शंका आदि दोषों से रहित तत्त्वों का श्रद्धान करना दर्शनविनय है। वास्तविकपने से चारित्र में मनका स्थिर होना चारित्रविनय है। आचार्य आदि के प्रत्यक्ष होने पर उठ कर खड़े होना, पीछे-पीछे गमन करना, हाथ जोड़ना इत्यादि उपचार विनय है तथा उन्हीं गुरुजनों के परोक्ष में होने पर भी काय, वचन और मनके द्वारा क्रमशः हाथ जोड़ना, स्तुति गुणगान करना, स्मरण करना इत्यादि भी उपचार विनय कहलाता है।

वैयापृत्य के भेद बताते हैं—

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम् ।। २४ ।।

वैयापृत्यमेतदनुग्रहाय व्यापृतत्वमिति प्रत्येकं घटनाद्दशभेदम् । तत्राचरन्ति तस्माद्व्रतानीत्याचार्यः । उपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः । महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी । शिक्षाशीलः शैक्षः । रोगादिक्लिन्नशरीरो ग्लानः । स्थविरसन्ततिस्थो गणः । दीक्षकाचार्यस्य शिष्यसंस्त्यायः कुलम् । ऋषिमुनियत्यनगारचातुर्वर्णश्रमणनिवहः संघः । साधुश्चिरप्रव्रजितः । शिष्टसम्मतो विद्वत्ववक्तृत्वमहाकुलत्वादिभिर्मनोज्ञः प्रत्येतव्योऽसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा । एषां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते निरवद्यविधिना तत्प्रतीकारो वैयापृत्यम् । बाह्यद्रव्यासम्भवे स्वकायेन वाचा तदानुकूल्यानुष्ठानं वा । स्वाध्यायविकल्पप्रतिपादनार्थमाह—

सूत्रार्थ—आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकार के साधुजनों की वैयापृत्य करने की अपेक्षा वैयापृत्य भी दस प्रकार का हो जाता है ।

वैयापृत्य का प्रकरण है, अनुग्रह के लिये लगे रहना वैयापृत्य कहलाता है इस शब्द को प्रत्येक के साथ लगाने से उसके दश भेद हो जाते हैं । 'आचरन्ति व्रतानि तस्मात् इति आचार्यः' जिससे व्रत आचरित होते हैं वह आचार्य हैं । 'उपेत्य तस्मात् अधीयते इति उपाध्यायः' जिसके पास जाकर पढ़ा जाता है वह उपाध्याय है । महोपवासों को करने वाला तपस्वी है । शिक्षा शीलको शैक्ष कहते हैं । रोगादि से खेदित शरीरवाला ग्लान है । स्थविरों की सन्तति में स्थित गण कहलाता है । दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्य समुदाय को कुल कहते हैं । ऋषि, मुनि, यति और अनगार स्वरूप चातुर्वर्ण श्रमण समूह को संघ कहते हैं । चिरकाल से दीक्षित को साधु कहते हैं । जो शिष्ट पुरुषों में मान्य है, विद्वान है, वक्तृत्व गुणधारी है, महाकुलीन है, इत्यादि गुणों से मण्डित साधु को मनोज कहते हैं, अथवा इन गुणों से युक्त असंयत सम्यग्दृष्टि को मनोज्ञ कहते हैं । इन पुरुषों पर व्याधि आ पड़ी है अथवा किसी कारणवश इनके मिथ्यात्व भाव हो गये हैं तो निर्दोष विधि से उक्त बाधाओं को दूर करना वैयापृत्य है अथवा रोग प्रतिकार के बाह्य साधन नहीं हैं तो अपने शरीर से तथा मधुर वचन से उनके अनुकूल अनुष्ठान करना वैयापृत्य है ।

स्वाध्याय के भेद बतलाते हैं—

वाचनापृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः ।। २५ ।।

स्वाध्यायः पञ्चधेति वचनात्तत्र ग्रन्थाऽर्थोभयप्रधानं वाचना । संशयविच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छना । निश्चितार्थस्य मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा । घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः । धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः प्रज्ञातिशयप्रशस्ताध्यवसायाद्यर्थः । शोभनाध्यायः स्वाध्याय इति वचनाद-दृष्टप्रयोजनापेक्षः स्वाध्यायाभ्यासः कथितो भवति । व्युत्सर्गः कायकषाययोरित्याह—

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ।। २६ ।।

स्वयमात्मनाऽनुपात्तोऽर्थो बाह्योपधिः । उपात्तस्तु क्रोधादिराभ्यन्तरोपधिः । तयोर्व्युत्सर्गो द्विविधः । कायत्यागा वा नियतकालोऽनियतकालश्चेति । तस्यानेकत्र वचनमनर्थकमनेनैव गतार्थत्वा-

---

सूत्रार्थ—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पांच स्वाध्याय हैं ।

स्वाध्याय पांच प्रकार का होता है । उसमें ग्रंथ, अर्थ और उभय को देना-पढ़ाना वाचना कहलाती है । संशय को दूर करने हेतु अथवा ज्ञात विषयको निश्चित बलाधान हेतु परको पूछना पृच्छना स्वाध्याय है । जाने हुए विषय का मनन अभ्यास करना अनुप्रेक्षा कहलाती है । शुद्ध घोष-उच्चारण पूर्वक रटना परिवर्त्तन करते रहना आम्नाय है । धर्मकथा आदि का उपदेश धर्मोपदेश कहलाता है । ये सभी स्वाध्याय बुद्धि की वृद्धि के लिये तथा परिणामों की विशुद्धि के लिये किये जाते हैं । 'शोभन अध्यायः स्वाध्यायः' इस निरुक्ति के अनुसार परलोक की सिद्धि के लिए अर्थात् आत्म कल्याण के लिये स्वाध्याय करते हैं ऐसा अर्थ समझना चाहिए ।

व्युत्सर्ग काय और कषाय का होता है ऐसा बताते हैं—

सूत्रार्थ— बाह्य और अभ्यन्तर उपाधि के त्यागरूप व्युत्सर्ग दो प्रकार का है ।

स्वयं अपने द्वारा जो उपात्त नहीं है अनुपात्त है वह बाह्य उपधि है और क्रोधादिक उपात्त उपधि अभ्यन्तर उपधि है अर्थात् बाह्य पदार्थ और अन्तरंग के कषाय भाव ऐसे दो प्रकार के पदार्थ के व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग करने को दो प्रकार का व्युत्सर्ग कहते हैं । काय-शरीर का नियत काल तक या अनियत काल तक त्याग करना व्युत्सर्ग कहलाता है ।

दिति चेन्न—शक्त्यपेक्षत्वात्—कस्यचित्क्वचित्त्यागे शक्तिरिति । व्रतप्रायश्चित्तधर्मविकल्पत्वेनाप्यस्याभिधानं न विरुध्यते । अथ ध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।।२७।।

उत्तमसंहननं वज्रर्षभनाराचसंहननं, वज्रनाराचसंहननं, नाराचसंहननमिति त्रिविधम् । प्रथमस्य निःश्रेयसहेतुध्यानसाधनत्वात्तदितरयोश्च प्रशस्तध्यानहेतुत्वादुत्तमत्वम् । उत्तमं संहननमस्येत्युत्तमसंहननः । तस्य ध्यानमनुवर्ण्यमानं भवति नाऽन्यस्य, तत्राऽसमर्थत्वादिति ध्यातृनियमः । एकस्मिन्नग्रे प्रधाने वस्तुन्यात्मनि परत्र वा चिन्तानिरोधो निश्चलता, चिन्तान्तरनिवारणं चैकाग्रचिन्ता-

---

शंका—इस व्युत्सर्ग का अनेक जगह वर्णन किया है वह व्यर्थ है, इसी एक जगह वर्णन पर्याप्त होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना । शक्ति की अपेक्षा व्युत्सर्ग में भेद होते हैं किसी के किसी स्थान पर त्याग की शक्ति होती है किसी की नहीं होती है, कहीं सावद्य का व्युत्सर्ग–त्याग होता है, कहीं पर निरवद्य का भी कुछ समय के लिये त्याग होता है। व्रत-महाव्रतों में परिग्रहों के त्यागरूप व्युत्सर्ग है, प्रायश्चित्त में अपराध के शोधन हेतु व्युत्सर्ग होता है, दस धर्मों में ज्ञानादि के दानरूप या त्यागरूप व्युत्सर्ग विवक्षित है । इस प्रकार व्युत्सर्ग अनेक प्रकार का है और इनको शक्ति के अनुसार किया जाता है अतः अनेकत्र कथन विरुद्ध नहीं है ।

अब ध्यान का प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—उत्तम संहनन वाले के मनका एक विषय में स्थिर होना ध्यान है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ।

उत्तमसंहनन तीन हैं–वज्रवृषभ नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन । इनमें पहला संहनन मोक्ष के हेतुभूत ध्यान का साधन है अतः उत्तम है तथा इतर दो संहनन प्रशस्त ध्यान के हेतु हैं अतः उत्तम है । उत्तम है संहनन जिसके उस पुरुष को उत्तम संहनन कहा है उसके यह कहा जाने वाला ध्यान संभव है अन्य के नहीं । उस ध्यान में दूसरे हीन संहनन वाले समर्थ नहीं होते इस प्रकार ध्याता पुरुष का नियम बताया है । एक प्रधान वस्तु स्वरूप आत्मा में या अन्य वस्तु में चिन्ताका

निरोधः । स ध्यानमिति ध्येयध्यानस्वरूपनियमः । तथा चानेकत्वाभिधाने प्रधाने वाऽविद्योपकल्पिते वस्तुनि ध्याननिवृत्तिः, स्थैर्यानुत्पत्तेरतिप्रसङ्गाच्च । आत्मनैव ध्यानमात्मन्येव चेत्यप्यपास्तं चिन्तायाः स्वार्थविषयतोपपत्तेः । सकलचिन्ताऽभावमात्रं चिन्तामात्रं वा ध्यानमिति च दूरीकृतम् । सर्वथाऽप्यभावस्य प्रमाणपुरुषस्वरूपस्य च सकलचिन्ताशून्यस्य ध्यानत्वे मुक्तावपि तत्प्रसङ्गात् । यतोऽसंप्रज्ञातो योगो निःश्रेयसहेतुर्येन तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं वर्ण्यते तदेव निःश्रेयसं तदेव तद्ध्यानमिति चेद्व्याहत-

---

निरोध होना, निश्चलता होना, अर्थात् अन्य अन्य चिन्ता का न होना एकाग्र चिन्ता निरोध कहलाता है। वह ध्यान है, इस वाक्य से ध्यान और ध्येय का स्वरूप कहा है। यदि 'अनेक चिन्ता निरोधो' ऐसे पदका प्रयोग करते अथवा 'अनेकाग्र चिन्तानिरोधो' ऐसा प्रयोग करते तो ध्यान की निवृत्ति होती—ध्यान का लक्षण ही समाप्त होता, क्योंकि अनेक में मनका जाना तो स्थिरता रूप नहीं रहा, उसको ध्यान कैसे कह सकते हैं ? नहीं कह सकते। तथा अनेक वस्तु ध्येयरूप है तो उसमें अविद्या से कल्पित प्रधान में (संख्याभिमत प्रधान तत्त्व में) तथा कल्पित की गयी वस्तु में ध्येयपना आ जाने से अति प्रसंग दोष आता है—हर किसी वस्तु के ध्यान से मुक्ति मानने का प्रसंग आता है, इसलिये 'एकाग्र चिन्ता निरोधो' ऐसा वाक्य ही श्रेयस्कर है।

आत्मा द्वारा ही ध्यान होता है अथवा आत्मा में ही ध्यान होता है ऐसा आत्मा और ध्यानको एकरूप मानने का किसी का आग्रह है तो उसका खण्डन उपर्युक्त ध्यान के लक्षण से हो जाता है क्योंकि चिन्ता के निरोध का अर्थ अभाव नहीं है किन्तु उसका अपना विषय तो है ही, अपने विषय में मनका रुकना ध्यान है। सकल चिन्ता का अभाव होना ध्यान है अथवा चिन्ता मात्रको ध्यान कहते हैं इत्यादि मान्यता भी उपर्युक्त ध्यान के लक्षण से खण्डित हो जाती है।

दूसरी बात यह है कि सर्वथा अभावस्वरूप वस्तु को मानते हैं या सकल चिन्ता से शून्य प्रमाण पुरुष के ध्यान होना स्वीकार करते हैं तो मुक्ति होने पर भी ध्यान मानना पड़ेगा।

शंका—जिस कारण से असंप्रज्ञात योग को मोक्ष का हेतु माना है जिससे उस वक्त द्रष्टा आत्मा का स्वस्वरूप में अवस्थान होना मोक्ष माना है इसलिए अर्थात् असंप्रज्ञात योग ध्यान है और वही स्वरूप में स्थितिरूप मोक्ष है ऐसा हम सांख्यादि ने माना है, वही निःश्रेयस—मोक्ष है और वही ध्यान है ऐसा हमारा कहना है ?

मिदं सर्वथैकस्वभावस्यात्मनो युगपत्स्वभावद्वयाऽयोगात् । तस्य स्वभावनानात्वे जैनमतसिद्धिः—स्थिर-चिन्तात्मकस्यात्मनो ध्यानत्वेनेष्टत्वात् । ततोऽन्यत्रोपचारेण ध्यानव्यवहारात् । तदुपचारकारणस्याप्य-भावे मुक्तत्वसिद्धेः । एकाग्रेण एकमुखेन चिन्तानियम एकाग्रचिन्तानिरोध इति वा प्रतिपादयितव्यं-अक्षसूत्रादिपरिगणनेन विविधमुखेन चिन्तायाः सर्वथा ध्याननिवृत्त्यर्थम् । क्षणिकाद्येकान्तवादिनां ध्यानाभावो ध्यातृध्येययोरभावे ध्यानाऽनुपपत्तेः । ध्यानाभावश्च सर्वथार्थक्रियाविरोधाज्जात्यन्तरस्यैव तथाभावसिद्धेः। केषांचिदनेकसंवत्सर कालमपि ध्यानमिति मतं तदप्यान्तर्मुहूर्तादिति वचनान्निराकृतम् ।

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है, सर्वथा एक स्वभाव वाले आत्मा के एक साथ दो स्वभाव (ध्यान स्वभाव और मोक्ष स्वभाव) स्वीकार नहीं कर सकते । यदि नाना स्वभाव स्वीकार करेंगे तो जैन मत की सिद्धि होगी अर्थात् आप सांख्यादि का जैन मत में प्रवेश होगा ? हम जैन स्थिर चिन्ता स्वरूप आत्मा के ध्यान स्वीकार करते हैं, जिसके चिन्ता (मन) नहीं है उस आत्मा के उपचार मात्र से ध्यान होना मानते हैं अर्थात् योग एवं शरीर जब तक है तब तक ध्यान माना है, उसमें भी चिन्ता युक्त (मनयुक्त) आत्मा के तो वास्तविक ध्यान माना है और उससे रहित केवली जिनके उपचार से ध्यान माना है, वहां उपचार का कारण कर्मों का नाश होना रूप कार्य को देखकर कारणरूप ध्यान मान लेते हैं । मुक्त अवस्था में कर्मों का नाश हो चुकता है अतः वहां उपचार से भी ध्यान नहीं माना जाता ।

अथवा 'एकाग्रेण–एक मुखेन चिन्ता नियम' 'एकाग्र चिन्ता निरोधः' एकाग्र से अर्थात् एक मुख से चिन्ता का नियम होना एकाग्र चिन्ता निरोध है ऐसा 'एकाग्र चिन्ता निरोधो' पदका अर्थ करना चाहिए, उससे जप माला आदि से गणना करना रूप चिन्ता का विधिमुख से होना ध्यान नहीं है ऐसा सिद्ध होता है । अर्थात् गणना करने में मन लगा है तो भी वह ध्यान नहीं है ऐसा समझना चाहिए । सर्वथा क्षणिक आदि एकान्त मतको मानने वाले परवादियों के यहां पर ध्यान सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ध्याता पुरुष और ध्येय पदार्थ सर्वथा क्षणिक आदि रूप मानने से वे अभाव-शून्यरूप पड़ते हैं और उनके नहीं होने से ध्यान भी नहीं बनता । सर्वथा क्षणिक आदि रूप पदार्थों में अर्थ क्रिया सम्भव नहीं है । अर्थ क्रिया तो क्षणिक और नित्य से जात्यन्तर जो कथञ्चित अनित्य नित्य स्वरूप वस्तु है उसमें सिद्ध होती है, उस अर्थक्रिया युक्त वस्तु के सिद्ध होने पर ही ध्याता, ध्येय और ध्यान की प्रसिद्धि होती है ।

ततः परं परावृत्तेरध्यानत्वसिद्धिः संप्रति तद्भेदनिर्णयार्थमाह—

आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि ॥ २८ ॥

ऋतं दुःखमर्दनमर्तिर्वा। तत्र भवमार्तम्। रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वारौद्रम्। धर्मो व्याख्यातः। धर्मादनपेतं धर्म्यम्। शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्। तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते। कुत इति चेत्—प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदात्। अप्रशस्तमपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्प्रशस्तम्। किं पुनस्तदिति चेदुच्यते—

परे मोक्षहेतू ॥ २९ ॥

कोई कोई परवादी अनेक वर्ष प्रमाण काल तक ध्यान होना मानते हैं, उस मान्यता का निराकरण 'अन्तर्मुहूर्त्तात्' इस पद से हो जाता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त्त के बाद मनका परिवर्त्तन होने से विषय का परिवर्त्तन होता है और उससे एक ध्यान नहीं रहता।

अब उस ध्यान के भेदों का निर्णय करते हैं—

सूत्रार्थ—आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये चार ध्यान के भेद हैं।

ऋत दुःख को कहते हैं 'अर्दनम् अर्तिर्वा तत्रभवं आर्त्तम्' इस प्रकार अर्त्ति शब्द से होने अर्थ में अण प्रत्यय आकर आर्त्त शब्द बना है। क्रूर आशय को रुद्र कहते हैं रुद्र का कर्म रौद्र है धर्म का अर्थ कह चुके हैं, धर्म से जो अनपेत है सहित है वह धर्म्य कहलाता है, शुचि-पवित्र गुण के योग को शुक्ल कहा जाता है, इस तरह यह चार प्रकार का ध्यान दो भागों में बँटता है–प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से। पापास्रव का कारण होने से अप्रशस्त और कर्मों के नष्ट करने की सामर्थ्य युक्त होने से प्रशस्त ध्यान कहलाता है।

प्रश्न—वह प्रशस्त ध्यान कौन से हैं ?

उत्तर—अब उसी को कहते हैं—

सूत्रार्थ—आगे के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं।

सामर्थ्यात्पूर्वे संसारहेतू इति गम्यते। परयोरेव धर्म्यशुक्लयोर्विशुद्धरूपत्वात्, पूर्वयोरार्तरौद्रयोरप्रशस्तत्वसद्भावात्। तत्र चतुर्भेदस्यार्तस्य प्रथमभेदकथनार्थमाह—

आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३०॥

अमनोज्ञस्य मनोऽरतिहेतोरर्थस्य सम्यक्प्रयोगे सति तद्विप्रयोगार्थं स्मृतेश्चिन्तायाः समन्वाहारः पौनःपुन्यमार्तमेकं प्रत्येतव्यम्। द्वितीयमाह—

तद्विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥

मनोरतिहेतोरर्थस्य सम्यक्प्रयोगेऽसति तत्संप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो द्वितीयमार्तमवसेयम्। तृतीयमाह—

वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥

धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु होने से प्रशस्त हैं। इसी सूत्र की सामर्थ्य से पूर्व के दो ध्यान संसार के हेतु हैं ऐसा जाना जाता है। धर्म्य और शुक्ल विशुद्ध स्वरूप होने से पूर्व के आर्त्त, रौद्र अप्रशस्त हैं यह स्वतः ज्ञात होता है। आर्त्तध्यान चार प्रकार का है। उनमें से पहला प्रकार कहते हैं—

सूत्रार्थ—अमनोज्ञ–अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर उसको दूर करने के लिये स्मृति का बार बार उसी में लगा रहना पहला आर्त्त ध्यान है।

मनको अनिष्ट–अप्रिय लगने वाले पदार्थ के सम्बन्ध होने पर उसको हटाने के लिये चिन्ता का पुनः पुनः प्रवर्त्तन होना पहला अनिष्ट संयोग नामका आर्त्तध्यान है ऐसा समझना चाहिए। दूसरे आर्त्तध्यान को कहते हैं—

सूत्रार्थ—उससे विपरीत मनोज्ञ पदार्थ की प्राप्ति हेतु मनका बार बार प्रवर्त्तन होना दूसरा आर्त्तध्यान है।

मनको प्रिय लगने वाले पदार्थ के नहीं मिलने पर उसको प्राप्त करने के लिए बार बार मनमें विचार आना दूसरा इष्ट वियोग नामका आर्त्तध्यान है।

तीसरा आर्त्तध्यान बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—वेदना के–पीड़ा के होने पर उसको दूर करने हेतु मनमें बार बार विचार आना तीसरा आर्त्तध्यान है।

असद्वेद्योदयाद्वेद्यत इति वेदना पीडा प्रकरणादिह ग्राह्या । तस्याश्च स्मृतिसमन्वाहारो 'बाधते मामियं धिक्' इति पुनश्चिन्तनं यत्तत्तृतीयमार्तं विज्ञेयम् । चतुर्थमाह—

निदानं च ।। ३३ ।।

अनागतभोगाकांक्षण निदानम् । तच्चार्तं निश्चेयम् । विपरीतं मनोज्ञस्येत्यनेनैव गतमेतदिति चेत्तन्न–अप्राप्तपूर्वविषयत्वान्निदानस्य । प्राप्तवियोगे संप्रयोगगोचरत्वात्तस्य स्मृतिसमन्वाहार: । कथं तद्ध्यानमिति चेदेकाग्रत्वेन चिन्तान्तरनिरोधरूपत्वसद्भावात् । तर्हि सर्वचिन्ताप्रबन्धानां ध्यानत्वप्राप्ति-

---

असातावेदनीय कर्म के निमित्त से जो वेदा जाता है वह वेदना है, उस पीड़ा को यहां प्रकरण से ग्रहण करना चाहिये । उस वेदना के होने पर मन में स्मृति का समन्वाहार होना कि यह बड़ी भारी पीड़ा हो रही है, मेरे को बाधा दे रही है, हाय हाय ! धिक्कार है ! इत्यादि रूप से बार बार विचार करना तीसरा पीड़ा चिन्तन नामका आर्त्तध्यान है ।

चौथे आर्त्त ध्यान को कहते हैं—

सूत्रार्थ— निदान करना चौथा आर्त्तध्यान है ।

आगामी भोगों की वांछा होना निदान है । वह आर्त्तध्यान है ।

प्रश्न—निदान नामका यह आर्त्तध्यान 'विपरीतं मनोज्ञस्य' इस सूत्रार्थ में ही गर्भित हो जाता है, अर्थात् इष्ट पदार्थ के लिये चिन्तन करना दूसरा आर्त्त ध्यान बताया है उसी में निदान गर्भित हो जाता है, क्योंकि इसमें भी इष्ट की अभिलाषा है ?

उत्तर—यह कथन ठीक नहीं है । जो विषय पहले प्राप्त नहीं हुआ है उस भोग विषय के लिए निदान होता है, और जो प्राप्त होकर छूट गया है–दूर हो गया है उसकी पुन: प्राप्ति के लिये मनमें बार बार विचार आना इष्ट वियोग नामका दूसरा आर्त्त-ध्यान है, इस तरह दोनों में अन्तर पाया जाता है ।

प्रश्न—इन इष्ट पदार्थ के चिन्तनादि को ध्यान कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—एक पदार्थ में मनका रोध होने से अन्यत्र चिन्ता नहीं जाती अत: इष्ट वियोग आदि से होने वाले चिंतन को ध्यान कहते हैं ।

रिति चेत्किमनिष्टम् ? स्तोककालस्य चिन्तनस्य स्थिरत्वानुभवात् ध्यानसामान्यलक्षणस्य बाधितुमशक्यत्वात् । तत्स्वामिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।। ३४ ।।

तदार्तध्यानं चतुर्विधमेषामविरतादीनां भवतीति वेदितव्यम् । अन्येषामप्रमत्तादीनां तन्निमित्तत्वाभावात् । तत्राऽविरतस्याऽसंयतसम्यग्दृष्ट्यन्तस्यार्तं चतुर्विधमपि सम्भवति । देशविरतस्य प्रमत्तसंयतस्य च निदानवर्जं सम्भवति । निदाने सति सशल्यत्वेन व्रतित्वायोगात् । व्यवहारतो देशविरतस्य चतुर्विधमपि भवति स्वल्पनिदानेनाऽणुव्रतित्वस्याऽविरोधात् । रौद्रं केभ्यः कयोश्च सम्भवतीत्याह—

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो जितने चिन्ता के प्रबन्ध हैं वे सब ध्यान कहलायेंगे ?

उत्तर—इसमें क्या बाधा है ? कुछ भी नहीं, थोड़े समय तक होने वाला जो एक सरीखा चिंतन है वह स्थिर रूप से अनुभव में आता ही है अतः उसमें ध्यानसामान्य का लक्षण बाधित नहीं होता । अभिप्राय यह है कि अनिष्ट वस्तु के संयोग होने पर, अथवा इष्ट वस्तु के दूर होने पर उसका बार बार जो चिन्तन होता है वह एकाग्रमन से होता है अतः इसमें ध्यान का लक्षण घटित होता है । अथवा प्रश्नकर्त्ता का यह अभिप्राय होवे कि आगामी भोगों की वाञ्छारूप निदान को ध्यान कैसे कहें ? सो उसका उत्तर यह है कि इसमें भी आगामीकाल के इष्ट पदार्थ की प्राप्ति का एकाग्रमन से चिन्तन होता है अतः इसको ध्यान कहना बाधित नहीं होता है ।

आर्त्त ध्यान के स्वामी बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—वह आर्त्त ध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत के होता है ।

चारों आर्त्त ध्यान अविरत आदि के होते हैं ऐसा जानना चाहिए । अन्य जो अप्रमत्तादिक गुणस्थान वाले मुनिराज हैं उनके आर्त्त ध्यान के निमित्त का अभाव होने से वह ध्यान नहीं होता । अविरत शब्द से चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि तक के चार गुण स्थान लिये हैं इन चार गुणस्थानों में चारों आर्त्त ध्यान होते हैं । देशबिरत और प्रमत्तसंयत के निदान को छोड़कर तीन आर्त्त ध्यान होते हैं, क्योंकि निदान होने पर शल्य होने के कारण व्रतीपना नहीं रहता । व्यवहार की दृष्टि से देश विरत के चारों आर्त्त ध्यान माने हैं, क्योंकि थोड़ासा निदाम यदि कोई अणुव्रती करे तो उससे उसके व्रतीपने में विरोध नहीं आता ।

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ।। ३५ ।।

नन्वस्तु तावदविरतस्य हिंसादिभ्यो हेतुभ्यो रौद्रं तस्य सद्भावात्, देशविरतस्य तु कथम् ? तस्य तदभावादिति चेत्—तस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च स्मृतिसमन्वाहारस्यानुवृत्तेः सामर्थ्यादेव हिंसादीनां स्मृतिसमन्वाहारो रौद्रं हिंसादिभ्यः प्रादुर्भावात् । धर्म्यप्रतिपादनार्थमाह—

आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ।। ३६ ।।

विचयः परीक्षा । सर्वज्ञाज्ञयाऽत्यन्तपरोक्षार्थावधारणार्थमित्थमेव सर्वज्ञाज्ञासंप्रदाय इति विचारणमाज्ञाविचयः । सर्वज्ञज्ञातार्थसमर्थनं वा हेतुसामर्थ्यात् । एवं सन्मार्गापायः स्यादिति चिन्तनमपाय-

---

प्रश्न—रौद्रध्यान किन विषयों से होता है और किनके होता है ?

उत्तर—इसीको अगले सूत्र में बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—हिंसा, झूठ, चोरी और विषय संरक्षण इन चारों निमित्तों से रौद्रध्यान चार प्रकार का है और वह अविरत देशविरत में होता है ।

शंका—अविरत जीवों के हिंसा आदि हेतुओं से रौद्रध्यान सम्भव है, क्योंकि उनके हिंसादि का सद्भाव है । किन्तु देशविरत के रौद्रध्यान कैसे सम्भव है ? क्योंकि उनके हिंसादिका अभाव है ?

समाधान—देशविरत जीव के भी हिंसादि के आवेश से तथा संपत्ति धन की रक्षा हेतु स्मृति की बार बार अनुवृत्ति की सामर्थ्य से ही हिंसादि के निमित्त से होने वाला रौद्रध्यान उत्पन्न हो जाता है । अर्थात् देशविरत गृहस्थ श्रावक के धनादि के रक्षण करने के लिए हिंसा झूठ आदि के भाव होते हैं उनमें चिन्ता निरोध होने से रौद्रध्यान हो जाता है ।

धर्म्यध्यान के भेद बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय ये चार धर्म्यध्यान के भेद हैं ।

परीक्षा को विचय कहते हैं । अत्यन्त परोक्ष पदार्थों का निश्चय सर्वज्ञदेव की आज्ञा से करना कि इसी प्रकार सर्वज्ञ की आज्ञा है इत्यादि रूप विचार करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है अथवा तर्क आदि के सामर्थ्य से सर्वज्ञ कथित पदार्थों का समर्थन

विचयः । सन्मार्गापायो नैवमिति वा । कर्मविपाकचिन्तनं विपाकविचयः । तत्कारणात्मपरिणामचिंतनं वा । लोकाकृतिचिन्तनं संस्थानविचयः । लोकस्वभावावधारणं वा । एवमाज्ञादिविचयाय स्मृतिसमन्वाहारो धर्म्यध्यानमवधारणीयम् । तच्च प्रमत्ताऽप्रमत्तयोः, संयतासंयतस्य असंयतस्य तद्विरोधाद्धर्म्यध्यानमुपचारेणैव संभवति । धर्म्यानन्तरं शुक्लं चतुःप्रकार वक्ष्यमाणभेदमपेक्ष्याद्ययोस्तावत्स्वामिप्रतिपत्त्यर्थमाह—

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ।। ३७ ।।

वक्ष्यमाणेषु शुक्लध्यानविकल्पेष्वाद्ये शुक्लध्याने देशतः कात्स्नर्य तो वा पूर्वश्रुतवेदिनो भवतः—श्रुतकेवलिन इत्यर्थः । चशब्देन धर्म्यमपि पूर्ववेदिनो भवतीति समुच्चीयते । तत्र शुक्ले श्रेण्यारोहिण एव । पूर्वस्य तु धर्म्यमिति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिविभागः । तदुत्तरे कस्येत्याह—

करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है । इस प्रकार सन्मार्ग से जीव दूर होते हैं इत्यादि विचार करना—परीक्षा करना अपायविचय धर्म्यध्यान है । अथवा ऐसा करने से सन्मार्ग का अपाय नहीं होता । इस तरह चिन्तन करना अपायविचय ध्यान है । कर्मों के विपाक का चिन्तन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है । अथवा कर्म के उदय से आत्मा के इस तरह परिणाम होते हैं इत्यादि चिन्तन करना विपाकविचय है । लोक के आकृति का चिन्तन करना अथवा लोक के स्वरूप का निश्चय करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है । इस प्रकार आज्ञा आदि की विचय—परीक्षा हेतु स्मृति का बार बार प्रवर्त्तन होना धर्म्यध्यान है ऐसा समझना चाहिए । यह धर्म्यध्यान प्रमत्त और अप्रमत्त मुनिके होता है । देशविरत और अविरत सम्यग्दृष्टि के धर्म्यध्यान उपचार से ही सम्भव है । धर्म्यध्यान के अनन्तर चार प्रकार का शुक्लध्यान कहा जायगा उनकी अपेक्षा आदि के दो शुक्लध्यानों के स्वामियों की प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—आदि के दो शुक्लध्यान पूर्व विद के होते हैं ।

वक्ष्यमाण शुक्लध्यानों के भेदों में से आदि के दो शुक्लध्यान देशतः पूर्वविद मुनि के या पूर्णतः पूर्वविद मुनि के होते हैं । पूर्वविद का अर्थ श्रुतकेवली है । च शब्द से पूर्वविद मुनि के धर्म्यध्यान भी होता है ऐसा समझना । उनमें शुक्लध्यान श्रेणिका आरोहण करने वाले मुनिराजों के ही होता है । श्रेणि के पहले तो धर्म्यध्यान होता है ऐसा व्याख्यान से विशेष बोध हो जाता है ।

प्रश्न—आगे के शुक्लध्यान किनके होते हैं ?

परे केवलिनः ।। ३८ ।।

सयोगस्याऽयोगस्य च समुत्पन्नकेवलज्ञानस्योत्तरे शुक्लध्याने भवतः । कानि पुनश्चत्वारि शुक्लानि येषु पूर्वे पूर्वविदः, परे केवलिनोऽवगम्येते ? इत्याह—

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ।।३९।।

पृथक्त्ववितर्कैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि शुक्लानि वक्ष्यमाणलक्षणानि भवन्ति । तेषां प्रतिनियतयोगावलम्बनत्वप्रतिपादनार्थमाह—

त्र्येकयोगकाययोगाऽयोगानाम् ।। ४० ।।

पृथक्त्ववितर्कादिभिर्यथासङ्ख्यमभिसम्बन्धः क्रियते । त्रियोगस्य पृथक्त्ववितर्कम् । तदन्यतमैकयोगस्यैकत्ववितर्कम् । काययोगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति । अयोगस्य व्युपरतक्रियानिवृत्ति भवति ।

उत्तर—इसी को सूत्र द्वारा कहते हैं—

सूत्रार्थ—अगले दो शुक्लध्यान केवलीजिन के होते हैं । जिनके केवल ज्ञान प्रगट हो गया है ऐसे सयोगीजिन और अयोगीजिन के उत्तरवर्त्ती दो शुक्लध्यान होते हैं ।

प्रश्न—वे चार शुक्लध्यान कौनसे हैं जिनमें से दो पूर्वविदों के और दो केवलियों के होते हैं ऐसा निश्चय किया जाता है ?

उत्तर—इसीको अगले सूत्र में कहते हैं—

सूत्रार्थ—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरतक्रिया निवृत्ति ये चार शुक्लध्यानों के नाम हैं ।

इन चारों ध्यानों का आगे लक्षण कहेंगे ।

उक्त चारों ध्यानों के प्रतिनियत योगों का जो अवलम्बन होता है उनका प्रतिपादन करते हैं—

सूत्रार्थ—उक्त चारों शुक्लध्यानों में से क्रम से तीन योग वाले जीव, कोई भी एक योग वाले जीव, काययोग वाले जीव और योगरहित जीव स्वामी होते हैं ।

पृथक्त्व वितर्क इत्यादि के साथ यथासंख्य सम्बन्ध करना चाहिए । तीन योग वाले के पृथक्त्ववितर्क ध्यान होता है । तीनों में से कोई एक योग वाले के एकत्ववितर्क

तत्राद्ययोः शुक्लयोर्निश्चयार्थमाह—

एकाश्रये सवितर्कविचारे पूर्वे ॥ ४१ ॥

एकः पुरुष आश्रयो ययोस्ते एकाश्रये। उभे अप्येते शुक्ले परिप्राप्त श्रुतज्ञाननिष्ठेन पुरुषेणारभ्येते इत्यर्थः। वितर्कश्च विचारश्च वितर्कविचारौ। ताभ्यां सह वर्तेते इति सवितर्कविचारे पूर्वे पृथक्त्वैकत्ववितर्के इत्यर्थः। तत्र यथासङ्ख्यप्रसङ्गेऽनिष्टनिवृत्त्यर्थमिदमुच्यते—

अविचारं द्वितीयम् ॥ ४२ ॥

पूर्वयोर्यद्द्वितीयं तदविचारं प्रत्येतव्यम्। तदुक्तं भवति–आद्यं सवितर्कं सविचारं च भवति। द्वितीयं सवितर्कमविचारं चेति। अथ वितर्कविचारयोः कः प्रतिविशेष इत्यत्रोच्यते—

ध्यान होता है। काययोग वाले के सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति ध्यान होता है और योगरहित अयोगीजिन के व्युपरतक्रिया निवृत्ति ध्यान होता है।

आदिके दो शुक्लध्यानों का निश्चय करने हेतु सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—पहले के दो शुक्लध्यान एक आश्रय वाले सवितर्क और सविचार होते हैं।

जिन दो ध्यानों का एक पुरुष आश्रय होता है वे एक आश्रय वाले कहलाते हैं। जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही ये दो ध्यान आरम्भ किये जाते हैं, यह उक्त कथन का अभिप्राय है। वितर्क और विचार पदों में द्वन्द्व समास है। जो वितर्क और विचार के साथ रहते हैं वे सवितर्क विचार ध्यान कहलाते हैं। सूत्र में आये हुए पूर्व पद से पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान लिये गये हैं।

पूर्व सूत्र में यथासंख्य का प्रसंग होने पर अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—दूसरा शुक्लध्यान विचार रहित है।

पूर्व के जो दो ध्यान हैं उनमें से दूसरा ध्यान विचार रहित जानना चाहिए। अर्थ यह है कि पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सविचार है किन्तु दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क तथा अविचार है।

प्रश्न—वितर्क और विचार में क्या प्रतिविशेष है ?

उत्तर—अब क्रमशः आगे इनको बतलाते हैं—

वितर्कः श्रुतम् ॥ ४३ ॥

मतिज्ञानविशेषश्चिन्ताख्यो न वितर्कः किं तर्हि तत्पूर्वकं श्रुतशब्दयोजनासहितं वितर्कणमूहनं वितर्क इत्याख्यायते । कोऽयं विचार इत्याह—

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ॥ ४४ ॥

द्रव्यात्पर्यायार्थे पर्यायाच्च द्रव्यार्थे संक्रमणमर्थसंक्रान्तिः । कुतश्चिच्छ्रुतवचनाच्छब्दान्तरे संक्रमणं व्यञ्जनसंक्रान्तिः । कायवर्गणाजनितकायपरिस्पन्दाद्योगान्तरे, स्ववर्गणाजनितपरिस्पन्दाख्या-द्योगान्तरात्काययोगे संक्रमणं योगसंक्रान्तिः सविचार इत्याख्यायते । विविधचरणस्य विचारत्वात्तदनेन प्रथमशुक्लध्यानं पृथक्त्ववितर्कमुक्तं भवति । द्रव्यपर्याययोः पृथक्त्वेन भेदेन वितर्को विचारश्चास्मिन्निति

सूत्रार्थ—श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं ।

चिन्ता स्वरूप वितर्क मतिज्ञान विशेष नहीं है, किन्तु मतिज्ञानपूर्वक होने वाला शब्द योजना सहित जो श्रुत है वह वितर्क है । 'वितर्कणं ऊहनं इति वितर्कः' ऐसी व्युत्पत्ति है ।

प्रश्न—विचार किसे कहते हैं ?

उत्तर—इसी को सूत्र द्वारा बताते हैं—

सूत्रार्थ—अर्थ, व्यञ्जन और योगों का संक्रमण होना विचार कहलाता है ।

द्रव्य से पर्याय में और पर्याय से द्रव्य में संक्रमण होना अर्थ संक्रान्ति है । किसी एक श्रुत के वचन से अन्य वचन में संक्रमण होना व्यञ्जन संक्रान्ति है । कायवर्गणा से जनित जो काय में परिस्पंदरूप योग होता है उस योग से योगान्तर में संक्रमण होना अथवा अपनी वर्गणा से जनित परिस्पन्दरूप जो भी योग होता है उस नाम वाले योग से पुनः काय योग में संक्रमण होना योग संक्रान्ति कहलाती है । ये संक्रान्तियां विचार नाम से कही जाती हैं । विविध रीत्या परिवर्त्तन (विचार) होने के कारण प्रथम शुक्ल ध्यानको पृथक्त्व वितर्क कहते हैं । द्रव्य और पर्याय में पृथक्त्वरूप से (भेद से) वितर्क और विचार है जिसमें वह पृथक्त्व वितर्क सविचार शुक्लध्यान है, इस प्रकार इस ध्यान का शब्दार्थ है (एकत्ववितर्क अविचार नामका शुक्लध्यान भी अन्वर्थ संज्ञक है । एक अभेद रूप से है वितर्क जिसमें तथा विचार परिवर्त्तन से जो रहित है वह

व्याख्यानात्सविचारं तदिति संप्रतिपत्तेः। उत्तरयोरपि शुक्लध्यानयोरन्वर्थसंज्ञत्वं तत एवावसीयते। तत्र ध्याता तत्त्वार्थज्ञः कृतगुप्त्यादिपरिकर्माऽऽविर्भूतवितर्कसामर्थ्यः पृथक्त्वेनार्थव्यञ्जनयोगसंक्रमणात्संयतमना मोहप्रकृतीरुपशमयन् क्षपयन्वा ध्येये द्रव्यपरमाणौ भावपरमाणौ वा पृथक्त्ववितर्कविचारं ध्यानमारभते। ततः स एव मोहनीयं क्षपयितुमनाः समूलमनन्तगुणविशुद्धियोगविशेषमाश्रित्य ज्ञानावरणसहभूतानेकप्रकृतिबन्धं निरुणद्धि। स्थितिबन्धं च ह्रासयति क्षपयति च। श्रुतज्ञानोपयुक्तात्मा निवृत्तविचारः क्षीणमोहोऽविचलितात्मैकत्ववितर्क ध्यानं प्रतिपद्यते। ततो विध्वस्तघातिकर्मचतुष्टयस्तीर्थंकरोऽन्यो वा केवली तुल्याऽघातिकर्मस्थितिः सर्वं वाङ्मानसयोगं बादरकाययोगं च परित्यज्य सूक्ष्मकाययोगः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानमध्यास्ते। ततः समुच्छिन्नसर्वात्मप्रदेशपरिस्पन्दो निवृत्ताऽशेष-

---

एकत्ववितर्क अविचार ध्यान है।) इसी प्रकार आगे के दोनों शुक्लध्यानों में अन्वर्थ संज्ञपना जानना चाहिए। शुक्लध्यान का ध्याता पुरुष कैसा होना चाहिए सो बताते हैं—जो तत्वों का ज्ञाता है, गुप्ति समिति दस धर्म आदि का जिसने भली प्रकार से अभ्यास किया है, प्रगट हुई है वितर्क (विशिष्ट श्रुत ज्ञान द्वारा ऊहापोह) की सामर्थ्य जिसके ऐसा संयमी साधु ध्याता है, वह पृथक्त्व रूप से अर्थ व्यञ्जन और योग के संक्रमण से युक्त होकर मोहकर्म की प्रकृतियों का उपशम या क्षपण करता हुआ ध्येय जो द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु है उस विषय में मनको स्थिर करके पृथक्त्व वितर्क विचार नामके ध्यानको प्रारम्भ करता है। वही साधु पुनः आगे मोहनीय कर्म को जड़ से क्षय करने का इच्छुक होता हुआ अनन्तगुणी विशुद्धि का आश्रय लेकर ज्ञानावरण कर्म की साथी अनेक कर्म प्रकृतियों के बन्धको रोकता है तथा स्थिति का ह्रास और नाश करता है। इस प्रकार पृथक्त्व वितर्क विचार नामके ध्यान द्वारा मोहनीय कर्म का नाश नौवें दसवें गुणस्थान में करके वह मुनिराज क्षीण मोह नामा बारहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होते हैं उस वक्त वे साधु महात्मा विचार रहित अर्थात् अर्थ आदि की संक्रान्ति से रहित रत्न प्रकाशवत् अविचल स्वरूप वाले एकत्व वितर्क नामके द्वितीय शुक्लध्यान को प्राप्त होते हैं उस वक्त वे श्रुतज्ञान से उपयुक्त होते हैं। उस ध्यान द्वारा नष्ट कर दिया है घातिकर्म चतुष्टय को जिन्होंने ऐसे होकर तीर्थंकर केवली या सामान्य केवली बनते हैं। जिनके अघातिया कर्मों की स्थिति समान है ऐसे तेरहवें गुणस्थान वाले वे सयोग केवलीजिन सभी मनोयोग तथा वचनयोग को नष्ट करते हैं तथा बादरकाय योग को छोड़कर सूक्ष्मयोग में आते हैं, उस समय सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नामके तीसरे शुक्लध्यान को ध्याते हैं। तदनन्तर नष्ट हो चुका है सम्पूर्ण

योगः समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानस्वभावो भवति । ततः सम्पूर्णक्षायिकदर्शनज्ञानचारित्रः कृतकृत्यो विराजते । तदेवमाभ्यन्तरस्य तपसः परमसंवरकारणत्वात्परमनिर्जराहेतुत्वाच्च तपसा संवरो निर्जरा चेति सम्यक्सूत्रितम् । संप्रति किमेते सम्यग्दृष्ट्यादयः समनिर्जराः किं वाऽन्यथेति शङ्कामपनुदन्नाह—

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपक-क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥

एते दश सम्यग्दृष्ट्यादयः क्रमशोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जराः । तद्यथा—भव्यः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तकः पूर्वोक्तकाललब्ध्यादिसहायः परिणामविशुद्ध्या वर्धमानः क्रमेणाऽपूर्वकरणादिसोपानपंक्त्या उत्प्लवमानो बहुतरकर्मनिर्जरो भवति । स पुनः प्रथमसम्यक्त्वप्राप्तिनिमित्तसन्निधाने सति सम्यग्दृष्टिर्भवन्नसङ्ख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनश्चारित्रमोहविकल्पाऽप्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमकारण-

---

आत्म प्रदेशों का परिस्पन्द जिनके और उससे समाप्त हो गया है अशेष योग जिनके ऐसे अयोगी जिन समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति नामके चौथे शुक्लध्यान में स्थित होते हैं उससे पूर्ण हो गये हैं क्षायिकज्ञान दर्शनचारित्र जिनके ऐसे वे कृतकृत्य होकर विराजते हैं ।

इस प्रकार अभ्यन्तर तप (ध्यान) परम संवर का कारण होने से तथा परम निर्जरा का कारण होने से 'तपसा निर्जरा च' महान् आचार्य उमास्वामी का यह सूत्र भली प्रकार से सिद्ध होता है (सिद्ध किया है)

अब सम्यग्दृष्टि श्रावक विरत आदि भव्यात्मा समान निर्जरा वाले होते हैं अथवा हीनाधिक निर्जरा वाले होते हैं ऐसी शंका को दूर करते हुए सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कषाय का वियोजक, दर्शन मोह का क्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिनेन्द्र इनकी क्रमशः असंख्यात गुण श्रेणि, असंख्यात गुणश्रेणि निर्जरा होती है ।

ये दस सम्यग्दृष्टि आदि क्रमशः असंख्यात गुणश्रेणि निर्जरा वाले होते हैं । आगे इन्हीं का विवेचन करते हैं—कोई भव्य पञ्चेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक जीव है पूर्वोक्त कालदि लब्धियों का सहाय वाला होकर परिणामों की विशुद्धि से वर्धमान होता हुआ क्रम से अपूर्वकरण आदि सोपान पंक्ति से चढ़ता हुआ बहुत से कर्मों की निर्जरा करता है । वह पुनः प्रथम सम्यक्त्व प्राप्ति के निमित्त के सन्निधान में सम्यग्दृष्टि होकर

परिणामप्राप्तिकाले विशुद्धिप्रकर्षयोगात् श्रावको भवति । ततोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनः प्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमकारणपरिणामविशुद्धियोगाद्विरतव्यपदेशभाक् ततो सङ्ख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनरनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभवियोजनपरो भवति । तदा परिणामविशुद्धिप्रकर्षयोगात्ततोऽसङ्ख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनर्दर्शनमोहप्रकृतित्रयतृणनिचयं निर्दिधक्षुः परिणामविशुध्यतिशययोगाद्दर्शनमोहक्षपकव्यपदेशभाक् पूर्वोक्तादसङ्ख्येयगुणनिर्जरो भवति । एवं स क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा श्रेण्यारोहणाभिमुखश्चारित्रमोहोपशमं प्रति व्याप्रियमाणो विशुद्धिप्रकर्षयोगादुपशमकव्यपदेशमनुभवन् पूर्वोक्तादसङ्ख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनरशेषचारित्रमोहोपशमनिमित्त सन्निधाने सति प्राप्तोपशान्तकषायव्यपदेशः पूर्वोक्तादसङ्ख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव पुनश्चारित्रमोहक्षपणं प्रत्यभिमुखः परिणामविशुद्ध्या वर्तमानः क्षपकव्यपदेशमनुभवन्पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । स यदा निःशेषचारित्रमोहक्षपणं प्रत्यभिमुखः परिणामविशुद्ध्या वर्तमानः क्षीणकषायव्यपदेश-

---

असंख्यात गुणी निर्जरा को करता है । वही पुनः चारित्रमोह के भेद स्वरूप अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के कारणभूत परिणामों की प्राप्ति काल में विशुद्धिका प्रकर्ष होने से श्रावक बनता है तब उसके पहले से अधिक असंख्यात गुणी निर्जरा होती है । वही जीव पुनः प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के कारणभूत परिणामों की विशुद्धि होने पर विरत नामको पाते हुए पूर्व से अधिक असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है । वही जीव जब अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ इन चार प्रकृतियों का विसयोजन करता है उस समय परिणामों की विशुद्धि का प्रकर्ष होने से उससे असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है । वही फिर दर्शनमोह की तीन प्रकृतिरूपी घास के समूह को जलाने का इच्छुक होता हुआ परिणाम विशुद्धि के अतिशय से दर्शनमोह क्षपक इस नामको पाकर पहले से अधिक असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है । इस प्रकार वह जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर श्रेणि आरोहण के सम्मुख होता है वहां चारित्रमोह के उपशमन के लिये प्रवृत्त हुआ विशुद्धि के प्रकर्ष के योग से उपशमक नाम वाला होकर पहले से अधिक असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है । वही पुनः अशेष चारित्र मोह के उपशम के निमित्त के सन्निधान से उपशान्त कषाय नामको प्राप्त होता हुआ पहले से अधिक असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है । वही पुनः चारित्र मोह के क्षपणा के सम्मुख होता है और परिणाम विशुद्धि से बढ़ता हुआ क्षपक संज्ञा को पाकर पहले से अधिक असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है । वही जब संपूर्ण चारित्र मोह का क्षपण कर परिणाम विशुद्धि से वर्तमान क्षीण कषाय संज्ञाको प्राप्त कर पहले

मनुभवन्पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । स एव द्वितीयशुक्लध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मनिचयः सन् जिनव्यपदेशभाक् पूर्वोक्तादसंख्येयगुणनिर्जरो भवति । अत्राह सम्यग्दर्शनसन्निधानेऽपि यद्यसंख्येय-

---

से अधिक असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है । वही दूसरे शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि से जला दिया है घाती कर्मरूपी ईन्धन को जिसने ऐसा होकर 'जिन' संज्ञा को प्राप्त करता है उस वक्त पहले से असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है । इस प्रकार ये दस स्थान असंख्यात गुण श्रेणि निर्जरा वाले होते हैं । इनमें सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण काल है । किन्तु वह अन्तर्मुहूर्त्त आगे आगे अल्प अल्प प्रमाण वाला जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—जिस वक्त अनादि मिथ्यादृष्टि को प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है उस वक्त उस भव्यात्मा के सर्व प्रथम क्षयोपशम आदि लब्धियां प्राप्त होती हैं, जो संज्ञी है, पर्याप्तक एवं जाग्रत दशा में है तथा यदि मनुष्य और तिर्यंचगति वाला है तो उसके शुभ लेश्या रहना आवश्यक है (क्योंकि जो देव है उसके तो नियम से शुभ लेश्या ही होती है और जो नारकी है उसके नियम से अशुभ लेश्या ही होती है । अतः वहां लेश्या का परिवर्त्तन नहीं है अर्थात् नारकी के अशुभ लेश्या में ही सम्यक्त्व प्राप्त होता है किन्तु मनुष्य और तिर्यंच को सम्यक्त्व प्राप्त करते समय नियम से शुभ लेश्या वाला होना जरूरी है) इस तरह संज्ञित्व आदि के प्राप्त होने पर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियों का मिलना संभावित होता है तदनन्तर करण लब्धि का नम्बर है । यह होने पर नियम से सम्यक्त्व प्राप्त होता है । करणलब्धि के तीन भेद हैं अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण । प्रकृत में जो असंख्यात गुणी श्रेणि निर्जरा है वह अनिवृत्तिकरण में प्रारम्भ होती है ।

अनिवृत्तिकरण का काल अन्तर्मुहूर्त्त (छोटा) है । इसके होते ही यह जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है । सम्यक्त्व होने पर अन्तर्मुहूर्त्त तक असंख्यात गुणी श्रेणि निर्जरा बराबर होती रहती है । असंख्यात गुणी श्रेणि निर्जरा का अर्थ है अन्तर्मुहूर्त्त तक प्रति समय असंख्यात असंख्यात गुणित क्रम से विवक्षित कर्मों के प्रदेश नष्ट होते जाना । अन्तर्मुहूर्त्त के प्रथम समय में जितने कर्मप्रदेश खिरे उससे दूसरे समय में असंख्यात गुणित ज्यादा प्रदेश खिर जायेंगे, उससे तीसरे समय में असंख्यात गुणित प्रदेश खिरेंगे इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त के जितने असंख्यात समय हैं उनमें सब में यही क्रम रहेगा । यह प्रथमोपशम सम्यक्त्वी की बात हुई । इसी प्रकार कोई भव्यात्मा

गुणनिर्जरत्वात्परस्परतो न साम्यमेषां, किं तर्हि श्रावकवदमी विरतादयो गुणभेदा न निर्ग्रन्थतामर्हन्तीत्युच्यते। नैतदेवम्। कुतः? यस्माद्गुणभेदादन्योन्यविशेषेऽपि नैगमादिनयव्यापारात्सर्वेपि हि भवन्ति।

पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः ।।४६।।

उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित्कदाचित्कथञ्चित्परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तोऽविशुद्धतण्डुलसादृश्यात्पुलाका इत्युच्यन्ते। नैर्ग्रन्थ्यं प्रति स्थिता अखंडितव्रताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनोऽ-

---

देशव्रत धारण करता है उसके अन्तर्मुहूर्त तक असंख्यात गुणी श्रेणि निर्जरा होगी। प्रथमोपशम सम्यक्त्वी की जो निर्जरा हुई है उससे असंख्यात गुणी अधिक निर्जरा इस देश विरत की होती है। काल अन्तर्मुहूर्त होते हुए भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त से यह छोटा वाला अन्तर्मुहूर्त है। यह कालका हीनपना अन्तिम स्थान तक समझना तथा अधिक अधिक निर्जरा का क्रम समझना। भाव यह है कि निर्जरा के पूर्वोक्त दशों स्थानों में काल तो अल्प अल्प होता गया है और निर्जरा अधिक अधिक होती गयी है। असंख्यात गुण श्रेणि निर्जरा आदि विषयों का लब्धिसार ग्रन्थ में बहुत विशद वर्णन पाया जाता है। जिज्ञासुओं को अवश्य अवलोकनीय है। अस्तु!

शंका—इन दश स्थान वाले भव्यात्माओं में सम्यग्दर्शन के रहने पर भी असंख्यात गुणी निर्जरा की अपेक्षा परस्पर में सादृश्य नहीं है तो फिर श्रावक के समान गुण भेद वाले ये विरतादिक निर्ग्रन्थपने के योग्य नहीं होते है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि इन सबमें गुणों की अपेक्षा परस्पर में विशेषता होने पर भी नैगमादि नयों की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ होते हैं, ऐसा अगले सूत्र में कहते हैं—

सूत्रार्थ—पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ये सभी मुनिराज निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

जिनके उत्तर गुणों में भावना नहीं है, व्रतों में भी कहीं पर कदाचित् किसी प्रकार से पूर्णता नहीं होती इस तरह के मुनिराज अविशुद्ध तण्डुल–छिलका युक्त चावल के समान होने से पुलाक नाम से कहे जाते हैं। जो निर्ग्रन्थता के प्रति उपस्थित हैं अखण्डित व्रतयुक्त हैं, शरीर और उपकरणों को सजाने में लगे रहते हैं, परिवार युक्त हैं,

विविक्तपरिवाराः कर्बुराचरणयुक्ता बकुशाः । बकुशशब्द शबलपर्यायवाची । कुशीला द्विविधाः— प्रतिसेवनाकुशीलाः कषायकुशीलाश्चेति । तत्र विविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णमूलोत्तरगुणाः कथञ्चिदुत्तरगुणविरोधिनः प्रतिसेवनाकुशीलाः । वशीकृतान्यकषायोदयाः सञ्ज्वलनमात्रतन्त्राः कषायकुशीलाः । उदकदण्डराजिवदनभिव्यक्तोदयकर्माण ऊर्ध्वं मुहूर्तमुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रन्थाः । प्रक्षीणघातिकर्माणः केवलिनो द्विविधाः स्नातकाः । त एते पञ्चापि निर्ग्रन्थाश्चारित्रपरिणामस्य प्रकर्षापकर्षभेदे सत्यपि नैगमसंग्रहादिनयापेक्षया सर्वेऽपि निर्ग्रन्था इत्युच्यन्ते । तेषां विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पतः साध्याः ॥४७॥

त एते पुलाकादयः संयमादिभिरनुयोगैः साध्या व्याख्येयाः । तद्यथा—पुलाकवकुशप्रतिसेवनाकुशीला द्वयोः संयमयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्वर्तन्ते । कषायकुशीला द्वयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्म-

---

चितकबरे आचरण युक्त उन मुनिराजों को बकुश कहते हैं । यहां पर बकुश शब्द का अर्थ शबल है । नाना रंग युक्त को शबल या बकुश कहते हैं । कुशील मुनि दो प्रकार के हैं–प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील । उनमें जो परिग्रह से पृथक हैं, मूल और उत्तर गुणों से परिपूर्ण हैं, जिनके कदाचित् उत्तर गुण में विरोध आता है वे प्रतिसेवना कुशील कहलाते हैं । अन्य कषायों का उदय जिनके नहीं आता जो मात्र संज्वलन युक्त हैं वे कषाय कुशील मुनि हैं । जिस प्रकार जल में रेखा खींचने पर वह अभिव्यक्त नहीं रहती है उसी प्रकार जिनका कर्मोदय व्यक्त नही है जो मुहूर्त्त के अनन्तर केवलज्ञान को प्रगट करने वाले हैं वे निर्ग्रंथ कहे जाते हैं। जिनके घातिकर्म चतुष्टय नष्ट हो चुके हैं, ऐसे केवली जिनेन्द्र स्नातक कहलाते हैं । इनके दो भेद हैं–सयोगी जिन और अयोगी जिन । ये पांचों ही निर्ग्रन्थ चारित्र परिणामों के प्रकर्ष और अप्रकर्षरूप भेद से भिन्न होने पर भी नैगम संग्रह आदि नयों की अपेक्षा सभी निर्ग्रन्थ ही कहे जाते हैं ।

आगे उन निर्ग्रन्थों की विशेष प्रतिपत्ति के लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्ग, लेश्या, उपपाद और स्थान की अपेक्षा उक्त मुनिराजों का व्याख्यान करना चाहिए ।

ये पुलाक आदि मुनि महाराज संयम आदि अनुयोगों से साध्यवर्णन करने योग्य हैं । आगे इसीको बताते हैं—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील इनके दो संयम होते हैं, सामायिक और छेदोपस्थापना । कषाय कुशील पूर्व के सामायिक छेदोपस्थापना इन दो संयमों से युक्त तथा परिहार विशुद्धि एवं सूक्ष्म साम्पराय संयम इन दो संयमों

साम्परराययो: पूर्वयोश्च । निर्ग्रन्थस्नातका एकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे वर्तन्ते । श्रुतं—पुलाकबकुश-प्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधरा: कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधरा: । जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु । बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानामष्टौ प्रवचनमातर: । स्नातका अपगतश्रुता: केवलिन. । प्रतिसेवना—पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद्बलादन्यतमं प्रति-सेवमान: पुलाको भवति । बकुशो द्विविध: - उपकरणबकुश: शरीरबकुशश्चेति । तत्रोपकरणबकुशो बहुविशेषयुक्तोपकरणकांक्षी । शरीरसंस्कारसेवी शरीरबकुश: । प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविरोध-यन्नुत्तरगुणेषु कांचिद्विराधनां प्रतिसेवते । कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति । दोषसेवा प्रतिसेवनोच्यते । तीर्थमिति सर्वे सर्वेषां तीर्थकराणां तीर्थेषु भवन्ति । लिङ्गं द्विविधम्—द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति । भावलिङ्गं प्रतीत्य पञ्चापि लिङ्गिनो भवन्ति सम्यग्दर्शनादे: परिणामस्य सद्भा-वात् । द्रव्यलिङ्गं प्रतीत्य भाज्या: केपाञ्चित्क्वचित्कदाचित्कुतश्चित्कथञ्चित्प्रावरणसद्भावात् ।

से युक्त होते हैं । निर्ग्रन्थ और स्नातकों के एक यथाख्यात संयम होता है । श्रुत की अपेक्षा–पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील उत्कर्ष से अभिन्न दश पूर्वधर होते हैं । कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ उत्कर्ष से चतुर्दश पूर्वधर होते हैं । जघन्य से पुलाक का श्रुतज्ञान आचार वस्तु है, और बकुश कुशील तथा निर्ग्रन्थों का श्रुत अष्ट प्रवचन मातृका है । स्नातक श्रुतज्ञान रहित हैं क्योंकि वे तो केवलज्ञानी हैं । प्रतिसेवना की अपेक्षा कथन करते हैं—पुलाक मुनि के पांच मूलगुण तथा रात्रि भोजन त्याग व्रत में परके द्वारा हठात् कोई एक व्रत की विराधना होती है—प्रतिसेवना होती है । बकुश दो प्रकार के हैं–शरीर बकुश और उपकरण बकुश । उनमें उपकरण बकुश के बहुत से उपकरण विशेष की कांक्षा होती है । शरीर संस्कार का सेवी शरीर बकुश कहा जाता है । प्रतिसेवना कुशील मूलगुणों की विराधना नहीं करता किन्तु उत्तर गुणों में कुछ विराधना करता है, यही इसकी प्रतिसेवना है । कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातकों के प्रतिसेवना नहीं होती । दोष करने को प्रतिसेवना कहते हैं । तीर्थ की अपेक्षा कथन करते हैं—सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में ये सब प्रकार के मुनिराज होते हैं । लिंग की अपेक्षा प्रतिपादन करते हैं—लिंग दो प्रकार का है–भावलिंग और द्रव्यलिंग । भाव लिंग की अपेक्षा पांचों मुनि महाराज भावलिंगी होते हैं, क्योंकि सभी के सम्यक्त्व आदि परिणाम विद्यमान रहते हैं । द्रव्यलिंग की अपेक्षा भजनीय है । वह इस प्रकार है कि किसी किसी मुनि के कभी कहीं पर किसी कारणवश (उपसर्गवश) किसी प्रकार से प्रावरण सम्भव है । लेश्या की अपेक्षा वर्णन करते हैं—पुलाक के उत्तरवर्ती तीन

लेश्याः पुलाकस्योत्तरास्तिस्रः । वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोः षडपि क्वचित्कदाचित्कुतश्चित्कथंचित्सम्भवन्ति तेषां कदाचित्तपोमदाद्यावेशवशादशुभलेश्याप्रादुर्भावसद्भावात् । तदा च तेषामुपचारत एव यतित्वम् । उपचारनिमित्तं तु द्रव्यलिङ्गसद्भावः । कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धेरुत्तराश्चतस्रः । सूक्ष्मसाम्परायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला । अयोगास्त्वलेश्याः । उपपादः–पुलाकस्योत्कृष्ट उपपाद उत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे । वकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयोः । कषायकुशीलनिर्ग्रंथयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ । सर्वेषामपि जघन्य उपपादः सौधर्मकल्पे द्विसागरोपमस्थितिषु । स्नातकस्य निर्वाणमेवेति निश्चयः । स्थानं–असंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति । तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोः । तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छतः । ततः पुलाको व्युच्छिद्यते । 'कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानीष्टस्थानानि गच्छत्येकाकी ।' ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलवकुशा युगपदसंख्येयानीष्टस्थानानि

शुभ लेश्या होती हैं । बकुश और प्रतिसेवना कुशील के कहीं कदाचित् किसी कारण से किसी प्रकार छहों लेश्या सम्भव हैं । उनके कदाचित् अपने तपश्चरण आदि के मदादि के वश से अशुभ लेश्या उत्पन्न हो जाती है । किन्तु अशुभ लेश्या के समय उनके उपचार से ही मुनिपना रहता है । उपचार का भी कारण यह है कि उनके द्रव्यलिंग मौजूद है । कषाय कुशीलों में जो परिहार विशुद्धि संयम वाला कषाय कुशील है उनके उत्तरवर्त्ती चार लेश्या (कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल) होती हैं । सूक्ष्मसाम्पराय संयम वाले कषाय कुशील तथा निर्ग्रन्थ एवं स्नातक के एक शुक्ल लेश्या ही होती है । अयोगी जिन लेश्या रहित अलेश्य हैं । उपपाद की अपेक्षा व्याख्यान करते हैं–पुलाक मुनिका उपपाद उत्कृष्टता से सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों में होता है । बकुश, प्रतिसेवना कुशीलों का उपपाद बावीस सागर स्थिति वाले आरण अच्युत स्वर्गों के देवों में होता है । कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ का उपपाद तेंतीस सागर स्थितिवाले सर्वार्थसिद्धि के देवों में होता है । इन सभी का जघन्य से उपपाद सौधर्म कल्प में दो सागर स्थिति वाले देवों में होता है । स्नातक तो निर्वाण ही जाते हैं । स्थान की अपेक्षा वर्णन करते हैं—कषाय के निमित्त से संयम के स्थान असंख्यात होते हैं । उनमें सर्व जघन्य लब्धि स्थान पुलाक और कषाय कुशील के होते हैं । वे दोनों मुनि एक साथ असंख्यात स्थान तक जाते हैं । उसके आगे पुलाक रुक जाता है अर्थात् उनके आगे के संयम लब्धिस्थान पुलाक के नहीं होते । कषाय कुशील उक्त स्थानों से आगे असंख्यात इष्ट स्थानों तक अकेला चला जाता है । उनके आगे कषाय कुशील, प्रति-

गच्छन्ति । ततो बकुशो व्युच्छिद्यते । ततोऽप्यसंखये यानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते । ततोऽप्यसंखये यानि स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते । तत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते । सोऽप्यसंखये यानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते । अत ऊर्ध्वमेकं स्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोतीत्येषां संयमलब्धिरनन्तगुणा भवति ।।

शशधरकरनिकरसतारनिस्तलतरलतलमुक्ताफलहारस्फारतारानिकुरुम्बबिम्बनिर्मलतरपरमोदार
शरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघातीन्धनसङ्घातसकलविमलकेवलालोकित-
सकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचिदचित्स्वभावभावाभि-
धानसाधितस्वभावपरमाराध्यतममहासैद्धान्तः श्रीजिनचन्द्रभट्टारकस्तच्छिष्यपण्डित-
श्रीभास्करनन्दिविरचितमहाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां नवमोऽध्यायस्समाप्तः ।

सेवना कुशील और बकुश एक साथ इष्ट स्थानों में चले जाते हैं। वहां बकुश तो रुक जाता है और आगे असंख्यात स्थानों तक जाकर प्रतिसेवना कुशील रुक जाता है—छूट जाता है या बिछुड़ जाता है। उनसे भी आगे असंख्यात स्थान तक जाकर कषाय कुशील व्युच्छिन्न होता है। उनसे आगे तो अकषाय स्थान हैं उनको निर्ग्रन्थ प्राप्त करते हैं। निर्ग्रन्थ भी असंख्यात स्थान जाकर व्युच्छिन्न होता है। उसके आगे एक स्थान जाकर स्नातक निर्वाण को प्राप्त करते हैं, इनकी संयमलब्धि अनन्तगुणी होती है।

जो चन्द्रमा को किरण समूह के समान विस्तीर्ण, तुलना रहित मोतियों के विशाल हारों के समान एवं तारा समूह के समान शुक्ल निर्मल उदार ऐसे परमौदारिक शरीर के धारक हैं, शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि की उज्ज्वल ज्वाला द्वारा जला दिया है घाती कर्म रूपी ईन्धन समूह को जिन्होंने ऐसे तथा सकल विमल केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण लोकालोक के स्वभाव को जानने वाले श्रीमान परमेश्वर जिनपति के मत को जानने में विस्तीर्ण बुद्धि वाले, चेतन अचेतन द्रव्यों को सिद्ध करने वाले परम आराध्य भूत महासिद्धान्त ग्रन्थों के जो ज्ञाता हैं ऐसे श्री जिनचन्द्र भट्टारक हैं उनके शिष्य पंडित श्री भास्करनंदी विरचित सुख बोधा नामवाली महा शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में नवां अध्याय पूर्ण हुआ।

अथ दशमोऽध्यायः

संवरानन्तरं निर्जरामोक्षौ वक्तव्यौ । तयोश्च परमकारणं केवलज्ञानमिति तदुत्पत्तिहेतू-न्निर्दिशन्नाह—

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।।१।।

वृत्त्यकरणं क्रमेण क्षयज्ञापनार्थम् । मोहक्षयानन्तरं ज्ञानावरणादिक्षयात्केवलमाविर्भवतीति निश्चयः । केवलहेतुश्च तत्क्षयः प्रणिधानविशेषात्सम्भाव्यते । कुतः कीदृशश्च मोक्ष इत्याह—

संवर के अनन्तर निर्जरा और मोक्ष कहने योग्य है । उन दोनों के परम कारण केवलज्ञान है, इसलिये उस केवलज्ञान की उत्पत्ति के हेतुओं का निर्देश करते हुए सूत्रावतार होता है—

सूत्रार्थ—मोहकर्म के क्षय होने से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय से केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

यहां पर सूत्र में 'मोहक्षयात्' इत्यादि पद पृथक् पृथक् रखे हैं उनका समास नहीं किया है वह क्षय का क्रम बतलाने हेतु नहीं किया है । मोहकर्म के क्षय हो जाने के अनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होता है और उससे केवल ज्ञान प्रगट होता है । ऐसा नियम समझना चाहिए । केवलज्ञान का हेतु जो उन कर्मों का क्षय है वह प्रणिधान विशेष से–आत्म परिणाम विशेष से (ध्यान से) होता है ।

प्रश्न—मोक्ष किस हेतु से होता है एवं वह किस प्रकार का है, कैसा है ?

उत्तर—इसी को सूत्र द्वारा कहते हैं—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥

सकलकर्मणां विशेषेणात्यन्तिकमोक्षणमात्मनः कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः । स एव मोक्षो नाभावमात्रमचैतन्यमकिञ्चित्करम् । चैतन्यं वा स्वरूपलाभस्यैकस्वातन्त्र्यलक्षणस्य मोक्षत्वेन प्रसिद्धेः । पुरुषस्वरूपस्य चानन्तज्ञानादितया प्रमाणगोचरत्वान्यथानुपपत्तेः । कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष इति वचनसामर्थ्यादेकदेशकर्मसंक्षयो निर्जरा लक्ष्यते । ततस्तल्लक्षणसूत्रं न पृथक्कृतम् । स चेदृशो मोक्षः सति संवरे बन्धस्य हेत्वभावादनागतस्य सञ्चितस्य च निर्जरणाद्भवतीति बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यामिति हेतुनिर्देश उपपद्यते । तदन्यतमापाये तदघटनादातुरदोषबन्धविप्रमोक्षवदिति मुनिश्चितं नः । केषां च विप्रमोक्षो मोक्ष इत्याह—

सूत्रार्थ—बन्ध के हेतुओं का अभाव होने से तथा निर्जरा हो जाने से सम्पूर्ण कर्मों से पृथक् होना-छूट जाना मोक्ष है ।

आत्मा से सकल कर्मों का विशेष रूप से छूट जाना कृत्स्न कर्म विप्रमोक्ष कहलाता है, वही मोक्ष है, अभाव मात्रको मोक्ष नहीं कहते हैं । चैतन्य का अभाव होना रूप मोक्ष तो अकिञ्चित् कर है । एक स्वातन्त्र्य लक्षण वाला जो स्वरूप लाभ है वह चैतन्य ही मोक्षपने से प्रसिद्ध है अर्थात् चैतन्य आत्मा के अपना निजी स्वरूप प्राप्त होना, पूर्णरूप से आत्मा स्वतन्त्र हो जाना मोक्ष है । आत्मा का स्वरूप अनन्त ज्ञानादि रूप है यह बात तो प्रमाण से सिद्ध है । (आत्मा अनन्त ज्ञानादि युक्त है इस बात को न्याय ग्रन्थों में सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण में भली प्रकार से अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध किया है) सम्पूर्ण कर्मों का विप्रमोक्ष (कर्मों का पृथक्) होना मोक्ष है । 'कृत्स्न कर्मविप्रमोक्षो' इस पद की सामर्थ्य से कर्मों का एक देश क्षय होना निर्जरा है ऐसा जाना जाता है । इसीलिये निर्जरा का प्रतिपादन करने वाला पृथक् सूत्र नहीं रचा है । इस प्रकार का लक्षण वाला मोक्ष संवर होने पर तथा आगामी बन्ध हेतु का अभाव होने से एवं पूर्व सञ्चित कर्मों की निर्जरा होने पर होता है, अतः 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्' इस प्रकार सूत्र में पञ्चमी विभक्तिरूप हेतु निर्देश किया है । ऊपर कहे हुए बन्ध हेतु का अभाव आदि कारणों में से एक भी कारण नहीं होवे तो मोक्ष नहीं होता ऐसा नियम है, जैसे–रोगी के वात पित्तादि जो दोष हैं उनमें जो नये दोष उत्पन्न होते हैं उनके कारणों का पहले अभाव करते हैं, फिर पुराने दोष को नष्ट करते हैं तब रोग से मुक्ति होती है, वैसे ही कर्मों के विषय में समझना । नवीन कर्म बन्ध के कारणों का अभाव और

औपशमिकादिभव्यत्वानां च ॥३॥

किम् ? मोक्ष इत्यनुवर्तते । भव्यत्वग्रहणमन्यपारिणामिकभावानिवृत्त्यर्थम् । तेन पारिणामिकेषु मध्ये भव्यत्वस्य पारिणामिकस्य औपशमिकादीनां च भावानामभावात् मोक्षो भवतीत्यवगम्यते । क्षायिकसम्यक्त्वादीनामपि विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यतिप्रसङ्गनिवृत्त्यर्थमाह—

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

वर्जनार्थोऽन्यशब्दापेक्षया पञ्चमीनिर्देशः । केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्योऽन्यस्मिन्नयं विधिरिति यदि चत्वार एवावशिष्यन्ते तर्ह्यनन्तवीर्यादीनां निवृत्तिः प्राप्नोतीति चेन्नैष दोषः—ज्ञानदर्शनाविनाभावित्वादनन्तवीर्यादीनामवसेयम् । अनन्तवीर्यहीनस्याऽनन्तार्थाऽवबोधत्वस्याभावात्, ज्ञान-

---

पुराने कर्मकी निर्जरा होने पर ही मोक्ष होता है, ऐसा हमारे जैन मतमें दृढ़ सिद्धांत है। और किनके छूटने पर मोक्ष होता है ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—औपशमिक आदि भावों के छूट जाने पर या नाश होने पर मोक्ष होता है।

मोक्ष का प्रकरण है, सूत्र में भव्यत्व भाव लिया है उससे यह ज्ञात होता है कि अन्य पारिणामिक भाव जो जीवत्व है उसका नाश नहीं होता। अर्थात् पारिणामिकों में भव्यत्व नामका पारिणामिक भाव और औपशमिक आदि भाव, इन भावों का अभाव होने पर मोक्ष होता है। क्षायिक सम्यक्त्व आदि भावों का भी नाश होना मोक्ष है ऐसा अनिष्ट प्रसंग न आ जाय इसके लिये अगला सूत्र अवतरित होता है।

सूत्रार्थ—सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व भावको छोड़कर अन्य भाव नष्ट होते हैं अर्थात् सम्यक्त्व आदि चार भाव मुक्ति में रहते हैं नष्ट नहीं होते।

वर्जन अर्थ वाले अन्य शब्द की अपेक्षा सूत्र में पंचमी विभक्ति आयी है। केवल सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन और सिद्धत्व से अन्य में यह विधि है। अर्थात् नाश की विधि इन चारों भावों को छोड़कर शेष भावों में है।

शंका—यदि ये चार ही भाव अवशेष रहते हैं तो मुक्त जीवों के अनन्त वीर्य आदि का भी नाश हो जायगा ?

मयत्वाच्च सुखस्येति । अनाकारत्वान्मुक्तानामभाव इति चेन्नाऽतीतशरीराकारत्वात् । स्यान्मतं ते— यदि शरीरानुविधायी जीवस्तर्हि तदभावात्स्वाभाविकलोकाकाशप्रदेशपरिणामत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोतीति । नैष दोषः । कुत इति चेत्-कारणाभावादिति ब्रूमहे—नाम कर्मसम्बन्धो हि संहरणविसर्पणकारणम् । तदभावात्पुनः संहरणविसर्पणाभावः । यदि कारणाभावान्न संहरणविसर्पणं तर्हि गमनकारणाभावादूर्ध्वं गमनमप्राप्नोति । अधस्तिर्यग्गमनाभाववत् । ततो यत्रैव मुक्तस्तत्रैवावतिष्ठेतेत्यत्रोच्यते—

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, अनन्तवीर्यादि भाव ज्ञान और दर्शन के अविनाभावी है, ज्ञान दर्शन के ग्रहण से उनका ग्रहण स्वतः हो जाता है। इसका भी कारण यह है कि जो अनन्त वीर्यशाली नहीं है उसके अनन्त पदार्थों का अवबोध (ज्ञान) नहीं हो सकता। तथा सुख ज्ञानमय होता है अतः अनन्त सुख का भी अनंत ज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है।

शंका—मुक्त जीवों का कोई आकार नहीं होता अतः उनका अभाव है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, मुक्तात्मा अतीतचरम शरीर के आकार युक्त होते हैं।

शंका—जैन जीव को शरीर के आकार का अनुसरण करने वाला मानते हैं, अतः जब मुक्तावस्था में शरीर का अभाव होगा उस वक्त आत्मा के लोकाकाश प्रमाण जो प्रदेश हैं, स्वभाव में आने से वे प्रदेश लोकाकाश प्रमाण में फैल जायेंगे। अर्थात् मुक्तावस्था में जीव सर्वलोक में फैलकर रहेगा ?

समाधान—ऐसा नहीं होता, क्योंकि इस तरह होने में कोई हेतु नहीं है। देखिये ! नामकर्म के सम्बन्ध से आत्मा के प्रदेशों में संकोच और विस्तार होता है, संकोच विस्तार का कारण तो नामकर्म है उसका अभाव हो जाने से मुक्त जीव के प्रदेश संकोच विस्तार को प्राप्त नहीं होते।

शंका—यदि कारण के अभाव होने से संकोच विस्तार नहीं मानते हैं तो उन मुक्त जीवों के गमन का कारण भी नहीं रहा है अतः उनका ऊर्ध्वगमन भी नहीं होगा। जिस प्रकार कि अधः (नीचे की ओर) तथा तिरछेरूप से गमन नहीं होता। इस प्रकार गमन का अभाव सिद्ध होने से जिस स्थान पर कर्मों से छूट जाते हैं उसी स्थान पर वे जीव ठहर जाते हैं ऐसा मानना चाहिए ?

समाधान—इस विषय को अगले सूत्र में कहते हैं—

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ।। ५ ।।

तस्य मोक्षस्याऽनन्तरमूर्ध्वं गच्छति नान्यथा तिष्ठति—आलोकान्तान्न परतोऽप्यभिविधावाङोऽभिधानात् । कुतो हेतोरित्याह—

पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।।६।।

आह—हेत्वर्थः स पुष्कलोऽपि दृष्टान्तमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नालमित्यत्रोच्यते—

आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ।।७।।

तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छति मोक्षपृथिव्यां स्वगमनध्यानाभ्यासवशात्कुम्भकारकरताडितचक्रभ्रमणवदासंस्कारक्षयात् । तथा मृल्लेपतुम्बकस्य पानीये लेपापाये उपर्यवस्थानवत्; घर्मतप्तैरण्डफलकोशा-

---

सूत्रार्थ—कर्मों से मुक्त होते ही वह जीव ऊपर लोकान्त तक जाता है ।

उस मोक्ष के अनन्तर ऊपर जाता है, अन्य प्रकार से ठहरता नहीं है । उस मुक्त जीव का गमन लोक के अन्त तक ही होता है आगे नहीं होता, इस बात को बतलाने के लिए अभिविधि अर्थ में 'आङ्' शब्द आया है । किस कारण से गमन करता है ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र कहते हैं—

सूत्रार्थ—पूर्व प्रयोग से, संग रहित होने से, बन्ध का छेद होने से और वैसा गति परिणाम होने से मुक्त जीव ऊर्ध्व गमन करते हैं ।

शंका—ऊर्ध्वगमन के हेतु कहे, हेतु बहुत से होने पर भी दृष्टांत के बिना वे अपने अभिप्रेत इष्ट अर्थ को सिद्ध करने के लिये समर्थ नहीं हो पाते हैं ?

समाधान—ठीक ही कहा । अब दृष्टान्तों को ही बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—घुमाये गये कुम्हार के चाक के समान, जिसका लेप निकल गया है ऐसे तुम्बड़ी के समान, एरण्ड बीज के समान और अग्नि शिखा के समान मुक्त जीव ऊपर गमन कर जाते हैं ।

तदनन्तर मुक्त जीव ऊपर मोक्ष पृथ्वी पर जाते हैं । क्योंकि अपने गमन का ध्यान में अभ्यास किया हुआ है अतः कुंभकार के हाथ से ताड़ित हुआ चक्र जैसे संस्कार का क्षय होने तक भ्रमण करता है वैसे मुक्तात्मा अभ्यासवश ऊपर गमन करता

भावे बीजस्योऽर्ध्वगमनवत्; निर्वातप्रदेशे प्रदीपशिखाया ऊर्ध्वगमनवदिति यथासङ्ख्यं हेतुदृष्टान्तानामभिसम्बन्धो योजनीयः। आलोकान्तादित्यत्र हेतुमाह—

धर्मास्तिकायाभावात् ॥ ८ ॥

गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः। तदभावे च लोकालोकविभागाभावः प्रसज्यते। आहामी परिनिर्वृता गतिजात्यादिभेदकारणाभावादतीतभेदव्यवहारा एवेति चेत्तन्न—कथञ्चिद्भेदस्य सद्भावात्। तदेवाह—

क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

है तथा जैसे मिट्टी के लेप वाली तुम्बड़ी पानी में लेप के हट जाने पर ऊपर आ जाती है, वैसे मुक्त जीव कर्म लेप के हट जाने से ऊपर गमन करते हैं। जैसे–सूर्य के ताप से तपे हुए एरण्ड फल के कोशका–ऊपर के छिलके का अभाव होने पर वह बीज ऊपर जाता है, वैसे मुक्त जीव कर्म सम्बन्ध का अभाव होने पर ऊपर जाता है। जैसे–वायु रहित प्रदेश में दीपक शिखा ऊपर की ओर जलती है, वैसे मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन का स्वभाव होने से ऊपर गमन करते हैं। इस प्रकार पूर्व के छठे सूत्र में कहे हेतुओं का इस सूत्र में कहे दृष्टान्तों के साथ सम्बन्ध लगाना चाहिए।

अब मुक्त जीव लोकान्त तक ही क्यों जाते हैं इसका कारण बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—धर्मास्तिकाय के अभाव होने से मुक्त जीव लोक के आगे गमन नहीं करते हैं।

गतिरूप उपग्रह के कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकाकाश के अन्त भाग के ऊपर नहीं है इसलिये अलोक में मुक्तात्मा गमन नहीं करते हैं। यदि धर्मास्तिकाय नामके द्रव्य को नहीं माना जाय तो लोक और अलोक का विभाग नहीं हो सकता।

प्रश्न—ये जो मुक्त जीव हैं इनके अब गति–जाति इत्यादि भेदों को करने वाले कारणों का अभाव है अतः वे भेद व्यवहार से रहित ही होते हैं?

उत्तर—ऐसा नहीं है उनमें कथञ्चित भेद भी है। आगे उसीको कहते हैं–

क्षेत्रादिभिर्द्वादशभिरनुयोगैः सिद्धाः साध्या विकल्प्या इत्यर्थः प्रत्युत्पन्नभूतानुग्रहतन्त्रनयद्वय-विवक्षावशात् । तद्यथा–क्षेत्रेण तावत्कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति ? प्रत्युत्पन्नग्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति । भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म प्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु । सहरण प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः । ऋजुसूत्रशब्दभेदाश्च त्रयः प्रत्युत्पन्नविषयग्राहिणः । शेषा नया उभयभावविषयाः ।

कालेन—कस्मिन्काले सिद्धिः ? प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिध्यन् सिद्धो भवति । भूत-प्रज्ञापननयापेक्षया जन्मतोऽविशेषेणोत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जातः सिध्यति । विशेषेणावसर्पिण्यां सुषमदुःष-माया अन्त्ये भागे दुःषमसुषमायां च जातः सिध्यति । दुःषमसुषमायां जातः दुःषमायां सिध्यति । न तु

सूत्रार्थ – क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्प बहुत्व इन बारह (तेरह) अनुयोगों द्वारा सिद्धों में भेद व्यवहार साध्य होता है ।

क्षेत्रादि बारह (तेरह) अनुयोगों से सिद्ध जीव विकल्पनीय हैं । प्रत्युत्पन्न नय और भूत अनुग्रहतन्त्र नय इन दो नयों की अपेक्षा क्षेत्रादि अनुयोग सिद्धों में घटित करने चाहिए । आगे इन्हीं को बतलाते हैं । क्षेत्र की अपेक्षा–किस क्षेत्र से सिद्ध होते हैं ऐसा प्रश्न होने पर प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सिद्धि क्षेत्र में, स्वप्रदेश में अथवा आकाश प्रदेश में सिद्धि होती है । भूतग्राही नय की अपेक्षा जन्म के प्रति पन्द्रह कर्मभूमियों में सिद्धि होती है और संहरण के प्रति मानुष क्षेत्र में सिद्धि होती है । ऋजुसूत्र नय, शब्द नय और भेद नय (व्यवहारनय) ये तीन नय प्रत्युत्पन्न वर्त्तमान विषय के ग्राहक हैं । शेषनय उभय भाव विषय वाले हैं अर्थात् वर्त्तमान के साथ भूत और भावी विषय के भी ग्राहक हैं ।

कालकी अपेक्षा किस काल में सिद्धि होती है ? वर्त्तमान नयकी अपेक्षा एक समय में सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है । भूत प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा जन्म की अपेक्षा सामान्यतः उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में जन्मे हुए सिद्ध होते हैं । विशेष की अपेक्षा अवसर्पिणी के सुषमा दुषमा के अन्त भाग में जन्मा हुआ और दुषम सुषमा में जन्मा हुआ सिद्ध होता है । दुषम सुषमा में उत्पन्न हुआ मनुष्य दुषमकाल में सिद्ध होता है किन्तु दुषमा में उत्पन्न हुआ दुषमा में सिद्ध नहीं होता । अन्य काल में तो सिद्ध

दु:षमायां जातो दु:षमायां सिध्यति । अन्यदा नैव सिध्यति । संहरणत: सर्वस्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च सिध्यति ।

गत्या—कस्यां गतौ सिद्धि: ? अनन्तरगतौ मनुष्यगतौ सिद्धि: । एकान्तरगतौ चतसृषु गतिषु जात: सिध्यति ।

लिङ्गेन—वर्तमाननयापेक्षायामवेदत्वेन सिद्धि: । अतीतगोचरनयापेक्षायामविशेषेण त्रिवेदेभ्य: सिद्धिर्भावं प्रति न द्रव्यं प्रति । द्रव्यापेक्षया पुल्लिङ्गेनैव सिद्धि: । अथवा प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया निर्ग्रन्थलिङ्गेन सिद्धि: । भूतनयादेशेन तु भजनीयम् ।

तीर्थेन—तीर्थसिद्धिर्द्वेधा—तीर्थकरत्वेनेतरत्वेन च । केचित्तीर्थकरत्वेन सिद्धा: । अपरे त्वन्यथा सिद्धा: । इतरे द्विविधा:—सति तीर्थकरे सिद्धा असति चेति ।

होता ही नहीं । संहरण की अपेक्षा सर्वकाल में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में भी सिद्ध होता है ।

गति की अपेक्षा किस गति से सिद्धि होती है ? अनन्तर मनुष्यगति से सिद्धि होती है । एकान्तर गति की अपेक्षा चारों गतियों में उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है ।

लिंग की अपेक्षा—वर्त्तमाननय की अपेक्षा अवेद से सिद्धि होती है । अतीत गोचर नयकी अपेक्षा सामान्यत: तीनों वेदों से सिद्धि होती है किन्तु भाववेद की अपेक्षा सिद्धि होती है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं । द्रव्यवेद की अपेक्षा तो पुल्लिङ्ग से ही सिद्धि होती है । अथवा प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा निर्ग्रन्थ लिंग से सिद्धि होती है । भूतनय की अपेक्षा तो भजनीय है ।

तीर्थ की अपेक्षा—तीर्थसिद्धि दो प्रकार की है—तीर्थंकर होकर सिद्ध होना और तीर्थंकर हुए बिना सामान्य केवली होकर सिद्ध होना । कोई तीर्थंकर बनकर सिद्ध होते हैं और कोई सामान्य केवली होकर सिद्ध होते हैं । सामान्य केवली दो प्रकार से सिद्ध होते हैं । तीर्थंकर के रहते हुए सिद्ध होते हैं और कोई तीर्थङ्कर के नहीं रहते हुए सिद्ध होते हैं ।

चारित्रेण केन सिध्यन्ति ? अव्यपदेशेनैकेन चतु:पञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धि: । प्रत्युत्पन्नावलेहिनयवशान्न चारित्रेण नाप्यचारित्रेण सिद्धि: किन्तु व्यपदेशविरहितेन भावेन सिद्धि: । भूतपूर्वगतिर्द्वेधा—अनन्तरव्यवहितभेदात् । आनन्तर्येण यथाख्यातचारित्रेण सिध्यति । व्यवधानेन तु चतुर्भि: पञ्चभिर्वा । चतुर्भिस्तावत्सामायिकच्छेदोपस्थापनासूक्ष्मसाम्परराययथाख्यातचारित्रै: । पञ्चभिस्तैरेव परिहारविशुद्धिचारित्राधिकै: ।

किमपि मेघपटलादिकं माटकूटाद्याकारं क्षणदृष्टप्रणष्टमेकं प्रतीत्य परोपदेशमन्तरेण स्वशक्त्यैव कामभोगादिभ्यो यो विरक्तबुद्धिर्जायते स प्रत्येकबुद्ध इत्याख्यायते । य. पुन: कामभोगाद्यासक्तचित्त: परेण बोधित: सन् कामभोगादिभ्यो विरतो भवति स बोधितबुद्ध इत्याख्यामास्कन्दति । प्रत्येकबुद्धसिद्धा बोधितबुद्धसिद्धाश्च वेदितव्या: ।

ज्ञानेनैकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषै: सिद्धि: । प्रत्युत्पन्नग्राहिनयनिरूपणया केवलज्ञानेनैकेन सिद्धिर्भवति । भूतपूर्वगत्या द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिश्च ज्ञानविशेषै: सिद्धिर्भवति । द्वाभ्यां प्रकृष्ट-

---

किस चारित्र से सिद्ध होता है ? व्यपदेश रहित चारित्र से, एक चारित्र से, चार चारित्र से अथवा पांच चारित्र से सिद्धि होती है । इसी का आगे खुलासा करते हैं—प्रत्युत्पन्न–वर्तमान को स्पर्श करने वाले नयकी अपेक्षा न चारित्र से सिद्धि होती है और न अचारित्र से सिद्धि होती है किन्तु नाम रहित भाव से सिद्धि होती है । भूतपूर्व गति दो प्रकार की है, अनन्तर और व्यवहित । अनन्तर की अपेक्षा यथाख्यात चारित्र से सिद्धि होती है । व्यवहित की अपेक्षा चार अथवा पांच चारित्रों से सिद्धि होती है । सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात इन चारों चारित्रों से किसी मनुष्य की सिद्धि होती है और किसी मनुष्य की उन चार चारित्रों के साथ परिहार विशुद्धि चारित्र हो जाने से पांच चारित्रों से सिद्धि होती है ।

मेघपटल का माट कूट आदि का आकार लेकर क्षण भर के लिये दृष्टि गोचर होकर नष्ट हो जाना इत्यादि घटनाओं को देखकर परके उपदेश के बिना अपनी शक्ति से ही काम और भोगों से जो पुरुष विरक्त हो जाता है उसको प्रत्येक बुद्ध कहते हैं । और जो मनुष्य काम भोगों में आसक्त मन वाला है दूसरे के द्वारा समझाने पर काम भोगादि से विरक्त होता है उसको बोधित बुद्ध कहते हैं । प्रत्येक बुद्ध होकर कोई सिद्ध होता है और कोई बोधित बुद्ध बनकर सिद्ध होता है ऐसा जानना चाहिए ।

ज्ञानकी अपेक्षा—एक, दो, तीन अथवा चार ज्ञान विशेष से सिद्धि होती है । प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा एक केवल ज्ञान द्वारा सिद्धि होती है । भूतपूर्व गति की अपेक्षा

मतिश्रुतज्ञानाभ्यां त्रिभिर्मतिश्रुतावधिज्ञानैर्मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानैर्वा चतुर्भिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानैः सिद्धिर्भवति ।

अवगाहनं द्विविधमुत्कृष्टजघन्यभेदात् । आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनम् । तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि । जघन्यमर्धचतुर्थारत्नयो देशोनाः । मध्ये विकल्पो ज्ञेयः । एतस्मिन्नवगाहे भूतप्रज्ञापननयापेक्षया सिध्यन्ति । प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनेन त्वेतस्मिन्नेवावगाहे देशोने सिध्यन्ति ।

किमन्तरं सिध्यताम् ? अनन्तरं सिध्यन्ति सान्तरं च । तत्रानन्तर्येण जघन्येन द्वौ समयौ । उत्कर्षेणाष्टौ समयाः । अन्तरं—सिध्यतां सिद्धिविरहितः कालोन्तरम् । तज्जघन्येनैकः समयः । उत्कर्षेण षण्मासाः प्रत्येतव्याः ।

सङ्ख्या द्विधा – जघन्योत्कृष्टभेदात् । तत्र जघन्येनैक. सिध्यति । उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसङ्ख्याः सिध्यन्तिः ।

दो, तीन या चार ज्ञान विशेषों से मुक्ति होती है । अर्थात् प्रकृष्ट मतिज्ञान और श्रुतज्ञान से सिद्धि होती है । अथवा किसी के मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों से सिद्धि होती है । अथवा किसी के मति, श्रुत और मनःपर्यय इन तीन ज्ञानों से सिद्धि होती है । और किसी के मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्यय ज्ञानों से सिद्धि होती है ।

अवगाहना की अपेक्षा बताते हैं—अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा दो प्रकार की है । आत्मा के प्रदेश व्याप्त होना अवगाहना है । उनमें उत्कृष्ट अवगाहना पांचसौ पच्चीस धनुष प्रमाण है, और जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ से कुछ कम प्रमाण है । मध्य में अनेक विकल्प हैं । इन अवगाहनाओं में भूत प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा सिद्धि होती है । वर्त्तमान नयकी अपेक्षा इन्हीं अवगाहनाओं में कुछ कम अवगाहना होकर सिद्धि होती है ।

सिद्ध होने वाले जीवों में क्या अन्तर है ? अनन्तर से भी सिद्धि होती है और सान्तर से भी सिद्धि होती है । अनन्तर से सिद्ध होने वाले जीवों में जघन्य अनन्तर दो समय हैं । उत्कृष्ट से आठ समय हैं । सिद्ध होने वालों के सिद्धि रहित कालको अन्तर कहते हैं । वह अन्तर जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट छह मास का जानना चाहिए ।

संख्या की अपेक्षा कहते हैं—संख्या दो प्रकार की है । उनमें जघन्य से एक सिद्ध होता है, उत्कृष्ट से एक सौ आठ सिद्ध होते हैं । क्षेत्रादि भेदों से जो भिन्न हैं उनकी

क्षेत्रादिभेदभिन्नानां परस्परतः सङ्ख्याविशेषोऽल्पबहुत्वमित्युच्यते । तद्यथा—प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । भूतपूर्वनयापेक्षया तु चिन्त्यते ।

क्षेत्रसिद्धा द्विधा—जन्मतः संहरणतश्च । तत्राल्पे संहरणसिद्धाः । तेभ्यो जन्मसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः । संहरणं द्विविधं—स्वकृतं परकृतं च । तत्र देवकर्मणा चारणविद्याधरैश्च चौर्यनीतानां यत्संहरणं तत्परकृतम् । स्वकृतं तु तेषामेव चारणविद्याधराणां स्वयं क्षेत्रांतरेषु गच्छतां संहरणं भवति ।

क्षेत्राणां विभागः—कर्मभूमिरकर्मभूमिः समुद्रो द्वीप ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्चेति । तत्र सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकसिद्धाः । तेभ्योऽधोलोकसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः । ततोऽपि तिर्यग्लोकसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः । सर्वस्तोकाः समुद्रसिद्धाः । ततो द्वीपसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः । एवं तावदविशेषेणोक्तम् । विशेषेण त्विदमुच्यते—सर्वस्तोका लवणोदसिद्धाः । ततः कालोदसिद्धाः संख्येयगुणाः । जम्बूद्वीपसिद्धाः संख्येयगुणाः । ततो धातकीखंडसिद्धाः संख्येयगुणाः । ततोऽपि पुष्करद्वीपार्धसिद्धाः संख्येयगुणाः ।

परस्पर में संख्या विशेष बतलाना अल्प बहुत्व है । उसी को कहते हैं—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिद्धि क्षेत्र में सिद्ध होते हैं अतः अन्तर नहीं है, किन्तु भूतपूर्व नयकी अपेक्षा विचार किया जाता है—क्षेत्र सिद्ध दो प्रकार के हैं जन्म से सिद्ध और संहरण से सिद्ध, उनमें संहरण से सिद्ध होने वाले अल्प हैं और जन्म से सिद्ध होने वाले उनसे संख्यात गुणे हैं । संहरण दो प्रकार का है—स्वकृत और परकृत । उनमें देव क्रिया से और चारण विद्याधरों द्वारा चोरी से जिनको लाया गया है वह जो संहरण है वह परकृत संहरण कहलाता है । और स्वयंकृत संहरण वह कहलाता है कि जो स्वयं चारण विद्याधर हैं—ऋद्धिधारी हैं अतः क्षेत्रान्तर में गये हैं उनका संहरण स्वयंकृत संहरण कहलाता है । क्षेत्रों का विभाग इस प्रकार है—कर्म भूमि, अकर्म भूमि, समुद्र, द्वीप, ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् (तिरछा) उनमें सबसे थोड़े ऊर्ध्वलोक सिद्ध हैं, उनसे अधोलोक सिद्ध संख्यात गुणे हैं । उनसे भी संख्यात गुणे तिर्यग्लोक सिद्ध हैं । सबसे थोड़े समुद्र सिद्ध हैं, उनसे संख्यात गुणे द्वीप सिद्ध हैं । इस तरह यह सामान्य से कहा । विशेष से अब कहते हैं—सबसे थोड़े लवण समुद्र सिद्ध हैं, उनसे कालोदधि समुद्र सिद्ध संख्यात गुणे हैं । जम्बूद्वीप सिद्ध संख्यात गुणा हैं । उनसे धातकी खण्ड सिद्ध संख्यात गुणे हैं । उनसे भी संख्यात गुणे पुष्कर द्वीपार्ध सिद्ध हैं । (यहां पर कर्म भूमि सिद्ध और अकर्म भूमि सिद्ध का कथन छूट गया है, अकर्म भूमि सिद्ध थोड़े हैं उनसे संख्यात गुणे कर्म भूमि सिद्ध हैं ।)

कालविभागस्त्रिविधः, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, अनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणी चेति। सर्वस्तोका उत्सर्पिणीसिद्धाः। ततोऽवसर्पिणीसिद्धाः विशेषाधिकाः। ततोऽनुत्सर्पिण्यनवसर्पिणीसिद्धाः संख्येय-गुणाः। प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्।

गतिं प्रति प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापननयस्य सिद्धिगतौ सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूतविषय-नयापेक्षया चानन्तरगतौ मनुष्यगतौ च सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। एकान्तरगतौ त्वल्पबहुत्वमस्ति। सर्वतः स्तोकास्तिर्यग्योन्यनन्तरगतिसिद्धाः। ततो मनुष्ययोन्यनन्तरगतिसिद्धाः संख्येयगुणाः। ततोऽपि संख्येयगुणा नरकयोन्यनन्तरगतिसिद्धाः। ततः संख्येयगुणा देवयोन्यनन्तरगतिसिद्धा इति।

वेदनायोगे—प्रत्युत्पन्ननयाश्रयणे अवेदाः सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम्। भूतविषयनयाश्रयणे तु सर्वतः स्तोका नपुंसकवेदसिद्धाः। ततः स्त्रीवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः। ततोऽपि पुंवेदसिद्धाः संख्येयगुणाः।

तीर्थानुयोगे—तीर्थंकरसिद्धा अल्पाः। ततः इतरे सिद्धाः संख्येयगुणाः।

कालविभाग तीन प्रकार का है—उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी और अनुत्सर्पिण्यव-सर्पिणी। सबसे थोड़े उत्सर्पिणी सिद्ध हैं। उनसे विशेष अधिक अवसर्पिणी सिद्ध हैं। उनसे भी संख्यात गुणे अनुत्सर्पिण्यवसर्पिणी सिद्ध हैं। प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा एक समय में सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है।

गति की अपेक्षा अल्पबहुत्व कहते हैं—प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा सिद्धि गति में सिद्ध होते हैं इसलिये अल्पबहुत्व नहीं है। भूतपूर्व नयकी अपेक्षा अनन्तर गति में और मनुष्यगति में सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है। एकान्तर गति सिद्धों की अपेक्षा अल्पबहुत्व है—सबसे थोड़े तिर्यग्योनि अनन्तर गति सिद्ध हैं। उनसे संख्यात गुणे मनुष्य योनि अनन्तर गति सिद्ध हैं। उनसे भी संख्यात गुणे नरक योनि अनन्तर गति सिद्ध हैं। उनसे भी संख्यात गुणे देवयोनि अनन्तर गति सिद्ध हैं।

वेदकी अपेक्षा अल्पबहुत्व बतलाते हैं-प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा अवेद से सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है। अतीत नयकी अपेक्षा तो सबसे थोड़े नपुंसक वेद सिद्ध हैं। उनसे संख्यात गुणे स्त्री वेद सिद्ध हैं, और उनसे भी संख्यात गुणे पुरुष वेद सिद्ध हैं।

तीर्थ की अपेक्षा अल्पबहुत्व-तीर्थंकर सिद्ध अल्प हैं और इतर सिद्ध उनसे संख्यात गुणे हैं।

चारित्रानुयोगे—प्रत्युत्पन्ननयापेक्षयाऽव्यपदेशेन सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । भूतविषयनयाश्रयणे चानन्तरचारित्रपरिग्रहे यथाख्यातचारित्राः सर्वे सिध्यन्तीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । व्यवधाने च पञ्चचारित्रसिद्धा अल्पे । तेभ्यश्चतुश्चारित्रसिद्धाः संख्येयगुणाः ।

प्रत्येकबुद्धबोधितबुद्धानुयोगे—अल्पे प्रत्येकबुद्धाः । ततो बोधितबुद्धाः संख्येयगुणाः ।

ज्ञानानुयोगे—प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनस्य केवलज्ञानी सिध्यतीति नास्त्यल्पबहुत्वम् । पूर्वभाव प्रज्ञापनस्य तु सर्वस्तोका द्विज्ञानसिद्धाः । तेभ्यश्चतुर्ज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । तेभ्योऽपि त्रिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । एवं तावदविशेषेणोक्तम् । विशेषेण चोच्यते—सर्वस्तोका मतिश्रुतमनःपर्ययज्ञानसिद्धाः । ततो मतिश्रुतज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । ततोऽपि मतिश्रुतावधिमन पर्ययज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणाः । तेभ्यो मतिश्रुतावधिज्ञानसिद्धाः संख्येयगुणा इति ॥

अवगाहनानुयोगे—सर्वस्तोका जघन्यावगाहनसिद्धाः । तेभ्य उत्कृष्टावगाहनसिद्धाः संख्येयगुणाः । ततो यवमध्यसिद्धाः संख्येयगुणाः । अधस्ताद्यवमध्यसिद्धाः सङ्ख्येयगुणाः । तत उपरि

चारित्र की अपेक्षा अल्पबहुत्व–प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा अव्यपदेश से सिद्ध होते हैं, अतः अल्पबहुत्व नहीं है । भूत विषय नयकी अपेक्षा अनन्तर चारित्र को ग्रहण करके कहे तो सभी यथाख्यात चारित्र से सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है । व्यवधान की अपेक्षा कथन करने पर पांचों चारित्रों को धारण करके सिद्ध होने वाले अल्प हैं और चारों चारित्रों को धारण करके सिद्ध होने वाले उनसे संख्यात गुणे हैं । प्रत्येक बुद्ध और बोधित बुद्ध की अपेक्षा अल्पबहुत्व–प्रत्येक बुद्ध सिद्ध अल्प हैं और उनसे संख्यात गुणे बोधित बुद्ध सिद्ध हैं ।

ज्ञान को अपेक्षा अल्पबहुत्व–प्रत्युत्पन्न भाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा केवल ज्ञानी सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है । पूर्वभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा तो सबसे थोड़े दो ज्ञान वाले सिद्ध हैं । उनसे संख्यात गुणे चार ज्ञान वाले सिद्ध हैं । उनसे भी तीन ज्ञान वाले सिद्ध संख्यात गुणे हैं । यह सामान्यतः कथन किया । विशेष से कथन करते हैं—सबसे थोड़े मतिश्रुत मनःपर्यय ज्ञान वाले सिद्ध हैं । उनसे संख्यात गुणे मतिश्रुत ज्ञान वाले सिद्ध हैं । उनसे मतिश्रुत–अवधि मनःपर्यय ज्ञानवाले संख्यात गुणे हैं । उनसे संख्यात गुणे मतिश्रुत अवधि ज्ञान वाले सिद्ध हैं ।

अवगाहना की अपेक्षा अल्पबहुत्व कहते हैं—सबसे थोड़े जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध हैं । उनसे संख्यात गुणे उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध हैं । उनसे संख्यात गुणे

यवमध्यसिद्धा विशेषाधिकाः।

अनन्तरानुयोगे सर्वस्तोका अष्टसमयानन्तरसिद्धाः। ततः सप्तसमयानन्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः। एवमाद्विसमयानन्तरसिद्धेभ्यः। एवं तावदनन्तरेषूक्तम्। सान्तरेष्वप्युच्यते—सर्वस्तोकाः षण्मासान्तरसिद्धाः। तेभ्य एकसमयान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः। तेभ्यो यवमध्यान्तरसिद्धाः संख्येयगुणाः। ततोऽधस्ताद्यवमध्यांतरसिद्धाः संख्येयगुणाः। तेभ्योऽप्युपरि यवमध्यान्तरसिद्धा विशेषाधिकाः।

संख्यानुयोगे—सर्वस्तोका अष्टोत्तरशतसिद्धाः सप्तोत्तरसिद्धादय आपञ्चाशत्सिद्धेभ्योऽनन्तगुणाः। एकान्नपञ्चाशत्सिद्धादय आपञ्चविंशतिसिद्धेभ्योऽसंख्येयगुणाः। चतुर्विंशतिसिद्धादय आएकसिद्धेभ्यः संख्येयगुणाः। तदेवं व्याख्यातजीवादितत्त्वार्थविषयं श्रद्धानं ज्ञानं तत्पूर्वकं चारित्रमिति स्थितम्। एतत्सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षमार्गो नान्यः। तत्प्रणेता सर्वज्ञो वीतरागश्च वन्द्य इति।

उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध हैं। उनसे संख्यात गुणे यवमध्य अवगाहना वाले सिद्ध होते हैं। उनसे संख्यात गुणे अधस्तात् यवमध्य अवगाहना वाले सिद्ध हैं। उनसे विशेष अधिक उपरियव मध्य अवगाहना वाले सिद्ध हैं।

अनन्तर की अपेक्षा अल्पबहुत्व–सबसे थोड़े आठ समय अनन्तर सिद्ध होते हैं। उनसे संख्यात गुणे सात समय अनन्तर सिद्ध हैं। उनसे छह समय अनन्तर सिद्ध हैं। इस प्रकार दो समय अनन्तर सिद्ध तक लगा लेना। इस तरह अनन्तरों में कहा। अब सान्तरों में कहते हैं—सबसे थोड़े षण्मासान्तर सिद्ध हैं। उनसे संख्यात गुणे एक समयान्तर सिद्ध हैं। उनसे संख्यात गुणे यवमध्यान्तर सिद्ध हैं। उनसे संख्यात गुणे अधस्तात् यव मध्यान्तर सिद्ध हैं। उनसे उपरि यव मध्यान्तर सिद्ध विशेष अधिक हैं।

संख्याकी अपेक्षा अल्पबहुत्व कहते हैं—सबसे थोड़े एक सौ आठ संख्या में सिद्ध होने वाले हैं। एक सौ सात आदि से लेकर पचास संख्या में सिद्ध होने वाले तक के सिद्ध अनन्त गुणे हैं। उनचास संख्या में सिद्ध होने वाले से लेकर पच्चीस संख्या में सिद्ध होने वाले तक के सिद्ध संख्यात गुणे हैं। चौबीस संख्या में सिद्ध होने वाले सिद्ध से लेकर एक संख्या में सिद्ध होने वाले सिद्धों तक संख्यात गुणे हैं।

इस प्रकार व्याख्यान किये गये जो जीवादि तत्त्व हैं उन तत्त्वों का श्रद्धान करना, उनका ज्ञान करना और श्रद्धा तथा ज्ञान से युक्त चारित्र होना, इस तरह ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय है, इन सम्यग्दर्शनादिरूप ही मोक्षमार्ग है, अन्य दूसरा कोई भी मोक्षमार्ग नहीं है। उस मोक्ष मार्ग के प्रणेता सर्वज्ञ वीतरागदेव होते हैं वे वन्दनीय होते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

इति यः सुखबोधाख्यां वृत्तिं तत्त्वार्थसङ्गिनीम् ।
षट्सहस्रां सहस्रोनां विन्द्यात्स मोक्षमार्गवित् ॥१॥
यदत्र स्खलितं किञ्चिच्छाद्मस्थ्यादर्थशब्दयोः ।
तद्विचार्यैव धीमन्तः शोधयन्तु विमत्सराः ॥२॥

छंद स्रग्धरा—नो निष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं ह्येहि याहीति यातु ।
नो कण्डूयेत गात्रं व्रजति न निशि नोद्घट्टयेद्वा न दत्ते ॥
नावष्टभ्नाति किञ्चिद्गुणनिधिरिति यो बद्धपर्यङ्कयोगः ।
कृत्वा सन्न्यासमन्ते शुभगतिरभवत्सर्वसाधुः स पूज्यः ॥३॥

*** उपसंहार ***

इस प्रकार श्री भास्करनन्दी विरचित सुखबोधा नामकी तत्त्वार्थवृत्ति संस्कृत टीका का राष्ट्रभाषानुवाद मैंने (आर्यिका जिनमती ने) भव्य मुमुक्षु जीवों के तत्त्व-बोधार्थ किया है । इसमें कोई स्खलन हुआ हो तो विबुधजन संशोधन करें, पढ़ें पढ़ावें और स्वपर हित में तत्पर होवें ।

॥ इति भद्रं भूयात् ॥

संस्कृत ग्रन्थकार की प्रशस्ति—

छह हजार श्लोक प्रमाण में एक हजार श्लोक कम अर्थात् पांच हजार श्लोक प्रमाणवाली सुखबोधा नामकी तत्त्वार्थ सूत्र की इस संस्कृत टीका को जो जानता है वह मोक्षमार्ग को अवश्य जानता है ॥१॥ इस सुखबोधा टीका में छद्मस्थता के कारण जो कुछ शब्द और अर्थों का स्खलन हुआ है उसका विचार करके ही मत्सर रहित धीमान पुरुष शोधन करें ॥२॥ जो महा मुनिराज न थूकते हैं, न शयन करते हैं, जो परव्यक्ति के लिये आवो, जावो इत्यादि कुछ भी गमनागमन हेतु नहीं कहते हैं, अपने शरीर को खुजाते भी नहीं, रात्रि में चलते नहीं हैं (लघु शंका के लिये भी) किवाड़ को न ढकते हैं न खोलते हैं । जंभाई लेना अंगड़ाई लेना इत्यादि शरीर की चेष्टा भी नहीं करते हैं, जो गुणों के भण्डार हैं, जो पल्यांकासन लगाकर सदा बैठते हैं । जिन्होंने अंत समय में सल्लेखना पूर्वक प्राण त्यागकर शुभगति–देवगति पायी है, सर्व साधुओं से पूज्य हैं ऐसे एक विशिष्ट गुणयोगी यतिपुंगव हुए हैं ॥३॥ उन मुनिराज के श्री

शार्दूल विक्रीडित—तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टिविभव: सिद्धान्तपारं गत: ।
शिष्य: श्रीजिनचन्द्रनामकलितश्चारित्रभूषान्वित: ।।
शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुधस्तस्याभवत्तत्त्ववित् ।
तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्त्वार्थवृत्ति: स्फुटम् ।।४।।

शशधरकरनिकरसतारनिस्तलतरलतलमुक्ताफलहारस्फारतारानिकुरुम्बबिम्बनिर्मलतरपरमोदार शरीरशुद्धध्यानानलोज्ज्वलज्वालाज्वलितघनघातीन्धनसङ्घातसकलविमलकेवलालोकित-सकललोकालोकस्वभावश्रीमत्परमेश्वरजिनपतिमतविततमतिचिदचित्स्वभावभावाभि-धानसाधितस्वभावपरमाराध्यतममहासैद्धान्त: श्रीजिनचन्द्रभट्टारकस्तच्छिष्यपण्डित-श्रीभास्करनन्दिविरचितमहाशास्त्रतत्त्वार्थवृत्तौ सुखबोधायां दशमोऽध्यायस्समाप्त ।

।। समाप्तोयं ग्रन्थ: ।।

जिनचन्द्र नामके शिष्य हुए हैं, कैसे हैं वे शिष्य ? विशुद्ध है सम्यक्त्वरूप वैभव जिनके तथा जो सिद्धांत के पारगामी हैं, और चारित्ररूपी आभूषण से युक्त हैं । उन जिनचंद्र के शिष्य श्री भास्करनन्दी नामके विबुध हुए हैं जो कि तत्त्वों के ज्ञाता हैं, उन भास्कर-नन्दी ने सुखबोधा नाम वाली तत्त्वार्थ सूत्र की टीका रची है ।।४।।

जो चन्द्रमा को किरण समूह के समान विस्तीर्ण, तुलना रहित मोतियों के विशाल हारों के समान एवं तारा समूह के समान शुक्ल निर्मल उदार ऐसे परमौदारिक शरीर के धारक हैं, शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि की उज्ज्वल ज्वाला द्वारा जला दिया है घाती कर्म रूपी ईन्धन समूह को जिन्होंने ऐसे तथा सकल विमल केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण लोकालोक के स्वभाव को जाननें वाले श्रीमान परमेश्वर जिनपति के मत को जानने में विस्तीर्ण बुद्धि वाले, चेतन अचेतन द्रव्यों को सिद्ध करने वाले परम आराध्य भूत महासिद्धान्त ग्रन्थों के जो ज्ञाता हैं ऐसे श्री जिनचन्द्र भट्टारक हैं उनके शिष्य पंडित श्री भास्करनंदी विरचित सुख बोधा नामवाली महा शास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र की टीका में दसवां अध्याय पूर्ण हुआ ।

।। इस प्रकार ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ ।।

अथ प्रशस्ति

वर्द्धमानं जिनदेवं, धर्मतीर्थस्य नायकम् ।
सतामर्चित पादाब्जं नमस्यामि त्रिशुद्धितः ॥१॥
कुन्दकुन्दान्वये सूरौ, सङ्ख्याताः सुदिगम्बराः ।
अस्मिन् दुषमे काले, सञ्जाताः धर्मदेशकाः ॥२॥
वीर निर्वाण कालस्य द्विसहस्रे गते सति ।
चतुः शताधिके वर्षे सञ्जातोऽद्वितीयो गणी ॥३॥
परीषहोपसर्गाणां, विजेता श्रुतधारकः ।
लुप्तस्य यति मार्गस्य, प्रवर्त्तकोऽभवत् महान् ॥४॥
शान्तिसागर नामासौ, महोपवास कारकः ।
ज्येष्ठ संन्यासविधिना, येन त्यक्तं शरीरकम् ॥५॥
तस्यासीत् प्रथमः शिष्यो, वीर सिन्धु मुनिर्महान् ।
उपाधिभार निर्मुक्तः, क्षमाभारेण संयुतः ॥६॥
गुरुपदे समासीन, सङ्घवात्सल्य कारकः ।
नमस्करोमि तं सूरिं, क्षुल्लिकाव्रतदायिनम् ॥७॥
आद्यशिष्यो बभूवास्य, शिवसिन्धुर्गणाग्रणी ।
चतुर्विधेन सङ्घेन, पूजनीयो गतस्पृहः ॥८॥
कर्मप्रकृतिशास्त्रेषु, निपुणस्तपसि स्थितः ।
आर्याव्रत प्रदातारं, प्रवन्दे तं त्रिभक्तितः ॥९॥
समलङ्करोति तत् पट्टं, धर्म सिन्धुर्यतीश्वरः ।
अनेकानेकभव्यानां दीक्षा शिक्षा प्रदायकः ॥१०॥
राजधान्यां च राष्ट्रेऽस्मिन्, येन निर्भीक वृत्तिना ।
शासनं वीरनाथस्य, द्योतितं वर्द्धितं महत् ॥११॥
विराजितस्तस्य पट्टे, गुरुरजित सागरः ।
राद्धान्त काव्यनीतिषु, प्रबुद्धो व्यवहारवित् ॥१२॥

गीर्वाण्याञ्च विशेषेण, विचक्षणो गाभीर धीः ।
स्वेन लिखित पत्रेण, येन दत्तं निजं पदम् ।।१३।।
गुरोराज्ञानुसारेण, तत् पट्टं समलङ्करोत् ।
चतुर्गणैरर्च्यमानो, वर्द्धमानो मुनीश्वरः ।।१४।।
तर्कागमादिग्रंथेषु, कुशलो हितशासकः ।
जिनशासन माहात्म्यं, वर्त्तमाने करोति यः ।।१५।।
एतान् सर्वान् सूरिवर्यान्, पञ्चाचार परायणान् ।
यशसा धवलिताशान्, वरिवस्यामि भक्तितः ।।१६।।
शताधिक सुग्रंथानां, प्रणेत्रीं च प्रभाविकाम् ।
आर्या ज्ञानमतीं वन्दे, गणिनीं मातरं सदा ।।१७।।
आर्यावर्त्तस्य प्रान्तेऽस्मिन् राजस्थाने सुधार्मिके ।
डूङ्गरपुर नामस्ति जनपदं मनोहरम् ।।१८।।
तस्य च सावलाग्रामे, जैनधर्म परायणाः ।
वसन्ति श्रावकाः भव्याः, गुरूभक्तिषु तत्पराः ।।१९।।
शिखरैः पंचभिर्युक्तं, चेतोहर जिनालयम् ।
घण्टातोरणद्वारेण, राजते पुण्यवर्द्धकम् ।।२०।।
पद्मप्रभ जिनेन्द्रस्य, प्रतिकृतिः सुशोभते ।
श्रद्धालु मानवानां या, पापसन्तापच्छेदिनी ।।२१।।
तस्मिन् जिनमन्दिरे स्थित्वा, जिनं नत्वा त्रियोगतः ।
तत्त्वार्थ सूत्र टीकायाः प्रारब्ध मनुवादनम् ।।२२।।
भास्करनन्दि ग्रंथस्य राष्ट्र भाषानुवादनम् ।
त्रिभिर्मासैः प्रपूर्णञ्च, सुगममल्पमेधसाम् ।।२३।।
ममार्यिका जिनमत्याः कृतिरेषा सुबोधिका ।
सतामाह्लादनं कुर्वन्, चिरं तिष्ठतु भूतले ।।२४।।

✿

परिशिष्टम्

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।१। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।२। तन्निसर्गादधिगमाद्वा ।३। जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।४। नामस्थापना-द्रव्यभावतस्तन्न्यासः ।५। प्रमाणनयैरधिगमः ।६। निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थिति-विधानतः ।७। सत्सङ्ख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ।८। मतिश्रुतावधिमनः-पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।९। तत् प्रमाणे ।१०। आद्ये परोक्षम् ।११। प्रत्यक्षमन्यत् ।१२।। मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता भिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।१३। तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।१४। अवग्रहेहावायधारणाः ।१५। बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ।१६। अर्थस्य ।१७। व्यञ्जनस्यावग्रहः ।१८। न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ।१९। श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ।२०। भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम् ।२१। क्षयोपशमनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ।२२। ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ।२३। विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ।२४। विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः ।२५। मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।२६। रूपिष्ववधेः ।२७। तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य ।२८। सर्वद्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य ।२९। एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।३०। मतिश्रुता-वधयो विपर्ययश्च ।३१। सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।३२। नैगमसंग्रह-व्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ।३३।

ज्ञानदर्शनयोस्तत्त्वं नयानां चैव लक्षणम् ।
ज्ञानस्य च प्रमाणत्वमध्यायेऽस्मिन्निरूपितम् ।।

।। इति तत्त्वार्थ सूत्रे प्रथमोध्यायः ।।

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ।१। द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ।२। सम्यक्त्वचारित्रे ।३। ज्ञानदर्शनदान-लाभभोगोपभोगवीर्याणि च ।४। ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचभेदाः सम्यक्त्व-चारित्रसंयमासंयमाश्च ।५। गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धलेश्याश्चतु-श्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ।६। जीवभव्याऽभव्यत्वानि च ।७। उपयोगो लक्षणम् ।८। स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ।९। संसारिणो मुक्ताश्च ।१०। समनस्काऽमनस्काः ।११।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ।१२। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ।१३। द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ।१४। पंचेन्द्रियाणि ।१५। द्विविधानि ।१६। निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ।१७। लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ।१८। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ।१९। स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ।२०। श्रुतमनिन्द्रियस्य ।२१। वनस्पत्यन्तानामेकम् ।२२। क्रिमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ।२३। संज्ञिनः समनस्काः ।२४। विग्रहगतौ कर्मयोगः ।२५। अनुश्रेणि गतिः ।२६। अविग्रहा जीवस्य ।२७। विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ।२८। एकसमयाऽविग्रहा ।२९। एकं द्वौ त्रीन्वाऽनाहारकः ।३०। सम्मूर्छनगर्भोपपादा जन्म ।३१। सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ।३२। जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ।३३। देवनारकाणामुपपादः ।३४। शेषाणां सम्मूर्छनम् ।३५। औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि ।३६। परं परं सूक्ष्मम् ।३७। प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ।३८। अनंतगुणे परे ।३९। अप्रतिघाते ।४०। अनादिसम्बन्धे च ।४१। सर्वस्य ।४२। तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।४३। निरुपभोगमन्त्यम् ।४४। गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ।४५। औपपादिकं वैक्रियिकम् ।४६। लब्धिप्रत्ययं च ।४७। तैजसमपि ।४८। शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ।४९। नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ।५०। न देवाः ।५१। शेषास्त्रिवेदाः ।५२। औपपादिकचरमोत्तमदेहाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।५३।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे द्वितीयोऽध्यायः ।।

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ।१। तासु त्रिंशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ।२। नारका नित्याऽशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ।३। परस्परोदीरितदुःखाः ।४। संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ।५। तेष्वेक त्रि सप्त दश सप्तदश द्वाविंशति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ।६। जम्बूद्वीपलवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ।७। द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ।८। तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।९। भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ।१०। तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ।११। हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजतहेम-

मयाः ।१२। मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ।१३। पद्ममहापद्मतिगिञ्छ, केसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ।१४। प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कंभो ह्रदः ।१५। दशयोजनावगाहः ।१६। तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।१७। तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ।१८। तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ।१९। गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकान्ताशीताशीतोदानारीनरकान्तासुवर्णकूलारूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ।२०। द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ।२१। शेषास्त्वपरगाः ।२२। चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ।२३। भरतः षड्विंशपञ्चयोजनशतविस्तारः षट्चैकान्नविंशतिभागा योजनस्य ।२४। तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः ।२५। उत्तरा दक्षिणतुल्याः ।२६। भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।२७। ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ।२८। एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरवकाः ।२९। तथोत्तराः ।३०। विदेहेषुसंखयेयकालाः ।३१। भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः ।३२। द्विर्धातकीखण्डे ।३३। पुष्करार्धे च ।३४। प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ।३५। आर्या म्लेच्छाश्च ।३६। भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ।३७। नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ।३८। तिर्यग्योनिजानां च ।३९।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे तृतीयोऽध्यायः ।।

देवाश्चतुर्निकायाः ।१। आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ।२। दशाष्टपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ।३। इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्विषिकाश्चैकशः ।४। त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्जा व्यन्तरज्योतिष्काः ।५। पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ।६। कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ।७। शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ।८। परेऽप्रवीचाराः ।९। भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाऽग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ।१०। व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ।११। ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च ।१२। मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।१३। तत्कृतः कालविभागः ।१४। बहिरवस्थिताः ।१५। वैमानिकाः ।१६। कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।१७। उपर्युपरि ।१८। सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवे-

यकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ।१९। स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्या-विशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ।२०। गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ।२१। पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।२२। प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ।२३। ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः ।२४। सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधाऽरिष्टाश्च ।२५। विजयादिषु द्विचरमाः ।२६। औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ।२७। स्थितिरसुर-नागसुपर्णद्वीपशेषाणां सागरोपमत्रिपल्योपमार्धहीनमिता ।२८। सौधर्मैशानयोः सागरोपमे अधिके ।२९। सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ।३०। त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिर-धिकानि तु ।३१। आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ।३२। अपरा पल्योपममधिकम् ।३३। परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा ।३४। नारकाणां च द्वितीयादिषु ।३५। दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।३६। भवनेषु च ।३७। व्यन्तराणां च ।३८। परा पल्योपममधिकम् ।३९। ज्योतिष्काणां च ।४०। तदष्टभागोऽपरा ।४१। लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ।४२।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे चतुर्थोध्यायः ॥

अजीवकाया धर्माऽधर्माकाशपुद्गलाः ।१। द्रव्याणि ।२। जीवाश्च ।३। नित्याऽ-वस्थितान्यरूपाणि ।४। रूपिणः पुद्गलाः ।५। आ आकाशादेकद्रव्याणि ।६। निष्क्रियाणि च ।७। असंख्येयाः प्रदेशा धर्माऽधर्मैकजीवानाम् ।८। आकाशस्याऽनन्ताः ।९। संख्ये-याऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।१०। नाणोः ।११। लोकाकाशेऽवगाहः ।१२। धर्माऽधर्मयोः कृत्स्ने ।१३। एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।१४। असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ।१५। प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।१६। गतिस्थित्युपग्रहो धर्माऽधर्मयोरुपकारः ।१७। आकाशस्याऽवगाहः ।१८। शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।१९। सुख-दुःखजीवितमरणोपग्रहश्च ।२०। परस्परोपग्रहो जीवानाम् ।२१। वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वाऽपरत्वे च कालस्य ।२२। स्पर्शरसगन्धवर्णवंतः पुद्गलाः ।२३। शब्दबंधसौक्ष्म्य-स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवंतश्च ।२४। अणवः स्कंधाश्च ।२५। भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ।२६। भेदादणुः ।२७। भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ।२८। सद्द्रव्यलक्षणम् ।२९। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।३०। तद्भावाव्ययं नित्यम् ।३१। अर्पितानर्पितसिद्धेः ।३२। स्निग्धरूक्षत्वाद्बंध ।३३। न जघन्यगुणानाम् ।३४। गुणसाम्ये सदृशानाम् ।३५।

द्व्यधिकादिगुणानां तु ।३६। बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।३७। गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ।३८। कालश्च ।३९। सोऽनंतसमयः ।४०। द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ।४१। तद्भावः परिणामः ।४२।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे पंचमोऽध्यायः ।।

कायवाङ्मनःकर्म योगः ।१। स आस्रवः ।२। शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य ।३। सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ।४। इंद्रियकषायव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ।५। तीव्रमन्दज्ञाताऽज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ।६। अधिकरणं जीवा-जीवाः ।७। आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ।८। निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ।९। तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ।१०। दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ।११। भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ।१२। केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ।१३। कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ।१४। बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ।१५। माया तैर्यग्योनस्य ।१६। अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य ।१७। स्वभावमार्दवं च ।१८। निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ।१९। सरागसंयमसंयमाऽसंयमाऽकामनिर्जरा बालतपांसि दैवस्य ।२०। सम्यक्त्वं च ।२१। योगवक्रता विसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ।२२। तद्विपरीतं शुभस्य ।२३। दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसो साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकाऽपरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ।२४। परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।२५। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ।२६। विघ्नकरणमन्तरायस्य ।२७।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे षष्ठोऽध्यायः ।।

हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।१। देशसर्वतोऽणुमहती ।२। तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ।३। वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ।४। क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच ।५। शून्यागार-

विमोचितावासपरोपरोधाकरण भैक्ष्यशुद्धि सधर्माऽविसंवादाः पंच ।६। स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ।७। मनोज्ञाऽमनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ।८। हिंसादिष्विहाऽमुत्राऽपायाऽवद्यदर्शनम् ।९। दुःखमेव वा ।१०। मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु ।११। जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ।१२। प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।१३। असदभिधानमनृतम् ।१४। अदत्तादानं स्तेयम् ।१५। मैथुनमब्रह्म ।१६। मूर्छा परिग्रहः ।१७। निःशल्यो व्रती ।१८। अगार्यनगारश्च ।१९। अणुव्रतोऽगारी ।२०। दिग्देशाऽनर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणाऽतिथिसंविभागव्रत-संपन्नश्च ।२१। मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ।२२। शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टि-प्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः ।२३। व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ।२४। बंधवध-च्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।२५। मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासाप-हारसाकारमन्त्रभेदाः।२६। स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः।२७। परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानंगक्रीडाका-मतीव्राभिनिवेशाः।२८। क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः।२९। ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ।३०। आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपाऽनु-पातपुद्गलक्षेपाः ।३१। कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्याऽसमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ।३२। योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।३३। अप्रत्यवेक्षिताऽप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।३४। सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ।३५। सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ।३६। जीवितमरणाशंसा-मित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि ।३७। अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ।३८। विधिद्रव्य-दातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ।३९।

॥ इति तत्त्वार्थसूत्रे सप्तमोऽध्यायः ॥

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ।१। सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बंधः ।२। प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ।३। आद्यो ज्ञान-दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायाः ।४। पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंश-द्विपंचभेदो यथाक्रमम् ।५। मतिश्रुताऽवधिमनःपर्ययकेवलानाम् ।६। चक्षुरचक्षुरवधि-केवलानां निद्रा निद्रानिद्रा प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धयश्च ।७। सदसद्वेद्ये ।८।

दर्शनचारित्रमोहनीयाऽकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ।९। नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।१०। गतिजातिशरीरांगोपांगनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ।११। उच्चैर्नीचैश्च ।१२। दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ।१३। आदितस्तिसृणामन्तरा यस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परा स्थितिः ।१४। सप्ततिर्मोहनीयस्य ।१५। विंशतिर्नामगोत्रयोः ।१६। त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ।१७। अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य ।१८। नामगोत्रयोरष्टौ ।१९। शेषाणामन्तर्मुहूर्ता ।२०। विपाकोऽनुभवः ।२१। स यथानाम ।२२। ततश्च निर्जरा ।२३। नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।२४। सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।२५। अतोऽन्यत्पापम् ।२६।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे अष्टमोध्यायः ।।

आस्रवनिरोधः संवरः ।१। स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।२। तपसा निर्जरा च ।३। सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ।४। ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ।५। उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ।६। अनित्याऽशरणसंसारैकत्वाऽन्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।७। मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः ।८। क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्याऽरतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि ।९। सूक्ष्मसाम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ।१०। एकादशजिने ।११। बादरसाम्पराये सर्वे ।१२। ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने ।१३। दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ।१४। चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ।१५। वेदनीये शेषाः ।१६। एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकान्नविंशतेः ।१७। सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातमिति चारित्रम् ।१८। अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः।१९। प्रायश्चित्तविनयवैयापृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् । २० । नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात् ।२१। आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोप-

स्थापना: ।२२। ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारा: ।२३। आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुल-संघसाधुमनोज्ञानाम् ।२४। वाचनापृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशा: ।२५। बाह्याभ्यन्तरो-पध्यो: ।२६। उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ।२७। आर्तरौद्र-धर्म्यशुक्लानि ।२८। परे मोक्षहेतू ।२९। आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति-समन्वाहार: ।३०। विपरीतं मनोज्ञस्य ।३१। वेदनायाश्च ।३२। निदानं च ।३३। तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ।३४। हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश-विरतयो: ।३५। आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम् ।३६। शुक्ले चाद्ये पूर्वविद: ।३७। परे केवलिन: ।३८। पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ।३९। त्र्येककयोगकाययोगायोगानाम् ।४०। एकाश्रये सवितर्कविचारे पूर्वे ।४१। अविचारं द्वितीयम् ।४२। वितर्क: श्रुतम् ।४३। विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ति: ।४४। सम्यग्दृष्टि-श्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिना: क्रम-शोऽसंख्येयगुणनिर्जरा: ।४५। पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्था: ।४६। संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिंगलेश्योपपादस्थानविकल्पत: साध्या: ।४७।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे नवमोध्याय: ।।

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।१। बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष: ।२। औपशमिकादिभव्यत्वानां च ।३। अन्यत्र केवलसम्यक्त्व-ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य: ।४। तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ।५। पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्-बंधच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।६। आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपाऽलाबुवदेरण्डबीजव-दग्निशिखावच्च ।७। धर्मास्तिकायाभावात् ।८। क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्ध-बोधितज्ञानावगाहनान्तरसङ्ख्याऽल्पबहुत्वत: साध्या: ।९।

।। इति तत्त्वार्थसूत्रे दशमोऽध्याय: ।।

सुखबोध टीका में आगत व्याकरण सूत्र

		पृष्ठ	अध्याय
१	द्वित्रि चतुर्भ्यः सुच् [का. सू. ५६१]	१३५	३
२	तदस्मिन्नधिकमिति सद्दशान्ताङः [............]	१६४	३
३	विंशतेश्च	१६४	३
४	संख्याया अभ्यावृत्तौ कृत्वसु [ये दो सूत्र अनेक बार आये]	१३५	३
५	द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्	१७३	३
६	तदस्मिन्नास्ति तेन निर्वृत्तः [जिनेंद्र व्याकरण ३।२।८६]	२२१	४
	तस्य निवासऽदूरभवौ	२२१	४
	इति चतुर्ष्वर्थेषु यथा	२२१	४
	संभवं तद्धितोऽणुत्पाद्यते	२२१	४
७	घृतोच्चैः	२२७	४
८	घृतोच्चैस्तः	२२७	४
९	औत्तरपाथिकं ह्रस्वत्वं बहुलं दृश्यते [पाणिनी व्याक.]	२२८	४
१०	भूतावलिविना मध्यमाः [चान्द्रीयं व्याक.]	२२८	४
११	पृषोदरादिषु यथोपदिष्टं	२५०	५
१२	द्रव्यं भव्ये यथोपदिष्टं [जैनेन्द्रः]	२५२	५
१३	नेद्यु्वः भव्ये यथोपदिष्टं [जैनेन्द्रः]	२५८	५
१४	कर्मणि घञ्	२८२	५
१५	भावेऽलः	२८२	५
१६	शाखादे र्यः	३२४	५
१७	अवयवने विग्रहः समुदायः समासार्थः	३२६	५
१८	पुंरवौ घः प्रायेण	३३३	५
१९	कृ कमिकं सः [जैनेन्द्र ५।४।३४]	३४६	६
२०	स्था स्ना पा व्यधि हने युध्यर्थे	३८४	६
२१	संख्यैकात् वीप्सायाम्	३५८	६
२२	"सुप सुपा" [अ. ७।सू. ३२।पृ. १७६]	४३६	७
२३	मयूर व्यंसकादयः	४३६	७
२४	युड् व्याबहुलम्	४६३	८
२५	जनेरुसि	४६३	८
२६	एतेर्णिच्च	४६३	८
२७	आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्	४९१	८

शुद्धि पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पंक्ति	पृष्ठ
सङ्कान्ते	सङ्क्रान्ते	६	१३
दूसरे सूत्र का अर्थ छूट गया है।		८	१५
सड्डं	सद्	४	४१
क्षायिक उपभोग तथा	क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य तथा	१६	८०
एक एक प्रस्तार में	प्रस्तारों में	२२	१२९
पाठ छूटा है	वह इस प्रकार है ब्रह्म आदि आठ समूह देवों के होते हैं इत्यादि परवादी की मान्यता तथा अन्य कोई प्रकार की मान्यता है उसका निरसन इस सूत्र से हो जाता है।		
संवर्तादि	संयतादि	१०	५२२
विंशति रेकान्नेति चेत्	विंशति रेकान्नेति	४	५२४
वेदनायोगे	वेदानुयोगे	८	५६४
प्रत्यनकान्त	प्रत्यनेकान्त	२	२८१
पुद्गलावीर्य विशेषः	पुद्गला: वीर्य विशेष	३	२९४
कनक द्वारा	कतक फल द्वारा	१२	२९७
माहस्योपचारा	माहशस्योपचारा	५	२९९
सद्रूप होने से रूप लिंग	सद्रूपलिंग	१८	२९९
चर्माततनात्	चर्मातननात्	४	३०९
उत्पन्न होने से अर्थ में	उत्पन्न होने अर्थ में	२३	३१५
पूर्व कोटि भाग	पूर्व कटी भाग	१६	३२४
तत् परिणामकापादित	तत् परिणामापादित	५	३२९
कर्म के क्षयोपशम की	कर्म के क्षय और क्षयोपशम की	१३	३४५
कीदृगय-भागमन हेतु	कीदृग् योग आगमन हेतु	५	३४८

अशुद्ध	शुद्ध	पंक्ति	पृष्ठ
बालोत्पाटनोपवासादिवत्	केशोत्पाटनोपवासादिवत्	२	३६५
चेतन्न	चेन्न	४	३६८
सुहपयडीण विसोधी तिव्वं	सुहपयडीण विसोहि तिव्वं		
असुहाण सङ्किलेसेण	असुहाण संकिलेसेण	३	३५१
द्रव्यक्रमणो	द्रव्यकर्मणो	९	३६९
देव मदिरा पीते हैं इत्यादि	देव मदिरा पीते हैं मांस खाते हैं इत्यादि	२०	३६९
मिथ्यादर्शनाङ्लिगितमिति	मिथ्यादर्शनालिङ्गितमति	८	३७२
आरंभ परिग्रह आस्रव जिसके	आरंभ परिग्रह जिसके	२०	३७२
स्वभाव: मार्दवं च ॥१८॥	स्वभाव मार्दवं च ॥१८॥	१	३७३
त्रिशुद्धि द्रव्यासना	त्रिशुद्धि द्वयासना	११	३८०
हिंसादिष्विहाऽमुत्रचाऽ- पायावद्यदर्शनम् ॥९॥	हिंसादिष्विहापायावद्य- दर्शनम् ॥९॥	१	३९६
प्रकृतिसंयम:	प्रकृतिरसंयम:	४	४६१
भक्तिकर्म	गतिकर्म	६	४७८
कर्मों का क्षय करने हेतु जो तपा जाता है	कर्मों का क्षय करने हेतु आगम के अविरोधपने से जो तपा जाता है	१३	५१४

तत्वार्थवृत्ति प्रकाशन में सहयोगी

द्रव्य प्रदाता

२७०००) श्री हंसकुमारजी जैन, मुजफ्फर नगर
११०००) श्री कस्तूरचन्दजी पूनमचन्दजी जैन, गींगला
५०००) श्रीमती कमलादेवी पाण्ड्या, सनावद
५०००) श्री शरद गांधी, उदयपुर
२०००) श्री पन्नालालजी नागदा, गींगला
११००) श्री नाथूलालजी प्रेमचन्दजी, उदयपुर
१०००) श्रीमती शान्तिदेवी जैन, सुजानगढ़
१०००) श्रीमती नोरतनदेवी बगड़ा, सुजानगढ़
१०००) श्री श्रीपाल जैन, भीण्डर
१००१) श्रीमती अजु डिग्गी (बम्बई वाले)
१०००) श्रीमती शकुन्तलादेवी, नागौर
१०००) श्रीमती राजमतीदेवी धर्मपत्नी जीवनलालजी बड़जात्या, सीकर
१०००) श्रीमती सोहनीदेवी जैन धर्मपत्नी श्री महावीरप्रसादजी, सीकर
१०००) श्री भगवानलालजी बिरदीचन्दजी, सलूम्बर
१०००) श्री कालूलालजी भोजावत, गींगला
१०००) श्री भंवरलालजी वड़ौदिया, गींगला-बम्बई
१०००) श्री महावीरप्रसादजी माणकचन्दजी जयपुरिया, सीकर
१०००) श्री सीतारामजी संगही, सीकर
५००) श्री शिखरचन्दजी जैन, देहली
५००) श्री नेमीचन्दजी डूंगावत, सलूम्बर
५००) श्री गणेशलालजी मालवी, सलूम्बर
५०१) श्री सागरचन्दजी जैन, अजमेर
५००) श्री रमेशकुमारजी S/o श्री बरदीचन्दजी जैन, उदयपुर
५००) श्री ललित जैन, भीण्डर

☼